॥ न्यायसंग्रह ॥

(हिन्दी अनुवाद व विवेचन)

परमपूज्य आचार्यश्री विजयसूर्योदयसूरिशिष्य
मुनि नन्दिघोषविजय

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्म शताब्दी
स्मृति संस्कार शिक्षण निधि
अहमदाबाद

॥ अर्हम् ॥

वाचकश्रीहेमहंसगणिसंगृहीत

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनस्थ

॥ न्यायसंग्रह ॥

(हिन्दी अनुवाद व विवेचनसहित)

अनुवादक-विवेचक

परमपूज्य आचार्यश्रीविजयसूर्योदयसूरिशिष्य

मुनि नन्दिघोषविजय



શ્રી હેમચંદ્રાચાર્ય

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्म शताब्दी

स्मृति संस्कार शिक्षण निधि

अहमदाबाद

वि. सं. २०५३ ई. स. १९९७

न्यायसंग्रह : (हिन्दी अनुवाद व विवेचन सहित)
मुनि नन्दिघोषविजय

प्राप्तिस्थान :-
१. **सरस्वती पुस्तक भण्डार**
११२, हाथीखाना, रतनपोल
अहमदाबाद - ३८० ००१

२. **मोतीलाल बनारसीदास**
४१, यु. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर
दिल्ली - ११० ००७
दूरभाष नं. २९११९८५, २९१८३३५, २५२४८२६
फेक्स नं. ९१-११-२९३ ०६८९/५७९ ७२२१

प्रथमावृत्ति : ५०० प्रतियाँ, मई, १९९७
वि. सं. २०५३, वैशाख शुक्ल तृतीया
(कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य आचार्यपदप्रदान-दिन)

प्रकाशक :
कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्म शताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षण निधि
अहमदाबाद

मुद्रक :
श्री हरजीभाई एन. पटेल
क्रिश्ना प्रिन्टरी
९६६, नारणपुरा जूना गाँव, अमदावाद-३८००१३ (दूरभाष : ७४८४३९३)

प्रकाशक की ओर से..

परम पूज्य शासन सम्राट् तपागच्छाधिपति बालब्रह्मचारी सूरिचक्रचक्रवर्ती अनेकतीर्थोद्धारक आचार्य भगवंत श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज के समुदाय के प.पू.जिनशासनशणगार आचार्य भगवंत श्रीविजयशुभंकरसूरिजी महाराज के पट्टधर प.पू. प्रवचन प्रभावक आचार्य श्रीविजयसूर्योदयसूरिजी महाराज व उनके पट्टधर प.पू. विद्वद्वर्य आचार्य श्रीविजयशीलचन्द्रसूरिजी महाराज की प्रेरणा से. वि.सं. २०४१में, कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी की वि.सं. २०४५में आनेवाली नवम जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में 'कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्म शताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षण निधि' की स्थापना की गई। इसी संस्था के तत्त्वावधान में पिछले दस वर्षों से प.पू. आ. श्रीविजयसूर्योदयसूरिजी महाराज व. प.पू. आ. श्रीविजयशीलचन्द्रसूरिजी महाराज के मार्गदर्शन व प्रेरणानुसार संस्कृत-प्राकृत और जैन दर्शन के विभिन्न साहित्य के अनुसन्धानकार विद्वानों को श्रीहेमचन्द्राचार्य चन्द्रक प्रदान तथा विविध प्रकार के प्राचीन अर्वाचीन संस्कृत-प्राकृत साहित्य का प्रकाशन व पुनःप्रकाशन किया जा रहा है। साहित्य प्रकाशन की इसी शृंखला में कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी द्वारा विरचित विश्वप्रसिद्ध संस्कृत व्याकरण श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन को समझने में अत्यन्त सहायक वाचक श्रीहेमहंसगणि द्वारा विरचित 'न्यायसंग्रह' का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद व यत्किञ्चित् तुलनात्मक अध्ययन स्वरूप यही ग्रंथ प्रकाशित करते समय हम खुशी का अनुभव कर रहें है।

इसी ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद व विवेचन प.पू. शासन सम्राट् आचार्य श्रीविजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज के समुदाय के प.पू. आचार्य श्रीविजयसूर्योदयसूरिजी महाराज की प्रेरणा से उनके शिष्य मुनि श्री नन्दिघोषविजयजी महाराज ने संपन्न किया है। एतदर्थ उनके प्रति हम कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं।

इसी ग्रंथ का सुंदर व स्वच्छ मुद्रण कार्य क्रिश्ना प्रिन्टरी, नारणपुरा, अहमदाबाद-१३ के कार्यकर्ता श्री हरजीभाई एन. पटेल ने किया है। एतदर्थ हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते है।

अन्त में, ऐसे मूल्यवान्, विद्वद्भोग्य व अध्ययन-अध्यापन में सहायक अन्य ग्रंथों को प्रकाशित करने का अवसर हमें पुनः पुनः प्राप्त हो ऐसी शुभेच्छा प्रकट करते हैं।

भवदीय,

क.स.श्रीहेमचन्द्राचार्य न.ज.श.स्मृ.सं.शि.निधि

अहमदाबाद

आर्थिक सहयोग

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी द्वारा विरचित श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन सम्बन्धित वाचक श्रीहेमहंसगणिसंगृहीत 'न्यायसंग्रह' ग्रन्थ के इसी हिन्दी अनुवाद-विवेचन व तुलनात्मक अध्ययन को प्रकाशित करने में प.पू. आ. श्रीविजयसूर्योदयसूरिजी महाराज व प.पू.आ. श्रीविजयभद्रसेनसूरिजी महाराज की प्रेरणा से

१. श्रीनवरंगपुरा श्वे. मू. पू. जैन संघ, अहमदाबाद
२. श्री पार्श्व-पद्मावती श्वे. मू.पू. जैन संघ, (पारुलनगर) सोलारोड, अहमदाबाद
३. श्री वर्धमान जैन श्वे. मू.पू. संघ (मेमनगर), अहमदाबाद की ओर से पूर्ण आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है ।

एतदर्थ प्रकाशक 'क. स. श्रीहेमचन्द्राचार्य न.ज.श.स्मृ.सं.शि.निधि' के कार्यकर्ता उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करतें हैं ।

भवदीय,
क.स. श्रीहेमचन्द्राचार्य न.ज.श.स्मृ.सं.शि.निधि
अहमदाबाद

समर्पण

ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्न
उन श्रमणभगवन्तों को,
जिनके द्वारा कलिकालसर्वज्ञ
श्रीहेमचन्द्राचार्यजी के
महान् व्याकरण
श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन की
अध्ययन-परम्परा
अविच्छिन्न बनी रही है ।

– मुनि नन्दिघोषविजय

न्यायसंग्रह का एक अनूठा विवेचन

कालक्रम से भारत में संस्कृत व्याकरण की अनेक परम्पराओं का उदय हुआ, उसमें पाणिनीय व्याकरण परम्परा अत्यंत प्राचीन है। तत्पश्चात् शाकटायन, चान्द्र, कातंत्र, कालाप, जैनेन्द्र, भोज एवं सिद्धहेम आदि प्रमुख व्याकरणों की रचना हुई और उनकी परम्परा भी चली। व्याकरणशास्त्र में निर्दिष्ट सूत्रों द्वारा रुपसिद्धि के अवसर पर जब एकाधिक सूत्रों की प्रवृत्ति का प्रसंग उपस्थित हो तब अनिष्ट रुप साधक सूत्रों की निवृत्ति के लिए सूचित सूत्र को न्याय/परिभाषा कहते है। व्याकरणशास्त्र के अध्येता के लिए न्याय/परिभाषा का ज्ञान होना अत्यावश्यक है अन्यथा व्याकरणशास्त्र का सम्यक् बोध नहीं हो पाता। अतः प्रायः सभी व्याकरण परम्परा में परिभाषा प्राप्त होती है। पाणिनीय परम्परा में परिभाषा शब्द का प्रयोग हुआ है जबकि सिद्धहेम परम्परा में उसी के लिए न्याय शब्द का प्रयोग हुआ है। पाणिनीय परिभाषा के ऊपर बहुत कुछ कार्य हुआ है किन्तु सिद्धहेम के न्याय/परिभाषा के ऊपर अद्यावधि तुलनात्मक दृष्टि से कोई कार्य हुआ नहीं था, इस कमी की पूर्ति प्रस्तुत विवेचन से हो रही है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रचार्यविरचित श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन में निर्दिष्ट न्याय एवं अन्य न्यायों का संकलन वाचक श्रीहेमहंसगणिकृत 'न्यायसंग्रह' में पाया जाता है। तदुपरि महामहोपाध्याय, पंडितप्रवर, व्याकरणाचार्य श्रीहेमहंसगणि ने स्वयं 'न्यायार्थमञ्जूषा' नामक बृहद्वृत्ति व स्वोपज्ञन्यास की रचना की है। प्रस्तुत वृत्ति सरल होते हुए भी उसमें व्याकरण के अनेकानेक सूत्रो की साधक -बाधकता सम्बन्धी चर्चा प्राप्त होती है। उस पर सुप्रसिद्ध जैनाचार्य शासनसम्राट् श्रीविजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज के पट्टधर महान् वैयाकरण न्यायाचार्य श्रीविजयलावण्यसूरिजी महाराज ने 'न्यायार्थसिन्धु' व 'तरङ्ग' नामक दो वृत्तियाँ रची है। ये वृत्तियाँ विस्तृत होते हुए भी परिष्कारशैली से युक्त होने के कारण सुगम नहीं है। अतः न्यायसूत्रों को समझाने के लिए एक सुगम विवेचन की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता महेसूस करते हुए उक्त आचार्यदेव शासनसम्राट् श्रीविजयनेमि सूरिजी महाराज की ही भव्य परम्परा में हुए आचार्य श्रीविजयसूर्योदयसूरिजी महाराज के विद्वान शिष्य मुनिराज श्रीनन्दिघोषविजयजी ने प्रस्तुत हिन्दी विवेचन की रचना की है।

यह विवेचन अपने आप में एक विशिष्ट विवेचन है। यह केवल मूल ग्रंथ का अनुवाद मात्र नहीं है अपितु सिद्धहेमशब्दानुशासन का पूर्ण परिशीलन एवं उसके ऊपर लिखे गए उपलब्ध सभी ग्रंथों का सूक्ष्म अवलोकन करके लिखा गया विवेचन है।

प्रस्तुत ग्रंथ में मूल न्यायसूत्र का अर्थ, व्याख्या व विवेचन किया गया है। विवेचन करते हुए सभी सूत्रों की सार्थकता, साधकता, बाधकता इत्यादि की चर्चा की गई है। सूत्र में निर्दिष्ट सभी पदों की व्याख्या एवं न्याय का रहस्य उजागर किया गया है। इसके लिए सिद्धहेमबृहद्वृत्ति, बृहन्यास, लघुन्यास आदि व्याकरण साहित्य का तत्तत् स्थानों पर उपयोग किया गया है। तत्पश्चात्

अन्य सभी व्याकरण परम्पराओं में प्राप्त परिभाषाओं के साथ तुलना भी की गई है । जो मुनिश्री की बहुमुखी प्रतिभा की द्योतक है । संपूर्ण विवेचन पढने से लगता है कि मुनिश्री आधुनिक युग के नागेश है ।

प्रस्तुत विवेचन की एक विशेषता उसकी अभ्यासपूर्ण अनुसंधान की दृष्टि से लिखी गई विस्तृत प्रस्तावना है । प्रस्तावना में परिभाषा का उद्भव एवं विकाश की चर्चा सविस्तर की गई है । साथ ही न्यायसूत्रों की मौलिकता एवं ग्रंथ के वैशिष्ट्य का विवेचन किया है वह पठनीय है ।

अन्त में यही कहना उचित होगा कि यह विवेचन न केवल सिद्धहेम परम्परा के अध्येताओं के लिए उपयोगी है किन्तु सभी व्याकरण परम्पराओं के जिज्ञासु एवं विद्वान् के लिए एक महत्त्व पूर्ण संदर्भ ग्रंथ के रुप में ग्राह्य होगा । इसके लिए मुनिश्री को बहुत बहुत धन्यवाद ।

वि.सं. २०५३, फाल्गुन कृष्णा १३,
शनिवार, दि. ५, अप्रिल, १९९७

जितेन्द्र बी. शाह
नियामक
शारदाबेन चीमनभाई
शैक्षणिक शोध संस्थान
अहमदाबाद-३८० ००४

संदर्भग्रन्थसूची

न्यायसंग्रह : हिन्दी अनुवाद व विवेचन

१. सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन (बृहद्वृत्ति व स्वोपज्ञ शब्दमहार्णवन्यास)
२. न्यायसंग्रह : न्यायार्थमञ्जूषा बृहद्वृत्ति तथा स्वोपज्ञन्यास
कर्ता : वाचक श्रीहेमहंसगणि
४. न्यायसमुच्चय : न्यायार्थसिन्धु तथा तरंग टीका
कर्ता : आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरिजी महाराज
५. परिभाषेन्दुशेखर, कर्ता : श्रीनागेश भट्ट
सम्पादक : प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी
प्रकाशक : भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्युट, पूना
६. परिभाषासंग्रह : सम्पादक : प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी
प्रकाशक : भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्युट, पूना
७. सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन (प्रथमोऽध्याय) : बृहद्वृत्ति
बृहन्न्यास, तथा न्यासानुसन्धान और उसकी प्रस्तावना
सम्पादक : आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरिजी महाराज
प्रकाशक : श्रीलावण्यसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, बोटाद
८. पाणिनीय संस्कृत व्याकरणशास्त्र परम्परानो इतिहास(गुजराती)
ले. डा. जयदेवभाई मो. शुक्ल
प्रकाशक : युनिवर्सिटी ग्रन्थनिर्माण बोर्ड, अमदावाद – ६
९. जैनेन्द्र महावृत्ति
१०. जैन परम्परानो इतिहास(गुजराती) – त्रिपुटी महाराज
११. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती)
ले. श्रीमोहनलाल दलीचंद देसाई
१२. अनुसन्धान – शोधपत्रिका क्र. नं. ७
प्रकाशक : क. स. श्रीहे. न. ज. श. स्मृ. सं. शि. निधि, अहमदाबाद
१३. पतंजलिकृत महाभाष्य
१४. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन (लघुवृति)
संपादक : मुनि श्रीदक्षविजयजी महाराज
प्रकाशक : श्रीलावण्यसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, बोटाद
१५. श्रीकल्पसूत्र (सुबोधिका टीका) सूत्रकार : श्रीभद्रबाहु स्वामिजी
टीकाकार : उपाध्याय श्रीविनयविजयजी महाराज
१६. जैन साहित्य और इतिहास, पं. नाथुराम प्रेमी
१७. शाकटायन महाव्याकरण, श्रीमूर्तिदेवी ग्रन्थमाला
ज्ञानपीठ प्रकाशन – बम्बई – वाराणसी – दिल्ली

॥ श्री शङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥
॥ नमो नमः श्रीगुरुनेमिसूरये ॥

प्रेरणा-स्त्रोत

वि. सं. २०३८ और २०३९ के चातुर्मास के दौरान, कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी की वि. सं. २०४५ में आनेवाली नवम जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में उनके सुप्रसिद्ध संस्कृत व्याकरण श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन के बारे में एक विस्तृत तुलनात्मक अनुसंधान महानिबंध लिखने की इच्छा हुई थी । उसके लिए पाणिनीय संस्कृत व्याकरण व सिद्धहेम संस्कृत व्याकरण के सूत्रों की क्रमशः तुलना करके थोडा सा लिखा भी था, किन्तु वैसे लिखना सरल होने के बावजुद बहुत विस्तृत व व्याकरण अध्येताओं के लिए अनावश्यक लगने से लिखना बंद कर दिया ।

बाद में श्रीमती मुद्रिकाबहन डी. जानी का सिद्धहेम का विस्तृत महानिबन्ध देखने को मिला । वह अंग्रेजी भाषा में सिद्धहेम के पहले चार अध्याय पर लिखा गया था । शेष तीन अध्याय पर वैसे लिखने का विचार किया किन्तु साधु-साध्वी समुदाय के लिए अंग्रेजी भाषा उचित न होने से उसी विचार को थाम दिया । पुनः सिद्धहेम व पाणिनि के संपूर्ण शब्दानुशासन के पांचों अंग, प्रक्रिया ग्रंथों व द्व्याश्रय महाकाव्य, भट्टिकाव्य इत्यादि के साथ तुलनात्मक महानिबंध लिखने का विचार हुआ । उसके लिए आयोजन भी किया किन्तु स्व. डो. जयदेवभाई मो. शुक्ल जैसे मूर्धन्य वैयाकरण की यह राय मिली की यदि यह कार्य किसी निश्चित समयावधि में समाप्त करने की आप आशा रखते हो और पीएच.डी. या डी. लिट्. की उपाधि के लिए वह कार्य करना चाहते हो तो वह बहुत मुश्किल है, किन्तु समय का बन्धन न हो और केवल स्वान्तःसुखाय हो तो कोई प्रश्न नहीं है ।

दूसरा एक सुझाव उन्होंने यह रखा कि सिद्धहेम की परम्परा के केवल प्रक्रिया ग्रन्थों व पाणिनीय परम्परा के केवल प्रक्रिया ग्रंथ-लघुसिद्धान्तकौमुदी और सिद्धान्तकौमुदी इत्यादि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय या सिद्धहेम परम्परा के 'न्यायसंग्रह' का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो अच्छा होगा क्योंकि इस विषय में यहाँ भारत में और विदेश में कोई विशेष अध्ययन नहीं हुआ है । अन्ततोगत्वा प. पू. परमोपकारी गुरुदेव आचार्य भगवंत श्रीविजयसूर्योदयसूरीश्वरजी महाराज व प. पू. मुनिश्री शीलचन्द्रविजयजी महाराज (वर्तमान में प. पू. आचार्य श्रीविजयशीलचन्द्रसूरिजी महाराज) की प्रेरणा से 'न्यायसंग्रह' के विषय में अध्ययन करने का निश्चय किया ।

वैसे तो वि. सं. २०३८ के चातुर्मास के दौरान बम्बई (माटुंगा) में परम पूज्य मुनि श्रीशीलचन्द्रविजयजी महाराज के पास 'न्यायसंग्रह' का अध्ययन किया था और शुरु के पन्द्रह न्यायों का गुजराती भाषा में अनुवाद भी किया था, किन्तु उसी वख्त ऐसी तुलनात्मक अध्ययन करने की दृष्टि नहीं थी । यहाँ एक बात बताना आवश्यक है कि मैंने हैमलघुप्रक्रिया और सिद्धहेमलघुवृत्ति का पूर्णतः अध्ययन प. पू. विद्वद्वर्य मुनि श्रीशीलचन्द्रविजयजी महाराज के पास ही किया है, अतः उन्हें कृतज्ञता के साथ स्मरणपथ में लाकर नमस्कार करता हूँ ।

वि. सं. २०४० का चातुर्मास अहमदाबाद, (पांजरापोल, जैन उपाश्रय) में हुआ, उसी समय पाणिनीय व्याकरण के मान्य पंडित श्री रजनीकान्त नटवरलाल परीख का परिचय हुआ । पहले तो वे सिद्धहेम व्याकरण की परम्परा से अज्ञात होने से, तुलनात्मक अध्ययन कराने की सम्मति उन्हों ने नहीं दी थी, किन्तु बाद में, वे सम्मत हो गये । फलतः वि. सं. २०४१ के कपडवंज चातुर्मास में 'न्यायसंग्रह' की 'न्यायार्थमञ्जूषा' नामक बृहद्वृत्ति और उसी वृत्ति का न्यास तथा परमपूज्य तपागच्छाधिपति शासनसम्राट् बालब्रह्मचारी आचार्य भगवंत श्रीविजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज के पट्टधर महान् वैयाकरण, सिद्धहेम व पाणिनीय परम्परा के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरीश्वरजी की बनायी हुई 'न्यायसमुच्चय' की 'न्यायार्थसिन्धु' व 'तरङ्ग' नामक टीकाओं का अध्ययन और उसके साथ तुलनात्मक-अनुसन्धान स्वरूप लेखन कार्य का पंडितवर्य श्रीरजनीकान्तभाई के पास ही प्रारंभ किया । इसी 'न्यायसंग्रह' के लेखनकार्य में उनका पूर्णतः मार्गदर्शन मिला है । जहाँ जहाँ पू. आ. श्रीविजयलावण्यसूरिजी की 'तरङ्ग' नामक टीका में नव्यन्याय की शैलीयुक्त विशेष व्याख्या-परिष्कार आदि आया, उसकी पूरी समझ उन्होंने दी है तथा पाणिनीय परम्परा के 'परिभाषेन्दुशेखर' आदि ग्रंथों में दी गई व्याख्याएँ, शास्त्रार्थ इत्यादि की भी पूरी समझ उनसे ही प्राप्त हुई है । एतदर्थ मैं उनका पूरी तरह ऋणी हूँ ।

'न्यायसंग्रह' के प्रथम खण्ड/वक्षस्कार व द्वितीय खण्ड/वक्षस्कार का लेखनकार्य वि. सं. २०४१ के कपडवंज के चातुर्मास में ही सम्पन्न हुआ और तृतीय खण्ड का लेखन कार्य चातुर्मास के बाद अहमदाबाद आये तब फाल्गुन मास में उनके ही मार्गदर्शन अनुसार सम्पन्न हुआ । चतुर्थ खण्ड में केवल एक ही न्याय का विस्तृत विवेचन था और उनका केवल अनुवाद ही करना था, वह शेष रह गया था ।

ये तीनों खण्ड का मूलतः गुजराती विवेचन, गुजरात विश्वविद्यालय के संस्कृत के व्याख्याता और 'पाणिनीय संस्कृत व्याकरणशास्त्र परम्परानो इतिहास' ग्रन्थ के लेखक मूर्धन्य वैयाकरण डो. जयदेवभाई शुक्ल ने साद्यंत पढकर विशेष सूचनाएँ दी थी । उनकी सूचना का पूर्णतः पालन किया गया है, यह एक खुशी की बात है । दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि कुछ ही साल पूर्व उनका देहांत हो गया है ।

वैसे तो 'न्यायसंग्रह' का गुजराती विवेचन वि. सं. २०४५ में ही प्रकाशित कराने की मेरी अपनी भावना थी किन्तु भवितव्यता ही भिन्न थी । अतः वि. सं. २०४७ तक इसी कार्य में कोई प्रगति न हो सकी । बाद में प. पू. गुरुदेव आ. श्रीविजयसूर्योदयसूरिजी महाराज व प. पू. पंन्यास श्रीशीलचन्द्रविजयजी महाराज की सूचना से तीनों खण्ड की मुद्रणार्ह प्रतिलिपि की गई, किन्तु भवितव्यता कुछ और ही थी । अतः कहीं से ऐसी माँग आयी कि ऐसा विद्वद्भोग्य ग्रंथ गुजराती के बजाय राष्ट्रभाषा हिन्दी में हो तो अच्छा होगा । परिणामतः हिन्दी संस्करण तैयार करने की सूचना मुझे मिली । बाद में दो वर्ष तक में अपनी शारीरिक व समय की प्रतिकूलताओं के कारण हिन्दी संस्करण तैयार न कर पाया । उसी समय के दौरान 'न्यायसंग्रह' के चतुर्थ खण्ड का गुजराती अनुवाद, जो शेष रह गया था, वह संपन्न किया । पुनः प. पू. गुरुदेव के अति आग्रह से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने का प्रारंभ किया । यही हिन्दी संस्करण उनकी ही प्रेरणा का परिणाम है, एतदर्थ उनका पूज्यभाव व उपकार बुद्धि से स्मरण करके वंदन व नमस्कार करता हूँ ।

यही हिन्दी संस्करण की पाण्डुलिपि को डो. अनिलकुमार जैन (ओ.एन.जी.सी. के आई. आर. एस. युनिट के उच्च नायब नियामक, अहमदाबाद) व श्री मणिभाई पटेल (अहमदाबाद) ने साद्यंत पढकर भाषाकीय दृष्टि से क्षतिमुक्त बनाया है । एतदर्थ उनके प्रति कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ । 'न्यायसंग्रह का एक अनूठा विवेचन' लिख देने के लिए श्री ला. द. प्राच्य विद्यामंदिर व श्रीमती शारदाबहन ची. लालभाई शैक्षणिक शोध संस्थान, अहमदाबाद के नियामक डा. जितेन्द्रभाई बी. शाह को धन्यवाद ।

यही ज्ञानसाधना में प. पू. आचार्य श्रीविजयभद्रसेनसूरिजी महाराज, मुनिश्री जिनसेनविजयजी, आदि की प्रत्यक्ष या परोक्ष सहायता मिली है, एतदर्थ उनका स्मरण करना मेरा आवश्यक कर्तव्य है । मुनिश्री विमलकीर्तिविजयजी के अविस्मरणीय सहयोग से यह ग्रंथ पूर्णतया क्षतिमुक्त बना है, एतदर्थ उनको धन्यवाद ।

इतनी दस-ग्यारह साल की लम्बी समयावधि के बाद भी यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, यह मेरे लिए जरूर खुशी की बात है । ऐसे ग्रंथ का विवेचन मेरे लिए प्रथम प्रयत्न ही है, अतः विद्वज्जनों की दृष्टि से इसमें क्षतियाँ होने की पूर्णतः संभावना है ही, ऐसी क्षतियों के प्रति विद्वज्जन अंगुलिनिर्देश करने की कृपा करें ता कि दूसरे संस्करण को संमार्जित किया जा सके ।

पुनः इसी संपूर्ण ग्रन्थ में मूलसूत्रकार व वृत्तिकार कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी, न्यायवृत्तिकार श्रीहेमहंसगणि तथा आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरिजी के आशय विरुद्ध; अपनी अज्ञानता के कारण कुछ कहा गया हो/लिखा गया हो तो उन सबका 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' देता हूँ । साथ साथ सज्जन विद्वानों से विज्ञप्ति करता हूँ कि दृष्टिदोष के कारण या अक्षरसंयोजक द्वारा की गई अशुद्धिओं का संमार्जन करके मुद्रित प्रति को शुद्ध करें ।

॥ इति शम् ॥

—मुनि नन्दिघोषविजय

वि. सं. २०५२
भाद्रपद सित चतुर्दशी, २६, सितम्बर, १९९६
दादासाहेब जैन उपाश्रय, भावनगर - ३६४ ००१

॥ ॐ ह्रीँ ऽर्हं श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥
॥ नमो नमः श्रीगुरूनेमिसूरये ॥
॥ ऐँ नमः ॥

न्यायसंग्रह : एक अध्ययन

१. व्याकरणशास्त्र की आवश्यकता

समय नदी के प्रवाह की तरह अस्थिर है, गतिशील है । वैसे संसार भी परिवर्तनशील है । साथ साथ संसार की प्रत्येक चीज भी परिवर्तनशील होने से कोई भी चीज का एक ही स्वरूप लम्बे अरसों तक स्थिर नहीं रह पाता है, तो भला भाषा का स्वरूप कैसे स्थिर रह पाता ? गुजराती भाषा में एक कहावत है कि 'बार गाउए बोली बदलाय' । अर्थात् प्रदेश बदलने पर भाषा भी बदल जाती है । इस प्रकार देश और काल के अनुसार भाषा में परिवर्तन होता ही रहा है । उसी परिवर्तन को कुछेक अंश में कम करके भाषा को एक ही स्वरूप में बांध रखने के लिए, भाषा के नियम बनाये गयें । जो आगे चलकर व्याकरण में परिवर्तित हो गये ।

सारे विश्व की प्रत्येक भाषा में व्याकरण हैं । यद्यपि छोटे छोटे बच्चें तो बिना व्याकरण पढे ही बोल-चाल की भाषा शीख लेते हैं, उसके लिए व्याकरण पढने की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु जब लिखने का प्रश्न उपस्थित होता है तब, और सभ्य समाज में बोली जानेवाली भाषा के लिए व्याकरण पढने की आवश्यकता रहती ही है ।

इस प्रकार पहले शुरुशुरु में संस्कृत भाषा का स्वरूप भी अस्थिर था, उसे स्थिर स्वरूप देने का, महर्षि पाणिनि से पूर्व कई प्राचीन वैयाकरणों ने प्रयत्न किया था, लेकिन वे पूर्णतः सफल न हो पाये । महर्षि पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण बनाकर, संस्कृत भाषा के परिवर्तन को बहुत कुछ मात्रा में थाम लिया और संस्कृत भाषा को व्यवस्थित रूप में नियमबद्ध बनायी ।

जैसे ज्योतिःशास्त्र में तीन विभाग - १. गणित, १. संहिता और ३. जातक हैं, वैसे व्याकरणशास्त्र में भीं सूत्रों के तीन विभाग हो सकते हैं - १. शब्दसिद्धि, २. शब्दार्थनिश्चय, ३. सूत्रार्थनिश्चय । तथापि व्याकरणशास्त्र के मूल ग्रंथो में ये तीनों प्रकार के सूत्र भिन्न भिन्न नहीं बताये गये हैं । संस्कृत भाषा के व्याकरण से शिष्ट/सभ्य समाज में जिसकी प्रवृत्ति होती थी, ऐसी भाषा का व्यवस्थित रूप से ज्ञान/बोध होता है । इतना ही नहीं प्राचीन काल से ही गीर्वाणगिरा/देवभाषा में बहुत से ग्रंथो का निर्माण होता चला आ रहा है, उसे पढने के लिए-समझने के लिए व्याकरणशास्त्र, शब्दकोष और काव्यानुशासन, तीनों पढना आवश्यक है । इनमें व्याकरणशास्त्र का अध्ययन परमावश्यक है, उसके बिना अन्य दो शास्त्र-शब्दकोष या लिङ्गानुशासन व काव्यानुशासन का अध्ययन करना असंभवित है ।

२. परिभाषा का उद्भव और विकास : पाणिनि, व्याडि और कात्यायन

किसी भी शास्त्र का अपना विशेष शब्दकोष होता है, वैसे उसके अपने विशिष्ट सिद्धांत भी होते हैं । जिसे मूलगत सिद्धांत कहे जा सकते हैं । संस्कृत व्याकरणशास्त्र का उद्भव होते ही उसके आनुषंगिक विशिष्ट नियमों का भी उद्भव हुआ ।[1] शायद शुरुशुरु में ऐसे नियम बहुत कम संख्या में होंगे, इसी वजह से ही वे मौखिक परम्परा में रहे होंगे । किन्तु जब उसमें तर्क का प्रवेश हुआ, तब वे ग्रंथस्थ हुए होंगे ।

व्याकरणशास्त्र लोक में प्रचलित भाषा का ही अन्वाख्यान है, अत एव शुरुशुरु में प्रायः लौकिक व्यवहार

---

1. *These works had their origin simultenceously with the vṛtti. (Introduction, Paribhāṣāsaṁgraha by Prof. K. V. Abhyankara. BORI. Poona. pp.2)*

के अनुसार कुछेक नियम प्रचलित बने होंगे किन्तु ाद में सर्वत्र उसी नियम की प्रवृत्ति करने पर अनर्थ होने लगे होंगे या अनिष्ट रूपों की आपत्ति आ पडने लगी होगी, तब उसमें लौकिक नियम/न्याय के अपवाद स्वरूप दूसरे भी नियमों का प्रवेश हुआ होगा । ऐसे नियम ही परिभाषा या वैयाकरणों द्वारा बनाये गये व्याकरणशास्त्रोपयोगी न्याय कहे जाने लगे ।

पाणिनीय परम्परा में बहुत से वार्तिक ऐसे हैं, जो व्याकरणशास्त्र के सामान्य सिद्धांत हैं और वे सूत्रों की यथार्थ समझ देने में अत्युपयोगी है और कुछेक वार्तिक, शब्दों का अर्थनिश्चय में अत्युपयोगी है । आगे चलकर ऐसे सब वार्तिक परिभाषा के नाम से प्रसिद्ध हुए ।[2]

पाणिनीय अष्टाध्यायी में भी ऐसे परिभाषा स्वरूप सूत्र हैं, हालाँकि उसकी संख्या बहुत कम है । पाणिनि ने स्वयं अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में ऐसे कुछ सूत्र दिये हैं । भाष्यकार पतंजलि इन सूत्रों को परिभाषा सूत्र कहते हैं ।[3] पाणिनीय परम्परा के वैयाकरण इन्हीं नियमों को परिभाषा के रूप में पहचानते हैं ।[4] जबकि श्रीहेमचन्द्राचार्यजी इनकी न्याय के रूप में पहचान देते हैं क्योंकि इन न्यायसूत्रों का प्राय: किसी भी व्याकरणशास्त्र के साथ सम्बन्ध हो सकता है ।[5] संस्कृत व्याकरण के ग्रंथो में शुरु शुरु में ये परिभाषाएँ विभिन्न व्याकरण ग्रंथों में ही उनके सूत्र के रूप में थी क्योंकि प्रत्येक वैयाकरण ने बनाये हुए अपने व्याकरणसूत्र के अर्थघटन व समझ देने में वे अत्यन्त सहायक होने से अपने व्याकरण के सूत्र के साथ ही इसे सूत्रात्मक रूप में गुंथ ली थी ।

व्याकरणशास्त्र के सूत्रों में अतिसंक्षिप्तता मुख्य ही थी[6], अत: व्याकरण के सूत्रों को अतिसंक्षिप्त स्वरूप देने के लिए विशेष संज्ञाओं की आवश्यकता खडी हुई किन्तु उसके साथ साथ सूत्रों के निश्चित अर्थ करने लिए और उसकी प्रवृत्ति कहाँ, कैसे हो सकती है, वह बताने के लिए कुछेक विशिष्ट नियमों की आवश्यकता प्रतीत हुई । अपनी इस आवश्यकता के अनुसार शुरु शुरु में कुछेक वैयाकरणों ने अपने व्याकरण ग्रंथ में आवश्यक ऐसे कुछेक सूत्र बना लिये । बाद में अन्य वैयाकरणों ने इन्हीं सूत्रों को यथावत् या तो थोडा सा परिवर्तन करके अपने व्याकरण में स्थान दिया या तो मौखिक रूप से उसका स्वीकार करके, उसी सूत्रों के अनुसार प्रवृत्ति की । आगे चलकर इन सब सूत्रों की परिभाषा के रूप में ख्याति हुई । पाणिनीय अष्टाध्यायी के पहले पाद के सूत्रों को परिभाषासूत्र के रूप में पहचानने की परम्परा कात्यायन के समय से शुरु हुई है ऐसा एक अनुमान है ।[7] क्योंकि पाणिनि ने स्वयं अपनी अष्टाध्यायी में इसके लिए परिभाषा शब्द का प्रयोग नहीं किया है ।[8]

इनकी असर पश्चात्कालीन वैयाकरणों पर भी रही है । श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने स्वयं उनके व्याकरण के अन्त में-सातवें अध्याय के चतुर्थ पाद के अन्त में ऐसी कुछ परिभाषाएँ दी है ।[9] किन्तु समय के प्रवाह के साथ इन्हीं

2. *Ibidem. pp. 2* 3. *Ibidem. pp. 3*

4. *Vaidyanātha Pāyagunḍe has accordingly defined it in the words* "परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते". *Many commentators have followed this definition. (Introduction Paribhāṣenduśekhara, BORI, by Prof. K. V. Abhyankara pp. 3)*

5. 'न्यायसूत्राणां तु व्याकरणान्तरादिशास्त्रेष्वपि तथैव पठितत्वाच्चिरन्तनत्वम्' (न्यायसंग्रह, श्रीहेमहंसगणि, पृ. २)

6. *Bravity, generally, was the soul of sūtra works. (Introduction, Paribhāṣāsaṁgraha, Prof. K. V. Abhyankara pp.1)*

7. द्रष्टव्य: 'पाणिनीय संस्कृत व्याकरणशास्त्र परम्परानो इतिहास'. डॉ. जयदेवभाई मो. शुक्ल, पृ. ९८, (प्रकाशक : युनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, अहमदाबाद-६)

8. *The word Paribhāṣā does not occur in the Aṣtādhyāyī of Pāṇinī. (Introduction, Paribhāṣāsaṁgraha, Prof. K. V. Abhyankara. pp. 4)*

9. द्रष्टव्य: सिद्धहेमशब्दानुशासन, सप्तमाध्याय, चतुर्थपाद, सूत्र - 'पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य' ७/४/१०४ से 'समर्थ: पदविधि:' ७/४/१२२.

परिभाषाओं के बारे में विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होने पर मूल व्याकरणग्रंथों से इसे पृथक् करके उस पर स्वतंत्र रूप से विचार किया गया ।

परिभाषाओं के बारे में इस प्रकार स्वतंत्र रूप से सर्व प्रथम बार विचार व्याडि नामक एक वैयाकरण ने किया ।[10] यद्यपि पाणिनि से पूर्व हुए वैयाकरणों के व्याकरणग्रंथों में परिभाषाएँ तो थी ही और होनी ही चाहिए, तथापि उसके बारे में कोई विशेष ग्रंथ या वृत्ति होने के कोई सबूत हमें प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु प्राचीन वैयाकरणों के परिभाषा सम्बन्धी संदर्भ सीरदेव की परिभाषावृत्ति, कैयट और हरदत्त के ग्रन्थों में से प्राप्त होते हैं ।[11] व्याडि का समय पाणिनि के बाद और पतंजलि से पूर्व माना जाता है क्योंकि पतंजलि के महाभाष्य में व्याडि के परिभाषासंग्रह की बहुत सी परिभाषाएँ प्राप्त होती है । अतः उससे ऐसा सिद्ध होता है कि व्याडि पतंजलि के पुरोगामी थे ।[12] वार्तिककार कात्यायन के बहुत से वार्तिक पतंजलि के महाभाष्य में प्राप्त होते हैं, अतः कात्यायन भी पतंजलि से पूर्व हुए हैं, ऐसा स्वयं सिद्ध होता है । व्याडि और कात्यायन में कौन पहले हुए और कौन बाद में, इसका निर्णय करना कठिन है तथापि पाणिनि के बाद १०० वर्ष के अन्दर ही व्याडि के द्वारा 'परिभाषासूचन' की रचना हुई हो,[13] बाद में २०० वर्ष के बाद कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की हो, ऐसा असंभवित नहीं है क्योंकि पाणिनीय अष्टाध्यायी सम्बन्धित वार्तिकों की संख्या इतनी अधिक है कि यदि पाणिनि व कात्यायन के बीच कम से कम २५०-३०० वर्ष का अन्तर न हो तो पाणिनि द्वारा निर्मित सूत्रों में इतने ज्यादा/अधिक प्रमाण में परिवर्तन करने की आवश्यकता का संभव ही नहीं हो सकता । यद्यपि व्याडि के परिभाषासूचन में कुछेक वार्तिक अवश्य प्राप्त होते हैं तथापि सर्व वार्तिक केवल कात्यायन के हैं ऐसा नहीं है और महाभाष्य में पतंजलि ने भी ऐसा कहीं नहीं कहा है कि ये सब वार्तिक केवल एक ही वैयाकरण द्वारा प्रक्षिप्त है ।[14]

संक्षेप में इससे इतना सिद्ध होता है कि पाणिनि के बाद थोडे ही समय में व्याडि हुए हो, उसी समय के दौरान थोडे से वार्तिक पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रक्षिप्त हुए हो, अन्य वार्तिक बाद में प्रक्षिप्त हुए हो किन्तु कात्यायन द्वारा प्रक्षिप्त वार्तिकों की संख्या अधिकतम होने से उसकी वार्तिककार के रूप में प्रसिद्धि हुई हो ।

दूसरी बात अष्टाध्यायी में कहीं कहीं वार्तिक के साथ पूर्व सम्बन्धित परिभाषाएँ भी प्राप्त होती है, जो

---

10. *Vyādi is traditionally believed to have been the first writer on Vyākaraṇa Paribhāṣā. The belief is substantiated by a remark made in the Laghuparibhāṣā vṛtti compiled by a pupil of Bhāskarabhaṭṭa Agnihotrī, which available in manuscript form. The remark runs as follows :* "केचित्तु व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरित्यादिसर्वाः परिभाषा व्याडिमुनिना विरचिता इत्याहुः ।" *(Introduction, Paribhāṣenduśekhara, Prof. K. V. Abhyankara pp.4)*

11. 'पाणिनीय संस्कृत व्याकरणशास्त्र परम्परानो इतिहास' डॉ. जयदेवभाई शुक्ल. पृ. ९९

12. *The paribhāṣāvṛtti of Vyādi termed Paribhāṣāsūcana by the author himself, is the oldest of all the eleven glosses. It was written after Pāṇinī, but before Patañjali (Paribhāṣāsaṁgraha, Introduction by Prof. K. V. Abhyankara pp.8)*

13. डॉ. जयदेवभाई शुक्ल, परिभाषासूचन के कर्ता व्याडि ही थे, ऐसी प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी की मान्यता को पूर्ण रूप से स्वीकार करने से पूर्व, अन्य सबूतों-अनुसन्धान कार्यों की प्रतीक्षा करने को कहतें हैं । (द्रष्टव्य : 'पाणिनीय संस्कृत व्याकरणशास्त्र परम्परानो इतिहास' पृ. १०८)

14. *The vārtikas, which are stated in the Mahābhāṣya can not be said to be the work of a single author. (Introduction, Paribhāṣāsaṁgraha by Prof. K. V. Abhyankara pp.12)*

व्याडि के परिभाषासूचन में भी प्राप्त है, अतः कात्यायन से पूर्व ही व्याडि हुए है, ऐसा निश्चय हो सकता है ।

तदुपरांत कात्यायन के वार्तिक इस बात के द्योतक है कि उसी काल में भी संस्कृतभाषा का स्वरूप अत्यन्त परिवर्तनशील था क्योंकि पाणिनि जैसे महान् वैयाकरण, उनके समय की संस्कृतभाषा का पूर्ण व्याकरण तैयार करने में निष्फल गये होंगे और बाद में पश्चात्कालीन वैयाकरण कात्यायन ने उसके परिमार्जन के रूप में वार्तिकों का प्रक्षेप किया हो, वह माना जा सकता नहीं है । महर्षि पाणिनि ने पूर्ण व्याकरण बनाया हो किन्तु समय के प्रवाह के साथ लोकभाषा में बहुत से नये प्रयोग प्रचलित हुए होंगे और उन सबका संग्रह करने की आवश्यकता लगने पर अन्य वैयाकरण और वार्तिकार कात्यायन ने इसे वार्तिकों के रूप में अष्टाध्यायी में दाखिल किये हो, ऐसा अनुमान सब कर सकते हैं ।

व्याडि के परिभाषासूचन को छोडकर, उनका ही परिभाषापाठ उपलब्ध है, किन्तु वह पूर्णतः व्याडि का अपना ही बनाया गया हो ऐसा नहीं माना जा सकता है क्योंकि उसमें बहुत सी अतिरिक्त परिभाषाएँ है और परिभाषाओं का क्रम भी परिभाषासूचन के साथ मिलता-झुलता नहीं है अर्थात् व्याडि के बाद अन्य किसीने व्याडि के मूल परिभाषापाठ में नयापरिवर्तन और अतिरिक्त परिभाषाओं को सम्मिलित करके व्याडि के नाम से रख दिया हो, वह असंभवित या अशक्य प्रतीत नहीं होता है ।

समय की परिपाटी अर्थात् कालानुक्रम से, व्याडि के बाद शाकटायन का परिभाषापाठ आता है किन्तु उसकी विचारणा हम आगे करेंगे ।

विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि पाणिनीय परम्परा में व्याडि के बाद, प्रायः विक्रम की बारहवीं शताब्दी पर्यन्त परिभाषा के बारे में कुछ भी कार्य नहीं हुआ है तो दूसरी ओर इसी समय के दौरान शाकटायन, चान्द्र व कालापपरिभाषापाठ बनाये गये और कातन्त्र व्याकरण सम्बन्धित दुर्गसिंहकृत कातन्त्रपरिभाषावृत्ति, भावमिश्रकृत कातन्त्रपरिभाषावृत्ति व परिभाषापाठ का निर्माण हुआ, उसके बाद भोज, व्याकरण में व्यवस्थित स्वरूप में प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के सूत्र क्रमांक १८ से लेकर १३५ तक परिभाषासूत्र प्राप्त होते हैं । यही भोज व्याकरण (जिसका दूसरा नाम 'सरस्वतीकंठाभरण' है) को देखकर ही गुर्जरेश्वर सिद्धराज ने श्रीहेमचन्द्राचार्यजी को गुजरात का अपना व्याकरणशास्त्र बनाने की प्रेरणा दी थी ।

३. कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी : जीवन और ज्ञानसाधना

'कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी का जन्म वि. सं. ११४५. (इ. स. १०८८) की कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा के दिन धंधुकानगर (गुजरात में अहमदाबाद के पास) में हुआ था । केवल पांच वर्ष की उम्र में वे आचार्य श्रीदेवचन्द्रसूरिजी के साथ स्तंभतीर्थ पहूँचे थे और केवल ९ वर्षकी उम्र में ही वि. सं. ११५४ (इ. स. १०९८) माघ शुक्ल - १४ को उन्होंने स्तंभतीर्थ (खंभात-गुजरात) में प्रवज्या ग्रहण की[15] और आचार्यश्री देवचन्द्रसूरिजी के शिष्य बने । उनका दीक्षा समय का नाम था मुनि सोमचन्द्र । उनके पिता चाचीग जो मोढज्ञातीय वणिक थे और माता पाहिणीदेवी, जो जैनधर्म में श्रद्धा रखनेवाली थी, आगे चलकर उन्हीं ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी और साध्वी समुदाय में प्रवर्तिनी पद पर आरूढ की गई थी । श्रीहेमचन्द्रसूरिजी का गृहस्थ अवस्था का नाम चांगदेव था । अपनी तीव्र मेधा से बहुत ही अल्प काल में उन्हों ने सारे ग्रंथो का तुलनात्मक अध्ययन किया, न केवल जैन ग्रंथो (आगमों) का, अपि तु प्राचीन वैयाकरणों के व्याकरणशास्त्र के साथ साथ अन्य दार्शनिक शास्त्रों का भी गहन अध्ययन किया । परिणामतः वि. सं. ११६६ (इ. स. ११९०) वैशाख शुक्ल तृतीया के दिन, केवल इक्कीस वर्ष की उम्र में उनको आचार्यपदारूढ किये गए और आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी नाम से घोषित किये गये ।

उनके सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन (बृहद्वृत्ति और बृहन्यास) में प्राप्त यास्क, आपिशली, शाकल्य,

15. अन्य एक मत के अनुसार वि. सं. ११५० (इ. स. १०९३) में श्रीहेमचन्द्रसूरिजी की दीक्षा हुई थी।

पाणिनि, पतंजलि, देवनन्दिन् जयादित्य, वामन, शाकटायन, चन्द्रगोमिन्, भोज और अन्य बहुत से वैयाकरणों के उद्धरण/सन्दर्भ से पता चलता है कि इन वैयाकरणों के ग्रंथो का उन्होंने पूर्णतः ठोस अध्ययन किया होगा ।

गुर्जरेश्वर सिद्धराज जयसिंह के अनुरोध से उन्होंने सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन नामक संस्कृत-प्राकृत व्याकरण की रचना की । तो परमार्हत् महाराजा कुमारपाल तो उनका शिष्य ही बन चुका था । उसके लिए आचार्यश्री ने वीतराग स्तोत्र और योगशास्त्र की रचना की थी । अपने जीवनकाल में उन्होंने सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन के अतिरिक्त अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, निघंटुशेष (तीनों संस्कृत शब्दकोश), संस्कृत द्व्याश्रय महाकाव्य, लिङ्गानुशासन, देशीनाममाला, प्राकृत द्व्याश्रय, काव्यानुशासन, छन्दोऽनुशासन, प्रमाणमीमांसा, त्रिषष्टिशलाका महापुरुषचरित्र, योगशास्त्र आदि की रचना की । उनके द्वारा रचे गये संस्कृत स्तुति-स्तवन इत्यादि में अन्ययोगव्यच्छेदद्वात्रिंशिका, अयोगव्यच्छेदद्वात्रिंशिका, वीतराग स्तोत्र, महादेवस्तोत्र (द्वात्रिंशिका), सकलार्हत् स्तोत्र आदि का समावेश होता है ।

साहित्यसर्जन व ज्ञानसाधना के साथ साथ उन्होंने धर्मोपदेश द्वारा गुर्जरेश्वर सिद्धराज जयसिंह व महाराजा कुमारपाल को प्रतिबोध करके समग्र/समस्त गुर्जर प्रजा में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सदाचार, अपरिग्रह इत्यादि गुणों का सिंचन भी किया, जिसकी असर आज भी जनमानस पर रही है ।

वि. सं. १२२९ (इ. स. ११७३)में ८४ वर्ष की उम्र में अणहिलपुरपट्टन में उनका कालधर्म/स्वर्गारोहण हुआ ।

४. सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन और हैमपरिभाषावृत्तियाँ

जैन व्याकरण में जिनका मुख्य रूप से उल्लेख होता है और हाल में उपलब्ध है, उनमें हैमव्याकरण (सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन) का महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्राचीन व्याकरण में शाकटायन मुनि का शाकटायन महाव्याकरण, जैनेन्द्र व्याकरण और मलयगिरि शब्दानुशासन मुख्य है ।

उसके बाद गर्जरेश्वर सिद्धराज जयसिंह की विद्वत्सभा के प्रथम स्थानीय और परमार्हत् कुमारपाल के गुर कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी द्वारा रचित संस्कृत प्राकृत व्याकरण आता है जिसको 'सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन' नाम दिया गया है और वह वि. सं. ११९९ के अरसों में बनाया गया है और सामान्यतः इसे हैमव्याकरण या हैमशब्दानुशासन भी कहा जाता है, जिसमें आठ अध्याय है । उसमें प्रथम सात अध्याय के कुल मिलाकर अठ्ठाईस पाद में संस्कृत भाषा का व्याकरण है, जबकि अन्तिम आठवें अध्याय में प्राकृत भाषाओं का व्याकरण है । इनमें प्राकृत (महाराष्ट्री), शौरसेनी, पैशाची, चूलिकापैशाची, मागधी और अपभ्रंश भाषा का समावेश होता है । आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने वैदिक संस्कृत और स्वरभार *(accents)* को छोडकर पाणिनि परम्परागत बहुत से सिद्धांतो का अपने ढंग से विवेचन किया है ।

उनके व्याकरण का विषयानुक्रम इस प्रकार है -: १. संज्ञा, २. सन्धि, ३. नाम, ४. कारक, ५. षत्व-णत्व प्रकरण, ६. स्त्रीप्रत्यय, ७. समास, ८. आख्यात, ९. कृदन्त, १०. तद्धित । अपने शब्दानुशासन पर उन्होंने स्वयं तीन प्रकार की विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ/वृत्तियाँ लिखी हैं । १. लघुवृत्ति (६००० श्लोक प्रमाण), २. बृहद्वृत्ति (१८००० श्लोक प्रमाण), ३. बृहन्न्यास (८४००० श्लोक प्रमाण)

सामान्यतः सिद्धहेम की परम्परा के लिए ऐसा कहा जाता है कि उस पर कोई विशेष साहित्य की रचना नहीं की गई है किन्तु ऐसा नहीं है । सिद्धहेम व्याकरण के विषय में बहुत से आचार्य और साधुएँ द्वारा अन्य साहित्य का निर्माण किया गया है । सिद्धहेम व्याकरण पर निम्नोक्त टीका ग्रन्थों की रचना हुई है ।

१.लघुन्यास - ५३००० श्लोक   श्रीरामचन्द्रसूरिजी (श्रीहेमचन्द्रसूरिजी के अपने ही शिष्य)

२. लघुन्यास - ९००० श्लोक -

३. कतिचित्दुर्गपदव्याख्या	श्रीदेवेन्द्रसूरिजी (श्रीउदयचन्द्र के शिष्य)
४. न्यासोद्धार	श्रीकनकप्रभसूरिजी (चन्द्रगच्छीय श्रीदेवेन्द्रसूरिजी के शिष्य)
५. हैमलघुवृत्ति	श्रीकाकलकायस्थ (श्रीहेमचन्द्रसूरिजी के समकालीन)
६. हैमबृहद्वृत्ति (ढुंढिका)	श्रीसौभाग्यसागर (सं. १५९१)
७. हैमव्याकरण (ढुंढिका-संस्कृत)	श्रीविनयचन्द्र
८. हैमव्याकरण (ढुंढिका-प्राकृत)	श्रीउदयसौभाग्य गणि
९. हैमलघुवृत्ति (ढुंढिका)	श्रीमुनिशेखर
१०. हैम अवचूरि	श्रीधनचन्द्र
११. हैमचतुर्थपादवृत्ति	श्रीउदयसागर
१२. हैमव्याकरणदीपिका	श्रीजिनसागर
१३. हैमव्याकरणबृहदवचूर्णि	श्रीअमरचन्द्रसूरि (सं. १२३४)
१४. हैमव्याकरण अवचूरि	अज्ञातकर्तृक
१५. हैमव्याकरण अवचूरि	श्रीरत्नशेखरसूरि
१६. प्राकृतदीपिका	श्रीहरिभद्रसूरि (द्वितीय)
१७. प्राकृत अवचूरि	श्रीहरिप्रभसूरि
१८. हैमदुर्गपदप्रबोध	श्रीवल्लभ पाठक (सं. १६६१)
१९. हैमकारकसमुच्चय	श्रीप्रभसूरि (सं. १२८०)
२०. हैमवृत्ति	श्रीप्रभसूरि (सं. १२८०)
२१. आख्यातवृत्ति	श्रीनन्दसुन्दर
२२. सिद्धहेमलघुवृत्ति अवचूरि	अज्ञातकर्तृक

सिद्धहेमव्याकरण के आधार पर अन्य संक्षिप्त-कौमुदी प्रकार के प्रक्रिया ग्रंथो की भी रचना की गई है । वह इस प्रकार है -

१. सिद्धसारस्वत	श्रीदेवानन्दसूरि (श्रीप्रद्युम्नसूरिजी के गुरु)
२. चन्द्रप्रभा (हैमकौमुदी)	श्रीमेघविजय उपाध्याय (सं. १७५८) ७००० श्लोक
३. हैमशब्दचन्द्रिका	श्रीमेघविजय उपाध्याय
४. हैमप्रक्रिया	महेन्द्रसुत वीरसी
५. हैमलघुप्रक्रिया	श्रीविनयविजय उपाध्याय (सं. १७१०)
६. हैमप्रकाश (प्रक्रियाबृहन्न्यास)	श्रीविनयविजय उपाध्याय (३४००० श्लोक)

उपर्युक्त ग्रन्थों को छोडकर अन्य ग्रन्थों का भी पिछले ६०-७० वर्षो में निर्माण हुआ है

सिद्धहेमव्याकरण के सहायक ग्रन्थों इस प्रकार है -

१. क्रियारत्नसमुच्चय	श्रीगुणरत्नसूरि (सं. १४६६)
२. स्यादिशब्दसमुच्चय	श्रीअमरचन्द्रसूरि (सं. १२२६ से पूर्व)
३. धातुपाठ (स्वरवर्णानुक्रमयुक्त)	श्रीपुण्यसुन्दरगणि
४. कविकल्पद्रुम	श्रीहर्षविजय
५. हैमविभ्रमसटीक	श्रीगुणचन्द्रसूरि (तेरहवां शतक)
६. हैमविभ्रमवृत्ति	श्रीजिनप्रभसूरि (चौदहवाँ शतक)
७. लिङ्गानुशासन अवचूरि	श्रीजयानन्दसूरि
८. न्यायसंग्रह-न्यायार्थमञ्जूषाबृहद्वृत्ति	श्रीहेममहंसगणि (सं. १५१५)

९. हैमलघुन्याय प्रशस्ति अवचूरि — श्रीउदयचन्द्र

१०.धातुपारायणः — कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरिजी

श्रीहेमचन्द्राचार्यजी के व्याकरण में धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन का समावेश होता है किन्तु परिभाषा सम्बन्धित उनका अपना कोई साहित्य नहीं है ।

युधिष्ठिर मीमांसक लिखते है कि - ''आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण से संबद्ध परिभाषाओं की स्वयं ही रचना की और स्वयं ही उनकी व्याख्या की ।''[16] किन्तु यह सही नहीं है । हां, आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने स्वयं अपनी बृहद्वृत्ति के अन्त में ५७ परिभाषाओं की एक सूचि दी है, जिसमें अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों भोज आदि के परिभाषासंग्रह में से पसंद की गई महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं का समावेश होता है, तथापि उसके क्रम आयोजन में उनकी अपनी मौलिकता प्रतीत होती है ।

सिद्धहेम परम्परा की इसी कमी को पंडित श्रीहेमहंसगणि ने दूर करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है । यद्यपि उनके पूर्ववर्ती हैम परम्परा के वैयाकरणों ने इसके लिए प्रयत्न तो किये होंगे किन्तु वे पूर्णतः सफल नहीं हुए होंगे, ऐसा श्रीहेमहंसगणि के 'न्यायसंग्रह' की 'न्यायार्थमञ्जूषा' नामक बृहद्वृत्ति के शब्दों से प्रतीत होता है । उन्होंने बताया है कि 'उन न्यायों के अर्थात् श्रीहेमचन्द्राचार्यजी द्वारा संग्रहित ५७ न्यायों के अनित्यत्व की उपेक्षा करके व्याख्या, उदाहरण और ज्ञापक सहित एक छोटी सी टीका किसी प्राचीन वैयाकरण ने बनायी है ।[17]

संभवतः श्रीहेमहंसगणि ने जिस प्राचीन न्यायवृत्ति का सन्दर्भ दिया है, उसकी एक प्रति लींबडी जैन श्वे. मू. पू. ज्ञानभंडार में मौजूद है, किन्तु दुर्भाग्यपूर्णबात यह है कि उसके कुल तीन पत्र ही थे, उसमें से पहला पत्र ही लुप्त हो गया है । शेष दो पत्र के अन्त में - ''इति हैमव्याकरणसम्बद्धन्यायवृत्ति ॥ ग्रंथाग्रं १७५ ॥'' लिखा है और यही प्रति संभवतः विक्रम के सोलाहवें शतक के प्रारंभ में लिखी गई है । इसकी अन्य दो प्रतियाँ ला. द. प्राच्य विद्यामन्दिर, अहमदाबाद-३८०००९ के संग्रह से प्राप्त हुयी है । उनमें से एक प्रति मूलन्यायवृत्ति की है, जबकि दूसरी प्रति में बहुत सी टिप्पणियाँ है । इसके अलावा श्रीहेमहंसगणि के 'न्यायसंग्रह' पर एक दूसरी 'लघुन्यायवृत्ति' प्राप्त हुयी है, जो वि.सं. १५३५ में लिखी गई है । संभव होगा तो हैमव्याकरण सम्बद्ध ऐसी विभिन्न न्यायवृत्तियों का एक दूसरा ग्रंथ प्रकाशित किया जायेगा ।

आगे चलकर 'न्यायसंग्रह' की 'न्यायार्थमञ्जूषा' बृहद्वृत्ति के स्वोपज्ञन्यास में भी उन्होंने वृत्ति के 'अनित्यत्वमुपेक्ष्य' शब्द की स्पष्टता करते हुए बताया है कि ''वस्तुतः 'सिद्धिः स्याद्वादात्' १/१/२ कहने से ही शिष्ट प्रयोग की सिद्धि के लिए ही इन सब न्यायों की प्रवृत्ति होती है, जहाँ न्याय की प्रवृत्ति से अनिष्ट रूप सिद्ध होता हो वहाँ न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है, अतः प्रायः ये सब न्याय अनित्य ही है तथापि पूर्ववर्ती न्यायवृत्ति के टीकाकार ने कहीं भी न्यायों की अनित्यता बतायी नहीं है ।''[18] न्यास में ही आगे 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' न्याय के 'शब्दसंज्ञा' शब्द की स्पष्टता करते हैं, उसमें भी 'प्राक्तन्यां न्यायवृत्तौ' शब्द है ।[19] आगे चलकर बृहन्यास

---

16. द्रष्टव्यः जैनेन्द्रमहावृत्ति पृ. ५० (भूमिका)

17. 'तेषां चानित्यत्वमुपेक्ष्य व्याख्योदाहरणज्ञापकानामेव प्रज्ञापनी कनीयसी टीका कैश्चित्प्राचीनानूचानैश्चक्रे । (न्यायसंग्रह - बृहद्वृत्ति, पृ. १)

18. न्यायाः किल सर्वेऽपि 'सिद्धिः स्याद्वादात्' १/१/२ इति भणनात् यथाशिष्टप्रयोगं क्वचित् प्रवर्त्त्यन्ते क्वचिच्च न प्रवर्त्त्यन्ते इति प्रायो अनित्या एव सन्ति; न च तेषामनित्यता प्राक्तनटीकाकारेण क्वापि प्रकटितेति भावः ॥ (न्यायसंग्रह - स्वोपज्ञन्यास, पृ. १५७)

19. प्राक्तन्यां न्यायवृत्तौ त्वशब्दसंज्ञेतिपदस्य, यदि पुनः शब्दः संज्ञारूपः स्यात्तदा रूपस्याग्रहणमिति व्याख्याऽस्ति ।(न्यायसंग्रह- स्वोपज्ञन्यास पृ. १५८)

में ही 'सुसर्वार्द्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य' ॥ ३ ॥ न्याय की बृहद्वृत्ति के "ख्यापकं त्वस्य 'सुसर्वार्द्धाद्राष्ट्रस्य' ७/४/१५, 'अमद्रस्य दिशः' ७/४/१६ इति सूत्राभ्यामुत्तरपदस्य वृद्धिविधानमेव" शब्दों की समझ दी है, उसमें 'पुरातनन्यायवृत्तौ' शब्द प्राप्त है ।[20]

श्रीहेमहंसगणि के इन शब्दों से भी ज्ञात होता है कि 'न्यायसंग्रह' से पूर्व भी हैमपरम्परा में न्यायों की वृत्ति तो होगी ही किन्तु 'न्यायसंग्रह' की रचना के साथ ही उसका अध्ययन प्रायः लुप्त होता चला हो और आगे चलकर पूर्णतः बन्द हो गया हो । परिणामतः इसकी प्रतिलिपि भी बाद में नहीं हुई होगी ।

दूसरी बात यह कि श्रीहेमहंसगणि ने इसी 'न्यायसंग्रह' की वृत्ति को 'न्यायार्थमञ्जूषा' नाम दिया है और इसे बृहद्वृत्ति कही है अर्थात् उनके ही द्वारा इसी 'न्यायसंग्रह' की लघुवृत्ति भी बनायी गई होगी किन्तु बृहद्वृत्ति व उसके न्यास की तुलना में शायद अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होने से, उसकी प्रतिलिपि बहुत कम संख्या में हुई होगी और हैमव्याकरण की अध्ययन परम्परा में केवल इसी बृहद्वृत्ति का ही अधिकतम प्रयोग हुआ होगा । इसी कारण से वह कालकवलित अर्थात् लुप्त हो गई होगी, ऐसा एक अनुमान लगाया जा सकता है ।

प्रस्तुत 'न्यायसंग्रह' की बृहद्वृत्ति में भी शायद इसकी लघुवृत्ति का एक अवशेष/सन्दर्भ उपलब्ध होता है - 'न्यायसंग्रह' में दी गई 'प्रकृतिवदनुकरणम्' ॥ ६ ॥ न्याय की वृत्ति वस्तुतः बृहद्वृत्ति ही नहीं है, ऐसी आशंका अस्थानापन्न नहीं है । न्यास में 'न्यायार्थमञ्जूषा' नामक बृहद्वृत्ति के विशिष्ट पदों की समझ दी गई है । इस न्याय के न्यास में 'शब्दार्थनुकरणमिति' कहकर 'शब्दार्थानुकरण' की समझ दी गई है,[21] किन्तु छपी हुई इस न्याय की तथाकथित बृहद्वृत्ति में कहीं भी 'शब्दार्थानुकरणम्' शब्द ही नहीं है ।[22] इससे यह अनुमान हो सकता है कि इस न्याय की बृहद्वृत्ति पूर्णतः नहीं मिल पायी होगी, कुछ अंश लुप्त हो गया होगा, किन्तु इस न्याय की छपी हुई वृत्ति में कहीं भी सम्बन्ध त्रुटित नहीं होता है । अतः हैम परम्परा के किसी अध्येता ने या किसी विद्वान् ने आगे चलकर त्रुटित बृहद्वृत्ति के स्थान पर 'लघुवृत्ति' ही रख दी हो ऐसी संभावना है क्योंकि छपी हुई वृत्ति अन्य न्यायों की वृत्ति की तुलना में बहुत ही छोटी है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि शायद श्रीहेमहंसगणि द्वारा ही 'न्यायसंग्रह' की लघुवृत्ति की रचना की गई होगी किन्तु अभी वह अप्राप्त है ।

पाणिनीय परम्परा से भिन्न संस्कृत व्याकरण की परम्परा में परिभाषा के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण विवेचन ग्रंथ का निर्माण नहीं हुआ है । उसी तरह सिद्धहेम की परम्परा में भी श्रीहेमहंसगणि के 'न्यायसंग्रह' को छोडकर कोई महत्त्वपूर्ण विवेचन नहीं हुआ है । पिछले कुछ साल पहले तपागच्छाधिपति शासनसम्राट् आचार्य श्रीविजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज के पट्टधर महान् वैयाकरण आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरिजी महाराज ने इसी 'न्यायसंग्रह' के आधार पर 'न्यायसमुच्चय' नामक ग्रंथ में उसी न्यायों पर 'न्याययार्थसिन्धु' और 'तरङ्ग' नामक पांडित्यपूर्ण टीकाएँ लिखी है, जो उनकी व्याकरण और न्यायशास्त्रविषयक विद्वत्ता का परिचय देती है ।

५. 'न्यायसंग्रह' की रचना पद्धति

यह 'न्यायसंग्रह' कुल मिलाकर चार खण्डों में विभक्त है । प्रथम खण्ड में सूत्रकार आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी

---

20. पुरातनन्यायवृत्तौ तस्यैव ज्ञापकस्य दर्शितत्वात् । (न्यायसंग्रह-स्वोपज्ञन्यास, पृ. १६०)

21. 'शब्दार्थनुकरणमिति ।' यत्र स्याद्वादबलेनानुकार्यानुकरणयोर्भेदविवक्षा, तत्र शब्दः प्रस्तावादनुकार्यरूप एवार्थो, यस्य, तच्च तदनुकरणं च, शब्दार्थानुकरणम् ।
(न्यायसंग्रह - स्वोपज्ञन्यास पृ. १६२)

22. द्रष्टव्य : 'न्यायसंग्रह' पृ. ८

द्वारा, उनकी स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति के अन्त में दिये गए सत्तावन न्यायों का विवेचन किया गया है । दूसरे खण्ड में श्रीहेमहंसगणि द्वारा ही सिद्धहेमबृहद्वृत्ति, लघुन्यास, बृहन्न्यास इत्यादि के आधार पर, इसमें प्राप्त पैंसठ (६५) न्यायों का समुच्चय किया गया है और उसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है ।

तीसरे खण्ड में शायद ज्ञापकादि से रहित कुछ न्यायसदृश विशेष वचनों का संग्रह किया गया है, जिसकी संख्या केवल अठारह (१८) की है । इनका विवेचन बहुत संक्षेप में किया गया है । अन्तिम खण्ड में समग्र व्याकरणशास्त्र व संपूर्ण न्यायशास्त्र (न्यायसंग्रह) का पूरक केवल एक ही न्याय है, जो व्याकरण से निष्पन्न न होनेवाले किन्तु शिष्टसाहित्य में कवि आदि प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त तथा अन्यान्य व्याकरणपरम्परा स्वीकृत शब्द इत्यादि की सिद्धि करता है ।

इन चारों खण्डों को न्यायसंग्रहकार श्रीहेमहंसगणि ने वक्षस्कार नाम दिये हैं ।

न्यायसंग्रहकार श्रीहेमहंसगणि ने प्रत्येक न्याय की विवेचना में प्रायः एक ही पद्धति अपनायी है । प्रथम वे अध्याहार पदों/शब्दों को बता देते हैं, बाद में, न्याय में विशिष्ट पद हो तो, उसकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । न्याय का अर्थ भी साथ में देकर, उसके उदाहरण देते हैं । बाद में न्याय के ज्ञापक और उसकी चर्चा करके, अन्त में न्याय की अनित्यता, उसके उदाहरण और ज्ञापक आदि बताते हैं । सर्वत्र उनका यही क्रम रहा है । केवल 'क्विबर्थं प्रकृतिरेवाह' ॥१४॥ (तृतीय वक्षस्कार) न्याय के विवेचन में इसी पद्धति का अनुसरण नहीं किया है । वहाँ प्रथम, न्याय की अनित्यता का उदाहरण दिया है । बाद में न्याय को समर्थित करनेवाले उदाहरण और अर्थ दिये हैं । इससे यह सूचित होता है कि न्यायसूत्रों/परिभाषाओं के विवेचन या वृत्ति की यदि यहाँ दी गई/स्वीकृत पद्धति से भिन्न पद्धति का किसी वृत्तिकार ने स्वीकार किया हो तो इसमें कोई बाध नहीं है ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'न्यायसंग्रह' के सूत्रों की रचना में सूत्रात्मक पद्धति का आश्रय किया है । जैसे व्याकरण के सूत्रों में पूर्वोक्त सूत्रों के शब्दों की अनुवृत्ति या अधिकार अगले सूत्र में आती/आता है, उसी प्रकार श्रीहेमहंसगणि द्वारा रचे गये न्यायसूत्रों में भी शब्दों की अनुवृत्ति/अधिकार अगले सूत्र में जाती/जाता है । उदा. 'बलवन्नित्यमनित्यात्' ॥४१॥ न्यायसूत्रगत 'बलवत्' शब्द की अनुवृत्ति, 'अपवादात् क्वचिदुत्सर्गोऽपि' ॥५६॥ न्याय तक अर्थात् अगले पन्द्रहसूत्रों में जाती है ।

ठीक उसी तरह न्यायों में भी परस्पर बाध्यबाधकभाव होता है । उदा. 'आदेशादागमः' ॥५०॥ और 'आगमात्सर्वादेशः' ॥५१॥ यहाँ 'आदेशादागमः' ॥५०॥ बाध्य है और 'आगमात्सर्वादेशः' ॥५१॥ उसका बाधक है । यद्यपि 'न्यायसंग्रह' के प्रथम खण्ड/वक्षस्कार के ५७ न्यायसूत्र की रचना व क्रम योजना आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने स्वयं की है और उसमें श्रीहेमहंसगणि ने कोई परिवर्तन नहीं किया है तथापि आगे दोनों वक्षस्कार/खण्डों में उन्होंने इसी पद्धति का ही अनुसरण किया है । उदा. द्वितीय खंड के प्रथम न्यायसूत्र 'प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणम्' ॥१॥ सूत्र के 'ग्रहणम्' शब्द की अनुवृत्ति अगले पांच सूत्र में होती है । ठीक उसी तरह 'सापेक्षमसमर्थम्' ॥२८॥ और 'प्रधानस्य तु सापेक्षत्वेऽपि समासः' ॥२९॥, दोनों न्याय में परस्परबाध्यबाधकभाव है ।

इसी 'न्यायसंग्रह' की वैविध्यसभर प्रासादिक शैली, सरलता देखने से उनकी प्रकांड विद्वत्ता का परिचय होता है । श्रीहेमहंसगणि ने अपने 'न्यायसंग्रह' में 'ज्ञापक' और 'अनित्यता' शब्दों के समानार्थक विभिन्न अनेक शब्दों के प्रयोग किये हैं । ये शब्दों को स्वयं उन्हों ने व्याकरण के आधार पर ही, व्युत्पत्तियुक्त, अन्वर्थक बनाकर प्रयुक्त किये हैं । ऐसा शब्दों का वैविध्य नीरस ऐसे व्याकरण के अध्ययन को रसप्रद (रसदायक) बनाता है । तथा 'न्यायसंग्रह' की वृत्ति में कहीं कहीं व्याकरण के न्याय के समर्थन/पुष्टि में लौकिक न्यायों के उदाहरण दिये हैं, तो कहीं कहीं व्याकरण में लौकिक न्याय से विरुद्ध भी किया जाता है, यह बताने के लिए लोक व्यवहार किस प्रकार होता है, यह भी बताया है ।

'ज्ञापक' के लिए 'ख्यापक, स्थापक, बोधक, गमक, प्रमापक, उपदर्शक, अनुमापक, निवेदक, सम्पादक, संवादक, अनुवादक, निश्चायक, निर्णायक, ज्ञप्तिकर, उद्घोषक, प्रदर्शक, विमुद्रक, उन्नयन, आपादक, संभावक, ज्ञप्तिकृत्त्व, आसादक, प्रपञ्चक, संवादी ज्ञप्तिकुशल, प्रणायक, प्रघोषक, प्रगुणक, घोषक, प्राणक, सूचक, प्रवर्तक, ख्यातिकर, स्फातिकर, सत्ताकर, व्यक्तिकर, उद्भावक, आविर्भावक, आविष्करण, प्रकाशक, विकाशक, प्रतिभासक, उद्भासक, विभासक, उद्दीपक, उद्योतक' इत्यादि बहुत से शब्दों का प्रयोग किया है ।

'अनित्य' व 'अनित्यता' के लिए प्रयुक्त विविध शब्द इस प्रकार है -: 'अस्थिरता, अस्थेष्ठत्व, अस्थैर्य, औदासीन्य, अनैकान्तिकत्व, व्यभिचारी, सव्यभिचार, चञ्चल, अव्यापक, अप्रणिधेय, अनादरण, दभ्रत्व, उपरति, असामर्थ्य, अनाग्रहिता, जय्य, स्वरुचित्व, अक्षामत्व, अनौजस्वित्वाद्, अबलिष्ठता, कादाचित्कत्व, अप्रमाण, असंपातित्व, अप्रामाण्य, चलत्व, अनैष्ठिक, अशंबल, अविश्वास्य, चपलत्व, चटुलत्व, तरलत्व, भ्रंशशील, परिप्लव, अनिद्धता, असार्वत्रिकता, अनिर्णीति, अनियत, अनैयत्य, अदृढ, अनियमत्व, स्याद्वादी, अबलिष्ठत्व, अस्थेमा, क्षामत्व' इत्यादि बहुत से विभिन्न शब्द हैं ।

६. 'न्यायसंग्रह' ग्रन्थ के कर्ता श्रीहेमहंसगणि

इस 'न्यायसंग्रह' के कर्ता श्रीहेमहंसगणि ने इस ग्रन्थ को छोडकर अन्य दो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं । १. षडावश्यकबालावबोध २. आरम्भसिद्धिवार्तिक । षडावश्यकबालावबोध ग्रंथ श्वेताम्बर जैन परम्परा के ४५ आगमसूत्रगत आवश्यकसूत्र का तत्कालीन गुजराती भाषा में अनुवाद है और यही ग्रंथ मुनि और श्रावकों की दैनिकक्रिया के छः आवश्यकों का निरूपण करता है, अतः इसी ग्रन्थ उन्होंने श्रावकों की प्रार्थना होने पर लिखा है, ऐसा इसी ग्रन्थ की पुष्पिका (*colophon*) /प्रशस्ति देखने से पता चलता है । यही षडावश्यकबालावबोध उन्होंने वि. सं. १५१० में लिखा है ।[23]

२. आरम्भसिद्धि, आचार्यश्री उदयप्रभसूरिकृत ज्योतिःशास्त्र का एक ग्रन्थ है, जिन पर श्रीहेमहंसगणि ने टीका लिखी है, जिसकी रचना संवत् है वि. सं. १५१४ । इसी ग्रन्थ से उनके ज्योतिः शास्त्र विषयक पांडित्य का परिचय प्राप्त होता है । 'न्यायसंग्रह' बृहद्वृत्ति की प्रशस्ति का निम्नोक्त अन्तिम श्लोक भी ज्योतिःशास्त्र सम्बन्धित उनके पांडित्य का परिचायक है ।[24]

"श्रीमद् विक्रमवत्सरे तिथितिथौ (१५१५) शुक्लद्वितीयातिथौ,[24]
पूर्वाह्ने मृगलाञ्छने मृगशिरः शृङ्गाग्रशृङ्गारिणि ।
शुक्रस्याहनि शुक्रमासि, नगरे श्रीसागरेऽहम्मदा-
वादे निर्मितपूर्तिरेष जयताद् ग्रन्थः सुधीवल्लभः ॥

श्रीहेमहंसगणि की स्तुति करते हुए महोपाध्याय श्रीविनयविजयजी महाराज अपनी बनायी हुई 'हेमलघुप्रक्रिया' की स्वोपज्ञबृहद्वृत्ति के अन्त में लिखते हैं -[25]

"हेमव्याकरणार्णवं निजधिया नावाऽवगाह्यमितो,
'मञ्जूषा' समपूरि भूरिघृणिभिर्यैर्न्यायरत्नैरिह ।

---

23. यद्यपि 'न्यायसंग्रह' की प्रस्तावना में षडावश्यक बालावबोध की रचना संवत् १५१० बतायी है तथापि 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' में श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई ने इसकी रचना संवत् १५०१ बतायी है । (द्रष्टव्यः जै. सा. सं. इतिहास, पृ. ५२१, ४८७) 'जैन परम्परानो इतिहास' भाग-३ में भी त्रिपुटी महाराज ने षडावश्यकबालावबोध की रचना संवत् १५०१ ही बतायी है । (जै. प. नो इतिहास, भाग-३, पृ. ४६१)
24. 'न्यायसंग्रह', प्रशस्ति - पृ. १५४
25. 'जैन परम्परानो इतिहास' भाग-३, पृ. ४६०

ज्योतिस्तत्त्वविवर्तं वार्तिक' कृतः श्रीहेमहंसाह्वयाः,
जीयासुः सुमनो मनोरमगिरः ते वाचकाधीश्वराः ॥५॥
(रचना संवत् १७३७, आ. शु. १०, रतलाम)

इसी 'न्यायसंग्रह' और उसकी बृहद्वृत्ति व न्यास का रचनाकाल वि. सं. १५१५ है। 'न्यायसंग्रह' मूल का मान स्वयं उन्होनें ६८ श्लोक और १० अक्षर बताया है, वैसे स्वोपज्ञन्यायार्थमञ्जूषा नामक बृहद्वृत्ति का मान साधिक ३०८५ श्लोक और स्वोपज्ञन्यास का मान १२०० श्लोक अनुमानतः बताया है।

श्रीहेमहंसगणि अपनी गुरु परम्परा बताते हुए 'न्यायसंग्रह' की प्रशस्ति/पुष्पिका *(colophon)* में कहते हैं कि तपागच्छीय आचार्य श्रीजगच्चन्द्रसूरिजी की पट्ट परम्परा में हुए आचार्य श्रीदेवसुन्दरसूरिजी के पट्टधर आचार्य श्रीसोमसुन्दरसूरिजी के शासनकाल में आचार्य श्रीमुनिसुन्दरसूरिजी जिन्होंने अपने जीवनकाल में चौबीस बार सूरिमंत्र की विधिपूर्वक विशुद्ध आम्नाय और तप के साथ आराधना की थी और संतिकरं स्तोत्र की रचना करके महामारि रोग का निवारण किया था, उनके स्वहस्तों से श्रीहेमहंसगणि की दीक्षा हुई थी। सर्वत्र श्रीहेमहंसगणि ने उसका दीक्षागुरु के रूप में निर्देश किया है। साथ साथ उन्होंने आचार्य श्रीजयचन्द्रसूरिजी का भी निर्देश किया है।

षडावश्यकबालावबोध के अन्त में उन्होंने आचार्य श्रीसोमसुन्दरसूरिजी, आचार्य श्रीमुनिसुन्दरसूरिजी तथा आचार्य श्रीजयचन्द्रसूरिजी के नाम का निर्देश किया है किन्तु आचार्य श्रीरत्नशेखरसूरिजी के नाम का निर्देश नहीं किया है। जबकि 'न्यायसंग्रह' की बृहद्वृत्ति व न्यास के अन्त में तपागच्छ के नायक के रूप में उन्होंने श्रीरत्नशेखरसूरिजी का निर्देश किया है अर्थात् उसी समय आ. श्रीसोमसुन्दरसूरिजी, आ. श्रीमुनिसुन्दरसूरिजी, व आ. श्रीजयचन्द्रसूरिजी विद्यमान नहीं होंगे। इससे अतिरिक्त महोपाध्याय श्री चारित्ररत्नगणि का अपने विद्यागुरु के रूप में निर्देश किया है। इससे यह निश्चित होता है कि उनके जीवन में विद्या व चारित्रविकास में इन चारों आचार्य भगवन्त व श्रीचारित्ररत्नगणि का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा।

दूसरा एक ओर प्रश्न यह है कि श्रीहेमहंसगणि के गुरु कौन थे ? श्रीमुनिसुंदरसूरिजी, श्रीजयचन्द्रसूरिजी या श्रीचारित्ररत्नगणि ? षडावश्यकबालावबोध के अनुसार श्रीमोहनलाल दलीचंद देसाई ने उनको श्रीजयचन्द्रसूरिजी के शिष्य बताये हैं तो 'आरंभसिद्धि' और 'न्यायसंग्रह' के अनुसार श्रीहेमहंसगणि को उपाध्याय श्रीचारित्ररत्नगणि के शिष्य बताये हैं।[26]

त्रिपुटी महाराज और श्रीयुत मोहनलाल दलीचंद देसाई 'न्यायसंग्रह' मूल की रचना संवत् १५१५ बताते हैं और इसकी 'न्यायार्थमञ्जूषा' नामक बृहद्वृत्ति की रचना संवत् १५१६ बताते हैं।[27] जबकि 'न्यायसंग्रह' की प्रशस्ति में और पुष्पिका में उन्होंने स्वयं 'न्यायार्थमञ्जूषा' नामक बृहद्वृत्ति की रचना संवत् १५१५ ही बतायी है।[28]

महोपाध्याय (वाचक) श्रीहेमहंसगणि का दूसरा नाम पं. हंसदेव था। आ. श्रीसोमसुन्दरसूरि ने उनको उपाध्याय पद प्रदान किया था। उन्होंने सं. १५१२ के जे. शु. ५ को खेरालु (गांव) में 'रत्नशेखर कथा' लिखी थी और उसी वर्ष में भा. व. ५ को डाभला (गांव) में पं. तीर्थराजगणि के लिए 'श्रीप्रबन्ध' लिखा था। हाल ही में श्रीहेमहंसगणिविरचित श्रीयुगादिदेव का एक संस्कृत स्तवन प्राप्त हुआ है। इसकी विशेषता यह है कि इसके कुल मिलाकर १३ श्लोक में से प्रथम और अन्तिम श्लोक को छोडकर शेष ग्यारह श्लोक में कहीं भी, किसी

---

26. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ. ५१५, जैन परम्परानो इतिहास, भाग-३, पृ. ४६०-४६१.

27. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ. ५१५, जैन परम्परानो इतिहास, भाग-३, पृ. ४६०-४६१.

28. द्रष्टव्यः न्यायसंग्रह, पृ.१५४,१५५

29. द्रष्टव्य : श्रीआदिनाथ स्तवनम्। सम्पादक : प. पू. आ. श्रीविजयसूर्योदयसूरिशिष्य मुनिश्री धर्मकीर्तिविजयजी (अनुसन्धान - ७, शोधपत्रिका, पृ. ८१, प्रका: क. स. श्रीहे. न. ज. स्मृ. सं. शि. निधि, अहमदाबाद)

भी शब्द में अकार को छोडकर अन्य १३ स्वर में से एक भी स्वर दिखाई नहीं पडता है । अर्थात् सर्व अक्षर अकारवाले ही है ।[29] इसी स्तवन की प्रतिलिपि श्रीसुन्दरदेवगणि ने की है ।

दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि ऐसे कवित्वशक्तिवान् 'न्यायसंग्रह' के कर्ता श्रीहेमहंसगणि के बारे में इससे ज्यादा कोई माहिती प्राप्त नहीं है । उनके जन्म स्थल-समय, माता-पिता, दीक्षास्थल-समय, पंडितपद और वाचक पद का समय, कालधर्म का समय इत्यादि के बारे में कहीं भी कोई भी सन्दर्भ नहीं मिल पाया है ।

७ 'न्याय' और 'परिभाषा' शब्दों की व्याख्याएँ

'न्यायसंग्रह' के कर्ता श्रीहेमहंसगणि ने 'परिभाषा' शब्द के स्थान पर 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया है । जबकि अन्य व्याकरण परम्परा में 'परिभाषा' शब्द का प्रयोग है । यद्यपि पहले बताया है उसी तरह परिभाषा स्वरूप यही नियम में से कुछ पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्राप्त है किन्तु उसके लिए पाणिनि ने स्वयं परिभाषा शब्द का प्रयोग नहीं किया है किन्तु वार्तिककार कात्यायन ने 'परिभाषा' शब्द का प्रयोग 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (पा. सू. १/१/६९) सूत्र के चौथे वार्तिक में किया है तथा अन्यत्र भी 'परिभाषा' शब्द उनके द्वारा प्रयुक्त है । तो 'परिभाषेन्दुशेखर' के कर्ता नागेश, जो परिभाषा के क्षेत्र में, पाणिनीय परम्परा में सर्वमान्य है, उन्होंने परिभाषा की व्याख्या ही नहीं दी है तथापि सभी वैयाकरण 'परिभाषा' शब्द को 'परि' उपसर्ग से युक्त 'भाष्' धातु से निष्पन्न मानते हैं ।[30]

हरदत्त, उनकी 'पदमञ्जरी' टीका में परिभाषा की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "परितः सर्वत्र पूर्वत्र परत्र व्यवहिते चानन्तरे च भाष्यते कार्यमनया सा परिभाषा "[31] तो वैद्यनाथ पायगुण्डे कहते हैं - "परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते ।" बहुत से वैयाकरणों ने परिभाषा की इसी व्याख्या का स्वीकार किया है । दूसरी ओर कुछेक वैयाकरण "अनियमे नियमकारिणी परिभाषा" ऐसी व्याख्या करते हैं, जबकि जयदेव और उनके अनुयायी जो तार्किक हैं, वे नव्यन्याय की शैली से परिभाषा की व्याख्या करते है, जो इस प्रकार है - "लक्ष्यधर्मिक-साधुत्वप्रकारकाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधोपयोगि बोधजनकत्वं परिभाषात्वम्"[32]

परिभाषा का महत्त्व बताते हुए महाभाष्यकार पतंजलि कहते हैं कि "परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत्" अर्थात् परिभाषा व्याकरणशास्त्र में केवल एक ही जगह बतायी हो तथापि उसका संपूर्ण व्याकरणशास्त्र में कहीं भी उपयोग किया जा सकता है अर्थात् सर्वत्र इसकी प्रवृत्ति निःसंदेह हो सकती है ।[33]

'न्यायसंग्रह' में श्रीहेमहंसगणि ने 'न्याय' शब्द की व्याख्या और सिद्धि बताते हुए कहा है कि "इह तु नीयते सन्दिग्धोऽर्थो निर्णयमेभिरिति 'न्यायावायाध्यायोद्यावसंहारावहाराधारदारजारम्' ५/३/१३४ इत्यनेन घञि

---

30. *The word Paribhāṣā is strickly used as a technical term in Vyākaraṇa, Nāgeśa has not defined the term. The word Paribhāṣā is derived from the root 'bhāṣ' with the prefix 'pari' by all grammarians and commentators. [Introduction of Paribhāṣenduśekhara by Prof. K. V. Abhyankara. pp.3]*
31. *See : Introduction of Paribhāṣāsaṁgraha by Prof. K. V. Abhyankara pp. 4]*
32. *See : Introduction of Paribhāṣenduśekhara by Prof. K. V. Abhyankara pp.3]*
33. द्रष्टव्य : महाभाष्य : सूत्र : 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' [पा. सू. २/१/१]
The Paribhāṣā rule casts a glance at all the rules just as the light of the moon and goes whereever it is needed for the clarification of the sense of the sūtras.
(Introduction of Paribhāṣāsaṁgraha by Prof. K. V. Abhyankara)
यहाँ श्रीअभ्यंकरजी ने *light of the moon* लिखा है किन्तु मूल में 'प्रदीपवत्' शब्द होने से *light of a lamp* होना चाहिए ।

निपातनान्न्यायाः स्वेष्टसाधनानुगुणा युक्तय उच्यन्ते ।''[34]

अर्थात् जिनके द्वारा सन्दिग्ध अर्थ का निश्चय/निर्णय किया जाय, वे 'न्याय' कहे जाते हैं और 'नी' (णींग् प्रापणे) धातु से 'न्यायावाया'- ५/३/१३४ सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय करके निपातन से 'न्याय' शब्द की सिद्धि की जाती है । इसका सामान्य अर्थ यही है कि अपने इष्ट साध्यों की सिद्धि में जो साधन स्वरूप है ऐसी युक्तियों को ही 'न्याय' कहे जाते हैं ।

ऐसी अन्वर्थक व्युत्पत्ति से सर्वन्याय सूत्रों का एक सर्व साधारण/सर्वसामान्य प्रयोजन सन्दिग्ध अर्थ का निर्णय ही बताया गया है ।

आचार्य श्रीलावण्यसूरिजी ने 'न्यायसमुच्चय' की उनकी 'तरङ्ग' टीका में इसी व्याख्या का स्वीकार तो किया है तथापि उनकी मान्यतानुसार 'न्याय' का यही लक्षण संज्ञासूत्र और अन्य अधिकारसूत्र व विधिसूत्र में प्राप्त है क्योंकि वे भी सन्दिग्धार्थ के निर्णय में सहायक है, अतः इस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए उन्होंने नव्यन्याय की शैली से उसका इस प्रकार परिष्कार किया है ''विधिशास्त्र प्रवृत्तिनिवृत्त्युपयोगिसाधुत्वाप्रकारकशक्त्यविषयक बोधजनकत्वे सति अधिकारशास्त्रभिन्नत्वं न्यायत्वमिति ।''[35] आगे चलकर उन्होंने इसी व्याख्या के प्रत्येक विशेषण का महत्त्व भी बताया है ।

पाणिनीय परम्परा में भी परिभाषा के अर्थ में 'न्याय' शब्द प्रयुक्त है ।[36] अतः 'परिभाषा' और 'न्याय' दोनों समान ही है । यहाँ 'न्याय' शब्द की जो व्याख्या बतायी है, वह केवल व्युत्पत्तिनिमित्तक ही है अर्थात् यहाँ 'न्याय' शब्द केवल रूढ परिभाषा के अर्थ में ही प्रयुक्त है, अतः संज्ञासूत्र, विधिसूत्र व अधिकारसूत्र का उसमें समावेश नहीं होता है ।

८. परिभाषा/न्याय की आवश्यकता

प्राचीन काल में, वर्तमान युग की तरह पुस्तक लिखना व लिखवाना सरल कार्य न था किन्तु बहुत मुश्किल कार्य था क्योंकि प्राचीन काल में कागज ही न थे । उसी काल में ज्यादातर लोग भोजपत्र या ताडपत्र पर ग्रंथ लिखवाते थे । प्राचीन काल में ओर एक परम्परा यह थी कि अध्ययन के दौरान विद्यार्थी/शिष्य स्वयं सम्पूर्ण ग्रंथ कंठस्थ कर लेता था । आज भी जैन श्रमण परम्परा में मूलसूत्र, आगम इत्यादि कंठस्थ करने की परम्परा विद्यमान है । इतना ही नहीं व्याकरणशास्त्र के अध्ययन के साथ जैन साधु-साध्वी, व्याकरण के मूलसूत्र, वृत्ति, उदाहरण, बृहद्वृत्ति इत्यादि सम्पूर्ण ग्रंथ कंठस्थ करते थे और कंठस्थ करते हैं । इसी कारण से व्याकरण की रचना में एक विशिष्ट पद्धति अपनायी जाती है, जिसे सूत्रात्मक पद्धति कही जाती है । ऐसी पद्धति केवल भारतीय परम्परा में ही विद्यमान थी । यही पद्धति की विलक्षणता यह है कि उसमें कम से कम शब्दों में ज्यादा से ज्यादा अर्थ की समझ पायी जाती है । अतः व्याकरण के सूत्र में पहले बताया उसी प्रकार अतिसंक्षिप्तता अत्यावश्यक थी, उसके बावजुद अनिष्ट अर्थ पैदा न हो, इसका भी ख्याल रखना जरूरी होने से सूत्रों के स्पष्ट अर्थ करने के लिए या सन्दिग्ध अर्थ की निवृत्ति के लिए परिभाषा सूत्रों की आवश्यकता खडी हुई ।

न्यायसंग्रह व अन्य परिभाषासंग्रह के सूत्रों का मुख्यतया तीन प्रकार का कार्य होता है । १. व्याकरण के सूत्रों के अर्थ करने में या स्पष्ट समझ देने में वे सहायक होते हैं । उदा. 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' ॥ १ ॥,

---

34. द्रष्टव्यः 'न्यायसंग्रह' न्यायार्थमञ्जूषाबृहद्वृत्ति पृ. २.

35. द्रष्टव्यः 'न्यायसंग्रह'-तरङ्ग टीका, पृ. ३

36. वरदेश्वरयज्वानं, नीलकण्ठेन यज्वना ।
नमस्कृत्य सतां प्रीत्यै, शब्दन्यायो विविच्यते ॥
(नीलकंठदीक्षितविरचिता परिभाषावृत्ति, 'परिभाषासंग्रह' पृ. २९३)

'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य' ॥३२॥ इत्यादि । २. जब एक ही स्थान दो भिन्न भिन्न सूत्रों की एक साथ प्रवृत्ति होनेवाली हो अर्थात् दोनों सूत्र के बीच यदि स्पद्र्धा हो तो, दोनों सूत्र में से किसकी पहले प्रवृत्ति हो, उसका निर्णय करने में ये परिभाषा सूत्र सहायक है । उदा. 'बलवन्नित्यमनित्यात्' ॥४१॥ 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' ॥४२॥ इत्यादि । ३. कुछ परिभाषाएँ ऐसी है जो शब्दों की सिद्धि में सहायक है अर्थात् असाधु/अनिष्ट शब्दों की सिद्धि को रोककर इष्ट/साधु शब्दों की सिद्धि करने में सहायक है । उदा. 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' ॥१६॥ 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ॥२०॥ इत्यादि ।

९. परिभाषाओं-न्यायों का सूत्रक्रम

परिभाषासंग्रह में संगृहीत पाणिनीय परम्परा की विभिन्न परिभाषा वृत्तियाँ और परिभाषापाठ व साथ साथ अन्य परम्परा के परिभाषापाठ या वृत्तियाँ देखने से पता चलता है कि परिभाषासूत्रों का क्रम नियत नहीं है । समय की परिपाटी के अनुसार सर्वप्रथम-परिभाषाओं का संग्रह और उन पर वृत्ति व्याडि ने ही लिखी है, उन्होंने परिभाषाओं का जो क्रम दिया है वही क्रम शायद उनके बाद अन्य परम्परा के परिभाषासंग्रहकार शाकटायन और चान्द्र ने भी रखा है ।

तो एक ही परम्परा में प्राप्त विभिन्न परिभाषावृत्तियाँ या परिभाषापाठ में एक समान क्रम नहीं है । उदा. दुर्गसिंहकृत कातंत्रपरिभाषासूत्रवृत्ति और भावमिश्रकृत कातंत्रपरिभाषावृत्ति में यद्यपि अनुक्रम से पैंसठ (६५) परिभाषाएँ तथा (बासठ)६२ परिभाषाएँ होने पर भी भिन्न भिन्न क्रम दिखाई पडता है, इतना ही नहीं अपि तु बहुत सी परिभाषाएँ भी भिन्न भिन्न है ।

प्रो. के. वी. अभ्यंकर द्वारा संपादित 'परिभाषासंग्रह' में कुल मिलाकर उन्नीस परिभाषावृत्तियाँ है । उनमें शाकटायन, चान्द्र, कालाप, जैनेन्द्र, भोज और हैम परम्परा के केवल एक ही परिभाषापाठ या परिभाषावृत्ति उपलब्ध है, जबकि कातंत्र परम्परा की दो परिभाषावृत्तियाँ और एक परिभाषापाठ प्राप्त है, तो पाणिनीय परम्परा में सब से अधिक दश परिभाषावृत्तियाँ या परिभाषापाठ प्राप्त है ।

उन सभी परिभाषावृत्तियों में परिभाषासूत्रों का क्रम और संख्या एक समान नहीं है । इसका कारण 'परिभाषा' शब्द की व्याख्या का अनैयत्य हो सकता है क्योंकि पूर्वकालीन परिभाषावृत्तिकार द्वारा संग्रहीत परिभाषासूत्रवृत्ति में से कुछेक परिभाषासूत्रों को पश्चात्कालीन परिभाषावृत्तिकारों ने मान्य नहीं किये हैं । अर्थात् उसका खंडन किया है ।

पाणिनीय परम्परा के पूर्वकालीन वैयाकरणों ने परिभाषाओं के क्रम के लिए शायद अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट सूत्र क्रम को अपनी नजर के सामने रखा होगा, तो अन्य किसने वार्तिकों को अपने सामने रखा होगा, वैसे अन्य किसीने महाभाष्य को अपने सामने रखा होगा । अत एव परिभाषा के क्रम में अन्तर मालूम पडता है ।

सीरदेवकृत बृहत्परिभाषावृत्ति में पाणिनीय अष्टाध्यायी की भांति आठ अध्याय और उसके भिन्न भिन्न पदों के नाम निर्देश के साथ परिभाषाएँ बतायी गई हैं ।[37] अत ऐसा अनुमान हो सकता है कि उन्हों ने अष्टाध्यायी के क्रम का ही, परिभाषाओं के क्रम में अनुसरण किया है और अन्त में उन्होंने अष्टाध्यायी के भिन्न भिन्न पादों को छोडकर सर्वसामान्य परिभाषाओं का भी संग्रह किया है और उसे 'न्यायमूलाः परिभाषाः' कही है ।[38] ऐसी परिभाषाओं की संख्या ३२ है ।

इसी बृहत्परिभाषावृत्ति की श्रीमानशर्मनिर्मित टिप्पणी में भी यही क्रम उन्होंने रखा है ।[39]

---

37. द्रष्टव्य : 'परिभाषासंग्रह' : प्रो. के. वी. अभ्यंकर, पृ. १६१ से २५६
38. द्रष्टव्य : 'परिभाषासंग्रह', : प्रो. के. वी. अभ्यंकर, पृ. २५६ से २७२परिभाषा १०० से १३१
39. द्रष्टव्य : 'परिभाषासंग्रह', : प्रो. के. वी. अभ्यंकर, पृ. २७३ से २९२.

सिद्धहेम की परम्परा में सिर्फ दो ही परिभाषावृत्तियाँ है । १. 'न्यायसंग्रह' श्रीहेमहंसगणिकृत बृहद्वृत्ति और न्यास । २. 'न्यायसमुच्चय' श्रीलावण्यसूरिजी कृत 'न्यायार्थसिन्धु' व 'तरङ्ग' नामक दो टीकाएँ । 'न्यायसंग्रह' में जो क्रम परिभाषा/न्यायों का है उसमें श्रीलावण्यसूरिजी ने कोई परिवर्तन नहीं किया है ।

'न्यायसंग्रह' के प्रथम वक्षस्कार निर्दिष्ट सत्तावन परिभाषाओं के क्रम में परिवर्तन करने की/होने की संभावना ही न थी क्योंकि इसका क्रम सूत्रकार आचार्यश्रीहेमचंद्रसूरिजी ने स्वयं निश्चित किया है और सूत्रकार की प्रवृत्ति के प्रति प्रश्न पैदा करना उचित नहीं माना गया है । शेष दो वक्षस्कार/खण्ड में श्रीहेमहंसगणि ने सूत्रकार आचार्यश्री का ही अनुसरण किया है, अतः उनके द्वारा दी गई परिभाषाओं के क्रम को सभी ने मान्य किया है ।

प्रथम वक्षस्कार के प्रथम 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' ॥१॥ न्याय से लेकर 'भाविनि भूतवदुपचारः' ॥९॥ न्याय तक कुल मिलाकर नव सूत्र इष्ट रूपों/शब्दों की सिद्धि में सहायक है ।

'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' ॥१०॥ से लेकर 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' ॥१९॥ परिभाषा/न्याय पूर्णसूत्र की विशिष्ट समझ देने में सहायक है, तो 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' ॥२२॥ से लेकर 'एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य' ॥३३॥ परिभाषाएँ व्याकरण के सूत्र में निर्दिष्ट शब्दों से कौन से शब्द या धातु का ग्रहण किया जाता है, उसके निर्णय में सहायक है । जबकि 'नानुबन्धकृतान्यसारूप्यानेकस्वरत्वानेकवर्णत्वानि' ॥३४॥ परिभाषा निषेध की सूचना देती है, तो 'समासान्तागमसंज्ञाज्ञापकगणनञ्निर्दिष्टान्यनित्यानि' ॥३५॥ परिभाषा उन शब्दों से निर्दिष्ट कार्य के अनित्यत्व को बताती है ।

'पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' ॥३६॥ से लेकर 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यैव बाधकः' ॥४०॥ परिभाषाएँ बाध्यबाधकभाव का निरूपण करती है ।

'बलवन्नित्यमनित्यात्' ॥४१॥ से लेकर 'अपवादात्क्वचिदुत्सर्गोऽपि' ॥५६॥ परिभाषाओं को बलाबलोक्ति न्याय कहते हैं ।

सब के अन्त में उपर्युक्त सभी न्यायों की और व्याकरण के सूत्रों की अनिष्ट प्रवृत्ति को रोकनेवाला 'नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः' ॥५७॥ न्याय है ।

यहाँ एक विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि अन्य परिभाषासंग्रहकारों ने और विशेषतः पाणिनीय परम्परा में कुछेक वैयाकरणों ने 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ॥२०॥ और 'न स्वरानन्तर्ये' ॥२१॥ परिभाषाओं को बलाबलोक्ति परिभाषा की कक्षा में रखी है,[40] जबकि कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचंद्रसूरिजी ने उन दोनों परिभाषा ओं को बलाबलोक्ति न्यायों से पृथक् कर दी है और वही समुचित है क्योंकि बलाबलोक्ति न्यायों से जो सूत्र बलवान् बनता है उसकी प्रवृत्ति होती है, निर्बल की नहीं । जबकि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ॥२०॥ न्याय से ऐसा बलवत्त्व नहीं होता है । यद्यपि पाणिनीय परम्परा के वैयाकरण इसी परिभाषाको अन्तरङ्गकार्य के बलवत्त्व की बोधक मानते हैं तथापि यहाँ बहिरङ्गकार्य होने के बाद प्राप्त नई परिस्थिति में यदि कोई अन्तरङ्गकार्य प्राप्त हो तो, उसी समय बहिरङ्गकार्य असद्वत् या असिद्ध अर्थात् हुआ ही नहीं है, ऐसा माना जाता है । परिणामतः अन्तरङ्गकार्य होता ही नहीं है और बहिरङ्गकार्य होने के बाद जो परिस्थिति पैदा हुई है वह कायम रहती है । इस प्रकार इन दोनों परिभाषाओं में परोक्षतः बहिरङ्गकार्य को प्रधानता दी गई है । अतः उसे बलाबलोक्ति न्यायों से पृथक् किया वह उचित ही है ।

पाणिनीय परम्परा में सामान्यतया 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय में ही 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय का समावेश किया गया है तथापि यही मान्यता पाणिनीय परम्परा के पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकंठ और हरिभास्कर को मान्य नहीं है ऐसा लगता है क्योंकि उन्होंने 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय को 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय से

---

40. द्रष्टव्य : 'पाणिनीय संस्कृत व्याकरणशास्त्र परम्परानो इतिहास' पृ. १०५ (ले. जयदेवभाई मो. शुक्ल)

पृथक् बताया है अर्थात् इसी विषय में सिद्धहेम की परम्परा को स्वीकृति दी है/मान्य की है । सिद्धहेम की यही मान्यता का मूल शाकटायन परम्परा के परिभाषासंग्रह में प्राप्त होता है क्योंकि वहाँ भी उन्होंने इन दोनों न्यायों को पृथक् पृथक् बतायें हैं । इसकी विशेष चर्चा मैंने 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ॥२०॥ न्याय के विवेचन में की है ।

इस प्रकार प्रथम खण्ड में प्रस्तुत न्यायों का क्रम बहुत ही व्यवस्थित व विचारपूर्वक रखा गया है ॥

द्वितीय खण्ड में श्रीहेमहंसगणि ने सिद्धहेमबृहद्वृत्ति, शब्दमहार्णव(बृहन्) न्यास, लघुन्यास इत्यादि में प्राप्त पैंसठ न्याय दिये हैं । शुरु की आठ परिभाषाएँ व्याकरण के सूत्र में निर्दिष्ट शब्दों से किनका ग्रहण करना चाहिए उसकी स्पष्टता करती हैं । वे इस प्रकार है-: प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणम् ॥१॥, प्रत्ययाप्रत्ययोः प्रत्ययस्यैव ॥२॥, अदाद्यनदाद्योरनदादेरेव ॥३॥, प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः प्राकरणिकस्यैव ॥४॥ निरनुबन्धग्रहणे सामान्येन ॥५॥, साहचर्यात्सदृशस्यैव ॥६॥, वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् ॥७॥, वर्णैकदेशोऽपि वर्णग्रहणेन गृह्यते ॥८॥

यद्यपि प्रत्येक न्याय स्वतंत्र है तथापि कुछेक में परस्पर संबन्ध भी है । उदा. (१) वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् ॥७॥, (२) वर्णैकदेशोऽपि वर्णग्रहणेन गृह्यते ॥८॥,

(१) ऋकारापदिष्टं कार्यं लृकारस्यापि ॥१४॥ (२) सकारापदिष्टं कार्यं तदादेशस्य शकारस्यापि ॥१५ ॥ ये दोनों परिभाषाएँ समान स्वरूपवाली है तथापि विषय भिन्न भिन्न है । इसके समान स्वरूपवाली किन्तु निषेधात्मक परिभाषा 'ह्रस्वदीर्घापदिष्टं कार्यं न प्लुतस्य ॥१६॥ इसके साथ रखी है ।

तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ॥९॥ आगमा यद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यते ॥१०॥ स्वाङ्गमव्यवधायि ॥११॥ उपसर्गो न व्यवधायी ॥१२॥ येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि स्यात् ॥१३॥ परिभाषाएँ प्रायः प्रथम खण्ड में निर्दिष्ट 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' ॥७॥ परिभाषा से किञ्चित् समानस्वरूपवाली है ।

प्रथम खण्ड में तदन्तविधिविषयक एक भी न्याय नहीं है, जबकि द्वितीय खण्ड में संज्ञोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं, न तदन्तस्य ॥१७॥, ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ॥१८॥, अनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवताऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति ॥१९॥ ये तीन न्याय तदन्तविधि के बारे में हैं । इसे छोडकर अन्य एक भी न्याय तदन्तविधि विषयक नहीं है । वस्तुतः ये तीनों न्याय सिद्धहेम के सातवें अध्याय के चतुर्थ पाद के 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषासूत्र से पैदा होनेवाली आशंकाओं की स्पष्टता करने के लिए ही है । ऐसी विशेषता 'गामादा' धातुओं के सम्बन्ध में नहीं है, ऐसा 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' ॥२०॥ न्याय में बताया है ।

'श्रुतानुमितयोः श्रौतो विधिर्बलीयान्' ॥२१॥ न्याय से लेकर 'संज्ञा न संज्ञान्तरबाधिका' ॥२७॥ तक के न्याय विशिष्ट प्रकार के बाध्य-बाधकों की स्पष्टता करते हैं । यद्यपि प्रथम खण्ड में 'पूर्वेऽपवादा....'॥३६॥ इत्यादि पांच न्यायों में सामान्यरूप से बाध्य-बाधकों का निरूपण किया है किन्तु उसमें मुख्यरूप से सूत्रों का बाध्य-बाधकभाव बताया है जबकि यहाँ विशिष्ट विधियों के बाध्य-बाधकभाव का निरूपण है ।

'सापेक्षमसमर्थम्' ॥२८॥ 'प्रधानस्य तु सापेक्षत्वेऽपि समासः' ॥२९॥ 'तद्धितीयो भावप्रत्ययः सापेक्षादपि' ॥३०॥ 'गतिकारकङस्युक्तानां विभक्त्यन्तानामेव कृदन्तैर्विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासः' ॥३१॥ 'समासतद्धितानां वृत्तिर्विकल्पेन वृत्तिविषये च नित्यैवापवादवृत्तिः' ॥३२॥ 'आदशभ्यः सङ्ख्या सङ्ख्येये वर्तते न सङ्ख्याने' ॥३३॥ एकशब्दस्यासङ्ख्यात्वं क्वचित्' ॥३४॥ न्याय तद्धितवृत्ति और समासवृत्ति के विषय में विशिष्ट समझ देते हैं ।

'णौ यत्कृतं तत्सर्वं स्थानिवद् भवति' ॥३५॥ और 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' ॥३६॥ न्याय प्रकीर्णक हैं । उसके बाद 'आत्मनेपदमनित्यम्' ॥३७॥ से लेकर 'नाम्नां व्युत्पत्तिरव्यवस्थिता' ॥४५॥ न्याय तक विविधप्रकार के कार्यों की अनित्यता बतायी है । यद्यपि उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि उन सब में केवल अनैयत्य ही समान होने से, उसे एक साथ रखे गये हैं ।

'उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि' ॥४६॥, 'शुद्धधातूनामकृत्रिमं रूपम्' ॥४७॥ 'क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति शब्दत्वं च प्रतिपद्यन्ते' ॥४८॥ न्याय शब्द और धातुओं के स्वरूप का बोध कराते हैं । जबकि 'उभयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशभाक्' ॥४९॥ न्याय से लेकर 'यावत्संभवस्तावद्विधिः' ॥५६॥ न्याय प्रकीर्णक हैं । आगे आये हुए 'संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवत्' ॥५७॥ 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' ॥५८॥, 'परार्थे प्रयुज्यमानः शब्दो वतमन्तरेणापि वदर्थं गमयति' ॥५९॥, 'द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः' ॥६०॥, 'चकारो यस्मात्परस्तत्सजातीयमेव समुच्चिनोति' ॥६१॥ 'चानुकृष्टं नानुवर्तते' ॥६२॥ 'चानुकृष्टेन न यथासङ्ख्यम्' ॥६३॥ 'व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिः' ॥६४॥ न्याय, सूत्र के अर्थ का निर्णय/निश्चय करने में सहायक हैं और अन्तिम न्याय, सूत्र में अध्याहार क्रियापद/आख्यात की पूर्ति करता है ।

इस प्रकार द्वितीय खंड के न्यायों का प्रविभाग हो सकता है । इसमें अन्य किसी अपेक्षा से परिवर्तन भी हो सकता है । ये सभी न्याय उसके उदाहरण, ज्ञापक, अनित्यता और अनित्यता के ज्ञापक इत्यादि से युक्त हैं ।

जबकि तीसरे खण्ड में निर्दिष्ट अठारह न्याय केवल विशेष वचन स्वरूप ही हैं और अव्यापक होने से ज्ञापक इत्यादि से रहित बताये गये हैं । ये सभी न्याय प्रकीर्णक हैं ।

'यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेः प्रतिषेधः' ॥१॥ से लेकर 'सामान्याऽतिदेशे विशेषस्य नातिदेशः' ॥५॥ तक सूत्रार्थ में स्पष्टता करनेवाले न्याय हैं । 'सर्वत्राऽपि विशेषेण सामान्यं बाध्यते न तु सामान्येन विशेषः' ॥६॥ 'ङित्त्वेन कित्त्वं बाध्यते' ॥७॥ और 'परादन्तरङ्गं बलीयः' ॥८॥ न्याय बलाबलोक्ति न्याय या बाध्यबाधक की स्पष्टता करनेवाले न्याय है । वैसे 'विधिनियमयोर्विधिरेव ज्यायान्' ॥१०॥ न्याय एक ही सूत्र के संभवित दो प्रकार की व्याख्या में से विधि अर्थयुक्त व्याख्या का बलवत्त्व बताता है ।

व्याकरण के सूत्र में निर्दिष्ट विधि या निषेध किस का होता है उसकी स्पष्टता करनेवाला न्याय 'अनन्तरस्यैव विधिर्निषेधो वा' ॥११॥ है, तो सर्वसामान्य सूत्र की प्रवृत्ति सर्वत्र होती है, ऐसा निर्देश 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' ॥१२॥ न्याय से होता है । विभक्तिरहित नाम/प्रातिपदिक का प्रयोग भाषा में कभी नहीं होता है, ऐसा 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या' ॥१३॥ न्याय से निर्देश किया गया है । इस प्रकार अगले सभी न्याय भिन्न भिन्न विषय के हैं । अतः इन सभी न्यायों को प्रकीर्णक न्याय सदृश विशेषवचन कहे गये हैं ।

चतुर्थ खण्ड में केवल एक ही न्याय है किन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण न्याय हैं । यह न्याय संपूर्ण व्याकरणशास्त्र के शेष अंश का पूरक है । वैसे व्याकरणशास्त्र के प्रारंभिक अध्येताओं के लिए इस न्याय का कोई महत्त्व नहीं है किन्तु अनुसन्धान कार्य करनेवालों के लिए इस न्याय में बहुत सी सामग्री/माहिती संगृहीत है ।

सिद्धहेम व्याकरण व अन्य परम्परा के धातुपाठ में जहाँ जहाँ अन्तर है, उन सब का निर्देश इस न्याय और इसके न्यास में किया गया है । बहुत से धातुओं की विभिन्न परम्पराओं का भी निर्देश किया गया है ।[41]

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सिद्धहेम की परम्परा में 'कथण्' धातु को अकारान्त ही माना गया है, अतः अद्यतनी में 'अचकथत्', अचकथताम्, अचकथन्' इत्यादि रूप ही हो सकते हैं । 'अचीकथत्' इत्यादि रूप किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकते हैं किन्तु प्राचीन आगमशास्त्रों की वृत्ति इत्यादि में 'अचीकथत्' इत्यादि रूप

---

41. * द्रष्टव्यः 'न्यायसंग्रह' पृ. १२४. 'नडण् अवस्यन्दने इत्यस्य स्थाने णडण् इति नन्दी प्राह ।
* द्रष्टव्यः 'न्यायसंग्रह पृ. १२९ 'अत एव चन्द्रगोमी नाम वैयाकरणश्चुरादिगणस्यापरिमिततया परमार्थतो यथालक्ष्यमनुसरणमवगम्य द्वित्रानेव धातून् पठितवान् न भूयस इति ।
* द्रष्टव्य : 'न्यायसंग्रह' पृ. १३१ अपि चैवं प्रकाराणां धातूनामतो लुकं बाधित्वाऽनुपान्त्यस्यात उत्पलमतीयेन 'अतो ञ्णिति' इति सूत्रेण वृद्धौ 'अर्तिरीव्ली-' ४/२/२१ इति प्वागमे स्फुटापयति, तुच्छापयति, स्कन्धापयतीत्यपीष्यते परैः ।

ही प्राप्त होता है । ऐसे प्रयोगों की सिद्धि इसी न्याय की सहायता से हो सकती है ।[42]

इसी न्याय में बताये गए 'चुक्ष शौचे' धातु का प्रयोग कल्पसूत्र की वृत्ति/टीका में पाया जाता है ।[43] यद्यपि मूल सूत्र में अर्धमागधी/प्राकृत में 'चोक्खा' पाठ मिलता है, अतः ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि अर्धमागधी-प्राकृत के अनुकरण स्वरूप यह धातु है ।

१०. 'न्यायसंग्रह' की न्यायार्थमञ्जूषाबृहद्वृत्ति का न्यास

श्रीहेमहंसगणि ने स्वयं 'न्यायसंग्रह' की 'न्यायार्थमञ्जूषानामक बृहद्वृत्ति के विशिष्ट पदों की समझ देने के लिए/स्पष्टता करने के लिए या पाठकों की और से पैदा होनेवाले संभवित प्रश्नों के निराकरण/उत्तर के लिए यही न्यास की रचना की है ।

न्यास के शुरुमें ही उन्हों ने 'न्यायार्थमञ्जूषा' के प्रथम और द्वितीय श्लोकों की समझ दी है । प्रथम श्लोक में उन्होंने श्रीसिद्धचक्र भगवंत की स्तुति की है, साथ साथ उसी श्लोक में ही गर्भित रूप से अपने परम उपकारक गुरुभगवंत श्रीसोमसुन्दरसूरिजी की भी स्तुति की है, इसका स्पष्ट निर्देश उन्हों ने स्वयं न्यास में किया है ।[44] तो द्वितीय श्लोक में, चारों चरण में 'न्याय' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त है, इसका भी अर्थ उन्होंने न्यास में बताया है ।[45]

वैसे तो इस न्याय में केवल शंका और इसके समाधान स्वरूप शास्त्रार्थ ही है, अतः इसमें से बहुत कुछ आवश्यक शंका-समाधान उसी उसी न्यायों के हिन्दी विवेचन में दे दिया है । अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

इसी न्यास में कुल मिलाकर छः स्थानो पर प्राचीन न्याय वृत्ति का संदर्भ पाया जाता है, उस में से तीन स्थानों का सन्दर्भ पहले दिया है । शेष तीन सन्दर्भ इस प्रकार है । १. 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' न्याय की व्याख्या के बारे में यही सन्दर्भ है ।[46] २. 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय के 'विकृत' पद का क्या अर्थ लिया जाय ? विकारापन्न या वैसदृश्य ? इसके बारे में यहाँ प्राचीन न्यायवृत्ति के विकारापन्न अर्थ की चर्चा की गई है ।[47] ३. 'भाविनि भूतवदुपचारः' न्याय का ज्ञापक 'एकपदे' शब्द है या केवल 'पदे' शब्द है, इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने प्राचीन न्यायवृत्ति में प्राप्त 'एकपदे' ज्ञापक की स्पष्टता की है ।[48]

इस न्यास में कुछेक ऐतिहासिक सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं ।

१. नासिकनगर में श्रीचन्द्रभस्वामि की प्रतिमा की प्रतिष्ठा/स्थापना, पांडवो की माता कुंता ने, युधिष्ठिर के जन्म के बाद की थी, ऐसे अर्थवाला श्लोक 'न्यास' में दिया है ।[49]

---

42. द्रष्टव्य : 'न्यायसंग्रह' पृ. १२५. कथ वाक्यप्रबन्धे, णिगि, बाहुलकात् णिचि वा 'भूरिदाक्षिण्यसंपन्नं यत्त्वं सान्त्वमचीकथः ।' कथण् चुराद्यन्तस्य त्वचकथ इति स्यात् ॥३७॥
43. ततश्च लेपसिक्थाद्यपनयने चोक्षौ (कल्पसूत्र, पंचमक्षण, सूत्र १०५, पृ. २४५)
44. श्रीसिद्धचक्रयन्त्रस्थापनायाश्च वृत्ताकारत्वात् सोमोपमा । श्रीसोमसुन्दर इति च स्वगुरुनामकीर्तनम् । (न्यायसंग्रह, न्यास. पृ. १५७)
45. अत्राद्ये पादे न्याय शब्दो राजनीतिवाची, द्वितीये अगर्हितवाणिज्यादिव्यापारवाची, तृतीये तार्किकप्रतीतानुमानादि प्रमाणवाची, तुर्ये वैयाकरणप्रसिद्धन्यायवाची समुदितसर्वप्रकारन्यायवाची वा । (न्यायसंग्रह, न्यास, पृ. १५७)
46. प्राक्तन्यां न्यायवृत्तावाद्यन्तवदेकस्मिन्निति न्यायस्य व्याख्यैवमस्ति । (न्यायसंग्रह, न्यास, पृ. १६१)
47. ननु विकृतशब्दस्य विकारापन्नमिति व्याख्या प्राक्तन्यां न्यायवृत्तावस्ति, सैव युष्माकमप्यत्र कर्तुं युक्ता तत्कथं वैसदृश्येनेत्यूचे ? (न्यायसंग्रह, न्यास, पृ. १६२)
48. प्राक्तन्यां न्यायवृतौ तु 'एकपदे' इति ज्ञापकम्' इति यदुक्तमस्ति तत् 'रषृवर्णात्'-२/३/६३ इति सूत्रे 'एकपदे' इति समासं दृष्ट्वैवेति सम्भाव्यते । (न्यायसंग्रह, न्यास, पृ. १६३)
49. पाण्डवमात्रा कुन्त्या, सञ्जाते श्रीयुधिष्ठिरे पुत्रे ।
श्रीचन्द्रप्रभदेवः प्रतिष्ठितो जयति नासिक्ये ॥१॥ (न्यायसंग्रह, न्यास, पृ. १६६)

२. काकलकायस्थ, जिसने कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी के जीवनकाल में ही श्रीसिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन की संक्षिप्त लघुवृत्ति शुरु के अध्येताओं के लिए बनायी थी और शायद श्रीहेमहंसगणि के समय में भी वह पढायी जाती होगी ऐसा अनुमान, इसी न्यास में प्राप्त शब्दों से हो सकता है ।

'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' न्याय के न्यास में, श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में सूत्रकार आचार्यश्री ने सर्वत्र 'वर्तमाना' का प्रयोग किया है तथापि उनके द्वारा स्वयं लघुवृत्ति में प्रयुक्त 'सप्तमी' (विध्यर्थ)को अनुचित न मानना चाहिए ।[50]

अन्तिम न्याय के न्यास में उन्होंने पूर्वकालीन विभिन्न व्याकरण परम्पराएँ या वैयाकरणों के नाम निर्देश किया है । वह इस प्रकार है-देवनन्दी (नन्दी) सभ्याः, चान्द्र (चन्द्रगोमिन्), कौशिक, द्रमिल, शिव, कण्ठ, गुप्त, चारक । इन सभी परम्परागत विभिन्न धातुपाठ का गहन आलोडन करके जहाँ जहाँ अन्तर पाया, उन सब का संग्रह इस न्याय में किया है ।

११. परिभाषा-न्याय के स्रोतों -:

स्वोपज्ञसिद्धहेमबृहद्वृत्ति, सिद्धहेमबृहन्न्यास (शब्दमहार्णवन्यास) और लघुन्यास, परिभाषा/न्यायों के मुख्य स्रोत हैं । यद्यपि बृहन्न्यास मूलतः ८४००० श्लोक प्रमाण था किन्तु वर्तमान में केवल २५००० श्लोक प्रमाण ही प्राप्त होता है । इसे छोडकर अन्यत्र यह न्यास खंडित है । उसे संपूर्ण करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास परमपूज्य तपागच्छाधिपति शासनसम्राट् आचार्य श्रीविजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज के पट्टधर आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरिजी ने किया है ।

मूलन्यास से पतंजलि के महाभाष्य की तुलना हो सकती है । जैसे पाणिनीय परम्परा में महाभाष्य के वचन को सब प्रमाणित करते हैं, वैसे सिद्धहेम की परम्परा में शब्दमहार्णव(बृहन्)न्यास को सब प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं । शब्दशास्त्र - व्याकरणशास्त्र के विशिष्ट सिद्धांतों की चर्चा इसमें पायी जाती है । उसी शास्त्रीय चर्चा के दौरान न्यायों-परिभाषाओं की भी चर्चा की गई है ।

१. सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में प्राप्त न्यायों के कुछेक निर्देश इस प्रकार है ।

'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय 'जराया जरस्वा' २/१/३ और 'आ रायो व्यञ्जने' २/१/५ सूत्र में प्राप्त है । यद्यपि 'न्यायसंग्रह' की बृहद्वृत्ति में 'जराया जरस्वा' २/१/३ सूत्र का निर्देश तो है ही, तथापि 'आ रायो व्यञ्जने' २/१/५ सूत्र में भी इस न्याय का निर्देश है ।

सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में प्रायः न्यायों का निर्देश व न्यायों की प्रवृत्ति ही बतायी गई है । कोई विशेष शास्त्रीय चर्चा नहीं की गई है । 'लोकात्' १/१/३ सूत्र की बृहद्वृत्ति में 'परान्नित्यम्, नित्यादन्तरङ्गम्, अन्तरङ्गाच्चानवकाशम्' न्याय प्राप्त हैं । ऐसे 'मोर्वा' २/१/९ सूत्र में 'सकृदगते स्पर्द्धे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' तथा 'क्विबर्थं प्रकृतिरेवाह' न्यायों का निर्देश प्राप्त होता है ।

सूत्रकार आचार्यश्री ने बृहद्वृत्ति के अन्त में दिये हुए ५७ न्यायों में 'लुबन्तरङ्गेभ्यः' ॥४७॥ न्याय भी है । यही न्याय 'त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्' २/१/११ सूत्र की बृहद्वृत्ति में 'बहिरङ्गाऽपि लुप् अन्तरङ्गान् विधीन् बाधते ।' के रूप में बताया है । यहाँ सूत्र में निर्दिष्ट 'प्रत्ययोत्तरपदे' को इसी न्याय का ज्ञापक बताया है ।

'तन्मध्यपतितस्तग्रहणेन गृह्यते' न्याय का निर्देश उसके ज्ञापक स्वरूप 'त्वमहं सिना प्राक् चाकः' २/१/१२ सूत्र में किया है । 'एतदश्च व्यञ्जनेऽनग् नञ्समासे' १/३/४६ सूत्र की बृहद्वृत्ति में 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ।' न्याय का उपयोग और उसकी चर्चा की गई है । यहाँ 'अनक्' शब्द को इस न्याय का ज्ञापक माना जा

---

50. न च काकलकायस्थकृतलक्षणलघुवृत्तिस्थः सप्तम्यन्तक्रियाप्रयोगोऽनुचित इति वाच्यम् ।
(न्यायसंग्रह, न्यास, पृ. १८७)

सकता है, किन्तु 'त्वमहं सिना प्राक् चाकः' २/१/१२ सूत्र में 'प्राक् चाकः' शब्द को इस न्याय का माना गया है, अतः 'एतदश्च-१/३/४६ सूत्र में 'अनक्' शब्द रखने का कारण बताते हुए आचार्यश्री ने कहा है - 'एषकः करोति, सको याति' 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति साकोऽपि प्राप्तिरिति प्रतिषेधः ।

इस प्रकार सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में सूत्रकार-वृत्तिकार आचार्य श्रीहेमचंद्रसूरिजी ने स्वयं भिन्न भिन्न न्यायों की प्रवृत्ति का निर्देश किया है ।

सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में ही कुछेक न्यायों की चर्चा निम्नोक्त रूप से है - प्रस्यैषैष्योढोढ्यूहे स्वरेण १/२/१४ सूत्र की बृहद्वृत्ति में 'यस्मिन् प्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति ।' न्याय प्राप्त है, जबकि 'न्यायसंग्रह' में 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यैव बाधको भवति' स्वरूप में है । इसी न्याय से प्रस्तुत 'प्रस्यैषैष्यो -' १/२/१४ सूत्र केवल 'उपसर्गस्याऽनिणेधेदोति' १/२/१९ का ही बाध करता है किन्तु 'ओमाङि' १/२/१८ सूत्र का बाध नहीं करता है ।

इसी सूत्र में ही 'प्रेषते, प्रेष्यते, प्रोढवान्' इत्यादि प्रयोग की सिद्धि करने के लिए 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' न्याय का निर्देश किया गया है ।

'स्वरे वाऽनक्षे' १/२/२९ सूत्र की बृहद्वृत्ति में बताया गया है कि 'हे चित्रगवुदकमित्यत्र तु लाक्षणिकत्वाद् गो शब्दस्य न भवति ।' अर्थात् 'हे चित्रगु उदकम्' प्रयोग में 'चित्रगु' शब्दस्थित 'गु', 'गो' शब्द सम्बन्धित है किन्तु गौण और लाक्षणिक होने से उसके 'उ' का 'अव' आदेश नहीं होगा । 'वाऽत्यसन्धिः' १/२/३१ और 'ओदन्तः' १/२/३७ सूत्र की बृहद्वृत्ति में भी ऐसा बताया गया है । ऐसे स्थानों पर न्याय के एक ही अंश द्वारा संपूर्ण न्याय को सूचित किया गया है ।

'स्वैर-स्वैर्यक्षौहिण्याम्' १/२/१५ सूत्र की बृहद्वृत्ति में 'स्वैरिणी' शब्द की सिद्धि करते हुए आचार्यश्री ने कहा है कि सूत्र में केवल 'स्वैरिन्' शब्द का ही ग्रहण है तथापि 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' न्याय से 'स्वैरिणी' शब्द का भी इसी सूत्र में समावेश हो जायेगा ।

ऊपर बताया ठीक उसी प्रकार से ही शब्दमहार्णवन्यास अर्थात् बृहन्न्यास में भी विभिन्न न्यायों का निर्देश किया गया है किन्तु न्यास में विशेष रूप से उसी उसी न्यायों की प्राप्ति या निषेध या ज्ञापकत्व की चर्चा भी की गई है ।

२. शब्दमहार्णव(बृहन्)न्यास में प्राप्त कुछेक न्यायों की चर्चा -:

'लोकात्' १/१/३ सूत्र के शब्दमहार्णव(बृहत्)न्यास में बताया गया है कि 'वनानि' प्रयोग में 'शसोऽता'-१/४/४९ का बाध करके 'नपुंसकस्य शिः' १/४/५५ पर होने से 'जस्' का 'शि' आदेश ही होगा । परकार्य से भी नित्यकार्य बलवान् होने से 'स्योन' प्रयोग में परकार्य स्वरूप गुण का बाध करके नित्य 'ऊट्' ही होगा, यहाँ 'सिव्' धातु से 'प्या-धा-पन्यनि'- (उणादि-२५८) से 'न' प्रत्यय होने पर 'सिव् + न = सि + ऊ + न = स्य् + ऊ + न = स्य् + ओ + न = स्योन' होगा ।

'ज्ञाया ओदनो ज्ञौदनस्तमिच्छति' अर्थ में 'क्यन्' होकर उससे 'सन्' प्रत्यय करने पर 'ज्ञा ओदन य स' होगा । यहाँ 'द्वित्व' नित्य है, तथापि 'औत्व' अन्तरङ्ग होने से 'नित्यादन्तरङ्गम्' न्याय से 'औत्व' प्रथम होगा और 'जुज्ञौदनीयिषति' रूप सिद्ध होगा ।

'गार्गीयाः' प्रयोग की सिद्धि में 'अन्तरङ्गाच्चानवकाशम्' न्याय की प्रवृत्ति बतायी गई है । 'गर्गस्यापत्यानि तेषामिमे छात्राः', यहाँ 'दोरीयः' ६/३/३२ से होनेवाले 'इय' के विषय में 'गर्गादेर्यञ्' ६/१/४२ से 'गर्ग यञ्' होगा, तो 'बहुष्वस्त्रियाम्' ६/१/१२४ से या 'यञञः' ६/१/१२६ से 'यञ्' के लुप् की प्राप्ति होगी, तभी 'न प्राग् जितीये स्वरे' ६/१/१३५ अनवकाश हो जायेगा, अतः 'यञञः' ६/१/१२६ का बाध करके 'न प्राग् जितीये स्वरे' ६/१/१३५ की ही प्रवृत्ति होगी ।

'एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुता:' १/१/५ सूत्र के बृहन्न्यास में 'स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुता:' न्याय के बारे में बताया है कि 'ए, ऐ, ओ, औ' के स्थान में ह्रस्वादेश होने पर 'इ, उ' करने के लिए यह न्याय है । यदि यह न्याय न होता तो, ऐसे ही 'सन्ध्यक्षराणामिदुतौ ह्रस्वादेशा:' न्याय की कल्पना करनी होती । अन्य वैयाकरण कालाप आदि ने सन्ध्यक्षरों की दीर्घ संज्ञा भी नहीं की है या तो 'अ, आ, इ, ई' इत्यादि में अनुक्रम से ह्रस्व-दीर्घ संज्ञा होती है, वैसे 'ए, ऐ, ओ, औ' की भी अनुक्रम से ह्रस्व-दीर्घ संज्ञा होने की आशंका से ही 'सन्ध्यक्षराणामिदुतौ ह्रस्वादेशा:' न्याय कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है ।

'नञुक्तं तत्सदृशे' न्याय सम्बन्धित 'पर्युदास नञ्' के बारे में चर्चा करते हुए 'अधातुविभक्ति' १/१/२७ सूत्र के बृहन्न्यास में बताया है कि 'अधातु' अर्थात् धातु से भिन्न कहने पर क्विप् प्रत्ययान्त 'छिद्, भिद्' इत्यादि को नाम संज्ञा कैसे होगी ? क्योंकि 'क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति शब्दत्वं च प्रतिपद्यन्ते' न्याय से उसमें धातुत्व रहता ही है । उसका प्रत्युत्तर देते हुए सूत्रकार आचार्यश्री कहते हैं कि 'अधातु' में पर्युदास नञ् है और पर्युदास नञ् में विधि और प्रतिषेध में से विधि ही बलवान् है, अत: 'अधातु' कहने से धातु से भिन्न किन्तु धातु सदृश क्विबन्त का ग्रहण होगा और प्रतिषेध की प्रवृत्ति नहीं होने से नामत्व की सिद्धि होगी ।

'शिर्घुट्' १/१/२८ सूत्र के बृहन्न्यास में 'अप् शिते' प्रयोग के लिए बताया है कि यहाँ 'अप्' के बाद में आये हुए 'शि' को 'घुट्' संज्ञा नहीं होगी और 'अप:' १/४/५५ से दीर्घ भी नहीं होगा, क्योंकि 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' न्याय से अर्थवान् 'शि' प्रत्यय का ही ग्रहण होगा । कुछेक लोग 'शि' प्रत्यय को अर्थवान् नहीं मानते हैं क्योंकि यह विभक्ति का आदेश ही है, उनके अनुसार 'प्रत्ययाप्रत्यययो: प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्' न्याय से 'शि' प्रत्यय का ही ग्रहण होगा ।

'कादिर्व्यञ्जनम्' १/१/११ सूत्र के बृहन्न्यास में 'संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवत्' न्याय का स्पष्टरूप से उल्लेख किया गया है ।

यद्यपि 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात्' न्याय का 'यरलवा अन्तस्था:' १/१/१५ सूत्र के बृहन्न्यास में स्पष्टतया निर्देश किया गया है तथापि 'न्यायसंग्रह' में उसका संग्रह नहीं किया है । इसका कारण यह हो सकता है कि इस न्याय का उपयोग लिङ्गानुशासन में सर्वसामान्यरूप से किया गया है क्योंकि शब्दों के लिङ्ग की व्यवस्था उसमें बतायी गई है । जबकि शब्दानुशासन अर्थात् व्याकरणशास्त्र में केवल शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थात् सिद्धि ही बतायी गई है ।

बृहन्न्यास में तथा बृहद्वृत्ति में भी कहीं कहीं संपूर्ण न्याय का उल्लेख न करके सिर्फ उसके एक अंश द्वारा ही संपूर्ण न्याय की सूचना दी जाती है । 'अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम' १/१/२७ सूत्र के बृहन्न्यास में 'छिद्, भिद्' आदि को 'नाम' संज्ञा होने का कारण बताते हुए 'न (नैते) क्विबन्ता धातुत्वं जहाति' शब्दों द्वारा 'क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति, शब्दत्वं च प्रतिपद्यन्ते' न्याय को सूचित किया है ।

इसी 'अधातुविभक्ति'-१/१/२७ सूत्र के बृहन्न्यास में आगे चलकर 'न केवला प्रकृति: प्रयोक्तव्या, न केवल: प्रत्यय:' न्याय भी बताया है । जो 'न्यायसंग्रह' के तृतीय खण्ड में संगृहीत है ।

'अप्रयोगीत्' १/१/३७ सूत्र के बृहन्न्यास में पाणिनीय परम्परा निर्दिष्ट 'अनेकान्ता अनुबन्धा:' न्याय है और इसके साथ अन्य एक न्याय का भी निर्देश किया गया है । वह इस प्रकार है - 'न ह्युपाधेरुपाधिर्भवति, विशेषणस्य वा विशेषणम्' इस न्याय का निर्देश अन्य किसी भी परम्परा में नहीं किया गया है । इसका अर्थ यह है कि 'उपाधि' अर्थात् विशेषण, इसका दूसरा विशेषण कदापि नहीं हो सकता है । उदा. 'शुक्ल: पट:' । यहाँ 'शुकल:' विशेषण है और 'पट:' विशेष्य है इसमें 'शुक्ल:' विशेषण का दूसरा विशेषण नहीं होता है या रखना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा करने से विशेषणों की अनन्त परम्परा खडी होने की संभावना है । हां, कदाचित् उपमान स्वरूप विशेषण लाया जा सकता है किन्तु वह वास्तव में विशेषण ही नहीं होता है क्योंकि वह प्राय: द्रव्य स्वरूप ही होता है । उदा. 'क्षीर इव शुक्ल: पट:' ।

'मनयवलपरे हे' १/३/१५ सूत्र के बृहन्न्यास में 'किं मह्यति, किं नह्यति, किं याहि, किं लिह्यते' उदाहरणों में अनुस्वार और अनुनासिक न होने का कारण बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं - 'येन नाव्यवधानमाश्रीयते तेन व्यवहितेऽपि' न्याय द्वारा 'किं ह्मलयति' इत्यादि प्रयोग में प्रस्तुत सूत्र चरितार्थ होने से यहाँ 'किं मह्यति' इत्यादि प्रयोग में अनुस्वार और अनुनासिक नहीं होता है ।

'ख्यागि'- १/३/५४ सूत्र की बृहद्वृत्ति में बताया है कि 'कः ख्यातः, नमः ख्यात्रे' पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमिदं, तेन जिह्वामूलीयो न भवति । बृहद्वृत्ति के इन शब्दों को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री ने बृहन्न्यास में स्पष्टतया 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय' न्याय बताया है ।

इस प्रकार बृहद्वृत्ति व बृहन्न्यास में बहुत से न्यायों के निर्देश व उसकी चर्चा प्राप्त होती है, ठीक उसी तरह लघुन्यास में भी न्यायों की चर्चा प्राप्त होती है ।

संक्षेप में कहा जाय तो सिद्धहेम की परम्परा में सिद्धहेमबृहद्वृत्ति, शब्दमहार्णव(बृहन्)न्यास व लघुन्यास में सभी न्यायों के उल्लेख पाये जाते हैं, इतना ही नहीं कहीं कहीं पाणिनीय इत्यादि अन्य परम्परा में निर्दिष्ट, किन्तु श्रीहेमहंसगणि द्वारा स्पष्टतया जिसका संग्रह नहीं किया है, वैसे न्याय भी पाये जाते है ।

प.पू. श्रुतस्थविर विद्वद्वर्य मुनिश्री जम्बुविजयजी महाराज द्वारा हाल ही में सम्पादित सिद्धहेम (लघुवृत्ति) में सूत्रों में बहुत से नये पाठ दिये गये हैं, उसमें से मुख्य दो पाठ यहाँ बताना आवश्यक है । १. 'पूर्वस्याऽस्वे स्वरे य्वोरियुव्' ४/[illegible]/[illegible] सूत्र में 'य्वोः' के स्थान पर 'योः' और २. त्र्यन्त्यस्वरादेः ७/३/४३ सूत्र में 'त्र्य' के स्थान पर 'त्र' पाठ है । तथापि 'न्यायसंग्रह' के हिन्दी विवेचन में पूर्व छपी हुयी 'लघुवृत्ति, न्यायसंग्रह' इत्यादि के अनुसार 'य्वोः' और 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' पाठ ही रखा है ।

१२. नित्यत्व और अनित्यत्व की व्याख्याएँ

सिद्धहेम की परम्परा में 'न्यायसंग्रह' के प्रथम खण्ड के 'बलवन्नित्यमनित्यात्' ॥४१॥ न्याय की वृत्ति में 'नित्य' और 'अनित्य' की व्याख्या बतायी गई है । वह इस प्रकार है - 'यद् यस्मिन् कृतेऽकृतेऽपि च प्राप्नोति तत्तदपेक्षया नित्यम्, यत्तु अकृते प्राप्नोति, न तु कृते, तदनित्यम् ।'

जो कार्य अन्य कार्य करने पर या न करने पर भी होता ही है, वह कार्य अन्य कार्य की अपेक्षा से नित्य कार्य कहा जाता है और जो कार्य अन्य कार्य न होने पर होता है किन्तु अन्य कार्य हो जाने के बाद नहीं हो सकता है वही कार्य अनित्य कहा जाता है । सिद्धहेम की परम्परा में यही एक ही व्याख्या है ।

पाणिनीय परम्परा में विभिन्न वैयाकरणों, परिभाषाकारों या वृत्तिकारों ने 'नित्यत्व' और 'अनित्यत्व' की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की है, तो कुछेक परिभाषाकारों ने इन्हीं व्याख्याओं को ही परिभाषा मान ली है ।

'कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्' परिभाषा स्वरूप नित्यत्व की व्याख्या का स्वीकार व्याडिकृत माने गये परिभाषापाठ (क्र. नं. ११७), चान्द्रपरिभाषापाठ (क्र. नं. ७६), कातंत्रपरिभाषापाठ (क्र. नं. ८२), कालापपरिभाषा पाठ (क्र. नं. ५३), जैनेन्द्रपरिभाषावृत्ति (क्र. नं. ७८), पुरुषोत्तमदेवपरिभाषापाठ (क्र. नं. ४३) इत्यादि में प्राप्त है । इसी परिभाषा स्वरूप व्याख्या[51] का ही सिद्धहेम की परम्परा में स्वीकार किया गया है, किन्तु स्वतंत्र परिभाषा के रूप में इसका स्वीकार नहीं किया गया है । ऊपर बताये गए नित्यत्व से विरुद्ध या इसे छोडकर अन्य सभी कार्य को अनित्य कहा जाता है । ऐसे अनित्य कार्य को बतानेवाली/व्याख्या स्वरूप छः परिभाषाएँ परिभाषेन्दुशेखर में नागेश ने बतायी है ।[52] ये छः परिभाषा स्वरूप 'अनित्यत्व' की व्याख्याएँ भी पूर्वकालीन वैयाकरणों के ग्रंथो पर

51. नित्यत्व *is defined as an invariable occurance of a rule or operation before as also after, another rule has been applied.*
(Introduction of Paribhāṣenduśekhara by Prof. K. V. Abhyankar pp.10)

52. *On the strength of his detailed study of the subject, Nāgeśa, in his Paribhāṣenduśekhara has given six kinds of* अनित्यत्व *in the Paribhāṣās 43, 44, 45, 47, 48 and 49 (Ibidem, pp. 10)*

आधारित है ।

'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः' (क्रम. नं. ४३) परिभाषा व्याडि ने परिभाषासूचन में (क्र. नं. ७७) तथा पुरुषोत्तमदेव ने (परिभाषापाठ क्रं. नं. ४४) दी है । यही व्याख्या थोडा सा परिवर्तन करके अगली/दूसरी परिभाषा के रूप में इस प्रकार बतायी है – 'शब्दान्तरात् प्राप्नुवन् विधिरनित्यः' (क्र. नं. ४४), तो व्याडि ने भी यही परिभाषा दूसरे स्वरूप में दी है – 'लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन् विधिरनित्यः' (क्र. नं. ४५) वह परिभाषासूचन में क्र. नं. ७८) प्राप्त है । अनित्यत्व का स्वरूप बतानेवाली दूसरी परिभाषा 'स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः' (क्र. नं. ४९) भी महाभाष्य में प्राप्त है ।

महाभाष्य के आधार पर यही परिभाषा 'यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम्' (क्र. नं. ४८) अनित्यत्व का स्वरूप बताती है । जबकि 'यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्' (क्र. नं. ४७) परिभाषा नित्यत्व का स्वरूप बताती है । प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी ने इस परिभाषा को भी अनित्यत्व का स्वरूप बतानेवाली कही है ।[53] किन्तु वह सही नहीं है क्योंकि यहाँ स्पष्टरूप से 'न तदनित्यम्' शब्दों हैं ।

'नित्यत्व' की दूसरी व्याख्या ऐसी भी बतायी गई है कि जिस सूत्र की प्रवृत्ति करना आवश्यक ही हो अर्थात् जिस सूत्र की प्रवृत्ति में प्रयोक्ता की इच्छा का कोई अवकाश ही न हो, वह नित्य कहा जाता है, जबकि जिस सूत्र की प्रवृत्ति प्रयोक्ता अपनी इच्छानुसार कर भी सकता है या नहीं भी कर सकता है, ऐसे सूत्रों या कार्यों को अनित्य कहा जाता है । ऐसे कार्यों प्रायः सभी व्याकरणशास्त्र की परम्परा में समान ही है । पाणिनीय परम्परा में परिभाषेन्दुशेखर में ऐसे अनित्य कार्यों का निर्देश निम्नोक्त परिभाषा द्वारा बताया गया है ।

१. संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम् (९३-१), २. आगमशास्त्रमनित्यम् (९३-२)

३. गणकार्यमनित्यम् (९३-३), ४. अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम् (९३-४)

५. नञ्घटितमनित्यम् (९३-५), ६. आतिदेशिकमनित्यम् (९३-६)

७. समासान्तविधिरनित्यः (८४)

'न्यायसंग्रह' में भी ऐसे न्याय इस प्रकार है -: १. समासान्तागमसंज्ञाज्ञापककणनञ्निर्दिष्टान्यनित्यानि (१-३५) २. आत्मनेपदमनित्यम् (२-३७) ३. क्विपि व्यञ्जनकार्यमनित्यम् (२-३८) ४. स्थानिवद्भावपुंद्भावैकशेषद्वन्द्वैकत्वदीर्घत्वान्यनित्यानि (२-३९) ५. अनित्यो णिच्चुरादीनाम् (२-४०) ६. णिलोपोऽप्यनित्यः (२-४१)

यहाँ अनित्यत्व या नित्यत्व की प्रथम व्याख्या में व्याकरण के सूत्रों की अनित्यता-नित्यता बतायी गई है, जबकि दूसरी व्याख्या में ऊपर बताया गया उसी प्रकार से सूत्र निर्दिष्ट कार्यों की नित्यता या अनित्यता बतायी गई है ।

१३. अनुबन्धों का स्वरूप

सभी व्याकरणशास्त्रों में धातु या शब्दों और उनसे होनेवाले विविध प्रत्ययों मूल प्रत्यय से अतिरिक्त वर्ण या वर्णसमुदाय से युक्त होते हैं । ऐसे प्रत्येक वर्ण या वर्णसमुदाय, जिसे अनुबन्ध कहा जाता है, उससे निर्दिष्ट कार्य व्याकरण के विविध सूत्र से होते हैं ।

परमपूज्य तपागच्छाधिपति शासनसम्राट् आचार्य श्रीविजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज के पट्टधर महान् वैयाकरण आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरिजी ने सिद्धहेम व्याकरण में निर्दिष्ट धातु, शब्द व उससे होनेवाले विभिन्न प्रत्ययों के अनुबन्ध तथा उससे निर्दिष्ट विभिन्न कार्य अर्थात् अनुबन्धों का फल बतानेवाली १० कारिका बनायी है और उनके शिष्य मुनिश्री दक्षविजयजी (आचार्य श्रीदक्षसूरिजी) ने उसका गुजराती भाषा में विवेचन किया है साथ एक कोष्टक बनाकर उसमें ३५ अनुबन्धों का फल व दृष्टान्त/उदाहरण भी बताये हैं ।[54]

53. *See : Aforementioned foot note. (Ibidem, pp.10)*

54. द्रष्टव्यः श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-स्वोपज्ञलघुवृत्ति, परिशिष्ट नं-२, पृ. २३ से ३५.

धातुओं के अनुबन्ध इस प्रकार हैं, अ- तक (तक्) हसने, आ-हुर्छा (हुर्छ्) कौटिल्ये, इ - ककि (कक्) लौल्ये, ई-भर्जी (भज्) सेवायां इत्यादि प्राय: २७ से अधिक अनुबंध धातु से सम्बन्धित है । वैसे धातु से होनेवाले प्रत्यय सम्बन्धित कुछेक अनुबन्ध इस प्रकार है । १. व् - तिव्, तुव्, दिव् इत्यादि, २. क् - क्य, यक्, कान, क्वसु, क्त, क्तवतु इत्यादि, ३. ख् -खश्, खुकञ्, इत्यादि, ४. घ् - घञ्, घ इत्यादि, ५. ङ्-यङ्, ङ, अङ् इत्यादि, ६. ञ् - घञ्, ञिच् इत्यादि, ७. श् - शव्, आनश्, खश्, श्ना, श्नु, श इत्यादि । ऐसे बहुत से प्रत्यय सम्बन्धित अनुबन्ध हैं, हालाँकि आ. श्रीलावण्यसूरिजीकृत धातु और प्रत्यय के अनुबंध का फल बतानेवाली कारिका और उसके गुजराती विवेचन में प्रत्यय सम्बन्धित सभी अनुबन्ध नहीं बताये हैं ।

शब्द में भी कहीं कहीं अनुबन्ध है । उदा. नामधातु प्रक्रिया में 'चित्रङ्' शब्द में ङ् अनुबन्ध है तथा 'भवतु' शब्द में उ अनुबन्ध है तो शतृ प्रत्ययान्त 'कुर्वतृ' शब्द में ऋ अनुबन्ध है ।

शब्द से होनेवाली विभक्ति के प्रत्यय तथा छट्ठे व सातवें अध्याय में निर्दिष्ट तद्धित प्रत्यय शब्द से ही होते हैं और उसमें विविध अनुबन्ध पाये जाते हैं । वे इस प्रकार हैं - १. शब्द से होनेवाली विभक्ति के प्रत्यय के अनुबन्ध - इ - सि, ज्-जस्, श्-शस्, ट् - टा, ङ्-ङे, ङसि, ङस्, ङि, प्-सुप् ।

शब्द से होनेवाले तद्धित प्रत्यय सम्बन्धित विविध अनुबन्ध इस प्रकार है - १. ण् - अण्, इकण्, एयण्, आयनण्, ण, णेर, एरण्, ट्यण्, ण्य, इवण्, इत्यादि । २. ञ् -नञ्, स्नञ्, ञ, अञ्, यञ्, इञ्, ञायन्य, आयनञ्, एयकञ्, इनञ्, ञ्य, आयनिञ्, अकञ्, इत्यादि । ३. ट् - मयट्, तयट्, डट्, थट्, तमट्, मट्, तिथट्, इथट्, मात्रट्, द्वयसट्, दघ्नट्, ट्यण्, इत्यादि । ४. प् - थ्यप्, तमप्, तरप् इत्यादि ।

ऊपर बताये गए सभी और उससे अतिरिक्त सभी-धातु, शब्द व प्रत्यय सम्बन्धित अनुबन्ध उसी उसी धातु, शब्द या प्रत्यय के अवयव माने जाते हैं या नहीं, उसकी चर्चा पाणिनीय परम्परा की 'अनेकान्ता अनुबन्धा:' (क्र. नं. ४) और 'एकान्ता:' (क्र. नं. ५) परिभाषाओं में सामान्यतया विचार किया गया है और आगे चलकर 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' (क्र. नं. ६), 'नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्' (क्र. नं. ७) व 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' (क्र. नं. ८) में इसके बारे में विशेषरूप से विचार किया गया है । ये तीनो परिभाषाएँ सबसे प्राचीन व्याडि के परिभाषासूचन में प्राप्त है ।

अन्तिम तीनों परिभाषाएँ सिद्धहेम की परम्परा में केवल एक ही न्याय में समाविष्ट है । - 'नानुबन्धकृतान्यसारूप्यानेकस्वरत्वानेकवर्णत्वानि' सिद्धहेम की परम्परा में सामान्य रूप से 'अनेकान्ता अनुबन्धा:' न्याय का ही अनुसरण किया गया है क्योंकि वे सभी अनुबन्ध केवल उपदेश अवस्था में ही दृश्यमान हैं किन्तु प्रयोग अवस्था में 'अप्रयोगीत्' १/१/३७ सूत्र से इत् संज्ञा होकर अदृश्य हो जाते हैं । यदि वे प्रकृति या प्रत्यय के अवयव होते तो प्रयोग अवस्था में कुछेक या किसी न किसी प्रयोग में दृश्यमान होने चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है, अत: उन सब को कुछेक अपवाद को छोडकर अवयव नहीं माने गये हैं । इसकी चर्चा 'अप्रयोगीत्' १/१/३७ सूत्र के बृहन्न्यास में प्राप्त है ।

पाणिनीय परम्परा में व्याडि, चान्द्र, (चन्द्रगोमिन्), शाकटायन, कातन्त्र में दुर्गसिंह, कालाप इत्यादि ने अनुबन्ध का स्वरूप बतानेवाले वाक्य 'उच्चरितप्रध्वंसिनोऽनुबन्धा:' को भी परिभाषा के रूप में बताया है ।[55]

१४. कार्यि का स्वरूप और निर्णय

व्याकरणशास्त्र के बहुत से सूत्रों में मुख्यतया तीन विभाग या खण्ड होते हैं । एक विभाग कार्यि कहा जाता है । कार्यि वही कहा जाता है जिस पर/जिस में कार्य होता है । कार्यि में जो परिवर्तन होता है, वह कार्य कहा जाता है, तो जिसके कारण या जिसके सांनिध्य से यही कार्य होता है, उसे निमित्त कहा जाता है । उदा.

55. द्रष्टव्य : परिभाषासंग्रह - तालिका - पृ. ४७०, क्र. नं. ९४

'इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्' १/२/२१ सूत्र में इवर्णादि अर्थात् इवर्ण, उवर्ण, ऋवर्ण और लृवर्ण कार्यि है क्योंकि उन पर कार्य होता है अर्थात् उसमें परिवर्तन होता है । य्, व्, र्, ल् स्वरूप परिवर्तन कार्य कहा जाता है, किन्तु यही कार्य तभी ही होता है जब उनसे अव्यवहित पर में अस्व स्वर अर्थात् विजातीय स्वर आया हो अर्थात् अस्व स्वर उसका निमित्त बनता है ।

सूत्र में प्रायः सामान्यरूप से कार्यि, निमित्त और कार्य, इसी क्रम से बताया जाता है - उदा. समानानां तेन दीर्घः १/२/१ यहाँ समान स्वर कार्यि है, उसके बाद 'तेन' शब्द से निर्दिष्ट दूसरा समान स्वर निमित्त है और दीर्घविधि कार्य है । कातंत्र व कालाप परम्परा में यही बात न्याय/परिभाषा के स्वरूप में बतायी है ।[56]

उनमें कार्यि का निर्णय करने में सहायक अर्थात् कार्यि के विभिन्न स्वरूप बताकर उनमें से कौन से स्वरूपवाला कार्यि यहाँ लेना चाहिए, उसके निर्णय में सहायक न्याय बहुत से हैं । वे इस प्रकार हैं-१. स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥१॥ सुसर्वार्द्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य ॥२॥ ३. ऋतोर्वृद्धिमद्विधाववयवेभ्यः ॥३॥ ४. स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुताः ॥४॥, ५. आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥५॥ ६. प्रकृतिवदनुकरणम् ॥६॥ ७. एकदेशविकृतमनन्यवत् ॥७॥, ८. भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः ॥८॥ ९. भाविनि भूतवदुपचारः ॥९॥, १०. अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ॥१४॥, ११. लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ॥१५॥, १२. नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ॥१६॥, १३. प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि ग्रहणम् ॥१७॥, १४. गौणमुख्योर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः ॥२२॥, १५. कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे ॥२३॥ १६. क्वचिदुभयगतिः ॥२४॥ १७. प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणम् ॥१॥ १८. अदाद्यनदाद्योरनदादेरेव ॥३॥, १९. ऋकारापदिष्टं कार्यं लृकारस्यापि ॥१४॥, २०. सकारापदिष्टं कार्यं तदादेशस्य शकारस्यापि ॥१५ ॥ इत्यादि ।

१५. निमित्त का स्वरूप और निर्णय

निमित्त इसे कहा जाता है, जिसके कारण या सांनिध्य से कार्यि में कार्य या परिवर्तन हो । सामान्यतया कार्यि सूत्र में षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट होता है । कहीं कहीं वह प्रथमा विभक्ति से भी निर्दिष्ट होता है किन्तु वहाँ कार्यि और कार्य का अभेद निर्देश होता है । जबकि निमित्त पंचमी, सप्तमी या तृतीया विभक्ति से निर्दिष्ट होता है । यदि कार्यि से निमित्त अव्यवहित पूर्व में हो तो उसका निर्देश पञ्चमी विभक्ति से होता है । उदा. (अतः) 'भिस ऐस्' १/४/२, यहाँ अकार से पर आये हुए 'भिस्' का 'ऐस्' आदेश होता है । उसमें अकार निमित्त है, 'भिस्' कार्यि है और 'ऐस्' कार्य है । यहाँ निमित्त स्वरूप अकार, कार्यि 'भिस्' से अव्यवहित पूर्व में है, अतः वह 'अतः' शब्द द्वारा पञ्चमी से निर्दिष्ट है ।

जहाँ निमित्त, कार्यि से अव्यवहित पर में हो, वहाँ वही निमित्त सप्तमी से निर्दिष्ट होता है । उदा. 'इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्' १/२/२१, यहाँ इवर्ण, उवर्ण, ऋवर्ण लृवर्ण कार्यि है, अस्व स्वर निमित्त है और 'यवरल' कार्य है । यहाँ निमित्त स्वरूप अस्व स्वर, कार्यिस्वरूप इवर्ण इत्यादि से अव्यवहित पर में हैं, अतः उसका सप्तमी से निर्देश किया गया है ।

अव्यवहित पूर्व में आये और पञ्चमी से निर्दिष्ट तथा अव्यवहित पर में आये हुए और सप्तमी से निर्दिष्ट निमित्त शायद वैसा ही रहता है । उसमें उसी सूत्र से कोई परिवर्तन नहीं होता है किन्तु तीसरे प्रकार का निमित्त जो अव्यवहित पर में होता है और तृतीया विभक्ति से निर्दिष्ट होता है, उसका पाणिनीय परम्परा अनुसार लोप होता है । जबकि सिद्धहेम की परम्परा अनुसार कार्यि और निमित्त दोनों मिलकर एक आदेश होता है । उदा. 'अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल्' १/२/६, यहाँ अवर्ण कार्यि है, उससे अव्यवहित पर में आये हुए इवर्ण, उवर्ण, ऋवर्ण, लृवर्ण तृतीया विभक्ति से निर्दिष्ट निमित्त है और एत्, ओत्, अर्, अल् कार्य है । यहाँ कार्यि और निमित्त दोनों

56. द्रष्टव्य : परिभाषासंग्रह - तालिका - पृ. ४७२, क्र. नं. १३५

के स्थान पर अर्थात् दोनों मिलकर एत्, ओत्, अर्, अल् आदेश रूप कार्य होता है ।

यहाँ 'न्यायसंग्रह' में कुछेक न्याय ऐसे है, जो निमित्त के स्वरूप और निर्णय में सहायक है। १. अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य (१-१४), २. निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य (१-३२), ३. एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य (१-३३), ४. प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव (२-२), ५. प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः प्राकरणिकस्यैव (२-४), ६. निरनुबन्धग्रहणे सामान्येन (२-५), ७. साहचर्यात्सदृशस्यैव (२-६), ८. चकारो यस्मात्परस्तत्सजातीयमेव समुच्चिनोति (२-६१) इत्यादि ।

ऊपर बताये हुए आठ न्यायों में से १. प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः प्राकरणिकस्यैव (२-४), २. साहचर्यात्सदृशस्यैव (२-६) ३. चकारो यस्मात्परस्तत्सजातीयमेव समुच्चिनोति (२-६१) न्याय कार्यि के निर्णय में भी सहायक हैं ।

१६. बलाबलोक्ति न्याय

जब एक ही स्थान पर दो भिन्न भिन्न सूत्र निर्दिष्ट दो भिन्न भिन्न कार्य होने की प्राप्ति अर्थात् परिस्थिति पैदा हुई हो तब कौन से सूत्र की प्रवृत्ति हो ? यह प्रश्न खडा होता है और उसे स्पद्‌र्धा कही जाती है । 'स्पद्‌र्धा' की व्याख्या करते हुए 'न्यायसंग्रह' के कर्ता 'सकृद्गते स्पर्द्धे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' न्याय की वृत्ति में कहते हैं कि 'द्वयोर्विध्योरन्यत्र सावकाशयोस्तुल्यबलयोरेकत्रोपनिपातः स्पद्‌र्धः' दो समानबलवाले सूत्र, जिसकी प्रवृत्ति का अन्यत्र पूर्ण अवकाश हो, ऐसे सूत्रों की एक ही स्थान पर प्राप्ति हो, उसे स्पद्‌र्धा कही जाती है ।

ऐसी स्पद्‌र्धा के समय सामान्यतया जो सूत्र पर हो अर्थात् बाद में आया हो उसकी प्रवृत्ति होती है और वह पाणिनीय परम्परा में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (पा. सू. १/४/२) से निर्दिष्ट है, जबकि सिद्धहेम की परम्परा में 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ सूत्र से निर्दिष्ट है ।

पाणिनीय परम्परा में अष्टाध्यायी में आठवें अध्याय के अर्थात् संपूर्ण अष्टाध्यायी के अन्तिम तीन पाद-खण्डों में, महर्षि पाणिनि ने ऐसे ही सूत्रों का संग्रह किया है, जो इससे पूर्व आये हुए सभी सूत्रों की प्रवृत्ति को रोककर, इन्हीं सूत्रों की प्रवृत्ति करता है, किन्तु महर्षि पाणिनि के बाद कुछ शतकों के बाद हुए वार्तिककार कात्यायन को पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूक्ष्म निरीक्षण से पता चला कि कुछ नियम/सूत्र जो पूर्व में आये हैं, उसकी प्रवृत्ति करना आवश्यक है । अतः उन्होंने कुछ नये वार्तिक, जो पूर्व सूत्रों की बलवत्ता के बोधक हैं, बनाकर अष्टाध्यायी में पूरक रूप से दाखिल कर दिये । तो महाभाष्यकार पतंजलि ने उसका समाधान दूसरे ढंग से दिया है । उन्होंने बताया कि जहाँ स्पद्‌र्धा हो और उसी स्थान पर यदि परसूत्र निर्दिष्ट कार्य करने से अनिष्ट प्रयोग या रूप सिद्ध होता हो और पूर्वसूत्र निर्दिष्ट कार्य करना आवश्यक हो वहाँ 'पर' शब्द को 'इष्टत्ववाचि' लेना चाहिए, ऐसा पाणिनि ने स्वयं कहा है[57] या पाणिनि ने स्वयं कहे हुये सूत्र 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' में बताया गया है ।

स्पर्द्धे ७/४/११९ सूत्र या विप्रतिषेधे परं कार्यम् (पा. १/४/२) सूत्र सामान्य रूप से बलवत्ता का बोधक है किन्तु उसके विभिन्न अपवाद है और वे विभिन्न न्यायों से बताये गए हैं ।

'परान्नित्यम्' (१-५२) न्याय परसूत्र से नित्यसूत्र को बलवान् बताता है, तो 'बलवन्नित्यमनित्यात्' (१-४१) न्याय सामान्यतया नित्यसूत्र को अनित्यसूत्र से बलवान् बताता है । इस प्रकार निम्नोक्त सभी न्याय उसमें निर्दिष्ट दो प्रकार के कार्यों में से कौन बलवान् है, इसका निर्देश करते हैं ।

---

57. *The word* 'पर' *in the rule* 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' *could be taken to mean 'foremost in mind' or 'desirable'* (इष्ट) *and all such cases, where the application of the previous rule was found necessary, could explained by the rule* 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्', *stated by Pāṇinī himself. (Introduction of Paribhāṣenduśekhara by Prof. K. V. Abhyankara pp.25)*

अन्तरङ्गं बहिरङ्गात् (१-४२), निरवकाशं सावकाशात् (१-४३), वार्णात्प्राकृतम् (१-४४) य्वृंद् य्वृदाश्रयं च (१-४५), उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिः (१-४६), लुबन्तरङ्गेभ्यः (१-४७) सर्वेभ्यो लोपः (१-४८), लोपात्स्वरादेशः (१-४९), आदेशादागमः (१-५०), आगमात्सर्वादेशः (१-५१), नित्यादन्तरङ्गम् (१-५३), अन्तरङ्गाच्चानवकाशम् (१-५४), उत्सर्गादपवादः (१-५५) अपवादात्क्वचिदुत्सर्गोऽपि (१-५६), श्रुतानुमितयोः श्रौतो विधिर्बलीयान् (२-२१) परादन्तरङ्गं बलीयः (३-८)

स्पद्र्धा में बलवत्त्व का कारण मुख्य रूप से चार बताये हुए हैं । १. परत्व, २. नित्यत्व, ३. अन्तरङ्गत्व, ४. अपवादत्व । इन्हीं चार कारणों के आधार पर विभिन्न व्याकरण परम्परा में प्रायः कुल मिलाकर ६० से अधिक परिभाषाएँ बतायी गई हैं । उसमें से पुरुषोत्तमदेव ने अपनी परिभाषावृत्ति में २२ परिभाषाएँ दी है, तो नागेश ने उसमें अन्य ग्यारह परिभाषाएँ मिलाकर कुल ३३ परिभाषाएँ परिभाषेन्दुशेखर में दी है ।[58]

कहीं कहीं 'स्पद्र्धे' ७/४/११९ 'परान्नित्यम्, नित्यादन्तरङ्गम्, अन्तरङ्गाच्चानवकाशम्' ये चारों न्याय एक साथ एक ही न्याय में बताये गए हैं, वह इस प्रकार है - 'पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः ।'[59]

१७. अपवादविधि का बलवत्त्व -:

व्याकरणशास्त्र में निर्दिष्ट कुछेक विधियाँ सामान्य होती हैं, जिसे उत्सर्गविधि कही जाती है, जबकि कुछेक विधियाँ विशेष होती हैं, जिसे अपवादविधि कही जाती है । सामान्यतया सामान्यविधि से विशेषविधि बलवान् होती है अतः उत्सर्गविधि से अपवादविधि बलवान् ही होती है, किन्तु अपवादविधि सब से बलवान् होती है और वह 'पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः' और उसके समानार्थक न्यायों से सिद्ध ही है ।

सामान्यतया पहले उत्सर्ग या सामान्यविधि बतायी जाती है, बाद में अपवाद या विशेषविधि बतायी जाती है, किन्तु व्याकरण के सूत्रों में कभी कभी ये अपवादविधियाँ, उत्सर्गविधि से पूर्व या उत्सर्गविधियों के बीच में भी बतायी जाती है । ऐसी परिस्थिति में वही अपवादविधि किसका बाध करें ? पूर्वसूत्र निर्दिष्टविधि का या परसूत्र निर्दिष्टविधि का ? यदि परसूत्र निर्दिष्टविधि का बाध करती हो तो उसमें अनन्तरोक्त विधि का बाध करें या परम्परोक्त विधि अर्थात् अन्यविधि से व्यवहित विधि का बाध करें ? उसका निर्णय निम्नोक्त दो न्यायों से होता है ।

१. पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥३६॥ उत्सर्गशास्त्र से पूर्व में कहे गये अपवादशास्त्र से, उसके बाद तुरंत आये हुए सूत्र निर्दिष्ट उत्सर्गविधि का बाध होता है, किन्तु परम्परोक्त विधि का बाध नहीं होता है ।

२. मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥३७॥ उत्सर्गशास्त्र के बीच में कहे गये अपवादशास्त्र से, उससे पूर्व कहे गये, उत्सर्गशास्त्र का बाध होता है किन्तु बाद में कहे जानेवाले उत्सर्गशास्त्र का बाध नहीं होता है ।

वैसे उत्सर्गशास्त्र के अन्त में/बाद में कहे गये अपवादशास्त्र से प्रायः पूर्वोक्त संपूर्ण उत्सर्गशास्त्र का बाध होता है ।

उत्सर्गशास्त्र बाध्य है, तो अपवादशास्त्र बाधक है । तो बाध्य कौन होता है या हो सकता है ? या नहीं

---

58. *The different paribhāṣās or maxims, which are laid down by grammarions in connection with these four factors, number more than 60, out of which Purusottamdeva selected only 22 to which Nāgeśa has added 11 and has given 33 maxims, which form the second part of the Paribhāṣenduśekhara (Introduction, Paribhāṣāsaṁgraha by Prof. K. V. Abhyankara)*

59. द्रष्टव्य : परिभाषासंग्रह-तालिका, पृ. ४८०, क्र. नं. २९२, २९६, ३१६

हो सकता है ? तथा बाधक कौन होता है ? उसकी स्पष्ट व्याख्या निम्नोक्त तीन न्यायों में पायी जाती है । 'यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते' ॥३८॥ इस न्याय में बाध्य कौन हो सकता है, वह बताया है तो उसके बाद आये हुए 'यस्य तु विधेर्निमित्तमस्ति नासौ विधिर्बाध्यते' ॥३९॥ न्याय में बाध्य कौन नहीं हो सकता है, वह बताया है । आगे चलकर बाधक या अपवाद कौन होता है, वह 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यैव बाधकः' ॥४०॥ न्याय में बताया है और यही अपवादविधि दो प्रकार की होती है । १. विशेषविधि २. निरवकाशविधि ।[60] ये दोनों आपवादशास्त्र होने पर भी दोनों में सूक्ष्म अन्तर है । विशेषविधि और निरवकाशविधि की समझ, पाणिनीय परम्परा के वैयाकरणों ने अनुक्रम से 'तक्रकौण्डिन्यन्याय' और 'माठरकौण्डिन्यन्याय' द्वारा दी है । उसमें यही सूक्ष्म अन्तर स्पष्टतया मालूम पडता है ।

'सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां, तक्रं कौण्डिन्याय ।' यहाँ कोण्डिन्य भी ब्राह्मण होने से 'सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां' से उसको भी दधिदान किया जा सकता है, किन्तु उपर्युक्त वाक्य के शेष अंश 'तक्रं कौण्डिन्याय' (कौण्डिन्य को तक्र देना) से कौण्डिन्य को दधिदान का निषेध हो जाता है क्योंकि कौण्डिन्य को तक्र देने का विशेष रूप से विधान किया गया है । यहाँ दधिदान का संभव होने पर विशेषविधि स्वरूप तक्रदान से निषेध ज्ञापित होता है ।

जबकि 'माठरकौण्डिन्य' न्याय में कहा गया है कि - 'सर्वे ब्राह्मणा भोज्यन्तां, माठरकौण्डिन्यौ परिवेविषाताम्' । यहाँ माठर, कौण्डिन्य दोनों ब्राह्मण हैं तथापि उन दोनों को भोजन के लिए बैठे हुए अन्य सभी ब्राह्मणों को भोजन सामग्री परोसने को कहा गया, उससे ही उनको उसी समय भोजन करने का निषेध हो जाता है । यहाँ भोजन का और परोसने का दोनों कार्य एक साथ करना माठर-कौण्डिन्य के लिए असंभव है, अर्थात् भोजन परोसने का कार्य करते समय भोजन करने का सर्वथा असंभव है, अतः वह अनवकाश विधि है । यद्यपि सिद्धहेम की परम्परा में ऐसी चर्चा प्राप्त नहीं है, तथापि आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरिजीकृत 'न्यायसमुच्चय' की 'तरङ्ग' टीका में 'निरवकाशं सावकाशात्' न्याय की चर्चा करते हुए उपर्युक्त दोनों न्याय (तक्रकौण्डिन्य और माठरकौण्डिन्य) का उदाहरण दिया है ।[61]

बाधक निरवकाश स्वरूप होने से वह अपवाद है, अतः वह सर्वथा बलवान् होता है । उसका निर्णय होने के बाद बाध्य का विचार किया गया है । कुछेक अपवादसूत्र ऐसे हैं जो एक से अधिक सामान्यसूत्रों या उत्सर्गसूत्रों का बाध करते हैं, ऐसे सूत्र द्वारा कौन से सूत्रों का बाध होता है, उसकी विचारणा को 'बाध्यसामान्यचिन्ता' कही गई है । जबकि कुछेक अपवादसूत्र ऐसे हैं, जो बहुत से उत्सर्गसूत्र में से किसी एक का ही बाध करते हैं । वे किस सूत्र का कैसे बाध करते हैं ? उसकी विचारणा को 'बाध्यविशेषचिन्ता' कही गई है ।

विभिन्न परिभाषासंग्रहकारों ने यही बात 'सति संभवे बाधः, असति संभवे बाधः' और 'अस्ति च संभवो यदुभयं' नामक तीन परिभाषाओं द्वारा बतायी है । 'सति संभवे बाधः' में 'तक्रकौण्डिन्यन्याय' गर्भित है तो 'असति संभवे बाधः' में अनवकाशत्व निर्दिष्ट है जबकि 'अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्' में सर्वथाऽनवकाशत्व है ही ।

यही 'अपवादशास्त्र' का निर्देश सब से प्राचीन माने जाते प्रातिशाख्यों में भी प्राप्त होता है । उसके बारे में प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी ने बताया है कि *"The ancient Prātiśākhya works have discussed the relation of apavāda and utsarga rules and stated that the utsarga or the general rules should always be interpreted along with the particular as stated in the line* 'न्यायैर्युक्तानववादान् प्रतीयात्'"[62]

---

60. *The Paribhāṣā given by them is* 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति'. *The apavādavidhi or the rule of exception hence, can be said to be of two kinds* विशेषविधि *and* निरवकाशविधि. *(Introduction, Paribhāṣenduśekhara by Prof. K. V. Abhyankar, Pp. 31)*

61. 'न्यायसमुच्चय'-तरङ्ग टीका-पृ. ८१.

62. *Introduction of Paribhāṣenduśekhara by Prof. K. V. Abhyankara pp.31*

अपवादविधि का निर्णय करने में दूसरी भी एक परिभाषा यत्किञ्चित् सहायता करती है । वह है - 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' (क्र. नं. ६१. परिभाषेन्दुशेखर) । सिद्धहेम में वह 'अनन्तरस्यैव विधिर्निषेधो वा' (३-११) स्वरूप में है ।

अपवादविधि का स्पष्टीकरण करनेवाली अन्य परम्परागत परिभाषाएँ इस प्रकार है - १. प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते (क्र. नं. ६३, परिभाषेन्दुशेखर) २. पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः (क्र. नं. ६२, परिभाषेन्दुशेखर) ३. उपसंजनिष्यमाणनिमित्तोऽप्यपवाद उपसंजातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधत इति (क्र. नं. ६८, परिभाषेन्दुशेखर) ४. क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशत इति (क्र. नं. ५८, परिभाषेन्दुशेखर) ५. अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यते (क्र. नं. ६५, परिभाषेन्दुशेखर)

१८. परिभाषाओं की प्रवृत्ति और उसका नियन्त्रण

व्याकरणशास्त्र के सूत्रों की प्रवृत्ति इष्ट प्रयोगों की सिद्धि करने के लिए व अनिष्ट प्रयोगों की सिद्धि रोकने के लिए ही होती है, वैसे परिभाषा या न्यायों की प्रवृत्ति भी इष्ट प्रयोग की सिद्धि करने के लिए व अनिष्ट प्रयोग की सिद्धि को रोकने के लिए ही की जाती है । यदि किसी भी न्याय की प्रवृत्ति से अनिष्ट रूपों की सिद्धि होती हो तो उसी न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है । यही बात 'नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः' ॥५७॥ न्याय में भलीभाँति बतायी है ।

यही 'न्यायसंग्रह' में निर्दिष्ट सभी न्याय प्रायः अनित्य है । न्यायों की ऐसी अनित्यता बताना आवश्यक ही है क्योंकि यदि ऐसी अनित्यता न बतायी होती तो न्यायों की तथा उसके अनुसार सूत्रों की अवश्य प्रवृत्ति होने पर अनिष्ट रूपों की सिद्धि होती । अतः जहाँ पर न्याय की प्रवृत्ति से अनिष्ट रूपों की सिद्धि होने की आपत्ति आती हो वहाँ उसी न्याय की अनित्यता का आश्रय करके या 'नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः' ॥५७॥ या 'न्यायाः स्थविरयष्टिप्रायाः' (३-१८) न्याय के अनुसार उसी न्याय की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ।

कुछेक न्यायों का स्वरूप ही ऐसा है, जो उसकी प्रवृत्ति को यादृच्छिकता प्रदान करता है । वे न्याय इस प्रकार है - १. विवक्षातः कारकाणि (१-११), २. अपेक्षातोऽधिकारः (१-१२) ३. क्वचिदुभयगतिः (१-२४), ४. यावत्संभवस्तावद्विधिः (२-५६), ५. व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिः (२-६४) ६. पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः (३-१२) ७. विचित्रा शब्दशक्तयः (३-१६) ८. किं हि वचनान्न भवति (३-१७), ९. शिष्टनामनिष्पत्तिप्रयोगधातूनां सौत्रत्वाल्लक्ष्यानुरोधाद् वा सिद्धिः ॥ (४-१)

ये सभी न्याय व्याकरण के सूत्र की प्रवृत्ति को यादृच्छिकता तो प्रदान करते ही है, साथ साथ जहाँ जहाँ अनिष्टरूपों की आपत्ति आती है, वहाँ वहाँ व्याकरण के सूत्र व न्याय की प्रवृत्ति को रोकते भी हैं ।

इसी 'न्यायसंग्रह' में अन्तिम जो न्याय है वह इस बात का द्योतक है कि जिन नामों की निष्पत्ति, जो प्रयोग और धातु इत्यादि, इसी व्याकरण के सूत्र से या इसी 'न्यायसंग्रह' में बताये गये न्यायों की सहायता से सिद्ध न हो सकते हो, तथापि वे यदि किसी भी व्याकरण के सूत्रों में प्रयुक्त हो या शिष्टसाहित्य में प्रयुक्त हो, तो उसे सौत्रत्व से या लक्ष्यानुसार स्वयं सिद्ध मानने चाहिए ।

१९. व्याकरण की विभिन्न परम्पराओं में निर्मित परिभाषावृत्तियाँ या परिभाषापाठ

संस्कृत व्याकरणशास्त्र के विषय में विचार करने पर विभिन्न व्याकरण परम्पराएँ नजर समक्ष आती है । वे इस प्रकार है - पाणिनि, शाकटायन, चान्द्र, कातंत्र, कालाप, जैनेन्द्र, भोज, सिद्धहेम, बुद्धिसागर, मलयगिरिशब्दानुशासन । उनमें से शुरु की आठ व्याकरण परम्पराओं की परिभाषावृत्ति या परिभाषापाठ वर्तमान में उपलब्ध है ।

प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी द्वारा संपादित 'परिभाषासंग्रह' नामक ग्रंथ में ऐसी व्याकरण परिभाषाओं की

उन्नीस कृतियाँ प्रकाशित की गई है । उसमें बारह परिभाषावृत्तियाँ है, जबकि शेष सात केवल परिभाषाओं की सूची स्वरूप ही है ।

व्याडि के 'परिभाषासूचन' के बाद कालानुक्रम से आनेवाले परिभाषापाठ में शाकटायन और चान्द्र परिभाषासूचियाँ आती है । उस पर वृत्ति प्राप्त नहीं होती है । चान्द्र परिभाषापाठ में ८६ परिभाषाएँ है उसमें से बहुत सी परिभाषाएँ किसी न किसी परम्परा में प्राप्त है ही, तथा चान्द्र व्याकरण की मूल प्रति प्राप्त न होने से उसमें निर्दिष्ट परिभाषाओं की विशेषता के बारे में विशेष प्रकाश डालना संभव नहीं है, अत: इसके बारे में यहाँ कोई चर्चा नहीं की जायेगी ।

उसके बाद कातन्त्र, कालाप, जैनेन्द्र, भोज और सिद्धहेम परम्पराओं की परिभाषावृत्तियाँ या परिभाषासूचियाँ प्राप्त होती है । उसमें भी कातंत्र परम्परा की दो परिभाषावृत्तियाँ प्राप्त है । एक के वृत्तिकार है दुर्गसिंह और दूसरी के वृत्तिकार है भावमिश्र । यही कातंत्र व्याकरण परम्परा का उद्भव पूर्वभारत/बांग्ला में ईसा के शुरु के शतकों में हुआ और फैली । पूर्वभारत में विशेषत: इसी व्याकरण का प्रचार रहा था । कातंत्र व्याकरण के निर्माता राजा शर्ववर्मन् और कात्यायन थे । इसी व्याकरण में परिभाषावृत्तिकार श्रीदुर्गसिंह के कथनानुसार केवल ४५० सूत्र है, जिसमें परिभाषासूत्रों का समावेश नहीं होता है । जबकि इसकी छपी हुई सभी आवृत्तियों में प्राय: १४०० सूत्र हैं । कातंत्र की कुछेक बंगाली आवृत्तियां में उसी व्याकरण के अन्त में कुछेक परिशिष्ट मिलाये गए हैं । वैसे तो ये परिशिष्ट शायद सूत्रकार ने स्वयं बनाये हो ऐसा लगता है, जैसे सूत्रकार अपने व्याकरण सम्बन्धित गणपाठ और धातुपाठ की रचना करते हैं । इसमें पहले परिशिष्ट में ६७ परिभाषासूत्र दिये हैं, जबकि दूसरे परिशिष्ट में २९ बलाबलसूत्र दिये हैं, जो वस्तुत: अन्य व्याकरण परम्परा में परिभाषा के रूपमें प्रसिद्ध है । ये दोनों परिशिष्ट ऊपर परिभाषावृत्तिकार दुर्गसिंह ने स्वयं कोई वृत्ति नहीं लिखी है और डो. एजीलिङ्ग ने अपने द्वारा सम्पादित आवृत्ति में इनको परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित नहीं किये हैं । अत: ऐसा अनुमान हो सकता है कि ये परिशिष्ट बाद में हुए वृत्तिकारों की रचना है । ये दोनों परिशिष्ट संयुक्त रूप से प्रो. के. वी अभ्यंकरजी ने कातंत्र परिभाषापाठ से प्रकाशित किये हैं ।

दूसरी, भावमिश्रकृत परिभाषावृत्ति, दुर्गसिंहकृत परिभाषावृत्ति के बाद रची गयी है । वृत्तिकार भावमिश्र के बारे में कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है । यही वृत्ति दुर्गसिंहकृत वृत्ति के समान महत्त्वपूर्ण नहीं है और इसमें बहुत संक्षेप में परिभाषाओं के अर्थ बताये हैं किन्तु उन परिभाषाओं के अस्तित्व के कोई सबूत बताये नहीं है । केवल परिभाषाओं की प्रवृत्ति के उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं । उसका क्रम शायद व्याडि के परिभाषासूचन से मिलता-झुलता है ।

कालापपरिभाषासूत्रपाठ, कातंत्र के बाद दिया है । शायद यही व्याकरण भी, पूर्वभारत में प्रचलित होगा । कालाप परम्परा के बारे में कोई भी जानकारी प्राप्त नहीं है, अत: यहाँ केवल उसके परिभाषापाठ का ही विचार किया जाता है । वैसे यही परिभाषापाठ की ११८ परिभाषा में से बहुत सी परिभाषाएँ सर्वमान्य और सर्वसामान्य ही है तथापि कुछ अन्य परम्परा में अप्राप्त भी है । वह इस प्रकार है - १. अन्यकार्यात् परा द्विरुक्तिः परोक्षालिङ्गादिषु ॥४७॥ २. अप्राप्तपूर्विका हि विभाषा तदुद्देश आदौ ॥७९॥, ३. स्थितानामन्वाख्यानं हि व्याकरणम् ॥११३॥, ४. स्वगुरूपलक्षणोक्तं च ॥९०॥ इससे अतिरिक्त एक परिभाषा 'सिद्धे सत्यारब्धो विधिर्नियमाय विकल्पाय ज्ञापकाय वा' ॥७७॥ सबसे विशिष्ट है । यद्यपि सभी परिभाषासंग्रहकारों ने 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' परिभाषा दी है, किन्तु यहाँ 'विकल्पाय ज्ञापकाय वा' शब्द कातंत्र परिभाषापाठ व कालापपरिभाषापाठ को छोडकर अन्यत्र कहीं नहीं है ।

जैनेन्द्र व्याकरण की रचना पूज्यपाद देवनन्दि ने की है । जैनेन्द्र व्याकरण के बारे में एक मान्यता यह प्रचलित है कि जब श्रमण भगवान महावीर को बाल्यावस्था में पढाने के लिए पाठशाला में भेजे गए तब इन्द्र महाराज ने स्वयं आकर, बालक वर्धमान को विभिन्न प्रश्न पूछे, जिनके बारे में स्वयं पंडित को भी संशय था

और बालक वर्धमान ने, उन सभी प्रश्नों के उत्तर दिये, जो आगे चलकर ऐन्द्र व्याकरण से प्रसिद्ध हुआ क्योंकि वे सभी प्रश्न इन्द्र द्वारा पूछे गये थे ।[63] किन्तु वही ऐन्द्र व्याकरण वर्तमान में कहीं भी प्राप्त नहीं है । कुछेक अनुसन्धानकार उसी व्याकरण को ही जैनेन्द्र व्याकरण कहते हैं और वर्तमान में प्राप्त व्याकरण को वही व्याकरण कहते हैं, किन्तु वह भी उचित नहीं है क्योंकि उसमें सिद्धसेन दिवाकरजी, समन्तभद्र, स्कन्दगुप्त द्वारा हूण लोगों पर प्राप्त विजय के उदाहरण प्राप्त हैं । अत: यही जैनेन्द्र व्याकरण कम से कम ईसा की पांचवीं सदी के उत्तरार्ध में या उसके बाद ही रचा गया है । यही जैनेन्द्र व्याकरण की दो विभिन्न परम्पराएँ हैं । अभयनन्दि द्वारा लिखी गई सुप्रसिद्ध महावृत्ति में ३००० सूत्र हैं । जबकि ईसा की पन्द्रहवीं सदी में सोमदेव द्वारा लिखी गई वृत्ति में ३७०० सूत्र हैं ।

इसी जैनेन्द्र परम्परा में कोई प्राचीन परिभाषावृत्ति उपलब्ध नहीं है, किन्तु महावृत्ति के आधार पर प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी ने एक परिभाषावृत्ति बनायी है । इसके बारे में आगे चर्चा की जायेगी ।

आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी से थोडे समय ही पूर्व हुए धारानगरी (मालवा) के राजा भोज द्वारा एक संस्कृत व्याकरण का निर्माण किया गया था, जिसका नाम था सरस्वतीकण्ठाभरण । उसे भोज व्याकरण भी कहा जाता है ।

यद्यपि इसी व्याकरण में राजा भोज ने पाणिनीय व्याकरण की पद्धति व संज्ञा का स्वीकार किया है, तथापि विद्वानों में एक मान्यता यही प्रचलित रही है कि आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने इसी व्याकरण का अनुसरण किया है । हालाँकि सिद्धहेम की रचना करते समय उनके सामने बहुत से व्याकरण मौजूद थे, उसमें भोज व्याकरण का भी स्थान था ही, किन्तु उनके अनुकरण में भी मौलिकता दृष्टिगोचर होती है ।

उसी भोज व्याकरण या सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में सूत्रक्रमांक १-२-१८ से १-२-१३५ तक परिभाषा सूत्र बताये गये हैं । उसमें से बहुत से सिद्धहेम की परम्परा में प्राप्त हैं, तो कुछेक पाणिनीय परम्परा में ही प्राप्त हैं क्योंकि उन्होंने पाणिनीय परम्परा का अनुसरण किया है ।

'परिभाषासंग्रह' में 'न्यायसंग्रह' के न्यायों की सूची के बाद, जो परिभाषावृत्तियाँ या परिभाषापाठ दिये हैं, वे सभी पाणिनीय परम्परा के ही हैं । उसमें सर्व प्रथम बारहवीं सदी में पुरुषोत्तमदेव द्वारा बनायी हुई लघुपरिभाषावृत्ति आती है । शायद वह बिहार या बांगला प्रदेश का रहनेवाला होगा । कदाचित् बौद्ध परम्परा का अनुयायी हो ऐसी संभावना अस्थानापन्न नहीं है क्योंकि अपनी भाषावृत्ति शुरु करते समय उन्होंने बुद्ध को नमस्कार किया है । पुरुषोत्तमदेव उनके समय के जाने माने विद्वान थे, उसमें कोई संदेह नहीं है क्योंकि उनके, परिभाषावृत्ति को छोडकर ज्ञापकसमुच्चय, हारावली, त्रिकाण्डशेष, एकाक्षरकोष, प्राणपणा इत्यादि ग्रंथ भी प्राप्त हैं ।

सीरदेव, प्राय: पुरुषोत्तमदेव के बाद थोडे ही समय में हुए और वे भी पूर्वभारतीय व्याकरण परम्परा के निष्णात थे, और शायद बौद्ध सम्प्रदाय को माननेवाले थे, ऐसा एक अनुमान है । उनकी बनायी हुई परिभाषावृत्ति पुरुषोत्तम देव की परिभाषावृत्ति की अपेक्षा बृहत् होने से उसे बृहत्परिभाषावृत्ति कही गई है । यही परिभाषावृत्ति सचमुच बृहत् ही है । उसमें कुल मिलाकर १३० परिभाषाएँ है । उसके साथ श्रीमानशर्मनिर्मित बृहत्परिभाषाटिप्पणी भी है, जिसका अपरनाम 'विजया' है । उनकी परिभाषाओं का क्रम उसके पूर्वकालीन वैयाकरणों से सर्वथा भिन्न है । उसकी वृत्ति में पाये जाते संदर्भो से पता चलता है कि उन्होंने महाभाष्य, काशिकावृत्ति, अनुन्यास, भागवृत्ति, तंत्रप्रदीप इत्यादि प्राचीन ग्रंथों का गहन अध्ययन किया होगा । काशिकावृत्ति के उद्धरण देते हुए वे उसके लेखक का निर्देश वृत्तिकृत्, वामन, जयादित्य और काशिकाकार शब्दों से करते हैं । तो न्यासकार का निर्देश 'न्यासकृत्, न्यासकार' व 'जिनेन्द्रबुद्धि' शब्दों से करते हैं । वैसे तन्त्रप्रदीप के कर्ता का निर्देश 'मैत्रेय, रक्षित' या 'मैत्रेयरक्षित' से करते है । सीरदेव की यही बृहत् परिभाषावृत्ति प्राय: चार से पांच सदीयाँ तक अखिल भारत में एक प्रमाणभूत

63. द्रष्टव्य : कल्पसूत्र, श्रीविनयविजयजीकृत सुबोधिका टीका, पंचम: क्षण: ।

या सर्वमान्य ग्रंथ के रूप में पढायी जाती थी । किन्तु अठारहवीं सदी के आरम्भकाल में निर्मित नागेश के परिभाषेन्दुशेखर ने उसे पीछे रख दिया ।

नीलकण्ठ दीक्षित के दूसरे नाम नीलकण्ठ बाजपेयी और नीलकण्ठ यज्वन् भी था । वे ईसा की सत्तरहवीं सदी के पूर्वार्ध में हुए । भट्टोजी दीक्षित के विद्यार्थी और तत्त्वाबोधिनी टीका के कर्ता जिनेन्द्रसरस्वती उसके गुरु थे । उन्हों ने परिभाषावृत्ति के अतिरिक्त व्याकरण सम्बन्धित भाष्यतत्त्वविवेक, वैयाकरणसिद्धान्तरहस्य (सिद्धान्त कौमुदी की टीका) और पाणिनीय दीपिका ग्रंथ लिखे हैं । इन ग्रंथो में वे महाभाष्य व वार्तिककार को ही अनुसरे हैं । उसकी रची हुई परिभाषावृत्ति में १४० परिभाषाओं की सरल व्याख्या/वृत्ति प्रस्तुत की है । प्रायः उन्होंने सीरदेव की परिभाषाओं के क्रम का ही अनुसरण किया है । उनकी वृत्ति संक्षिप्त व मुख्य मुख्य बातों से युक्त है ।

हरिभास्कर अग्निहोत्री, जो नीलकण्ठ के बाद थोडे ही समय में हुए । इनका मूल नाम भास्कर ही था किन्तु बाद में वे हरिभास्कर नाम से प्रसिद्ध हुए । वे महाराष्ट्र के नासिक जिल्ला के त्र्यम्बकेश्वर के वतनी थे, किन्तु उनकी पढाई बनारस में हुई थी और बाद में वहीं ही रहे थे । परिभाषाभास्कर के अलावा उनके अन्य कोई ग्रंथ नहीं है । परिभाषाभास्कर में उन्होंने सीरदेव की परिभाषाओं के क्रम का ही अनुसरण किया है । सीरदेव की बृहत्परिभाषावृत्ति में जो बातें कठिन प्रतीत होती है, उसे सरल बनाना ही उनका ध्येय था, ऐसा लगता है और इसी ध्येय में बहुत कुछ मर्यादा तक वे सफल भी हुए हैं । सीरदेव की बृहत्परिभाषा के विद्वद्भोग्य जो अंश है वह और पूर्वभारतीय परम्परा के संदर्भों को उन्होंने छोड दिये हैं । वे महाभाष्य को प्रमाणभूत मानकर चले हैं । उनके ग्रन्थ में मम्मट, बोपदेव, विद्यारण्य और अन्य प्रमाणभूत कवियों के काव्य की पंक्तियाँ दी है । यही परिभाषावृत्ति पर उनके ही विद्यार्थी द्वारा बनायी गई छोटी सी टीका भी है किन्तु किसी भी कारण से व्याकरण के अभ्यास/अध्ययन में उसका कोई स्थान नहीं रहा है ।

ईसा की सत्तरहवीं सदी के अन्त में और अठारहवीं सदी के प्रारंभ में नागेश नामक बुद्धिमान और व्याकरण के श्रेष्ठ अध्येता हुए, जिन्होंने पाणिनीय परिभाषाओं के बारे में एक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ लिखा जिनका नाम है परिभाषेन्दुशेखर । जो आज भी पाणिनीय परिभाषा क्षेत्र में अद्वितीय स्थान पर है । परिभाषाओं के बारे में उनके मत या वाक्य को प्रमाणभूत माना जाता है । संस्कृत व्याकरण की परम्परागत प्राचीन अध्ययन पद्धति आज भी जहाँ विद्यमान है, ऐसी शैक्षणिक संस्थाओं में आज भी परिभाषेन्दुशेखर पढाया जाता है । यही ग्रंथ व्याकरणशास्त्र के गहन अध्ययन का फल है । उसमें प्राप्त प्राचीन व मध्यकालीन ग्रंथों के संदर्भों से पता चलता है कि उन्होंने इन ग्रंथों का गहन अध्ययन किया होगा । पूर्वकालीन ग्रन्थकारों के नाम उन्होंने कहीं नहीं दिये हैं । सर्वत्र 'केचित्, कश्चित्' या 'प्राचीन' शब्द से उन वैयाकरणों की मान्यताओं को बतायी हैं । परिभाषाओं के बारे में प्रमाणभूत माने जाते प्राचीन वैयाकरणों काशिकाकार, पदमञ्जरीवृत्तिकार, प्रदीपकार की मान्यताओं का उन्होंने बहुत से स्थान पर खंडन किया है । व्याकरण परिभाषाओं के बारे में विद्वज्जगत् में परिभाषेन्दुशेखर के शब्द को अन्तिम शब्द माना जाता है ।

परिभाषेन्दुशेखर व नागेश के बारे में अधिक जानकारी 'परिभाषेन्दुशेखर' की प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी द्वारा लिखी गई विवेचनात्मक प्रस्तावना में प्राप्त है । अतः वहाँ से देख लेने को विनति ।

आचार्य श्रीलावण्यसूरिजी ने सिद्धहेम परम्परा में 'न्यायसमुच्चय' नामक ग्रंथ की 'तरङ्ग' नामक टीका में 'परिभाषेन्दुशेखर' के बहुत से संदर्भ दिये हैं और उसकी विस्तृत विचारणा भी की है । उसमें से कुछ आवश्यक चर्चा को यही हिन्दी विवेचन में स्थान दिया गया है । जिज्ञासुओं को 'न्यायसमुच्चय' की 'तरङ्ग' टीका देखने को विनति ।

पाणिनीय परम्परागत परिभाषा के विषय में नागेश के बाद भी शेषाद्रि नामक एक पंडित ने परिभाषावृत्ति लिखी है । यद्यपि उन्होंने नागेश के परिभाषेन्दुशेखर के परिभाषा क्रम को ही लिया है तथापि वह परिभाषेन्दुशेखर

की टीका नहीं है किन्तु परिभाषा का एक स्वतंत्र ग्रंथ ही है किन्तु वर्तमान में अध्ययन-अध्यापन के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं है ।

२०. व्याडिकृतपरिभाषासूचन, शाकटायन परिभाषाएँ और हैमपरिभाषाएँ

शाकटायन नामक दो वैयाकरण हो चूके हैं । एक पाणिनि से पूर्व और दूसरे पाणिनि के बाद । पाणिनि-पूर्वकालीन शाकटायन जैन थे या नहीं, उसका कोई उत्तर नहीं है क्योंकि उनके द्वारा प्रणीत कोई भी ग्रन्थ हाल उपलब्ध नहीं है । केवल पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में उसका अत्र तत्र कुछ उल्लेख प्राप्त होता है । जबकि पाणिनिपश्चात्कालीन शाकटायन का व्याकरण और उस पर अमोघवृत्ति नामक टीका प्राप्त होती है । यही शाकटायन जैन थे, उतना ही नहीं, किन्तु वे यापनीय तंत्र/संप्रदाय के आचार्य थे, जो वर्तमानकाल में लुप्त हो चुका है । यद्यपि उनका व्याकरण दिगम्बर सम्प्रदाय की अध्ययन परम्परा में मान्य है और उन पर कई दिगम्बर विद्वानों ने टीकाएँ भी लिखी है, तथापि उनके अन्य दो ग्रंथ केवलीभुक्ति प्रकरण और स्त्रीमुक्तिप्रकरण प्राप्त होते हैं और अमोघवृत्ति के कुछ उदाहरण से प्रतीत होता है कि श्वेताम्बरमान्य आगमपरम्परा उनको मान्य थी ।[64] इससे निश्चित होता है कि वैयाकरण शाकटायन वस्तुतः दिगम्बर सम्प्रदाय के थे ही नहीं । हां, यापनीय सम्प्रदाय की मूर्तियाँ नग्न रहती थी । ऐसी नग्नमूर्तियाँ पर के यापनीय सम्प्रदाय के आचार्य के नामसे युक्त लेख से ऐसी भ्रान्ति अवश्य हो सकती है कि यही सम्प्रदाय और दिगम्बर सम्प्रदाय एक ही होंगे ।

वस्तुतः शाकटायन, उनका अपना नाम था और उनके द्वारा प्रणीत व्याकरणशास्त्र का भी नाम है । उनका अपना मूल नाम पाल्यकीर्ति था ।[65]

शाकटायन व्याकरण की अमोघवृत्ति स्वयं सूत्रकार की बनायी हुई है और राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्ष को लक्ष्य करके उसका नाम अमोघवृत्ति रखा गया है क्योंकि दोनों समकालीन है और संभवतः अमोघवर्ष ने उसकी रचना में किसी प्रकार सहायता या प्रेरणा की होगी, जैसे कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी को सिद्धहेम की रचना में गुर्जरेश्वर सिद्धराज जयसिंह ने की थी ।

जैसे सिद्धहेम की परम्परा में परिभाषा के सम्बन्ध में, स्वयं सूत्रकार द्वारा कोई साहित्य का निर्माण नहीं हुआ है, वैसे शाकटायन परम्परा में परिभाषासम्बन्धित कोई साहित्य का निर्माण नहीं हुआ है । यद्यपि 'परिभाषासंग्रह' में प्रो. के. वी. अभ्यंकरजीने शाकटायन परिभाषा की एक सूची दी है, तथापि यही सूची किसने बनायी है, किस ग्रन्थ के आधार पर बनायी है उसका कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है । इसके बारे में प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी ने 'परिभाषासंग्रह' की अंग्रेजी प्रस्तावना में बताते हैं कि यही 'शाकटायन परिभाषासूची' इन्डिया ऑफिस लायब्रेरी से प्राप्त दो हस्तप्रतियाँ के आधार पर दी गई है और यह सूची सब से प्राचीन मालूम देती है । इसमें कुल मिलाकर ९८ परिभाषाएँ हैं । बहुत सी परिभाषाएँ व्याडि के परिभाषासूचन में प्राप्त है, केवल १८ परिभाषा इसमें ज्यादा है । जबकि व्याडि के परिभाषासूचन की १३ परिभाषाओं को इस सूची में स्थान नहीं दिया गया है ।[66] परिभाषाओं का क्रम शायद समान ही है ।

आगे चलकर प्रो. अभ्यंकरजी बताते हैं कि इसी सूची का आधार वर्तमान में उपलब्ध शाकटायन व्याकरण की अभयचन्द्र और यक्षवर्मा की वृत्तियाँ नहीं है । इसका रचनाकाल ईसा की नवमी सदी माना जाता है ।[67] पं. नाथुराम प्रेमीने अपने लेख 'शाकटायन और उनका शब्दानुशासन' में यक्षवर्माकृत 'चिन्तामणि' नामक लघीयसी वृत्ति का उल्लेख किया है, साथ साथ अभयचन्द्रकृत 'प्रक्रियासंग्रह' का भी निर्देश किया है ।[68]

---

64. द्रष्टव्य : जैन साहित्य और इतिहास पृ. ४४ पर (पं. नाथुराम प्रेमी) पृ. १५३.
65. द्रष्टव्य : जैन साहित्य और इतिहास पृ. ४३ पर (प. नाथुराम प्रेमी) पृ. १५०
66. 'परिभाषासंग्रह' *Introduction by Prof. K. V. Abhyankar. pp.16*
67. 'परिभाषासंग्रह' *Introduction. Prof. K. V. Abhyankara pp.17*
68. द्रष्टव्य : जैन साहित्य और इतिहास पृ. ४६ पर पं. नाथुराम प्रेमी

प्रो. अभ्यंकरजी की मान्यतानुसार इसी परिभाषा सूची का आधार प्राचीन वैयाकरण शाकटायन के ग्रन्थ हैं, जिसका महाभाष्य और यास्क के निरुक्त में उल्लेख किया गया है । उसके सबूत में उन्होंने 'विप्रतिषेध, अभ्यासविकार, वासरूप' और 'लुक्' के स्थान पर प्रयुक्त 'स्पर्द्धे, द्विर्भाव, सरूप' और 'श्लुक' शब्दों को बताया गया है और उल्लेखनीय यह है कि व्याडिनिर्दिष्ट 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' परिभाषा को 'अकृतव्यूहाः शाकटायनीयाः' में बदल दी है ।

व्याडि के परिभाषासूचन की दो परिभाषाएँ - 'यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते' ॥४८॥ और 'यस्य विधेर्निमित्तं नासौ बाध्यते' ॥४९॥ को शाकटायन में एकत्र कर दिया है । 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा व्याडि के परिभाषासूचन में दो बार है और कुछेक परिभाषाओं में थोडा सा परिवर्तन किया गया है ।

शाकटायन की परिभाषासूची में व्याडि की जिन परिभाषाओं को छोड दी है, वे इस प्रकार है १. कृत्रिमाकृत्रिमयोरुभयगतिर्भवति ॥७॥, २. भाव्यमाणोऽण् सवर्णान् न गृह्णाति ॥३०॥, ३. उकार एवैको भाव्यमानोऽपि सवर्णान् न गृह्णति ॥३१॥, ४. अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तादधिनिष्ठितस्य ॥३४॥ ५. धातूपसर्गयोरन्तरङ्गं कार्यं भवति ॥३७॥, ६. एकानुबन्धकृतमनित्यम् ॥४५॥, ७. उदित् स्ववर्गमेव गृह्णाति न सवर्णमात्रम् ॥५५॥, ८. प्रकृतिग्रहणे णिजन्तस्यापि ग्रहणम् ॥७०॥ ९. सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति ॥७३॥, १०. नविकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं बाधते ॥८४॥, ११. कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ॥८५॥.

प्रो. अभ्यंकरजी ने बताया है कि व्याडि की १३ परिभाषाओं को शाकटायन परिभाषा में छोड दी है, किन्तु ऊपर बतायी हुई केवल ग्यारह परिभाषाओं को छोड दी है । उनमें से 'कृत्रिमाकृत्रिमयोरुभयगतिर्भवति ॥७॥ धातूपसर्गयोरन्तरङ्गं कार्यं भवति ॥३७॥, प्रकृतिग्रहणे णिजन्तस्यापि ॥७०॥ सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति ॥७३॥' और 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि' ॥९३॥ परिभाषाएँ ऐसी है, जिसकी प्रवृत्ति बहुत से वैयाकरणों ने की है तथापि उनका समावेश यहाँ शाकटायन परिभाषापाठ में नहीं किया गया है । जबकि अन्य छः परिभाषाएँ केवल पाणिनीय व्याकरण की व्यवस्था के लिए ही आवश्यक होने से यहाँ उसका कोई प्रयोजन नहीं है ।

व्याडि के परिभाषासूचन और शाकटायन के परिभाषापाठ में बहुत सी परिभाषाएँ समान है और उसका क्रम भी समान है, अतः ऐसा अनुमान हो सकता है कि दोनों परिभाषाओं की रचना में बहुत कुछ काल का अन्तर नहीं है । शाकटायनपरिभाषाकार के सम्मुख व्याडि का 'परिभाषासूचन' होगा ही ।

शाकटायन परिभाषापाठ की कुल ९८ परिभाषाओं में सें केवल ५३ परिभाषाएँ सिद्धहेम की परम्परा के 'न्यायसंग्रह' में है और बहुत सी परिभाषाओं का शब्दशः आचार्यश्री या श्रीहेमहंसगणि ने स्वीकार नहीं किया है। यद्यपि उनमें से कुछेक परिभाषाएँ ऐसी भी है, जो केवल दोनों परम्परा की भिन्न संज्ञाओ के कारण ही भिन्न प्रतीत होती है । वे इस प्रकार हैं । १. नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् ॥१५॥, २. श्लुग्विकरणाश्लुग्विकरणयोरश्लुग्विकरणम् ॥४५॥ ३. तदनुबन्धग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ॥४९॥ ४. प्रकृतिग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ॥६३॥, ५. प्रातिपदिकविधौ प्रत्ययग्रहणे न तदन्तविधिः ॥७४॥ इत्यादि ।

प्रकृतिग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ॥६३॥ परिभाषा विचित्र है । यहाँ प्रकृति शब्द से नामरूप प्रकृति ली जाय या धातुरूप ? नामस्वरूप प्रकृति नहीं ली जा सकती है क्योंकि 'प्रातिपपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि' परिभाषा दी गई है । यदि धातुरूप प्रकृति ली जाय तो, लिङ्ग शब्द से क्या लिया जाय ? यही एक प्रश्न है । यदि लिङ्ग शब्द से स्वार्थिक प्रत्यय लिया जाय तो, सिद्धहैम में 'प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणम्' परिभाषा है ही ।

इस प्रकार सिद्धहेम में अप्राप्त परिभाषाओं के बारे में विशेष विचार किया जा सकता है । यहाँ केवल दिग्दर्शन ही किया गया है ।

२१. हैमपरिभाषाएँ और जैनेन्द्रपरिभाषाएँ

सामान्यतया जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत प्रायः ६, ७ व्याकरण इस समय प्राप्त हैं, उनमें केवल तीन व्याकरण ही मुख्य है । १. जैनेन्द्र, २. शाकटायन और ३. सिद्धहेम । उसमें जैनेन्द्र व्याकरण को सबसे प्राचीन माना जाता है । यद्यपि उसमें आये हुए कुछेक उदाहरणों या सूत्रों से ज्ञात होता है कि उससे पूर्व भी भूतबलि, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन, समन्तभद्र, यशोभद्र, श्रीदत्त इत्यादि के व्याकरण होंगे किन्तु इनका कोई व्याकरण सम्बन्धित ग्रन्थ हाल उपलब्ध नहीं है । इसी व्याकरण की रचना पाणिनीय व्याकरण के बाद हुई जान पडती है क्योंकि मूल व्याकरण में वार्तिक नहीं है, जो कात्यायन के वार्तिकों से मिलते-जुलते है, इसकी पूर्ति महावृत्ति के रचयिता आचार्य अभयनन्दी से पूर्व की गई है । महावृत्ति में कुछेक वार्तिकों का निष्प्रयोजनत्व बताया गया है ।[69] तथापि प्रो. के. वी. अभ्यंकररजी की मान्यतानुसार पूज्यपाद देवनन्दी के सूत्रों में कात्यायन के कुछेक वार्तिकों का भी समावेश होता है ।[70]

पूज्यपाद देवनन्दी प्रणीत जैनेन्द्र व्याकरण और उसकी आचार्य अभयनन्दी कृत जैनेन्द्रमहावृत्ति के आधार पर प्रो. काशिनाथ वासुदेव अभ्यंकर ने जैनेन्द्रपरिभाषावृत्ति बनायी है । उसमें कुल मिलाकर १०८ परिभाषाएँ दी गई है । जबकि पंडित शम्भुनाथ त्रिपाठी द्वारा सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा प्रकाशित जैनेन्द्र महावृत्ति के परिशिष्ट में अकारादि क्रम से दी गई परिभाषासूची में केवल ६७ परिभाषाएँ है ।

जैनेन्द्र परिभाषा के बारे में श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक ने बताया है कि "आचार्य अभयनन्दि की महावृत्ति में अनेक परिभाषाएँ उद्धृत है । कतिपय परिभाषाओं के ज्ञापक भी लिखे हैं । जैनेन्द्र सम्बन्धित परिभाषाओं के प्रवक्ता कौन है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । जैनेन्द्र परिभाषाओं की व्याख्या किसी प्राचीन ग्रन्थकार ने की थी, ऐसा अभयनन्दी के उल्लेख से लगता है । अभयनन्दी सूत्र १/१/९१ पर लिखते है कि 'सन्निपात परिभाषाया अनित्यतां वक्ष्यति ।' यहाँ 'वक्ष्यति' क्रिया का कर्ता कौन है, वह अज्ञात है, किन्तु इससे स्पष्ट है कि अभयनन्दी से पूर्व किसीने जैनेन्द्र परिभाषाओं की व्याख्या की थी ।"[71]

जैनेन्द्र महावृत्ति में पंडित शम्भुनाथजी ने परिभाषा सम्बन्धित कोई विशेष टिप्पणी नहीं की है या तो इसके कोई विभाग/प्रकार आदि भी नहीं बताया है । प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी, जैनेन्द्रपरिभाषावृत्ति की रचना का हेतु/कारण बताते हुए लिखते हैं कि प्रस्तुत संक्षिप्त परिभाषावृत्ति की रचना से जैनेन्द्र व्याकरण परम्परा की परिभाषा सम्बन्धित साहित्य की आवश्यकता की पूर्ति की गई है, जिसकी बहुत जरूरत थी । इसी परम्परा में परिभाषा सम्बन्धित कोई साहित्य या परिभाषासूची उपलब्ध नहीं है, जैसे पाणिनि, चान्द्र, कातंत्र और शाकटायन में है । प्रस्तुत परिभाषावृत्ति ईसा की छठ्ठी सदी में हुए देवनन्दि के जैनेन्द्र व्याकरण ऊपर ईसा की नवमीं सदी में हुए आचार्य अभयनन्दि प्रणीत जैनेन्द्र महावृत्ति के आधार पर बनायी गई है । यही महावृत्ति पाणिनीय परम्परा के वामन और जयादित्य द्वारा प्रणीत काशिकावृत्ति के समान ही है ।[72] इसी परिभाषावृत्ति में चार विभाग है । १. सूत्रार्थकरण, २. तदन्तविधि, ३. बाध, ४. प्रकीर्ण ।[73] प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी ने इस परिभाषावृत्ति के अन्त में जैनेन्द्र व्याकरण परम्परा की विशिष्ट संज्ञाएँ भी दी है, जिससे जैनेन्द्र व्याकरण और तत्सम्बन्धित परिभाषाओं को समझने में सरलता हो ।

---

69. द्रष्टव्य : जैनेन्द्रमहावृत्ति पृ. १५, उगित्कार्यं...पृ. २६, दाणश्च सा

70. द्रष्टव्य : परिभाषासंग्रह, *Introduction, by Prof. K. V. Abhyankara, pp.24*

71. द्रष्टव्य : 'जैनेन्द्रमहावृत्ति' में श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक का लेख

72. द्रष्टव्य : 'परिभाषासंग्रह' पृ. ८१ की टिप्पणी

73. द्रष्टव्य : 'परिभाषासंग्रह' *Introduction, pp.25*

इसी परिभाषावृत्ति में यद्यपि कुछेक परिभाषाएँ ऐसी है, जिसका आ. अभयनन्दि ने साक्षात् उल्लेख नहीं किया है, तथापि उसके अनुसार व्यवहार तो किया ही है - जैसे १. अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम् ॥[74] इसी परिभाषा के अनुसार - आनि [जै. ५/४/१०३] सूत्र में व्यवहार करते हुए कहा है - "अर्थवद्ग्रहण - परिभाषयाऽर्थवत एव नेर्ग्रहणादिह न भवति ।[75]

'परिमाणग्रहणे न कालपरिमाणं गृह्यते' और 'पूर्वत्राऽसिद्धे नास्ति स्पर्द्धोऽसत्त्वादुत्तरस्य' परिभाषाओं का उल्लेख महावृत्ति में है तथापि पं. शम्भुनाथ त्रिपाठीकृत सूची में इनका स्थान नहीं है ।[76] जबकि 'मृद्ग्रहणे न तदन्तविधिः' (मृद्=प्रातिपदिक=नाम) और 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' इन दोनों परिभाषाओं का 'सपूर्वात्' [जै. ४/१/२१] सूत्र से साक्षात् विधान किया गया है तथापि केवल 'व्यपदेशिवद्भावो न मृदा' परिभाषा ही सूची में दी गई है ।[77] 'येन नाऽप्राप्ते तस्य तद्बाधनम्' परिभाषा महावृत्ति में होने पर भी प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी ने नहीं दी है ।[78]

कुछेक परिभाषाएँ ऐसी है जो सिद्धहेम और जैनेन्द्र दोनों में प्राप्त है तथापि पं. शम्भुनाथ त्रिपाठि व प्रो. के. वी. अभ्यंकरजी, दोनों में से किसीने नहीं दी है । १. ऋतोर्ञिद्विधाववयवेभ्यः ॥ २. ऋकारलृकारयोः स्वसंज्ञा वक्तव्या ॥ ३. अनुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् ॥[79]

जैनेन्द्रपरिभाषावृत्ति की १०८ परिभाषा के खिलाफ 'न्यायसंग्रह' में १४१ परिभाषाएँ है । बहुत सी परिभाषाएँ ऐसी है, जो जैनेन्द्रपरिभाषावृत्ति में है किन्तु 'न्यायसंग्रह' मे नहीं है । इनकी सूची इस प्रकार है - १. कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् ॥२॥, २. परिमाणग्रहणे न कालपरिमाणं गृह्यते ॥९॥, ३. अनुकरणशब्दा अनुकार्यशब्दैरर्थवन्तः ॥१२॥, ४. व्यपदेशिवदेकस्मिन् ॥१४॥, ५. धुग्रहणे ध्वादेः समुदायस्य ग्रहणम् ॥१९॥, ६. निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति ॥२४॥, ७. अन्त्यविकारे अन्त्यसदेशस्य ॥२७॥, ८. निमित्तकार्यं न निमित्तस्य ॥२९॥, ९. उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः ॥३०॥, २०. नानुबन्धकृतं हलन्तत्वम् ॥३५॥, ११. एकानुबन्धकृतमनित्यम् ॥३६॥, १२. नानर्थकेऽन्ते-ऽलोऽन्त्यविधिः ॥३८॥, १३. गुकार्ये निवृत्तिः पुनर्न तन्निमित्तम् ॥४१॥, १४. अवयवनाशिनामतः खं न भवति ॥४३॥, १५. णेऽप्यण्कृतं भवति ॥४४॥, १६. वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम् ॥४५॥, १७. पूर्वत्राऽसिद्धे न स्थानिवत् ॥४८॥, १८. स्फादिखलत्वणत्वेषु नास्ति ॥४९॥, १९. अतुल्यबलयोः स्पर्द्धो न भवति ॥६६॥, २०. पूर्वत्राऽसिद्धे नास्ति स्पर्धोऽसत्वादुत्तरस्य ॥६७॥, २१. न योगे योगेऽसिद्धोऽपि प्रकरणे प्रकरणमसिद्धं भवति ॥६८॥, २२. आभाच्छास्त्रस्य क्वचित् सिद्धता । ॥६९॥, २३. पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे ॥७०॥ २४. पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् विधिः ॥७४॥, २५. अकृतवद्व्यूहेन सिद्धः ॥८८॥, २६. डलयोः समानविषयत्वं स्मर्यते ॥१०७॥

प्रायः २५ से अधिक परिभाषाएँ ऐसी है, जो कुछ न कुछ रूप में सिद्धहेम परम्परा में प्राप्त है । कुछेक सप्ताध्यायी के सूत्र स्वरूप में है, तो कुछेक में थोडा सा परिवर्तन किया गया है । कुछेक नित्यत्व, बहिरङ्गत्व, अन्तरङ्गत्व इत्यादि की व्याख्या स्वरूप ही है, अतः इनको 'न्यायसंग्रह' में स्थान नहीं दिया है । लिङ्गानुशासन सम्बन्धित परिभाषाओं का भी 'न्यायसंग्रह' में संग्रह नहीं किया गया है ।

'न्यायसंग्रह' में प्राप्त किन्तु जैनेन्द्र महावृत्ति में अनुपलब्ध परिभाषाओं की सूची बहुत लम्बी होने जा रही है । उसकी संख्या शायद ७० से अधिक होगी । इसका मुख्य कारण यही है कि यह व्याकरण प्राचीन है और

74. द्रष्टव्य : 'परिभाषासंग्रह' पृ. ८२
75. द्रष्टव्य : 'जैनेन्द्रमहावृत्ति' पृ. ४१५ सूत्र ५/४/१०३
76. द्रष्टव्य : 'जैनेन्द्रमहावृत्ति' पृ. ३६२ सूत्र ५/२/२०
77. द्रष्टव्य : जैनेन्द्रमहावृत्ति पृ. २४८, सूत्र ४/१/२१
78. द्रष्टव्य : जैनेन्द्रमहावृत्ति पृ. ३६१, ३९२, सूत्र, ५/२/१५, ५/३/४१
79. द्रष्टव्य : जैनेन्द्रमहावृत्ति पृ. १२, सूत्र १/१/५२

जब इसकी रचना हुई तब प्राय: व्याडि के परिभाषासूचन को छोडकर अन्य कोई विशेष साहित्य उपलब्ध नहीं था और इसके बारे में कुछ भी विचार करने की परम्परा का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ होगा । उसी ७० से अधिक परिभाषाओं में बहुत सी परिभाषाएँ सर्वमान्य और सर्वसामान्य होने पर भी केवल सिद्धहेम की परम्परा में इनकी विशेषत: प्रवृत्ति की गई है । तो कुछ परिभाषाएँ केवल सिद्धहेम के लिए ही उपयुक्त है । उदा. डित्त्वेन किन्त्वं बाध्यते ॥२९॥ स्त्रीखलना अलो बाधकाः स्त्रियाः खलनौ ॥११२॥, क्विबर्थं प्रकृतिरेवाह ॥१३६॥, कृतेऽन्यस्मिन् धातुप्रत्ययकार्ये पश्चात् वृद्धिस्ताद्बाध्योऽट् च ॥८२॥, अनित्यो णिच्चुरादीनाम् ॥९७॥, णिलोपोऽप्यनित्यः ॥९८॥ णिच् संनियोगे एव चुरादीनामदन्तता ॥९९॥, ण्वृद् ण्वृदाश्रयं च ॥४५॥ त्यादिष्वन्योऽन्यं नासरूपोत्सर्गविधिः ॥१११॥ अत: इन सब का जैनेन्द्र परम्परा में स्थान न होना स्वाभाविक ही है ।

२२. उपसंहार

पिछले दो हजार से ढाई हजार वर्षों से भारत के विभिन्न प्रदेशों में और विशेषत: पूर्वभारत में उत्तरप्रदेश, बिहार, बांग्ला व उडीसा में संस्कृत व्याकरण की विभिन्न परम्पराएँ पैदा हुई । क्वचित् मालवा/मध्यप्रदेश, गुजरात व राजस्थान में भी संस्कृत व्याकरण की नई परम्परा पैदा हुई है । उन व्याकरण परम्पराओं में मूलसूत्रों की वृत्ति, व न्यास इत्यादि की भी रचना हुई है । उनके साथ साथ व्याकरणशास्त्र की रचना में उपयोगी सिद्धांत, जो बाद में व्याकरण के सूत्रों की समजौती देने के लिए अर्थात् सूत्रार्थ निश्चय करने में व शब्दों की सिद्धि या सूत्रों की प्रवृत्ति या निषेध को समझाने में सहायक बनें । ऐसे परिभाषा सम्बन्धित साहित्य की भी रचना प्राय: दो हजार साल से चली आ रही है । आज तक लोगों में ऐसी मान्यता चली आ रही है कि परिभाषाओं का अध्ययन केवल वैयाकरणों की सभा में शास्त्रार्थ या वाद-विवाद में उपयोगी है किन्तु ऐसा नहीं है ।

ऊपर निर्देश की गई विभिन्न परम्पराओं के परिभाषासंग्रह(सूची) या परिभाषावृत्तियों में से इसी प्रस्तावना के अन्तिम दो विभाग में व्याडि, शाकटायन व हैम परिभाषाओं की तथा हैम व जैनेन्द्र परिभाषाओं की सामान्यरूपसे तुलना की गई है । वैसे विभिन्न व्याकरण के मूलग्रन्थ, टीकाएँ व परिभाषावृत्तियों का गहन अध्ययन करके विशिष्ट तुलनात्मक और विवेचनात्मक/विश्लेषणात्मक अनुसंधान कार्य किया जा सकता है । यहाँ केवल इसका दिशा निर्देश ही किया गया है । इसी ग्रन्थ / विवेचन के अध्ययन के बाद किसी अध्येता या विद्वान् को अनुसन्धान कार्य की इच्छा पैदा होगी और उसके अनुरूप पुरुषार्थ करके अनुसन्धान कार्य करेंगे तो मेरा यह प्रयत्न सफल होगा ।

यही विस्तृत प्रस्तावना लिखने के लिए विभिन्न ग्रन्थों की सहाय मैंने ली है, एतदर्थ उन सभी ग्रन्थकारों व ग्रन्थप्रकाशकों का मैं ऋणी हूँ ।

अन्त में विभिन्न व्याकरण परम्पराओं के बारे में यदि मेरी अज्ञानता के कारण कुछ गलत लिखा गया हो तो विद्वज्जनों को अंगुलिनिर्देश करने की विनति करके विरमता हूँ ।

वि. सं. २०५२, अश्विन शुक्ल सप्तमी,
१९, अक्टुबर, १९९६
दादासाहेब जैन उपाश्रय
भावनगर - ३६४ ००१

मुनि नंदिघोषविजय

श्रीहेमहंसगणिसंगृहीतः

श्रीसिद्धहेमचन्द्रव्याकरणस्थ–

॥ न्यायसंग्रहः ॥

ॐरूपाय नमः श्रीमद्हैमव्याकरणाय च ।

श्रीसोमसुन्दरगुरूत्तंसाय च नमो नमः ॥

अथ ये तु शास्त्रे सूचिता लोकप्रसिद्धाश्च न्यायस्तदर्थं यत्नः क्रियते ।

॥ प्रथमो वक्षस्कारः ॥

एते न्यायाः प्रभुश्रीहेमचन्द्राचार्यैः स्वोपज्ञसंस्कृतशब्दानुशासनबृहद्वृत्तिप्रान्ते समुच्चितास्तैरसमुच्चितास्त्वेते-

॥ द्वितीयो वक्षस्कारः ॥

इत्येते पञ्चषष्टिः, पूर्वैः सह द्वाविंशं शतं न्याया व्यापका ज्ञापकादियुताश्च ।

॥ तृतीयो वक्षस्कारः ॥

अतः परं तु ये वक्ष्यन्ते ते केचिदव्यापकाः प्रायः सर्वे ज्ञापकादिरहिताश्च, ते चामी

एतेऽष्टादश न्यायाः, पूर्वैः सर्वैः सह चत्वारिंशं शतं स्तोकस्तोकवक्तव्याः ॥

एकस्त्वयं बहु वक्तव्यः।

॥ चतुर्थो वक्षस्कारः ॥

इति श्रीसिद्धहेमचन्द्रव्याकरणस्थन्यायसंग्रहः ॥

श्रीसूरीश्वरसोमसुन्दरगुरोर्निःशेषशिष्याग्रणी-

गच्छेन्द्रः प्रभुरत्नशेखरगुरुर्देदीप्यते साम्प्रतम् ।

तच्छिष्याश्रवहेमहंसगणिना श्रीसिद्धहेमाभिधे,

न्याया व्याकरणे विलोक्य सकलाः संसंगृहीता इमे ॥१॥

प्रत्यक्षरं गणनया ग्रन्थेऽस्मिन्न्यायसंग्रहे ।

श्लोकानामष्टषष्टिः स्यादधिका च दशाक्षरी ॥२॥

ग्रन्थाग्रम् श्लो. ६८ अक्षर १० ॥

॥ ॐ ह्रीं अर्हं श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

॥ नमो नमः श्रीगुरुनेमिसूरये ॥

॥ ॐ ह्रीं नमः ॥

॥ ऐं नमः ॥

॥ न्यायसंग्रह ॥

अथ

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित-
श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनगत-
पण्डितश्रीहेमहंसगणिसङ्गृहीत-
'न्यायसङ्ग्रह' नाम्नः न्यायसूत्राणां स्वोपज्ञ-
न्यायार्थमञ्जूषानामबृहद्वृत्तेश्च स्वोपज्ञन्यासस्य च
मुनि नन्दिघोषविजयकृत - सविवरणं
हिन्दीभाषानुवादः

तीनों लोक के आह्लाद/आनंद के कारण स्वरूप शोभा से युक्त, चन्द्र जैसी सौम्य आकृतियुक्त, विश्व में सबसे महान और सबके रक्षक श्रीसिद्धचक्र भगवंत को नमस्कार हो ।

न्याय(रीति) मार्ग पर चलनेवाले राम आदि राजाओं का यश(ख्याति) आज दिन तक सब दिशाओं में फैला हुआ है, और न्यायरीति से प्राप्त लक्ष्मी इहलोक और परलोक में भी अनन्य सुख देती है और चन्द्र जैसा (स्वच्छ/निर्मल) यही जिनशासन भी न्याय से ही जयवंत होता है / विजय प्राप्त करता है । किन्तु शठ/धूर्त लोगों की वाणी निश्चय से विजय प्राप्त करती नहीं है, अतः पंडितपुरुषों में इन्द्र समान ऐसे आप सब शुभ स्थानदायक/शुभ फलदायक न्यायवृत्ति का आदर करें और इसका आचरण भी करें ।

यहाँ सुगृहीतनामधेय अर्थात् जिसका नाम-स्मरण अच्छी तरह करने योग्य है ऐसे श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने स्वयं निर्माण किये हुए संस्कृत शब्दानुशासन/व्याकरण की बृहद्वृत्ति के बाद सत्तावन (५७) न्यायों का संग्रह किया है । उसके अनित्यत्व की उपेक्षा कर, कई महापुरुषों ने, उसकी व्याख्या, उदाहरण/दृष्टान्त और ज्ञापकों से युक्त छोटी-सी वृत्ति/टीका बनायी है ।

किन्तु अभी यहाँ आचार्यश्री द्वारा संगृहीत सत्तावन न्याय और मेरे द्वारा संगृहीत चौरासी (८४) न्यायों की सूत्र और उद्देश के साथ व्याख्या, प्रयोजन, दृष्टान्त, ज्ञापक और यथायोग्य अनित्यता व अनित्यता के ज्ञापकों को बताने के लिए 'न्यायसङ्ग्रह' नामक ग्रन्थ के न्यायसूत्रों की 'न्यायार्थमञ्जूषा' नामक बृहद्वृत्ति मैं लिख रहा हूँ ।

यहाँ सूत्र के प्रारम्भ में मंगल के लिए नमस्कार करते हैं ।

ॐ रूपाय नमः श्रीमद् हैमव्याकरणाय च ।
श्रीसोमसुन्दरगुरूत्तंसाय च नमो नमः ॥

'ॐ कार को और श्रीहैमव्याकरण को तथा गुरुओं में मुकुट समान/स्वरूप श्रीसोमसुन्दरगुर को पुनः पुनः नमस्कार हो अर्थात् मैं वारंवार नमस्कार करता हूँ ।'

यहाँ ॐ कार का स्वरूप, अरिहंत, सिद्ध (अशरीरी), आचार्य, उपाध्याय और मुनि, उन पाँचों के आद्याक्षरों से बना हुआ है, अतः वह नमस्करणीय है । इनके द्वारा पंचपरमेष्ठि को नमस्कार होता है । यहाँ आदि में म गण(ॐ रूपा)में तीनों अक्षर गुरु हैं और वह पृथ्वीतत्त्व से युक्त है, अतः वह श्री अर्थात् लक्ष्मी या शोभा के लिए रखा गया है । कहा गया है कि :-

'**मो भूमिः श्रियमातनोति**' (म-गण पृथ्वीतत्वसे युक्त है और वह लक्ष्मी/शोभा की वृद्धि करता है ।)

'ॐ' के साथ 'नमः' पद रखकर 'ॐ नमः' स्वरूप पाठसिद्ध मंत्र सब प्रकार के अभ्युदय के लिए रखा है और श्रीहैमव्याकरण सम्यग्दृष्टिवान् श्रीहेमचन्द्राचार्य द्वारा गृहीत और प्ररूपित होने से श्रुतज्ञान है, अतः इसे नमस्कार किया है । विशेषतः प्रस्तुत/इस ग्रन्थ में हैमव्याकरण का ही अधिकार होने से इसे नमस्कार किया है । अपने गुरु को नमस्कार करते समय विशेष भक्ति के कारण रूप सम्भ्रम/जल्दी को बताने के लिए 'असकृत्सम्भ्रमे' ७/४/७२ सूत्र से 'नमः' शब्द का द्वित्व किया है ।

अब श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने न्यायसूत्र के प्रारम्भ में जो वाक्य कहा है वही वाक्य यहाँ कहा जाता है ।

अथ ये तु शास्त्रे सूचिता लोकप्रसिद्धाश्च न्यायास्तदर्थं यत्नः क्रियते इति ।

अब जो न्याय, शास्त्र में सूचित है, और जो न्याय लोक में प्रसिद्ध है उसके लिए प्रयत्न किया जाता है ।

यहाँ शास्त्र का अभिधेय ऊपर बताये अनुसार साक्षात्/प्रत्यक्ष ही है । सम्बन्ध और प्रयोजन भी निम्न प्रकार से है ।

'अथ' अर्थात् हैम संस्कृत व्याकरण की बृहद्वृत्ति के तुरंत/बाद, अतः (इसी शब्द से) बृहद्वृत्ति के साथ न्यायसूत्रों का आनन्तर्य सम्बन्ध ज्ञापित होता है । और 'ये तु' में जो 'तु' शब्द है, उससे ज्ञापित होता है कि व्याकरणसूत्र नये बनाये जाते हैं किन्तु अन्य व्याकरण में भी न्यायसूत्र इसी प्रकार के ही हैं, अतः न्यायसूत्र चिरकाल से ही समान रूप से प्रचलित हैं और वह गुरु परम्परा द्वारा ग्रन्थकार को प्राप्त हुए हैं । अतः इस प्रकार गुरुपर्वक्रमलक्षण रूप सम्बन्ध भी बताया है ।

शास्त्र अर्थात् साङ्ग शब्दानुशासन[१] आदि ग्रंथ द्वारा सूचित और लोकप्रसिद्ध अर्थात् लोक

१. शब्दानुशासनके पाँच अङ्ग प्रसिद्ध हैं, १. सूत्रपाठ, २. वृत्ति, ३. गणपाठ, ४. धातुपाठ और ५. लिङ्गानुशासन ।

-वैयाकरण आदि, जो सिद्धान्त व शास्त्रों से परिचित हैं और प्रामाणिक अर्थात् नैयायिक आदि- में प्रसिद्ध जो न्याय है, उसके लिए प्रयत्न किया जाता है ।

वस्तुतः 'न्याय' शब्द दृष्टान्त अर्थ में प्रचलित या रूढ़ है । उदा. सूचीकटाहन्याय, काकाक्षिगोलकन्याय, डमरुकमणिन्याय, घण्टालालान्याय, देहलीदीपकन्याय इत्यादि । किन्तु यहाँ 'नीयते सन्दिग्धोऽर्थो निर्णयमेभिः'- जिसके द्वारा सन्दिग्ध/शंकास्पद अर्थ को किसी निर्णय या निश्चित अर्थ के प्रति लाया जाता है, उसे 'न्याय' कहते हैं । यही 'न्याय' शब्द 'न्याया-वायाध्यायोद्यावसंहारावहाराधारदारजारम्' ५/३/१३४ सूत्र द्वारा घञ् प्रत्ययान्त निपातित है ।

'न्याय' अर्थात् अपने इष्ट साध्य को सिद्ध करनेवाले गुण से युक्त युक्तियाँ, अर्थ का अनुसरण करनेवाली इसी व्युत्पत्ति से 'सन्दिग्ध अर्थ का निर्णय' ही सब न्यायों का सर्वसामान्य प्रयोजन बताया है ।

॥१॥ स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥

'शब्द' के अपने स्वरूप का ही सर्वत्र ग्रहण होता है, यदि वह शब्द किसी की संज्ञा के स्वरूप में न हो ।

व्याकरण के सूत्रों में सर्वत्र शब्द के अपने स्वरूप का ही ग्रहण करना चाहिए, यदि उसी शब्द से किसी शब्दसमूह या अन्य की संज्ञा न की गई हो । यदि इसी शब्द से किसी शब्दसमूह या अन्य की संज्ञा की गई हो तो उसी शब्द से अपने स्वरूप का अनादर करके जितने शब्दसमूह की या अन्य की संज्ञा की गई हो उन सबका ग्रहण होता है ।

'सम्' उपसर्ग से युक्त 'ज्ञा' धातु को 'उपसर्गादातः' ५/३/११० सूत्र से भाव में 'अङ्' प्रत्यय होने पर 'संज्ञा' शब्द बनता है ।

'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' ॥२२॥ आदि न्यायों का यही न्याय अपवाद है । यह न्याय आगे बताया जायेगा ।

यथा 'समः ख्यः' ५/१/७७ यहाँ 'ख्या' धातु के दो प्रकार हैं-एक 'ख्यांक्', अदादि गण का और दूसरा 'चक्ष्' धातु के आदेश के रूप में [चक्षो वाचि क्शांग् ख्यांग् ४/४/४] भी 'ख्या' धातु है । इस न्यायसूत्र से यहाँ दोनों प्रकार के 'ख्या' धातु का ग्रहण होता है क्योंकि 'ख्या' किसी धातुसमूह की संज्ञा नहीं है । अतः 'गाः संख्याति, गाः सञ्चष्टे,' दोनों प्रकार के विग्रह द्वारा गोसङ्ख्य आदि शब्दो में 'ड' प्रत्यय की सिद्धि होती है ।

यदि यह न्याय न होता तो 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' ॥२२॥ न्याय से केवल स्वाभाविक 'ख्या' धातु से ही 'ड' प्रत्यय होता, किन्तु 'चक्ष्' धातु के आदेश होने से जिसने धातुत्व प्राप्त किया है ऐसे 'ख्या' धातु से 'ड' प्रत्यय नहीं होता अथवा 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे' ॥२३॥ न्याय से केवल कृत्रिम 'ख्या' धातु,-जो 'चक्ष्' धातु का आदेश है,-को ही 'ड' प्रत्यय होता किन्तु

अकृत्रिम अथवा स्वाभाविक ख्यांक् धातु से ड' प्रत्यय नहीं होता ।

'उपसर्गाद्द: कि:' ५/३/८७ इत्यादि सूत्र में तो 'अवौ दाधौ दा' ३/३/५ सूत्र से की गई दा संज्ञावाले धातु ग्रहण किये हैं क्योंकि यहाँ 'दा' ऐसी संज्ञा का अस्तित्व है ही । अत: जैसे 'आदि' शब्द में दा रूप धातु होने से 'कि' प्रत्यय होता है वैसे 'आधि' शब्द में भी दा रूप न होने पर भी 'कि' प्रत्यय होगा ।

'स्वं रूपं शब्दस्य' भाग का ज्ञापक 'नदीभिर्नाम्नि' ३/१/२७ सूत्र में 'नदी' शब्द का बहुवचन में किया गया प्रयोग है । यदि 'नदी' शब्द का एकवचन में प्रयोग किया होता तो 'स्वं रूपं शब्दस्य' शब्दों से केवल 'नदी' शब्द का ही ग्रहण होता किन्तु नदीवाचक अन्य विशेषनाम जैसे गंगा, यमुना आदि का ग्रहण न होता, किन्तु वही इष्ट या अभिप्रेत या इच्छित नहीं है, अत: 'नदीभि:' रूप का प्रयोग किया है।

'सङ्ख्या समाहारे' ३/१/२८ सूत्र में ऊपर के 'नदीभिर्नाम्नि' ३/१/२७ सूत्र के 'नदीभि:' शब्द की अनुवृत्ति के कारण जैसे 'पञ्चानां नदीनां समाहार: पञ्चनदम्' में 'पञ्चन्' शब्दका 'नदी' शब्द के साथ 'अव्ययीभाव' समास हुआ है । वैसे 'द्वयोर्यमुनयो: समाहारो द्वियमुनम्, त्रिगङ्गम्, सप्तगोदावरम्' आदि में नदी विशेष नाम से भी अव्ययीभाव समास सिद्ध होगा, बाद में 'सङ्ख्याया नदीगोदावरीभ्याम् ७/३/९१ सूत्र से 'अत्' सामासान्त होगा, या 'क्लीबे' २/४/९७ सूत्र से ह्रस्व होगा और 'अमव्ययीभावस्यातोऽपञ्चम्या:' ३/२/२ सूत्र से 'स्यादि विभक्ति' का 'अम्' आदेश होगा ।

'स्वरादुपसर्गाद्दस्तिकित्यध:' ४/४/९ सूत्र में जो 'धा' स्वरूप धातुओं का वर्जन किया है वह 'अशब्दसंज्ञा' खंड या विभाग का ज्ञापक है । यदि 'स्वं रूपं शब्दस्य' वचन से यहाँ केवल 'दा' रूप धातुओं का ही ग्रहण होता तो 'धा' रूप धातुओं के ग्रहण का प्रसंग ही प्राप्त नहीं हो सकता, तभी धा का वर्जन क्यों किया ? किन्तु 'अशब्दसंज्ञा' वचन से यहाँ 'धा' रूप धातुओं के ग्रहण का प्रसंग उपस्थित होता है, अत: इसी सूत्र में 'धा' रूप धातुओं का वर्जन किया, वह सफल है।

इसी न्याय का आद्य अंश 'स्वं रूपं शब्दस्य' अनित्य है, अत: 'उत्स्वराद्युजेरयज्ञतत्पात्रे' ३/३/२६ सूत्र में 'युजि' शब्द से केवल रुधादि गण में आये हुए 'युज्' धातु का ही ग्रहण होगा, किन्तु चुरादि गण में समाविष्ट 'युज्' धातु का ग्रहण नहीं होता है क्योंकि यही 'युज्' धातु से 'युजादेर्नवा' ३/४/१८ सूत्र से 'णिच्' प्रत्यय विकल्प से होता है, अत: जब 'युज्' धातु से 'णिच्' नहीं होगा तब यही धातु का 'युजि' स्वरूप होता है । यह चुरादि गण समन्वित 'युज्' युजि स्वरूप होने पर भी इसका ग्रहण नहीं होता है।

'पूङ्क्लिशिभ्यो नवा' ४/४/४५ सूत्र में रखा हुआ/निर्दिष्ट बहुवचन, इस प्रथम अंश की अनित्यता का ज्ञापक है । यहाँ बहुवचन रखने से 'क्लिश्नाति' और 'क्लिश्यति' दोनों धातुओं का ग्रहण किया जाता है । यदि इस न्याय का यह अंश नित्य ही होता तो बहुवचन के अलावा ही दोनों 'क्लिश्' धातु का ग्रहण 'क्लिशि' स्वरूप से होने की संभावना थी ही, तो इसके लिए बहुवचन

का प्रयोग क्यों करना चाहिए ?

इसी न्याय का द्वितीय अंश भी अनित्य है, अतः 'प्राज्ज्ञश्च' ५/१/७९ सूत्र में, पूर्व के/अगले 'दश्चाङः' ५/१/७८ सूत्र में आये हुए 'दा' शब्द की अनुवृत्ति है। इसी अनुवृत्त 'दः' पद से केवल 'दा' संज्ञक धातुओं का ही ग्रहण होता है किन्तु 'दा' संज्ञारहित 'दाव्' और 'दैव्' का ग्रहण नहीं होता है, तथापि 'प्राज्ज्ञश्च' ५/१/७९ सूत्र की वृत्ति में 'दा' शब्द से "केवल 'दा' रूप धातुओं का ग्रहण करना" ऐसी स्पष्टता की गई है, यही इसी न्याय के द्वितीय अंश 'अशब्दसंज्ञा' की अनित्यता का ज्ञापक है।

इसी न्याय के बारे में विचार-विमर्श करते हुए आचार्य श्रीलावण्यसूरिजी ने 'स्वं रूपं शब्दस्य' खंड/विभाग के बारे में कहा है कि 'कल्यग्नेरेयण्' ६/१/१७ सूत्र से होनेवाला 'एयण्' प्रत्यय केवल 'अग्नि' शब्द से ही होगा किन्तु 'अग्नि' के पर्यायवाची 'वह्नि' आदि शब्दों से नहीं होगा।

प्रो. के. वी. अभ्यंकर ने, इसी सूत्र की प्राचीन वृत्तियों के आधार पर बताया है[1] कि व्याकरणशास्त्र में सर्वत्र प्रत्येक शब्द के अपने अक्षर रूप-स्वरूप का ही ग्रहण किया जाता है किन्तु उसी शब्द के पर्यायवाची अन्य शब्दों का ग्रहण नहीं होता है और जहाँ वह शब्द 'संज्ञा' के रूप में प्रयुक्त है, वहाँ, उसी संज्ञा से निर्दिष्ट सभी शब्दों का ग्रहण होता है। यहाँ भी उसी शब्द के पर्यायवाची अन्य शब्दों का ग्रहण नहीं होता है।

पाणिनीय परंपरा में यह न्याय, सूत्र के रूप में कहा गया है और इसी सूत्र [पा. १/१/६८]के महाभाष्य में महर्षि पतंजलि ने इसी न्याय/सूत्र की व्यर्थता प्रतिपादित की है।

आचार्य श्रीलावण्यसूरिजी ने इसी न्याय के दोनों विभाग/अंश की अनित्यता का खंडन किया है। वे कहते हैं कि प्रथम अंश/खंड की अनित्यता का कोई फल नहीं है क्योंकि प्रथमांश को अनित्य मानने से शब्द के स्वरूप के साथ शब्द के अर्थ का भी ग्रहण होता है, अतः 'उत्स्वराद्युजेरयज्ञतत्पात्रे' ३/३/२६ सूत्र में 'युजि' शब्द से 'युनक्ति' रूपवाले 'युज्' धातु और चुरादि गण समन्वित 'युज्' धातु का (णिच् के अभाव में) समान स्वरूपवाले हैं और अर्थ भी समान हैं, अतः 'युनक्ति' का ही ग्रहण होगा और चुरादि गण निर्दिष्ट 'युज्' धातु का ग्रहण नहीं होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता अर्थात् स्वरूप से और अर्थ से (दोनों रीति से) दोनों 'युज्' धातु का ही ग्रहण संभव है अतः चुरादि गण के युज् धातु के ग्रहण को रोकने के लिए सूत्र की वृत्ति या व्याख्या में स्पष्ट रूप से 'युनक्ति' रूप बता दिया है अर्थात् 'उत्स्वराद्युजेरयज्ञतत्पात्रे' ३/३/२६ सूत्र में इसी न्याय के प्रथमांश की अनित्यता बतायी, वह उपयुक्त नहीं है। अतः उसके ज्ञापक के रूप में 'पूङ्क्लिशिभ्यो

1. "Pāṇini, in his rule स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा has laid down a definite principle, that as far as grammar rules are concerned words in Sūtras are to be taken strictly as collections of letters in specific order and no attention is to be paid to their sense, except in the case of संज्ञा words i.e. technical terms, where the words shown by the technical terms are to be taken, but, there too, no attention is to be paid to their sense."('परिभाषासंग्रह', Introduction, by Prof. K. V. Abhyankar, Pp. 14.)

नवा' ४/४/४५ सूत्र में, क्लिश्यति और क्लिश्नाति दोनों धातुओं का ग्रहण करने के लिए रखे बहुवचन को बताया है, वह भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि 'स्वं रूपं शब्दस्य' न्यायांश होने पर भी, जिस तरह 'क्लिश्यति' और 'क्लिश्नाति' का ग्रहण होता है, इसी तरह यह न्यायांश न होने पर भी क्लिश्यति - क्लिश्नाति दोनों का ग्रहण हो सकता है क्योंकि इन्हीं दो धातुओं में से किसी एक का ग्रहण करने के लिए कोई निश्चायक नहीं है; अतः इन दोनों धातुओं का ग्रहण बहुवचन का प्रयोग न करने पर भी सिद्ध है तथा इस न्यायांश के ज्ञापक के रूप में बहुवचन के प्रयोग को बताना जरूरी नहीं है । किन्तु दिवादि गण में आया हुआ 'क्लिशिच् उपतापे' धातु इ कार अनुबन्ध सहित है, जबकि क्र्यादि गण में आया हुआ 'क्लिशौश् विबाधने' धातु औकार अनुबन्ध सहित है, अतः यहाँ 'क्लिशि' कहने से 'तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य' (एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य) न्याय से दिवादि गण निर्दिष्ट 'क्लिशिच् उपतापे' धातु का ग्रहण संभव है किन्तु 'क्लिशौश् विबाधने' धातु का ग्रहण नहीं होता है । अतः उसका ग्रहण करने के लिए ही 'पूङ्क्लिशिभ्यो नवा' ४/४/४५ सूत्र में बहुवचन का प्रयोग किया हो ऐसा मालूम देता है ।

आ. श्रीलावण्यसूरिजी, द्वितीय अंश की अनित्यता का स्वीकार करते नहीं है । उनका कहना है कि 'द्वितीय अंश की अनित्यता के कारण 'प्राज्ज्ञश्च' ५/१/७९ सूत्र में 'दः' शब्द की अनुवृत्ति से 'दा' संज्ञक धातुओं का ग्रहण न करके, 'केवल दा रूप' धातुओं का ही ग्रहण किया है और इसी लिए वृत्ति में 'दारूपमेव ग्राह्यं' ऐसा स्पष्ट विधान किया है जो इसी न्यायांश की अनित्यता का ज्ञापन करता है ।' श्रीहेमहंसगणि की यह बात उपयुक्त नहीं है क्योंकि ज्ञापक केवल अपनी सार्थकता के लिए नहीं होता है, किन्तु उसका फल अन्यत्र भी प्राप्त होता है । यहाँ जो ज्ञापक है वह केवल अपनी सार्थकता ही सिद्ध करता है किन्तु अन्यत्र इसका फल प्राप्त नहीं होता है । किन्तु 'ज्ञा' धातु के साहचर्य से ही 'दारूप' धातुओं का ग्रहण सिद्ध हो सकता है ।

श्रीहेमहंसगणि, इसी न्याय के न्यास में इसी संभवित तर्क का प्रतिकार करते हुए बताते हैं कि यदि केवल 'ज्ञा' धातु के साहचर्य से ही 'दः' शब्द से 'दा' रूप धातुओं का ग्रहण होता तो 'गापास्थासादामाहाकः' ४/३/९६ सूत्रमें भी 'गा' - आदि धातुओं के साहचर्य से वहाँ भी केवल 'दा' रूप धातुओं का ही ग्रहण होगा किन्तु वहाँ 'दा' संज्ञक धातुओं का ग्रहण होता है । यदि यही न्यायांश नित्य होता तो साहचर्य से भी कोई फर्क नहीं पडता अर्थात् यदि 'अशब्दसंज्ञा' अंश नित्य होता तो 'ज्ञा' धातु का साहचर्य होने पर भी 'दः' शब्द से 'दा' संज्ञक धातुओं का ही ग्रहण होता । अतः 'दारूपमेव ग्राह्यं' ऐसा विधान यही न्यायांश की अनित्यता का ज्ञापक है ।

'कातन्त्र' की दुर्गसिंहकृत परिभाषावृत्ति में, 'भृतौ कर्मशब्दे' (का.४/३/२४) सूत्र में स्थित 'शब्द' शब्द को इसी न्याय का ज्ञापक बताया है । यदि इसी सूत्र में 'शब्द' शब्द को नहीं रखा गया होता तो, 'कर्म' रूप संज्ञा से निर्दिष्ट सभी शब्दों में इसी सूत्र की प्रवृत्ति होती । अर्थात् 'शब्द' शब्द से यही कर्मसंज्ञाभिन्न केवल कर्मशब्द में ही इसी सूत्र की प्रवृत्ति होती है ।

शाकटायन, चान्द्र और जैनन्द्र में यही न्याय परिभाषा के रूप संगृहीत हैं ।

॥२॥ सुसर्वार्द्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य ॥

जिस के पूर्वपद में (पूर्व में) सु, सर्व, अर्द्ध या दिक्शब्द हो और उत्तरपद में (उत्तर में) 'जनपदवाचि' शब्द हो तो, 'जनपदवाचि' शब्द से जो विधि होती वही विधि ऐसे शब्दों से भी होती है ।

जो शब्द दिशावाचक शब्द के रूप में प्रसिद्ध/प्रचलित/रूढ हो, वही शब्द अन्य अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी दिशावाचक शब्द के साथ सादृश्य /समानरूपता, होने के कारण इसे 'दिक्शब्द' कहते हैं । किन्तु केवल 'दिक्' कहने से केवल दिशा अर्थ में ही प्रयुक्त शब्द लिया जाता है । ऐसा न हो किन्तु अन्य अर्थ में प्रयुक्त दिशावाचक शब्दों का संग्रह करने के लिए इसी न्याय में केवल 'दिक्' शब्द न देकर 'दिक्शब्द' का प्रयोग किया है । उदा. - 'प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दबहिरारादितरैः' २/२/७५ । यदि केवल दिशा अर्थ में ही प्रयुक्त शब्द का संग्रह करना हो तो केवल 'दिश् (दिक्)' शब्द का ही प्रयोग किया होता । उदा. 'दिशो रूढ्यान्तराले' ३/१/२५.

इसी न्याय का अर्थ इस प्रकार है -:'जनपदवाचि' शब्द से जो विधि बतायी है, वही विधि सु, सर्व, अर्द्ध और दिक्शब्द के साथ प्रयुक्त 'जनपदान्त' शब्द से भी होती है । [ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ॥१८॥२॥ न्याय का यह अपवाद है । इस प्रकार, अगला न्याय ऋतोर्वृद्धिमद्विधावयवेभ्यः ॥३॥ भी ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ॥१८॥२॥ का अपवाद है ।]

उदा. 'मगधेषु भवो मागधिकः' आदि में जैसे अकञ् प्रत्यय होता है वैसे 'सुमगधेषु, सर्वमगधेषु, अद्र्धमगधेषु, पूर्वमगधेषु भवः सुमागधकः सर्वमागधकः अद्र्धमागधकः पूर्वमागधकः' आदि में भी 'सु, सर्व, अद्र्ध, दिक्शब्द' जिस के पूर्व पद में है, ऐसे 'जनपदान्तवाचि' शब्द से भी 'बहुविषयेभ्यः' ६/३/४५ सूत्र से 'अकञ्' प्रत्यय होता है ।

'सुमागधकः' आदि तीन शब्दों में 'सुसर्वाद्र्धाद् राष्ट्रस्य' ७/४/१५ से और 'पूर्वमागधकः' शब्द में 'अमद्रस्य दिशः' ७/४/१६ से उत्तरपद के आद्यस्वर की वृद्धि होती है ।

'सु, सर्व, अद्र्ध, दिकशब्द' से पर आये हुए 'जनपदवाचि' शब्द से ही यह विधि होती है, ऐसा क्यों ? उपर्युक्त शब्द से भिन्न शब्द पूर्वपद में आने पर यह विधि नहीं होती है । उदा. ऋद्धमगधेषु भवः आद्र्धमगधः । यहाँ 'भवे' ६/३/१२३ सूत्र से 'अण्' प्रत्यय ही होता है । किन्तु 'बहुविषयेभ्यः' ६/३/४५ सूत्र से अकञ् प्रत्यय नहीं होता है क्योंकि 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' ॥१८॥ न्याय 'तदन्तविधि' का निषेध करता है ।

'सुसर्वार्द्धाद् राष्ट्रस्य' ७/४/१५ एवं 'अमद्रस्य दिश': ७/४/१६ सूत्र द्वारा उत्तरपद के आद्यस्वर की वृद्धि का विधान इस न्याय का ज्ञापक है । इसी सूत्र द्वारा/से उत्तरपद के आद्यस्वरकी वृद्धि, 'बहुविषयेभ्यः' ६/३/४५ आदि सूत्र द्वारा 'सुमगध' आदि शब्द से 'ञित्-णित्' प्रत्यय आने के बाद ही होती है । यदि वह 'ञित्-णित्' प्रत्यय, 'सुमगध' आदि 'जनपदान्तवाचि' होने के कारण, 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' ॥१८॥ न्याय से न होते तो ये वृद्धि-सूत्र निर्विषयक हो जाते, अतः

ऐसे सूत्र बनाने की आवश्यकता ही नहीं थी किन्तु ऐसे सूत्र का अस्तित्व इस बात का ज्ञापक है कि 'सु, सर्व' आदि शब्द से युक्त 'जनपदान्तवाचि' अर्थात् राष्ट्रवाच्यन्त शब्द से 'अकञ्' आदि प्रत्यय करते समय, प्रस्तुत 'सुसर्वार्द्ध-' न्याय से 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ॥१८॥' न्याय बाधित होता है, अतः ऐसे शब्द से 'ञित्-णित्' प्रत्यय निर्विघ्न आ सकते हैं इसी हेतु/भाव से इन वृद्धि सूत्रों की रचना की गई है ।

यह न्याय और इसके बाद का न्याय, (दोनों न्याय) नित्य हैं अतः जहाँ-जहाँ उसकी प्राप्ति है वहाँ-वहाँ अवश्य इसका उपयोग होता है ।

यहाँ 'शोभना मगधाः सुमगधाः' शब्द में 'सुः पूजायाम्' ३/१/४४ से तत्पुरुष समास होता है। 'सर्वे च ते मगधाः सर्वमगधाः' शब्द में 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलम्' ३/१/९७ से कर्मधारय समास, 'मगधानामर्द्धम् अर्द्धमगधाः' शब्द में 'समेंऽशेऽर्द्ध नवा' ३/१/५४ से अंशितत्पुरुष समास, और 'पूर्वोऽशो मगधानाम् पूर्वमगधाः' शब्द में 'पूर्वापराधरोत्तरमभिन्नेनांशिना' ३/१/५२ से अंशितत्पुरुष समास होगा तथा 'पूर्व' शब्द को दिशावाचि और अवयववाचि मानने पर 'पूर्वाश्च ते मगधाश्च' इस प्रकार विग्रह करने पर, 'दिगधिकं संज्ञातद्धितोत्तरपदे' ३/१/९८ सूत्र से तद्धितप्रत्यय के विषय में कर्मधारय समास होगा और जब इस प्रकार कर्मधारय समास होगा तब 'पूर्व' आदि शब्द मुख्यतया दिशा अर्थवाची होने पर भी उन दिशाओं में आये हुए प्रदेशवाची भी होने से, वे अवयववाचि कहे जायेंगे और अवयव का अवयवी में अभेद उपचार करने पर वह देशवाची भी कहा जाएगा और जब 'पूर्वस्यां मगधाः पूर्वमगधाः' इस प्रकार समास होगा तब 'पूर्वा' शब्द केवल दिग्वाचि होगा और 'सर्वादयोऽस्यादौ' ३/२/६१ से 'पूर्वा' शब्द का पुंवद्भाव होगा तथा, 'तेषु भवः पूर्वमागधकः' होगा ।

इस प्रकार उपर्युक्त सब प्रयोग में 'पूर्व' शब्द को, इस न्याय की वृत्ति अनुसार 'दिक्शब्द' कहा जाता है । वृत्तिकार 'दिक्शब्द' की व्याख्या इस प्रकार करते हैं । "जो शब्द पहले दिग्वाचि हो किन्तु प्रयोग में दिशा से भिन्न अर्थमें अर्थात् देश या काल अर्थ में प्रयुक्त हो, उसे 'दिक्शब्द' कहा जाता है। अतः यदि इस न्याय में केवल 'दिश्' शब्द का प्रयोग किया होता तो ऐसे देशवृत्ति या कालवृत्ति दिशावाचक शब्दों का संग्रह नहीं हो सकता, अतः इस न्याय में 'दिक्शब्द' शब्द रखा है । और आ. श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने स्वयं 'प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दबहिरारादितरैः' २/२/७५ सूत्र की वृत्ति में ऐसा बताया है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'दिश्' शब्द से केवल दिशावाचि शब्दों का ही ग्रहण होता है, तो 'दिशो रूढ्यान्तराले' ३/१/२५ में रूढि शब्द क्यों रखा है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए आ. श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने स्वयं, इसी सूत्र की बृहद्वृत्ति में बताया है कि 'रूढिग्रहणं यौगिकनिवृत्यर्थम् तेन ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्च यदन्तरालम् इति वाक्यमेव' । संक्षेप में संस्कृत व्याकरण में तीन प्रकार के दिशावाचक शब्द हैं । १. 'दिक्शब्द' से जिस का ग्रहण होता है, जो पहले दिशावाचि था किन्तु प्रयोग में वह दिशावाचि न हो । २. केवलदिशावाचि शब्द, जो केवल दिशा अर्थ में ही प्रयुक्त होते

हैं, ऐसे शब्द दो प्रकार के होते हैं (अ) रूढ-दिशावाचि शब्द और (ब) यौगिक दिशावाचि शब्द। अतः केवल 'दिश्' शब्दका प्रयोग करने पर, यौगिक और रूढ दोनों प्रकार के दिशावाचि शब्दों का प्रयोग होगा, अतः केवल रूढ दिशावाचि शब्द लेने के लिए 'रूढि' शब्द का प्रयोग अनिवार्य है।

आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने, 'न्यायसंग्रह' में बताये हुए इसी न्याय के ज्ञापक 'सुसर्वार्द्धाद् राष्ट्रस्य' ७/४/१५ और 'अमद्रस्य दिशः' ७/४/१६ सूत्र में बताये हुए, उत्तरपद की वृद्धि संबंधी विधान के ज्ञापकत्व की विशेष रूप से चर्चा की है। उन्होंने तर्क से जिस प्रकार से खंडन-मंडन किया है, उसी प्रकार श्रीहेमहंसगणि ने भी, 'न्यायसंग्रह' की बृहद्वृत्ति के न्यास में भी खंडन-मंडन किया है। उन्होंने ऐसा भी कहा है कि "इस प्रकार 'मद्राद् अञ्' ६/३/२४ सूत्र को 'पुरातन न्यायवृत्ति' में, इसी न्याय के ज्ञापक के रूप में बताया है किन्तु 'मद्राद् अञ्' ६/३/२४ सूत्र केवल 'दिक्शब्देभ्यो जनपदस्य' अंश का ही ज्ञापक बनता है लेकिन संपूर्ण न्याय का ज्ञापक बनता नहीं है और हमारे द्वारा/श्रीहेमहंसगणि के द्वारा बताया हुआ ज्ञापक संपूर्ण न्याय का ज्ञापक है, अतः 'मद्राद् अञ्' ६/३/२४ सूत्र को इसी संपूर्ण न्याय के ज्ञापक के रूप में नहीं रखा जा सकता है। आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने इस अभिप्राय को स्वीकृति दी है। दोनों द्वारा की गई विचारणा समान है किन्तु श्रीहेमहंसगणि द्वारा की गई चर्चा सरल और संक्षिप्त है।

इसी न्याय को 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ॥१८॥' न्याय का अपवाद गिना जाय या नहीं उसकी विचारणा, जिस प्रकार आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने की है वैसे श्रीहेमहंसगणि ने भी, इस न्याय के न्यास में, इसकी विचारणा की है और सिद्ध किया है कि यह न्याय 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' ॥१८॥ न्याय का अपवाद ही है और वह बहुत सरल और स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार है।

'ग्रहणवता नाम्ना'-न्याय का प्रसंग उपस्थित होने पर ही यह न्याय, उसका अपवाद बन सकता है। जहाँ पर सूत्र में स्पष्ट रूप से विशेष शब्दों का निर्देश कर उनसे कोई विशेष विधि करने का विधान किया हो, वहाँ ही 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधि ॥' न्याय उपस्थित होता है। उदा. 'दन्तपादनासिका'- २/१/१०१

किन्तु यहाँ 'बहुविषयेभ्यो राष्ट्रवाचिनामभ्यः' इस प्रकार सामान्यतया ही विधान किया है अतः 'सुमागधकः' आदि में 'ग्रहणवता नाम्ना-' न्याय का प्रसंग, कैसे उपस्थित होता है ? इसके उत्तर में श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि बहुवचन में ही प्रयोग होनेवाले 'राष्ट्रवाचि' नाम परिगणित अर्थात् मर्यादित संख्या में ही हैं- जैसे 'अङ्ग, बङ्ग, वृजि, मद्र, मगध, पाञ्चाल' इत्यादि नियत ही हैं, अतः सूत्र में स्पष्ट रूप से इन सब शब्दों को बताया नहीं है तथापि इन सबको बताये हुए मानना चाहिए। अतः यहाँ पर भी 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' ॥ न्याय की उपस्थिति होती है। और इसी तरह से इस न्याय के बाद आनेवाले न्याय में भी 'भर्तुसन्ध्यादेरण्' ६/३/८९ सूत्र में बताये हुए नक्षत्रवाचि, ऋतुवाचि, और सन्ध्या-आदि शब्दों की परिगणना नहीं कि गई है तथापि इनको परिगणित ही मानना चाहिए और वहाँ भी 'ग्रहणवता नाम्ना-' न्याये का प्रसंग उपस्थित होता ही है।

पाणिनीय व्याकरण में इस न्याय को 'येन विधिस्तदन्तस्य' [पा. सू. १/१/७२] सूत्र के वार्तिक 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' से प्राप्त निषेध के अपवाद स्वरूप बनाये हुए 'सुसर्वार्द्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य' वार्तिक के रूप में होने से ज्ञापक इत्यादि बताया नहीं है । और परिभाषेन्दुशेखर में स्पष्ट रूप से बताया है कि 'ग्रहणवता नाम्ना-' न्याय, 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' वार्तिक का ही केवल अनुवाद है ।

यह न्याय भोज, जैनेन्द्र और हैमव्याकरण के अलावा अन्य कोई भी परिभाषासंग्रहवृत्ति में उपलब्ध नहीं है ।

॥३॥ ऋतोर्वृद्धिमद्विधाववयवेभ्यः ॥

पूर्वपद में, उत्तरपद में आये हुए ऋतुवाचक शब्द के अवयवरूप शब्द होने पर, ऋतुवाचक शब्द से जो विधि होती है, वही विधि उसी ऋतुवाचक शब्दान्त शब्द से होगी । यदि उसी शब्द के बाद वृद्धिमान् प्रत्यय आया हो ।

जिस प्रत्यय का निमित्त पाकर, प्रकृति के स्वर की वृद्धि होती है, ऐसे ञित्-णित् प्रत्ययों को यहाँ वृद्धिमान् प्रत्यय माने जाते हैं । ऋतुवाचक शब्द से ञित्-णित् प्रत्यय आने पर जो विधि होती है, वही विधि अवयववाचक पूर्वपदवाले ऋतुवाचकान्त शब्दों सें भी होती है ।

अतः जैसे 'वर्षासु भवं वार्षिकं' में केवल वर्षा शब्द से 'वर्षाकालेभ्यः' ६/३/८० सूत्र से इकण् होता है वैसे 'पूर्वः प्रथमोऽवयवो वर्षाणां पूर्ववर्षा' शब्द में 'पूर्वापराधरोत्तरमभिन्नेनांशिना' ३/१/५२ सूत्र से अंशितत्पुरुष होने पर या 'पूर्वावयवयोगात् पूर्वाः प्रथमाः पूर्वाश्च ता वर्षाश्च पूर्ववर्षा' शब्द में 'पूर्वापरप्रथम-चरम-जघन्य-समान-मध्य-मध्यम-वीरम्' ३/१/१०३ सूत्र से कर्मधारय समास होने पर 'पूर्ववर्षासु भवं पूर्ववार्षिकम्' में वर्षान्त शब्द से भी 'वर्षाकालेभ्यः' ६/३/८० सूत्र से वर्षालक्षण 'इकण्' प्रत्यय होता है और 'अंशादृतोः ७/४/१४ सूत्र से उत्तरपद के आद्य स्वर की वृद्धि होती है । ठीक उसी तरह, जैसे 'शिशिरे भवं शैशिरम्' आदि में केवल ऋतुवाचक शब्द से 'भर्तुसन्ध्यादेरण्' ६/३/८९ से ऋतुलक्षण अण् होता है, वैसे 'पूर्वशिशिरे भवम्, पूर्वशैशिरम्' आदि में ऋत्वन्त शब्दों से भी 'भर्तुसन्ध्यादेरण् ६/३/८९ सूत्र से ऋतुलक्षण 'अण्' प्रत्यय होगा, और पूर्व की तरह 'अंशादृतोः' ७/४/१४ से उत्तरपद के आद्य स्वर की वृद्धि होगी ।

'वृद्धिमद्विधौ' ही क्यों ? यदि 'वृद्धिमद्' प्रत्यय पर में न हो तो ऋतुवाचक शब्द के अवयव स्वरूप पूर्वपदयुक्त ऋत्वन्त शब्द से वही प्रत्यय (ञित्-णित् भिन्न या अवृद्धिमत् प्रत्यय) नहीं होता है । उदा. 'प्रावृष एण्यः' ६/३/९२ सूत्र से होनेवाला 'एण्य' प्रत्यय केवल प्रावृष् शब्द से ही होता है किन्तु प्रावृष् अन्तवाले, पूर्वप्रावृष् शब्द से नहीं होगा अर्थात् 'पूर्वप्रावृषि भवः पूर्वप्रावृषेण्यः' ऐसा प्रयोग नहीं होगा ।

क्या अवयववाचक पूर्वपद होना जरूरी है ? 'पूर्वा ऋत्वन्तैर्व्यवहिताश्च ता वर्षाश्च पूर्ववर्षाः' यहाँ पहले बताया उसी प्रकार से कर्मधारय समास होगा । बाद में 'पूर्ववर्षासु भवं पौर्ववर्षिकम्' और

उसी तरह 'पौर्वशिशिरकम्' होगा । यहाँ दोनों प्रयोगों में 'वर्षाकालेभ्यः' ६/३/८० से 'काल' अर्थ में होनेवाला 'इकण्' प्रत्यय होगा, किन्तु वर्षालक्षण अर्थात् वर्षा शब्द से होनेवाला इकण् प्रत्यय नहीं होगा । यहाँ 'पूर्व' शब्द ऋतु (वर्षा) के अवयव का सूचक नहीं है, अतः 'अंशादृतोः' ७/४/१४ से उत्तरपद की वृद्धि नहीं होती है किन्तु 'वृद्धिः स्वरेष्वादेञ्णिति तद्धिते' ७/४/१ से पूर्वपद की वृद्धि होगी ।

इसी न्याय का ज्ञापन 'अंशादृतोः' ७/४/१४ सूत्र स्वरूप वृद्धि विधान से होता है क्योंकि इस सूत्र में ही कहा गया है कि पूर्वपद में अंशवाचक शब्द हो और उत्तरपद में ऋतुवाचक शब्द हो तो, ऋतुवाचक शब्द के आद्यस्वर की वृद्धि होती हे । वह इस प्रकार-:'अंशादृतोः' ७/४/१४ से होनेवाली उत्तरपदकी वृद्धि, 'वर्षाकालेभ्यः' ६/३/८० और 'भर्तुसन्ध्यादेरण्' ६/३/८९ से विहित ञित्-णित् प्रत्यय होने के बाद ही होती है । वही 'ञित्-णित्' प्रत्यय, यदि 'पूर्ववर्षा' आदि शब्दों से वे ऋत्वन्त होने के कारण 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ॥१८॥' न्याय से निषेध होने से, न होते तो 'अंशादृतोः' ७/४/१४ सूत्र निर्विषय अर्थात् व्यर्थ बन जाता है । वही सूत्र व्यर्थ हो कर ज्ञापन करता है कि अवयववाचक पूर्वपदवाले ऋत्वन्त शब्द से 'ञ्णित्' प्रत्यय होते हैं तब इस न्याय से 'ग्रहणवता नाम्ना-' न्याय बाधित होने पर निर्विघ्नतया 'ञ्णित्' प्रत्यय होते हैं और इसी कारण से ही यह न्याय बताया गया है ।

इस न्याय में, पूर्व न्याय में बताया है इस प्रकार से 'पूर्वा' और 'वर्षा' शब्दों का 'वर्षाणां पूर्वो भागः पूर्ववर्षाः, तासु भवं पूर्ववार्षिकम्' में 'पूर्वापराधरोत्तरमभिन्नेनांशिना' ३/१/५० से अंशितत्पुरुष समास होगा । और जब श्रीहेमहंसगणि ने बताया है उसी प्रकार से 'पूर्वाश्च ता वर्षाश्च, पूर्ववर्षाः' में कर्मधारय समास होगा तब भी यदि 'पूर्वा' शब्द अवयववाचक होगा तो, इस न्याय से 'वर्षाकालेभ्यः' ६/३/८० से 'इकण्' प्रत्यय होकर 'पूर्ववार्षिकम्' बनेगा और वहाँ 'पूर्वापरप्रथम-चरम-जघन्य-मध्य-' ३/१/१०३ से समास होता है । ठीक उसी तरह 'पूर्वशिशिर' शब्द में भी 'अंशितत्पुरुष' और 'कर्मधारय' दोनों में 'भर्तुसन्ध्यादेरण्' ६/३/८९ से 'भव' अर्थ में अण् प्रत्यय होगा और 'पूर्वशैशिरम्' बनेगा ।

आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने इस बात का खंडन किया है । उनका कहना है कि 'पूर्वा' और 'वर्षा' शब्दों का जब 'पूर्वापरप्रथमचरम'-३/१/१०३ से कर्मधारय समास होगा तब 'पूर्व' शब्द पूर्वावयवत्रसम्बन्धनिमित्तक है किन्तु वस्तुतः अवयववाचक नहीं है । अतः उसमें अवयवत्व आता नहीं है इसलिए उससे तदन्तविधिरूप 'वर्षाकालेभ्यः' ६/३/८० से 'इकण्' प्रत्यय भी नहीं होगा । किन्तु उनका यह तर्क उचित नहीं है क्योंकि आ. श्रीहेमचंद्रसूरिजी ने जिस प्रकार से, कर्मधारय समास में 'पूर्व' आदि शब्दों का अवयवत्व बताया है ठीक उसी प्रकार से श्रीहेमहंसगणि ने भी उसको स्वीकार किया है । उसके प्रमाण के रूप में इतना बताना पर्याप्त है कि, स्वयं श्रीहेमचन्द्राचार्यजी द्वारा बनायी गई श्रीसिद्धहेमबृहद्वृत्ति में 'अंशादृतोः' ७/४/१४ सूत्र की वृत्ति में 'पूर्वासु वर्षासु भवः पूर्ववार्षिकः' इस प्रकार से समास बताया है और यहाँ भी उन्होंने 'पूर्व' शब्द के अवयवत्व का स्वीकार किया है।

दूसरी बात 'पूर्वासु ऋत्वन्तैर्व्यवहितासु वर्षासु भवः पौर्ववार्षिकः' प्रयोग में जो 'काललक्षण इकण्' प्रत्यय किया है, उसको श्रीलावण्यसूरिजी स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु यह बात सिर्फ श्रीहेमहंसगणि ने ही बतायी है, ऐसा नहीं है । आ. श्रीहेमचंद्रसूरिजी ने भी 'अंशाहतोः' ७/४/१४ की वृत्ति में भी इस प्रकार बताया है, अतः हमें भी इसको स्वीकार करना चाहिए क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रत्येक सूत्रकार लक्ष्य की सिद्धि करने के लिए ही प्रयत्न करते हैं तथा उनके समय में और उनके पूर्व भी इस तरह के प्रयोग प्रचलित होंगे । अतः उन सबका संग्रह करना जरूरी होने से 'पूववर्षा' शब्द से 'काललक्षण इकण्' प्रत्यय किया है क्योंकि न्यास में बताया है उसी तरह 'ग्रहणवता नाम्ना - ॥१८॥' न्याय की प्राप्ति नहीं है, तथा 'तदन्तविधि' का निषेध भी नहीं होता है; इसलिए 'इकण्' प्रत्यय होता है, किन्तु 'अंशाहतोः' ७/४/१४ से उत्तरपद की वृद्धि नहीं होती है क्योंकि वहाँ 'पूर्व' आदि शब्द अंशवाचक नहीं है । संक्षेप में श्रीलावण्यसूरिजी सिर्फ 'वर्षा' शब्द को कालवाचक मानते हैं किन्तु 'पूर्ववर्षा' शब्द को कालवाचक नहीं मानते हैं, जबकि श्रीहेमचन्द्राचार्यजी 'पूर्ववर्षा' शब्द को भी कालवाचक मानते हैं ।

पाणिनीय परम्परा में यह न्याय, 'येन विधिस्तदन्तस्य' [पा.सू. १/१/६९] के वार्तिक 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' के अपवाद स्वरूप और उसके द्वारा निषिद्ध 'तदन्तविधि' के प्रतिप्रसव रूप में बनाये हुए वार्तिक के रूप में है, अतः वहाँ पर कोई ज्ञापक की अपेक्षा नहीं है ।

पूर्व के - सुसर्वार्द्ध - न्याय और इसी न्याय का फल दोनों परंपरा में समान ही है ।

भोज व्याकरण और हैम व्याकरण के अलावा अन्य किसी भी परम्परा में इस सिद्धांत का न्याय (परिभाषा) के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है ।

॥४॥ स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुताः ॥

ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदेश स्वर के ही होते हैं ।

ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत आदेश स्वर के ही होते हैं किन्तु व्यञ्जन के नहीं होते हैं ।

ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, आदेश, कहाँ पर (किन के) होते हैं यह स्पष्ट रूप से बताया नहीं है, अतः स्वर की तरह व्यञ्जन के स्थान पर भी ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदेश होने की संभावना है, उसका निषेध करने के लिए यह न्याय है । उदा. सह श्रिया सश्रि कुलम् । यहां 'श्री' के 'ई' का 'क्लीबे' २/४/९७ से ह्रस्व इ होगा, किन्तु व्यञ्जन का ह्रस्व नहीं होगा । उदा. तत् । यदि यह न्याय न होता तो 'क्लीबे' २/४/९७ से 'तत्' के त् का ('लृवर्ण, तवर्ग, ल' और 'स' दन्त्य होने से) आसन्न ह्रस्व 'लृ' होता ।

'प्रत्यञ्चन्ति इति क्विपि प्रत्यञ्चः तान् प्रतीचः'। यहाँ 'अच्च् प्राग्दीर्घश्च' २/१/१०४ सूत्र से 'अच्' का 'च्' आदेश होने पर 'प्रति' का 'इ' दीर्घ होगा, किन्तु 'दृषदमञ्चन्ति इति क्विपि, तान् दृषच्चः' में 'अच्च् प्राग्दीर्घश्च' २/१/१०४ से 'अच्' का 'च्' आदेश होने के बाद पूर्व के 'द्' का

ऊपर बताये हुए तरीके से आसन्न 'लृ' नहीं होगा ।

'हे चैत्र ३ एहि ।' यहाँ 'अ कार' का 'दूरादामन्त्र्यस्य गुरुर्वैकोऽनन्त्योऽपि लनृत्' ७/४/९९ सूत्र से 'प्लुत' आदेश होगा, बाद में 'प्लुतोऽनितौ' १/२/३२ से 'असन्धि' होगी । 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' सम्बन्धी विधि में प्रायः सर्वत्र 'स्थानी' का ग्रहण नहीं किया है, अतः 'ह्रस्वविधि' और 'दीर्घविधि' सर्वत्र 'स्वर' सम्बन्धी ही होती है तथा 'स्वर' रूप स्थानी अनुक्त है, वह इस न्याय का ज्ञापक है ।

'प्लुत' अंश में कोई ज्ञापक सूत्र नहीं है क्योंकि 'प्लुतविधि' के सूत्र 'सम्मत्यसूयाकोप-कुत्सनेष्वाद्यामन्त्र्यमादौ स्वरेष्वन्त्यश्च प्लुतः' ७/४/८९ सूत्र में 'स्वर' रूप स्थानी उक्त ही है, तो इस न्याय में 'प्लुत' का विधान क्योंकिया ?

ह्रस्व, दीर्घ के साहचर्य मात्र से ही यहाँ 'प्लुत' का ग्रहण किया है । यहाँ उदाहरण देने की भी कोई आवश्यकता नहीं थी किन्तु 'प्लुत' का स्थान रिक्त न रह पाये, इस लिए ही उदाहरण दिया है या तो अन्य वैयाकरण, जिन्होंने इस न्याय को ध्यान में रखते हुए, यदि 'प्लुतविधि' सूत्र में 'स्वर' रूप स्थानी का ग्रहण न किया हो, उन के मतानुसार / अभिप्रायानुसार 'प्लुत' के अंश में स्थानी का अनुपादान बताना है । ये सब न्यायसूत्र भिन्न-भिन्न व्याकरण और वैयाकरण के लिए सर्वमान्य हैं, अतः इस न्याय में 'प्लुत' का ग्रहण अनर्थक नहीं है ।

यह न्याय, 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ परिभाषा का अपवाद है या अन्य कोई परिभाषा का अपवाद है या तो स्वतंत्र परिभाषा (न्याय) है, इसके बारे में आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने विस्तृत विवेचन करके सिद्ध किया है कि यह परिभाषा (न्याय) 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ या अन्य कोई भी परिभाषा का अपवाद नहीं है किन्तु स्वतंत्र परिभाषा ही है और जहाँ जहाँ सूत्र में स्थानी 'स्वर' उक्त न हो, वहाँ ह्रस्व, दीर्घ आदि आदेश, स्वर के ही होते हैं, ऐसा यह न्याय कहता है ।

इस न्याय के प्रदेश अर्थात् कहाँ-कहाँ इसका उपयोग होता है, उसकी चर्चा करते हुए श्री-लावण्यसूरिजी ने 'केचित्तु' शब्द द्वारा श्रीहेमहंसगणि और अन्य का अभिप्राय बताते हुए कहा है कि 'प्रतक्ष्य' आदि प्रयोग में अर्द्धमात्रावाले दो व्यञ्जन इकट्ठे हो कर, एक मात्रा होने पर ह्रस्व संज्ञा हो सकती है किन्तु ह्रस्व संज्ञा भी स्वर की ही होती है ऐसा इस न्याय से सूचित होने से 'क्ष्' में एक-मात्रत्व होने पर भी ह्रस्व संज्ञा नहीं होगी और ह्रस्व संज्ञा निर्दिष्ट 'ह्रस्वस्य तः पित्कृति' ४/४/११३ से 'त्' का आगम नहीं होगा । तथा 'तितउ' जैसे शब्द में अ तथा उ रूप स्वरसमुदाय में द्विमात्रत्व होने पर भी दीर्घ संज्ञा नहीं होगी और 'तितउच्छत्रम्' जैसे प्रयोग में दीर्घसंज्ञानिर्दिष्ट 'अनाङ्माङो दीर्घाद् वा च्छः' १/३/२८ से छ के द्वित्व में विकल्प नहीं होगा क्योंकि इस न्याय में 'स्वरस्य' शब्द में एकवचन प्रयुक्त है, अतः एक ही वर्ण में ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, या प्लुतत्व गुण आता है किन्तु वर्णसमुदाय में ह्रस्वत्व आदि कोई गुण नहीं आता है । यह बात श्रीहेमहंसगणि ने 'न्यायसंग्रह' के न्यास में इस न्याय के फल स्वरूप बतायी है ।

जबकि दूसरे कुछेक कहते हैं कि इस न्याय का क्षेत्र जहाँ स्थानी अनुक्त है ऐसे ह्रस्वादि विधायक सूत्र ही हैं अर्थात् जहाँ ह्रस्वादि आदेश होनेवाले हैं किन्तु स्थानी बताया न हो वहाँ स्वर

को ही स्थानी माना जाय, किन्तु व्यञ्जन को स्थानी न माना जाय । इस प्रकार ह्रस्वादि विधायक सूत्र में ही इस न्याय की आवश्यकता है, यह बात, इस न्याय की वृत्ति से भी स्पष्ट होती है ।[१] अतः 'प्रतक्ष्य' में 'त्' का आगम और 'तितउच्छत्रम्' में द्वित्व के विकल्प ह्रस्वादि विधान विषयक नहीं है किन्तु ह्रस्वादि संज्ञा निर्दिष्टकार्यविषयक है, अतः इन प्रयोगो में इस न्याय की आवश्यकता की चर्चा करना व्यर्थ है ।

कुछेक के मतानुसार/अभिप्रायानुसार इस न्याय की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि ह्रस्वादि संज्ञाविधायक व्याकरण के सूत्रानुसार ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञा स्वर की ही होती है, किन्तु व्यञ्जन की नहीं होती, अत एव सिद्धहेम के ह्रस्वादि संज्ञा विधायक 'एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः' १/१/५ सूत्र में व्यञ्जनसमूहों को स्वरसमूह से अलग करने के लिए, पूर्व के 'औदन्ताः स्वराः' १/१/४ सूत्र से 'औदन्ताः' शब्द/पद की अनुवृत्ति की गई है । तथा पाणिनीय परम्परा में 'ऊकालोऽच्‌ ह्रस्वदीर्घप्लुताः' [पा.सू. १/२/२७] सूत्र भी इसी बात का समर्थन करता है । अतः इस न्याय को ह्रस्वादि संज्ञा विषयक भी कहा जा सकता है । यद्यपि पाणिनीय परम्परा में 'नाऽज्झलौ' [पा.सू. ....] सूत्र के अनुसार स्वर को व्यञ्जन के साथ 'सवर्ण' संज्ञा नहीं होती है । इसी बात की सिद्धि इस न्याय से होती है । यदि दोनों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा हो जाती तो, स्वर के स्थान में व्यञ्जन और व्यञ्जन के स्थान में स्वर होने की आपत्ति आ जाती, इस आपत्ति को, इस न्याय से दूर की गई है ।

किन्तु महाभाष्य में 'नाऽज्झलौ' [पा. सू. ....] सूत्र का खंडन किया गया है, इस प्रकार इस न्याय का भी खंडन या व्यर्थता प्रतिपादित की जा सकती है, किन्तु इस न्याय को केवल ह्रस्वादि संज्ञा के विषय को स्पष्ट करनेवाला और 'एकद्वित्रिमात्रा'- १/१/५ सूत्र का अनुवाद ही मानना चाहिए ।

तथा इस न्याय का कोई विशिष्ट ज्ञापक नहीं है, अतः इसे वाचनिकी परिभाषा या लोकसिद्ध परिभाषा मानना चाहिए ।

भोज के अलावा अन्य किसी भी व्याकरण में इसका न्याय (परिभाषा) के स्वरूप में स्वीकार नहीं किया गया है ।

पाणिनीय परम्परा में इसी अर्थ में 'अचश्च' (पा.सू.१/२/२८) परिभाषा सूत्र है ।

॥ ५ ॥ आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥

जहाँ एक ही वर्ण या शब्द हो, वहाँ वह आदि भी माना जाता है और अन्त भी ।

जहाँ एक ही वर्ण या शब्द/नाम हो, और कार्य 'आदि' सम्बन्धी या अन्त सम्बन्धी करने का विधान किया है, वहाँ वही वर्ण या शब्द को आदि और अन्त मानकर कार्य करना चाहिए । जहाँ कार्य की अप्राप्ति थी वहाँ कार्य की प्राप्ति के लिए यह न्याय है । [इस के बाद का न्याय भी जहाँ

१. स्थानिविशेषानुक्त्या स्वरवद् व्यञ्जनस्यापि ह्रस्वाद्यादेशप्रसङ्गे प्रतिषेधार्थोऽयं न्यायः ॥

कार्य की अप्राप्ति है वहाँ कार्यकी प्राप्ति के लिए है ।] यहाँ आदि में आये हुए वर्ण सम्बन्धी कार्य इस प्रकार हैं ।

'ईहाञ्चक्रे' आदि में धातु के आद्य वर्ण (स्वर) 'गुरु नामी' है, इस लिए परोक्षा में 'गुरुनाम्यादेरनृच्छूर्णोः' ३/४/४८ सूत्र से आम् होगा । इस प्रकार 'ईङ्च् गतौ' धातु में 'नामी दीर्घ' स्वर ही है, इसे भी 'नाम्यादि' धातु मानकर परोक्षा में 'अयाञ्चक्रे' रूप सिद्ध करने के लिए 'गुरुनाम्यादेरनृच्छूर्णोः' ३/४/४८ से 'आम्' होगा । वैसे नाम/शब्द सम्बन्धी कार्य इस प्रकार है । 'इन्द्रे' १/२/३० सूत्र में 'सप्तम्या आदिः' ७/४/११४ परिभाषा सूत्र से, 'इन्द्रे' का अर्थ 'इन्द्र-शब्द जिस के आदि में है, ऐसे शब्द बाद में/पर में आये हों तो' करने पर, लघु न्यासकार की इसी व्याख्यानुसार 'इन्द्रयज्ञ' इत्यादि शब्द पर में आने पर ही 'गो' के 'ओ' का 'अव' आदेश होता है और 'गवेन्द्रयज्ञ' आदि शब्द बनते हैं, किन्तु 'गवेन्द्र' आदि शब्द की सिद्धि नहीं हो सकती, किन्तु इस न्याय से 'इन्द्र' शब्द में आदित्व मानकर 'गो' के 'ओ' का 'अव' आदेश सिद्ध होता है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'य स्वरे पादः पदणिक्यघुटि' २/१/१०२ में 'णि' का वर्जन है । इस सूत्र में 'णि' का वर्जन किया है, वह सूचित करता है कि 'णि' को 'स्वरादि' माना गया है । यदि वह 'णि' केवल स्वर होने से, इस न्याय के अभाव में 'णि' को स्वरादि माना गया न होता तो प्रसंगाभाव से 'णि' का वर्जन न किया होता ।

इस न्याय का आद्यांश 'आदिवदेकस्मिन्' अनित्य होने से 'ईयते' धातु को 'नाम्यादिगुरु' न मानकर 'परोक्षा' में 'आम्' के अभाव में 'ईये, ईयाते, ईयिरे' इत्यादि रूप भी होते हैं ।

एक स्वरवाले धातु या शब्द को स्वरान्त मानने की कल्पना इस प्रकार है -: जैसे 'जेता' इत्यादि प्रयोग में धातु 'नाम्यन्त' होने से 'नामिनो गुणोऽक्ङिति'४/३/१ से 'गुण' होगा, वैसे 'एता' इत्यादि रूप में भी धातु केवल 'नामी' स्वर रूप होने पर भी इसे 'नाम्यन्त' मानकर 'नामिनो गुणोऽक्ङिति' ४/३/१ से 'गुण' होगा ।

नाम/शब्द के सम्बन्ध में उदाहरण इस प्रकार है । 'सर्वादेः स्मैस्मातौ' १/४/७ सूत्र में 'सर्वादि' शब्द 'स्यादि' अधिकार में आया है, इस लिए वह 'विशेषण' बन जाता है, अत एव 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा सूत्र से, न्यासकार की व्याख्यानुसार 'सर्वाद्यन्त' ऐसे 'परमसर्व' इत्यादि शब्द से ही 'स्मै, स्मात्' आदि आदेश रूप प्रत्यय होते हैं, किन्तु इस न्याय से केवल 'सर्व' शब्द को भी 'सर्वाद्यन्त' मानकर 'स्मै, स्मात्' आदि आदेश रूप प्रत्यय होंगे । इस प्रकार 'परमसर्वस्मै' इत्यादि रूप की तरह 'सर्वस्मै' आदि रूप भी सिद्ध होंगे ।

इस न्याय का 'अन्तवदेकस्मिन्' अंश का ज्ञापक 'ह्विणोरप्विति व्यौ' ४/३/१५ सूत्र है । इस सूत्र में 'इण्' धातु के 'इ' का 'य्' करने का विधान है । 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये' २/१/५० सूत्र से 'इ' वर्णान्त के 'इ' का 'इय्' आदेश होता है । यदि 'इण्' धातु केवल इकार रूप होने से इसे 'इवर्णान्त' न माना गया होता तो 'इय्' आदेश ही नहीं होता, तो 'इय्' आदेश का बाध

करनेवाला 'ह्विणोरप्विति व्यौ' ४/३/१५ सूत्र क्यों बनाया गया ? किन्तु यही सूत्र बनाया, वह इस बात को सूचित करता है कि यहाँ 'इण्' को इवर्णान्त माना गया है, अतः 'इय्' आदेश का बाध करने के लिए 'ह्विणोरप्विति व्यौ' ४/३/१५ सूत्र बनाया है ।

इस न्याय के 'अन्तवदेकस्मिन्' रूप द्वितीय अंश में कोई अनित्यता मालूम नहीं देती ।

यहाँ 'एक' शब्द असहायवाचक मानना चाहिए, अर्थात् जिस वर्ण या शब्द के आगे और पीछे कोई भी वर्ण या शब्द न हो ऐसा वर्ण या शब्द यहाँ लेना ।

आदि, इसे कहा जाता है कि जिस के पूर्व में कोई भी वर्ण या शब्द न हो, किन्तु पर में वर्ण या शब्द हो तो, ऐसा वर्ण या शब्द 'आदि' में रहा हुआ कहा जाता है और जिस वर्ण या शब्द के पर में कोई वर्ण या शब्द न हो, किन्तु पूर्व में कोई वर्ण या शब्द हो तो, इसे 'अन्त' कहा जाता है । जहाँ केवल एक ही वर्ण या शब्द हो, वहाँ पर में कोई वर्ण या शब्द न होने से 'आदि' नहीं कहा जाता है, तथा पूर्व में कोई वर्ण या शब्द न होने से 'अन्त' भी नहीं कहा जाता है, अतः इस वर्ण या शब्द को 'आदि' वर्ण या शब्द सम्बन्धी होनेवाला कार्य तथा 'अन्त्य' वर्ण या शब्द सम्बन्धी होनेवाला कार्य नहीं हो सकता । उसी कार्य (की प्राप्ति) के लिए यह न्याय है, अतः जहाँ केवल एक ही वर्ण या शब्द है, वहाँ इससे 'आदि' वर्ण या शब्द सम्बन्धी तथा 'अन्त्य' वर्ण या शब्द सम्बन्धी कार्य होता है ।

और यही बात पाणिनीय परम्परा के 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' [पा. सू. १/१/२१] सूत्र के महाभाष्य में बतायी गई है ।

आ. श्रीलावण्यसूरिजी के कथनानुसार यह न्याय लोकसिद्ध होने से ज्ञापक की अपेक्षा नहीं है तथा पाणिनीय व्याकरण में यह न्याय सूत्र रूप में पठित होने से वहाँ भी ज्ञापक की कोई आवश्यकता नहीं है तथापि श्रीहेमहंसगणि ने जो ज्ञापक बताये हैं, वे इस न्याय को अधिक दृढ (सुदृढ) बनाने के लिए ही हैं ।

महाभाष्य में विविध/ बहुत से दृष्टान्त दे कर यह न्याय लोकसिद्ध है ऐसा बताया गया है । इसमें से एक दृष्टान्त इस प्रकार है - किसी व्यक्ति को बहुत से पुत्र होने पर ही, इसमें से यह बड़ा, प्रथम यह दूसरा, यह छोटा/तृतीय ऐसा भेद हो सकता है, जब किसी व्यक्ति को सिर्फ एक ही पुत्र होता है तो, बडा भी वह, छोटा भी वह और मँझला भी वह कहलाता है । वैसे जहाँ एक ही वर्ण या शब्द हो, वहाँ वही वर्ण या शब्द, 'आदि' भी कहलाता है और 'अन्त' भी ।

इस न्याय के प्रथमांश 'आदिवद्' में अनित्यता बताते हुए श्रीहेमहंसगणि ने कहा है कि 'आदित्व' की कल्पना से 'ई' धातु को 'गुरुनाम्यादि' मानकर 'परोक्षा' का 'आम्' आदेश होकर 'अयाञ्चक्रे' रूप होगा किन्तु जब 'ई' में आदित्व नहीं मानेंगे तब 'आम्' आदेश नहीं होगा और 'ईये, ईयाते, ईयिरे' इत्यादि रूप होंगे । यह बात आ. श्रीलावण्यसूरिजी को मान्य नहीं हैं । वे कहते

हैं कि सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में केवल 'अयाञ्चक्रे' रूप दिया है, अतः 'अप्रतिषिद्धं सम्मतं भणति' न्याय से 'ईये, ईयाते, ईयिरे' इत्यादि रूप, सूत्रकार आचार्यश्री को मान्य हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता है और इसके लिए इस न्यायांश के अनित्यत्व की कल्पना भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि एक ही लक्ष्य में नित्यत्व और अनित्यत्व, दोनों की कल्पना करना उपयुक्त नहीं है ।

जबकि श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यद्यपि 'गुरुनाम्यादे' -३/४/४८ सूत्र के न्यास में 'ईये, ईयाते, ईयिरे' आदि रूप अन्य वैयाकरण सम्मत हैं, ऐसा बताया है तथापि सूत्रकार आचार्यश्री को यह रूप सम्मत ही है, ऐसे स्वरूप में यहाँ उन रूपों का कथन किया गया है । यदि आचार्यश्री को अन्य वैयाकरण का मत मान्य न होता तो, 'ईये, ईयाते, ईयिरे' रूपों को, 'अपप्रयोग' या 'असाधु' प्रयोग कह दिया होता, जैसे 'माघ' काव्य में 'व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्' पंक्तिगत 'द्वयेषां' पाठ, 'अपपाठ' है ऐसा सूत्रकार आचार्यश्री ने 'अवर्णस्यामः साम्' १/४/१५ सूत्र की वृत्ति में बताया है ।

तथा श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने साहित्य में प्रयुक्त सब प्रकार के प्रयोगों का अपने 'शब्दानुशासन' में संग्रह किया है, अतः अन्य व्याकरण परम्परा-सम्मत भिन्न-भिन्न प्रयोगों को भी उन्होंने 'इति केचित्', 'इत्यन्ये', 'इत्येके' आदि शब्दों द्वारा अपने 'शब्दानुशासन' में संगृहीत किये हैं और सर्वमान्य या अतिप्रचलित प्रयोगों को सूत्र में भी स्थान दिया है । वस्तुतः अन्य व्याकरण से साधु किन्तु अपने व्याकरण से असाधु हो ऐसे प्रयोग स्वयं सूत्रकार आचार्यश्री को यदि मान्य न होते तो इसे वृत्ति में भी न देते ।

बल्कि सूत्रकार आचार्यश्री ने सूत्र में भी अन्य व्याकरण से सिद्ध होनेवाले प्रयोगों को स्थान दिया है । उदा. 'पुनरेकेषाम्' ४/१/१० । यहाँ आचार्यश्री के अपने अभिप्रायानुसार अनेक स्वरवाले धातु के आद्य एक स्वरवाले अंश का एक बार द्वित्व होने के बाद पुनः द्वित्व नहीं होता है, किन्तु अन्य वैयाकरण के मतानुसार आद्य एक स्वरवाले अंश का एक बार द्वित्व होने के बाद पुनः द्वित्व होता है और आचार्यश्री ने इसको मान्य भी किया है ।

संक्षेपमें 'ईये' आदि प्रयोग आचार्यश्री को भी अंशतः सम्मत है ही किन्तु असम्मत नहीं है ।

तदुपरांत कुछेक के अभिप्रायानुसार 'आदि' और 'अन्त' की व्याख्या ही बदल देने पर, इस न्याय की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी । उनके मतानुसार 'आदि' उसे कहा जाता है जिसके पूर्व में कुछ न हो, और 'अन्त्य' उसे कहा जाता है जिसके बाद में कुछ न हो । इस प्रकार व्याख्या करने से जहाँ केवल एक ही वर्ण या शब्द है वहाँ वह वर्ण या शब्द 'आदि' और 'अन्त' दोनों कहा जाता है ।

इसी प्रकार एक ही वर्ण या शब्द में 'आदिवद्' और 'अन्तवद्' व्यवहार लोक से और व्यपदेशिवद्भाव से सिद्ध हो सकता है तथापि वही व्यवहार मुख्य नहीं किन्तु गौण होने से, 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' ॥ न्याय से उसका निषेध होने से, इस न्याय का कथन करना अनिवार्य है ।

श्रीहेमहंसगणि 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' की व्याख्या करते हुए 'न्यायसंग्रह' के 'न्यास' में कहते हैं कि पूर्व की वृत्तियों में इस न्याय की व्याख्या इस प्रकार की गई है -: 'एकस्मिन्नपि सत्याद्यन्तयोरिव सतोः कार्यं पर्यालोच्यते ।' इसका भावार्थ इस प्रकार है -: जहाँ एक ही वर्ण या शब्द हो, किन्तु कार्य 'तदादि' सम्बन्धी या 'तदन्त' सम्बन्धी कहा हो, वहाँ उसी वर्ण या शब्द 'आदि' और 'अन्त्य' न होने पर भी उसे 'तदादि' या 'तदन्त' सम्बन्धी कार्य होता है । 'अनातो नश्चान्त....' ४/१/६९ सूत्र के न्यास में भी इसी व्याख्यानुसार दृष्टान्त/उदाहरण दिया है/जैसे 'ऋ' धातु के अन्त में कुछ नहीं है तथापि कुछ है ऐसी विवक्षा करने पर वह 'ऋदादि' कहलाता है और जब 'ऋ' धातु के पूर्व में कुछ नहीं होने पर भी कुछ है, ऐसी विवक्षा करने पर वह 'ऋदन्त' कहलाता है ।

यहाँ इस प्रकार 'आद्यन्तवद्' पद 'मतु' प्रत्ययान्त है और वह 'मन्तव्यम्' पद रूप क्रिया का सूचक है किन्तु वह अध्याहार है । समग्र अर्थ / तात्पर्यार्थ यह है कि जहाँ एक ही वर्ण या शब्द हो वहाँ वह वर्ण या शब्द को 'आदि' और 'अन्त' सहित मानना चाहिए ।

जबकि श्रीहेमहंसगणि अपनी व्याख्या बताते हुए कहते हैं कि यहाँ 'आद्यन्त' पद को 'स्यादेरिवे' ७/१/५२ से 'वत्' प्रत्यय लगने पर 'आद्यन्तवद्' होता है । वे कहते हैं कि इन दोनों व्याख्याओ में से, विद्वानों को जो व्याख्या सही लगे उसका वे स्वीकार करें ।

किन्तु आ.श्रीलावण्यसूरिजी ने इन दोनों व्याख्याओं में से पूर्व की व्याख्या का पूर्णतः खंडन किया है । उनके अभिप्रायानुसार 'आद्यन्तवद्' में 'मतु' प्रत्यय नहीं है । जबकि दूसरी व्याख्या के लिए वे कहते हैं कि 'आद्यन्तवद्' अलग करने पर 'आदिवद् एकस्मिन्' और 'अन्तवद् एकस्मिन्' होता है । यहाँ 'आदि' और 'अन्त' , दोनों पद प्रथमान्त हो ऐसा मालूम देता है और 'एकस्मिन्' पद सप्तम्यन्त है । यहाँ उपमान और उपमेय दोनों में समान विभक्ति होनी चाहिए । अतः 'आदि' और 'अन्त' दोनों को सप्तम्यन्त करने पर 'आदाविव एकस्मिन्' और 'अन्त इव एकस्मिन्' करने पर, 'स्यादेरिवे ७/१/५२ से 'वत्' प्रत्यय होने के बजाय 'तत्र' ७/१/५३ से वत् प्रत्यय होगा जब उपमान और उपमेय में एक समान विशिष्ट क्रिया का निर्देश होता है तब ही 'स्यादेरिवे' ७/१/५२ से, 'वत्' प्रत्यय होता है । यहाँ इस प्रकार का विशिष्ट क्रियासाम्य नहीं है, अतः 'स्यादेरिवे' ७/१/५२ से 'वत्' प्रत्यय न हो कर 'तत्र' ७/१/५३ से केवल सप्तम्यन्त शब्द से होनेवाला 'वत्' प्रत्यय होगा, अतः 'आद्यन्तवद्' को 'वत्' प्रत्ययान्त बताया वह बराबर है किन्तु, इसके लिए 'स्यादेरिवे' ७/१/५२ सूत्र का निर्देश किया वह उपयुक्त नहीं है ।

एक बात यह और विशेष ध्यान देने योग्य है कि कुछेक इस न्याय को केवल वर्ण सम्बन्धी ही मानते हैं, जबकि श्रीहेमहंसगणि न्यासकार की व्याख्यानुसार, इस न्याय को वर्ण और शब्द दोनों सम्बन्धी मानते हैं ।

आ. श्रीलावण्यसूरिजी के मतानुसार 'न्यायसंग्रह' और सिद्धहेम में 'नाम' के विषय में 'अन्तवद्भाव' का उदाहरण 'सर्वस्मै' दिया है, वह सही है (यद्यपि मेरी दृष्टि से वह सही नहीं है ।) और इसकी समझ इसी प्रकार है -: 'ङे' प्रत्यय का 'स्मै' आदेश 'सर्वादेः स्मैस्मातौ' १/४/७ से

होता है । जैसे 'अत आः स्यादौ जस्भ्याम्ये' १/४/१ से विहित 'स्यादि' प्रत्यय 'नाम' से ही होता है, अतः वहाँ जैसे 'नाम्नः' पद अध्याहार माना गया हे, वैसे यहाँ भी 'सर्वादेः' शब्द से 'नाम्नः' और 'षष्ठ्यन्तं' दोनों पद उपस्थित होते हैं, अतः 'सर्वादेः' और 'नाम्नः' दोनों के बीच विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध स्थापित होता है और 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा से 'सर्वादि' शब्द जिसके अन्तमें आता है ऐसे 'परमसर्व' आदि शब्द से विहित 'ङे' प्रत्यय का 'स्मै' आदेश होगा और 'परमसर्वस्मै' आदि रूप होंगे, अतः 'परमसर्वस्मै' मुख्य उदाहरण होगा, जब की इस न्याय के आधार पर 'अन्तवद् एकस्मिन्' मानकर केवल 'सर्वादि' शब्द से भी, जैसे 'परमसर्वस्मै' में 'स्मै' आदेश होता है, वैसे, 'सर्वस्मै' आदि में भी 'स्मै' आदेश होता है, किन्तु वह न्याय आधारित होने से गौण माना जायेगा, ऐसा आ.श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं ।

किन्तु दूसरी तरह से तो 'परमसर्वस्मै' रूप भी 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा से निष्पन्न होने से वह भी गौण ही माना जायेगा, मुख्य नहीं । जबकि 'सर्वस्मै' आदि रूप में 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा से निष्पन्न न होने से 'सर्वस्मै' रूप मुख्य बनता है ।

आ.श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने भी स्वरचित बृहद्वृत्ति में मुख्य रूप से 'सर्वस्मै, सर्वस्मात्' रूप ही दिये हैं और गौणतया 'परमसर्वस्मै, परमसर्वस्मात्', रूप दिये हैं । उन्होंने ये रूप सिद्ध करने के लिए परिभाषा का उपयोग बताया नहीं है । यद्यपि न्यासकार ने न्यास में इन रूपो की सिद्धि करते हुए दो विकल्प प्रस्तुत किए हैं - : (१) 'स्याद्याक्षिप्तस्य नाम्नः सर्वादिविशेषणात् विशेषणेन तदन्तविधेर्भावात्' (२) 'न सर्वादिः' १/४/१२ इति निषेधाद् वा'

प्रथम विकल्प में ऊपर बताया उसी प्रकार से 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा का उपयोग सूचित होता है । जबकि दूसरा विकल्प कहता है कि द्वन्द्व समास में 'सर्वादि' शब्द को 'सर्वादि' नहीं मानना चाहिए अर्थात् द्वन्द्व समास से भिन्न कर्मधारय आदि समास में आये हुए 'सर्वादि' शब्दों को 'सर्वादि' निर्दिष्ट कार्य होते हैं, अतः जैसे 'सर्वस्मै' में 'ङे.' का 'स्मै' आदेश होता है वैसे 'परमसर्वस्मै' आदि में भी 'ङे' प्रत्यय का 'स्मै' आदेश होगा ।

प्रथम विकल्पानुसार 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा का उपयोग करने पर 'सर्वस्मै' रूप की सिद्धि करने के लिए इस न्याय का उपयोग अनिवार्य बन जाता है और परिणामतः 'परमसर्वस्मै' रूप मुख्य होगा और 'सर्वस्मै' रूप गौण होगा । ऐसा न करके 'न सर्वादिः' १/४/१२ सूत्र के आधार पर 'परमसर्वस्मै' रूप सिद्ध करने से आ.श्रीहेमचन्द्रसूरिजी द्वारा निर्दिष्ट उदाहरणों की मुख्यता और गौणता सुसंगत होती है ।

संक्षेप में 'नाम' के सम्बन्ध में 'अन्तवद्भाव करने की कोई आवश्यकता नहीं है । 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ की बृहद्वृत्ति तथा न्यास में भी 'नाम' सम्बन्धी कोई उदाहरण नहीं है ।

पाणिनीय व्याकरण में भी इस न्याय का अपवाद स्वरूप 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' न्याय बताया गया है, अतः 'नाम' के विषय में इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है और परिणामतः वहाँ भी 'सर्वस्मै' इत्यादि रूप होने में कोई आपत्ति नहीं आती है; कोई बाधा नहीं आती है ।

इसी प्रकार से 'आदिवद् एकस्मिन्' अंश में भी 'नाम' का ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है । यद्यपि श्रीहेमहंसगणि ने स्पष्ट रूप से बताया है कि 'नाम' सम्बन्धी दोनों उदाहरण, न्यासकार की मान्यतानुसार दिये गये हैं, किन्तु सूत्रकार आचार्यश्री के अपने वचन इनके बारे में क्या कहते हैं, इसकी जाँच करनी है । न्यासकार ने जैसे 'गवेन्द्र' में 'इन्द्रे' १/२/३० सूत्र से 'ओ' का 'अव' आदेश किया है, वैसे 'गवेन्द्रयज्ञ' में भी 'सप्तम्या आदिः' ७/४/११४ परिभाषा के आधार पर 'इन्द्राद्रौ शब्दे परे' इस प्रकार सूत्र का अर्थ करके, 'ओ' का 'अव' आदेश किया है । किन्तु बहुत विचार करने पर आ.श्रीलावण्यसूरिजी का कथन सत्य प्रतीत होता है क्योंकि सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में 'इन्द्रे' १/२/ ३०, सूत्र की वृत्ति में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'इन्द्रशब्दस्थे स्वरे परे', अतः न्यासकार की व्याख्यानुसार 'इन्द्रादौ शब्दे परे' अर्थ करना उपयुक्त नहीं है और 'सप्तम्या आदिः' ७/४/११४ परिभाषा भी केवल वर्ण सम्बन्धी है, 'नाम' सम्बन्धी नहीं है, क्योकि उस परिभाषा के उदाहरण स्वरूप सूत्र (१) 'इन् ङी स्वरे लुक् १/४/७९ (२) द्व्युक्तोपान्त्यस्य शिति स्वरे ४/३/१४ (३) उत औविति व्यञ्जनेऽद्वेः ४/३/५९ आदि का विषय भी वर्ण सम्बन्धी ही है और प्रत्येक उदाहरण वर्ण का ही दिया गया है, और 'इन्द्रशब्दस्थे स्वरे परे' कहने से 'इन्द्रयज्ञ' शब्द में भी 'इन्द्र' शब्द सम्बन्धी स्वर होने से 'सप्तम्या आदिः' ७/४/११४ परिभाषा या इस न्याय के बिना ही 'ओ' का 'अव' आदेश सिद्ध हो सकता है ।

संक्षेप में यह न्याय पूर्णतः वर्ण सम्बन्धी है, किन्तु शब्द सम्बन्धी नहीं है तथा न्यासकार की व्याख्यानुसार नाम सम्बन्धी उदाहरण देना उपयुक्त नहीं है । सूत्रकार आचार्यश्री को यदि इस न्याय में वर्ण के साथ-साथ नाम भी अभिप्रेत होता तो, 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ और 'सप्तम्या आदिः' ७/४/११४ की बृहद्वृत्ति में कम से कम शब्द सम्बन्धी उदाहरण तो देते ही, किन्तु वैसे उदाहरण की अप्राप्ति से, ऐसा निश्चय करना या अनुमान करना उपयुक्त है और शायद यह अनुमान सत्य के अधिक निकट हो सकता है ।

पाणिनीय परम्परा में कहीं भी यह न्याय परिभाषा के रूप में बताया नहीं है । चान्द्र, कातन्त्र (दुर्गसिंहकृत वृत्ति और भावमिश्रकृत वृत्ति) कालाप और भोज परम्परा में यह न्याय है, जबकि जैनेन्द्र और शाकटायन में यह न्याय नहीं है । कहीं-कहीं 'व्यपदेशिवद्भाव एकस्मिन्' 'व्यपदेशिवद्-भावोऽप्रातिपदिकेन' स्वरूप में यह न्याय प्राप्त होता है ।

॥६॥ प्रकृतिवदनुकरणम् ॥

'अनुकरण' से प्रकृति की तरह कार्य होता है ।

जिसका अनुकरण होता है, वह 'धातु' इत्यादि को प्रकृति कही जाती है, और जो अनुकरण है, उससे प्रकृति की तरह कार्य होता है । उदा. 'परिव्यवात् क्रियः' ३/३/२७ में धातु के अनुकरण रूप 'क्री' का धातुवद्भाव होने से, धातु सम्बन्धी जो कार्य 'संयोगात्' २/१/५२ से 'ई' का 'इय्' आदेश होता है, वह अनुकरण रूप क्री धातु से भी होता है और प्रकृतिवद् करने से सर्वथा/पूर्णतः

धातुत्व नहीं होने से, 'त्यादि' प्रत्यय नहीं होता है, किन्तु 'स्यादि' प्रत्यय होंगे ।

इस न्याय का ज्ञापक 'परिव्यवात् क्रियः' ३/३/२७ सूत्र में प्रयुक्त 'क्रियः' रूप ही है । यदि यह न्याय न होता तो 'क्री' का 'क्रियः' रूप हो ही नहीं सकता और यह न्याय अनित्य होने से 'तदः सेः स्वरे पादार्था' १/३/४५ में 'तदः' के स्थान पर 'तस्मात्' शब्द का ही प्रयोग किया जाता । यह न्याय नित्य होता तो 'तस्मात्' शब्द का ही प्रयोग करना होता ।

प्रथम इस न्याय की बृहद्वृत्ति 'न्यायार्थमञ्जूषा' और 'स्वोपज्ञन्यास' देखने से एक बात स्पष्ट होती है कि इस न्याय की बृहद्वृत्ति पूर्णतः मिल नहीं पायी है किन्तु कुछ अंश बाकी रह जाता है क्योंकि 'न्यास' में 'वृत्ति' के विशिष्ट पदों की समझ दी गई है । और इस न्याय के 'न्यास' में 'शब्दार्थानुकरणमिति' कहकर 'शब्दार्थानुकरण' किसे कहा जाता है इसकी समझ दी गई है । किन्तु इस न्याय की छपी हुई वृत्ति में कहीं भी 'शब्दार्थानुकरणम्' शब्द नहीं हैं । अतः सामान्यतः ऐसा अनुमान हो सकता है कि श्रीहेमहंसगणि द्वारा विरचित मूल बृहद्वृत्ति में 'शब्दार्थानुकरणम् 'शब्द होगा, किन्तु किसी भी कारण से वह अंश लुप्त हो गया होगा, और इसी कारण से पश्चात्कालीन प्रतियों में इसकी प्रतिलिपि नहीं हुई होगी ।

इस न्याय के 'अनुकरण' शब्द की समझ देते हुए, श्रीहेमहंसगणि 'शब्दार्थानुकरणम्' ऐसा शब्दप्रयोग करते हैं । 'अनुकरण' शब्द से 'अनुकार्य' की आकांक्षा उत्पन्न होती है । अतः 'अनुकार्य' अर्थात् 'शब्द' यहाँ उपस्थित होता है । यह बात समझाने के लिए 'शब्दार्थानुकरणम्' और 'शब्दानुकरणम्' ऐसे दो शब्दप्रयोग होते हैं । और ये शब्दप्रयोग विवक्षाधीन हैं । जब 'अनुकार्य' और 'अनुकरण' की भेदविवक्षा होती है तब 'शब्द है अनुकार्य अर्थ (वस्तु) जिसका, वह 'शब्दार्थ' और वह 'शब्दार्थ' रूप 'अनुकरण', 'शब्दार्थानुकरण' कहा जाता है ।

जब अभेद विवक्षा होती है तब 'शब्दानुकरण' में आये हुए 'शब्द' शब्द में ही 'अर्थ' का समावेश हो जाता है ।

यही वात कैयट अन्य प्रकार से प्रस्तुत करते हैं । वे कहते हैं कि 'अनुकर्ता' कदाचित् सामान्य का अनुकरण करता है, तो कदाचित् विशेष का अनुकरण करता है । जब सामान्य का अनुकरण होता है तब विशेष से होनेवाले कार्य सामान्य से नहीं होते हैं क्योंकि सामान्य में प्रकृतित्व का अभाव मालूम देता है, अतः 'प्रकृतिवद्भाव' होता नहीं है, और जब विशेष का अनुकरण होता है तब उसके निमित्त होनेवाले कार्य होते हैं । उदा. 'क्षि' को धातु भी नहीं और अधातु भी नहीं मानकर, सामान्य से केवल 'क्षि' के रूप में ही अनुकरण होता है । तब धातु सम्बन्धी 'इय्' आदेश नहीं होता है, किन्तु जब 'नामत्व, धातुत्व' आदि को मन में लाकर अनुकरण होता है तब नामत्व के कारण' 'स्यादि' प्रत्यय और धातुत्व के कारण 'इय्' आदेश भी होगा ।

इस बात को अन्य परिभाषा-वृत्तिकारों ने भिन्न-भिन्न रीति से बतायी है । 'परिव्यवात् क्रियः' ३/३/२७ में, इस न्याय से आनेवाले 'प्रकृतिवत्त्व' के कारण 'धातुत्वनिमित्तक' 'इय्' आदेश होता

है । 'परावेर्जेः' ३/३/२८ सूत्र में 'जि' का 'जियः' नहीं करने का कारण बताते हुए 'जैनन्द्रपरिभाषावृत्तिकार प्रो. के. वी. अभ्यंकर कहते हैं कि 'प्रकृतिवदिति वत्करणात् केषुचित् स्थलेषु इयं न प्रवर्तते ।' जबकि पुरुषोत्तमदेव कहते हैं कि 'विपराभ्यां जेः' (पा.सू. १/३/१९) में प्रकृतिवद्भाव होने से 'इय्' आदेश होने की प्राप्ति है, किन्तु (सौत्रत्वात् परिहरणीया) 'सौत्रत्व' के कारण नहीं होता है ।

सीरदेव अपनी परिभाषावृत्ति में कहते हैं कि अनुकरण दो प्रकार के होते हैं, एक सार्थक और दूसरा निरर्थक । इसमें यदि सार्थक अनुकरण होने पर प्रकृतिवद्भाव होता है और, निरर्थक अनुकरण होने पर प्रकृतिवद्भाव नहीं होता है । यहाँ 'विपराभ्यां जेः' (पा.सू. १/३/१९) में निरर्थक अनुकरण होने से 'जि' में धातुत्व का अभाव है, अतः 'इय्' आदेश नहीं होता है ।

इस बात का निषेध करते हुए श्री हरिभास्कर अपनी परिभाषावृत्ति में कहते हैं कि यह 'प्रकृतिवद्भाव' अतिदेश है और वह वैकल्पिक ही है, किन्तु 'क्रियः' में सार्थक अनुकरण है इस लिए धातुत्व का व्यपदेश होता है और 'जेः' में निरर्थक अनुकरण है इसलिए धातुत्व का अभाव होने से 'इय्' आदेश नहीं होता है, ऐसी युक्ति विचारणीय है क्योंकि अनुकरण की अनुकार्य के साथ भेदाभेदविवक्षा होती है और उसी प्रकार से प्रातिपदिक संज्ञाभावाभाव का निश्चय आगे किया ही है। उसी प्रकार से यहाँ भी हो सकता है ।

जबकि शेषाद्रिनाथ तो इस परिभाषा (न्याय) को ही अनित्य मानते हैं । वे कहते है कि 'तत्रैव अधातुरिति पर्युदासाप्रवृतेः प्रातिपदिकसंज्ञामाश्रित्य विभिक्तिनिर्देशादनित्या चेयम् ।'

॥ ७ ॥ एकदेशविकृतमनन्यवत् ॥

शब्द के एक अंश में विकृति हो तो उसी शब्द को अन्यत्व प्राप्त नहीं होता है।

शब्द के किसी एक अंश में वैसदृश्य होने पर उसीको/उस शब्द को अन्यत्व प्राप्त नहीं होता है अर्थात् उसे मूल शब्द से भिन्न नहीं माना जाता है किन्तु मूल शब्द सदृश मानकर मूल शब्द से जो कार्य होते हैं वे ही कार्य 'एकदेशविकृत' शब्द से भी होते हैं । साक्षात् लक्ष्य रूप जो शब्द है उसके वैसदृश्य को दूर करने के लिए यह न्याय है । उदा. 'अतीसारोऽस्यास्तीत्यतीसारकी' की तरह 'अतिसारोऽस्यास्तीत्यतिसारकी' में भी 'वातातीसारपिशाचात् कश्चान्तः' ७/२/६१ से 'मत्वर्थीय' 'इन्' प्रत्यय होगा और 'क' का आगम होगा ।

उसी प्रकार से, जैसे 'जरा' शब्द का 'टा' प्रत्यय पर में आने पर 'जरस्' आदेश होता है वैसे 'अतिजरसा कुलेन' में भी 'क्लीबे' २/४/९७ से ह्रस्व होने के बाद 'अतिजर' शब्द में आये हुए 'जर' शब्द का भी 'जराया जरस्वा' २/१/३ सूत्र से जरस् आदेश होगा । यहाँ 'एकदेशविकृत' कहा है किन्तु उपलक्षण से कहीं कहीं 'अनेकदेशविकृत' भी 'अनन्यवत्' होता है, जैसे 'यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मनि वनतितनादेर्धुटि क्ङिति'- ४/२/५५ से 'न्' का लोप करने के बाद 'प्रणिहत' आदि में 'एकदेशविकृत' ही है, किन्तु 'प्रणिघ्नन्ति' आदि में 'गमहनजनखनघसः स्वरेऽनङि क्ङिति

लुक्' ४/२/४४ से 'अ' का लोप करने के बाद 'हनो ह्नो घ्नः' २/१/११२ से 'ह्न' का 'घ्न' आदेश होने से वह 'अनेकदेशविकृत' होगा, उसका भी अनन्यवद्भाव हुआ है, अतः उसके पर होते हुए 'नेङ्र्मादापतपदनदगदवपीवहीशमू चिग्याति वाति द्राति प्साति स्यति हन्ति देग्धौ २/३/७९ से 'नि' के 'न' का 'ण' होता है। किन्तु ऐसा न हो और 'हन्' धातु के योग से ही, 'प्रनि' में 'नि' के 'न' का 'ण' सिद्ध किया जाय तो इस न्याय के उपयोग की आवश्यकता ही क्यों रहेगी ? किन्तु 'णषमसत्परे' - २/१/६० सूत्र से 'त्यादि' प्रत्यय की उत्पत्ति रूप पर कार्य होते समय 'णत्व- शास्त्र' असद्वत् होने के कारण वही सूत्र निर्दिष्ट कार्य यहाँ नहीं होगा। अत एव, इस न्याय की रचना की गई है। इस प्रकार, आगे भी आशंका और इसका समाधान समझ लेना।

इस न्याय का ज्ञापक 'सख्युरितोऽशावैत्' १/४/८३ सूत्र है। इसी सूत्र में 'इतः 'शब्द से 'सखी' शब्द के 'ईकार के 'ऐत्व' का निषेध होता है। यदि 'सख्युरशावैत्' इस प्रकार सूत्ररचना की गई होती तो सूत्र में साक्षात् 'सखि' शब्द के कथन के बावजूद भी, इस न्याय के कारण 'सखि' शब्द के 'इकार' के साथ-साथ 'सखी' शब्द के 'ईकार' का भी 'ऐ' हो जाता।

यह न्याय अनित्य/अस्थिर है, उसका ज्ञापक 'सूर' शब्द है। 'सूर' शब्द 'मर्त्तादि' गणपाठ में है, तथापि एकदेशविकृत 'शूर' शब्द को 'मर्त्तादित्व' प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि जैसे 'सूर' शब्द से 'मर्त्तादिभ्यो यः' ७/२/१५९ से स्वार्थिक 'य' प्रत्ययान्त 'सूर्य' शब्द होता है, वैसे 'शूर' शब्द से 'शूर्य' शब्द होता नहीं है क्योंकि 'मर्त्तादित्व' के अभाव में 'य' प्रत्यय भी नहीं होता है। इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक 'सङ्ख्यार्हदिवाविभानिशा-' ५/१/१०२ सूत्रान्तर्गत, 'लिपि' और लिवि' दोनों शब्दों का ग्रहण है। यदि यह न्याय नित्य होता तो, दोनों शब्दों का ग्रहण किसी भी एक शब्द के ग्रहण से हो जाता।

इस न्याय में प्रयुक्त 'विकृत' शब्द के बारे में दो विभिन्न मत वैयाकरणों में प्रचलित है। कुछेक केवल 'वैसदृश्य' अर्थ करते हैं, तो कुछेक 'विकार से प्राप्त वैसदृश्य' अर्थ भी करते हैं। तो इन दोनों अर्थ मे से कौन-सा अर्थ यहाँ लेना, यह एक विचित्र प्रश्न है।

यहाँ 'विकृत पद' का अर्थ 'विसदृश पद' करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ वैसदृश (विकृतपद) कैसा लेना चाहिए ? स्वाभाविक या विकारापन्न ? यदि स्वाभाविक वैसदृश्य अर्थ लेंगे तो, 'सकृत्' और 'शकृत्', दोनों में परस्पर 'अनन्यत्व' आयेगा, तो, 'शकृत्' के 'शकन्' आदेश के साथ-साथ 'सकृत्' शब्द का भी 'शकन्' आदेश हो जायेगा। अतः इस प्रकार का स्वाभाविक वैसदृश्य अर्थ नहीं किया जा सकेगा।

यदि 'विकृत पद' का 'विकारकृत' अर्थ करें तो 'विकारापन्न' अर्थ छोडकर 'वैसदृश्य' अर्थ करने का क्या कारण ? श्रीहेमहंसगणि उसका प्रत्युत्तर देते हुए इस न्याय के न्यास में कहते हैं कि 'ननु विकृतमिति शब्दस्य.......... प्रकृतन्यायो निर्विषय एव स्यात्' (पूर्व की न्यायवृत्तियों में 'विकृत' शब्द का अर्थ 'विकारापन्न' किया है, वही अर्थ यहाँ लेना उपयुक्त है तथापि आप यहाँ 'वैसदृश्य' अर्थ क्यों करते हैं ? उसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि 'विकारापन्न' अर्थ करने पर,

'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' न्याय से ही यहाँ निर्वाह हो जायेगा, तो यह न्याय निर्विषय ही हो जायेगा, अत एव हमने (श्रीहेमहंसगणि ने) 'विकारापन्न' अर्थ छोडकर केवल 'वैसदृश्य' अर्थ ग्रहण किया है ।

आ. श्रीलावण्यसूरिजी इस प्रकार के 'वैसदृश्य' अर्थ का स्वीकार नहीं करते हैं और प्रश्न करते हैं कि "क्या आपने बताया उसी प्रकार से, 'अतिजर, निर्जर,' आदि शब्द में 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' न्याय लगता नहीं है ?" उसका प्रत्युतर देते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते है कि 'अतिजरसा कुलेन' प्रयोग 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' न्याय से भी सिद्ध हो सकता है किन्तु श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने इस प्रयोग की सिद्धि करने के लिए यहाँ 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय का उपयोग किया है, अत एव हमने भी ऐसा किया है ।

उपर्युक्त बातों से यह ज्ञापित होता है कि 'विकृत' पद से स्वाभाविक वैसदृश्य ग्रहण नहीं करना चाहिए किन्तु 'विकारापन्न वैसदृश्य' अर्थ करना । यदि विकारापन्न अर्थ किया जाय तो यहाँ न्यायवृत्ति के उदाहरण 'अतीसारकी, अतिसारकी' बराबर नहीं लगते हैं क्योंकि 'वातातीसारपिशाचात् कश्चान्तः ७/२/६१ सूत्र में दीर्घ ईकारयुक्त 'अतीसार' शब्द कहा है । अतः इस न्याय से 'अतिसार' शब्द का ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि 'अतिसार' शब्द में विकारापन्न वैसदृश्य नहीं है, क्योंकि 'अतिसार' शब्द की सिद्धि करते समय दीर्घ का ह्रस्व नहीं होता है किन्तु ह्रस्व का दीर्घ होता है । अतः सूत्र में यदि ह्रस्व इकारयुक्त 'अतिसार' शब्द का पाठ किया होता तो, इस न्याय से दीर्घ ईकारयुक्त 'अतीसार' शब्द का ग्रहण हो सकता, किन्तु सूत्रकार आचार्यश्री ने ऐसा नहीं किया है और वृत्ति में भी इसका उदाहरण नहीं दिया । इससे ऐसा अनुमान हो सकता है कि सूत्रकार आचार्यश्री को यह अभिप्रेत नहीं है । इसके समर्थन में श्रीलावण्यसूरिजी ने सिद्धहेम के 'विवधवीवधाद्वा ६/४/२५ सूत्र का निर्देश किया है । यहाँ वे कहते हैं कि 'विवध' और 'वीवध', दो में से किसी एक का भी ग्रहण करने से, इस न्याय से अन्य का भी ग्रहण हो सकता था, तथापि दोनों का ग्रहण किया है, उससे ऐसा सूचित होता है कि जहाँ दीर्घ इत्यादि के विकल्प से दो-दो शब्द बनते हैं, वहाँ दोनों शब्दों को भिन्न-भिन्न प्रकृति मानना चाहिए ।

यद्यपि लघुन्यासकार ने 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' कहकर, 'अतिसारकी' उदाहरण दिया है और अमरकोश[1] तथा अभिधान चिन्तामणि[2] में भी 'अतिसारकी' शब्द दिया है । अतः श्रीलावण्यसूरिजी का यही अनुमान यहाँ उपयुक्त नहीं लगता है ।

यहाँ श्रीहेमहंसगणि के कथन अनुसार केवल वैसदृश्य अर्थ करना ही उपयुक्त लगता है और ऐसा करने पर जहाँ अनिष्ट रूप की आपत्ति आती हो वहाँ 'नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः' न्याय का आश्रय करना चाहिए, ऐसी हमारी अपनी मान्यता है और आ. श्रीलावण्यसूरिजी द्वारा निर्दिष्ट उदाहरण सूत्र 'विवधवीवधाद्वा' ६/४/२५ को इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक मानना चाहिए ।

---

१. वातकी वातरोगी स्यात्, सातिसारोऽतिसारकी ॥ (अमरकोश-पंक्ति/११९२)

२. पामनः कच्छुरस्तुल्यौ, सातिसारोऽतिसारकी । वातकी वातरोगी स्यात्, श्लेष्मणः श्लेष्मलः कफी ॥३६०॥

(अभिधान चिन्तामणि)

यदि विकृत पद का अर्थ श्रीलावण्यसूरिजी के निर्देशानुसार विकारापन्न वैसदृश्य लेने पर, श्रीहेमहंसगणि द्वारा निर्दिष्ट अनित्यता का उदाहरण ''जैसे 'सूर' शब्द से 'मर्त्तादिभ्यो यः' ७/२/१५९ से स्वार्थ में 'य' प्रत्यय हो कर 'सूर्य' शब्द बनता है, वेसे 'शूर' शब्द से भी स्वार्थ में 'य' प्रत्यय हो कर 'शूर्य' शब्द बनता नहीं है।'' उपयुक्त लगता नहीं है क्योंकि यहाँ 'सूर' शब्द और 'शूर' समान अर्थवाले[1] होने पर भी भिन्न प्रकृति स्वरूप है। अतः इस न्याय से, 'सूर' शब्द द्वारा 'शूर' शब्द का ग्रहण हो सकता नहीं है। यहाँ 'विकृत' पद का अर्थ केवल वैसदृश्य लेने पर, यही उदाहरण उपयुक्त लगता है।

इस उदाहरण के स्थान पर आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने 'अभीयात्' को अनित्यता का उदाहरण स्वरूप बताया है। यहाँ 'अभि + ईयात्' है। सन्धि करने के बाद 'अभीयात्' होता है, और इस प्रकार सन्धि होने के बाद 'आशिषीणः' ४/३/१०७ से ह्रस्व नहीं होता है। यदि यह न्याय नित्य होता तो, 'अभीयात्' को अलग किया जायेगा तो 'अभ् + ईयात्' होगा और 'अभ्' , एकदेशविकृत होने से उसके उपसर्गत्व के कारण, 'ईयात्' का ई ह्रस्व होता। और यह न्याय लोकसिद्ध होने से ज्ञापक की अपेक्षा नहीं है। अत एव इस न्याय से केवल 'सख्युः' कहने से, सखी शब्द का भी ग्रहण हो सकता था, इसे रोकने के लिए 'इतः' कहना ज़रूरी है। इस प्रकार 'सख्युरितोऽशावैत्' १/४/६३ सूत्र का 'इतः' पद सार्थक भी है और श्रीहेमहंसगणि ने बताया उसी प्रकार से, इस न्याय का ज्ञापन करने में भी वह समर्थ है।

जहाँ प्रकृति रूप शब्द या धातु में आधा या आधे से भी अधिक अंश में विकृति पैदा हुई हो ऐसे शब्दों में इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि मूल प्रकृति का बोध-करानेवाले बहुत से अवयव विकृत हो जाने से मूल शब्द/प्रकृति का ज्ञान नहीं होता है। ऐसे स्थानों में स्थानिवद्भाव से निर्वाह करना चाहिए।

और विकृत अवयव सम्बन्धी कार्य करना हो, तब भी इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि 'छिन्नपुच्छ श्वा' में 'श्वत्व' तो होता ही है, अतः 'श्वत्ववान्' का व्यवहार होता है किन्तु पुच्छ रहित होने से 'पुच्छवान्' का व्यवहार नहीं होता है। इस प्रकार 'राजकीय' इत्यादि प्रयोग में अन्त्य न कार का लोप होने के बाद, वही 'राजन्' शब्द 'नान्तत्ववान्' नहीं माना जाता है, किन्तु 'नान्तत्व' रहित ही माना जाता है। अत एव 'नान्तत्व' के कारण होनेवाला, 'अ' का लोप 'अनोऽस्य' २/१/१०८ से नहीं होता है।

दूसरी एक आशंका यही होती है कि इस न्याय का स्वीकार करने पर स्थानिवद्भावविधायक परिभाषा सूत्र 'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७/४/१०९ व्यर्थ होगा क्योंकि इस न्याय से ही आदेश रूप विकार होने पर भी, स्थानिवद्भावबुद्धि से कार्य का संभव है। किन्तु ऐसा नहीं है। जहाँ आधा या आधे से अधिक अंश में विकृति हो और मूल शब्द की प्रतीति न हो सकती हो, ऐसे स्थानों में इस

१. यहाँ श्रीलावण्यसूरिजीने 'सूर' और 'शूर' को समानार्थक किस आधार पर बताया है, यह स्पष्ट नहीं होता है। सामान्यतया 'सूर' का अर्थ 'सूर्य' और 'शूर' का अर्थ 'शूरवीर' 'प्राक्रमयुक्त' होता है।

न्याय का उपयोग नहीं हो सकता है, अतः वहाँ 'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७/४/१०९ परिभाषा का उपयोग होता है और जहाँ इस न्याय और 'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७/४/१०९ परिभाषा की प्रवृत्ति का अवकाश/संभव न हो वहाँ 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' ॥८॥ न्याय की प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार दोनों न्याय और परिभाषा का विषय (प्रदेश) हो ऐसा लगता है ।

यह न्याय परिभाषा के क्षेत्र में सब से प्राचीन माने जाते व्याडिकृत परिभाषासूचन को छोडकर सर्वत्र उपलब्ध है । दुर्गसिंहकृत कातन्त्र परिभाषावृत्ति में 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' (का. ३/४/९३) सूत्र को इस न्यायका ज्ञापक बताया है, वैसे यहाँ न्यायसंग्रह में भी 'ग्वृत्सकृत्' ४/१/१०२ सूत्र को इस न्याय का ज्ञापक माना जा सकता है ।

॥ ८॥ भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः ॥

जिसका स्वरूप वर्तमान में बदला हुआ है, ऐसे शब्द या धातु को, उपचार से पूर्व के स्वरूपयुक्त मानकर कार्य होता है ।

जो पूर्व में वैसे स्वरूपयुक्त था, किन्तु वर्तमान में उसका स्वरूप बदल जाने पर भी उपचार से पूर्वावस्था के स्वरूपयुक्त मानकर व्यवहार करना चाहिए । उदा. जैसे ह्यस्तनी के 'दिव्' प्रत्यय पर में आने के बाद 'प्रण्यहन्' आदि रूप होते हैं, वैसे, साक्षात् 'हन्' की उपस्थिति की तरह ही अद्यतनी में 'प्रण्यवधीद्' आदि में, 'हन्' के आदेश स्वरूप 'वध' में भी 'हन्' का स्वरूप माना गया है, और वही 'वध' पर में आने से, 'नेङ्र्मादापतपद'-२/३/७९ सूत्र से 'नि' के 'न' का 'णत्व' सिद्ध किया गया है । इसका ज्ञापक 'नेङ्र्मादापतपद'-२/३/७९ सूत्र में 'वध' धातु की अनुपस्थिति ही है । 'प्रणिहन्ति' आदि प्रयोग की भाँति 'प्रण्यवधीद्' आदि प्रयोग में भी 'नि' के 'न' का 'णत्व' इष्ट ही है । अतः 'हन्' की तरह 'वध' का पाठ सूत्र में करना आवश्यक है, तथापि इसी सूत्र में 'वध' का पाठ नहीं किया है । इससे ज्ञापित होता है कि इस न्याय से 'वध' धातु में ही भूतपूर्व 'हन्' धातु के स्वरूप का उपचार करने से, 'नेङ्र्मादापतपद-२/३/७९ सूत्र से ही 'नि' का 'णत्व' सिद्ध होने वाला ही है । यही तात्पर्य है ।

यह न्याय कदाचित् उदासीन हो जाता है अर्थात् वह अनित्य है । अतः 'विज्ञपय्य' इत्यादि प्रयोग में 'मारण तोषण निशाने ज्ञश्च' ४/२/३० सूत्र से जिस 'ज्ञापि' का 'ज्ञपि' हुआ है, उसी 'ज्ञपि' में भूतपूर्व 'ज्ञापि' रूप का उपचार नहीं करने पर 'लघोर्यपि' ४/३/८६ सूत्र से, लघूपान्त्य धातु-लक्षण 'णि' का 'अय्' आदेश होता है । इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक 'सङ्ख्यानां र्ष्णाम्' १/४/३३ सूत्र में 'र्ष्णाम्' में आया हुआ बहुवचन है क्योंकि 'अष्टानाम्' प्रयोग में पर सूत्र 'वाऽष्टन आः स्यादौ' १/४/५२ से, प्रथम 'अष्टन्' के 'न्' का आ होगा । बाद में नकारान्त 'अष्टन्' शब्द मिलता नहीं है, अतः भूतपूर्व नकारान्त संख्यावाचक शब्द से पर आये हुए 'आम्' का भी 'नाम्' आदेश होता है, उस बात को ज्ञापित करने के लिए 'र्ष्णाम्' में बहुवचन प्रयुक्त है । यदि यह न्याय

नित्य होता तो, बिना बहुवचन ही, इस न्याय के सामर्थ्य से ही भूतपूर्व नकारान्त संख्यावाचक शब्द से पर आये हुए 'आम्' का 'नाम्' आदेश हो सकता था, तो बहुवचन का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, तथापि बहुवचन का प्रयोग किया । उससे सूचित होता है कि यह न्याय अनित्य है । 'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७/४/१०९, 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' ७/४/११० परिभाषा सूत्र भी इस न्याय के ही विशेष स्वरूप हैं और इन दोनों परिभाषा सूत्रों से अनुक्रम से 'अवर्णविधि' और 'प्राग्विधि' जहाँ होती है वहाँ स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होती है, जबकि इस न्याय से सर्वत्र स्थानिवद्भाव होता है ।

इस न्याय के उदाहरण में-'प्रण्यहन्' में जैसे 'नेङ्र्मादापतपद-२/३/७९ से 'णत्व' हुआ है वैसे 'प्रण्यवधीद्' में भी 'णत्व' विधि हुयी है । 'वध' धातु, 'हन्' का आदेश है । अतः इस न्याय से वह भी 'हन्' धातु ही कहा जायेगा और 'हन्' पर होने पर जैसे 'नि' का 'णि' होता है, वैसे 'वध' धातु पर में आने के बाद भी 'नि' का 'णि' होगा । आ. श्रीलावण्यसूरिजी इस उदाहरण का स्वीकार नहीं करते है । वे कहते हैं कि यहाँ 'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७/४/१०९ परिभाषा से 'णत्व' हो सकता है ।

किन्तु 'णत्व' विधि को यदि वर्णविधि मानी जाय तो, धात्वादेश 'वध' का 'स्थानीवाऽर्णविधौ' ७/४/१०९ से स्थानिवद्भाव नहीं होगा । अत एव 'णत्व' विधि करने के लिए 'वध' धातु को, इस न्याय से 'हन्' मानना ही पडेगा ।

संक्षेप में श्रीहेमहंसगणि द्वारा प्रस्तुत उदाहरण हमारी मान्यतानुसार सही प्रतीत होता है, किन्तु नेङ्र्मादापतपद-२/३/७९ सूत्र में 'वध' धातु के 'अपाठ' को उन्होंने इस न्याय का ज्ञापक माना है, वह उपयुक्त नहीं लगता है । 'स्थानि' के आदेश भी सूत्र में कहना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है । अत एव 'वध' धातु का सूत्र में पाठ नहीं किया है, तो वह इस न्याय का ज्ञापक कैसे हो सकता है ? केवल आदेश में स्थानि का आक्षेप होता है । यदि आचार्यश्री ने स्वयं, 'नेङ्र्मादापत पद-' २/३/७९ सूत्र की वृत्ति में इस न्याय की प्रवृत्ति करके 'प्रण्यवधीद्' प्रयोग की सिद्धि की होती, तब वही प्रयोग ही इस न्याय का ज्ञापक हो सकता है किन्तु 'वध' का सूत्र में 'अपाठ' कदापि इस न्याय का ज्ञापक हो सकता नहीं है और सूत्रकार ने स्वयं 'प्रण्यवधीद्' प्रयोग बताया नहीं है ।

अतः इस न्याय का अन्य ज्ञापक बताना जरूरी है । आ. श्रीलावण्यसूरिजी के मतानुसार 'अचः' १/४/६९ से 'ऋदुदितः' १/४/७० सूत्र का पृथग्योग ही इस न्याय का ज्ञापक है । इस सूत्र के पृथग् योग का कारण बताते हुए आ. श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने कहा है कि 'पृथग्योगो भ्वादि-व्युदासार्थः' वस्तुतः 'भ्वादि' धातु के बाद 'घुट्' प्रत्यय आता ही नहीं है क्योंकि धातु में 'नामत्व' का अभाव है, और घुट् प्रत्यय नाम के बाद ही आता है । अतः यहाँ 'भ्वादि' का वर्जन करने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है । तथापि 'भ्वादि' धातुओं को अलग करने के लिए योगविभाग(पृथग्योग) किया, इससे सूचित होता है कि 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' न्याय से धातुपाठ में निर्दिष्ट 'ऋदित्' और 'उदित्' धातु, जब 'नाम' बनते हैं, तब, इसी 'ऋदुदितः' १/४/७० सूत्र

से 'नोऽन्त' नहीं होगा । यहाँ 'उदित्' धातु के स्वर के बाद में 'नोऽन्त' करने के लिए 'उदितः स्वरान्नोऽन्तः' ४/४/९८ सूत्र है, अतः यहाँ 'उदित्' धातु नहीं लेना चाहिए किन्तु 'उदित्' शब्द लेना चाहिए और उसके साहचर्य से 'ऋदित्' धातु भी नहीं लिया जाता है किन्तु शब्द ही लिया जाता है । अत एव 'सम्राट्' शब्द में 'ऋदित्' राज् धातु होने पर भी इसी 'ऋदुदितः' १/४/७० सूत्र से 'नोऽन्त' नहीं होता है ।

श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि 'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७/४/१०९ और 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' ७/४/११०, दोनो परिभाषाएँ, इस न्याय का ही प्रपञ्च(विस्तार) है । जबकि श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यह बात उचित नहीं है । परिभाषाएँ प्रत्यक्ष सिद्ध है क्योंकि सूत्रकार आचार्यश्री ने स्वयं इसका विधान किया है । जबकि न्याय लोक, शास्त्र, व्यवहार इत्यादि से अनुमित है । अतः प्रत्यक्ष सिद्ध का 'अनुमित' न्याय से बाध करना संभव नहीं है । अतः उपर्युक्त दोनों परिभाषाएँ इसी न्याय का ही प्रपञ्च है, ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

और, जहाँ इन दोनों परिभाषाओं से सूत्र की प्रवृत्ति न होती हो तथा किसी भी प्रकार का ऐसा वचन या कार्य 'भूतपूर्व धर्म' का आश्रय किया बिना सिद्ध न हो सकता हो, वहाँ ही इस न्याय की प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

ऐसा लगता है कि आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने प्रपञ्च को बाध मानकर, श्रीहेमहंसगणि के विधान का खंडन किया है । वस्तुतः परिभाषा को जब लोकसिद्ध न्याय का प्रपञ्च माना जाता है तब परिभाषा और न्याय के बीच अनिवार्य रूप से बाध्य-बाधक सम्बन्ध होता ही है, ऐसा मान लेने की जरूरत नहीं है । यहाँ तो 'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७/४/१०९, और 'स्वरस्य परे प्राग्विधो' ७/४/११० दोनों परिभाषाएँ तथा प्रस्तुत न्याय के (विषय) प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा बताकर श्रीहेमहंसगणि प्रतिपादित करते हैं कि मूलभूत एक ही विचारप्रवाह का यह प्रपञ्च है अर्थात् दोनों परिभाषाएँ और इस न्याय, दोनों में 'भूतपूर्वकत्व' का उपचार करने का तत्त्व समान ही है और यह न्याय परिभाषाओं के प्रदेश में संकोच नहीं करता है ।

दूसरी एक बात यह है कि 'सङ्ख्यानां ष्र्णाम्' १/४/३३ में बहुवचन का प्रयोग किया है, अतः 'अष्टानाम्' में जिस 'अष्टन्' शब्द के 'न्' का 'वाष्टन आः स्यादौ' १/४/५३ से 'आ' हुआ है ऐसे 'अष्टा' से पर आये हुए 'आम्' का 'नाम्' आदेश होता है । यहां 'ष्र्णाम्' के बहुवचन को इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक माना है । यहाँ कोई भी ऐसी शंका कर सकता है कि 'अष्टा' से पर आये हुए 'आम्' का 'नाम्' आदेश, 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से हो सकता है, अतः इस के लिए इस न्याय का उपयोग और इसकी अनित्यता के कारण से बहुवचन का प्रयोग करना उचित नहीं है । उसका प्रत्युत्तर यह है कि 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से 'अष्टा' में 'अष्टन्' शब्द का 'सङ्ख्यावाचकत्व' आता है, किन्तु 'नान्तत्व' आता नहीं है । अतः इस न्याय का उपयोग जरूरी है और यह न्याय अनित्य होने से जब इसकी प्रवृत्ति नहीं होगी तब 'अष्टा' में 'नान्तत्व' नहीं आयेगा । उसी परिस्थिति में भी 'आम्' का 'नाम्' आदेश करने के लिए 'ष्र्णाम्' में बहुवचन का प्रयोग किया है ।

पाणिनीय परंम्परा में यह न्याय, व्याडि ने 'भूतपूर्वगतिरिह शास्त्रे सम्भवति' शब्दों में दिया है, जबकि अन्य पाणिनीय परिभाषा ग्रन्थों में 'सम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः' शब्दों से निर्दिष्ट है।

॥ ९॥ भाविनि भूतवदुपचारः ॥

भविष्य में निश्चित रूप से होनेवाला कार्य, वर्तमान में हो ही गया है, ऐसा मानकर अन्य कार्य करना, वह भूतवदुपचार कहलाता है ।

भविष्य में निश्चित रूपसे होनेवाला स्वरूपान्तर, हो ही गया है ऐसा मानकर अर्थात् 'भूतवद्' उपचार करके भावि अवस्था में होनेवाला कार्य करना ।

जैसे 'नृणाम्' इत्यादि प्रयोग में 'पद' होने के पश्चात् ही 'रषृवर्णान्नो ण एकपदेऽनन्त्य-स्यालचटतवर्गशसान्तरे' २/३/६३ सूत्र से 'न' का 'ण' होता है वैसे, इस न्याय से, 'रवणं, तक्षणं' इत्यादि प्रयोग में यद्यपि 'पदत्व' 'स्यादि' प्रत्यय आने के बाद ही आता है तथापि भविष्य में उत्पन्न होनेवाला 'पदत्व' भूतवद् उपचार से वर्तमान में उत्पन्न हो ही गया है, ऐसा मानकर 'नाम' अवस्था में भी 'रवण, तक्षण' आदि शब्दों में 'न' का 'ण' 'रषृवर्णान्नो ण'-२/३/६३ सूत्र से ही होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक 'रषृवर्णान्नो ण-'२/३/६३ सूत्र में आया हुआ 'पदे' शब्द है । उसी 'पदे' शब्द से 'पद' में ही 'णत्व' होता है, ऐसा विधान होने पर भी, जैसे 'नृणाम्' इत्यादि पद स्वरूप प्रयोग में 'रषृवर्णान्नो ण-' २/३/६३ से 'न' का 'ण' होता है वैसे 'रवण, तक्षण' इत्यादि 'पद' न होने पर भी 'न' का 'ण' देखने में आता है । इससे सूचित होता है कि 'नाम' अवस्था में 'णत्व' करते समय यह न्याय को ध्यान में रखकर ही सूत्र में 'पदे' शब्द रखा गया है ।

यह न्याय अनित्य/अनैकान्तिक है, अतः 'अपाठीत्' इत्यादि प्रयोग में, धातु को प्रत्यय निमित्तक अन्य सर्व कार्य करते समय स्वर की वृद्धि भी एक कार्य है, किन्तु उसी कार्य में 'अट्' बाधक होने से सर्व कार्य करने के पश्चात् 'अट्' किया जाता है, अर्थात् अन्त में सर्व कार्य होने के बाद होनेवाले 'अडागम' को 'भूतवद्' न मानकर 'व्यञ्जनादेवोर्पान्त्यस्यातः' ४/३/४७ से 'पठ्' के 'प' में आये हुए 'अ' की वृद्धि होगी । यदि यह न्याय नित्य होता तो 'अडागम' को 'भूतवद्' मानकर ही 'स्वरादेस्तासु' ४/४/३१ से 'अट्' की वृद्धि होती, किन्तु वह इष्ट नहीं है ।

यह न्याय भी लोकसिद्ध ही है । उदा. 'ओदनं पचति ।' (वह भात/ओदन पकाता है ।) इसी प्रयोग में वस्तुतः ओदन को नहीं पकाया जाता है किन्तु चावल को पकाया जाता है, और वह ही 'ओदन' बनता है । 'ओदन' शब्द केवल पकाये हुए चावल के लिए ही प्रयुक्त है और पकाया हुआ चावल (भात) पुनः पकाया नहीं जाता है । अमरकोश में भी 'ओदन' का अर्थ पकाया हुआ अन्न बताया गया है । [भिस्सा स्त्री भक्त मन्धोऽन्नमोदनोऽस्त्री स दीदिविः।] किन्तु यहाँ चावल (अन्न), भात (ओदन) होनेवाला ही है, उसी भावि अवस्था अभी हो गई है ऐसा मानकर, इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है । अतः इस न्याय के लिए किसी भी ज्ञापक की आवश्यकता नहीं है किन्तु यहाँ 'रषृवर्णान्नो ण एकपदेऽनन्त्यस्यालचटतवर्गशसान्तरे' २/३/६३ सूत्र में 'एकपदे' शब्द

स्थित 'पदे' शब्द को ज्ञापक माना गया है । श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि जैसे 'नृणाम्' में एकपद में स्थित रेफ, षकार और ऋवर्ण से पर आये हुए 'न' का 'ण' होता है, वैसे 'रवण, तक्षण' इत्यादि शब्द में स्यादि प्रत्यय आने के बाद ही 'पदत्व' आयेगा, उसके बाद 'न' का 'ण' हो सकता है, किन्तु यहाँ 'रवण, तक्षण' इत्यादि शब्द में कृत् प्रत्यय 'अनट्' होने के बाद उसमें 'नामत्व' आ जाता है और 'नामत्व' के कारण भविष्य में अवश्य उसी शब्द से 'स्यादि' प्रत्यय आने पर 'पदत्व' प्राप्त होगा ही, ऐसा इस न्याय से मानकर 'नाम' अवस्था में ही, उसके 'न' का 'ण' किया जाता है ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस ज्ञापक को मान्य नहीं करते हैं । वे कहते हैं कि यहाँ 'पदे' शब्द निमित्त और निमित्ति, दोनों भिन्न भिन्न पद में आने पर 'णत्व' विधि नहीं होती है, ऐसा सूचित करने के लिए है किन्तु निमित्त और निमित्ति, 'स्याद्यन्त' या 'त्याद्यन्त' एक पद में होना चाहिए, ऐसा बताने के लिए 'पदे' शब्द का ग्रहण किया नहीं है, अतः 'पदे' शब्द ज्ञापक नहीं बन पाता है ।

यहाँ एक और बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि आ. श्रीहेमचंद्रसूरिजी ने 'रषृवर्णान्नो ण एकपदे' -२/३/६३ की बृहद्वृत्ति में बताया है कि 'एकपदे इति किम् ? अग्निर्नयति, नृभिर्नृभिः । पद इत्येतावतैकपदे लब्धे एकग्रहणं नियमार्थम्, एकमेव यन्नित्यं तत्र यथा स्यात्, यदनेकं चानेकं च तत्र मा भूत् यथा चर्मनासिकः ।' इससे सिद्ध होता है कि भिन्नपदों की व्यावृत्ति के लिए 'एकपदे' ऐसा संपूर्ण शब्द ही कारणभूत है और नित्य हो ऐसे एकपदत्व के लिए 'एक' शब्द का ग्रहण किया है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'एकपदे' स्थान में सिर्फ 'पदे' को क्यों माना गया है, इसकी स्पष्टता करते हुए स्वयं श्रीहेमहंसगणि ने बताया है कि पूर्वकालीन न्यायवृत्ति में 'एकपदे इति ज्ञापकम्' कहा है, वह 'रषृवर्णान्नो ण-' २/३/६३ सूत्रस्थित 'एकपदे' को इस प्रकार के सामासिक पद के कारण से ही, समग्र पद को ज्ञापक माना है । जबकि यहाँ वृत्ति में बतायी हुई युक्ति अनुसार केवल 'पदे' शब्द को ही ज्ञापक माना गया है । किन्तु श्रीहेमहंसगणि की यह स्पष्टता अपूर्ण प्रतीत होती है ।

केवल 'पदे' कहने से भिन्न पदों की व्यावृत्ति हो सकती है और होती भी है, किन्तु समास आदि में 'ऐकार्थ्ये' ३/२/७ से 'स्यादि' प्रत्यय का लोप होने पर 'एकपदत्व' आता है, यदि इसमें निमित्त ऋ, र, ष पूर्वपद में हो और निमित्ति 'न' उत्तरपद में हो, तो भी 'न' का 'ण' हो सकता है, उसे दूर करने के लिए ही 'एक' शब्द रखा गया है । अतः 'एकपदे' शब्द से सामासिक 'स्याद्यन्त' या उपसर्ग सहित के 'त्याद्यन्त' पद का इस सूत्र में ग्रहण करना नहीं, और इसके साथ-साथ भिन्न पदों की भी व्यावृत्ति हो जाती है ।

यहाँ व्यावृत्तिरूप सार्थक्य बताकर 'पदे' शब्द को ज्ञापक नहीं मानने का जो विचार आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने प्रस्तुत किया है, वह उपयुक्त नहीं है क्योंकि 'पदत्व' प्राप्त होने के बाद ही भिन्न पद की व्यावृत्ति या सामासिक पद की व्यावृत्ति का प्रश्न उपस्थित होता है, किन्तु यहाँ 'पदत्व' प्राप्त होने के पूर्व ही 'णत्व' विधि हो जाती है और ऐसा होने पर 'पदे' शब्द व्यर्थ हो जाता है, अतः इससे ज्ञापित होता है कि भविष्य में होनेवाली पद संज्ञा को भूतवद् मानकर यहाँ 'णत्व' विधि हुई है ।

पाणिनीय परम्परा में यह सिद्धांत न्याय के स्वरूप में स्वीकृत नहीं है । फिर भी कातन्त्र की दुर्गसिंहकृत परिभाषावृत्ति और भावमिश्रकृत परिभाषावृत्ति, कालाप व्याकरण, जैनेन्द्र व्याकरण तथा भोज व्याकरण में यह न्याय परिभाषा के स्वरूप में उपलब्ध है ।

जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति में, 'त्यद्' और 'तद्' सर्वनाम के स्त्रीलिङ्ग के 'स्या' , 'सा' आदि रूपों को सिद्ध करने के लिए इस न्याय का उपयोग किया गया है । 'तद्' और 'त्यद्' के अन्त्य 'द्' का 'अ' करने के लिए 'स्यादि' विभक्ति/प्रत्यय जरूरी है किन्तु, वही विभक्ति/प्रत्यय आने से पूर्व ही 'तद्, त्यद्' शब्दों को स्त्रीलिङ्ग का 'आप्' लगता है, तब 'तद् त्यद्' शब्दों से भविष्य में 'स्यादि' प्रत्यय होनेवाला ही है, अतः इस न्याय से, 'स्यादि' प्रत्यय को आया हुआ मानकर 'त्यदादेरः' [जै. ५/१/१६१] से 'तद्, त्यद्' के अन्त्य 'द्' का 'अ' किया जाता है ।

॥ १०॥ यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ॥

संख्या से समान हो और समान वचन से निर्दिष्ट हो तो पूर्वपदों का उत्तरपदों के साथ 'यथासंख्य' अर्थात् अनुक्रम से सम्बन्ध होता है ।

संख्या से और एकवचन, द्विवचन या बहुवचन, इस प्रकार दोनों तरह से समान निर्दिष्ट हों ऐसे पूर्व में आये हुए पदों का उत्तर में अर्थात् बाद में आये हुए पदों के साथ यथासंख्य अर्थात् संख्या के क्रम से या अनुक्रम से कथन करना अर्थात् प्रथम को प्रथम के साथ, द्वितीय को द्वितीय के साथ, तृतीय को तृतीय के साथ, चतुर्थ को चतुर्थ के साथ सम्बन्ध करके कथन करना, किन्तु परस्पर/अन्योन्य के क्रम में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए या किसी एक को सर्व के साथ सम्बन्धित नहीं करना चाहिए ।

यह न्याय स्वेच्छानुसारी योजना का निषेध करने के लिए और नियमन के लिए है, उदा. जैसे 'ङेङस्योर्यातौ' १/४/६ सूत्र में 'स्थानी' और 'आदेश' दोनों दो-दो हैं और दोनों द्विवचन से निर्दिष्ट हैं, अतः यहाँ 'यथासङ्ख्यम्' की योजना सिद्ध है । यदि यह न्याय न होता तो 'ङे' और 'ङसि' दोनों में प्रत्येक के साथ 'य' और 'आत्' को जोडने की आशंका होती क्योंकि इसी सूत्र में उसका निषेध नहीं किया गया है अर्थात् 'ङे' का भी 'य' और 'आत्' आदेश होता और 'ङसि' का भी 'य' और 'आत्' आदेश होता । 'आदेश' और 'स्थानी' समान संख्या में होने पर ही अनुक्रम से लिया जाता है, ऐसा क्यों ? 'नमस्पुरसो गतेः कखपफि रः सः' २/३/१ यहाँ 'नमस्' और 'पुरस्' को 'कखपफ' के साथ समानवचन से निर्दिष्ट होने पर भी 'यथासङ्ख्यम्' (अनुक्रम) नहीं होगा क्योंकि दोनों (निमित्त और निमित्ति) संख्या से तुल्य/समान नहीं है । तथा 'तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ' १/३/१४ में 'मु' और 'म्' को 'अनुस्वार' और 'अनुनासिक' के साथ अनुक्रम से सम्बन्ध नहीं होगा क्योंकि संख्या से दोनों समान होने पर भी वचननिर्देश से तुल्य नहीं हैं । 'मुमः' में एकवचन है, जबकि 'तौ' और 'स्वौ' में द्विवचन है ।

इस न्याय का ज्ञापक सूत्र 'चटते सद्वितीये' १/३/७ है । 'चटते सद्वितीये' १/३/७ सूत्र का

कार्य 'चछटठतथे' इस प्रकार लघु सूत्र करने से हो सकता था, तथापि 'शषसे शषसं वा' १/३/६ सूत्र से प्राप्त 'शषसं' पद के साथ अनुक्रम से योजना करने के लिए 'चटते सद्वितीये' १/३/७, ऐसा गुरु/दीर्घ सूत्र बनाया है । यदि 'चछटठतथे' ऐसा लघु सूत्र बनाया होता तो 'यथासङ्ख्यम्' की योजना सम्भवित न होती ।

यह न्याय व्यभिचारी अर्थात् अनित्य है । 'भुजिपत्यादिभ्यः कर्मापादाने' ५/३/१२८ में वचन का वैषम्य/वचन की विषमता होने पर भी, वहाँ अनुक्रम है । जबकि 'पूर्वावराऽधरेभ्योऽसस्तातौ पुरवधश्चैषाम्' ७/२/११५ में 'पूर्व-अवर-अधर' शब्दों का 'दिक्शब्दाद्दिग्देशकालेषु प्रथमा-पञ्चमी-सप्तम्याः ७/२/११३ सूत्र से चली आती 'दिग्देशकाल' शब्द की अनुवृत्ति से प्राप्त 'दिग्-देश-काल' शब्दों के साथ वचन-साम्य और संख्या-साम्य होने पर भी 'यथासङ्ख्यम्' (अनुक्रम) का अभाव है ।

पाणिनीय परम्परा में 'यथासङ्ख्यम्' के लिए केवल संख्या-साम्य को ग्रहण किया है, वहाँ 'वचन' का कोई महत्त्व नहीं है । यहाँ सिद्धहेम में 'यथासङ्ख्यम्' के लिए वचन-साम्य का भी महत्त्व है । पाणिनीय परम्परा में यह न्याय 'अष्टाध्यायी' में सूत्र रूप से पठित है ।

इस न्याय की आवश्यकता बताने से पूर्व, इसका खंडनात्मक पूर्वपक्ष स्थापन करते हुए पाणिनीय वैयाकरणों ने बताया है कि 'यथासङ्ख्यम्' की यह प्रवृत्ति लौकिक प्रमाण से भी सिद्ध हो सकती है । जैसे 'शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जय' इत्यादि प्रयोग में 'शत्रु,मित्र' आदि शब्दों को स्थानानुक्रम से 'जय,रञ्जय' आदि पदों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो ही जाता है, अतः इस न्याय की आवश्यकता नहीं है । उसका प्रत्युत्तर देते हुए वे कहते हैं कि जहाँ समास आदि होते हैं वहाँ 'स्थानित्व' के इस लौकिक प्रमाण से 'यथासङ्ख्यम्' की सिद्धि नहीं होती है । अतः ऐसे स्थान पर इस न्याय की आवश्यकता है । उदा. 'ङेङस्योर्यातौ' १/४/६, यहाँ 'ङे' और 'ङसि' तथा 'य' और 'आत्' का समास हुआ है, अतः सामान्यतया 'ङे' के स्थान में भी 'य' और 'आत्' आदेश और 'ङसि' के स्थान में भी 'य' और 'आत्' आदेश हो सकता है । यहाँ 'अनुक्रम' की योजना के लिए कोई भी लौकिक रीत समर्थ नहीं हो सकती है, अतः वहाँ इस न्याय के आधार पर, 'आदेश' और 'स्थानी' के संख्या और वचन, दोनों समान होने से 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति होगी ।

'इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्' १/२/२१ में स्थानी-इवर्ण, उवर्ण, ऋवर्ण, लृवर्ण का साक्षात् पाठ किया नहीं है, तथापि वहाँ 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति करने के लिए इस न्याय की आवश्यकता है । यह न्याय 'स्थानी' और 'आदेश' में धर्मसाम्य होने पर ही प्रवृत्त होता है, किन्तु व्यक्तिसाम्य होने पर प्रवृत्त नहीं होता है क्योंकि व्यक्ति साम्य लेने पर 'आदेश' की संख्या मर्यादित होती है, जबकि 'उद्देश्य' या 'स्थानी' की संख्या अनंत होती है, अतः 'स्थानी' और 'आदेश' में समान संख्यात्व प्राप्त नहीं होता है ।

सिद्धहेम व्याकरण में 'यथासङ्ख्यम्' की निवृत्ति के लिए वचन भेद का प्रयोग किया गया है । उदा. 'एदोद्भ्यां ङसिङसो रः' १/४/३५ की बृहद्वृत्ति में स्पष्ट रूप से बताया है कि 'वचनभेदो यथासङ्ख्यं निवृत्त्यर्थम् ।' इस न्याय के उदाहरण में भी 'तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ' १/३/१४ में समान

संख्यात्व होने पर भी 'यथासङ्ख्यम्' नहीं होता है, ऐसा बताया, वह सही है और 'आपो ङितां यैयास्यास्याम्' १/४/१७ में 'यै यास् यास् याम्' में विभक्ति का कोई प्रत्यय दिखाई नहीं पड़ता, अतः प्रथमा एकवचन का 'सि' प्रत्यय हो सकता है और उसका 'दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः' १/४/४५ से लोप हुआ है, ऐसा मान लेने पर, और 'ङिताम्' में बहुवचन प्रयुक्त होने पर भी 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति हुई है । एक बार ऐसा मान लिया जाय कि 'सौत्रत्वात्' एकवचन हो सकता है तथापि 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति के लिए बहुवचन का प्रयोग जरूरी होने पर भी बहुवचन का प्रयोग नहीं किया है, इससे ज्ञापित/सूचित होता है कि इसी सूत्र में 'यास्' की द्विरुक्ति से ही 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति सिद्ध होती है । अतः वहाँ समान वचन द्वारा निर्देश करने की कोई आवश्यकता दिखाई नही पड़ती । यदि इसी सूत्र में 'यथासङ्ख्यम्' प्रवृत्ति करनी नहीं होती तो, 'यास्' का पाठ एक ही बार किया होता, किन्तु 'स्थानी' स्वरूप 'ङित्' प्रत्यय स्पष्टरूप से बताये नहीं है, और उनकी संख्या चार की ही होने से उसके साथ समान संख्यात्व लाने के लिए 'यास्' की द्विरुक्ति की गई है । दुर्गसिंहकृत कातन्त्र परिभाषावृत्ति में बताया है कि 'यास्' की द्विरुक्ति करने से ही यहाँ 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति होती है ।[१]

यहाँ दूसरा भी एक समाधान हो सकता है । वह इस प्रकार है । 'आपो ङितां' १/४/१७ के बाद तुरत ही 'सर्वादेर्डस्पूर्वाः' १/४/१८ सूत्र है और इसी सूत्र में 'डस्पूर्वाः' , 'यै यास् यास् याम्' का विशेषण है, अतः 'यै यास् यास् याम्' में बहुवचन ही माना जा सकता है । इस प्रकार 'समानसंख्यात्व' और 'समानवचननिर्देशत्व' आ जाने से 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति निःसंकोच हो सकती है और 'यै यास् यास याम्' में बहुवचन के 'जस्' प्रत्यय का सौत्रत्वात् लोप हुआ है । 'सर्वादेर्डस्पूर्वाः' १/४/१८ सूत्र में 'स्थानी' के रूप में 'ङिताम्' पूर्व के सूत्र में से आता है और इसके साथ साथ 'डस्पूर्वाः' के विशेष्य 'यै यास् यास् याम्' की भी अनुवृत्ति होती है । इस सूत्र में 'डस्पूर्वाः' का विशेष्य स्पष्ट रूप से उक्त नहीं होने से, ङिताम् के साथ 'यथासङ्ख्यम्' करने के लिए 'डस्पूर्वाः' में बहुवचन का प्रयोग करना अनिवार्य है ।

इस न्याय की अनित्यता के दो उदाहरण हैं । १. भुजिपत्यादिभ्यः कर्मापादाने ५/३/१२८, यहाँ संख्या तुल्य है किन्तु वचनभेद है तथापि 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति की गई है । जबकि दूसरे उदाहरण 'पूर्वावराधरेभ्योऽसस्तातौ पुरवधश्चैषाम्' ७/२/११५ में आये हुए 'पूर्वावराधरेभ्यो' पद में तीन शब्द हैं और बहुवचन से निर्देश किया है, और, पूर्व के सूत्र 'दिक्शब्दाद् दिग्देशकालेषु प्रथमा-पञ्चमी-सप्तम्याः', ७/२/११३ से अनुवृत्त, 'दिग्देशकालेषु' और 'प्रथमा-पञ्चमी-सप्तम्याः', दोनों में तीन-तीन शब्द हैं और दोनों में बहुवचन का प्रयोग किया है, तथापि दोनों के बीच 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

संक्षेप में, इस न्याय की अनित्यता केवल 'वचन' तक ही सीमित है । जहाँ संख्या समान

१. ज्ञापकं च 'ङवन्ति यैयास्यास्याम्' इति द्वियास्करणम् । (कातन्त्रपरिभाषावृत्ति दुर्गसिंहकृता)

नहीं होती है, वहाँ किसी भी संयोग में 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः 'यथासङ्ख्यम्' के लिए 'स्थानी' और 'आदेश' इत्यादि में समानसंख्यात्व अत्यावश्यक माना गया है ।

यह न्याय कातन्त्र, कालाप व भोज व्याकरण में परिभाषा के स्वरूप में प्राप्त है, जबकि शाकटायन, चान्द्र व जैनेन्द्र के परिभाषापाठ में यह प्राप्त नहीं है और पाणिनीय परम्परा में यह अष्टाध्यायी के सूत्र रूप में ही पठित है ।

॥ ११ ॥ विवक्षातः कारकाणि ॥

विवक्षा/वक्ता की इच्छानुसार कारक होते हैं ।

विवक्षा के अनुसार कारक होते हैं, या नहीं होते है या तो अन्यथा अर्थात् एक के स्थान पर दूसरा होता है । कारक परस्पर असाधारण/असामान्य या तो विभिन्न लक्षणयुक्त होने से नैयत्य/निश्चितता प्राप्त होती थी । उसका निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

इसमें, कारक न होने पर भी कारक होना, इस प्रकार है । 'भिक्षा वासयति' इत्यादि प्रयोग में 'भिक्षा' इत्यादि में किसी भी प्रकार का व्यापारत्व नहीं होने से और केवल हेतुत्व होने से वस्तुतः वह कारक नहीं है, तथापि स्वतंत्र रूप से 'वासन' (रखने) रूप विवक्षा के कारण, कर्ता कारक होता है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से/वास्तविक रीति से 'भिक्षा' आदि कारक है ही नहीं । यदि 'भिक्षा' आदि में कारकत्व होता तो 'भिक्षयोषित' इत्यादि प्रयोग में 'कारकं कृता' ३/१/६८ से समास हो जाता, किन्तु ऐसा होता नहीं है, इससे 'भिक्षा' इत्यादि का 'अकारकत्व' सिद्ध होता है और जिस 'भिक्षा' आदि में वस्तुतः कारकत्व नहीं होने पर भी 'भिक्षा वासयति' इत्यादि प्रयोग में कर्ता कारक का जो प्रयोग दिखाई पड़ता है वह केवल विवक्षा के अधीन ही है ।

कारक होने पर भी अकारक होना, इस प्रकार है । 'माषाणामश्नीयात्' इत्यादि प्रयोग में 'माष' आदि में 'कर्मत्व' होने पर भी, उसकी विवक्षा नहीं करने से 'शेषे' २/२/८१ सूत्र से सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति हुई है ।

एक कारक के स्थान में अन्य कारक होना, इस प्रकार है 'ओदनः स्वयं पच्यते, असि च्छिनत्ति' इत्यादि प्रयोग में 'कर्म' और 'करण' की स्वतन्त्रता की विवक्षा करने से कर्ता कारक होता है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'स्मृत्यर्थदयेशः' २/२/११ सूत्र है । इस सूत्र द्वारा 'कर्म' को भी विकल्प से 'कर्म' संज्ञा की जाती है और इस प्रकार 'कर्म' में भी 'अकर्मत्व' का विकल्प किया जाता है ।

प्रत्येक धातु के 'कर्ता, कर्म' आदि कारकों की, यदि 'कर्ता, कर्म' आदि कारक के रूप में विवक्षा करने पर वे 'कर्ता, कर्म' आदि होते हैं । इस प्रकार की व्यवस्था प्रस्तुत न्याय के द्वारा होती है । अतः इस न्याय के अनुसार, जैसे प्रत्येक धातु में होता है, इसी तरह 'समृत्यर्थदयेश' धातुओं के 'कर्म' को 'कर्मत्व' की विवक्षानुसार 'कर्म' संज्ञा होती भी है और नहीं भी होती है । अतः 'स्मृत्यर्थदयेशः' २/२/११ सूत्र से प्रस्तुत धातुओं के 'कर्म' को विकल्प से 'अकर्म' संज्ञा करने की

कोई आवश्यकता नहीं है तथापि इसी सूत्र की रचना की गई, इससे सूचित होता है कि 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' न्याय से नियम किया गया है अर्थात् अन्यत्र, 'कर्म' को 'अकर्म' संज्ञा नहीं होती है, ऐसा 'स्मृत्यर्थदयेशः' २/२/११ सूत्र द्वारा परोक्ष सूचन होता है । यदि यह न्याय न होता तो प्रस्तुत सूत्र नियमार्थ होने के स्थान में (नियमसूत्र के स्थान में), केवल विधिसूत्र ही बना रहता अर्थात् 'स्मृत्यर्थदयेशः' २/२/११ सूत्र में जो नियमार्थत्व है, वह इस न्याय के बिना 'अनुपपद्यमान' है । 'स्मृत्यर्थदयेशः' २/२/११ सूत्र में कथित नियम इस प्रकार है -: 'स्मृत्यर्थदयेशः' २/२/११ सूत्र में निर्दिष्ट धातुओं के 'कर्म' को पक्ष में 'अकर्मत्व' के विधान से, 'शेष' रूप में उसकी विवक्षा होती है, किन्तु अन्य कारक के रूप में विवक्षा होती नहीं है, तथा कर्म से भिन्न कारक की भी अन्य कारक के रूप में विवक्षा नहीं होती है, अतः 'मात्रा स्मृतं, मनसा स्मृतं' आदि प्रयोग में 'कर्ता' और 'करण' रूप कारक की 'शेष' में विवक्षा न करने से 'षष्ठी' विभक्ति नहीं होती है ।

यह न्याय अनित्य है, अतः 'सम्बन्ध' में कोई भी कारक होगा ही नहीं । अत एव 'बहूनां इदं वस्त्रम्' वाक्य में बहु शब्द से 'बह्वल्पार्थात्कारकादिष्टानिष्टे प्शस्' ७/२/१५० सूत्र से 'प्शस्' प्रत्यय नहीं होगा ।

इस न्याय का पाणिनीय परम्परा में, परिभाषा/न्याय के रूप में कहीं भी निर्देश नहीं किया गया है किन्तु भाष्यकार आदि के व्यवहार से यह न्याय स्वतः सिद्ध है, ऐसा दिखाई पडता है और सर्वत्र इस प्रकार का व्यवहार दिखायी पडता है । भाष्यकार पतंजलि ने 'कारके' [पा.सू.१/४/२३] सूत्र के भाष्य में स्पष्टरूप से सूचित किया है कि कारक वक्ता की इच्छा अर्थात् विवक्षा के अधीन ही होते हैं ।

यह न्याय चान्द्र, भोज, और सिद्धहेम के अलावा अन्य किसी भी परिभाषा पाठ में उपलब्ध नहीं है ।

कैयट ने 'कारक' की समीक्षा करते हुए कहा है कि सर्व 'कारक' में लक्ष्य के अनुसार साध्यत्व द्वारा एक साधारण/सामान्य क्रिया होती है, अतः वही सामान्य/साधारण क्रिया के कारण से प्रत्येक कारक में कर्तृत्व होता है, किन्तु उन सब को 'अवान्तर व्यापार' के कारण से, उसी, व्यापार की विवक्षा करने पर 'करणत्व, सम्प्रदानत्व, अपादानत्व' आदि का व्यवहार होता है । उदा. पुत्र को जन्म देने में माता और पिता दोनों कर्ता होने पर भी माता के बारे में-'अयमस्यां जनयति' और पिता के बारे में 'अयमस्माज्जनयति' इस प्रकार व्यवहार होता है । इस प्रकार माता में 'अधिकरणत्व' की और पिता में 'अपादानत्व' की व्यवस्था होती है ।

इस प्रकार महाभाष्य और कैयट के ग्रंथो में कारक का विवक्षाधीनत्व प्रतिपादित किया होने से पाणिनीय परम्परा में यह सिद्धान्त न्याय/परिभाषा के स्वरूप में पठित नहीं है ।

श्रीहेमहंसगणि ने इस न्याय की अनित्यता बताते हुए कहा है कि यह न्याय अनित्य होने से 'बहूनामिदं वस्त्रम्' प्रयोग में 'कारकत्व' की विवक्षा का अभाव है क्योंकि 'सम्बन्ध' को कदापि कारकत्व प्राप्त नहीं होता है, अतः 'बहु' शब्द से 'बह्वल्पार्थात्कारकादिष्टानिष्टे प्शस्' ७/२/१५० से 'प्शस्' प्रत्यय नहीं होता है ।

यह अनित्यता उपयुक्त नहीं दिखायी पडती है क्योंकि प्रस्तुत न्याय से जहाँ कारकत्व का संभव हो वहाँ ही, उसी कारक की अन्य कारक के रूप में विवक्षा या अविवक्षा की जाती है किन्तु अपूर्व कारकत्व उत्पन्न नहीं किया जा सकता है, ऐसी मान्यता है, अतः 'षष्ठी' विभक्ति से उक्त सम्बन्ध में कारकत्व की विवक्षा कदापि होती नहीं है, अतः 'बहूनामिदं वस्त्रम्' में कारकत्व की विवक्षा का अभाव होने से ही 'बहु' शब्द से 'बह्वल्पार्थात्' ७/२/१५० से 'प्शस्' प्रत्यय नहीं होता है । विवक्षा भी वस्तुस्वभाव के अनुसार ही हो सकती है, अतः सम्बन्ध में कारकत्व की विवक्षा नहीं होती है । दूसरी एक मान्यता ऐसी है कि कारक विभक्तियों से सम्बन्ध का अर्थबोध नहीं हो सकता है और सम्बन्ध, कारक के लिए अनुचित ही है, अतः सम्बन्ध में कारकत्व की विवक्षा के अभाव के लिए इस न्याय को अनित्य मानना उपयुक्त नहीं है ।

विवक्षा में वक्ता की इच्छा ही मुख्य है, अतः यह न्याय स्वभाव से ही अनित्य होने से, उसकी अनित्यता बताने की कोई जरूरत नहीं है । श्रीहेमहंसगणि ने जो अनित्यता बतायी है वह केवल इस न्याय की स्वाभाविक अनित्यता के अनुवाद स्वरूप ही है, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है ।

॥ १२॥ अपेक्षातोऽधिकारः ॥

अपेक्षा अर्थात् आवश्यकता के अनुसार अधिकार की प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है ।

अपेक्षा अर्थात् इष्टता/जरूरत । आवश्यकता के अनुसार अधिकार प्रवृत्तिमान् या निवृत्तिमान् समझना । अन्यथा उसकी जहाँ जरूरत हो वहाँ कोई भी ज्ञापक होना चाहिए । न्याय की तरह अधिकार की प्रवृत्ति या निवृत्ति का ज्ञापन किसी भी ज्ञापक से अवश्य होना चाहिए, ऐसी आशंका को दूर करने के लिए यह न्याय है । उदा. 'णषमसत्परे स्यादिविधौ च' २/१/६० सूत्र से शुरू होनेवाला 'असत्परे' का अधिकार 'रात्सः' २/१/९० सूत्र तक ही रहता है, और 'स्यादिविधौ च' का अधिकार 'नोर्म्यादिभ्यः' २/१/९९ सूत्र तक ही जाता है, उसके आगे नहीं जाता है । यह अर्थ उसके ज्ञापक बिना ही सिद्ध होता है ।

इस न्याय का ज्ञापन 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ सूत्र में आया हुआ 'सामानानां' निर्देश द्वारा होता है । यहाँ 'समानानाम्' में 'आम्' का 'नाम्' आदेश 'ह्रस्वापश्च' १/४/३२ सूत्र से होता है । किन्तु उसके पूर्व के सूत्र 'आमो नाम्वा' १/४/३१ सूत्र से 'आमः' पद और 'नाम्' पद की अनुवृत्ति 'ह्रस्वापश्च' १/४/३२ सूत्र में आने पर ही इसी सूत्र से 'आम्' का 'नाम्' आदेश हो सकता है, और वह इस न्याय से ही सिद्ध होता है । अन्यथा ज्ञापक के अभाव में 'आमः' और 'नाम्' की अनुवृत्ति नहीं ली जा सकती है ।

और 'ऐदौत्सन्ध्यक्षरैः' १/२/१२ सूत्रगत 'ऐत्व', इस बात का निश्चय करता है । यहीं 'ऐत्व', 'उपसर्ग' में न हो ऐसे 'अकार' का 'ऐत्व' करता है । 'ऐदौत्सन्ध्यक्षरैः' १/२/१२ सूत्र में 'ऋत्यारुपसर्गस्य' १/२/९ सूत्र से चली आती 'उपसर्ग' के अधिकार रूप अनुवृत्ति की निवृत्ति होती है । यही निवृत्ति भी इसके ज्ञापक का अभाव होने से इसी न्याय से ही होती है ।

यह न्याय भी ऐकान्तिक अर्थात् नित्य नहीं है । यदि अपेक्षा अनुसार ही अधिकार की प्रवृत्ति-

निवृत्ति होनेवाली है तो 'प्रत्यये च' १/३/२ सूत्र में 'सौ नवेतौ' १/२/३९ सूत्र में से चली आती 'वा' की अनुवृत्ति को आगे के सूत्र में ले जाने के लिए 'चकार' और 'शषसे शषसं वा' १/३/६ सूत्र में 'नवा' के अधिकार द्वारा चाली आती 'वा' की अनुवृत्ति को निवृत्त करने के लिए पुनः 'वा' का ग्रहण क्यों किया ? इससे ज्ञापित होता है कि यह न्याय अनित्य है ।

और 'विशेषविधि' अर्थात् 'अतिदिष्टविधि' प्रकृत/प्रवर्तमान अधिकार का बाध नहीं करता है, ऐसा न्याय होने से 'धातोरिवर्णो' २/१/५० सूत्र से शुरु होनेवाला 'धातोः' पद का अधिकार 'भ्रूश्नोः' २/१/५३ आदि तीन सूत्र में 'विशेषविधि' (अतिदेश विधि) होने से नहीं कहा है, तथापि इस न्याय के बल से अत्रुटित होने से 'योऽनेकस्वरस्य' २/१/५६ सूत्र में 'धातोः' पद के अधिकार का प्रादुर्भाव होता है किन्तु यह कार्य भी इस न्याय के द्वारा सिद्ध होता है, अतः वही न्याय 'विशेषातिदिष्टो विधिः प्रकृताधिकारं न बाधते' इस न्याय के अन्तर्गत ही मानना ।

मण्डूकप्लुतिन्याय भी इसी न्याय का ही भेद/प्रकार है । जैसे मेंढक उछलता-उछलता, बीच की कुछ भूमि को छोड़कर आगे जाता है, वैसे पूर्व के सूत्र का अधिकार बीच के कुछेक सूत्र को छोड़कर आगे जाता है, तब उसे मण्डूकप्लुतिन्याय कहा जाता है । जैसे 'अञ्वर्गात् स्वरे वोऽसन्' १/२/४० सूत्र में जो 'असत्' का अधिकार है, वह बीच में 'अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीनादेः' १/२/४१ सूत्र को छोडकर 'तृतीयस्य पञ्चमे' १/३/१ और 'प्रत्यये च' १/३/२ सूत्र में गया है । अत एव 'ककुम्मण्डलम्, अम्मयम्' इत्यादि प्रयोग में समासान्तर्वर्तिनी विभक्ति के आधार पर 'नाम सिदय्व्यञ्जने' १/१/२१ से पद संज्ञा होगी और पद संज्ञा होने के बाद भी 'म्' असत् होने से पद के अन्त में आया हुआ 'म्' नहीं मिलेगा, अतः उसी 'म्' का 'तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ' १/३/१४ सूत्र से 'अनुस्वार' और 'अनुनासिक' नहीं होगा । यहाँ भी अधिकार की प्रवृत्ति और निवृत्ति अपेक्षा अनुसार ही सिद्ध होती है किन्तु इसके लिए किसी ज्ञापक की आवश्यकता नहीं है ।

अधिकार दो प्रकार के हैं-१. सूत्राधिकार २. शब्दाधिकार । १. जिस सूत्र द्वारा, व्याकरण के, उसी सूत्र के बाद के कोई निश्चित सूत्र की, मर्यादा करके कोई विशेष बात कही जाती है, उसी सूत्र को अधिकार सूत्र कहा जाता है । इसे सूत्राधिकार भी कहा जाता है । उदा. (१) 'घुटि' १/४/६८ सूत्र में कहा है कि इस सूत्र के बाद के सूत्र से लेकर, इस पाद की समाप्ति तक, जहाँ भी कोई विशेष निमित्त का ग्रहण न किया हो वहाँ 'घुटि' अर्थात् 'घुट्' प्रत्यय को निमित्त के रूप में ग्रहण करना । (२) 'आ तुमोऽत्यादिः कृत्' ५/१/१, इस सूत्र से लेकर, तुम् प्रत्यय, जिस का विधान इसी अध्याय के चतुर्थपाद के अन्त में किया गया है, वहाँ तक के, त्यादि (तिवादि) प्रत्ययों को छोडकर, सभी प्रत्ययों को 'कृत्' संज्ञा होती है ।

२. शब्दाधिकार-: किसी भी सूत्र में संक्षिप्तता मुख्य चीज है और उसके साथ असंदिग्धता भी इतनी ही महत्त्व की बात है, अतः सूत्र की संदिग्धता दूर करने के लिए प्रकरणानुसार अन्य पदों की आवश्यकता/जरूरत रहती है । ये पद, पूर्व के सूत्र में से अनुवृत्ति के स्वरूप में, पिछले/बाद के सूत्र में आते हैं, अर्थात् एक ही प्रकरण में आये हुए सूत्रों में बहुत से शब्द सामान्य होते हैं, अतः उसी शब्दों को प्रकरण के शुरू में एक ही स्थान पर कहे जाते हैं और बाद में, पिछले सूत्रों में

अपेक्षा/जरूरत अनुसार उन पदों की उपस्थिति होती है । इसे अनुवृत्ति कहा जाता है और 'अधिकार' शब्द से भी इसका व्यपदेश होता है । सिद्धहेम की परंपरा तथा अन्य, चान्द्र, कातन्त्र आदि में शाब्दिक अनुवृत्ति के लिए 'अधिकार' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है । यहाँ अधिकार शब्द से शाब्दिक अनुवृत्ति ग्रहण करना ।

सामान्यतया पाणिनीय परम्परा में 'अधिकार' शब्द से 'अधिकार सूत्रों' का ग्रहण होता है और 'अनुवृत्ति' से शब्दों का पिछले सूत्र में से अगले सूत्र में अनुवर्तन ग्रहण होता है ।

प्रो. के. वी. अभ्यंकर ने परिभाषा संग्रह की प्रस्तावना में 'अधिकार' के बारे में बताया है कि -: "A word or words or even a full sutras continues and becomes valid in the following sutras up to a limit, which is prescribed sometimes by the author of the sutras himself. Such a word is named अधिकार and in case, if it is a full sutras, it is called अधिकारसूत्र"[१]

संक्षेप में, पाणिनीय परम्परा में भी शाब्दिक अनुवृत्ति को भी अधिकार माना गया है ।

जनसामान्य/आम जनता में भी प्रथम वाक्य में आये हुए पदों की, अपेक्षा अनुसार, अगले वाक्यों में उपस्थिति होती है । उदा. अत्र विद्यालये देवेन्द्रः पठति, महेन्द्रोऽध्यापयति, सुरेन्द्रो वाचयति, में पूर्व के वाक्य में स्थित 'अत्र' और 'विद्यालये', दोनों पद, अगले दोनों वाक्य में उपस्थित होते हैं । वहाँ किसी ज्ञापक की जरूरत नहीं है । इस प्रकार यह न्याय लोकसिद्ध होने से इस न्याय का ज्ञापक बताने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

पाणिनीय व्याकरण में, इसके लिए 'स्वरितेनाऽधिकारः' [पा. सू. १/३/११] परिभाषा सूत्र ही बनाया गया है, अत एव पाणिनीय परम्परा में इस न्याय का कहीं भी उल्लेख मालूम नहीं पड़ता है । चान्द्र, कातन्त्र, कालाप, जैनेन्द्र इत्यादि में यह न्याय 'इष्टोऽधिकाराणां प्रवृत्तिनिवृत्तिः ।, कार्यानुबन्धादधिकारानुवृत्तिः । भिन्नप्रतियोगे........अधिकाराणां निवृत्तिः ।' स्वरूप में दिखायी पड़ता है ।

इस न्याय की प्रवृत्ति कौन-से स्थान पर होती है ? इसके लिए दो मत हैं : १. श्रीहेमहंसगणि इत्यादि का मत है कि जहाँ किसी भी विशेष पद की अनुवृत्ति करने के लिए या ऐसे पद की अनुवृत्ति की निवृत्ति करने के लिए कोई ज्ञापक न बताया हो वहाँ इस न्याय के आधार पर आवश्यकतानुसार उसी पद की अनुवृत्ति करना या निवृत्ति करना ।

दूसरा मत ऐसा है कि किसी भी पद की अनुवृत्ति धाराप्रवाह से चली आती है, तब, वह अनुवृत्ति, ऊपर बताया गया, उसी प्रकार से लोकसिद्ध न्याय से भी सिद्ध है, तथापि जहाँ अन्य विधेय आदि के सम्बन्ध के कारण अर्थात् प्रकरण बदल जाने के कारण, ऊपर से जिस पद की अनुवृत्ति चली आती है, उसकी स्वाभाविक निवृत्ति हो ही जाती है किन्तु उसी पद की अनुवृत्ति अन्य विधेय में भी आगे ले जानी हो तब इस न्याय का उपयोग होता है । यह युक्ति आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने बतायी है ।

महाभाष्य में 'अधिकारः' का 'अधिकं कारः' या 'अधिकमयं कारं करोति ।' इस प्रकार अर्थ

१. परिभाषासंग्रह Introduction by Prof. K. V. Abhyankar. Pp. 46 (BORI, Poona)

करके कहा है कि यह न्याय/सिद्धांत केवल पद की ही अनुवृत्ति या निवृत्ति को ही कहनेवाला या नियमन करनेवाला नहीं है किन्तु जिस अर्थ के बारे में, जिस पद की शक्ति का निश्चय किया गया हो और जहाँ जिस शास्त्र से जो स्वाभाविक कार्य होता है वहाँ उससे भी ज्यादा कार्य करने के लिए इस न्याय का उपयोग होता है । कहीं/कदाचित् बाध्य को भी बाधक बनाया जाता है । यह बात महाभाष्य के विवेचन से स्पष्ट होती है और सिद्धहेम में 'अपायेऽवधिरपादानम्' २/२/२९ और 'क्रियाश्रयस्याधारोऽधिकरणम्' २/२/३० सूत्र में अनुक्रम से 'अपादान' के तीन प्रकार और 'अधिकरण' के छः प्रकार बताये हैं । वह इस बात को सिद्ध करता है ।

जहाँ अनुवर्तमान पद की निवृत्ति के लिए कोई ज्ञापक हो, वहाँ स्वभाव से ही इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है । उदा. 'प्रत्यये च' १/३/२ सूत्र में 'च' पूर्व के सूत्र में से चली आती 'वा' की अनुवृत्ति को रोकता है और वह अगले सूत्र में पुनः प्रवृत्त होता है, और वह 'च सूचित' है, अतः वहाँ स्वभाव से ही इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

'शषसे शषसं वा' १/३/७ में 'वा' विकल्प की अनुवृत्ति को रोकता है अर्थात् विकल्प को निवृत्त करता है ।[1] आ. श्रीलावण्यसूरिजी इन दोनों उदाहरणों में 'च' और 'वा' जो, 'वा' की अनुवृत्ति-निवृत्ति तथा प्रवृत्ति और 'वा' की निवृत्ति के लिए प्रयुक्त है, उसको इस न्याय की अनित्यता के ज्ञापक के रूप में स्वीकारते नहीं हैं । जबकि श्रीहेमहंसगणि, इन दोनों को इस न्याय की अनित्यता के ज्ञापक मानते हैं । यदि यह न्याय नित्य ही होता तो, इस प्रकार के ज्ञापक का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, तथापि यदि ज्ञापक रखें, वे व्यर्थ होकर इस न्याय की अनित्यता बताते हैं ।

आ. श्रीलावण्यसूरिजी ऐसा मानते हैं कि इस न्याय के अवान्तर न्याय के रूप में दिया गया 'विशेषातिदिष्टो विधिः प्रकृताधिकारं न बाधते' न्याय की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वहाँ मण्डूकप्लुति न्याय से काम चल सकता है । तथापि एक बात विशेष प्रकार से बतानी है कि 'मण्डूकप्लुति' न्याय में, पूर्वसूत्र से अनुवर्त्तमान पद/शब्द बीच के सूत्र को पूर्णतः छोडकर ही अगले सूत्र में उपस्थित होते हैं । जबकि 'विशेष' और 'अतिदिष्ट' विधि में पूर्व के कुछेक विशिष्ट पदों को लेकर ही सूत्र की प्रवृति होती है, अतः सामान्यतया अनुवृत्त पद की अनुपस्थिति नहीं मानी जाती है, और प्रस्तुत सूत्र के लिए वही पद अनावश्यक होने से वृत्ति में भी नहीं कहा जाता है और जब अगले सूत्र में उसकी आवश्यकता/जरूरत खडी होती है तब वह वहाँ पुनः उपस्थित होता है । यद्यपि 'मण्डूकप्लुति' न्याय से यहाँ काम चल सकता है, तथापि अन्य व्याकरण में यह न्याय, परिभाषा के स्वरूप में उपलब्ध होने से यहाँ भी इसको, इस न्याय के अवान्तर न्याय के रूप में समाविष्ट किया गया है । उदा. 'धातोरिवर्णो'-२/१/५० से आरम्भित, 'धातोः' पद का अधिकार 'संयोगात्' - २/१/५२ तक जाता है, बाद में 'भ्रूश्नोः' २/१/५३ से 'अतिदिष्ट' विधि होने से, वहाँ 'धातोः' का अधिकार प्रवृत्त नहीं होता है । जबकि 'स्त्रियाः' २/१/५४ और 'वाऽम्शसि' २/१/५५ में 'विशेष' विधि

१. शषसे शपसं वा १/३/७ नवाधिकारे वा ग्रहणमुत्तरत्र विकल्पनिवृत्यर्थम् ।

होने से 'धातोः' के अधिकार की जरूरत नहीं है । जबकि 'योऽनेकस्वरस्य' २/१/५६ में 'य' का 'स्थानी' अनुक्त होने से 'धातोः' का 'अधिकार' यहाँ पुनः प्रादुर्भूत होता है ।

॥१३॥ अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामः ॥

अर्थ के अनुसार विभक्ति का परिणाम/परिवर्तन होता है ।

'परिणाम' अर्थात् परावर्तन/परिवर्तन, प्रथम सूत्र स्थित अन्यविभक्त्यन्त पद का, 'अगले सूत्र में अनुवर्तन होता है तब सामान्यतया अन्यविभक्त्यन्त होता नहीं है, जैसे गोधा (घो)/गोह सर्प की तरह सरकती होने से वह साँप नहीं हो जाती है, वैसे अन्यविभक्त्यन्त की अनुपपत्ति के निषेध के लिए यह न्याय है । इसका अर्थ इस प्रकार है -: अर्थ को वश होकर, अन्यविभक्त्यन्त का अन्यविभक्त्यन्त के रूप में परिवर्तन होता है । उदा. 'अत आः स्यादौ जस्भ्याम्ये' १/४/१ सूत्र में 'षष्ठ्यन्त' के रूप में प्रयुक्त 'अतः' शब्द की अनुवृत्ति जब 'भिस ऐस्' १/४/२ सूत्र में आयेगी तब 'पञ्चम्यन्त' के रूप में परिवर्तित होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक सूत्र 'अद् व्यञ्जने' २/१/३५ है । इसी सूत्र में 'स्थानी' का निर्देश नहीं किया गया है । यदि 'स्थानी' के रूप में पूर्व के 'इदमः' २/१/३४ सूत्र से 'इदमः' स्वरूप 'षष्ठ्यन्त' की अनुवृत्ति लेने पर 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ परिभाषासूत्र से 'इदम्' के अन्त्य 'म्' का ही 'अ' आदेश होगा किन्तु संपूर्ण 'इदम्' का 'अ' आदेश नहीं होगा, किन्तु प्रयोग में संपूर्ण 'इदम्' का 'अ' आदेश दिखायी पडता है, अतः 'अद् व्यञ्जने' २/१/३५ सूत्र में स्थानी के रूप में प्रथमान्त 'इदम्' शब्द मालूम देता है, तथापि/ऐसा होने पर भी 'अद् व्यञ्जने' २/१/३५ सूत्र में 'स्थानी' का सर्वथा अग्रहण, इस न्याय के बल से 'षष्ठी' का प्रथमा में परिवर्तन होने की संभावना से ही किया गया है । इस बात का निश्चय, उसके बाद के/अगले 'अनक्' २/१/३६ सूत्र में 'इदम्' के विशेषण 'अनक्' को प्रथमा विभक्ति में रखा है, उससे होता है । वही 'अनक्' विशेषण अपने विशेष्य 'इदम्' की भी प्रथमा विभक्ति का सूचन करता है । वह भी इस न्याय से सिद्ध होता है ।

यह न्याय चल/अनित्य होने से 'तृतीयस्य पञ्चमे' १/३/१ सूत्र से आनेवाला 'तृतीयस्य' पद की 'तृतीयात्' पद में परिवर्तन होने की संभावना होने पर भी, अगले सूत्र 'ततो हश्चतुर्थः' १/३/३ सूत्र में 'ततः' शब्द रखा है । यह 'ततः' शब्द ही सूचित करता है कि 'अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामः' न्याय अनित्य है ।

प्रथम हम यह देख लें कि इस न्याय की प्रवृत्ति कहाँ, कैसे होती है । इस न्याय का उपयोग विभक्ति का विपरिणाम/परिवर्तन करने के लिए होता है और वह भी, वहाँ ही कि जहाँ 'विभक्तिविपरिणाम' के लिए कोई प्रयत्न न किया हो, किन्तु जहाँ सूत्रकार ने स्वयं ही स्पष्ट रूपसे विभक्तिविपरिणाम' किया हो, वहाँ इस न्याय का उपयोग नहीं करना चाहिए । उदा. 'ततो हश्चतुर्थः' १/३/३, 'ततोऽस्याः' १/३/३४ 'ततः शिटः' १/३/३६ इन तीनों सूत्रों में 'ततः' शब्द से अनुक्रम से 'तृतीयस्य' का 'तृतीयात्' , 'अञ्वर्गस्य' का 'अञ्वर्गात्' और 'प्रथमद्वितीयस्य' का 'प्रथम-

द्वितीयात्' या 'प्रथमद्वितीयाभ्याम्' के रूप में 'विभक्तिविपरिणाम' हुआ है ।

इन सूत्रों में 'विभक्तिविपरिणाम' सूत्रकार ने स्वयं किया है, अत: वे सूत्र इस न्याय की अनित्यता के ज्ञापक के रूप में सिद्ध नहीं होते हैं । यदि इन सूत्रों को ज्ञापक मानें तो, सूत्रकार के स्वयं किये हुए प्रयत्न व्यर्थ होंगे किन्तु 'भाष्यकार' ने कहा है कि 'नासूया तत्र कर्तव्या यत्राऽनुगमः क्रियते ।'

अतः 'तृतीयस्य पञ्चमे' १/३/१ सूत्रगत 'तृतीयस्य' का, इस न्याय से 'पञ्चम्यन्त' के रूप में विपरिणाम होकर 'तृतीयात्' होने की प्राप्ति है, तथापि 'ततो हश्चतुर्थः' १/३/३ सूत्र में 'ततः' पद रखा है वह असंगत नहीं है और 'ततः' इस प्रकार के निर्देश से, इस न्याय के अनित्यत्व की आशंका नहीं करनी चाहिए । ऐसा आ.श्रीलावण्यसूरिजी का मानना है ।

और आ.श्रीलावण्यसूरिजी ने एक सिद्धांत ऐसा प्रस्थापित किया है कि ज्ञापकसिद्ध न्याय, सूत्र के अक्षर या शब्द या पूर्ण सूत्र को व्यर्थ बनाने में अर्थात् उसकी व्यर्थता प्रतिपादित करने में समर्थ नहीं बन पाता है, अतः ऐसे स्थानों पर 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' अथवा 'ज्ञापकनिर्दिष्टमनित्यम्' न्याय का आधार लेना चाहिए या आश्रय करना चाहिए

किन्तु उनका यह सिद्धान्त सही नहीं है क्योंकि उन्होंने पूर्व के 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' न्याय की अनित्यता के ज्ञापक सूत्र 'सङ्ख्यानां ष्णाम्' १/४/३३ सूत्रगत, सूत्रकार के 'ष्णाम्' प्रयोग के बहुवचन को व्यर्थ बताया ही है । वहाँ उन्हों ने कहा है 'ष्णाम्' बहुवचन व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है और यह बहुवचन सूत्रकार द्वारा ही प्रयुक्त है । अतः उनके द्वारा प्रस्थापित सिद्धांत का यहाँ विरोध आता है ।

श्रीलावण्यसूरिजी मानते हैं कि यह न्याय लोकसिद्ध ही है, अत एव पाणिनीय परम्परा के 'परिभाषेन्दुशेखर' में यह न्याय नहीं बताया गया है । यद्यपि 'परिभाषासंग्रह' के अनुसार, १७ परिभाषा संग्रह में से पाणिनीय परम्परा के केवल चार परिभाषासंग्रह (१ पुरुषोत्तमदेवकृत परिभाषा पाठ, २. नीलकण्ठदीक्षितकृत परिभाषावृत्ति, ३ नागेशकृत परिभाषेन्दुशेखर, ४ शेषाद्रिनाथकृत परिभाषावृत्ति) में इस न्याय का उल्लेख नहीं हुआ है । इसके सिवा, यही न्याय परिभाषा के क्षेत्र में सबसे प्राचीन माने गये व्याडि के 'परिभाषासूचन' में भी पाया जाता है ।

पाणिनीय परम्परा में इस न्याय का लोकसिद्धत्व इस प्रकार बताया है । उदा. 'सर्वे छात्रा गमिष्यन्ति, अध्यापकश्च, अहं च ।' यहाँ 'गमिष्यन्ति' पद 'छात्राः' कर्ता के आधार पर रखा गया है, तथापि, 'अध्यापकश्च' कहते समय उसका 'गमिष्यति' के रूप में वचन का विपरिणाम हो ही जाता है और इस प्रकार 'अहं च' के साथ 'गमिष्यामि' के रूप में पुरुष का भी विपरिणाम हो जाता है, वहाँ पर 'गमिष्यति' या 'गमिष्यामि' का साक्षात् प्रयोग करने की जरूरत नहीं है ।

पाणिनीय परम्परा के अन्य परिभाषा ग्रंथों में इस न्याय के लोकसिद्धत्व का उदाहरण इस प्रकार है–'उच्चानि गृहाणि अस्य देवदत्तस्य आमन्त्र्यस्वैनम् ।' यहाँ 'षष्ठ्यन्त' 'देवदत्तस्य' का 'एनम्' में द्वितीयान्त के रूप में विभक्तिविपरिणाम हुआ है ।

'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (पा.सू. १/१/५६) के महाभाष्य में कहा है- 'यां काञ्चिद् विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या ।' (जिस विभक्ति का आश्रय करना सही प्रतीत हो उसी विभक्ति का आश्रय करना) महाभाष्य की यही बात इस न्याय के द्वारा सिद्ध होती है ।

॥१४ ॥ अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ॥

अर्थवान् का ग्रहण संभव हो तो अनर्थक/अर्थरहित को ग्रहण नहीं करना ।

इस न्याय सूत्र में 'सम्भवति', 'ग्रहणम्' और 'कार्यम्' शब्द अध्याहार समझना । अर्थयुक्त 'प्रत्यय' या 'प्रकृति' का ग्रहण सम्भव हो तब अनर्थक 'प्रत्यय' या 'प्रकृति' को ग्रहण नहीं करना चाहिए । शब्द-सारुप्य होने से दोनों का ग्रहण संभव था, अतः स्पष्टता करने के लिए यह न्याय है । इस प्रकार अगले न्यायों में भी समझ लेना । इसमें 'प्रत्यय' सम्बन्धी ग्रहण इस प्रकार है-: 'तीयं ङित्कार्ये वा' १/४/१४ सूत्र में 'द्वेस्तीयः' ७/१/१६५ आदि सूत्र से होनेवाला सार्थक (अर्थवान्) 'तीय' प्रत्यय का सम्भव होने से, 'जातीयर्' सम्बन्धी 'तीय' का ग्रहण नहीं होगा । वहाँ 'जातीयर्' शब्द ही प्रकार अर्थयुक्त होने से सार्थक है किन्तु उसका अंश केवल 'तीय' सार्थक नहीं है, अतः 'पटुजातीयाय' आदि प्रयोग में 'तीयं ङित्कार्ये वा' १/४/१४ से 'स्मै' आदि आदेश नहीं होंगे ।

'प्रकृति' सम्बन्धी ग्रहण इस प्रकार है -: उदा. 'प्लीहानौ, प्लीहानः' आदि प्रयोग में 'हन्' निरर्थक होने से 'इन्हन्पूषार्यम्णः शिस्योः' १/४/८७ सूत्र से कथित नियमानुसार नहीं किन्तु 'नि दीर्घः' १/४/८५ सूत्र से निर्दिष्ट नियमानुसार दीर्घ होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक 'तृ स्वसृ- नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्त्रो घुट्यार्' १/४/३८ सूत्र में 'तृ' प्रत्ययान्त 'नप्तृ' आदि का भिन्न ग्रहण है । 'नप्तृ' आदि, 'उणादि' के 'तृ' प्रत्ययान्त है और 'उणादि' नाम को 'अव्युत्पन्न' माने जाते हैं ('उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि') न्याय से, वे अव्युत्पन्न होने से 'तृ' आदि प्रत्यय भी अनर्थक है, अतः इस/प्रस्तुत न्याय के कारण 'तृ' प्रत्यय से 'नप्तृ' आदि का ग्रहण नहीं हो सकता है, इस लिए 'नप्तृ' आदि का सूत्र में पृथगुपादन किया है । यदि यह न्याय न होता तो केवल 'तृ' प्रत्यय से ही 'नप्तृ' आदि का ग्रहण संम्भव होने से 'पृथगुपादान' न किया होता ।

यह न्याय चञ्चल/अनित्य है क्योंकि 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवताऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति' न्याय, इस न्याय का अपवाद है और इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक 'सङ्ख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः' ६/४/१३० सूत्र है । यहाँ 'डति' प्रत्ययान्त शब्दों को 'डत्यतु सङ्ख्यावत्' १/१/३९ सूत्र से 'सङ्ख्यावत्' करने से, 'सङ्ख्या' शब्द द्वारा ही 'डति' प्रत्ययान्त का ग्रहण हो ही जाता है, किन्तु 'ति' प्रत्ययान्त/अन्तवाले शब्द का वर्जन किया है , अतः 'डति' अन्तवाले शब्द का वर्जन न हो जावे, इसलिए ही सूत्र में 'डति' का उपादान किया है । यदि यह न्याय नित्य होता तो, 'ति' प्रत्ययान्त/अन्तवाले शब्दों का वर्जन करने से 'डति' प्रत्ययान्त का वर्जन संभव नहीं था, तथापि

'ति' प्रत्ययान्त/अन्तवालों के वर्जन से 'डति' प्रत्ययान्त का वर्जन हो जायेगा, ऐसी संभावना का विचार करके यहाँ 'डति' का पृथगुपादान किया है । इससे सूचित/ज्ञापित होता है कि यह न्याय अनित्य है ।

'तृ स्वसृ-नप्तृ-' १/४/३८ सूत्र में 'नप्तृ' आदि के पृथग्ग्रहण को इस न्याय का ज्ञापक बताया है । वह इस प्रकार है-यहाँ प्रथम 'तृ' 'अर्थवान्' है, अतः इसके ग्रहण से 'उणादि' के 'तृ' प्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण नहीं हो सकता है क्योंकि 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि' न्याय से 'नप्तृ' आदि में स्थित 'तृ' प्रत्यय अनर्थक कहा जाता है । यदि यह न्याय न होता तो, 'तृ' के ग्रहण से ही 'नप्तृ' आदि का ग्रहण होता, तथापि इसका पृथग्ग्रहण किया । वह इस न्याय का ज्ञापक है ।

यहाँ कोई ऐसी भी शंका कर सकता है कि यह ज्ञापक निर्बल है क्योंकि 'उणादि' नाम के लिए कहीं व्युत्पत्ति पक्ष माना गया है और कहीं अव्युत्पत्ति पक्ष भी माना गया है । अतः जब अव्युत्पत्ति पक्ष का आश्रय करेंगे तब ही 'नप्तृ' आदि का पृथगुपादान इस न्याय का ज्ञापक बनेगा और व्युत्पत्ति पक्ष का आश्रय करने पर वह ज्ञापक नहीं बनेगा किन्तु नियम के लिए होगा ।

सूत्रकार आ. श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने स्वयं 'तृ-स्वसृनप्तृ' १/४/३८ सूत्र की वृत्ति में स्पष्टरूप से बताया है कि "तृ शब्दस्यार्थवतो ग्रहणेन प्रत्ययग्रहणान् नप्त्रादीनामव्युत्पन्नानां संज्ञा-शब्दानां तृ शब्दस्य ग्रहणं न भवतीति तेषां पृथगुपादानम् । इदमेव च ज्ञापकं अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणं भवतीति व्युत्पत्तिपक्षे तु 'तृ' ग्रहणेनैव सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं नियमार्थम् । तेनान्येषामौणादिकानां न भवति ।"

इस प्रकार सूत्रकार ने स्वयं नप्त्रादि के पृथग्ग्रहण को ज्ञापक माना है, तब इसको हमें निर्बल या अयोग्य मानना नहीं चाहिए । और जब 'उणादि' नाम के लिए दो पक्ष हों तब एक ही समय पर किसी एक ही पक्ष को माना जा सकता है । दोनों पक्ष को एकसाथ माना नहीं जा सकता है, अतः जहाँ व्युत्पत्ति पक्ष का आश्रय करने से कार्य सिद्ध होता हो वहाँ व्युत्पत्ति पक्ष का ही आश्रय करना चाहिए और इस प्रकार जहाँ अव्युत्पत्ति पक्ष का आश्रय करना हो, वहाँ अव्युत्पत्ति पक्ष का ही आश्रय करना चाहिए ।

इस न्याय में भी कोई ज्ञापक की अपेक्षा नहीं है ऐसा कुछेक लोग मानते हैं । वे कहते हैं कि व्यवहार से यह न्याय फलित (सिद्ध) हो जाता है । उदा. लोकव्यवहार में 'शब्द' में क्रिया का बाध होता है, अतः शब्द और अर्थ दोनों का वाच्य-वाचक सम्बन्ध करके वाच्य के विषय में प्रवृत्ति होती है । जैसे किसीने 'घटमानय' ऐसा कहा, तब 'घट' शब्द वाचक हुआ और घट (पदार्थ, चीज) वाच्य हुआ और लोक वाच्य के विषय में ही प्रवृत्ति करेंगे । इस प्रकार व्याकरणशास्त्र में शब्द से शब्द के अर्थ का बोध होने पर भी, उसके साथ अन्वय असंभव होने से, उसी अर्थ-विशिष्ट शब्द में ही वह कार्य होता है किन्तु शब्द के विषय-स्वरूप पदार्थ से वही कार्य नहीं हो सकता है । अतः शब्द विशेष्य हुआ, और अर्थ विशेषण हुआ । इस प्रकार व्याकरणशास्त्र में शब्द का ही प्राधान्य होता है, ऐसे सिद्धांत का स्वीकार करने पर भी विशेषण के रूप में अर्थ की उपस्थिति का निषेध

नहीं हो सकता है, अतः व्याकरणशास्त्र में भी अर्थ सहित ही शब्द का ग्रहण होता है ।

दूसरा प्रश्न यह है कि वर्ण के ग्रहण में इस न्याय की प्रवृत्ति होती है या नहीं ? पाणिनीय परम्परा में स्पष्ट रूप से वर्ण के विषय में इस न्याय की प्रवृत्ति का निषेध किया गया है । जबकि सिद्धहेम की परम्परा में इसके बारे में कहीं पर, कोई उल्लेख दिखाई नहीं पडता है ।

पाणिनीय परम्परा में, दश काल की 'लट्, लिट्, लोट्, लृङ्' आदि लकार द्वारा संज्ञा की गई है और 'लस्य' (पा.सू. ३/४/७७) सूत्र से ल के विविध आदेश किया जाता है । वही 'ल' केवल एक ही वर्ण-स्वरूप है किन्तु वह अर्थवान् है, जबकि 'लभते', 'लुनाति' आदि में 'ल' अनर्थक हे । वहाँ लस्य (पा.सू. ३/४/७७) सूत्र की प्रवृत्ति का विषय है । अतः वर्ण के विषय में इस न्याय की प्रवृत्ति होती है या नहीं, इसका निर्णय करना जरूरी होने से पाणिनीय परम्परा में इसकी चर्चा/विचारणा की गई है । और पाणिनीय परम्परा तथा उसे अनुसरण करनेवाली अन्य परम्परा के व्याकरण के परिभाषा ग्रन्थों में 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' - न्याय के अपवाद-स्वरूप 'न वर्णग्रहणेषु' (परिभाषासूचन, तथा परिभाषापाठ, शाकटायन, पुरुषोत्तमदेवकृत लघु परिभाषावृत्ति, सीरदेवकृत बृहत्परिभाषावृत्ति, श्रीमानशर्मनिर्मित परिभाषा टिप्पणी, नीलकण्ठ दीक्षित विरचित परिभाषावृत्ति, हरिभास्कर अग्निहोत्रीकृत परिभाषाभास्कर) तथा 'वर्णान्तस्य विधिः' (कातन्त्र परिभाषावृत्ति-दुर्गसिंहकृत, कातन्त्र परिभाषा सूत्रपाठ) परिभाषाएँ हैं ।

चान्द्र, जैनेन्द्र, हैम, नागेश और शेषाद्रि के अलावा अन्य सभी परिभाषा ग्रन्थो में इसकी चर्चा की गई है और 'न वर्णग्रहणेषु' न्याय दिया है

लस्य (पा.सू. ३/४/७७) सूत्र के महाभाष्य में, इसके लिए कहा गया है कि जहाँ वर्णमात्र का ग्रहण करने को कहा गया है वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः ऐसे स्थानों में सार्थक वर्ण के साथ-साथ अनर्थक का भी ग्रहण होता है । इसके बारे में विस्तृत चर्चा महाभाष्य और कैयट के ग्रन्थों में से देख लेना । यहाँ वह अप्रस्तुत और अनावश्यक है ।

यहाँ बताया गया कि 'तीयं ङित्कार्ये वा-' १/४/१४ सूत्र से होनेवाला कार्य 'द्वितीय, तृतीय' इत्यादि शब्द से होगा, किन्तु 'जातीयर्' प्रत्ययान्त 'महाजातीय' शब्द से नहीं होगा क्योंकि यहाँ 'जातीयर्' का 'तीय' अंश (शब्द) अनर्थक है । अब प्रश्न यही होता है कि लोक में 'द्वितीय, तृतीय' इत्यादि संपूर्ण शब्द ही अर्थवान् माने जाते हैं, उसका एक अंश 'तीय' अनर्थक है क्योंकि उसके द्वारा शब्द के अर्थ का बोध नहीं होता है और भाष्य का सिद्धांत है कि 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः।' तथापि व्याकरणशास्त्र में प्रत्ययों के अर्थ की कल्पना की गई है । अतः शास्त्रीय कार्य के निर्वाह के लिए शास्त्र के प्रमाण से 'तीय' आदि प्रत्यय अर्थबोधक बनते हैं । यहाँ 'द्वितीय' शब्द में 'द्वेस्तीयः' ७/१/१६५ सूत्र से 'पूरण' अर्थ में 'तीय' प्रत्यय हुआ है, अतः उसमें पूरणार्थवाचकत्व माना जाता है । 'जातीयर्' का 'तीय' इस प्रकार के अर्थ से रहित होने से उसका ग्रहण हो नहीं सकता है । यहाँ दूसरी शंका यह होती है कि 'यावकः' आदि में 'क' प्रत्यय के अभाव में जो अर्थ प्रतीत होता है, वही अर्थ 'क' प्रत्यय होते हुए भी प्रतीत होता

है । अतः स्वार्थ में होनेवाले 'क' प्रत्यय का कोई अर्थ मालूम नहीं देता है । उसके प्रत्युत्तर में कहा गया है कि 'क' आदि की 'प्रत्यय' रूप अन्वर्थक 'महासंज्ञा' करने से 'प्रकृति' का जो अर्थ है, वही अर्थ 'क' प्रत्यय का भी माना जाता है, अतः प्रत्यय का अर्थ और प्रकृति का अर्थ दोनों समान होने से, दोनों का समुदित अर्थ भी वही होता है ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक जो श्रीहेमहंसगणि ने बताया है, वह सही नहीं लगता है । उन्हों ने बताया है कि 'डत्यतु सङ्ख्यावत्' १/१/३५ सूत्र से 'डति' प्रत्ययान्त शब्द सङ्ख्यावाचक होंगे, अतः 'सङ्ख्याडतेश्चा' ६/४/१३० सूत्रगत 'सङ्ख्या' शब्द से उसका ग्रहण हो जायेगा, तथापि 'डति' का ग्रहण किया, क्योंकि 'ति' अन्तवाले शब्दों के वर्जन से 'डति' सम्बन्धी अनर्थक 'ति' का भी वर्जन हो जायेगा, अतः 'डति' प्रत्ययान्त शब्द का ग्रहण करने के लिए, उसको रखा है । इस प्रकार 'ति' को उन्होंने सार्थक माना है और 'डति' के 'ति' को अनर्थक माना है, अतः 'ति' के वर्जन से, इस न्याय से 'डति' का वर्जन होता ही नहीं है, इसलिए 'डति' रखने की कोई जरूरत नहीं थी, अत एव वही 'डति' ग्रहण व्यर्थ होकर, इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करता है ।

किन्तु बहुत विचार करने पर, उनकी यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती है । उन्होनें 'ति' को सार्थक माना है किन्तु वह सार्थक नहीं है; अनर्थक है; अतः 'ति' अन्तवाले शब्दों के वर्जन से 'डति' अन्तवाले शब्दों का वर्जन हो ही जाता है, इस लिए 'डति' प्रत्ययान्त शब्दों को 'क' प्रत्यय करने के लिए सूत्र में 'डति' का ग्रहण आवश्यक है, अतः वह सार्थक है । वस्तुतः 'ति' प्रत्ययान्त शब्दों का वर्जन नहीं है, किन्तु 'ति' अन्तवाले शब्दों का वर्जन किया गया है । यहाँ सिद्धहेम में और अन्य व्याकरण परम्परा में भी 'विंशति' आदि शब्दों को अव्युत्पन्न माने गये हैं, अतः 'ति' प्रत्यय है ही नहीं । यदि उसका 'उणादि' से भिन्न अन्य किसी सूत्र से विधान करके, 'ति' प्रत्यय किया होता और शब्दसिद्धि की गई होती तो, उसे 'ति' प्रत्यय कहा जा सकता, किन्तु यहाँ सिद्धहेम में उसे निपातन से सिद्ध किया है । इस प्रकार सिद्ध होता है कि 'ति' अनर्थक ही है ।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि 'डति' ग्रहण से, इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन होता है, तो 'ष्टि' अन्तवाले शब्द का वर्जन यहाँ सार्थक नहीं होता है । जबकि 'ष्टि' अन्तवाले शब्द के वर्जन को ज्ञापक मानने पर, ऊपर बताया उसी तरह 'डति' का ग्रहण सार्थक ही है, अतः 'सङ्ख्याडतेश्चात्तिष्टेः कः' ६/४/१३० सूत्रगत 'ष्टि' के वर्जन को ज्ञापक मानना चाहिए ऐसा तर्क आ. श्रीलावण्यसूरिजी करते हैं किन्तु दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'ति' अनर्थक है और 'षष्टि' का 'ष्टि' (टि) भी अनर्थक ही है, अतः 'त्यन्त' के वर्जन से 'ष्ट्यन्त' का वर्जन हो ही जाता था, तो 'ट्यन्त' वर्जन पृथग् क्यों किया ? प्रस्तुत न्याय कहता है कि 'अर्थवान् का ग्रहण हो वहाँ अनर्थक का ग्रहण नहीं होता है' यदि इस न्याय को अनित्य मानें तो, ऐसा बताना चाहिए कि 'अर्थवान् के ग्रहण से अनर्थक का भी ग्रहण हो जाता है । यहाँ तो 'ति' और 'ष्टि' दोनों अनर्थक ही हैं । यदि 'ष्टि' के वर्जन को ज्ञापक मानें तो ऐसा मानना पड़े कि अनर्थक के ग्रहण से सार्थक का भी ग्रहण

होता है । वस्तुतः ऐसा नहीं है । 'ति' या 'ष्टि', कहीं भी सार्थक है नहीं ।

अतः अपनी मान्यतानुसार 'ष्टि' के वर्जन को भी, इसी न्याय की अनित्यता के ज्ञापक के रूप में नहीं मानना चाहिए ।

यदि हम एक दूसरी मान्यता को स्वीकार करें कि सिद्धहेम की परम्परा में 'उणादि भिन्न' सूत्र से जो शब्द की सिद्धि होती है, उसमें निपातन भी आ जाता है और ऐसे निपातित शब्दों को व्युत्पन्न मानने पर 'ति' सार्थक होता है, तथा श्रीहेमहंसगणि ने बताया उसी प्रकार से 'डति' ग्रहण व्यर्थ होकर, इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करता है, किन्तु पुनः यही प्रश्न उपस्थित होता है कि 'त्यन्त' के वर्जन से सार्थक और अनर्थक दोनों 'ति' का वर्जन होता है तो 'ष्ट्यन्त' का पृथग्वर्जन क्यों किया ?

इस प्रकार 'सङ्ख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः' ६/४/१३० किसी भी प्रकार से प्रस्तुत न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करने में समर्थ नहीं है ।

कदाचित् 'ष्ट्यन्त' वर्जन से 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय की अनित्यता का ज्ञापन हो सकता है । वह इस प्रकार है-:

'षष्' शब्द से 'षष्टि' शब्द का निपातन करते समय 'षष्' से 'ति' प्रत्यय होता है और 'तवर्गस्य श्चवर्गष्टवर्गाभ्यां योगे चटवर्गौ' १/३/६० सूत्र से 'ति' का 'टि' हो जाता है अतः 'त्यन्त' के वर्जन से ही 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' - न्याय से 'ष्ट्यन्त' का वर्जन हो ही जाता है, अतः इसी सूत्र में 'ष्ट्यन्त' का वर्जन व्यर्थ होकर, ज्ञापित करता है कि 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय अनित्य है ।

॥१५॥ लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ॥

'लाक्षणिक' और 'प्रतिपदोक्त' दोनों का ग्रहण संभव हो तो 'प्रतिपदोक्त' का ही ग्रहण करना ।

यहाँ 'सम्भवतोः' पद अध्याहार है । इस प्रकार आगे भी यथायोग्य पद अध्याहार समझ लेना । 'लक्ष्यतेऽनेन इति लक्षणं, लिङ्गम् ।' जिस के द्वारा लक्षण किया जाता है वह 'लक्षण' या 'लिङ्ग', 'चिह्न' । वही 'लिङ्ग' या 'चिह्न' के द्वारा जो विधि कही जाय, वही विधि भी उपचार से 'लक्षण' या 'लाक्षणिक' विधि कही जाती है, और प्रत्येक पद का विधान करके, उसी पद के लिए कथित विधि 'प्रतिपदोक्त' विधि कही जाती है ।

यहाँ सूत्र में 'लक्षण' और 'प्रतिपदोक्त' दोनों का द्वन्द्व समास है । जो कार्य सामान्यतया 'लिङ्ग' मात्र का निर्देश करके कहा गया हो, वह कार्य 'लक्षण' कहा जाता है । 'लक्षणेन चरति'- वाक्य में 'चरति' ६/४/११ सूत्र से 'इकण्' होगा और 'लाक्षणिक' बनेगा । इसी कार्य को 'लाक्षणिक' कार्य भी कहा जाता है । और जो कार्य 'नाम' ग्रहणपूर्वक बताया गया हो, वह 'प्रतिपदोक्त' कहा जाता है ।

जब 'लाक्षणिक' और 'प्रतिपदोक्त' दोनों का ग्रहण संभव हो तब 'प्रतिपदोक्त' का ही ग्रहण करना किन्तु 'लाक्षणिक' का ग्रहण नहीं करना । जैसे 'नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याऽधुट्परे' १/३/८ यहाँ 'लाक्षणिक नकार' का ग्रहण नहीं करने से 'त्वन्तत्र' इत्यादि प्रयोग में 'न्' का 'स्' नहीं होगा क्योंकि यह 'न्', 'तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ' १/३/१४ से अनुनासिक के रूप में सामान्यतया हुआ है । घास आदि से आच्छादित भूमि में 'ककुद्' (खांध) को देखकर ही यहाँ बैल होगा, ऐसा अनुमान/निश्चय होता है, इस प्रकार यहाँ बाद में आये हुए तकार को देखकर तकार के वर्ग का ही अनुनासिक नकार यहाँ आया हुआ दिखाई पडता है । अतः इस युक्ति से 'लक्षणाद्- चिह्नादागतो लाक्षणिकः' व्याख्यानुसार यहाँ 'लाक्षणिक न' है । जबकि इसी सूत्र से 'प्रतिपदोक्त' 'न्' का ही 'स्' होता है । जैसे-भवाँस्तत्र', यहाँ न्, 'नोऽन्तः' इसी प्रकार नकार के ही विधान द्वारा हुआ है, अतः वह 'प्रतिपदोक्त' है ।

'एकार्थं चानेकं च' ३/१/२२ सूत्र से बहुव्रीहि समास सिद्ध होने पर भी 'आसन्नादूराधिकाऽध्यर्द्धार्द्धादिपूरणं द्वितीयाद्यन्यार्थे' ३/१/२० इत्यादि सूत्र से प्रतिपदोक्त बहुव्रीहि का विधान, इस न्याय का ज्ञापक है । 'प्रमाणीसङ्ख्याड्डः' ७/३/१२८ सूत्र से जो 'ड' समासान्त करना है, वह 'आसन्नादूराधिका'-३/१/२० सूत्र में कथित समास से ही होता है, अतः 'आसन्ना दश येषां ते आसन्नदशाः' आदि प्रयोग में 'ड' समासान्त होगा किन्तु 'एकार्थं चानेकं च' ३/१/२२ सूत्र द्वारा निष्पन्न बहुव्रीहि समास से 'ड' समासान्त नहीं होगा । उदा. 'प्रिया दश येषां ते प्रियदशानः ।'

यह न्याय अविश्वास्य/अनित्य होने से 'ह्रस्वस्य गुणः' १/४/४१ सूत्र में प्रतिपदोक्त ह्रस्व स्वर के साथ लाक्षणिक ह्रस्व स्वर भी ग्रहण किया है । उदा. 'हे कर्तः, हे निष्कौशाम्बे' यहाँ 'कर्तृ' का 'तृ' 'णकतृचौ' ५/१/४८ सूत्र से आया है और सूत्र में 'तृ' रूप द्वारा ही विधान किया है, अतः वह 'प्रतिपदोक्त' है । जबकि 'निर्गतः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः' में स्थित 'इ' लाक्षणिक है क्योंकि 'गोश्चान्ते'- २/४/९६ से सामान्यतया ह्रस्व करने का विधान है, अतः 'कौशाम्बी' में दीर्घ 'ईकार' स्थानी होने से, उसके स्थान में, उसका आसन्न ह्रस्व 'इ' होगा । इस प्रकार 'लक्षण' अर्थात् 'चिह्न' से कथित होने से वह लाक्षणिक है । इस न्याय के उदाहरण में क्वचित् व्याकरण से कथित निष्पन्न को लाक्षणिक और अव्युत्पन्न को प्रतिपदोक्त कहे गये हैं । उदा. 'हन्' के 'ह्यस्तनी' अन्यदर्थ, एकवचन में 'अहन्' रूप होता है । इसके 'न्' का 'अह्नः' २/१/७४ से 'रु' नहीं होगा क्योंकि वह 'लाक्षणिक' है, किन्तु दिन अर्थवाले 'अहन्' शब्द के 'न्' का 'रु' होगा क्योंकि वह 'प्रतिपदोक्त' है ।

'अहन्' का 'लाक्षणिकत्व' और 'अहन्' (दिवा) का 'प्रतिपदोक्तत्व' इस प्रकार है । प्रथम 'अहन्' में 'हन्' धातु है, उसे सामान्य से ह्यस्तनी, अद्यतनी और क्रियातिपत्ति में 'अड् आगम' करने का विधान है, और 'हन्' धातु को ह्यस्तनी का प्रत्यय हुआ है, अतः 'अड्' आगम हुआ है । सामान्य से व्यञ्जनान्त धातु से 'दिव्' प्रत्यय का लोप होता है । यहाँ 'हन्' धातु व्यञ्जनान्त होने से 'दिव्' प्रत्यय का लोप होगा । इस प्रकार 'त्याद्यन्त' अहन् शब्द लाक्षणिक है । जबकि 'दिन' अर्थयुक्त, 'अहन्' शब्द 'उणादि' है और उणादि सूत्र 'श्वन्मातरि-' (उणा- ९०२) में नाम ग्रहण करके कहा गया है,

अतः वह प्रतिपदोक्त है । इस प्रकार सर्वत्र 'लाक्षणिकत्व' और 'प्रतिपदोक्तत्व' का विचार करके कार्य करना ।

'अहन्' -'हन्' धातु के ह्यस्तनी के रूप 'अहन्' का लाक्षणिकत्व बताते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं - 'लक्षणात् ह्यस्तनीरूपात् चिह्नात् आगतः' अथवा 'ह्यस्तनीरूपेण चिह्नेन निवृत्तः ।' आ. लावण्यसूरिजी को यह मान्य नहीं है । वे कहते हैं कि 'लक्षणेन - सूत्रेण निष्पन्नं ।' 'लक्षण' अर्थात् सूत्र, इससे निष्पन्न 'लाक्षणिक' कहा जाता है । इस प्रकार का अर्थ करने पर भी कोई दोष आता नहीं है । वे 'लाक्षणिक' और 'प्रतिपदोक्त' की व्याख्या इस प्रकार करते हैं । 'लाक्षणिक' अर्थात् व्याकरण के किसी भी सूत्र से निर्दिष्ट और 'प्रतिपदोक्त' से भिन्न । 'प्रतिपदोक्त' अर्थात् व्याकरण के सूत्र से उपात्त हो किन्तु सूत्र में प्रत्येक पद का निर्देश करके, उसमें कथित कार्य हुआ हो या होनेवाला हो तो वह 'प्रतिपदोक्त' कहा जाता है । यद्यपि ' प्रतिपदोक्त' भी व्याकरण के सूत्र से उपात्त है, अत एव 'लाक्षणिक' व्याख्या में, 'प्रतिपदोक्त भिन्नम्' विशेषण रखना पड़ा है । आ.श्रीलावण्यसूरिजी की यह व्याख्या क्लिष्ट है । श्रीहेमहंसगणि की मूल व्याख्या सरल और स्पष्ट है । 'लक्षण' अर्थात् लिङ्ग या चिह्न, इससे सूत्र में जो उक्त हो वह 'लाक्षणिक' कहा जाता है । 'पदं पदं प्रति उक्तः' अर्थात् प्रत्येक शब्द या वर्ण का निर्देश करके कहा गया हो, वह 'प्रतिपदोक्त' कहा जाता है ।

'परिभाषेन्दुशेखर' में इस न्याय को अपूर्व अर्थ का विधायक बताया नहीं है किन्तु, केवल न्यायसिद्ध अर्थ का अनुवाद करनेवाला ही कहा गया है ।

इस न्याय का न्यायसिद्धत्व इस प्रकार बताया है -: 'लक्षण' के संदर्भपूर्वक जिसका ज्ञान होता है, वह 'लाक्षणिक', अतः इसकी उपस्थिति विलम्ब से होती है । शब्द के अनुवाद द्वारा जो विहित है वह 'प्रतिपदोक्त' है और उसकी उपस्थिति शीघ्र ही होती है, और जिसकी उपस्थिति विलम्ब से होती है, उसके ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं होने से उसका ग्रहण होता नहीं है । यही बात इस न्याय का मूलभूत बीज-स्वरूप है । अतः इस न्याय के ज्ञापक की आवश्यकता नहीं है, तथापि ज्ञापक बताया, वह इस न्याय की अनिवार्यता सिद्ध करने के लिए है, ऐसा, आ.श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं ।

वर्णग्रहण के विषय में इस न्याय की प्रवृत्ति होती है या नहीं ? इसकी चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं-: 'आत्सन्ध्यक्षरस्य' ४/२/१ सूत्रकी वृत्ति में 'धातोः' पद की अनुवृत्ति की है, अतः वर्णग्रहण के विषय में इस न्याय की प्रवृत्ति होती नहीं है क्योंकि 'नाम' के अन्त में आया हुआ 'सन्ध्यक्षर' 'लाक्षणिक' कहा जाता है, अतः इस न्याय से उसका ग्रहण नहीं होता है, इसलिए 'धातोः' कहने की जरूरत नहीं है, तथापि ग्रहण किया, वह इस न्याय की वर्ण के विषय में अप्रवृत्ति को सूचित करता है ।

किन्तु यह बात सही/उचित नहीं है । 'सन्ध्यक्षरान्त' उणादि 'नाम' के विषय में अव्युत्पत्ति पक्ष का आश्रय किया जाय तो 'गो' आदि में 'सन्ध्यक्षर' 'लाक्षणिक' नहीं रह पाता है, अतः उसकी व्यावृत्ति करने के लिए 'धातोः' पद जरूरी है और पाणिनीय सूत्र 'औत्' (पा.सू.१/१/१५) के

महाभाष्य में भी सिद्ध किया है कि वर्ण के विषय में भी इस न्याय की प्रवृत्ति होती है ।

आ.श्रीलावण्यसूरिजी ने उपर्युक्त चर्चा की है, किन्तु सब व्यर्थ है, क्योंकि श्रीहेमहंसगणि ने 'नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च' १/३/८ सूत्र में 'न्' के विषय में इस न्याय की प्रवृत्ति की है और सिद्धहेम की 'आत्सन्ध्यक्षरस्य' ४/२/१ सूत्र की बृहद्वृत्ति में 'इह तु लाक्षणिकत्वान्न भवति' कहकर उदाहरण के रूप में 'चेता, स्तोता' रूप बताये हैं और 'धातोरित्येव' कहकर 'गोभ्याम्, नौभ्याम' उदाहरण दिये हैं अर्थात् 'नाम्' सम्बन्धी अन्त्य सन्ध्यक्षर को उन्होंने लाक्षणिक माना नहीं है । अतः यहाँ ऐसा प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है । जबकि श्रीलावण्यसूरिजी ने उसे 'लाक्षणिक' और 'लाक्षणिक से भिन्न', दो प्रकार के माने हैं । 'उणादि' से निष्पन्न 'नाम' में व्युत्पत्तिपक्ष का आश्रय करके 'लाक्षणिक' मानते हैं और 'अव्युत्पत्तिपक्ष' का आश्रय करके 'लाक्षणिकत्व रहित' मानते हैं । अतः उन्होंने इस प्रकार की चर्चा की हो, ऐसा मालूम देता है ।

॥१६॥ नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ॥

केवल 'नाम' के ग्रहण से स्त्रीत्वादि से विशिष्ट 'नाम' का भी ग्रहण होता है ।

केवल 'नाम' के निर्देश से स्त्रीत्व, पुंस्त्व, नपुंसकत्व से विशिष्ट 'नाम' का भी ग्रहण हो जाता है । शब्द और अर्थ से विभिन्न लगते हुए शब्दों का ग्रहण करने के लिए यह न्याय है । (इस प्रकार अगला न्याय भी 'यङ्लुबन्त' का 'प्रकृति' के रूप में अग्रहण था, उसे दूर करने के लिए है ।)

उदा. 'त्यदामेनदेतदो द्वितीयाटौस्यवृत्त्यन्ते' २/१/३३, यहाँ 'त्यदाम्' से सामान्यतया 'त्यदादि' शब्द लिया है तथापि स्त्रीत्वादि लिङ्ग विशिष्ट प्रत्येक 'त्यदादि' शब्द का इस न्याय से ग्रहण होता है, अतः 'सा, स्या' इत्यादि रूप में 'तः सौ सः' २/१/४२ से 'त' का 'स' करते समय 'त्यदादि' और 'सि' प्रत्यय के बीच 'आप्' का व्यवधान नहीं माना जाता क्योंकि 'आप्' स्त्रीलिङ्ग विशिष्टजन्य है । अतः प्रस्तुत न्याय से केवल 'त्यदादि' नाम के ग्रहण से स्त्रीलिङ्गविशिष्ट 'आप्' प्रत्यय का भी ग्रहण हो जाता है ।

'नामग्रहणे इति किम् ?' केवल सामान्य से 'नामग्रहण' किये जाने पर ही लिङ्गविशिष्टग्रहण । ऐसा क्यां ? जहाँ लिङ्गसहित निर्देश किया हो वहाँ उसी लिङ्गविशिष्ट का ही ग्रहण करना । जैसे 'अतः कृकमिकंसकुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽनव्ययस्य' २/३/५ सूत्र में 'कुशा' स्त्रीलिङ्गविशिष्ट होने से 'अयस्कुशा' की तरह 'अयःकुश' में 'र' का 'स' नहीं होगा ।

'राजन्सखेः' ७/३/१०६ सूत्र में 'राजन्' में 'नकारान्त' निर्देश, इस न्याय का ज्ञापक है। क्योंकि वही 'राजन्' शब्द स्त्रीलिङ्ग में 'नकारान्त' न होने से वहाँ 'अट्' समासान्त के निषेध के लिए 'नान्त' निर्देश है । जैसे - 'महती च सा राज्ञी च महाराज्ञी ।' यहाँ 'अट्' समासान्त नहीं होगा क्योंकि वह नकारान्त नहीं है । यदि यह न्याय न होता तो 'राजसखेः' कहने से भी 'महाराज्ञी' में 'अट्' समासान्त न होता क्योंकि वह भिन्न शब्द है, किन्तु इस प्रकार निर्देश करने पर वह 'नाम' मात्र के

निर्देश होने से, इस न्याय से, 'महाराज्ञी' में भी 'अट्' समासान्त हो जाता । अतः 'राजन्सखेः' ७/३/१०६ में नकारान्त अर्थात् पुंल्लिङ्ग 'राजन्' शब्द का निर्देश किया है ।

यह न्याय अनित्य होने से 'सर्वादिविष्वग्देवाड्डद्रिः क्व्यञ्चौ' ३/२/१२२ में निर्दिष्ट 'डद्रि', 'विषूची' शब्द से नहीं होगा । यदि ऐसा किया जाय तो 'विषूचद्र्यङ्' जैसा अनिष्ट रूप होगा ।

यहाँ किसी को ऐसी शंका हो सकती है कि 'एकदेशविकृत-' न्याय से, सामान्य 'नाम' द्वारा ही, लिङ्ग को बताने वाले 'आप्, ङी' आदि प्रत्यय जिसके अन्त में है वैसे 'नाम' का भी ग्रहण हो सकता है, अतः इस न्याय की कोई जरूरत नहीं है । उसके प्रत्युत्तर में आ.श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यहाँ 'एकदेशविकृतत्व' ही नहीं है, किन्तु अन्य वर्ण की अधिकता/वर्णाधिक्य है, अतः 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता है ।

इस न्याय की अनित्यता का उदाहरण श्रीहेमहंसगणि ने दिया है किन्तु अनित्यता का ज्ञापक नहीं दिया है । इस न्याय की अनित्यता के ज्ञापक के रूप में, आ.श्रीलावण्यसूरिजी ने 'स्त्रियाम्' ३/२/६९ सूत्र को बताया है । वह इस प्रकार है ।-: 'महत्याः करः' रूप षष्ठीतत्पुरुष समास में, पूर्वपद रूप 'महत्' शब्द से 'डा' प्रत्यय होता है और 'महाकरः' शब्द बनता है । यह न्याय नित्य होता तो 'महतः कर-घास-विशिष्टे डाः' ३/२/६८ से ही 'डा' प्रत्यय हो जाता, क्योंकि 'महत्' शब्द से, लिङ्गविशिष्ट 'महत्' शब्द का भी ग्रहण हो सकता है, तथापि उसके लिए 'स्त्रियाम्' ३/२/६९ पृथग् बनाया, इससे ज्ञापित होता है कि यह न्याय अनित्य है ।

किन्तु यह ज्ञापक सही नहीं है । यहाँ 'स्त्रियाम्' ३/२/६९ से नित्य 'डा' प्रत्यय करने के लिए, उसका पृथग् विधान किया है । 'महतः कर-घास-विशिष्टे डा' ३/२/६८ से 'डा' प्रत्यय होता है किन्तु उसमें विकल्प है जबकि यहाँ नित्य 'डा' प्रत्यय करना है, अतः पृथग्योग आवश्यक है । सिद्धहेम बृहद्वृत्ति में स्वयं श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने कहा है कि 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति पूर्वेणैव सिद्धे नित्यार्थमिदम् ।' अतः प्रस्तुत सूत्र इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक नहीं बन सकता है, इसलिए अन्य कोई ज्ञापक की तलाश करनी चाहिए ।

श्रीहेमहंसगणि ने इस न्याय के न्यास में 'तद्' शब्द के पुल्लिङ्ग में 'सः' रूप तथा नपुंसकलिङ्ग में 'ते' रूप सिद्ध करने के लिए, इस न्याय की प्रवृत्ति करने को कहा है और इस न्याय द्वारा ही 'आद्वेरः' २/१/४१ से अन्त्य 'द्' का 'अ' होगा । श्रीहेमहंसगणि मानते हैं कि 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' न्याय से पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्गयुक्त 'नाम' भी ग्रहण होते हैं, केवल स्त्रीलिङ्गविशिष्ट 'नाम' के लिए ही यह न्याय नहीं है । सामान्य से लिङ्गरहित 'नाम' का सूत्र में ग्रहण किया हो तो, वह कौन-से लिङ्ग से विशिष्ट लेना, उसका स्पष्ट कथन न होने से, दुविधा होती है, उसे दूर करने के लिए और स्त्रीलिङ्ग में 'आप्' या 'ङी' प्रत्यय होने से स्वरूप भेद होता है, अतः इसका ग्रहण नहीं होता है, ऐसी शंका को निर्मूल करने के लिए यह न्याय है ।

जबकि श्रीलावण्यसूरिजी मानते हैं कि पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में शब्द की प्रवृत्ति स्वाभाविक

ही है । जब लिङ्गविशिष्ट प्रत्यय के कारण, शब्द के स्वरूप में भेद होता है तब ही उस के अग्रहण की शंका होती है और स्त्रीलिङ्गविशिष्ट शब्दमें ही 'आप्' या 'ङी' प्रत्यय के कारण स्वरूपभेद होता है । पुल्लिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग में स्वरूप भेद नहीं होता है । अतः 'लिङ्गरहित नाम' से पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग शब्द के ग्रहण में कोई प्रश्न उपस्थित नहीं होता है, अतः स्त्रीलिङ्गविशिष्ट प्रत्यययुक्त शब्दों का ग्रहण करने के लिए ही यह न्याय है ।

यह न्याय प्रत्येक परिभाषा संग्रह में उपलब्ध है, तथापि विभिन्न परम्परा में उसके विभिन्न ज्ञापक आदि बताये हैं ।

॥१७॥ प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि ग्रहणम् ॥

'प्रकृति' के ग्रहण से 'यङ्लुबन्त' का भी ग्रहण होता है ।

जिस शब्द से, जो प्रत्यय होता है, वह शब्द, उसी प्रत्यय की 'प्रकृति' कहलाता है । वह प्रकृति' दो प्रकार की है । १. 'नाम'-स्वरूप २. 'धातु'-स्वरूप । किन्तु यहाँ 'प्रकृति' शब्द से 'धातु' ही लेना चाहिए क्योंकि 'यङ्लुबन्त' धातु-सम्बन्धित ही होता है, किन्तु 'नाम'-सम्बन्धित नहीं होता है, अतः 'यङ्लुबन्त' पद के सामार्थ्य से यहाँ धातु रूप ही 'प्रकृति' लेना ।

अगले न्याय में भी इस प्रकार समझ लेना ।

जो कार्य केवल अकेले 'धातु' से करने का विधान किया हो वही कार्य 'यङ्लुबन्त' धातु से भी होता है । उदा. 'प्रणिदत्ते' में जैसे केवल 'दाग्' धातु सम्बन्धित 'नि' का 'णि', 'नेङ्र्मादापत'- २/३/७९ से हुआ है । इस प्रकार 'यङ्लुबन्त दाग्' धातु सम्बन्धित 'नि' का 'णि' भी 'नेङ्र्मादापत पद'- २/३/७९ से ही होगा और 'प्रणिदादेति' रूप सिद्ध होगा ।

'एकस्वरादनुस्वारेतः' ४/४/५६ जैसे दीर्घसूत्र की रचना, इस न्याय का ज्ञापक है । जिस में अनुस्वार की 'इत्' संज्ञा हुई है, ऐसे 'कृ' इत्यादि सर्व धातु एकस्वरयुक्त ही हैं, किन्तु अनेकस्वरयुक्त नहीं हैं अतः केवल 'अनुस्वारेतः' कहने से ही 'कर्ता' इत्यादि में 'इट्' का निषेध हो जाता है अतः 'एकास्वराद्' विशेषण रखनेकी आवश्यकता ही नहीं थी ।

यहाँ कोई ऐसी शंका करें कि 'हन्' धातु का आदेश 'वध' अनेकस्वरयुक्त है और 'हन्' धातु 'अनिट्' होने से उसका आदेश भी 'अनिट्' होगा, अतः 'अवधीद्' प्रयोग में 'इट्' के निषेध की निवृत्ति के लिए 'एकस्वराद्' विशेषण रखा है । इसका प्रत्युत्तर देते हुए न्यायसंग्रहकार श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यदि केवल 'वध' सम्बन्धित 'इट्' के निषेध की निवृत्ति करनी होती तो 'अवधानुस्वारेतः' के रूप में सूत्ररचना की जाती किन्तु 'एकस्वरादनुस्वारेतः' ४/४/५६ के रूप में सर्वसामान्य कथन किया, वह तब ही सार्थक होता है जब, 'वध' के अलावा बहुत से अन्य अनेकस्वरयुक्त धातुऐं हो और ऐसे अनेकस्वरयुक्त बहुत से धातु तब ही मिल पाते हैं, जब 'कृ' आदि धातुओं को 'यङ्लुबन्त' करके इस न्याय की प्रवृत्ति की जाय । उदा. 'कृ' धातु को 'यङ्लुबन्त करने पर 'चर्कृ' होता है और यह स्वरूप 'अनेकस्वरयुक्त' है, अतः सूत्र में केवल 'अनुस्वारेतः' कहने पर यहाँ भी 'इट्' का

निषेध हो जाता, तो, 'चर्करिता' इत्यादि रूपों की सिद्धि नहीं होती । इस प्रकार 'यङ्लुबन्त' धातु अनेकस्वरयुक्त होने से और केवल (अकेले) धातु से जो कार्य होता है, वही कार्य 'यङ्लुबन्त' को भी होता है, अतः 'इट्-निषेध' की निवृत्ति के लिए 'एकस्वरादनुस्वारेतः ४/४/५६ के रूप में दीर्घ सूत्ररचना की है । प्रस्तुत न्याय के बिना इसी सूत्र की दीर्घ रचना सार्थक नहीं होती है । अतः प्रस्तुत सूत्र इस न्याय का ज्ञापक है ।

यह न्याय अनित्य है क्योंकि अगला न्याय (नं-१८) इस न्याय के क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है अर्थात् उसके कार्यक्षेत्र का संकोच करता है ।

मूल प्रकृति और 'यङ्लुबन्त' में केवल द्वित्व का ही फर्क है । अतः इस न्याय से प्रयोग-द्वयरूप 'यङ्लुबन्त' में 'प्रकृतित्व' आता है । और यह बात युक्तिसिद्ध ही है क्योंकि एक ही शब्द का द्वित्व करने से वह अपने मूल स्वरूप से भिन्न नहीं माना जाता है ।

इस प्रकार यह न्याय युक्तिसिद्ध होने से ज्ञापक की अपेक्षा/जरूरत नहीं है । यहाँ श्रीहेमहंस गणि ने 'एकस्वरादनुस्वारेतः' ४/४/५६ सूत्रगत 'एकस्वराद्' शब्द को ज्ञापक माना है किन्तु वह सही प्रतीत नहीं होता है । यह 'एकस्वराद्' अंश से, इस न्याय का ज्ञापन होता है, किन्तु ज्ञापन होने के बाद 'एकस्वराद्' का अपने अंश में कोई चारितार्थ्य नहीं है, ज्ञापक सदैव अपने अंश में चरितार्थ होना चाहिए और इसका फल अन्यत्र भी होना चाहिए । ऐसा आ.श्रीलावण्यसूरिजी का मानना है ।

अगले न्याय 'तिवा शवानुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च । एकस्वरनिमित्तं च पञ्चैतानि न यङ्लुपि ॥' से 'एकस्वरनिमित्तक' कार्य का बाध होता है अतः 'एकस्वरनिमित्तक' कार्य की प्राप्ति कराने के लिए 'एकस्वराद्' विशेषण रखा, इसकी व्यर्थता स्पष्ट ही है ॥

यहाँ ऐसा भी न कहना चाहिए कि 'प्रकृतिग्रहणे-' न्याय का 'एकस्वराद्' से ज्ञापन किया गया, अतः वह सार्थक हुआ, इसका निषेध करने के लिए अगले न्याय में 'एकस्वरनिमित्तक' कार्य का निषेध किया है क्योंकि यह न्याय न होने पर भी 'यङ्लुबन्त' में स्वतः 'एकस्वरनिमित्तक' कार्य की प्रवृत्ति नहीं होती है, अतः 'एकस्वराद्' ग्रहण व्यर्थ ही है ।

अतः 'एकस्वरादनुस्वारेतः' ४/४/५६ सूत्र में 'एकस्वराद्' शब्द से 'यङ्लुबन्त' में 'एकस्वरनिमित्तक कार्य' का निषेध होता है, ऐसा बताने के लिए ही है अत एव अगले न्याय 'तिवा शवानुबन्धेन'- के 'एकस्वरनिमित्तं..न यङ्लुपि ।' अंश का ही ज्ञापक बनता है । पाणिनीय परम्परा में 'एकाचः उपदेशेऽनुदात्तात्' (पा.सू. ७/२/१०) सूत्र सिद्धहेम के 'एकस्वरादनुस्वारेतः' ४/४/५६ सूत्र का ही अर्थ बताता है । इसी सूत्र के महाभाष्य में इसी सूत्र के 'एकाचः' पद का प्रयोजन बताते हुए कहा है कि इस पद से 'यङ्लुक्' की केवल व्यावृत्ति ही होती है किन्तु 'प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि-' न्याय का ज्ञापन नहीं होता है ।

ऊपर बताया उसी प्रकार 'द्वित्वभूत प्रकृति' अपने से भिन्न नहीं मानी जाती है, अतः इस

न्याय के बिना ही 'द्वित्वभूत यङ्लुबन्त' में स्वाभाविकतया ही प्रवृत्ति होनेवाली है अतः इसके निमित्त से होनेवाले 'इट् निषेध' को रोकने के लिए, 'एकस्वराद्' का अर्थ श्रूयमाण एकस्वर लेना चाहिए और इसलिए द्वित्व होने के बाद श्रूयमाण एकस्वर न होने से, 'इट्' होगा ।

'परिभाषेन्दुशेखर' में इस न्याय की अनावश्यकता बताते हुए कहा है कि 'इस न्याय से द्वित्वभूत धातु के प्रत्येक अंश में 'प्रकृतित्व' आता है अतः 'प्रकृति' पर में आयी हो तब होनेवाला कार्य तथा 'प्रकृति' पूर्व में आयी हो तब होनेवाला कार्य सिद्ध हो सकता है तथापि संपूर्ण समुदाय में 'प्रकृतित्व' नहीं आता है और भाष्य में कहीं भी इस न्याय का उल्लेख/संदर्भ प्राप्त नहीं होने से, प्रस्तुत न्याय का आश्रय करना अनुचित लगता है । उदा. 'प्रणिदादेति' में 'णत्व' विधि करने के लिए पूर्वभाग में 'दा' संज्ञा मानी जा सकती है और 'जहुधि' में 'हुधुटो हेर्धिः' ४/२/८३ सूत्र से होनेवाले 'हि' का 'धि' आदेश परभाग में आये हुए 'हु' को निमित्त बनाकर होगा । इस प्रकार सर्व प्रयोजन, प्रस्तुत न्याय के बिना भी सिद्ध हो सकते हैं, अतः इस न्याय की आवश्यकता नहीं है । तथापि प्रत्येक परिभाषासंग्रह में यह न्याय उपलब्ध है, अतः इसका स्वीकार करना चाहिए ।

॥१८॥ तिवा शवानुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च ।
एकस्वरनिमित्तं च, पञ्चैतानि न यङ्लुपि ॥

'तिव्' से निर्दिष्ट, 'शव्' से निर्दिष्ट, 'अनुबन्ध' से निर्दिष्ट, 'गण (समूह)' से निर्दिष्ट और एकस्वरनिमित्तक, ये पाँच प्रकार के कार्य 'यङ्लुबन्त' से नहीं होते हैं ।

'निर्दिष्ट' शब्द 'तिव्' आदि चारों के साथ जोड़ना अर्थात् 'तिव्' से निर्दिष्ट, 'शव्' से निर्दिष्ट, अनुबन्ध से निर्दिष्ट, गण (समूह) से निर्दिष्ट और 'एकस्वर' शब्द का उच्चार द्वारा जो कार्य कहे हों, वे सब 'यङ्लुबन्त' को नहीं होते हैं ।

पूर्व के न्याय से प्रत्येक स्थान पर/कार्य में 'प्रकृति' के साथ साथ 'यङ्लुबन्त' का भी ग्रहण होता था उसका इस न्याय से निषेध होता है ।

इसमें 'तिव्' से निर्दिष्ट कार्य दो प्रकार का है । (१) 'अलुप्त तिव्' से निर्दिष्ट और (२) 'लुप्त तिव्' से निर्दिष्ट । १. 'अलुप्त तिव्' से निर्दिष्ट कार्य-: 'न कवतेर्यङः' ४/१/४७ से 'कवति' के 'क' का 'च' नही होगा क्योंकि 'क' का 'चत्व-निषेधरूप' कार्य 'तिव्' से निर्दिष्ट है, अतः 'कोकूयते' में 'क' का 'च' नहीं होगा किन्तु 'यङ्लुबन्त' 'चोकवीति' में 'चत्व' का निषेध नहीं होगा । २. 'लुप्त तिव्' निर्दिष्ट कार्य-: 'ङे पिबः पीप्य्' ४/१/३३ में 'पीप्य्' आदेश लुप्ततिव् प्रत्ययान्त 'पिब्' से निर्दिष्ट है । अतः यह 'पीप्य' आदेश केवल 'पिब्' धातु का ही होगा, किन्तु 'यङ्लुबन्त' 'पा' धातु का नहीं होगा । उदा. 'पिबन्तं प्रायुक्त अपीप्यत् ।' यहाँ 'पिब्' से निर्दिष्ट 'पीप्य्' आदेश अकेले 'पिब्' (पा) का ही हुआ है किन्तु 'पापतं प्रायुक्त अपापयत्' में यङ्लुबन्त 'पा' धातु का 'पीप्य्' आदेश नहीं होता है ।

'शव्' से निर्दिष्ट -: 'निसस्तपेनासेवायाम्' २/३/३५ सूत्र से 'निस्' के 'स्' का 'ष्' होता है। यही 'षत्व' 'निष्टपति' में होता है किन्तु 'यङ्लुबन्त' 'तप्' धातु सम्बन्धित 'निस्' के 'स्' का 'ष्' नहीं होगा । उदा. निस्तातपीति ।

अनुबन्धनिर्दिष्ट-: 'गापास्थासादामाहाकः' ४/३/९६ में हाक् धातु अनुबन्ध से निर्दिष्ट है, अतः इसी सूत्र से होनेवाला 'एत्व' 'यङ्लुबन्त' 'हा' धातु का नहीं होगा । उदा. हेयात्, जहायात् । यहाँ 'हेयात्' 'में मूल 'हा' धातु है, जबकि 'जहायात्' में 'यङ्लुबन्त' 'हा' धातु है । अतः इस न्याय से 'एत्व' नहीं हुआ है ।

गणनिर्दिष्ट कार्य तीन प्रकार का है । १. सङ्ख्या से निर्दिष्ट २. 'आदि' शब्द से निर्दिष्ट ३. बहुवचन से निर्दिष्ट ।

१. 'सङ्ख्या' से निर्दिष्ट-: 'रुत्पञ्चकाच्छिदयः' ४/४/८८ से होनेवाला 'इट्' जैसे 'स्वपिति' में होता है, वैसे 'सोषोप्ति' में नहीं होगा, क्योंकि 'सोषोप्ति' में 'स्वप्' धातु 'यङ्लुबन्त' है ।

२. 'आदि' शब्द से निर्दिष्ट-: 'लृदिद्द्युतादिपुष्यादेः परस्मै' ३/४/६४ से होनेवाला 'अङ्', 'अद्युतत्' में होता है किन्तु 'अदेद्योतीद्' में नहीं होगा क्योंकि 'अदेद्योतीद्' में 'द्युत्' 'यङ्लुबन्त' है ।

३. 'बहुवचन' से निर्दिष्ट-: 'तेर्ग्रहादिभ्यः' ४/४/३३ से 'ग्रह' आदि धातु के पर में आये हुए अशित् 'ति' प्रत्यय की आदि में 'इट्' होता है अतः 'भणिति' में 'ति' प्रत्यय के आदि में 'इट्' होगा किन्तु 'यङ्लुबन्त'- 'बम्भाण्टि' में 'इट्' नहीं होगा क्योंकि वह 'बहुवचन निर्दिष्ट' गणकार्य है ।

'एकस्वरनिमित्तक' कार्य-: जैसे 'शक्त' में 'एकस्वरादनुस्वारेतः'- ४/४/५६ से 'इट्' का निषेध होता है वैसे 'यङ्लुबन्त शक्' धातु से 'शाशकितः' इत्यादि प्रयोग में 'इट्' का निषेध नहीं होगा क्योंकि वह 'एकस्वरनिमित्तक' कार्य है ।

वस्तुतः 'शाशकितः' इत्यादि प्रयोग में 'एकस्वरत्व' का अभाव है । अतः 'एकस्वरादनुस्वारेतः' ४/४/५६ सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी किन्तु 'शक्' धातु एकस्वरयुक्त होने से 'प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि'-न्याय से 'शाशकि' भी एकस्वरयुक्त माना जायेगा । अतः यहाँ भी 'एकस्वरादनुस्वारेतः' ४/४/५६ से इट् निषेध की प्राप्ति है किन्तु, इसी न्याय से निषेध होने से 'इट्' निषेध नहीं होगा ।

इन्हीं सूत्रों में 'तिव्, शव्, 'इत्यादि द्वारा किये गये निर्देश ही इस न्याय के ज्ञापक हैं क्योंकि इस प्रकार 'तिवादि' से किये गये निर्देशों का अन्य कोई उपयोग नहीं है । केवल 'यङ्लुबन्त' प्रयोग में वे ही सूत्रोक्त कार्य होते नहीं हैं । अतः अर्थापत्ति से ऐसा मालूम देता है कि इस प्रकार के निर्देश, केवल इस न्याय के अस्तित्व को मानकर ही किये गये हैं ।

इस न्याय के पहले और पाँचवें अंश में अर्थात् 'तिव्' निर्दिष्ट कार्य और 'एकस्वरनिमित्तक' कार्य में अनित्यता नहीं है किन्तु 'शव्' निर्दिष्ट 'अनुबन्ध' निर्दिष्ट और 'गण' निर्दिष्ट कार्य में अनित्यता है अर्थात् उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्य कहीं-कहीं 'यङ्लुबन्त' को भी होता है । उदा. 'शव्' से निर्दिष्ट : जैसे 'अपात्' में 'पिबैतिदाभूस्थः-' ४/३/६६ से 'शव्' निर्दिष्ट 'सिच्' का लोप हुआ है वैसे

'यङ्लुबन्त' 'पा' धातु से भी उसी सूत्र से ही 'सिच्' का लोप होगा और 'अपापात्' रूप होगा ।

२. अनुबन्ध निर्दिष्ट - जैसे 'नृत्तः' में 'डीयश्व्यैदितः क्तयोः' ४/४/६१ से 'इट्' का निषेध हुआ है क्योंकि 'नृत्' धातु 'ऐदित्' है, अतः 'इट्' निषेध-अनुबन्ध निर्दिष्ट है, वैसे यङ्लुबन्त 'नृत्' धातु को भी 'इट्' निषेध होगा और 'नरीनृत्तः' रूप सिद्ध होगा ।

३. गणनिर्दिष्ट -: 'स्पृश्' धातु से 'स्प्रष्टा' रूप करते समय 'स्पृशादिसृपो वा' ४/४/११२ से जैसे 'अ' का आगम होता है वैसे 'यङ्लुबन्त स्पृश्'' धातु से 'ति' प्रत्यय होने पर, उसी सूत्र से 'अ' का आगम होगा और 'पस्प्रष्टि' रूप होगा ।

इस प्रकार 'शव्' निर्दिष्ट, 'अनुबन्ध' निर्दिष्ट, 'गण निर्दिष्ट' कार्य यङ्लुबन्त से नहीं होता है, न्याय की अनित्यता बतायी अर्थात् कहीं-कहीं ये तीनों कार्य 'यङ्लुबन्त' से भी होते हैं ।

'न्यायसंग्रह' में 'तेर्ग्रहादिभ्यः' ४/४/३३ को 'बहुवचननिर्दिष्ट गण' का बताया गया है। श्रीलावण्यसूरिजी इस उदाहरण को 'आदि-शब्द से निर्दिष्ट गण' का कहते हैं । वस्तुतः 'आदि' शब्द से दो प्रकार के गण का सूचन होता है । १. आकृति गण २. सामान्य गण । १. प्रथम आकृति गण में कुछेक उदाहरण स्वरूप प्रयोग/शब्द बताये जाते हैं । उसके समान अन्य प्रयोग/शब्द जो शिष्ट साहित्य में पाये जाते हो उनका समावेश इसी आकृति गण में करना होता है । अतः केवल एकवचन में 'आदि' शब्द को रखने से, वह आकृति गण है या नहीं इसकी कोई स्पष्टता नहीं होती है, अतः सिद्धहेम की परम्परा में जहाँ जहाँ 'आकृति गण' का निर्देश है वहाँ वहाँ 'आदि' शब्द को बहुवचन में रखा है और सूत्रकार आचार्यश्री ने वृत्ति में स्पष्ट रूप से बताया है कि 'बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।' 'उदा. 'नोर्म्यादिभ्यः' २/१/९९, 'गौरादिभ्यो मुख्यान्ङीः' २/४/१९, ' 'आयुधादिभ्यो' धृगोऽदण्डादेः' ५/१/९४.

जबकि दूसरे प्रकार में किसी भी गण के शब्द या धातु, परिमित संख्या में या परिगणित शब्द हो वहाँ 'आदि' शब्द को एकवचन में रखा है । उदा. 'नवा शोणादेः' २/४/३१ 'अजादेः' २/४/१६, 'स्पृशादिसृपो वा' ४/४/११२, 'सर्वादेः-' १/४/७, 'आयुधादिभ्यो धृगोऽदण्डादेः' ५/१/९४ ।

अतः श्रीहेमहंसगणि ने बताया हुआ 'बहुवचननिर्दिष्ट गण' का उदाहरण 'तेर्ग्रहादिभ्यः' ४/४/३३ 'आदि' शब्द से निर्दिष्ट गण का उदाहरण बन सकता है तथापि उसमें बहुवचन निष्कारण रखा नहीं है, उसका ज्ञापन करने के लिए तथा आकृति गण में बहुवचन से निर्देश होता है और वह सामान्य गण से भिन्न प्रकार का है, वह बताने के लिए है । अतः उसे बहुवचननिर्दिष्ट गण के उदाहरण *के रूप में रखा वह सही/योग्य ही है ।*

यहाँ तीसरे अंश 'अनुबन्ध' निर्दिष्ट कार्य की अनित्यता का फल बताया कि 'डीयश्व्यैदितः क्तयोः' ४/४/६१ से जैसे 'नृत्तः' में 'इट्' का निषेध हुआ है वैसे 'नरीनृत्तः 'में भी 'इट' का निषेध हुआ है किन्तु वह सही मालूम नहीं देता है । इसके बारे में श्रीलावण्यसूरिजी का मानना है कि यहाँ

'अनुबन्ध-निर्देशत्व' ही नहीं है । वस्तुतः 'गापास्थासादामाहाकः' ४/३/९६ में 'हाक्' धातु 'अनुबन्ध' से निर्दिष्ट कहा जाता है क्योंकि स्वरूप से ही वह 'अनुबन्धनिर्दिष्ट' है, जबकि 'डीयश्व्यैदितः' - ४/४/६१ में उपसर्जन रूप, 'अनुबन्ध' का ग्रहण किया है किन्तु 'स्वरूपानुबन्ध' का यहाँ नितान्त अभाव ही है । अतः 'यङ्लुबन्त' में इसी सूत्र की प्रवृत्ति को कोई बाध नहीं आता है और इस प्रकार के 'अनुबन्धनिर्दिष्टत्व' का स्वीकार करने पर 'एकस्वरादनुस्वारेतः' ४/४/५६ में भी 'अनुबन्धनिर्दिष्टत्व' आयेगा और 'एकस्वरनिमित्तक' के सभी उदाहरण इसी न्यायांश के भी होंगे ।

'डीयश्व्यैदितः' ४/४/६१ सूत्र की वृत्ति में 'नृत्' इत्यादि धातुओं के 'ऐकार' अनुबन्ध का फल बताते हुए कहा है कि 'यङ्लुबन्त' में इट् का निषेध करने के लिए 'ऐ' अनुबन्ध है क्योंकि केवल 'नृत्तः' इत्यादि प्रयोग में 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ सूत्र से ही 'इट् निषेध' सिद्ध ही है, अतः 'अनुबन्ध' अचरितार्थ होगा । इसलिए समुदायरूप 'यङ्लुबन्त' में 'इट्' की व्यावृत्ति करने के लिए 'ऐ' अनुबन्ध है । इससे ''केवलेऽचरितार्था अनुबन्धाः समुदायस्योपकारका भवन्ति'' न्याय का यह उदाहरण है, ऐसा मानना चाहिए ।

केवल इससे ही 'अनुबन्धनिर्देशनिमित्तक' ऐसा 'यङ्लुप्' प्रवृत्तिनिषेध अनित्य बनता नहीं है । क्योंकि 'अनुबन्धकरण' सामर्थ्य से ही इसका बाध होता है । यह एक कल्पना है और 'डीयश्व्यैदितः' - ४/४/६१ में 'अनुबन्धनिर्देशत्व' ही नहीं है ऐसा ऊपर बताया है, अतः ''आचार्यश्री ने 'नरीनृत्तः' आदि उदाहरण में 'इट्-निषेध' के अभाव के लिए अन्य कोई उपाय नहीं किया है, अतः 'अनुबन्धनिर्देश' के सामर्थ्य का आश्रय/आधार लेना पड़ता है और इस प्रकार इस न्याय के 'अनुबन्धनिर्दिष्ट' अंश में अनित्यत्व आता है । यदि आचार्यश्री ने इस न्याय को नित्य माना होता तो 'अनुबन्धनिर्देश' के सामर्थ्य का आश्रय न लिया होता । '' यही प्राचीन विचारधारा आधारहीन मालूम देती है ।

प्राचीन मत की कमी बताते हुए श्रीलावण्यसूरिजी 'अनुबन्ध निर्देशत्व' के दोनों प्रकारों का उल्लेख करते हैं । कदाचित् मुख्य स्वरूप से अनुबन्ध का निर्देश होता है, तो कदाचित्/क्वचित् गौण रूप से अनुबन्धनिर्देश होता है । प्रस्तुत न्याय में मुख्य रूप से किये गये 'अनुबन्धनिर्देश' का ही ग्रहण होना चाहिए । इसका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि ''डीयश्व्यैदितः क्तयोः ४/४/६१ में 'ऐदित्' ऐसे स्वरूप से ही अनुबन्धनिर्देश हुआ है, अतः यहाँ इसका ही ग्रहण होगा किन्तु एकस्वरादनुस्वारेतः ४/४/५६ में जो अनुबन्धनिर्देश है, उसका ग्रहण नहीं होगा । '' प्राचीन मत के इसी तर्क का भी उन्हों ने सयुक्तिक खण्डन किया है, इसके लिए उन्हों ने 'नरीनृत्तः' जैसे यङ्लुबन्त के उदाहरण लिये हैं ।

'नरीनृत्तः' में 'इट्' का निषेध किससे होता है, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । यहाँ 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ की प्राप्ति नहीं होने से 'डीयश्व्यैदितः क्तयोः ४/४/६१ में 'ऐदित्करण' के सामर्थ्य से 'इट्' का निषेध सिद्ध होता है । अब यहाँ 'एकस्वराद्' की अनुवृत्ति को स्वीकार करना पड़ता है ।

यदि ऐसा न मानें तो इसी सूत्र के बाद आनेवाले 'वेटोऽपत:' ४/४/६२ में 'एकस्वराद' की अनुवृत्ति नहीं होगी । अपने मत के समर्थन में श्रीलावण्यसूरिजी 'डीयश्व्यैदित:-' ४/४/६१ की वृत्ति का उल्लेख करके कहते हैं कि 'नरीनृत्त:' जैसे स्थल पर अनेकस्वरत्व होने पर भी एकस्वरनिमित्तक 'इट्' प्रतिषेध हुआ है । इस प्रकार यहाँ एकस्वरनिमित्तक कार्य का 'यङ्लुपि अप्रवृत्ति' अंश में भी बाध होता है । यहाँ 'एकस्वरनिमित्तक' कार्य अंश में और 'अनुबन्धनिर्दिष्ट' अंश में किस प्रकार बाध होता है, उसको समझाते हुए वे कहते हैं कि ''यदि 'ऐदित्करण' के सामर्थ्य से ऐदित् निमित्तक' ही इट् का प्रतिषेध मानने पर 'अनुबन्धनिर्देश' और 'एकस्वरनिमित्त' इन दोनों अंशों में अनित्यत्व आयेगा और यदि 'ऐदित्करण' के सामर्थ्य से 'अनेकस्वरत्व' होने पर भी 'एकस्वरनिमित्तक' रूप 'डीयश्व्यैदित:- '४/४/६१' या 'वेटोऽपत:' ४/४/६२ की प्रवृत्ति का स्वीकार करने पर केवल 'एकस्वरनिमित्त' अंश में ही अनित्यता आयेगी । परिणामत: दो में से, किसी भी प्रकार से केवल 'अनुबन्धनिर्देश' अंश में इसी उदाहरण द्वारा अनित्यता बतायी नहीं जा सकती है ।

यह न्याय यद्यपि व्याडि के परिभाषासूचन, परिभाषापाठ, शाकटायन परिभाषापाठ इत्यादि कुछेक परिभाषासंग्रहों में उपलब्ध नहीं है । तथापि पाणिनीय परंपरा के महाभाष्य में इसकी विस्तृत चर्चा पायी जाती है । और यह न्याय भाष्य अविरुद्ध होने से इसका स्वीकार करना चाहिए ।

॥१९॥ सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ॥

'संनिपातलक्षणविधि' अपने निमित्त का घात करती नहीं है तथा उसमें 'निमित्त' भी नहीं बनती है ।

'सन्निपतति- सङ्गच्छते कार्यमस्मिन्निति सन्निपातो निमित्तम्, तल्लक्षणं चिह्नं यस्य स सन्निपात-लक्षण: । कोऽर्थ: ? निमित्तरूपमव्यभिचारि चिह्नं दृष्ट्वा निर्णीतप्रवृत्तिक:, स्वनिमित्तादुद्भूत इति यावत् । स विधिस्तस्य प्रस्तावात् स्वनिमित्तस्य विघाते निमित्तं न स्यात् ।' श्रीहेमहंसगणि ने बताया हुआ इस न्याय का यही अर्थ बहुत क्लिष्ट और अस्पष्ट है ।

'कातन्त्र' की परभाषावृत्ति में 'सन्निपातलक्षण विधि' की व्याख्या सब से सरल और स्पष्ट शब्दों में दी है । 'यो यमाश्रित्य उत्पद्यते स तं प्रति सन्निपात: ।'[1] जो जिसके आश्रय से/आधार पर उत्पन्न होता है, वह उसके प्रति 'सन्निपात' कहा जाता है । यही 'सन्निपात' जिसका निमित्त है, वैसी विधि, 'सन्निपातलक्षणविधि' कही जाती है । यही 'सन्निपातलक्षणविधि'अपने निमित्त का घात करती नहीं है । यदि ऐसी विधि से अपने निमित्त का घात होता हो, तो इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है ।

पाणिनीय तन्त्र की परिभाषावृत्ति में 'संनिपातलक्षणविधि' की व्याख्या इस प्रकार दी गई है - 'यस्यानन्तर्येण यो विहित: तद् आनन्तर्यमसौ न विरुणद्धि' (परिभाषासङ्ग्रह पृष्ठ - २२९) 'जो, जिसके आनन्तर्य से उत्पन्न हुआ है, वह, उसके आनन्तर्य का विरोध नहीं करता है ।

१. कातंत्र-भावमिश्रकृतपरिभाषावृत्ति, परिभाषा क्र.नं. १२, (परिभाषासंग्रह, पृ. ६८)

यह व्याख्या भी सरल है किन्तु 'कातन्त्र' की व्याख्या जैसी स्पष्ट और सरल नहीं है, साथ-साथ यह बात भी उल्लेखनीय है कि शाकटायन व्याकरण की परिभाषावृत्ति में भी इसी प्रकार की व्याख्या दी गई है । केवल 'उत्पद्यते' के स्थान पर 'समुत्पन्नः' शब्द रखा है । 'शेषाद्रिनाथ' ने "परिभाषाभास्कर" में 'सन्निपात' का अर्थ, दोनों का सम्बन्ध किया है । इसकी व्याख्या इस प्रकार है - 'द्वयोः सम्बन्धः सन्निपातः, सः लक्षणं निमित्तं यस्य सः, तद्विघातस्य अनिमित्तम् ।'अर्थात् 'निमित्त' और 'निमित्ति' दोनों के सम्बन्ध के कारण जो विधि हुई है, वह विधि, उन दोनों के (निमित' और 'निमित्ति' के) सम्बन्ध का घात नहीं करती है ।

इस न्याय का कारण बताते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि लोक में/व्यवहार में पितृघातक पुत्र इत्यादि रूप कार्य से कारण-स्वरूप पिता आदि का नाश देखा जाता है किन्तु व्याकरण में प्रायः ऐसा होता नहीं है, इसका ज्ञापन करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. पपाच, यहाँ परोक्षा' के 'णव्' प्रत्यय के कारण 'द्विर्धातुः परोक्षाङे प्राक् तु स्वरे स्वरविधेः' ४/१/१ से धातु का द्वित्व होगा और 'व्यञ्जनस्यानादेर्लुक् ४/१/४४ से 'च्' का लोप होगा, इस प्रकार 'पच्' धातु 'अनेकस्वरयुक्त' होने पर 'धातोरनेकस्वरादाम् परोक्षायाः कृभ्वस्ति चानुतदन्तम् ३/४/४६ से 'णव्' का 'आम्' होने की प्राप्ति है किन्तु वही 'आम्', 'णव्' का विघातक होने से, नहीं होगा ।

'धातोरनेकस्वरादाम्' - ३/४/४६ सूत्र में सामान्य से किया गया कथन इस न्याय का ज्ञापक है । वह इस प्रकार -: धातु का 'अनेकस्वरत्व' दो प्रकार का है, १. 'परोक्षाहेतुक' और २. 'सामान्य' । ऊपर बताया हुआ 'पच्' आदि का द्वित्व परोक्षाहेतुक है, और 'चकास्' इत्यादि का स्वाभाविक है । दूसरे प्रकार के स्वाभाविक 'अनेकस्वरत्व' में 'धातोरनेकस्वरादाम्' -३/४/४६ से 'आम्' होगा किन्तु 'पपाच' इत्यादि में नहीं होता है , तथापि सूत्र में 'अनेकस्वरादाम्' स्वरूप सामान्योक्ति, इसी न्याय के कारण ही की गई है ।

यह न्याय कहीं कहीं (क्वचित्-क्वचित्) अनित्य है, अतः 'अतिजरसैः' रूप में 'अतिजर' शब्द अकारान्त होने से 'भिस्' का 'ऐस्' आदेश होता है और वही 'ऐस्' आदेश स्वरादि होने से अकारान्त 'जर' शब्द का 'जराया जरस्वा' २/१/३ से 'जरस्' आदेश होकर 'अतिजरसैः' रूप सिद्ध हुआ है । 'जरामतिक्रान्तः अतिजरः' शब्द में 'गोश्चान्ते ह्रस्वोऽनंशिसमासेयोबहुव्रीहौ' २/४/९६ से 'ह्रस्व' होने पर वह अकारान्त होगा । अतः 'भिस ऐस्' १/४/३ से अदन्तत्वनिमित्तक, 'भिस्' का 'ऐस्' आदेश हुआ है । यदि यह न्याय नित्य होता तो 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से भी, 'जराया जरस्वा' २/१/३ सूत्र से 'जर' शब्द का 'जरस्' आदेश नहीं होता, क्योंकि इससे 'जर' शब्द के अदन्तत्व का नाश होता है, तथापि 'जरस्' आदेश होता है वह इस न्याय की अनित्यता सिद्ध करता है ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने इस न्याय को लोकसिद्ध बताया है, जबकि श्रीहेमहंसगणि ने लोकविरुद्ध

बताया है.। श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि ''जो जिसके आश्रय में रहा है वह उसका विरोध नहीं करता है, अर्थात् आश्रयी, आश्रयदाता को हानि/नुकशान हो, ऐसा कुछ भी नहीं करता है, अतः यह न्याय लौकिक न्यायमूलक ही है ।''

जबकि श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि पिता का घात करनेवाला पुत्र होता है । पिता कारण है और पुत्र कार्य है । वह कार्य-रूप पुत्र, कारण-रूप पिता का नाश करता है । जबकि व्याकरण में ऐसा नहीं होता है, ऐसा बताने के लिए यह न्याय है ।'' इस बात का इन्कार/विरोध करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि पितृघातक पुत्र को लोग अयोग्य/निंद्य ही मानते हैं, अतः यह दृष्टान्त यहाँ बताना उचित नहीं है ।

किन्तु यहाँ पिता और पुत्र को, केवल कारण और कार्य सम्बन्ध ही दृष्टान्त के रूप में लेना चाहिए क्योंकि किसी भी दृष्टान्त में सर्वांश से साम्य/सादृश्य नहीं होता है किन्तु उसके एक ही अंश में साम्य बताया जाता है । उदा. पुरुससीहाणं, 'पुरुषों में सिंह जैसे (तीर्थंकरों) को ।' यहाँ पुरुष को सिंह की उपमा दी गई है, अतः पुरुष का स्वरूप सिंह जैसा नहीं हो जाता है और उसी पुरुष को चार पैर, केसरा या उसमें हिंसकत्व नहीं होता है, इससे इस उपमा को अनुचित भी नहीं कहा जा सकता है । अतः इस न्याय में दिये गए दृष्टान्त को अनुचित कहना योग्य/सही नहीं है । श्रीलावण्यसूरिजी के बताये हुए अर्थ में भी क्वचित् आश्रय प्राप्त करनेवाला, अपने आश्रयदाता का नाश करता हुआ या 'हानि' करनेवाला या विरोधी देखा जाता है ! अतः उनका दिया हुआ उदाहरण भी उचित नहीं लगता है इसलिए इस न्याय को लोकसिद्ध बताना उपयुक्त नहीं है ।

पाणिनीय परम्परा के 'महाभाष्य' में, कृन्मेजन्तः [पा.सू. १/१/३९] की वृत्ति में इस न्याय के गुणदोष की विस्तृत चर्चा की गई है और अन्त में बताया है कि ''यद्यपि इस न्याय का स्वीकार करने में बहुत से दोष हैं तथापि इसको अवश्य स्वीकार करना चाहिए और जहाँ दोष आता हो वहाँ प्रतिविधान करना अर्थात् वहाँ इस न्याय की अनित्यता का आश्रय करना चाहिए ।''

यद्यपि इस न्याय की अनित्यता के उदाहरण और ज्ञापक के रूप में 'अतिजरसैः' प्रयोग की चर्चा की गई है, किन्तु उदाहरण और ज्ञापक भिन्न-भिन्न नहीं बताये हैं, तथापि 'अतिजरसैः' प्रयोग उदाहरण है और 'भिस्' का 'ऐस्' आदेश किया, यह ज्ञापक है, ऐसा समझ लेना ।

यही परिभाषा, व्याडि से लेकर नागेश तक पाणिनीय परम्परा के सभी परिभाषा-संग्रह और कातन्त्र, कालाप, जैनेन्द्र, भोज आदि अन्य सभी परम्परा में प्राप्त है ।

॥२०॥ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥

'अन्तरङ्ग' कार्य करना हो, तब 'बहिरङ्ग' कार्य असिद्ध अर्थात् असद्वत् होता है ।

प्रकृति आश्रित हो या पूर्वव्यवस्थित हो या जिसके निमित्त अल्प हो वह 'अन्तरङ्ग' कार्य माना जाता है ।

प्रत्यय आश्रित हो या, बहिर्व्यवस्थित हो या जिसके निमित्त अधिक हो वह 'बहिरङ्ग' कार्य माना जाता है ।

'बहिरङ्ग' कार्य, 'अन्तरङ्ग' कार्य करना हो तब, असिद्ध/असद्वत् होता है अर्थात् 'बहिरङ्ग' कार्य हुआ ही नहीं ऐसा मानकर 'अन्तरङ्ग' कार्य करना ।

'बहिरङ्ग' कार्य की दुर्बलता बतानेवाला यह न्याय है । उदा. 'गिर्योः' आदि में 'इ' का 'य्' प्रत्ययाश्रित होने से और बहिर्व्यवस्थित होने से बहिरङ्ग कार्य है, जबकि 'भ्वादेर्नामिनो दीर्घो-र्वोर्व्यञ्जने' २/१/६३ से होनेवाली दीर्घविधि प्रकृति आश्रित और पूर्वव्यवस्थित होने से अन्तरङ्ग कार्य है । अतः 'दीर्घविधि' करते समय बहिरङ्ग कार्य रूप 'यत्व' असिद्ध होगा, अतः र् के बाद व्यञ्जन नहीं मिलने से 'भ्वादेर्नामिनो दीर्घो-' २/१/६३ से दीर्घ नहीं होगा ।

तथा 'तच्चारु ' में 'त्' का 'च्' उभयपदाश्रित है क्योंकि 'चारु' के 'च' के योग में वह हुआ है, अतः वह बहिरङ्ग कार्य है, जबकि उसी 'च्' का 'चजः कगम्' २/१/८६ से 'क्' करते समय, वही 'चत्व' असिद्ध होगा क्योंकि 'कत्व विधि' एकपदाश्रित है, अतः वह अन्तरङ्ग कार्य है, इसलिए 'च्' का 'क्' नहीं होगा ।

'न सन्धि-ङी-य-क्वि-द्वि-दीर्घासद्विधावस्क्लुकि' ७/४/१११ में 'सन्धिविधि' में 'स्थानिवद्भाव' के निषेध से ही 'द्वित्वविधि' में 'स्थानिवद्भाव' का निषेध सिद्ध हो जाता है तथापि 'द्वित्वविधि' में 'स्थानिवद्भाव' का निषेध सिद्ध करने के लिए 'द्वि' शब्द से 'द्वित्वविधि' पृथग्ग्रहण किया, वही इस न्याय का ज्ञापक है ।

'दद्ध्यत्र' आदि प्रयोग में 'यत्व' आदि का इस न्याय से उत्पन्न असिद्धत्व द्वारा, जो 'स्थानिवद्भाव' होता है, उसके निषेध के लिए इस सूत्र में 'द्वि' का ग्रहण किया गया है ।

दधि अत्र → दध् य् अत्र → दध्ध् य् अत्र → दद् ध् य् अत्र । उपर्युक्त प्रयोग में 'अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने' १/३/३२ सूत्र से 'ध्' का द्वित्व करते समय 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' ७/४/११० सूत्र से होनेवाला 'स्थानिवद्भाव' 'न सन्धि-ङी........' ७/४/१११ सूत्र में 'सन्धि' सूत्र में 'सन्धि' का ग्रहण करने से निषेध हो जाता है क्योंकि 'द्वित्व' भी 'सन्धिविधि' ही है और-(प्रथम अध्याय के) द्वितीय और तृतीय पाद की विधि ही अनुक्रम से स्वर-सन्धि और व्यञ्जन-सन्धि कहलाती है ।

ऐसी परिस्थिति होने से, आचार्यश्री को पुनः शंका हुई कि 'ध्' का 'द्वित्व' करना अभी भी अशक्य है क्योंकि 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' ७/४/११० से होनेवाला 'य्' के स्थानिवद्भाव का निषेध 'न-सन्धि ङी'-७/४/१११ सूत्र में 'सन्धि' के ग्रहण से हो जाता है, तथापि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय से, 'य्' के असिद्धत्व द्वारा होनेवाले 'स्थानिवद्भाव' किसी भी प्रकार से दूर नहीं हो सकता है, अतः इस न्याय से होनेवाले 'स्थानिवद्भाव' रूप 'असिद्धत्व' को दूर करने के लिए 'न सन्धि-ङी-'.....७/४/१११ सूत्र में 'द्वि' का पृथग्ग्रहण किया है ।

इसी प्रकार से बाधक स्वरूप 'द्वि' ग्रहण, बाध्य स्वरूप 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय का

ज्ञापक है । वह उचित है क्योंकि बाधक और बाध्य का अविनाभाव-सम्बन्ध होता है अतः बाधक यदि 'द्विग्रहण' हो तो उसका कोई बाध्य अवश्य होना चाहिए और वह बाध्य, प्रस्तुत न्याय ही है।

यह न्याय अनित्य है क्योंकि अगला न्याय इसका अपवाद है ।

आ. श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय का अर्थ पाणिनीय परम्परा के 'महाभाष्य' आदि के अनुसार करते हैं । वे कहते हैं कि अन्तरङ्गकार्य करना हो तब उसके पूर्व हुआ और अन्तरङ्ग के साथ-साथ होनेवाला अर्थात् समकालप्राप्त बहिरङ्ग कार्य असिद्ध/असद्वत् होता है । जबकि श्रीहेमहंसगणि ने, पहले हुआ हो ऐसे बहिरङ्ग कार्य को असिद्ध बतानेवाला उदाहरण, 'गिर्योः = गिरि + ओस्' दिया है, किन्तु समकालप्राप्त बहिरङ्ग कार्य की असिद्धि बतानेवाला उदाहरण नहीं दिया है ।

श्रीलावण्यसूरिजी समकालप्राप्त बहिरङ्ग कार्य की असिद्धि बतानेवाले उदाहरण इस प्रकार देते हैं-(१) मृद्व्या, पट्व्या । यहाँ मृदु + ङी (ई) + टा (आ), पटु + ङी (ई) + टा (आ), यहाँ ई (ङी) का, टा (आ) के निमित्त से 'य्' होने की प्राप्ति है और वह बहिरङ्ग कार्य है क्योंकि परप्रत्ययनिमित्तक है, जबकि 'उ' का 'व्' आदेश प्रकृति आश्रित है । अतः वह अन्तरङ्ग कार्य है। इस प्रकार दोनों कार्य-अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कार्य समकाल होने की प्राप्ति है । यहाँ इस न्याय से बहिरङ्ग कार्य निर्बल बनता है और इसलिए अन्तरङ्ग कार्य प्रथम होगा, अतः 'मृद्वी + आ' और 'पट्वी + आ' होगा, बाद में बहिरङ्ग कार्य रूप 'यत्व' होगा और 'मृद्व्या', पट्व्या' रूप सिद्ध होंगें।

दूसरा उदाहरण इस प्रकार है-'अयजे इन्द्रम्' में 'अयज+इ+इन्द्रम्' है । इस तरह वाक्य-संस्कार पक्ष में-'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ से प्राप्त 'दीर्घविधि', समकालप्राप्त बहिरङ्ग कार्य है अतः उसका बाध करके 'अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल्' १/२/६ से होनेवाला 'एत्व' रूप अन्तरङ्ग कार्य प्रथम होगा, और 'अयजे इन्द्रम्' रूप सिद्ध होगा ।

यही समकालप्राप्त अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग कार्य का ज्ञापन 'ओमाङि' १/२/१८ सूत्र में किये गए 'आङ्' के ग्रहण से होता है ।

प्रस्तुत न्याय के अस्तित्व से ही 'आङ्' ग्रहण चरितार्थ होता है । यह न्याय न होता हो तो वह 'आङ्' ग्रहण व्यर्थ है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी ने बताया है । यहाँ 'अद्य + आ + ऊढा' में धातु और उपसर्ग के बीच होनेवाला सम्बन्ध/सन्धि अन्तरङ्ग कार्य है, जबकि 'अद्य' के 'द्य' के 'अ' के साथ 'आङ्' के 'आ' की सन्धि बहिरङ्ग कार्य है, अतः प्रथम 'आ' और 'ऊढा' के 'ऊ' के बीच 'अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल्' १/२/६ सूत्र से सन्धि होकर 'ओत्व' होगा, परिणामतः 'अद्य ओढा' होगा । बाद में 'ओमाङि' १/२/१८ सूत्र से 'अद्य' के 'अ' का लोप होने पर 'अद्योढा' रूप सिद्ध होगा । अतः इस न्याय से 'आङ्ग्रहण' सार्थक होगा । यदि यह न्याय न होता तो 'अद्य' के 'अ' की 'आङ्' के साथ प्रथम सन्धि होकर 'अद्या + ऊढा' होता, बाद में पुनः सन्धि होकर 'अद्योढा' रूप सिद्ध हो जाता, अतः 'ओमाङि' १/२/१८ सूत्र में 'आङ्ग्रहण' व्यर्थ होता ।

ये उदाहरण और ज्ञापक परिभाषा के क्षेत्र में सब से प्राचीन माने जानेवाले व्याडिकृत 'परिभाषासूचन' की वृत्ति में बताये हैं किन्तु इसके साथ यह बात भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है

कि 'व्याडि' के 'परिभाषासूचन' में 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय दो बार दिया गया है । एक का अनुक्रम नं. ३६ है, दूसरे का अनुक्रम नं. ७९ है । ३६ नं. से युक्त परिभाषा में 'अन्तरङ्ग ' बहिरङ्गात् अर्थात् समकालप्राप्त अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग कार्य का उदाहरण है । जबकि ७९ नं. युक्त परिभाषा में 'अन्तरङ्ग' कार्य करना हो, तब उसके पहले किया गया 'बहिरङ्ग कार्य' असिद्ध होता है, उसका उदाहरण है ।

पाणिनीय परम्परा में 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय में ही 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय को समाविष्ट किया गया है और सर्वत्र, बहिरङ्ग कार्य प्रथम किया गया हो वहाँ और अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-दोनों की समकालप्राप्ति हो वहाँ भी, 'भाष्यकार' आदि ने उसका उपयोग किया है, किन्तु उसी परम्परा अनुसार यहाँ व्यवस्था करना उचित नहीं लगता है क्योंकि उससे स्पष्ट रूप से परस्पर विरोध आता है और कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी आती हैं, उनका क्रमशः विचार करेंगे ।

(१) 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय में प्रथम बहिरङ्ग कार्य होता है, बाद में ऐसी परिस्थिति उपस्थित होती है कि बाह्य निमित्त के कार्य द्वारा किये गये विकार के कारण, जब अन्य प्रकार का अन्तरङ्ग कार्य होने की प्राप्ति होती है, तब बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है । परिणामतः अन्तरङ्ग कार्य के अनुकूल निमित्त न मिलने से अन्तरङ्ग कार्य नहीं होता है । जबकि 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय में समकालप्राप्त अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कार्य में से अन्तरङ्ग कार्य ही होता है और बहिरङ्ग कार्य कदापि नहीं होता है। बहिरङ्ग कार्य का निषेध करने के लिए ही यह (अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्) न्याय है ।

(२) 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय केवल बहिरङ्ग कार्य को असद्वत् करता है, अतः 'बलाबलोक्ति' न्याय में इसका समावेश नहीं हो सकता है । जबकि 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय में स्पष्ट रूप से अन्तरङ्ग कार्य की प्रबलता का निर्देश होता है । जहाँ एक साथ दो कार्य सम्बन्धित भिन्न भिन्न सूत्र की प्राप्ति हो और उन दोनों के बीच स्पद्‌र्धा होती हो, ऐसी परिस्थिति में 'बलाबलोक्ति' न्यायों का उपयोग होता है ।

(३) 'न स्वरानन्तर्ये' न्याय, स्वरों के 'आनन्तर्य' के क्षेत्र में इस न्याय का बाधक न्याय है । यदि 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय का समावेश 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय में करेंगे तो, वही 'न स्वरा-' न्याय स्वरों के आनन्तर्य के क्षेत्र में 'अन्तरङ्गं-' न्याय का भी बाध करेगा, जो इष्ट/उचित नहीं है ।

उपर्युक्त तीनों कारणों से सूत्रकार आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने 'महाभाष्यकार' की और पाणिनीय परम्परा की 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय में ही 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय का समावेश करने की परम्परा का त्याग करके, दोनों न्यायों का अपना अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, यह बताने के लिए शाकटायन, चान्द्र, कातन्त्र, कालापक और भोज व्याकरण की तरह दोनों को अलग किया है और भिन्न-भिन्न स्थान पर रखा है । यदि, उनको, इन दोनों न्याय के कार्यक्षेत्र एक ही प्रतीत होता तो, जैसे, उन्होंने 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ॥२०॥ और 'न स्वरानन्तर्ये' ॥२१॥ दोनों न्यायों को एक-साथ रखे, वैसे उसके साथ ही तीसरा 'अन्तरङ्गं -' न्याय भी रख दिया होता । किन्तु वैसा नहीं किया

है, उससे दोनों न्यायों के स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध होता है ।

और सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में जहाँ जहाँ 'असिद्धं बहिरङ्ग-' न्याय का उपयोग किया है वहाँ दो कार्यो की समकालप्राप्ति के उदाहरण है ही नहीं, किन्तु पहले किये गए बहिरङ्ग कार्य के कारण प्राप्त नये अन्तरङ्ग कार्य का जिनमें निषेध होता है, वैसे उदाहरण मिलते हैं ।

उदा. (१) अतिक्रोष्ट्रा, प्रियक्रोष्ट्रा.......१/४/९१

(२) कुर्वन्नास्ते, कृषन्नास्ते.......१/३/२७

(३) नार्पत्यः, नार्कुटः, तवर्कारः १/३/५३

श्रीलावण्यसूरिजी ने 'विशेषापेक्षात् सामान्यापेक्षमन्तरङ्गं, विशेषापेक्षे विशेष धर्मस्याधिकस्य निमित्तत्वात्' कहकर, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग की व्याख्या, अन्य किसी के मतानुसार दी है, किन्तु यह मत किसका है वह स्पष्टतया बताया नहीं है और 'न्यायसङ्ग्रह' की 'बृहद्वृत्ति' या 'न्यास' में इसके बारे में कोई उल्लेख नहीं है । शायद लघुन्यासकार का यह मत हो सकता है । इसकी चर्चा करते हुए उन्हों ने बताया है कि विशेष में सामान्य धर्म और विशेष धर्म दोनों होते हैं जबकि सामान्य में केवल सामान्य धर्म ही रहता है । अतः विशेष को बहिरङ्ग और सामान्य को अन्तरङ्ग कहा जाता है । किन्तु इस बात को अस्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि विशेष के व्याप्यत्व द्वारा व्यापक रूप सामान्य की उपस्थिति अनुमान द्वारा होती है, तथापि उसी सामान्य का निमित्त विशेष में होता है, ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है, अतः विशेष में अधिकधर्मनिमित्तकत्व संगत नहीं होता है और भाष्य में भी इस प्रकार के अन्तरङ्गत्व और बहिरङ्गत्व का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है ।

पूर्वोपस्थितिनिमित्त के बलवत्त्व का बोधक यह न्याय लोक से भी सिद्ध है, ऐसा महाभाष्य में बताया गया है । 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' [पा. सू. १/१/५७] के भाष्य में कहा है कि यह परिभाषा/न्याय लोकसिद्ध है । किस तरह ? लोक प्रत्यङ्गवर्ती[१] होते हैं अर्थात् कोई भी मनुष्य सुबह उठकर अपने शरीर सम्बन्धित सर्व कार्य करता है, क्योंकि वह शरीर सकल भोग का साधन है । बाद में सुहृद् अर्थात् स्वजन और उसके बाद अन्य सम्बन्धी के कार्य करता है । उसी प्रकार यहाँ शब्दशास्त्र में भी जिस क्रम से अर्थों का सामीप्य होता है, उसी क्रम से शब्दों की उपस्थिति होती है । (यही बात शब्दप्रयोक्ता के लिए है ।) जबकि सुननेवालों के लिए प्रथम शब्दोपस्थिति होती है, बाद में उसके अनुसार अर्थोपस्थिति होती है ।

जिस तरह लिङ्ग, सङ्ख्या, कारक इत्यादि से युक्त शब्दों का बाह्य अर्थ के साथ योग होगा और उसी तरह से बाह्यार्थवाचक शब्द का सम्बन्ध भी अनुक्रम से होगा । संक्षेप में शब्द में पदत्व लाने के लिए आवश्यक व्याकरण की प्रक्रिया प्रथम हो जायेगी और उसी शब्द सम्बन्धित लिङ्ग, संख्या, कारक आदि शुरू से ही आयेंगे, किन्तु वाक्य में उसका प्रयोग करते समय एक शब्द का दूसरे शब्दों के साथ सम्बन्ध होगा और उसी समय सन्धि, समास इत्यादि अनेक कार्य होंगे । इन

१. यहाँ 'प्रत्यङ्ग' शब्द का अर्थ प्रत्यासन्नवाची है ।

दोनों पदों को जोड़ने के लिए सन्धि आदि कार्य में भी, शब्दों के क्रम का विचार किया जायेगा। अतः उपसर्ग इत्यादि को क्रम की दृष्टि से प्राधान्य प्राप्त होगा ।

इस प्रकार अन्तरङ्गत्व और बहिरङ्गत्व के निर्णय के लिए शब्द की व्याकरण की दृष्टि से प्रयोग-योग्यता प्राप्त करने की प्रक्रिया स्वयं ही निर्णायक है ।

इस न्याय के ज्ञापक के बारे में श्रीलावण्यसूरिजी अपना अभिप्राय/मन्तव्य इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं ।

'न सन्धि-ङी....' ७/४/१११ सूत्रगत 'न' पद 'स्थानीवा-' ७/४/१०९ सूत्रगत 'स्थानि' पद के साथ सम्बन्धित है । अतः 'असिद्धं बहिरङ्ग-' न्याय से प्राप्त 'असिद्धत्व' को दूर करने में 'द्वि-ग्रहण' समर्थ नहीं है, ऐसी आशंका हो सकती है । तथापि 'द्वि-ग्रहण' के सामर्थ्य से, प्रकरण से नहीं आये हुए, अनुमित 'स्थानि' का भी निषेध होता है, ऐसा अर्थ स्वीकृत होता है । वस्तुतः 'असिद्धं बहिरङ्ग-' न्याय और 'द्वि-ग्रहण' के बीच अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि न्याय सिद्ध होने पर द्वि-ग्रहण सार्थक बनता है और 'द्वि-ग्रहण' से न्याय की सिद्धि होती है । इस दोष को दूर करने के लिए ऐसा बताया जाता है कि यह न्याय लोकसिद्ध ही है, किन्तु उसके निषेध के लिए द्वि-ग्रहण किया गया है, ऐसा समझकर व्याकरण में भी इसी द्वि-ग्रहण से प्रस्तुत न्याय की प्रवृत्ति अनुमित होती है ।

॥२१॥ न स्वरानन्तर्ये ॥

दो स्वर बिल्कुल पास/नज़दीक में आने पर, यदि अन्तरङ्ग कार्य करना हो तो बहिरङ्ग कार्य 'असिद्ध/असद्वत्' नहीं होता है ।

पूर्व न्याय से प्राप्त 'असिद्धत्व' का यह न्याय निषेध करता है । उदा. इयेष, बभूवुषा । इन दोनों प्रयोग में अनुक्रम से 'इष्' धातु के 'इ' का गुण और 'क्वसु' प्रत्यय का 'उष्' आदेश, दोनों बहिर्व्यवस्थित होने से बहिरङ्ग कार्य है । जबकि 'पूर्वस्यास्वे स्वरे य्वोरियुव्' ४/१/३७ और 'धातोरिवर्णोवर्णस्ये'-२/१/५० से होनेवाला 'इय्' और 'उव्' पूर्वव्यवस्थित होने से अन्तरङ्ग कार्य है । अतः इन दोनों प्रयोगों में यदि पूर्व न्याय से अन्तरङ्ग कार्यरूप 'इय्' और 'उव्' आदेश करते समय 'इ' का गुण और 'क्वसु' का 'उष्' आदेश असिद्ध होगा तो पर में अस्व स्वर या स्वर नहीं मिलने से 'इय्' और 'उव्' आदेश नहीं होंगे । अतः इस न्याय से दो स्वर पास-पास आये होने से 'इय्' और 'उव्' आदेश करते समय 'ए' और 'उष्' दोनों असिद्ध/असद्वत् नहीं होंगे और रूपसिद्धि होगी ।

'वृत्त्यन्तोऽसषे' १/१/२५ सूत्रगत 'वृत्त्यन्तो' निर्देश, इस न्याय का ज्ञापक है । यहाँ 'अन्तस्' शब्द का 'स्' का 'सो रुः' २/१/७२ से 'रु' हुआ । बाद में 'अतोऽति रोरुः' १/३/२० से 'रु' के 'र्' का 'उ' होगा । यह 'उ' पर 'अ' कार निमित्तक है, अतः वह बहिरङ्ग कार्य है, वही 'उ' का पूर्व के 'अ' के साथ मिलकर 'अवर्णस्येवर्णादि-' १/२/६ से होनेवाला 'ओ', पूर्व 'अ' कारनिमित्तक

होने से अन्तरङ्ग कार्य है । अतः यदि यह न्याय न होता तो पूर्व के न्याय से 'उ' का 'ओ' करते समय, 'उ' बहिरङ्ग कार्य होने से असिद्ध होता और 'ओ' होता ही नहीं किन्तु स्वयं आचार्यश्री ने इस प्रकार निर्देश किया है, उससे ज्ञापित होता है कि यहाँ 'न स्वरानन्तर्ये' न्याय है ।

इस न्याय से पूर्वन्याय का बाध होने से 'उ' असिद्ध नहीं होगा ।

प्रस्तुत न्याय की अनित्यता दिखायी नहीं पडती है ।

'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय, 'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७/४/१०९ और 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' ७/४/११० के प्रकार का है, जबकि यह 'न स्वरानन्तर्ये' न्याय, 'न सन्धि-ङी'......७/४/१११ का सजातीय है ।

यहाँ पूर्व के 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय के तीनों पद की अर्थात् समग्र न्याय की अनुवृत्ति समझ लेना । अन्यथा यहाँ 'न' असम्बद्ध बन जाता है । इन दोनों न्याय में ज्ञापक की अपेक्षा से पौर्वापर्य सम्बन्ध दिखायी नहीं पड़ता, क्योंकि 'असिद्धं बहिरङ्ग-' न्याय का ज्ञापक 'न सन्धि-ङी'.....७/४/१११ सूत्रगत 'द्विग्रहण' है, जबकि 'न स्वरानन्तर्ये' न्याय का ज्ञापक 'वृत्त्यन्तोऽसषे' १/१/२५ सूत्र स्वयं है । इन दोनों ज्ञापक के बीच बहुत ही अन्तर होने से, दोनों न्याय भिन्न-भिन्न प्रदेश में स्थित होने से, दोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी मानते हैं ।

किन्तु उनकी यह बात उचित नहीं लगती है । न्याय/परिभाषाएँ समग्र शास्त्र को अवछिन्न करती है/लागु होती है । अतः उनमें से अमुक केवल प्रथम अध्याय के लिए है और अमुक केवल सातवें अध्याय के लिए ही है ऐसा निर्णय नहीं हो सकता है और एक ही न्याय का विभिन्न अध्यायों में उपयोग किया है तथा ज्ञापक भी क्वचित् एक से अधिक स्थान पर मिलते हैं तब वे ज्ञापक भी विभिन्न अध्यायों में हो सकते हैं । अतः पाणिनीय परम्परानुसार 'यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्' के पक्ष को स्वीकार करके, इन दोनों न्यायों के ज्ञापकों के बीच बहुत अन्तर होने से अनुवृत्ति संभव नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है, तथापि यहाँ इन दोनों न्यायों के 'सहपाठ' को स्वीकार करके, उन दोनों के बीच-आनन्तर्य का उन्होंने स्वीकार किया है । यह इस प्रकार है ।

आ. श्रीहेमचन्द्रसूरिजी तथा श्रीहेमहंसगणि ने प्रस्तुत न्यायों की सूत्रात्मक पद्धति से रचना की है । अतः एक ही न्याय में आये शब्दों की उनके जैसे या उनके अपवाद स्वरूप न्यायों में फिर से जरूरत होने से उन न्यायों में फिर उसी शब्द की पुनरुक्ति न करनी होती और संक्षेप में बहुत कहा जा सके, इसलिए वैसे सभी न्यायों को एक ही स्थान पर/साथ में रखकर, पौर्वापर्य सम्बन्ध स्थापित किया है । अत एव पूर्वन्याय में स्थित शब्दों की, पर न्याय में अनुवृत्ति हो सकती है, यदि वे समानविषयक हों तो ।

पाणिनीय परम्परा में भाष्यकार ने भी 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय के बाद, अब 'नाजानन्तर्ये' न्याय कहूँगा, ऐसा कहा है । यहाँ भी इन दोनों न्यायों के बीच-पौर्वापर्य सम्बन्ध है और इस प्रकार असिद्धं, बहिरङ्गं और अन्तरङ्गे, तीनों शब्द की अनुवृत्ति का सूचन मिल जाता है । 'नागेश' आदि ने भी 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्व प्रक्लृप्तिः' न्याय में 'अन्तरङ्गे' पद की अनुवृत्ति की है, किन्तु उन्होंने कहा

है कि यहाँ 'वहिष्ट्व' शब्द बहिरङ्गवाचक होने से 'अन्तरङ्गे' पद उपस्थित हो ही जाता है, क्योंकि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग अन्योन्य दोनों की अपेक्षा रहती है, अत: भाष्य की व्याख्या से यहाँ 'अन्तरङ्गे' शब्द की उपस्थिति होती है, ऐसा न कहना चाहिए ।

संक्षेप में, पाणिनीय परम्परा में न्याय/परिभाषा को एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र मानते हैं, जबकि सिद्धहेम की परम्परा में समानविषयक न्याय, एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और पूर्व के न्याय में से, अगले न्याय में शाब्दिक अनुवृत्ति आती है और वे एक-दूसरे के बाध्य-बाधक भी बनते हैं ।

इस न्याय की अनित्यता क्यों नहीं है ? यह न्याय, पूर्वन्याय की प्रवृत्ति का बाध करता है, किन्तु वह बाध केवल अनिष्ट स्थान पर ही होता है अर्थात् पूर्वन्याय से जहाँ अनिष्ट प्रयोग सिद्ध होता हो, वहाँ ही इस न्याय की प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार यह न्याय पूर्वन्याय की अप्रवृत्ति का मात्र/केवल सूचक ही है अत: इस न्याय की अनित्यता का संभव नहीं है ।

इस न्याय के उदाहरणों में 'इयेष' उदाहरण भी दिया है, किन्तु उसमें कुछ दोष है, अत: वह निर्बल बनता है, इसकी चर्चा श्रीहेमहंसगणि ने न्यास में की है, किन्तु, उसमें से कुछेक तर्कों का श्रीलावण्यसूरिजी ने खंडन किया है ।

इष् + णव् (परोक्षा.....३/३/१२)

इष् इष् + णव् (द्विर्धातु: परोक्षा-.....४/१/१)

इ इष् + णव् (व्यञ्जनस्यानादेर्लुक् ४/१/४४)

इ एष् + णव् (अ) (लघोरुपान्त्यस्य ४/३/४)

इय् एष् + अ (पूर्वस्यास्वे स्वरे.....४/१/३७) → इयेष

श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि 'इयेष' रूप में 'ए' का 'असिद्धं बहिरङ्ग-' न्याय से जो असिद्धत्व प्राप्त होता है, उसकी इस न्याय से निवृत्ति होती है, तथापि पूर्व 'इ' का 'इय्' आदेश नहीं हो सकता है, क्योंकि 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' ७/४/११० से 'ए' का अवश्य स्थानिवद्भाव होगा ही । उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार यहाँ स्थानिवद्भाव का संभव नहीं है, क्योंकि 'स्वरस्य परे'- ७/४/११० परिभाषा में 'परे' शब्द में सप्तमी विभक्ति है और 'सप्तम्या (निर्दिष्टे) पूर्वस्य' ७/४/१०५, परिभाषा में कहा है कि 'सप्तमी' से निर्दिष्ट जो कार्य होता है, वह अव्यवहित पूर्व को ही होता है । अत: यहाँ 'सप्तमी' से निर्दिष्ट स्थानिवद्भाव अव्यवहित पूर्व स्वर का ही होगा । यहाँ 'ए' और 'णव्' प्रत्यय के बीच 'ष्' का व्यवधान है, अत: स्थानिवद्भाव नहीं होगा, अर्थात् यहाँ 'एत्व' अनन्तरपरनिमित्तक होने पर ही स्थानिवद्भाव होगा, जैसे 'कथयति' में 'कथ' के 'अ' का लोप, अनन्तरपरनिमित्त 'णि' के कारण ही 'अत:' ४/३/८२ सूत्र से होता है । उसका स्थानिवद्भाव करने से 'ञ्णिति' ४/३/५० से होनेवाली 'उपान्त्यवृद्धि' नहीं होगी, किन्तु यह बात सही प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि 'लघोरुपान्त्यस्य' ४/३/४ सूत्र में 'अक्ङिति' में सप्तमी होने पर भी, अव्यवहित पूर्व का गुण होता ही नहीं, क्योंकि उपान्त्य लघु स्वर, 'अकित्ङित्' प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व में कदापि होता

ही नहीं । अतः 'येन नाव्यवधानं, तेन व्यवहितेऽपि भवति' न्याय से, एक वर्ण के व्यवधान में भी प्रवृत्ति होती है । अतः एक ही वर्ण के व्यवधान के कारण परनिमित्तक आदेश का अभाव नहीं होता है, अतः स्थानिवद्भाव हो सकता है । दूसरी बात यह कि 'सप्तम्या पूर्वस्य' ७/४/१०५ और 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ ७/४/११०, दोनों परिभाषा सूत्र हैं । परिभाषा सूत्र, अन्य सूत्र प्रति अनुक्त अर्थ की पूर्ति द्वारा गुण करते हैं, अतः इसमें गुणत्व आयेगा तथा गुणों के बीच परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों समान हैं । जैसे राजा और सेवक के बीच स्वामी/सेव्य-सेवकभाव सम्बन्ध होता है, किन्तु एक ही राजा के सेवकों मे परस्पर सेव्य-सेवक भाव नहीं होता है, क्योंकि उनका सेवकभाव केवल राजा के प्रति ही है, ठीक उसी तरह परिभाषा सूत्र, व्याकरणशास्त्र को उपकारक है, उन्हीं परिभाषा सूत्रों को परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव का सम्बन्ध नहीं हो सकता है, अतः 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' ७/४/११० में, सप्तम्या पूर्वस्य ७/४/१०५ की उपस्थिति करना उचित नहीं है ।

श्रीहेमहंसगणि दूसरी बात यह कहते हैं कि शायद स्थानिवद्भाव होता है, ऐसा मान लें, तथापि 'अस्वे' से होनेवाला कार्य 'नञ्' निर्दिष्ट है और 'नञ्निर्दिष्ट कार्य'अनित्य है, अतः यहाँ 'स्व'(सवर्ण) संज्ञक स्वर पर में आने पर भी, पूर्व के 'इ' का 'इय्' होगा ।

यही समाधान/प्रत्युतर भी श्रीलावण्यसूरिजी को मान्य नहीं है क्योंकि यहाँ 'नञ्निर्दिष्ट' कार्य के अनित्यत्व का कोई प्रमाण/सबूत नहीं है । बल्कि निषेध ही बलवान् होता है । उसी न्याय से यहाँ 'अस्वे' ही उचित है । यदि इसी तरह 'नञ्निर्दिष्ट' के अनित्यत्व का स्वीकार करेंगे तो 'ईषतुः, ईषुः' आदि में समानदीर्घ का बाध होकर 'इय्' आदेश होने की आपत्ति आयेगी । अतः यहाँ 'स्व' संज्ञक स्वर पर में आने पर भी 'इ' का 'इय्' आदेश होगा, ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है ।

तीसरा समाधान देते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' न्याय से जहाँ भी 'अस्व' स्वर आयेगा, वहाँ 'पूर्वस्यास्वे स्वरे'......४/१/३७ से 'इ' का 'इय्' आदेश होगा ही, स्थानिवद्भाव करने पर भी होगा । यहाँ ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि स्थानिवद्भाव करने से आदेश स्थानिरूप हो जायेगा, अतः 'अस्व' स्वर का निमित्त नहीं मिलने से 'इय्', 'उव्' कैसे होगा ? क्योंकि स्थानिवद्भाव करने से स्थानिवत् कार्य ही होता है, किन्तु आदेश स्थानिरूप नहीं होता है, और वत् करने का केवल यही प्रयोजन है, अतः 'इ' का 'इय्' आदेश होगा ।

यहाँ श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि प्रथम 'नञ्निर्दिष्ट' कार्य की अनित्यता दिखाना और बाद में कहना कि "स्थानिवद्भाव करने से आदेश स्थानि रूप हो जाने से, 'अस्व' स्वर का निमित्त नहीं मिलने से 'इय्, उव्' आदेश कैसे होंगे ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए ।" वह उचित नहीं है । स्थानिवद्भाव करने से आदेश स्थानिरूप नहीं होता है, किन्तु स्थानि के कारण होनेवाला कार्य ही होता है । यह समाधान भी विचारणीय है, क्योंकि स्थानिवद्भाव से 'स्थानि' के कार्य का अतिदेश होता है और आदेश निमित्तक कार्य का अभाव होता है, अतः आदेश का रूप होने पर भी इसका कोई फल नहीं है । इस प्रकार यह समाधान भी सही प्रतीत नहीं होता है ।

अन्त में 'स्थानिवद्भाव-पुम्वद्भाव.....' न्याय से, स्थानिवद्भाव अनित्य होने से, यहाँ

स्थानिवद्भाव नहीं होगा तथा 'नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः' न्याय से, यहाँ स्थानिवद्भाव करने से अनिष्ट रूपसिद्धि होती है, अतः स्थानिवद्भाव नहीं करना चाहिए । इस समाधान का स्वीकार हो सकता है, तथापि यहाँ 'पूर्वस्याऽस्वे स्वरे-' ४/१/३७ सूत्र का आरम्भ करने से ही स्थानिवद्भाव का अभाव सिद्ध हो सकता है । अतः इस प्रकार वृथा प्रयत्न नहीं करना चाहिए, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी का कथन है । 'परिभाषेन्दुशेखर' में भी नागेश ने सूत्रारम्भ के सामर्थ्य से ही द्वित्व होने के बाद, उत्तर के स्वरादेश का स्थानिवद्भाव के निषेध की सिद्धि की है । प्रस्तुत न्याय के न्यास में श्रीहेमहंस- गणि ने भी 'इयेष' उदाहरण की निर्बलता का स्वीकार किया है । उनके मतानुसार भी 'बभूवुषा' ही श्रेष्ठ उदाहरण है तथापि लघुन्यासकार के मतानुसार यहाँ यह दिया है ।

श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यह न्याय पूर्वन्याय के 'जात' अंश का ही बाधक है, किन्तु समकालप्राप्त अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग सम्बन्धित 'असिद्धत्व' का अभाव करता नहीं है क्योंकि ऐसा करने पर 'ओमाङि' १/२/१८ सूत्रगत 'आङ्ग्रहण' व्यर्थ हो जाता है । अतः पाणिनीय परम्परानुसार पूर्वन्याय के 'एकदेश' का ही बाध करता है किन्तु सम्पूर्ण न्याय का बाध करता नहीं है । जबकि सिद्धहेम की परम्परा में पूर्वन्याय केवल 'जात' बहिरङ्ग कार्य को असिद्ध करता है, अतः संपूर्ण न्याय का, इस न्याय से बाध होता है । समकालप्राप्त अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कार्य में 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय का उपयोग होता है, अतः उसका बाध इस न्याय से नहीं होता है ।

इस न्याय के ज्ञापन से पूर्वन्याय की अनित्यता दिखायी पड़ती है, ऐसा श्रीहेमहंसगणि का कथन है । इसके बारे में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इस तरह प्रस्तुत न्याय से पूर्वन्याय की अनित्यता मालूम होती हो तो, केवल पूर्वन्याय को अनित्य कहने से, इस न्याय का कार्य हो जाता है, अतः इसके लिए यह न्याय न करना चाहिए । किन्तु यह बात सही नहीं है । इस प्रकार पूर्वन्याय की अनित्यता की कल्पना से ही 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो यप् बाधते ।' इत्यादि न्याय भी व्यर्थ होंगे ।

॥२२॥ गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः ॥

'गौण' और 'मुख्य' दोनों का ग्रहण सम्भव हो तो, मुख्य का ग्रहण करना ।

'मुख्य' की प्रबलता बताने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'चरणस्य स्थेणोऽद्यतन्यामनुवादे' ३/१/१३८ सूत्र में 'स्थेणोर्मुख्यकर्तुश्चरणस्य', व्याख्या की है । 'चरणस्य....' ३/१/१३८ सूत्र का अर्थ इस प्रकार है । वही, वही, वेदशाखा का अध्ययन करनेवाला ब्राह्मण या कोई जातिविशेष 'कठ' आदि कहा जाता है । अन्य प्रमाण से प्राप्त अर्थ को शब्दों से बताना/कहना, अनुवाद है । वैसा अनुवाद हो तो, अद्यतनी में, 'स्था' और 'इण्' धातु के कर्ता, यदि 'चरण, कठ' आदि होने पर, उनके सजातीय के साथ हुआ द्वन्द्व समास, 'समाहार द्वन्द्व' होता है । उदा. 'प्रत्यष्ठात्कठकालापम्, उदगात्कठकौथुमम्' । इन दो वाक्यों में अनुक्रम से 'कठकालापम्'

की 'प्रतिष्ठा' क्रिया और 'कठकौथुमम्' की 'उदय' क्रिया का किसी मनुष्य द्वारा अनुवाद हुआ है और दोनों धातु अद्यतनी में है, अतः उनका द्वन्द्व समास, समाहार द्वन्द्व होगा, अत एव उससे नपुंसकलिङ्ग और एकवचन होगा ।

किन्तु, 'कठ, कोथुम, कालाप' आदि कर्ता के रूप में न होकर करण आदि के रूप में हो या विवक्षा की गई हो तो समाहार द्वन्द्व नहीं होता है ।

उदा. 'प्रत्यष्ठात् कठकालापाभ्यां कश्चित्' इस प्रकार यहाँ 'स्था' और 'इण्' धातु के कर्ता के रूप में नहीं किन्तु करण के रूप में 'चरण' आदि संभव है, क्योंकि सम्बन्धहेतुयुक्त कारक की संख्या छः है, तथापि 'चरणस्य स्थेणो'.....३/१/१३८ सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'कर्त्तृत्वेन सम्बन्धिनो ये चरणाः', ऐसा, स्वतन्त्रता के कारण कर्ता की मुख्यता होने से, इस न्याय का स्वीकार करके कहा गया है ।

यद्यपि कर्त्तृत्व के सम्बन्ध से भी कर्ता-गौण और मुख्य-दो प्रकार से है, अतः जब कर्ता मुख्य हो और 'स्था' या 'इण्' धातु से सम्बन्धित हो, तो समाहार द्वन्द्व होता है, किन्तु कर्ता कर्त्तृत्वयुक्त होने पर भी यदि वह गौण हो तो वहाँ 'गौणमुख्ययोः'-न्याय से समाहार द्वन्द्व नहीं होगा । अर्थात् जब भावे प्रयोग हो तब समाहार द्वन्द्व नहीं होता है ।

उदा. 'प्रत्यष्ठायि कठकालापाभ्याम् ।' यहा 'चरण' का कर्त्तृत्व द्वारा 'स्था' धातु के साथ सम्बन्ध होने पर भी, 'भाव' का प्राधान्य होने से समाहार द्वन्द्व नहीं होता है ।

'चरणस्य स्थेणो'.....३/१/१३८ सूत्र में सामान्य से किया गया कथन ही इस न्याय का ज्ञापक है । वह इस प्रकार-:

यहाँ 'स्था' और 'इण्' धातु के मुख्य कर्ता, 'चरण' आदि के लिए सूत्र में 'स्थेणोर्मुख्यकर्तुः' कहना चाहिए, किन्तु ऐसा स्पष्ट कथन नहीं किया है, उससे सूचित होता है कि सामान्य से कथन करने पर भी, प्रस्तुत न्याय के बल से 'चरण' आदि के कर्त्तृत्व में मुख्यता प्राप्त होगी ही, इस आशय से ही सामान्यतया कथन किया है ।

यह न्याय अनित्य है । अत एव 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव्...'...२/१/५० सूत्र से, जिस प्रकार 'शिश्रियुः, लुलुवुः' आदि में धातु के 'इवर्ण' और 'उवर्ण' का 'इय्' 'उव्' आदेश हुआ है, वैसे 'नियौ, लुवौ' आदि में भी, इवर्ण और उवर्ण धातु सम्बन्धित होने पर भी, वे 'क्विप्' प्रत्ययान्त होने से, मुख्य नहीं, किन्तु गौण हैं, तथापि 'धातोरिवर्णोवर्णस्ये-'२/१/५० से 'इय्, उव्' आदेश होता है ।

'स्यादौ वः' २/१/५७ सूत्र से प्रस्तुत न्याय की अनित्यता का ज्ञापन होता है । वह इस प्रकार-: 'वसु इच्छतः (क्यनि) = वसूयतः। वसूयतः इति क्विप् ।' 'वसु' शब्द को इच्छा अर्थ में क्यन् प्रत्यय 'अमाऽव्यात् क्यन् च' ३/४/२३ सूत्र से होगा, बाद में उससे 'क्विप्' होने पर, 'अतः' ४/३/८२ से 'वसूय' धातु के 'य' के 'अ' का लोप होगा, उसके बाद 'योऽशिति' ४/३/८० से 'य्'

लोप होगा[१] और 'वसू' शब्द बनेगा । उसका प्रथमा विभक्ति द्विवचन में 'वस्वौ' रूप होगा ।

यही 'वस्वौ' रूप सिद्ध करने के लिए 'स्यादौ वः' २/१/५७ सूत्र की रचना की है और 'वसू' के 'ऊ' का 'व्' किया है । 'वसू' के 'ऊ' का 'व्', 'इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्' १/२/२१ से होनेवाला ही था, तथापि उसके लिए 'स्यादौ वः' २/१/५७ सूत्र बनाया, उससे सूचित होता है कि 'इवर्णादे'....१/२/२१ से होनेवाला 'वत्व', 'धातोरिवर्णोवर्णस्ये'-२/१/५० से होनेवाले 'इय्, उव्' से बाध्य होगा क्योंकि 'धातोरिवर्णो'-२/१/५० सूत्र पर है तथा 'वार्णात्प्राकृतम्' न्याय भी 'वत्व' का बाध करेगा, और 'उव्' आदेश करेगा, उसकी निवृत्ति के लिए 'स्यादौ वः' २/१/५७ सूत्र किया है ।

यदि यह न्याय न होता तो, 'क्विप् प्रत्ययान्त वसू' में स्थित धातुत्व गौण होने से, 'धातोरिवर्णोवर्णस्ये'-२/१/५० से 'उव्' होनेवाला ही नहीं था, तो इसका बाध करने के लिए 'स्यादौ वः' २/१/५७ सूत्र करने की जरूरत ही नहीं थी तथापि वह सूत्र बनाया, उससे सूचित होता है कि यह न्याय अनित्य होने से 'धातोरिवर्णोवर्णस्ये'-२/१/५० से, क्विप् प्रत्ययान्त शब्दगत गौण धातु के 'इवर्ण' और 'उवर्ण' का अनुक्रम से 'इय्, उव्' आदेश होगा ।

'प्रत्येक व्यवहार मुख्य के अनुसार ही होता है' ऐसा न्याय भी देखने को मिलता है । उदा. 'मुनीन्' में 'शसोऽता सश्च नः पुंसि' १/४/४९ सूत्र से 'मुनि' का 'इ कार' और 'शस्' का 'अ', दोनों स्थानि होते हैं और दोनों के स्थान में एक दीर्घ करना है, इस परिस्थिति में 'इ' का दीर्घ करना या 'अ' का दीर्घ करना ? 'इ' मुख्य है, जबकि 'अ', 'शसोऽता सह' में 'सह' के अर्थ से निर्दिष्ट होने से गौण है, अतः 'इ' और 'अ', दोनों के स्थान में मुख्य 'इ' का आसन्न दीर्घ 'ई' होगा ।

किन्तु इस न्याय से सिद्ध होनेवाला कार्य, 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये.....' न्याय से भी सिद्ध होता है, अतः इस न्याय का गौणमुख्ययोर्मुख्ये.....न्याय में ही समावेश कर दिया है ।

"गौण (अप्रधान), मुख्य (प्रधान) को अनुसरण करता है" न्याय भी है । उदा. 'नीलोत्पलम्, नीलं च तद् उत्पलं च' इस समास में 'नील' विशेषण है और 'उत्पल' विशेष्य । किन्तु दूसरी दृष्टि से 'उत्पल' विशेषण तथा 'नील' विशेष्य हो सकता है ।

प्रथम परिस्थिति में विभिन्न रंगयुक्त बहुत से 'उत्पल' में से 'नील' रंगयुक्त 'उत्पल' को अलग करने के लिए 'नील' विशेषण रखा है, वहाँ 'उत्पल' विशेष्य है ।

दूसरी परिस्थिति में 'नील' रंगयुक्त विभिन्न वस्तुओं में से 'उत्पल' को अलग करना है इसलिए, 'नील' विशेष्य है, और 'उत्पल' विशेषण है । इस परिस्थिति में 'विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च' ३/१/९६ से कर्मधारय समास करते समय 'उत्पलनीलम्' होने की प्राप्ति है किन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि 'द्रव्याश्रया गुणाः' न्याय से गुण अप्रधान होने से, 'नील' शब्द का ही

१. यहाँ य लोप करने के लिए श्रीहेमहंसगणि तथा श्रीलावण्यसूरिजी ने योऽशिति ४/३/८० सूत्र दिया है किन्तु य्वोः प्व्य्व्यञ्जने लुक् ४/४/१२१ सूत्र से य लोप होता है ।

प्राक्प्रयोग होगा अर्थात् वह पूर्वपद के रूपमें आयेगा और 'द्रव्य' मुख्य होने से, 'उत्पल' शब्द उत्तरपद के रूप में आयेगा ।

किन्तु यह न्याय भी 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः ।' जैसा होने से उसमें ही इस न्याय का समावेश हो जाता है, क्योंकि 'विशेषण' का प्राक्प्रयोग भी एक प्रकार का विशेष कार्य ही है ।

इस न्याय के प्रतिउदाहरण के रूप में दिये गए 'प्रत्यष्ठायि कठकालापाभ्यां' प्रयोग को तथा श्रीहेमहंसगणि की मान्यता को श्रीलावण्यसूरिजी स्वीकार नहीं करते हैं । इस उदाहरण के बारे में श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यहाँ भाव में प्रत्यय का विधान होने से 'कठ' और 'कालाप' का क्रिया के साथ कर्ता के रूप में सम्बन्ध होने पर भी, भाव (क्रिया) की ही प्रधानता होने से (और कर्ता उसका अनुसर्ता होने से) कर्ता मुख्य नहीं है ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने इसका निषेध करते हुए कहा है कि न्याय का व्यापार दो प्रकार का होता नहीं है । एक बार न्याय का आधार लेकर, कर्ता के रूप में सम्बन्ध स्थापित करना और दूसरी बार, उसी न्याय के व्यापार का अभाव मानकर कर्ता के सम्बन्ध को दूर करना उचित नहीं है ।

केवल भाव में ही प्रत्यय करने से, कर्ता की मुख्यता दूर नहीं होती है, क्योंकि उसी अवस्था में भी कर्ता, कारक के रूप में मुख्य ही रहता है किन्तु गौण नहीं होता है । केवल भाव में किये गये प्रत्यय से कर्ता की मुख्यता कैसे दूर हो सकती है ? उसी प्रकार से कर्मणि प्रयोग में भी कर्ता की मुख्यता नहीं हो सकती है क्योंकि यहाँ भी प्रत्यय से कर्ता उक्त नहीं है । अतः क्या यहाँ भी कर्ता गौण हो जाता है ?

किन्तु श्रीलावण्यसूरिजी की यह बात उचित प्रतीत नहीं होती है । सामान्यतया एक सिद्धांत ऐसा है कि मुख्य को प्रथमा विभक्ति होती है और आख्यात या कृत्प्रत्यय से उक्त हो, उसे मुख्य कहा जाता है । अतः आख्यात या कृत्प्रत्यय से उक्त न हो, वह गौण माना जाता है । यहाँ व्याकरणशास्त्र में इस प्रकार की व्यवस्था है । अतः कर्मणि या भावे प्रयोग में, कर्ता, आख्यात या कृत्प्रत्यय से उक्त न होने से, मुख्य नहीं किन्तु गौण माना जाता है । वस्तुतः कर्ता कदापि गौण होता ही नहीं है और श्रीलावण्यसूरिजी की यह बात शतप्रतिशत सत्य होने पर भी, व्याकरणशास्त्र निर्दिष्ट व्यवस्था और विवक्षा भी, उतनी ही प्रमाणित/प्रमाणभूत होने से कर्मणि या भावे प्रयोग में कर्ता को गौण ही मानना चाहिए, ऐसी श्रीहेमहंसगणि की मान्यता शायद होगी, ऐसा लगता है ।

कुछेक लोगों का कहना है कि यहाँ उक्त और अनुक्त की व्यवस्था से ही कार्य चल सकता है, अतः उक्त को मुख्य और अनुक्त को गौण नहीं मानना चाहिए ।

सिद्धहेम बृहद्वृत्ति के लघुन्यास में, इसी सूत्र की चर्चा करते हुए न्यासकार ने इसी न्याय का प्रयोग करके बताया है कि ('स्था' धातु अकर्मक होने से) भावे प्रयोग में, कर्ता अनुक्त होने से गौण होगा, अतः 'प्रत्यष्ठायि कठकालापाभ्यां' प्रयोग ही होगा, किन्तु समाहार द्वन्द्व होकर एकवचन नहीं होगा ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'गौण' और 'मुख्य' की कोई व्याख्या बताई नहीं है । कोई भी शब्द गौण

अर्थ में तब ही प्रवृत्त होता है जब उसमें, गुण द्वारा, मुख्यार्थ का आरोपण किया गया हो, अर्थात् गुण से आया हुआ (निष्पन्न) गौण कहा जाता है । संक्षेप में, जो अप्रसिद्ध और लाक्षणिक हो, वह गौण कहा जाता है । इस प्रकार की व्याख्या श्रीलावण्यसूरिजी ने बतायी है ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'धातोरिवर्णोवर्णस्ये-' २/१/५० द्वारा प्रस्तुत न्याय की अनित्यता बताई है, किन्तु वह शंकायुक्त/शंकास्पद है । श्रीलावण्यसूरिजी ने पाणिनीय परम्परागत, श्री नागेश की व्याख्यानुसार चर्चा करते हुए बताया है कि 'धातोरिवर्णोवर्णस्ये-' २/१/५० से जैसे 'शिश्रियतुः, लुलुवतुः' इत्यादि प्रयोग में 'इय्, उव्' आदेश होता है, वैसे 'नियौ, भुवौ' आदि में भी 'क्विबन्तत्वप्रयुक्त' गौण धातु सम्बन्धि 'इवर्ण, उवर्ण', का 'इय्, उव्' आदेश होगा क्योंकि यहाँ 'धातोः' पद 'विशिष्टार्थोपस्थापक' होने पर भी, 'कार्यि' स्वरूप 'इवर्ण, उवर्ण' में 'विशिष्टार्थोपस्थापकत्व' का अभाव है । अत एव प्रस्तुत न्याय की अनित्यता नहीं बतानी चाहिए, और लोकसिद्ध न्याय की अनित्यता बताना उचित नहीं है, ऐसी श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यता है ।

इस प्रकार इस न्याय की अनित्यता न मानने पर, 'स्यादौ वः' २/१/५७ सूत्र भी अनित्यता का ज्ञापक नहीं होगा । प्रस्तुत सूत्र अनर्थक/व्यर्थ होने पर ही ज्ञापक बन सकता है किन्तु 'वस्वौ, वस्वः' इत्यादि प्रयोग में वह सार्थक है । उसकी सार्थकता इस प्रकार है ।

'वसूयतः इति क्विप्' में 'क्विप्' प्रत्यय होने पर, 'अतः' ४/३/८२ से 'अ' का लोप होगा, बाद में 'योऽशिति' ४/३/८० से 'य्', का लोप होकर 'वसू' होगा । उससे प्रथमा विभक्ति द्विवचन का औ प्रत्यय होने पर 'धातोरिवर्णोवर्णस्ये'- २/१/५० से, ऊपर बताया उसी प्रकार से 'उव्' आदेश निःसंकोच हो सकता है । उसका बाध करने के लिए 'स्यादौ वः' २/१/५७ सूत्र की रचना की है, वह सार्थक ही है ।

संक्षेप में क्विबन्त धातु 'औ' में, धातुत्व गौण है ही नहीं किन्तु मुख्य ही है । उसमें 'नामत्व' आने से धातुत्व गौण नहीं होता है । दोनों समान रूप से ही है । तथा 'क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति शब्दत्वं च प्रतिपद्यते' न्याय से यहाँ रूपसिद्धि हो सकती है, अतः यहाँ गौण-मुख्य का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है ।

श्रीहेमहंसगणि 'प्रधानानुयानिनो व्यवहाराः' और 'प्रधानानुयाय्यप्रधानम्' न्यायों को प्रस्तुत न्याय के उपन्याय स्वरूप मानते हैं । प्रस्तुत दोनों न्याय 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये.....' न्याय सदृश ही है । यहाँ गौण शब्द का अर्थ 'मुख्यभिन्न' लेना । अतः इस न्याय में ही उसका अर्थ आ जाता है । कुछेक को यह मान्य नहीं है । वे कहते हैं कि श्रीहेमहंसगणि ने यही उपन्याय के लक्ष्य-स्वरूप 'मुनीन्' रूप में 'मुनि' का 'इ' और 'शस्' का 'अ' दोनों स्थानि होने पर भी 'मुनि' के 'इ' का आसन्न दीर्घ होगा, किन्तु 'शस्' के 'अ' का आसन्न 'आ' नहीं होगा क्योंकि 'शसोऽता सह' में 'सह' के अर्थ से निर्दिष्ट होने से वह गौण है किन्तु यह बात उचित नहीं है ।

मूल न्याय का अर्थ यह है कि गौण और मुख्य, दोनों को भिन्न भिन्न रूप से कार्य की प्राप्ति हो वहाँ मुख्य को ही कार्य होता है । इस न्याय की प्राप्ति की यहाँ कोई संभावना ही नहीं है । यहाँ

तो गौण और मुख्य दोनों के स्थान में एक ही कार्य होता है अतः गौण में कार्य का अभाव करना संभव ही नहीं है। तथा 'समानादमोऽतः' १/४/४६ से अनुवृत्त 'समान' शब्द का विभक्तिविपरिणाम होकर 'दीर्घो नाम्यतिसृ चतसृष्रः' १/४/४७ में 'समानस्य' होता है, इसकी अनुवृत्ति 'शसोऽता' १/४/४९ में आती है, अतः 'समान' स्वर ही, षष्ठी से निर्दिष्ट होने से, स्थानि के रूप में लिया जायेगा और इसका आसन्न आदेश ही 'आसन्नः' ७/४/१२० परिभाषा से होगा । अतः 'आसन्नः' ७/४/१२० परिभाषा द्वारा ही निर्णय करना उचित है ।

जहाँ प्रस्तुत नियम में सन्देह हो, वहाँ ही लोकसिद्ध 'प्रधानानुयायिनो व्यवहाराः' न्याय का प्रयोग करना चाहिए । किन्तु यहाँ ऐसी कोई जरूरत नहीं है तथा 'प्रधानानुयाय्यप्रधानम्' न्याय भी इसी न्याय का अन्य रूप है, और वह इस न्याय से किसी भी प्रकार से भिन्न नहीं है ।

प्रस्तुत न्याय के कार्यक्षेत्र की समझ देते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि परिनिष्ठित पदों के बीच ही गौण-मुख्य सम्बन्ध संभव है, अतः 'नाम' अवस्था में, इस न्याय का प्रयोग होता नहीं है । इस बात को शास्त्रीय पद्धति से प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि "किञ्चायं न्यायो न नामसम्बन्धिनि कार्ये प्रवर्तते, किन्तूपात्तं विशिष्टार्थोपस्थापकं विशिष्टरूपं यत्र तादृश-पदकार्य एव प्रवर्तते ।"

यहाँ 'पदविधि' का क्षेत्र बहुत विशाल होने से, प्रस्तुत न्याय की प्रवृत्ति के लिए 'पदविधि' का क्षेत्र भी निश्चित करने की जरूरत खड़ी होती है । इस विषय में महाभाष्य की चर्चा के आधार पर, उन्होंने प्रस्थापित किया है कि, 'विभक्ति अनिमित्तक' और 'स्त्रीत्व अनिमित्तक' पदकार्य में इस न्याय की प्रवृत्ति होती है। इसके बारे में विस्तृत चर्चा श्रीलावण्यसूरिजीकृत 'न्यायार्थसिन्धु' व 'तरङ्ग' में प्राप्त होती है ।

भावमिश्रकृत 'कातन्त्र परिभाषावृत्ति' में, 'सः, तौ, ते' और 'अतितत्' प्रयोग इस न्याय के उदाहरण के स्वरूप में दिये हैं । 'सः, तौ, ते' प्रयोग में 'तद्' शब्द मुख्य होने से, उससे 'त्यदादि' सम्बन्धित सर्व कार्य हुआ है किन्तु 'अतितद्' में वही 'तद्' शब्द गौण होने से 'त्यदादि' सम्बन्धित कार्य नहीं हुआ है ।

॥२३॥ कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे ॥

कृत्रिम और अकृत्रिम, दोनों का ग्रहण सम्भव हो तो कृत्रिम अर्थात् परिभाषा-निष्पन्न का ग्रहण करना चाहिए ।

यहाँ 'कार्यसम्प्रत्ययः' शब्द रखना/जोड़ना ।

'कृत्रिम' अर्थात् 'परिभाषानिष्पन्न', वह 'उपाधि' से युक्त होने से 'गौण' होता है । जबकि उससे भिन्न/अन्य अकृत्रिम अर्थात् स्वभाविक और लोकप्रसिद्ध, वह उपाधि से रहित होने से मुख्य माना जाता है ।

'कृत्रिम' तथा 'अकृत्रिम', दोनों का ग्रहण संभव हो तो कृत्रिम/परिभाषा निष्पन्न का ग्रहण करना ।

पूर्वन्याय से 'अकृत्रिम' का ही ग्रहण होता था क्योंकि वह मुख्य है । यह न्याय उसका अपवाद है ।

उदा. 'असहनञ्विद्यमानपूर्वपदात् स्वाङ्गादक्रोडादिभ्यः' २/४/३८ में कथित 'स्वाङ्ग' शब्द से, व्याकरण की परिभाषा से निष्पन्न 'स्वाङ्ग' लेना अर्थात् व्याकरण में बतायी हुई व्याख्यानुसार-लक्षणयुक्त 'स्वाङ्ग' का ग्रहण करना किन्तु लौकिक/लोकप्रसिद्ध 'स्वाङ्ग' का ग्रहण नहीं करना चाहिए । व्याकरण में 'स्वाङ्ग' शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी गई है ।

"अविकारोऽद्रवं मूर्त्तं प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते ।
च्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निभं च प्रतिमादिषु ॥"

उपर्युक्त व्याख्यानुसार जो 'स्वाङ्ग' है उसका यहाँ ग्रहण करना, किन्तु 'स्वमङ्गमवयवं स्वाङ्गम्' रूप यौगिक, अकृत्रिम स्वाङ्ग का ग्रहण नहीं करना चाहिए । अतः 'दीर्घमुखा शाला' में 'मुख' शब्द में 'शाला' की अपेक्षा से, लोकप्रसिद्ध 'स्वाङ्गत्व' होने पर भी, वह 'प्राणिस्थ' नहीं होने से 'पारिभाषिक स्वाङ्गत्व' का अभाव होने से 'असहनञ्विद्यमानपूर्वपदात्....' २/४/३८ से 'ङी' प्रत्यय नहीं होगा ।

'आङ्गो यमहनः स्वेऽङ्गे च' ३/३/८६ सूत्रगत 'स्व' और 'अङ्ग' शब्द का व्यस्ताभिधान अर्थात् भिन्न-भिन्न कथन, इस न्याय का ज्ञापक है । यदि उसका 'व्यस्त कथन न किया होता और 'स्वाङ्गे' रूप में समस्ताभिधान किया होता तो 'आयच्छति पादौ मैत्रस्य ' इत्यादि प्रयोग में 'अविकारोऽद्रवं....' इत्यादि लक्षणयुक्त 'स्वाङ्ग' होने से, इस न्याय के कारण आत्मनेपद हो जाता, किन्तु व्यस्ताभिधान करने से परिभाषानिष्पन्न के कारण 'स्वाङ्ग' होने पर भी अपने ही अवयव रूप स्वाङ्ग का अभाव होने से आत्मेनपद नहीं हुआ है । अतः इस न्याय की आशंका से ही 'स्वेऽङ्गे' के रूप में व्यस्ताभिधान किया है ।

इस न्याय की अनित्यता अगले न्याय में बतायी जायेगी ।

यहाँ श्रीहेमहंसगणि इस न्याय को 'गौणमुख्योर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' न्याय का अपवाद मानते हैं, किन्तु श्रीलावण्यसूरिजी ने पाणिनीय परम्परा की गौण-मुख्य की व्याख्या का स्वीकार किया है । अतः उसके अनुसार चर्चा करके उन्होंने बताया है कि 'कृत्रिम' अर्थात् परिभाषानिष्पन्न होने से वह उपाधियुक्त है, अतः वह गौण है और 'अकृत्रिम' स्वाभाविक है, अतः 'मुख्य' है । इस लिए पूर्वन्याय का यह अपवाद है, ऐसा श्रीहेमहंसगणि का कथन सही/यथार्थ नहीं है । 'गुणप्रयुक्तं' या 'गुणादागतं गौणत्वं' व्याख्यानुसार यहाँ 'कृत्रिम' में 'गौणत्व है नहीं, क्योंकि उसके/किसी गुण के आधार पर, उसका व्यवहार नहीं होता है । अतः यहाँ 'स्वाङ्ग' शब्द में गुणप्रयुक्तत्व नहीं है, किन्तु विशेष अर्थ में वह परिभाषित है और वह केवल अपने शास्त्र की प्रक्रिया के निर्वाह के लिए है तथा अप्रसिद्ध

और लाक्षणिक होने से वह गौण है ऐसा पूर्वन्याय में बताया है । अतः 'कृत्रिम' केवल 'अप्रसिद्ध' होने से गौण नहीं हो जाता है क्योंकि लोकप्रसिद्धि से शास्त्रप्रसिद्धि बलवती होती है । अतः अप्रसिद्धत्व का यहाँ नितान्त/पूर्णरूप से अभाव ही है । यदि ऐसा न होता तो वह किसी भी अवस्था में बलवान् नहीं बन पायेगा और ऐसा भी नहीं कहा जाएगा कि यदि इस प्रकार से शास्त्रप्रसिद्धि ही बलवती होती है तो प्रस्तुत न्याय की रचना क्यों की गई, क्योंकि न्याय कदापि अपूर्व अर्थबोध नहीं करवाता है । वह केवल व्याकरण के सूत्रों की रचना से ध्वनित नियमों का ही स्पष्टीकरण करता है ।

पाणिनीय व्याकरण के महाभाष्य में 'बहु-गण-वतु-डति-सङ्ख्या' (पा.सू. १/१/२३) की चर्चा करते हुए, इस न्याय को 'लोकव्यवहारसिद्ध' बताया है । यदि व्यवहार में/लोक में कोई भी व्यक्ति का 'गोपालक' या 'कटजक' नाम हो, तो 'गोपालकमानय, कटजकमानय' कहने पर 'गोपालक' और 'कटजक' नाम का व्यक्ति ही लाया जाता है किन्तु उनके यौगिक अर्थयुक्त गोपालक (ग्वाला) या कट के ऊपर जिसका जन्म हुआ है ऐसे 'कटजक' को लाया नहीं जाता है । इस प्रकार यहाँ परिभाषानिष्पन्न अर्थात् संज्ञास्वरूप 'कृत्रिम' का ही ग्रहण होता है, किन्तु अकृत्रिम अर्थात् यौगिक अर्थयुक्त का ग्रहण नहीं होता है । अतः 'बहु-गण-वतु-डति सङ्ख्या' (पा.सू.१/१/२३) सूत्रगत 'सङ्ख्या' शब्द को उद्देश्य की कोटि में /कक्षा में रखना चाहिए, ऐसा कहा है । अर्थात् इसी सूत्र का अर्थ इस प्रकार से करना कि 'बहु' शब्द, 'गण' शब्द, 'वतु' प्रत्ययान्त, 'डति' प्रत्ययान्त और सङ्ख्यावाचक शब्दों को सङ्ख्या संज्ञा होती है । यदि इस प्रकार से सङ्ख्यावाचक शब्दों को भी सङ्ख्या संज्ञा न करने से 'बहु, गण', 'वतु' प्रत्ययान्त और 'डति' प्रत्ययान्त शब्दों का ही 'सङ्ख्या' शब्द से ग्रहण होता, क्योंकि उन्हें कृत्रिम 'सङ्ख्या-संज्ञाएँ मानी जाती, जबकि एक, द्वि, आदि अकृत्रिम/स्वाभाविक सङ्ख्याएँ होने से प्रस्तुत न्याय से उनका ग्रहण नहीं होगा ।

जबकि सिद्धहेम की परम्परा में 'डत्यतु सङ्ख्यावत्' १/१/३९ और 'बहु-गणं भेदे १/१/४० से सङ्ख्या-संज्ञा नहीं करते हैं किन्तु सङ्ख्यावत् करते हैं । अतः वहाँ प्रस्तुत न्याय की कोई आवश्यकता नहीं है ।

यह न्याय लोकसिद्ध होने से, परिभाषेन्दुशेखर में नागेश ने इसे परिभाषा के रूप में नहीं दिया है किन्तु 'उभयगतिरिह भवति' न्याय के उत्थान के लिए, उसके बीजरूप में अवतरणिका में दिया है ।

यह न्याय व्याडि के परिभाषासूचन, शाकटायन के परिभाषासंग्रह में दिया है । पुरुषोत्तमदेवकृत लघुपरिभाषावृत्ति में इसी न्याय में ही 'क्वचिदुभयगतिः' न्याय दिया है तथा नीलकंठ दीक्षित विरचित परिभाषावृत्ति में इस न्याय का अनित्यत्व बताया है ।

॥ २४ ॥ क्वचिदुभयगतिः ॥

क्वचित्/कदाचित् 'कृत्रिम' और 'अकृत्रिम' दोनों का ग्रहण होता है ।

यह न्याय पूर्वन्याय का अपवाद है अर्थात् क्वचित्/कदाचित् 'कृत्रिम' और 'अकृत्रिम' दोनों का ग्रहण होता है । 'गति' का अर्थ यहाँ 'ग्रहण' करना है ।

अतः जैसे 'बहुनाडिः कायः 'और 'बहुतन्त्री ग्रीवा' इत्यादि प्रयोग में, 'कृत्रिम' अर्थात् परिभाषानिष्पन्न 'स्वाङ्ग' से 'नाडीतन्त्रीभ्यां स्वाङ्गे' ७/३/१८० से 'कच्' प्रत्यय का निषेध हुआ है, वैसे 'अकृत्रिमस्वाङ्गवृत्ति', 'नाडी' और 'तन्त्री' शब्द से भी 'कच्' प्रत्यय का निषेध होने से 'बहुनाडिः स्तम्बः, बहुतन्त्री वीणा' प्रयोग भी होंगे ।

[यद्यपि लघुवृत्ति (सिद्धहेम) में 'नाडीतन्त्रीभ्यां स्वाङ्गे' ७/३/१८० के उदाहरण में 'बहुनाडीकः स्तम्बः, बहुतन्त्रीका वीणा' प्रयोग बताये हैं तथापि बृहद्वृत्ति में स्पष्टता की गई है कि ''अन्ये त्वाहुर्न पारिभाषिकं स्वाङ्गमिह गृह्यते किन्तु स्वमात्मीयमङ्गम् स्वाङ्गम् । आत्मा च इह अन्यपदार्थः तस्याङ्गमवयवस्तस्मिन्निति । तेषां बहुनाडिः स्तम्बः, बहुतन्त्री वीणा ।]

यहाँ 'नाडी' और 'तन्त्री' दोनों प्राणिस्थ नहीं होने से दोनों में व्याकरण की परिभाषा से निष्पन्न 'कृत्रिम स्वाङ्गत्व' नहीं है, यहाँ किसी को ऐसी शंका हो सकती है कि 'नाडी' को 'अप्राणिस्थ' बताया यह उचित नहीं है क्योंकि 'स्तम्ब' दारु/ लकड़ी से निष्पन्न है और वृक्ष-दारु/लकड़ी एकेन्द्रिय प्राणि ही है । उसके प्रत्युत्तर में श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि व्याकरण में 'प्राणि' शब्द से त्रस जीवों का ही ग्रहण होता है किन्तु स्थावर जीवों का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि यदि 'प्राणि' शब्द से स्थावर-एकेन्द्रिय का ग्रहण होता तो 'प्राण्यौषधिवृक्षेभ्योऽवयवे च' ६/२/३१ सूत्र में 'प्राणि' शब्द से ही 'औषधि' और 'वृक्ष' का ग्रहण हो जाता था, किन्तु ऐसा होता नहीं है । अतः 'प्राणि' शब्द के साथ-साथ 'औषधि' और 'वृक्ष' शब्दों का भी पृथग्ग्रहण किया है ।

'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे' ॥२३ ॥ न्याय होने पर भी कहीं-कहीं दोनों प्रकार के प्रयोग देखने को मिलते हैं, इससे ज्ञापित होता है कि 'क्वचिदुभयगतिः' ॥ न्याय है । अत एव ऐसे दोनों प्रकार के प्रयोग ही इस न्याय के ज्ञापक हैं ।

आगे भी जहाँ 'तथाप्रयोगदर्शन' को ज्ञापक माना हो वहाँ इस प्रकार से समझ लेना ।

यह न्याय और पूर्व का न्याय, दोनों अनित्य हैं क्योंकि कहीं-कहीं 'कृत्रिम' और 'अकृत्रिम' में से केवल 'अकृत्रिम' का ही ग्रहण, देखने को मिलता है । उदा. 'शिरोऽधसः पदे समासैक्ये' २/३/४ यहाँ पारिभाषिक 'तदन्तं पदम्' १/१/२० से निष्पन्न 'पद' को छोड़कर केवल 'पद' शब्द को ही ग्रहण किया है । अतः 'शिरस्पदम्, अधस्पदम्' में 'शिरोऽधसः पदे'.....२/३/४ से 'र्' का 'स्' होगा ।

इस न्याय का कार्यक्षेत्र/प्रदेश बताते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि जहाँ 'प्रकरण' से 'कृत्रिम' या 'अकृत्रिम' दो में से किसका ग्रहण किया जाय ? इसका निश्चय न हो, वहाँ तथा जहाँ

दोनों के ग्रहण की उपस्थिति हो वहाँ, दोनों का ग्रहण करना चाहिए, ऐसा यह न्याय कहता है। जहाँ 'प्रकरण' का ज्ञान ही न हो, वहाँ उसके शब्द के आधार पर उपर्युक्त न्याय से केवल 'कृत्रिम' का ही ग्रहण करना ।

वस्तुतः कहाँ उभयगति करनी ? कहाँ 'कृत्रिम' का ग्रहण करना ? और कहाँ केवल 'अकृत्रिम' का ग्रहण करना ? उसके लिए केवल लक्ष्यानुसारी व्याख्यान को महत्त्व देना चाहिए क्योंकि ये दोनों न्याय अस्थिर होने से, केवल इन न्यायों के आधार पर व्यवस्था करना संभव नहीं है।

॥२५॥ सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ॥

कोई भी कार्य, अन्य सूत्र से सिद्ध हो सकता हो, तथापि उसके लिए, नये सूत्र की रचना की जाय तो, वही सूत्र नियम सूत्र कहा जाता है ।

सूत्र की निरर्थकता की आशंका दूर करने के लिए यह न्याय है ।

कोई भी कार्य एक सूत्र से सिद्ध हो तथापि, उसके लिए नये सूत्र की रचना, नियम के लिए होती है ।

उदा. 'दण्डी' में 'नि दीर्घः' १/४/८५ से दीर्घ हो सकता है, तथापि यहाँ दीर्घ करने के लिए 'इन्हन्पूषार्यम्णः शिस्योः' १/४/८७ सूत्र बनाया, वह नियमार्थ है । और वह नियम इस प्रकार हुआ, 'इन् हन् पूषन्' और 'अर्यमन्' का उपान्त्य स्वर, 'शि' और 'सि' पर में आने पर ही दीर्घ होता है, किन्तु अन्य 'घुट्' प्रत्यय पर में आने पर दीर्घ नहीं होता है, अतः 'दण्डिनौ, दण्डिनः' इत्यादि प्रयोग में 'नि दीर्घः' १/४/८५ से होनेवाले दीर्घत्व का बाध होगा ।

ऐसे सूत्रों का पुनः सूत्रारम्भ ही इस न्याय का ज्ञापक है । यदि यह न्याय न होता तो 'इन्हन्पूषार्यम्णः शिस्योः' १/४/८७, विधि-सूत्र ही होता तो इस सूत्र का पुनः आरम्भ न करते, क्योंकि इस सूत्र से होनेवाला कार्य 'नि दीर्घः' १/४/८५ से हो ही जाता है, तथापि इसी सूत्र की रचना की । इससे सूचित होता है कि कोई भी कार्य अन्य सूत्र से सिद्ध होने पर भी, यदि इसके लिए नये सूत्र की रचना की जाय तो वही सूत्र नियम के लिए होता है ।

यह न्याय अनित्य है अत एव 'पूजार्हः' इत्यादि प्रयोग में 'लिहादिभ्यः' ५/१/५० से 'अच्' प्रत्यय सिद्ध होनेवाला था, तथापि 'अर्होऽच्' ५/१/९१ आदि छः सूत्रों का पुनः आरम्भ किया है, वह नियम के लिए नहीं होता है, किन्तु 'अर्ह' आदि को 'लिहादि' से पृथग् करने के लिए ही है।

इस न्याय को पाणिनीय परम्परा तथा शाकटायन परम्परा में न्याय के रूप में स्वीकृत नहीं किया है । यद्यपि 'नियम' की व्याख्या महाभाष्यकार ने दी है तथापि परिभाषा/न्याय के रूप में तो केवल 'कातन्त्र, कालाप, जैनेन्द्र' और 'भोज' व्याकरण में ही देखने को मिलता है ।

इस न्याय के अनित्यत्व सम्बन्धित उदाहरण में 'अर्होऽच्' ५/१/९१ से लेकर 'आङः शीले'

५/१/९६ तक के प्रकरण को बताया और ज्ञापक के रूप में इसी प्रकरण को 'लिहादि प्रपञ्च प्रकरण' कहा, इसके बारे में कुछेक को अरुचि/नाराजगी है । यहां 'लिहादि' आकृति गण है, अतः तत्सदृश अन्य धातुओं का इसमें समावेश हो जाता है तथा 'कर्म' उपपद में होने पर उससे ही 'अच्' प्रत्यय हो सकता है, किन्तु 'लिह' आदि धातु परिगणित नहीं हैं, अतः उनकी मान्यतानुसार 'लिहादि' से अलग करने के लिए सूत्रारम्भ किया है या 'लिहादिभ्यः' ५/१/५० से जिसको 'अच्' प्रत्यय नहीं होता है, इसका ही यहाँ कथन मानना चाहिए अर्थात् 'अर्होऽच् ५/१/९१ आदि सूत्र, 'लिहादिभ्यः' ५/१/५० से अप्राप्त अंश की ही पूर्ति करता है । यदि उसी सूत्र से 'अर्ह्' को 'अच्' प्राप्त होता, तो 'अर्होऽच्' ५/१/९१ इत्यादि सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं थी । अतः 'लिहादि' पाठ में इन धातुओं के नियमत्व की कोई संभावना नहीं है, केवल 'लिहादिप्रपञ्चार्थत्व' बताने से प्रस्तुत न्याय के अनित्यत्व की कल्पना नहीं हो सकती है, ऐसी कुछेक की मान्यता है ।

॥२६॥ धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानम् ॥

जो कार्य, धातु के स्वरूप का उच्चार करके, किसी प्रत्यय के पर में आने के बाद, करने को कहा हो, वह कार्य, उसी धातु से, अव्यवहित पर में उक्त प्रत्यय आने पर ही होता है, अन्यथा वह कार्य नहीं होता है ।

'सर्व वाक्यं सावधारणम्' न्याय से, जिस धातु से उसी धातु-सम्बन्धित विवक्षित प्रत्यय पर में आने पर ही, वही कार्य होता है, किन्तु वही प्रत्यय 'नाम' से आया हो तो, वह कार्य नहीं होता है ।

जिस धातु से, उसी धातु-सम्बन्धित जो प्रत्यय पर में आने पर कार्य होता है, उसी धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'नाम' होगा तब, नामावस्था में भी, वही प्रत्यय आने पर, उक्त कार्य की प्राप्ति होती है क्योंकि 'क्विप्' प्रत्ययान्त धातु अपने धातुत्व का त्याग नहीं करते हैं और शब्दत्व को ग्रहण करते हैं । इस परिस्थिति में, 'क्विप्' प्रत्ययान्त शब्द भी धातु कहा जाता है, अतः आख्यात या अन्य भी धातु-सम्बन्धित प्रत्यय पर में आने पर, उक्त कार्य की प्राप्ति होती है । इसका निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'दुष्यन्तं प्रयुङ्क्ते दूषयति' और 'दोषणं दुट् क्विप् तां करोति' में 'णिज् बहुलम्'- ३/४/४२ सूत्र से 'णिच्' होने पर 'दुषयति' होगा ।

प्रथम प्रयोग में 'दुष' धातु से अव्यवहित 'णिग्' प्रत्यय आया है अतः वहाँ 'ऊद् दुषो णौ' ४/२/४० से 'उ' का 'ऊ' होगा, किन्तु दूसरे प्रयोग में 'दुष' धातु से 'क्विप्' हुआ है, उसका (क्विप् का) सर्वापहार संपूर्ण लोप हुआ है । उससे जब 'णिज् बहुलं-' ३/४/४२ से 'णिच्' होगा तब वही 'णिच्', 'क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति....' न्याय से, 'दुष्' में 'नामत्व' और 'धातुत्व' दोनों होने से, धातु से विहित और नाम से भी विहित माना जायेगा । अतः 'ऊद् दुषो णौ' ४/२/४० से 'ऊ' होने की प्राप्ति है, किन्तु प्रस्तुत न्याय के कारण नहीं होगा क्योंकि जिस 'दुष्' धातु-सम्बन्धित 'णि' पर

में आने पर कार्य करना है, वही 'दुष्' धातु दूसरे प्रयोग में नहीं है । वहाँ 'क्विप्' प्रत्ययान्त 'दुष्' धातु नाम होता है, बाद में 'नामधातु' प्रक्रिया द्वारा, वही 'दुष्' से जब 'णिच्' प्रत्यय होता है, तब वह 'दुष्' धातु सम्बन्धित होने पर भी 'ऊद् दुषो णौ' ४/२/४० से निर्दिष्ट कार्य नहीं होगा ।

तथा 'स्त्रष्टा, द्रष्टा' इत्यादि प्रयोग की तरह 'रज्जुसृड्भ्याम्, दृग्भ्याम्' इत्यादि प्रयोग में, 'अः सृजिदृशोऽकिति' ४/४/१११ से धातु के स्वर से 'अ' नहीं होगा । यद्यपि यहाँ 'क्विप्' प्रत्यय होने से, उसका स्थानिवद्भाव करने से, अकार की प्राप्ति का ही अभाव है । अतः इस न्याय की वहाँ कोई जरूरत नहीं है, तथापि स्थानिवद्भाव अनित्य होने से या ऐसे ही किसी अन्य कारण से, आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने, यहाँ, इस न्याय की प्रवृत्ति बतायी होने से, हमने (श्रीहेमहंसगणि ने) भी ऐसा कहा है ।

प्रत्ययों के विशेषण की अनुक्ति ही, प्रस्तुत न्याय का ज्ञापक है । उदा. 'दूषयति, स्त्रष्टा, द्रष्टा' इत्यादि प्रयोग में, धातु सम्बन्धित प्रत्यय पर में होने पर 'ऊ' तथा 'अकार' का आगम हुआ दिखायी देता है, किन्तु 'दुषयति, रज्जुसृड्भ्याम् दृग्भ्याम्' इत्यादि में नाम-सम्बन्धित और धातु-सम्बन्धित प्रत्यय होने पर भी, उसे नाम-सम्बन्धित मानकर 'ऊ' तथा 'अ' का आगम किया नहीं है, तथापि यहाँ 'ऊद् दुषो णौ' ४/२/४० और 'अः सृजिदृशोऽकिति ४/४/१११ में प्रत्यय-सम्बन्धित कोई विशेषण रखा नहीं है, वह इस न्याय के अस्तित्व को मानकर कहा नहीं है, अतः वह इस न्याय का ज्ञापक है ।

इस प्रकार आगे भी विशेषण की अनुक्ति और ज्ञापकता स्वयं समझ लेना ।

इस न्याय की अनित्यता मालूम नहीं देती है ।

यहाँ 'रज्जुसृड्भ्याम्' प्रयोग में क्विप् का स्थानिवद्भाव होगा कि नहीं उसकी विशेष चर्चा श्रीहेमहंसगणि ने 'न्यायसङ्ग्रह' के 'न्यास' में तथा श्रीलावण्यसूरिजी ने प्रस्तुत न्याय की टीका 'न्यायार्थसिन्धु' तथा न्यास सदृश 'तरङ्ग' में की है । "यहाँ कोई ऐसी शंका करें कि इस न्याय की यहाँ कोई जरूरत नहीं है क्योंकि 'रज्जुसृड्' और 'भ्याम्' के बीच, 'लुप्त क्विप्' प्रत्यय का स्थानिवद्भाव करने से 'क्विप्' का व्यवधान आयेगा, किन्तु यह बात उचित नहीं है । यहाँ अकित् धुडादि प्रत्यय के कारण 'अ' का आगम होता है, धुट् वर्ण होने से, 'अ' का आगम वर्णाश्रित विधि मानी जायेगी और वर्णविधि में स्थानिवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होती है वह 'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७/४/१०९ सूत्र में बताया ही है । अतः श्रीहेमहंसगणि का कथन "यद्यपि चात्र क्विपः कित्प्रत्ययस्य स्थानिवद्भावकरणे अकारप्राप्तिरेवाभावान्नास्त्येतन्न्यायापेक्षा । तथापि स्थानिवद्भावस्यानित्यत्वादिना केनाऽपि हेतुना आचार्यैरेतन्न्यायप्रवृत्तिर्दर्शितेत्यतोऽत्राऽपि तथैवोचे ।" उचित नहीं लगता है ।

यहाँ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने उपर्युक्त कारण से, 'क्विप्' का स्थानिवद्भाव नहीं होने से 'रज्जुसृड्भ्याम्' में इस न्याय की प्रवृत्ति बतायी, वह उचित ही है ।

जहाँ धातु से प्रत्ययनिमित्तक कार्य होता हो वहाँ ही इस न्याय का उपयोग होता है । जहाँ

'पदान्तत्व' आदि निमित्तक कार्य होता हो वहाँ इस न्याय का उपयोग नहीं होता है । उदा. 'नशो वा' २/१/७० से 'श्' का 'ग्' करते समय सूत्र में धातु का स्वरूप से ग्रहण किया है, तथापि उससे सम्बन्धित ही प्रत्यय पर में आने पर कार्य होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है, अतः 'प्रनग्भ्याम्' आदि में 'श्' का 'ग्' निःसंकोच हो सकता है ।

'स्वरूपग्रहणे' कहने से 'धातोरिवर्णोवर्णस्ये'- २/१/५० से होनेवाले कार्य में इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि वहाँ केवल 'धातुत्व' से ही धातु का ग्रहण किया गया है किन्तु 'धातुत्व-व्याप्यानुपूर्व्यवछिन्नत्व' से धातु का ग्रहण नहीं किया है । अतः 'नियौ, न्यियः' इत्यादि में 'नाम' से विहित प्रत्यय पर में आने पर भी 'धातोरिवर्णोवर्णस्ये-' २/१/५० से ही 'इय्' आदेश होगा ।

पाणिनीय परम्परा में 'मृजेर्वृद्धिः' (पा.सू. ७/२/११४) के महाभाष्य में इस न्याय की चर्चा करते हुए कहा है कि जहाँ किसी धर्म द्वारा धातु का ग्रहण किया गया हो वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होगी, ऐसा मानकर, इस न्याय में 'स्वरूपग्रहणे' शब्द के स्थान पर 'कार्यमुच्यमानं' शब्द रखा है, तथापि पाणिनीय परम्परा और सिद्धहेम की परम्परा में प्रक्रिया भेद होने से, इस न्याय के इसी स्वरूप में कोई क्षति नहीं है ।

श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि 'वस्तुतः कोई आदेश किया गया हो, तो उसका स्थानिवद्भाव होता है, जबकि 'क्विप्' का लोप, 'लुक्' या 'लुब्' रूप आदेश नहीं है किन्तु 'अप्रयोगीत्' १/१/३७ सूत्र से ही इसका लोप होता है तथा 'न वृद्धिश्चाविति......' ४/३/११ सूत्र के न्यास में कहा है कि "न हि क्विपो लुग् लुब् वा किन्त्वप्रयोगीत्" अर्थात् 'क्विप्' का स्थानिवद्भाव नहीं होगा, किन्तु यही मत लघुन्यासकार का ही है सूत्रकार आचार्यश्री तो वृत्ति में 'अदर्शनं लुक्' कहते हैं, अतः 'क्विप्' का 'अदर्शन' लुक् ही है, अतः उसका भी स्थानिवद्भाव होता है, अत एव आचार्यश्री ने 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४/३/९७ सूत्र की वृत्ति में 'शं-सुखं तिष्ठति शंस्थाः पुमान्' में 'क्विप्' का लुक् हुआ है, उसका स्थानिवद्भाव प्राप्त है किन्तु 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४/३/९७ से 'ई' नहीं होगा क्योंकि यहाँ साक्षात् व्यञ्जन का अभाव है और सूत्र में 'व्यञ्जने' शब्द साक्षात् व्यञ्जन के ग्रहण के लिए ही है । इस प्रकार श्रीहेमहंसगणि ने 'क्विप्' के स्थानिवद्भाव की आशंका की है ।

लघुन्यासकार के मत में स्थानिवद्भाव नहीं होगा, जबकि श्रीहेमचन्द्राचार्यजी के मत में स्थानिवद्भाव होगा, तथापि श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने 'रज्जसृड्भ्याम्' में स्थानिवद्भाव नहीं किया है । अतः श्रीहेमहंसगणि ने इस न्याय की वृत्ति में, उपर्युक्त शब्दों से स्थानिवद्भाव के अनित्यत्व की आशंका व्यक्त की है ।

किन्तु न्यासकार और वृत्तिकार का आशय इस प्रकार है । यहाँ 'न वृद्धिश्चाविति' .....४/३/११ सूत्रगत 'लोप' शब्द से साक्षात् लोप अर्थवाचक कोई भी 'लुक्, लुब्' या 'लोप' शब्द द्वारा निर्दिष्ट कार्य का ही यहाँ ग्रहण करना, ऐसा नहीं मानना किन्तु अदर्शनविधायक पद द्वारा विहित लोप यहाँ ग्रहण करना चाहिए ऐसा किसी का कहना है ।

और न्यासकार ने भी यही बात बतायी है, केवल इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि न्यासकार को 'लुप्, लुक्' और 'इत्' संज्ञा का भेद अभिप्रेत है । 'लुक्, लुप्, लोप,' और 'इत्' चारों शब्द

अदर्शनवाचक होने से, 'अदर्शन' भी आदेश ही कहा जाता है क्योंकि 'अदर्शन' आदेश के यौगिक अर्थ के साथ अनुकूल है, अतः उसका स्थानिवत्त्व भी होगा ही । अतः 'इत्' संज्ञावाले का स्थानिवद्भाव नहीं होता है, ऐसा मानना उचित नहीं है, ऐसा न्यासकार का मत है । इस प्रकार सूत्रकार श्रीहेमचन्द्राचार्यजी और लघुन्यासकार के मत भिन्न भिन्न नहीं हैं ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी का कहना है । यह न्याय व्याडि के परिभाषासूचन, शाकटायन, चान्द्र, कातन्त्र और कालाप परिभाषा-संग्रह में बताया नहीं है ।

॥२७॥ नञुक्तं तत्सदृशे ॥

'नञ्' द्वारा कथित पद से, उसके जैसा ही अन्य पद का ग्रहण करना ।

'नञ्' द्वारा कथित पद, उसके जैसे अन्य विशेष्यभूत पद में विश्राम लेता है । अर्थात् जिस पद का 'नञ्' के योग से निषेध किया गया हो, उसके जैसे ही अन्य पद का ग्रहण करना, किन्तु सर्वथा भिन्न (असदृश) का ग्रहण नहीं करना ।

उदा. 'य्यक्ये' १/२/२५ में 'यि अक्ये' है । यहाँ 'नञ्' द्वारा उक्त पद 'क्य' है । 'क्य' जैसे ही यकारादि प्रत्ययो का नियमन करने से 'गां इच्छति, नावं इच्छति' मे 'क्यन्' पर में होने पर 'अव्' और 'आव्' आदेश होगा और 'गव्यति, नाव्यति' इत्यादि रूप सिद्ध होंगे, किन्तु 'गोयानं, नौयानं' इत्यादि प्रयोग में नहीं होगा क्योंकि वहाँ 'यान', प्रत्यय नहीं है किन्तु शब्द ही है ।

संक्षेप में 'य्यक्ये' १/२/२५ में जो 'क्य' का निषेध किया है, वह 'क्यः शिति' ३/४/७० से भाव और कर्म में होनेवाले 'क्य' का निषेध किया है, किन्तु इससे प्रत्येक 'क्य' का निषेध न होकर, उसके जैसे- 'क्यन्, क्यङ्, क्यङ्ष्' का इस न्याय द्वारा ग्रहण होता है, किन्तु अन्य यकारादि प्रत्यय का ग्रहण नहीं होता है ।

इस न्याय का ज्ञापक पूर्व की तरह समझ लेना अर्थात् 'य्यक्ये' १/२/२५ में 'यि' और 'अक्ये' दोनों विशेषण बनते हैं, किन्तु विशेष्य सूत्र में बताया नहीं है । अतः यहाँ इस न्याय से विशेष्य के रूप में 'प्रत्यये 'पद उपस्थित होता है । वहीं, 'प्रत्यये' पद का सूत्र में अग्रहण ही इस न्याय का ज्ञापक है ।

यह न्याय अनित्य होने से 'पर्युदास नञ्' में ही इसकी प्रवृत्ति होती है, किन्तु 'प्रसज्य नञ्' में नहीं होती है । कहा गया है कि ''पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ।'' 'पर्युदास नञ्' में सदृश का ग्रहण होता है, जबकि 'प्रसज्य नञ्' में सर्वथा निषेध होता है, अतः 'अनतो लुप्' १/४/५९ सूत्र में 'प्रसज्य नञ्' होने से अकार, 'नञ्' द्वारा कहा गया है तथापि, अकार सदृश केवल अन्य स्वरों का ग्रहण नहीं होता है किन्तु अकार भिन्न सब स्वरों और व्यञ्जनों का भी ग्रहण होता है । अतः 'पयः, मनः' इत्यादि शब्द व्यञ्जनान्त होने पर भी 'सि' और 'अम्' प्रत्यय का लोप होता है । इस प्रकार यह न्याय 'निषेधमात्रपर्यवसायिनः' अर्थात् केवल निषेध करनेवाले 'प्रसज्य नञ्' के लिए प्रतिकूल है ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'अनतो लुप्' १/४/५९ सूत्र द्वारा इस न्याय की अनित्यता बतायी है। श्रीलावण्यसूरिजी को यह मान्य नहीं है। वे कहते हैं कि 'अनतः' में 'प्रसज्यनञ्' नहीं है किन्तु ''पर्युदास नञ्' है। जबकि श्रीहेमहंसगणि 'प्रसज्य नञ्' मानते हैं। यदि 'अनतः' में 'पर्युदास नञ्' को मानें तो किसी प्रकार का सादृश्य लेना ? 'स्वरसादृश्य' लेने पर 'पयः' आदि में इसी सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः श्रीलावण्यसूरिजी ने वर्णसादृश्य ग्रहण किया है। अतः 'पयः' आदि में 'स्' आदि व्यञ्जन वर्णरूप ही होने से 'अवर्णभिन्नत्वे सति वर्णत्वयुक्ताभ्यां स्वरव्यञ्जनाभ्यां परयोः स्यमोर्लुप् स्यात्' अर्थ हो सकेगा।

'अनतः' में 'प्रसज्य नञ्' क्यों नहीं है, इसकी स्पष्टता करते हुए, वे कहते हैं कि मीमांसकों की 'पर्युदास-प्रसज्य नञ्' की कारिका का अर्थ इस प्रकार है, 'पर्युदास नञ्' का सम्बन्ध उत्तरपद के साथ होता है, जबकि 'प्रसज्य नञ्' में 'नञ्' का क्रिया के साथ अन्वय/सम्बन्ध होता है, अतः 'प्रसज्य नञ्' में 'नञ्' असमर्थ है क्योंकि वह क्रिया से सापेक्ष है, अतः 'अनतः' समास नहीं हो सकेगा। तथापि समास किया है, वह सौत्रत्वात् मानना पड़ेगा। यह कल्पना ज्यादा क्लिष्ट है। अतः 'अनतः' में 'पर्युदास नञ्' का ही स्वीकार करना चाहिए।

श्रीहेमहंसगणि ने प्राचीन उक्ति 'पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत्' के आधार पर 'अनतः' में 'पर्युदास नञ्' का स्वीकार किया है।

संक्षेप में, दोनों की 'प्रसज्य' और 'पर्युदास' की व्याख्या में ही मूलभूत अन्तर है, अतः यही समस्या खड़ी हुई है।

किन्तु सूत्रकार आचार्यश्री ने 'पर्युदास नञ्' और 'प्रसज्य नञ्' की व्याख्या स्पष्ट रूप से दी है। वे कहते हैं कि ''पर्युदास नञ् चार प्रकार के हैं (१) सदृग्ग्राही (तत्सदृशः) (२) तद्विरुद्धः (३) तदन्यः (४) तदभावः।'' अतः यहाँ 'अनतः' में 'पर्युदास नञ्' ही है ऐसा स्वीकार करने पर भी 'पर्युदास' के उपर्युक्त प्रकार में से चौथा प्रकार लेकर, 'अत्' का अभाव ही लिया जा सकता है, अर्थात् जहाँ जहाँ शब्द के अन्त में 'अ' न हो, वहाँ वहाँ नपुंसक लिङ्ग में 'सि' और 'अम्' का लोप होता है, उस (पर्युदास नञ्) के उदाहरण के रूप में 'अवचनम्' तथा 'अवीक्षणम्' प्रयोग दिये हैं और उसका अर्थ वचनाभाव और वीक्षणाभाव किया है। प्रसज्य नञ् के बारे में वे कहते हैं कि 'प्रसज्यप्रतिषेधे तु नञ् पदान्तरेण सम्बध्यते इति उत्तरपदं वाक्यवत् स्वार्थ एव वर्तते। तत्राऽसामर्थ्येऽपि बाहुलकात् समासः।' उदा. 'सूर्यमपि न पश्यन्ति, असूर्यंपश्या राजदाराः। पुनर्न गीयन्ते अपुनर्गेयाः श्लोकाः'। अतः 'प्रसज्य नञ्' सम्बन्धित श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यता व श्रीहेमचंद्रसूरिजी का यह कथन उचित है किन्तु 'पर्युदास नञ्' के बारे में, श्रीलावण्यसूरिजी ने, सूत्रकार श्रीहेमचन्द्राचार्य द्वारा उक्त चार प्रकार में से केवल 'तत्सदृशः' प्रकार ही ग्रहण किया है किन्तु 'तद्विरुद्धः, तदन्यः तदभावः' का स्वीकार नहीं किया है। यह बात उनके द्वारा 'अनतः' में ग्रहण किये गए वर्णसादृश्य से स्पष्ट होती है।

'प्रसज्य नञ्', के बारे में, एक ओर परिभाषा 'जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति' में प्राप्त है वह इस

प्रकार है- 'सापेक्षस्याऽपि नञः सविधिर्भवति ।' 'सविधि' अर्थात् 'समास विधि ।'

और यह न्याय लोकसिद्ध या स्वाभाविक ही है, किन्तु विशिष्ट वचन स्वरूप नहीं है क्योंकि लोक में 'अनीलघटमानय' कहने से 'नीलघट' के अलावा अन्य घट ही लायेगा किन्तु घटभिन्न अन्य पदार्थ विद्यमान होने पर भी नहीं लायेगा । ऐसा व्यवहार लोक में सामान्यतया प्रसिद्ध ही है ।

यह न्याय कातन्त्र की भावमिश्रकृत परिभाषावृत्ति को छोड़कर सर्वत्र उपलब्ध है । किन्तु कहीं भी विशेष प्रकार से विवेचन नहीं किया गया है ।

॥२८॥ उक्तार्थानामप्रयोगः ॥

जो अर्थ एक बार कहा गया हो, उसका पुनः प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

जो अर्थ अर्थात् अभिधेय पदार्थ, अन्य प्रत्यय द्वारा उक्त हो, तो उसी अर्थ/पदार्थ को बताने के लिए पुनः 'द्वितीया' आदि विभक्ति का प्रयोग नहीं करना ।

उदा. 'क्रियते कटोऽनेन' इत्यादि प्रयोग में 'कर्म' आदि अर्थ में उत्पन्न 'क्य' प्रत्यय और आत्मनेपद के प्रत्यय द्वारा 'कर्म' शक्ति स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती है, अतः उसी कर्मशक्ति को बताने के लिए 'कट' आदि शब्द से पुनः 'द्वितीया' आदि विभक्ति नहीं होगी किन्तु केवल अर्थ बताने के लिए 'नाम्नः प्रथमैक' ...२/२/३१ से प्रथमा विभक्ति ही होगी ।

जबकि 'अक्ष्णा काणः, पदा खञ्जः' इत्यादि प्रयोग में 'काणत्व, खञ्जत्व' आदि का, आँख, पैर के अलावा अन्यत्र सम्भव ही नहीं है अर्थात् केवल 'काणः, खञ्जः' आदि कहने से ही काम चल सकता है, तथापि वहाँ 'यद्भेदैस्तद्वदाख्या' २/२/४६ सूत्र से होनेवाले तृतीया विभक्त्यन्त पद 'अक्ष्णा, पदा' आदि का प्रयोग होता है वह केवल लोकरूढि से ही होता है । लोकरूढि का किसी भी प्रकार से निवारण नहीं हो सकता है । अतः 'क्रियते कटोऽनेन' इत्यादि प्रयोग में वैसा न हो, इसलिए यह न्याय है ।

'रषृवर्णात्' .... २/३/६३ सूत्रगत 'एक' शब्द का नियमत्व, इस न्याय का ज्ञापक है । यहाँ 'एक' शब्द का 'नियमत्व' इष्ट है और वह विधि में बाधकत्व बताने के बाद ही सिद्ध हो सकता है क्योंकि 'विधि' और 'नियम' दोनों में 'विधि' बलवान् या 'ज्यायान्'-श्रेष्ठ है । उसका बाधकत्व इस प्रकार बताया जा सकता है ।

यदि 'एक' शब्द से केवल 'एकत्व' रूप विधि अर्थ ही लेना होता तो 'ह्रस्वोऽपदे वा' १/२/२२ में जैसे 'अपदे' में सप्तमी-एकवचन से निर्देश किया है वैसे यहाँ भी 'एकपदे' के स्थान पर, केवल 'पदे' कहा होता तो भी 'एकत्व' रूप विध्यर्थ होता ही किन्तु एकवचन के प्रयोग से ही 'एकत्व' उक्त हो जाता है, अतः इसके लिए 'एक' शब्द रखना नहीं चाहिए ऐसा यह न्याय कहता है । तथापि 'एक' शब्द रखा, उससे सूचित होता है कि यहाँ 'एकत्व' रूप विध्यर्थ नहीं है किन्तु वह नियमार्थत्व के लिए है और इस न्याय के आश्रय बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है, अतः 'एक' शब्द का नियमार्थत्व इस न्याय का ज्ञापक है ।

'रषृवर्णात्'..... २/३/६३ सूत्र में, 'एक' शब्द से ध्वनित नियम इस प्रकार है । र, ष, त्र वर्ण से पर में, नित्य एकपद में, आये हुए, अन्त्य न हो, ऐसे 'न' का 'ण' होता है । और वह 'ल, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, श' और 'स' से भिन्न वर्णों का व्यवधान आने पर भी होता है । यहाँ 'एकपदे' से नित्य हो ऐसा पद लेना, किन्तु जो समास है, वह नित्य पद नहीं कहा जाता है क्योंकि उसमें भिन्न-भिन्न अनेक पद आते हैं । अत एव 'नृणाम्' इत्यादि में 'न' का 'ण' होता है किन्तु 'नृनाथः' इत्यादि में 'न' का 'ण' नहीं होता है ।

यह न्याय अनित्य होने से 'शिरोऽधसः पदे समासैक्ये' २/३/४ सूत्र में 'ऐक्य' शब्द का प्रयोग किया है । इसी सूत्र में केवल 'समासे' कहने से 'ऐक्य' अर्थ आ जाता है । जैसे 'वौष्ठौतौ समासे' १/२/१७, तथापि 'शिरोऽधसः पदे समासैक्ये' २/३/४ में 'ऐक्य' शब्दप्रयोग हुआ है, वह इस न्याय की अनित्यता को सूचित करता है । उसके साथ-साथ (तदुपरांत) यहाँ 'ऐक्य' शब्द के प्रयोग द्वारा 'विचित्रा सूत्राणां कृतिः' न्याय भी सूचित किया है । यहाँ 'उक्त' अर्थ का भी प्रयोग हुआ है वह वैचित्र्य है ।

इस न्याय की अनित्यता के ज्ञापक के रूप में 'ऐक्य' शब्द के प्रयोग को बताया है, किन्तु कुछेक लोग इसका स्वीकार नहीं करते है क्योंकि उनके मतानुसार यह न्याय लोकसिद्ध ही है । तथापि इस न्याय का ज्ञापक बताया इससे इतना ही सूचित होता है कि इस लोकसिद्ध न्याय को भी व्याकरणशास्त्र में मान्य किया गया है, क्योंकि एक सिद्धांत ऐसा है कि जो न्याय ज्ञापकसिद्ध हो वही न्याय अनित्य हो सकता है । और जो न्याय लोकसिद्ध, न्यायसिद्ध या वाचनिकी परिभाषा के रूप में हो इसकी अनित्यता का ज्ञापन नहीं ही सकता है, । अतः उनके मतानुसार इसी 'ऐक्य' शब्द-प्रयोग को 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' न्याय या 'विचित्रा सूत्राणां कृतिः आचार्यस्य' न्याय का उदाहरण मानना चाहिए ।

यह न्याय व्याडि से लेकर शाकटायन, चान्द्र, कातन्त्र, कालाप, जैनन्द्र, भोज, आदि के परिभाषा संग्रहों में उपलब्ध है, किन्तु उसके बाद पाणिनीय परम्परा के पुरुषोत्तमकृत परिभाषा वृत्ति सीरदेव, श्रीमानशर्म, नीलकंठ, नागेश आदि के परिभाषासंग्रहों में उपलब्ध नहीं है ।

॥२९॥ निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः ॥

निमित्त रूप कारण का अभाव होते ही नैमित्तिक रूप कार्य का भी अभाव होता है ।

'निमित्तेन चरति' वाक्य में 'चरति' ६/४/११ सूत्र से 'इकण्' होने पर 'नैमित्तिक' शब्द बनता है । 'निमित्त' की निवृत्ति अर्थात् अभाव या लोप होने पर, 'निमित्त' के कारण हुआ कार्य भी निवृत्त होता है ।

लोकमें/व्यवहार में, कुम्भ बनानेवाले कुम्हार का नाश होने पर भी, कुंभ का नाश नहीं होता है । कुम्हार कारण है और घट कार्य है । अर्थात् कारण का नाश होते ही कार्य की निवृत्ति का अभाव

होने पर भी, व्याकरण में कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव हो जाता है ऐसा बताने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'बिम्ब' शब्द से लत्ता विशेष नाम की विवक्षा में, स्त्रीत्व में 'गौरादित्वाद्' 'गौरादिभ्यो मुख्यान्ङीः २/४/१९ से 'ङी' प्रत्यय होने पर 'अस्य ङ्याम् लुक् २/४/८६ से 'अ' कार का लोप होकर, 'बिम्बी' शब्द बनेगा । बाद में 'बिम्ब्याः फलम्' वाक्य में 'हेमादित्वाद्' 'अञ्' प्रत्यय पर में आने पर 'फले'- ६/२/५८ से 'अञ्' प्रत्यय का लोप होगा, बाद में 'ङ्यादेर्गौणस्याक्विप-स्तद्धितलुक्यगोणीसूच्योः' २/४/९५ से 'ङी' का लोप होगा, उसके साथ ही ङी के निमित्त से, 'अस्य ङ्या लुक् २/४/८६ से हुआ 'अकार लोप' भी निवृत्त होगा और 'अ' पुनः आकर' 'बिम्ब' शब्द होगा ।

'बिम्ब' इत्यादि की सिद्धि के लिए 'न सन्धि- ङी'....७/४/१११ सूत्र में 'ङी लुक्' का, 'अकार लुक्' रूप कार्य में, स्थानिवद्भाव का निषेध, इस न्याय का ज्ञापक है । 'न सन्धि- ङी...' ७/४/१११ सूत्र की वृत्ति में, 'ङी विधि में स्वर का आदेश का स्थानिवद्भाव नहीं होता है, अंश के उदाहरण स्वरूप 'बिम्बम्' प्रयोग रखा है ।

बिम्ब्याः फलम्- बिम्बी + अञ्, 'हेमादित्वाद्' 'अञ्' प्रत्यय होगा और 'फले' ६/२/५८ से 'अञ्' का लोप होगा । बाद में 'ङ्यादेर्गौणस्याक्विपः....' २/४/९५ से 'ङी' का लोप होगा । यही 'ङीलुक्' रूप स्वरादेश पर निमित्तक है, यदि यह 'ङी लुक्' रूप स्वरादेश का स्थानिवद्भाव द्वारा 'ङी' पुनः लाया जायेगा तो पर में 'ङी' आने के कारण 'अस्य ङ्यां लुक्' २/४/८६ से 'बिम्ब' के अकार का लोप करने का प्रसंग उपस्थित होगा और 'बिम्बम्' रूप सिद्ध नहीं होगा । अत एव 'अकार लुक्' रूप 'ङी विधि में 'ङी लुक् 'रूप स्वरादेश का स्थानिवद्भाव नहीं होगा ।

यदि यह न्याय न होता तो, यह सब व्यर्थ होता क्योंकि 'अस्य ङ्यां लुक्' २/४/८६ से होनेवाला' 'अकार लुक' की निवृत्ति करने के लिए 'ङी लोप' का स्थानिवद्भाव का निषेध किया है, वही 'अकार' ही यहाँ उपस्थित नहीं है क्योंकि 'अञ्' प्रत्यय आने के पूर्व या 'अञ्' प्रत्यय का लोप होने से पूर्व ही 'बिम्बी' शब्द में 'ङी' होने से 'अकार' है हीं नहीं क्योंकि 'ङी' आने के साथ ही उसका लोप हुआ है । तो कौन से 'अकार' का लोप करने के लिए इतना प्रयत्न किया ?

किन्तु यह न्याय होने से 'ङीलुक्' होने पर, उसके निमित्त से हुआ 'अकार-लुक्' भी निवृत्त होगा और 'अकार' पुनः आ जायेगा । उसी 'अकार' का पूर्व की तरह फिर से 'अस्य ङ्यां लुक्' २/४/८६ से 'लुक्' न हो जाय इसलिए 'ङी लुक्' के स्थानिवद्भाव का निषेध किया है । इस प्रकार सब सार्थक है ।

यदि यह न्याय न होता तो 'अकार' फिर से आता ही नहीं, तो उसके अभाव में स्थानिवद्भाव का निषेध ही न किया होता, तथापि स्थानिवद्भाव का निषेध किया वह इस न्याय का ज्ञापक है ।

यह न्याय अनित्य है अतः 'मुनीनाम्' इत्यादि रूप में 'दीर्घोनाम्यतिसृ' १/४/४७ से दीर्घ

होने के बाद ह्रस्व का नाश होने पर भी, ह्रस्व निमित्तक 'नाम्' आदेश निवृत्त नहीं होता है। 'र्हादर्हस्वरस्यानु नवा' १/३/३१ सूत्रगत 'अनु' शब्द से इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन होता है।

यदि इस सूत्र में 'अनु' का ग्रहण न किया होता, तो 'प्रोर्ण्णुनाव' में 'ऊर्णु' धातु में प्रथम/पहले 'न' (ण) का द्वित्व करने के बाद, परोक्षा हेतुक द्वित्व होता, क्योंकि 'न' (ण) का द्वित्व 'अन्तरङ्ग' कार्य है जबकि धातु का द्वित्व 'बहिरङ्ग' कार्य है अतः यदिः 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय से प्रथम 'न' का द्वित्व होने के बाद धातु का द्वित्व हो तो 'प्रोर्ण्णुन्नाव' अनिष्ट रूप सिद्ध होता। वह न हो इसलिए 'र्हादर्हस्वरस्यानु नवा' १/३/३१ में 'अनु' शब्द रखा है।

यदि यह न्याय नित्य ही होता तो, 'रेफ' के आनन्तर्य 'से उत्पन्न 'न' का द्वित्व भी परोक्षाहेतुक द्वित्व होने पर 'णु' के व्यवधान के कारण, इस न्याय से निवृत्त हो ही जाता, तो अनिष्ट रूप की आपत्ति से बचने के लिए 'अनु' के ग्रहण की क्या जरूरत ? तथापि 'अनु' का ग्रहण किया वह इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करता है।

श्रीलावण्यसूरिजी ने लोक में प्रचलित दो प्रकार के निमित्तकारण बताये है। १. कार्यस्थितिनियामक २. कार्यस्थिति अनियामक। जिस निमित्त से कार्य हुआ हो, वही निमित्त, दूर होने पर, उसके कारण हुआ कार्य भी निवृत्त होता है, वही निमित्तकारण कार्यस्थितिनियामक निमित्तकारण कहा जाता है। और जिस निमित्त के कारण जो कार्य हुआ हो, वह निमित्त दूर होने पर भी, उसके कारण हुआ कार्य निवृत्त नहीं होता है, वह कार्यस्थिति अनियामक निमित्त कारण कहा जाता है।

इस प्रकार निमित्त और नैमित्तक के बीच दो प्रकार के सम्बन्ध में से यहाँ व्याकरणशास्त्र में कौन-सा सम्बन्ध स्वीकार्य है ? उसी प्रश्न के उत्तर/जवाब स्वरूप यह न्याय है। अर्थात् व्याकरण में निमित्तकारण का नाश होने पर नैमित्तिक/कार्य का भी नाश होता है। वह इस न्याय से सूचित होता है।

श्रीहेमहंसगणि, कार्यस्थिति अनियामक निमित्तकारण के पक्ष में इस न्याय की अनित्यता बताते हैं अर्थात् यह न्याय व्याकरणशास्त्र में जहाँ जहाँ निमित्तकारण कार्यस्थिति अनियामक मालूम होता हो वहाँ-वहाँ इस न्याय को अनित्य मानना चाहिए।

और इस न्याय के बिना भी व्याकरणशास्त्र में कार्यसिद्धि हो सकती है क्योंकि लौकिक व्यवहार में ऊपर बताया उसी प्रकार से जब निमित्त के अभाव में नैमित्तिक का भी अभाव करना हो तब निमित्त को प्रथम पक्ष सम्बन्धित अर्थात् कार्यस्थितिनियामक मानना और जब निमित्त के अभाव में नैमित्तिक का अभाव न हो तब निमित्त को द्वितीयपक्ष सम्बन्धित अर्थात् कार्यस्थिति अनियामक मानना चाहिए। इस प्रकार इस न्याय के बिना भी कार्यसिद्धि हो सकती है, ऐसा नवीन वैयाकरण मानते हैं।

यह न्याय और पाणिनीय व्याकरण का 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' न्याय समान ही है। कैयट

ने 'समर्थानां प्रथमाद्वा' (पा.सू.४/१/८२) सूत्र में इस न्याय की चर्चा की है किन्तु भाष्यकार ने कहीं भी इस न्याय की चर्चा नहीं की है । कैयट ने भी 'असिद्धवदत्राभात्' (पा.सू.६/१/२२) सूत्र में स्पष्ट कहा है कि 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' परिभाषा का भाष्यकार ने आश्रय नहीं किया है और भाष्यकार ने उन स्थानों पर इस न्याय का आधार नहीं लिया है अतः नागेश आदि ने भी इस न्याय से सिद्ध होनेवाले प्रयोगों को अन्य प्रकार से सिद्ध किये हैं उसी प्रकार से सिद्धहेम में भी उन प्रयोगों की अन्य प्रकार से सिद्धि की जाती है । उदा. बिम्बम् । यहाँ 'बिम्ब + ङी' होने से 'बिम्बी' होगा तब 'अ' का लोप ङी प्रत्यय निमित्तक है, अतः जब 'ङी' का लोप होगा तब 'अ' लोप भी निवृत्त होगा और 'अ' पुनः आ जायेगा ।

इस प्रयोग में श्रीलावण्यसूरिजी ने बताया है कि 'बिम्ब + ई (ङी) + अञ् + सि' है । इस परिस्थिति में 'अ' परनिमित्तक होने से अन्तरङ्ग 'अञ्' का लोप' प्रथम होगा, बाद में 'ङी लुक्' और 'अलुक्' की प्राप्ति है, उसमें 'ङी लोप' पर होने से प्रथम होगा किन्तु 'अलुक्' प्रथम नहीं होगा । अब जब ङी का लोप ही प्रथम हो गया है, तब ङीनिमित्तक 'अलुक्' भी नहीं होगा और 'न सन्धि ङी'..........७/४/१११ सूत्रकथित ङी के स्थानिवद्भाव का निषेध भी यहाँ चरितार्थ होगा ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने ऊपर बतायी हुई रीति पद की 'अपरिनिष्ठित' अवस्था की है, अतः उसी परिस्थिति में इस न्याय का उपयोग नहीं करेंगे तो चलेगा किन्तु जब परिनिष्ठित अवस्था मानेंगे तब इस न्याय का अवश्य उपयोग करना पडेगा ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक उचित मालूम नहीं होता है । ज्ञापक हमेशां व्यर्थ होकर न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करता है । जबकि इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक 'अनु-ग्रहण' व्यर्थ नहीं किन्तु सार्थक ही है । श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि 'प्रोर्णुनाव' रूप में, प्रथम 'ऊर्णु' धातु के 'न' का द्वित्व होने के बाद 'ण्णु' का परोक्षहेतुक द्वित्व हो तो, 'प्रोर्णुन्नाव' ऐसा अनिष्ट रूप होगा, वह न हो इसलिए 'र्हादर्हस्वरस्यानु नवा' १/३/३१ सूत्र में 'अनु' का ग्रहण किया है, किन्तु यदि यह न्याय नित्य होता तो, बिना 'अनु' ही 'न' द्वित्व निवृत्त हो जाता । तथापि 'अनु' का ग्रहण किया उससे इस न्याय की अनित्यता सूचित होती है । किन्तु यह बात सही नहीं है । परोक्षाहेतुक धातु का द्वित्व होने के बाद, उसका पूर्वभाग 'स्वाङ्गमव्यवधायि' न्याय के आधार पर व्यवधान स्वरूप नहीं माना जाता है, अतः वह निमित्त और निमित्ति के बीच होने पर भी 'अव्यवधायक' ही है और धातु का द्वित्व होने से वह अन्य शब्द नहीं बन पाता है, अतः द्वित्व आनन्तर्यका विधातक बनता नहीं है । इसलिए वहाँ इस न्याय के उपयोग की कोई शक्यता ही नहीं है । इस प्रकार यदि 'अनु' न कहें तो ऊपर बताया उसी तरह 'प्रोर्णुन्नाव' ऐसा अनिष्ट रूप ही होता । उसका निवारण करने के लिए 'अनु' ग्रहण आवश्यक ही है, अतः वह सार्थक ही है, इसलिए वह अनित्यता का ज्ञापक नहीं बन सकता है ।

यह न्याय जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति, नागेश के परिभाषेन्दुशेखर और शेषाद्रिनाथ के परिभाषा भास्कर के सिवाय/अलावा सर्वत्र उपलब्ध है ।

॥३०॥ सन्नियोगशिष्टानामेकापायेऽन्यतरस्याप्यपायः ॥

जहाँ एक साथ दो कार्य कहे गये हों वहाँ एक कार्य के अभाव में दूसरा कार्य भी नहीं होता है ।

'समीचीनं नि-नितरां योजनं सन्नियोगः ।' अर्थात् भलीभाँति, हमेशां एकसाथ जुटे रहना, वह 'सन्नियोग' कहा जाता है अर्थात् एकसाथ कथन करना । 'शिष्टानि' अर्थात् कहे गये और 'अपाय' अर्थात् अभाव ।

जहाँ 'सन्नियोग' अर्थात् एकसाथ दो कार्य कहे गये हों वहाँ एक कार्य के अभाव में, दूसरा कार्य भी नहीं होता है ।

व्यवहार में एकसाथ जिसका जन्म हुआ है, ऐसे दो (युगलिक) भाइओं मेंसे एक की मृत्यु होने के साथ दूसरे की मृत्यु नहीं होती है । किन्तु व्याकरणशास्त्र में एक कार्य के अभाव में, उसके साथ होनेवाला दूसरा कार्य भी नहीं होता है । इसका ज्ञापन करने के लिए यह न्याय है ।

अभाव दो प्रकार का है : (१) कार्य होने के बाद उसका अभाव होना और (२) मूल से/प्रथम/ पहले से ही कार्य न होना वह । इसमें प्रथम अभाव इस प्रकार है :- पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चेन्द्रः । यहाँ 'देवता' ६/२/१०१ सूत्र से, 'पञ्चेन्द्राणी' शब्द से 'अण्' प्रत्यय किया है, उसी 'अण्' का 'द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः ६/१/२४ से 'लोप' होने पर 'ङ्यादेगौणस्या-' २/४/९५ से 'ङी' की निवृत्ति होगी, तब 'वरुणेन्द्ररुद्रभवशर्वमृडादान् चान्तः' २/४/६२ से 'ङी' के साथ-साथ कहे गये और हुआ है ऐसे (सन्नियोगशिष्ट) 'आन्' की भी निवृत्ति होगी ।

दूसरा अभाव इस प्रकार है : 'एतान् गाः पश्य' में 'शस्' का 'अ' पर में आने पर 'शसोऽता सश्च नः पुंसि' १/४/४९ तथा 'आ अम्शसोऽता' १/४/७५ दोनों की समकाल प्राप्ति है । 'शसोऽता'- १/४/४९ पूर्वसूत्र है और 'आ अम् शसोता' १/४/७५ परसूत्र है और 'शसोऽता-' १/४/४९ सावकाश है और 'आ अम्.....'१/४/७५ निरवकाश है । अतः 'आ अम् शसोऽता '१/४/७५ से 'गो' के 'ओ' का, पर में आये हुए 'शस्' के 'अ' के साथ 'आ' आदेश हो जाता है, बाद में 'शस्' का 'अ' नहीं मिलने पर उसी 'अ' के अभाव में 'शसोऽता सश्च नः पुंसि' १/४/४९ से 'दीर्घविधि' न होने से उसके साथ उक्त, 'शस्' के 'स्' का 'न्' भी नहीं होगा ।

'पञ्चेन्द्रः' में 'आन्' की निवृत्ति करने के लिए तथा 'गाः' में 'शस्' के 'स्' का 'न्' का निषेध करने के लिए कोई विशेषप्रयत्न नहीं किया है, वह इस न्याय का ज्ञापक है । वह इस प्रकार है ।

'पञ्चेन्द्रः' प्रयोग में 'ङी' की निवृत्ति की तरह 'आन्' की भी निवृत्ति दिखायी देती है किन्तु इसका किसी भी सूत्र में निर्देश नहीं किया गया है । अतः ऐसा निश्चय होता है कि इस न्याय के कारण 'ङी' की निवृत्ति के साथ-साथ 'आन्' की भी निवृत्ति हो जाती है तथा 'एतान् गाः पश्य' प्रयोग में भी 'गो' शब्द के अन्त्य स्वर का 'शसोऽता सश्च..' १/४/४९ से दीर्घ नहीं हुआ, इसमें कारण स्पष्ट ही है वह इस प्रकार है ।-: 'आ अम् शसोऽता १/४/७५ से 'गो' के 'ओ' का 'शस्' (अस्) के 'अ' के साथ 'आ' करने से, 'शस्' के 'अ' का अभाव हो गया, अब जिस 'शस्'

सम्बन्धित 'अ' के साथ दीर्घ होने की प्राप्ति थी उसका ही अभाव होने से दीर्घ नहीं होगा, वह स्वभाविक है किन्तु 'शस्' के 'स्' का 'न्' न करने में कोई भी कारण दिखायी नहीं पड़ता, हालाँकि /बल्कि 'शस्' के 'स्' का 'न्' करने का निमित्त 'पुंस्त्व' स्पष्ट दिखायी पड़ता है, तथापि निश्चय ही प्राप्त 'नत्व' का निषेध करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है, इससे सूचित होता है कि दीर्घ न होने के कारण, उसके साथ उक्त 'नत्व' भी इस न्याय से नहीं होगा ।

इस न्याय से सर्वत्र, दो कार्य में से किसी भी एक कार्य की निवृत्ति होने पर, दूसरे कार्य की भी निवृत्ति हो जाने का प्रसंग उपस्थित होता है, अतः गौण कार्य की निवृत्ति होने पर, मुख्य कार्य की भी निवृत्ति हो जाती है, उसका अगले न्याय 'नान्वाचीयमाननिवृत्तौ प्रधानस्य' से निषेध किया है अर्थात् यह न्याय अनित्य है, क्योंकि अगला न्याय उसका बाधक है ।

इस न्याय में 'सन्नियोगशिष्टानां' शब्द में बहुवचन क्यों रखा है, इसकी चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी ने 'न्यायार्थसिन्धु' टीका में, बताया है कि 'सन्नियोगशिष्टौ च सन्नियोगशिष्टौ च सन्नियोगशिष्टौ च' विग्रह करके एकशेष समास करने पर कोई दोष उपस्थित नहीं होता है ।

इस न्याय की अनित्यता बताते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि अगले न्याय से गौण की निवृत्ति होने पर मुख्य की निवृत्ति नहीं होती है, अतः यह न्याय अनित्य है । यदि यह न्याय नित्य होता तो, वहाँ भी गौण की निवृत्ति के साथ मुख्य की भी निवृत्ति हो जाती ।

जबकि श्रीलावण्यसूरिजी कहते है कि वस्तुतः अगले न्याय से इस न्याय की अनित्यता बताना संभव ही नहीं है । इससे इतना ही सूचित होता है कि गौण कि निवृत्ति होने पर मुख्य की निवृत्ति नहीं होती है । केवल इतने ही अंश में, वह इस न्याय का बाध करता है । यदि यह न्याय अनित्य होता तो, अगले न्याय की कोई आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि अनित्यत्व द्वारा ही प्रधान कार्य की निवृत्ति का अभाव सिद्ध हो सकता है ।

इस न्याय की वृत्ति में श्रीलावण्यसूरिजी ने 'श्यैनेयः' और 'ऐनेयः' रूपों को इस न्याय की अनित्यता के दृष्टांत के रूप में दिये हैं । वे कहते है कि वर्णवाचक 'श्येत' और 'एत' शब्द से 'श्येतैतहरितभरतरोहिताद् वर्णात् तो नश्च' २/४/३६ से 'ङी' प्रत्यय होगा, अतः 'श्येनी' और 'एनी' शब्द बनेंगे । उनसे 'द्विस्वरादनद्याः' ६/१/७१ से अपत्य अर्थ में 'एयण्' प्रत्यय होगा, तब 'अवर्णेवर्णस्य' ७/४/६८ से ई का लोप होगा, तब 'ऐनेयः' और 'श्यैनेयः' रूप होगा । वहाँ यह न्याय अनित्य होने के कारण अगले न्याय से 'ङी' की निवृति के साथ 'न' की भी निवृत्ति नहीं होती है अन्यथा 'ऐतेयः' और 'श्यैतेयः' रूप होते ।

वस्तुतः इन उदाहरणों में 'ई' का लोप होने से स्त्रीत्व दूर नहीं होता है किन्तु 'ङी' सम्बन्धित 'ई' का, इवर्ण के रूप में 'अवर्णेवर्णस्य' ७/४/६८ सूत्र से लोप होता है, अतः यहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति की जाय या नहीं ? यह एक विचारणीय प्रश्न है । मेरी मान्यतानुसार यहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति का कोई अवकाश ही नहीं है, अतः इस न्याय की अनित्यता के लिए यह उदाहरण भी उचित नहीं है ।

श्रीलावण्यसूरिजी इन उदाहरणों में 'ङी' का स्थानिवद्भाव करके इसकी सिद्धि करते हैं। वे कहते हैं कि 'ङी' का स्थानिवद्भाव होने के कारण, 'ङी' के निमित्त से हुए 'त' के 'न' की निवृत्ति भी नहीं होगी। वस्तुतः यहाँ ऊपर बताया उसी तरह 'ई' का लोप होता है किन्तु स्त्रीत्व दूर करनेवाले 'जातिश्च णि'.....३/२/५१ इत्यादि में से किसी भी सूत्र द्वारा पुंवद्भाव नहीं होता है, अतः 'ङी' की निवृत्ति भी नहीं होती है। स्त्रीत्व दूर होने पर ही 'ङी' की निवृत्ति होती है और उसके साथ ही 'न' का पुनः 'त' होने की आपत्ति आती है, उसे दूर करने के लिए 'ङी' का स्थानिवद्भाव करना जरूरी होता है।

अतः यहाँ 'ङी' का स्थानिवद्भाव करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'ई' का लोप, स्त्रीत्व दूर करनेवाले 'जातिश्च णि'.....३/२/५१ आदि में से किसी भी सूत्र द्वारा नहीं होता है किन्तु 'अवर्णेवर्णस्य' ७/४/६८ जैसे सामान्य से 'अवर्ण' और 'इवर्ण' का लोप करनेवाले सूत्र से हुआ है।

श्रीलावण्यसूरिजी ने 'केचित्तु' कहकर अनित्यता के ज्ञापक के बारे में किसी की मान्यता बतायी है। उसमें उन्हों ने कहा है कि किसी के मतानुसार 'जातिश्च णि-तद्धित य-स्वरे' ३/२/५१ सूत्र से पुंवद्भाव का विधान किया, उससे इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन होता है। पुंवद्भाव विधान का फल इस प्रकार है। 'एनीमाचष्टे' अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय होगा, तब इसी सूत्र से पुंवद्भाव होकर 'एतयति' रूप सिद्ध होगा। यही रूप पुंवद्भाव बिना भी सिद्ध हो सकता है। जब 'एनी' शब्द से 'णिच्' होगा तब 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से अन्त्यस्वरादि रूप 'ईकार' (ङी) की निवृत्ति के साथ ही 'न' की भी निवृत्ति होगी।

और 'पट्वीमाचष्टे पटयति' इत्यादि में पुम्वद्भाव सार्थक है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ भी पुम्वद्भाव बिना ही 'पटयति' रूप सिद्ध हो सकता है। 'पट्वी' के 'ई' का 'णिच्' पर में आने पर 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से लोप होने के कारण, उसके निमित्त से हुआ 'उ' का 'व' भी 'निमित्तापाये-' न्याय से निवृत्त होगा, बाद में वृद्धि करके फिर से 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से अन्त्यस्वंरादि का लोप करके 'पटयति' रूप सिद्ध हो सकता है। यहाँ ऐसा भी न कहना चाहिए कि 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' (लक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति एक ही बार होती है) अर्थात् 'त्र्यन्त्यस्वरादे' ७/४/४३ की प्रवृत्ति एक ही बार होगी क्योंकि 'पट्वी' रूप से 'पटाव्' रूप भिन्न है अतः विकारकृत भेद के कारण लक्ष्य भी भिन्न हो जाता है।

यही प्रक्रिया श्रीलावण्यसूरिजी को मान्य है और इस प्रकार पुम्वद्भाव का विधान व्यर्थ होता है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं हो सकता है, इसकी स्पष्टता आगे की जायेगी।

श्रीलावण्यसूरिजी इस ज्ञापक का खंडन करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त उदाहरणों में पुम्वद्भाव व्यर्थ दिखायी पड़ता है, किन्तु 'दरदोऽपत्यं स्त्री' अर्थ में 'पुरुमगधकलिङ्ग'.....६/१/११६ से 'अण्' होगा और उसकी 'द्रि' संज्ञा होगी। उसका 'द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः' ६/१/१२३ से 'लुप्' होगा और 'दरद्' (स्त्री) होगा। उससे 'तामाचष्टे' अर्थमें 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'जातिश्च णि'-

....३/२/५१ से पुम्वद्भाव होगा और 'दारदयति' रूप होगा । यहाँ यदि पुम्वद्भाव न किया जाय तो 'दारदयति' रूप सिद्ध नहीं हो सकता, अतः इस रूप के लिए पुम्वद्भाव सार्थक है इसलिए वही सूत्र ज्ञापक नहीं बन सकता ।

वस्तुतः 'जातिश्च णि'.....३/२/५१ सूत्र से होनेवाला पुम्वद्भाव कदापि ज्ञापक नहीं बन पाता है । श्रीलावण्यसूरिजी ने 'केचित्तु' कहकर किसका मत बताया है, वह भी स्पष्ट नहीं होता है । बृहद्वृत्ति और लघुन्यास में 'जातिश्च णि'.....३/२/५१ सूत्र को इसी न्याय की अनित्यता के ज्ञापक के रूप में बताया नहीं है किन्तु इसी सूत्र की चर्चा से ऐसा भ्रम हो सकता है ।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण 'एनीमाचष्टे एतयति' और 'पट्वीमाचष्टे पटयति' में 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से अन्त्य ई का लोप होता है किन्तु 'एनी' और 'पट्वी' का स्त्रीत्व दूर नहीं होता है अतः 'ङी' का सन्नियोगशिष्ट 'त' के 'न' की और 'पट्वी' में 'उ' के 'व' की निवृत्ति नहीं हो सकती है, अतः 'न' का 'त' तथा 'व' का 'उ' करने के लिए 'ङी' की निवृत्ति आवश्यक है, अत एव 'ङी' के लोप द्वारा या पुम्वद्भाव द्वारा 'ङी' की निवृत्ति करनी चाहिए । अर्थात् स्त्रीत्व को ही दूर करना चाहिए । यहाँ पुम्वद्भाव द्वारा स्त्रीत्व दूर किया है । अतः इसके निमित्त से हुआ 'त' का 'न' और 'उ' का 'व' भी निवृत्त होगा । यहाँ 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्या-' ॥२९॥ न्याय भी प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि निमित्त स्वरूप 'ङी' का लोप किसी भी सूत्र से नहीं होता है । अतः इन दोनों उदाहरणों में श्रीलावण्यसूरिजी ने पुम्वद्भाव की व्यर्थता बतायी है, वह अनुचित है ।

वस्तुतः इन दोनों उदाहरण में भी पुम्वद्भाव सार्थक ही है, अतः 'जातिश्च णि....' ३/२/५१ सूत्र को इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक बताना और उसका खंडन करना दोनों ही अनुचित हैं ।

यह न्याय कातन्त्र की दुर्गसिंहकृत परिभाषावृत्ति, परिभाषापाठ और कालाप परिभाषापाठ को छोड़कर सर्वत्र उपलब्ध है । कातन्त्र की भावमिश्रकृत परिभाषावृत्ति में यह न्याय 'एकयोगनिर्दिष्टानां सहैव प्रवृत्तिः सहैव निवृत्तिः' के रूप में है ।

॥३१॥ नान्वाचीयमाननिवृत्तौ प्रधानस्य ॥

'अन्वाचीयमान' अर्थात् गौण की निवृत्ति होने पर मुख्य की निवृत्ति नहीं होती है ।

'अनु' अर्थात् पीछे/ बाद में पश्चात्, 'आचीयमान' अर्थात् होनेवाला 'अन्वाचीयमान' अर्थात् बाद में होनेवाले कार्य का अभाव होने पर मुख्य कार्य का अभाव नहीं होता है किन्तु मुख्य कार्य के अभाव में गौण कार्य का भी अभाव होता है ।

पूर्वन्याय से प्राप्त 'यादृच्छिकता' का निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. बुद्धीः, धेनूः, यहाँ पुल्लिङ्गत्व के अभाव के कारण 'शसोऽता....' १/४/४९ से होनेवाले 'स' का 'न्' नहीं होगा, किन्तु प्रधानतया उक्त दीर्घ तो होगा ही ।

[यहाँ 'शस्' के 'स्' का 'न्' करने का कार्य गौण है, जबकि समान स्वर को दीर्घ करने का कार्य मुख्य है अतः गौण कार्य की निवृत्ति के साथ मुख्य कार्य की निवृत्ति नहीं होती है । जबकि 'एतान् गाः पश्य' में दीर्घविधि मुख्य होने से उसके अभाव में 'नत्व' रूप गौणविधि का भी अभाव होगा ।]

'शसोऽता सश्च नः पुंसि' १/४/४९ सूत्र में 'नत्व' विधि का 'अन्वाचय' अर्थवाचक 'चकार' से किया हुआ निर्देश, इस न्याय का ज्ञापक है ।

जहाँ गौणत्व से विवक्षित समुच्चय हो वहाँ अन्वाचय कहा जाता है और उसी गौणत्व का विशेष फल केवल गौण कार्य की निवृत्ति होने पर मुख्य कार्य की निवृत्ति का अभाव ही है ।

इस न्याय की अनित्यता दिखायी नहीं पडती है ।

'अन्वाचय' द्वारा किया हुआ विधान ही, उसी विधान का अनुषंगिकत्व बताता है । अतः वहाँ मुख्य विधान को अलग बताने की कोई आवश्यकता नहीं है, जैसे कि शिष्य को 'भिक्षामट, गां चानय' कहने पर शिष्य जब भिक्षा लेने के लिए जायेगा तब यदि गाय दिखायी देगी, तो ले के आयेगा, किन्तु गाय नहीं दिखायी देगी तो नहीं लायेगा । अतः गुरुनिर्दिष्ट कार्य शिष्य ने नहीं किया है, ऐसा नहीं माना जायेगा क्योंकि भिक्षा का मुख्य कार्य हो ही गया है । वैसे ही यहाँ 'शसोऽता सश्च नः पुंसि' १/४/४९ से होनेवाली विधि में दीर्घविधि ही मुख्य है, और पुल्लिङ्ग होने पर 'स्' का 'न्' आदेश होगा तथा पुल्लिङ्ग न होने पर 'स्' का 'न्' आदेश नहीं होता है अर्थात् वही व्याप्य होने से नियत नहीं है । तथा न्यायशास्त्र का सिद्धांत है कि जहाँ व्यापक की निवृत्ति हो वहाँ व्याप्य की निवृत्ति होती ही है । उदा. जहाँ अग्नि न हो वहाँ धूम भी नहीं होता है । किन्तु जहाँ व्याप्य की निवृत्ति हो वहाँ व्यापक की निवृत्ति हो भी सकती है या नहीं भी हो सकती है । उदा. अग्नि से तप्त लोह के गोलक/गेंद में (अयोगोलक में) व्याप्य धूम नहीं है तथापि व्यापक अग्नि तो है ही । अतः यह न्याय न्यायशास्त्रसिद्ध होने से ज्ञापक की आवश्यकता नहीं है ।

वस्तुतः 'अन्वाचय' द्वारा किया हुआ विधान इस न्याय का ज्ञापक है, ऐसा जो कहा गया है वह उचित/सही नहीं है क्योंकि ऐसा करने पर, उसी विधान में 'ऐच्छिकत्वापत्ति' आयेगी और 'धेनूः, मतीः' इत्यादि रूप इस न्याय से सिद्ध नहीं हो सकेंगे किन्तु सूत्र के जितने अंश का निमित्त होता है इतने अंश में सूत्र की प्रवृत्ति होती है और जितने अंश का निमित्त न हो इतने अंश में सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

'शसोऽता सश्च नः पुंसि' १/४/४९ सूत्र में दो वाक्य हैं । 'शस्' के 'अ' के साथ पूर्व का समान स्वर दीर्घ होता है । वह एक वाक्य है और पुल्लिङ्ग में 'शस्' के 'स्' का 'न्' होता है । वही दूसरा वाक्य है । इसमें प्रथम वाक्य मुख्य है, अतः उसकी प्रवृत्ति होने पर ही गौण की प्रवृत्ति होती है । अतः 'एतान् गाः पश्य' में मुख्य की प्रवृत्ति नहीं की है इसलिए 'नत्व' होने का प्रश्न ही नहीं है, तथा 'धेनूः' आदि में प्रथम मुख्य वाक्य की प्रवृत्ति होगी, किन्तु निमित्त का ही अभाव होने से दूसरे वाक्य की प्रवृत्ति नहीं होगी, अतः 'समुच्चीयमान' अर्थ लेने में भी कोई दोष नहीं है ।

नकारादेश का गौण रूप से किये गए विधान को इस न्याय का ज्ञापक बताया और 'च' गौण होने से इस न्याय का अर्थ सिद्ध होता है । यह अन्योन्याश्रय दोष दिखायी पडता है, अतः 'अन्वाचयवाचक' चकार से किया गया विधान इस न्याय का ज्ञापक नहीं बन पाता है ।

अत एव पाणिनीय व्याकरण में परिभाषेन्दुशेखर में इस न्याय का संग्रह नहीं किया है । यद्यपि व्याडि के परिभाषासूचन में यह न्याय है । हैमव्याकरण के 'न्यायसंग्रह' के पूर्ववर्ती प्रत्येक परिभाषा संग्रह में वह उपलब्ध है, किन्तु बाद के किसी भी संग्रह में नहीं है, अतः ऐसा अनुमान हो सकता है कि उपर्युक्त कारण से ही, पिछले परिभाषा संग्रह में इस न्याय को स्थान नहीं मिला है ।

॥३२॥ निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य ॥

यदि 'निरनुबन्ध' का ग्रहण संभव हो तो 'सानुबन्ध' का ग्रहण नहीं करना ।

'कार्यं स्यात्' शब्द इस न्याय और अगले न्याय में जोड़ देना । सूत्र में 'अनुबन्ध' रहित कोई शब्द का उच्चार करके, जो कार्य बताया हो, वही कार्य, निरनुबन्ध शब्द का ग्रहण संभव हो तो (उससे होता है, किन्तु) सानुबन्ध शब्द से नहीं होता है ।

[विशेष स्पष्टता की गई न होने से दोनों के ग्रहण का संभव था, इसका निषेध करने के लिए यह न्याय है ।]

उदा. 'येऽवर्णे' ३/२/१०० यहाँ 'तस्मै हिते' ७/१/३५ इत्यादि सूत्र से विहित निरनुबन्ध 'य' प्रत्यय ही पर में आने पर 'नासिका' का 'नस्' आदेश होता है । जैसे 'नासिकायै हितम् नस्यं घृतम्' किन्तु सानुबन्ध 'ञ्य' स्वरूप 'य' प्रत्यय पर में आने पर 'नासिका' का 'नस्' आदेश नहीं होता है । जैसे 'नासिकाऽत्रास्ति' यहाँ 'सुपन्थ्यादेर्ञ्यः' ६/२/८४ से 'ञ्य' प्रत्यय आने पर 'नासिक्यं नगरम्' होगा ।

'न यि तद्धिते' २/१/६५ सूत्र में 'ये' स्थान पर 'यि' रूप निर्देश किया है वह इस न्याय का ज्ञापक है । इस सूत्र में केवल 'य्' रूप व्यंजन का ग्रहण करने से उसी प्रकार का कोई भी प्रत्यय न होने से, वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होगी और 'निरनुबन्ध' तथा 'सानुबन्ध', दोनों प्रकार के प्रत्ययों का ग्रहण होगा ।

यदि अकार के साथ 'य्' का ग्रहण किया होता तो, उसी प्रकार का निरनुबन्ध 'य' प्रत्यय होने से, इस न्याय के कारण सानुबन्ध यकारादि प्रत्यय का ग्रहण संभव न होता । अतः इस न्याय की आशंका से ही, सानुबन्ध का ग्रहण करने के लिए 'ये' के स्थान पर 'यि' निर्देश किया है ।

यहाँ किसी को शंका हो सकती है कि सानुबन्ध 'य' पर में आने पर, 'न यि तद्धिते' २/१/६५ सूत्र की प्रवृत्ति कहाँ होती है जिसके कारण 'ये' के स्थान पर 'यि' निर्देश किया गया है ? इसका प्रत्युत्तर देते हुए कहा गया है कि 'धुरं वहति' में 'धुरो यैयण्' ७/१/३ सूत्र से 'य' प्रत्यय होगा, तब 'धुर्यः' होगा । यहाँ 'भ्वादेर्नामिनो' ....२/१/६३ से प्राप्त दीर्घविधि का निषेध 'न यि

तद्धिते' २/१/६५ से किया गया है । इस प्रयोग में कुछेक 'य' प्रत्यय को 'टित्' मानते हैं, उनके मतानुसार भी 'धुर्य' में 'भ्वादेर्नामिनो.....'२/१/६३ से प्राप्त दीर्घत्व का निषेध 'न यि तद्धिते' २/१/६५ से ही होता है । यदि 'यि' के स्थान पर 'ये' निर्देश किया होता तो, जो लोग 'य' प्रत्यय को 'टित्' मानते हैं, उनके लिए यह 'य' प्रत्यय पर में आने पर, इस न्याय के कारण, 'भ्वादेर्नामिनो'...२/१/६३ से प्राप्त दीर्घत्व का निषेध नहीं हो सकता, अतः उनके मत में भी इस प्रयोग में दीर्घत्व को इष्ट नहीं माना है । इसलिए यहाँ 'यि' निर्देश किया गया है । 'य' प्रत्यय को 'टित्' करने से क्या लाभ ? इसका प्रत्युत्तर देते हुए कहा गया है कि 'स्त्रीत्व' की विवक्षा में 'य' प्रत्यय 'टित्' होने से ङी प्रत्यय होगा और 'न यि तद्धिते' २/१/६५ से दीर्घत्व का निषेध होने के बाद 'व्यञ्जनात्तद्धितस्य' २/४/८८ से 'य' प्रत्यय का लोप होने पर 'धुरी' प्रयोग भी होगा । यह प्रयोग 'टित्' माननेवालों के मतानुसार है और वही मत आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी को भी मान्य है ।

यह न्याय अनित्य है क्योंकि आगे 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम्' न्याय आता है ।

यहाँ श्रीहेमहंसगणि ने कहा है कि 'ये' के स्थान पर 'यि' निर्देश करने से 'सानुबन्ध' और 'निरनुबन्ध' दोनों प्रकार के यकारादि प्रत्ययों का संग्रह होगा क्योंकि केवल 'य्' स्वरूप कोई प्रत्यय नहीं है और इसे इस न्याय का ज्ञापक माना है किन्तु श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'ये' निर्देश करने पर ढाई मात्रा होती है, जबकि 'यि' निर्देश करने से देढ मात्रा होती है । अतः मात्रालाघव के कारण से 'यि' निर्देश किया है, अतः वह सार्थक है, इसलिए वह इस न्याय का ज्ञापक नहीं बन पाता है ।

और यह ज्ञापक 'स्वांश' में चरितार्थ नहीं है क्योंकि जहाँ सानुबन्ध 'य' प्रत्यय हो वहाँ 'न यि तद्धिते' २/१/६५ सूत्र की प्रवृत्ति ही नहीं होती है और श्रीहेमहंसगणि ने 'धुर्य' शब्द में जो प्रवृत्ति बतायी है, वह यद्यपि सूत्रकार आचार्यश्री ने बृहद्वृत्ति में दिखायी है, तथापि इस व्याकरण में 'धुरो यैयण्' ७/१/३ से होनेवाला 'य' प्रत्यय निरनुबन्ध ही है और अन्य व्याकरण में उसे 'टित्' बताया है और 'टित्' करने से स्त्रीलिङ्ग में "ङी' प्रत्यय होने पर 'धुरी' रूप सिद्ध होगा । यह प्रयोग भी आचार्यश्री को मान्य है तथापि परतन्त्र/अन्य परम्परा के 'टित्व' का अपने शास्त्र में न्यायों की व्यवस्था करने के लिए आश्रय करना उचित नहीं है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी मानते हैं ।

इस न्याय का पूर्व अस्तित्व स्वीकार करके, यदि 'ये' पाठ करने पर सानुबन्ध में प्रवृत्ति नहीं होगी, ऐसी आशंका से 'यि' पाठ किया है और इसके द्वारा इस न्याय का ज्ञापन होता है, ऐसा कहना संभव नहीं है क्योंकि 'यि' पाठ करने में ऊपर बताया उसी तरह कोई विशेष प्रयत्न नहीं है क्योंकि जहाँ केवल वर्ण का ग्रहण किया हो वहाँ विशिष्ट स्वरूप का उपादान नहीं होने से सानुबन्ध या निरनुबन्ध के ग्रहण में कोई शंका नहीं होगी । भाष्यकार ने भी केवल वर्णग्रहण के विषय में प्रस्तुत न्याय की अप्रवृत्ति बतायी है । तात्पर्य यह है कि जहाँ सानुबन्ध और निरनुबन्ध ऐसे दो विशिष्ट शब्दस्वरूप की संभावना हो वहाँ ही इस न्याय की प्रवृत्ति स्वीकृत है ।

श्रीलावण्यसूरिजी मानते हैं कि 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम्' न्याय द्वारा, इस न्याय की अनित्यता बताना उचित नहीं है । इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि 'वर्णग्रहण में इस न्याय

की प्रवृत्ति नहीं होती है' इस प्रकार भाष्य में बताया है और यही वचन पाणिनीय परम्परा का होने से सिद्धहेम की परम्परा में इसका उपयोग न हो सके ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि वही वचन भी युक्तिपूर्वक किया गया है । 'अनुबन्ध' की संभावना हो ऐसे विशिष्ट रूप का निर्देश किया गया हो, तो ही 'सानुबन्ध' या 'निरनुबन्ध' के ग्रहण की शंका हो सकती है और इसका विचार किया जाता है किन्तु यदि केवल वर्ण का ही ग्रहण किया गया हो तो इस प्रकार का संशय ही नहीं होता है । अतः वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति भी नहीं होती है तथा 'रः पदान्ते.....' १/३/५३ सूत्र में केवल वर्ण द्वारा निर्देश किया होने से 'सानुबन्ध' या 'निरनुबन्ध' के ग्रहण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है । अतः उसी न्याय की अपेक्षा इस न्याय की अनित्यता नहीं बतानी चाहिए । कदाचित् क्वचित् अनित्यता का फल दिखायी पडता हो तो 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' न्याय का ही आश्रय करना चाहिए, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी मानते हैं ।

यह न्याय कातन्त्र की दुर्गसिंहकृत परिभाषावृत्ति और भावमिश्रकृत परिभाषावृत्ति व कालापपरिभाषापाठ में उपलब्ध नहीं है ।

॥३३॥ एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य ॥

एक अनुबन्ध वाले का ग्रहण किया हो तो दो अनुबन्धवाले का ग्रहण नहीं करना चाहिए ।

सूत्र में यदि एक अनुबन्धयुक्त शब्द का ग्रहण किया हो तो उसी सूत्र से होनेवाला कार्य, उसी एक अनुबन्धयुक्त शब्द से होता है किन्तु वह और उससे भिन्न दो या तीन अनुबन्धयुक्त शब्द से नहीं होता है ।

सूत्र में एक अनुबन्धयुक्त शब्द का निर्देश हो तो, उसी शब्द में जो अनुबन्ध है, वही अनुबन्ध दो, तीन, चार अनुबन्धयुक्त शब्द में हो तब, उसी एक अनुबन्धयुक्त शब्द के साथ साथ दूसरे दो-तीन-चार अनुबन्धयुक्त शब्दों का ग्रहण हो जाता था, उसका निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'य्यक्ये' १/२/२५, यहाँ 'अक्ये' में एक अनुबन्धयुक्त 'य' प्रत्यय का वर्जन किया है और वही केवल एक 'क्' अनुबन्धयुक्त 'य' भाव-कर्म में 'क्यः शिति' ३/४/७० सूत्र से होनेवाला 'क्य' प्रत्यय है । अतः इस न्याय के बल से 'क्यन्, क्यङ्' और 'क्यङ्ष्' आदि प्रत्ययों का वर्जन नहीं होता है क्योंकि वे दो या तीन अनुबन्धयुक्त हैं । अत एव 'क्यन्' और 'क्यङ्ष्' प्रत्यय पर में आने पर 'ओ' और 'औ' का अनुक्रम से 'अव्' और 'आव्' होता ही है । उदा. 'गौरिवाचरति गव्यते' और 'गामिच्छति गव्यति, नौरिवाचरति नाव्यते' और 'नावमिच्छति नाव्यति ।' प्रयोगों में जब 'अमाव्ययात् क्यन् च' ३/४/२३ से 'क्यन्' और 'क्यङ्' ३/४/२६ सूत्र से क्यङ् होगा तब 'य्यक्ये' १/२/२५ सूत्र से ही 'अव्' और 'आव्' आदेश होकर 'गव्यति, गव्यते' और 'नाव्यति, नाव्यते' प्रयोग सिद्ध होंगे ।

'दीर्घश्च्वियङ्यक्क्येषु च' ४/३/१०८ सूत्रगत 'क्येषु' बहुवचनान्त निर्देश से इस न्याय का

ज्ञापन होता है । यह बहुवचन 'क्य, क्यन्, क्यङ्' और 'क्यङ्ष्' इत्यादि सर्व प्रकार के 'क्य' प्रत्ययों का ग्रहण करने के लिए रखा है । यदि यह न्याय न होता तो, 'जाति' की विवक्षा में एकवचन करने से भी सर्व 'क्य' का ग्रहण हो ही जाता, तो इसके लिए बहुवचन का प्रयोग क्यों करना चाहिए ? अर्थात् न करना चाहिए । तथापि बहुवचन का प्रयोग किया, वह इस न्याय की आशंका से ही किया है ।

यह न्याय अनित्य है, अतः 'आपो ङितां यै यास् यास् याम्' १/४/१७ सूत्र में केवल 'आप्' प्रत्ययान्त का ही ग्रहण किया है, तथापि 'डाप्' प्रत्ययान्त का भी ग्रहण होता है । यदि यह न्याय नित्य होता तो, सूत्र में केवल 'आप्' का ही विधान होने से, दो अनुबन्धयुक्त 'डाप्' का ग्रहण नहीं हो सकता, किन्तु 'आप्' प्रत्ययान्त 'माला' शब्द से जैसे 'मालायै, मालायाः, मालायाः, मालायाम्' रूप होते हैं, वैसे 'सीमन्' शब्द से जब 'ताभ्यां वाप् डित्' २/४/१५ से 'डाप्' होगा, तब 'सीमा' शब्द के भी 'सीमायै, सीमायाः सीमायाः, सीमायाम्' रूप होते हैं और वे 'यै यास् यास् याम्' आदेश 'आपो ङितां यै यास्यास्याम्' १/४/१७ से ही होगा ।

श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि पाणिनीय परम्परा में यह न्याय 'तदनुबन्धग्रहणे नातदनुबन्धकस्य' रूप में पठित है । इस न्याय के ऐसे (हैम परम्परागत) स्वरूप के कारण जहाँ 'एकानुबन्ध' का ग्रहण हो वहाँ 'द्व्यनुबन्ध' का ग्रहण नहीं होता है, तथापि जहाँ 'द्व्यनुबन्ध' का ग्रहण हो वहाँ 'त्र्यनुबन्ध' के ग्रहण की निवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि वह प्रस्तुत न्याय का विषय नहीं है । अतः 'क्यङ्' के ग्रहण से 'क्यङ्ष्' का भी ग्रहण होता है और 'यङ् यक्' तथा 'क्य' में 'एकानुबन्धकत्व' होने से अन्योन्य का ग्रहण करने की आपत्ति आती है । यद्यपि 'यङ्' में भिन्न अनुबन्ध होने से कदाचित् उसका ग्रहण नहीं हो सकता है तथापि 'यक्' और 'क्य' में समान अनुबन्ध होने से दोनों के अन्योन्य ग्रहण को इस न्याय से दूर करना असंभव है, अतः इस न्याय के पाणिनीय परम्परागत स्वरूप को ग्रहण करना चाहिए, ऐसी श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यता है ।

यह न्याय कातन्त्र की दुर्गसिंहकृत परिभाषावृत्ति, भावमिश्रकृत परिभाषावृत्ति, परिभाषापाठ व कालाप परिभाषापाठ में उपलब्ध नहीं है और व्याडि के परिभाषासूचन, परिभाषापाठ, शाकटायन, चान्द्र, जैनेन्द्र, भोज, तथा पाणिनीय परम्परा के पुरुषोत्तमदेवकृत परिभाषावृत्ति, सीरदेवकृत परिभाषावृत्ति, और हरिभास्करकृत परिभाषावृत्ति में 'एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य ग्रहणम्' स्वरूप में ही यह न्याय दिया गया है ।

॥३४॥ नानुबन्धकृतान्यसारूप्यानेकस्वरत्वानेकवर्णत्वानि ॥

'अनुबन्ध' से हुआ असारूप्य (असमानता), अनेकस्वरत्व और अनेकवर्णत्व मान्य नहीं है ।

असारूप्य अर्थात् परस्पर का असमानत्व/विरूपता/असदृशता, अनेकस्वरत्व और अनेकवर्णत्व, यदि अनुबन्ध द्वारा/से/के कारण, हो, तो वह व्याकरणशास्त्र में मान्य नहीं है ।

लक्षण/शास्त्र में कहीं निषेध किया नहीं होने से अनुबन्ध के कारण उत्पन्न असदृशता, अनेकस्वरत्व और अनेकवर्णत्व का निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

असारूप्य इस प्रकार है । 'अण्' प्रत्यय और 'ड' प्रत्यय दोनों में अनुक्रम से 'ण्' और 'ड्' को 'इत्' संज्ञा होने पर, केवल 'अ' ही शेष रहता है अर्थात् अनुबन्धरहित 'अण्' और 'ड' प्रत्यय समान ही है, किन्तु अनुबन्ध के कारण दोनों के स्वरूप भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं, वह यहाँ मान्य नहीं रखा गया है, अर्थात् 'अण्' और 'ड' प्रत्ययों को अन्योन्य 'असरूप/असदृश' प्रत्यय के रूप में माने नहीं हैं, अत एव 'आतो डोऽह्वावामः' ५/१/७६ से 'ह्वा, वा' और 'मा' धातु से भिन्न आकारान्त धातु से 'ड' प्रत्यय होगा और वह अपवाद होने से वही 'ड' प्रत्यय के विषय में 'कर्मणोऽण्' ५/१/७२ से 'अण्' रूप 'औत्सर्गिक' प्रत्यय विकल्प से नहीं होगा क्योंकि 'ड' और 'अण्' को असरूप नहीं मानें हैं, अतः 'असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः' ५/१/१६ से विकल्प करने की अनुमति नहीं मिलती है। यदि 'अण्' प्रत्यय हो तो 'गां ददाति गोदः' के स्थान पर 'गोदायः' जैसा अनिष्ट रूप होगा ।

भावार्थ इस प्रकार है -: सामान्यतया आपवादिक प्रत्यय द्वारा औत्सर्गिक प्रत्यय का सर्वथा/ पूर्णतया बाध होता है । अत एव 'असरूपोऽपवादे'....५/१/१६ सूत्र बनाया है । उसी सूत्र का अर्थ इस प्रकार है । 'आ तुमोऽत्यादिः कृत्' ५/१/१ सूत्र से लेकर, कृत्प्रत्यय के अधिकार में 'स्त्रियां क्तिः' ५/३/९१ सूत्र से पूर्व जो प्रत्यय आते हैं, उसमें आपवादिक प्रत्यय के विषय में, औत्सर्गिक प्रत्यय सर्वथा/पूर्णतया बाधित नहीं होता है किन्तु विकल्प से वही औत्सर्गिक प्रत्यय होता है, यदि वह औत्सर्गिक प्रत्यय आपवादिक प्रत्यय के साथ समान रूपवाला न हो तो। किन्तु यदि वही आपवादिक प्रत्यय, औत्सर्गिक प्रत्यय के सदृश हो तो, उसी आपवादिक प्रत्यय से औत्सर्गिक प्रत्यय सर्वथा बाधित होता है ।

यहाँ 'अण्' प्रत्यय औत्सर्गिक है क्योंकि 'कर्मणोऽण्' ५/१/७२ से उसका सामान्यतया विधान किया गया है और 'ड' प्रत्यय आपवादिक है क्योंकि 'आतो डोऽह्वावामः' ५/१/७६ से होता है और 'कर्मणोऽण्' ५/१/७२ से जहाँ 'अण्' की प्राप्ति है, वहाँ 'अण्' के स्थान पर 'ड' प्रत्यय होता है, अतः यदि यह न्याय न होता तो, आपवादिक 'ड' प्रत्यय के विषय में 'अण्' प्रत्यय भी होता क्योंकि दोनों प्रत्यय के अनुबन्ध भिन्न-भिन्न होने से वे प्रत्यय भी असदृश हुए, अत एव 'असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः' ५/१/१६ से अपवाद के विषय में औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय भी होगा, किन्तु ऐसा नहीं होता है, आपवादिक 'ड' प्रत्यय से औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय बाधित होता ही है क्योंकि अनुबन्धकृत असारूप्य मान्य नहीं है ।

'कृ-वृषि-मृजि-शंसि-गुहि-दुहि-जपो वा' ५/१/४२ सूत्र में 'क्यप्' का विकल्प करने के लिए 'वा' का ग्रहण किया है, उससे इस अंश का ज्ञापन होता है । इस सूत्र में 'वा' द्वारा विकल्प करने से, जब 'क्यप्' नहीं होगा तब 'ऋवर्णव्यञ्जनाद् घ्यण्' ५/१/१७ से औत्सर्गिक 'घ्यण्' प्रत्यय भी होगा । यदि यह न्याय न होता तो, वही 'घ्यण्' प्रत्यय अनुबन्ध के कारण 'क्यप्' प्रत्यय के सदृश

नहीं होने से, वही 'घ्यण्' प्रत्यय 'असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः' ५/१/१६ से अपवाद स्वरूप 'क्यप्' प्रत्यय के विषय में होनेवाला ही था, तो पक्षमें अर्थात् 'क्यप्' नहीं होगा तब 'घ्यण्' प्रत्यय करने के लिए सूत्र में 'वा' का ग्रहण क्योंकिया ? अर्थात् न करना चाहिए, तथापि 'वा' का ग्रहण किया, इससे सूचित होता है कि इस न्याय से 'घ्यण्' और 'क्यप्' परस्पर असदृश नहीं है, अतः अपवाद स्वरूप 'क्यप्' प्रत्यय से औत्सर्गिक 'घ्यण्' प्रत्यय पूर्णतया/सर्वथा बाधित होगा और 'असरूपोऽपवादे' .....५/१/१६ से भी 'घ्यण्' नहीं होगा, इसलिए विकल्प किया है, अतः जब 'क्यप्' नहीं होगा तब 'घ्यण्' निःसंकोच होगा ।

अनुबन्धकृत अनेकस्वरत्व भी यहाँ स्वीकार्य नहीं है, जैसे 'डुपचींष् पाके' धातुपाठ में 'पच्' इसी स्वरूप में उक्त होने से, अनुबन्ध के कारण, यदि उसे अनेकस्वरयुक्त मानेंगे तो, परोक्षा में 'पपाच' रूप के स्थान पर 'धातोरनेकस्वरादाम्'.....३/४/४६ से 'णव्' आदि का 'आम्' होगा और बाद में 'कृ, भू' और 'अस्' धातु के परोक्षा के रूपों का अनुप्रयोग होगा । किन्तु अनुबन्धकृत अनेकस्वरत्व यहाँ स्वीकार्य न होने से, परोक्षा-प्रत्यय पर में आने पर 'पपाच' आदि रूप होंगे ।

'निन्द-हिंस-क्लिश-खाद-विनाशि-व्याभाषासूयानेकस्वरात्' ५/२/६८ सूत्र में 'निन्द' आदि धातुओं के ग्रहण से इस अंश का ज्ञापन होता है । यदि अनुबन्धकृत अनेकस्वरत्व मान्य होता तो 'निन्द' आदि प्रत्येक धातु धातुपाठ में अनेकस्वरयुक्त ही हैं क्योंकि धातुपाठ में 'णिदु कुत्सायाम्, हिसु हिंसायाम्' के रूप में पाठ किया गया है अतः सूत्र के अन्त में आये हुए 'अनेकस्वरात्' शब्द से इन सब धातुओं का ग्रहण हो जाता तो उन धातुओं को अलग से कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी, तथापि 'निन्द' आदि धातुओं का पृथक् ग्रहण किया इससे सूचित होता है कि अनुबन्धकृत अनेकस्वरत्व स्वीकार्य नहीं होने से ये सब धातु एकस्वरयुक्त ही माने जाते हैं ।

अनुबन्धकृत अनेकवर्णत्व भी यहाँ मान्य नहीं है । उदा. 'घुणि भ्रमणे' और 'वन भक्तौ' धातु में 'मन्-वन्-क्वनिप्-विच् क्वचित्' ५/१/१४७ से 'वन्' प्रत्यय होने पर 'घ्वावा, 'वावा' रूपों की सिद्धि करते वख्त 'वन्याङ् पञ्चमस्य' ४/२/६५ से धातु के अन्त्य व्यञ्जन का 'आङ्' आदेश होता है । इस सूत्र में धातु के लिए 'पञ्चमस्य' शब्द का प्रयोग किया है । 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा से यहाँ 'पञ्चमान्त' धातु लेना और 'पञ्चमस्य' शब्द में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होने से यहाँ 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ परिभाषा से पञ्चमान्त धातु के अन्त्यव्यञ्जन का 'आङ्' आदेश होगा किन्तु 'आङ्' आदेश उसके 'ङ्' अनुबन्ध के कारण यदि अनेकवर्णयुक्त माना जाय तो 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ परिभाषा के स्थान पर 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ परिभाषा से समग्र पञ्चमान्त धातु का ही 'आङ्' आदेश हो जाता, किन्तु यहाँ अनुबन्धकृत अनेकवर्णत्व मान्य नहीं होने से 'आङ्' आदेश अनेकवर्णयुक्त नहीं माना जाएगा किन्तु 'आ' स्वरूप एक ही वर्णवाला कहा जाएगा । अत एव 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ से समग्र/संपूर्ण पंचमान्त धातु का 'आङ्' आदेश नहीं होने से 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ परिभाषा से केवल अन्त्यव्यञ्जन का ही 'आङ्' आदेश होगा ।

'ष्या पुत्रपत्योः केवलयोरीच् तत्पुरुषे' २/४/८३ सूत्र में 'ष्या' का 'ईच्' आदेश करते

समय, 'ष्या' और 'ईच्' का अभेद-निर्देश किया है, वह इस न्याय का ज्ञापक है । यदि यह न्याय न होता तो 'ष्या' का 'ईच्' आदेश करते समय 'भिस ऐस्' १/४/२ में जैसे भेद-निर्देश किया है, वैसे 'ष्याया ईच्' इस प्रकार भेद-निर्देश किया होता तो भी चल सकता, क्योंकि भेद-निर्देश करने पर भी 'च' कार अनुबन्ध के कारण 'ईच्' आदेश अनेक वर्णयुक्त माना जाता तो 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ परिभाषा से समग्र 'ष्या' का 'ईच्' आदेश हो जाता किन्तु 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ परिभाषा से 'ष्या' के अन्त्य 'आ' का ही 'ईच्' आदेश नहीं हो सकता, किन्तु अनुबन्ध के कारण उत्पन्न अनेकवर्णत्व मान्य नहीं होने से 'ईच्' अनेकवर्ण वाला नहीं कहा जाता है, अतः 'ष्यायाः ईच्' रूप भेद-निर्देश करने पर 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ से अन्त्य 'आ' का ही 'ईच्' आदेश होगा, वह इष्ट नहीं है, अतः संपूर्ण 'ष्या' का 'ईच्' आदेश करने के लिए 'ष्या ईच्' इस प्रकार अभेद निर्देश करना अनिवार्य/आवश्यक है । अतः वही अभेद निर्देश इस न्यायांश का ज्ञापक है ।

'कारीषगन्धीपुत्रः' प्रयोग की संपूर्ण साधनिका/सिद्धि इस प्रकार है । करीष अर्थात् गाय का सुका हुआ गोबर या कंडा/उपला 'करीषस्येव गन्धो यस्य करीषगन्धिः ।' यहाँ 'करीष' और 'गन्ध' का 'उष्ट्रमुखादयः' ३/१/२३, से बहुव्रीहि समास होगा, बाद में 'ऐकार्थ्ये' ३/२/८ से स्यादि प्रत्यय का लोप होने के बांद 'वोपमानात्' ७/३/१४७ से 'इ' समासान्त होकर 'करीषगन्धिः' समास होगा । (गोबर जैसी गन्ध जिस की है वह), इसी नाम के किसी पुरुष के पौत्रादि और वह भी स्त्रीलिङ्ग विशिष्ट हो तब 'करीषगन्धेर्वृद्धाऽपत्यं स्त्री चेत्' विग्रहवाक्य होगा और 'करीषगन्धिः' शब्द से 'वृद्धापत्य' अर्थ में 'ङसोऽपत्ये' ६/१/२८ से 'अण्' होगा । 'वृद्धिः स्वरेष्वादेः' ....७/४/१ से 'क' सम्बन्धित 'अ' की 'वृद्धि' होगी और 'अण्' प्रत्यय पर में आने से 'अवर्णेवर्णस्य' ७/४/६८ से 'करीषगन्धि' के अन्त्य 'इ' का लोप होगा और 'अण्' प्रत्यय सम्बन्धि जो 'अ' 'कारीषगन्ध' शब्द के अन्त में आया है, उसका 'अनार्षे वृद्धेऽणिञो बहुस्वरगुरूपान्त्यस्याऽन्तस्य ष्यः' २/४/७८ सूत्र से 'ष्य' आदेश होगा, बाद में स्त्रीलिङ्ग में 'आत्' २/४/१८ से 'आप्' प्रत्यय होने पर 'कारीषगन्ध्या' शब्द होगा और उसका पुत्र अर्थात् 'कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः कारीषगन्धीपुत्रः' में ऊपर बताया उसी प्रकार 'ष्या' सम्बन्धित 'या' का 'ष्या पुत्रपत्योः केवलयोरीच् तत्पुरुषे' २/४/८३ से 'ई' होगा ।

'असारुप्य' के विषय में यह न्याय अनित्य है । अतः 'पिता कृत्वा गतः' प्रयोग में 'पितृ' शब्द से 'ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डाः' १/४/८४ से जो 'सि' प्रत्यय का 'डा' किया है वह और 'द्वितीयाकृत्य क्षेत्रं गतः' प्रयोग में 'तीय' प्रत्ययान्त 'द्वितीय' शब्द से 'तीय-शम्ब बीजात् कृगाकृषौ डाच्' ७/२/१३५ से जो 'डाच्' हुआ है वह, दोनों अनुबन्ध के कारण असरूप ही माने गये हैं, अत एव 'पिता कृत्वा गतः' में 'डा' प्रत्ययान्त पिता शब्द को 'ऊर्याद्यनुकरणच्विडाचश्च गतिः' ३/१/२ से 'गति' संज्ञा नहीं होगी, इसलिए 'गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः' ३/१/४२ से समास नहीं होगा और बिना समास पूर्वपद-उत्तरपद की व्यवस्था नहीं हो सकती है, अतः 'अनञः क्त्वो यप्' ३/२/१५४ से 'क्त्वा' प्रत्यय का यप् आदेश नहीं होता है ।

जबकि 'द्वितीयाकृत्य क्षेत्रं गतः' में द्वितीय शब्द 'डाच्' प्रत्ययान्त होने से गति संज्ञा होकर समास होगा, बाद में 'अनञः क्त्वो...' ३/२/१५४ से 'क्त्वा' का 'यप्' आदेश होगा ।

यदि यह न्याय नित्य होता तो 'डा' और 'डाच्' -दोनों प्रत्यय समान ही माने जाते, तो 'पिता कृत्वा गतः' में 'पिता' को 'गति' संज्ञा होकर समास होता और 'क्त्वा' का 'यप्' आदेश होकर 'पिता कृत्वा' के स्थान पर 'पिताकृत्य गतः' स्वरूप अनिष्ट प्रयोग होता ।

श्रीहेमहंसगणि ने इस न्याय के प्रथमांश 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' में जिस प्रकार से अनित्यता बतायी है उसी प्रकार से अनित्यता बताना आवश्यक नहीं है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी मानते हैं ।

श्रीहेमहंसगणि द्वारा बताये गये उदाहरण में 'पिता कृत्वा गतः' में 'ऊर्याद्यनुकरणच्विडाचश्च गतिः' ३/१/२ सूत्र द्वारा होनेवाली 'गति' संज्ञा, 'ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डाः' १/४/८४ से होनेवाला 'सि' प्रत्यय का 'डा' आदेश जिस के अन्त में है ऐसे 'पिता' शब्द को नहीं होगी । अतः यहाँ अनुबन्धकृत असारूप्य का स्वीकार किया है, ऐसा वे कहते हैं किन्तु यहाँ एक बात खास तौर पर ध्यान में रखने योग्य है कि 'डा' और 'डाच्', दोनों में 'डात्व' समान होने पर भी 'गति' संज्ञाविधायक सूत्र 'ऊर्याद्यनुकरण'...३/१/२ में डाच् (डाजन्त) का ही ग्रहण है अतः 'डा' अन्तवाले शब्द को 'गति' संज्ञा होने की कोई संभावना ही पैदा नहीं होती है क्योंकि एक सिद्धान्त ऐसा है कि सूत्र में सामान्य का ग्रहण किया हो तो, उससे सामान्य और विशेष दोनों का ग्रहण होता है किन्तु यदि सूत्र में विशेष का ग्रहण किया हो तो, उससे सामान्य का ग्रहण कदापि नहीं होता है, और ऐसा करना ही उचित है । अतः 'पिता' शब्द को 'गति' संज्ञा नहीं होगी किन्तु 'तीय-शम्ब-बीजात् कृगा कृषौ डाच्' ७/२/१३५ से होनेवाले 'डाच्' प्रत्ययान्त को ही गति संज्ञा होगी ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय की चर्चा करते हुए 'अत्रेदं विचार्यते' कहकर, बताते हैं कि 'नानुबन्धकृतमनेकवर्णत्वम्' अंश में 'ष्या पुत्रपत्योः केवलयोरीच् तत्पुरुषे' २/४/८३ सूत्र में जो अभेद निर्देश किया है, वह संपूर्ण 'ष्या' के स्थान पर 'ईच्' आदेश करने के लिए है, उसे इस न्याय के ज्ञापक के रूप में मानना उचित नहीं है । यह बात उन्होंने किसके मतानुसार कही है वह स्पष्ट नहीं है । शुरू की इस बात को, उनका अपना मन्तव्य समझना, उचित नहीं है क्योंकि 'न्यायार्थसिन्धु' के अन्त में उन्होंने स्वयं, इस बात को इस न्याय के ज्ञापक के रूप में मानी है और 'तरङ्ग' में भी इसका ही समर्थन किया है । अतः यह बात अन्य किसी की मान्यता होनी चाहिए या तो पूर्वपक्ष स्थापन करने के लिए ऐसा बताया हो, ऐसा दिखायी देता है ।

श्रीहेमहंसगणि द्वारा स्वरचित न्यास में ये सब बातें बताई हैं ।

'अभेदनिर्देश' व्यर्थ बनने पर ही इस न्यायांश का ज्ञापक बन सकता है, किन्तु यहाँ अन्य किसी के मतानुसार अभेदनिर्देश सार्थक है ऐसा बताते हैं । यहाँ 'ष्याया ईच्' इस प्रकार भेदनिर्देश किया होता तो 'ष्या' के अन्त्य 'आ' (आप्) का ही 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ परिभाषा से 'ईच्' आदेश होता, ऐसा जो बताया वह ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ 'ष्य', 'अण्' या 'इञ्' प्रत्यय के स्थान

में हुआ है, अतः 'तदादेशस्तद्वत्' न्याय से वह भी प्रत्यय है और 'आप्' तो स्वयं प्रत्यय है ही, अतः दोनों प्रत्ययों से निष्पन्न 'ष्या' भी प्रत्यय ही कहा जाय क्योंकि ब्राह्मण माता और पिता से उत्पन्न बालक भी ब्राह्मण ही कहा जाता है । अतः यहाँ 'प्रत्ययस्य' ७/४/१०८ परिभाषा से षष्ठ्यन्त निर्देश रूप भेदनिर्देश से समग्र/संपूर्ण 'ष्या' का ही 'ईच्' आदेश होगा अतः अभेदनिर्देश व्यर्थ हुआ । किन्तु यही बात उचित नहीं है क्योंकि ब्राह्मण पुत्र में माता-पिता भिन्न-भिन्न दिखायी नहीं पड़ते । जबकि यहाँ 'ष्या' में 'ष्य' और 'आप्' दोनों स्पष्ट रूप से भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ते हैं । अतः इस में प्रत्ययत्व नहीं आयेगा । यद्यपि प्रत्ययसमुदाय है, तथापि समुदाय में अवयव का धर्म नहीं आता है । यदि समुदाय में अवयव का धर्म मानेंगे तो 'शोभनं (कल्याणं) पाणिपादं यस्याः सा शोभन-(कल्याण) पाणिपादा' में स्वाङ्ग समुदाय में 'स्वाङ्गत्व' प्रसङ्ग उपस्थित होगा और 'असहनञ्' .....२/४/३८ से 'ङी' का प्रसंग उपस्थित होगा किन्तु ऐसा नहीं होता है । प्रत्ययसमुदाय में 'प्रत्ययस्य' ७/४/१०८ परिभाषा का उपयोग नहीं हो सकेगा और 'ष्याया ईच्' रूप भेदनिर्देश से समग्र 'ष्या' का 'ईच्' आदेश कदापि नहीं हो सकेगा ।

यहाँ दूसरी शंका बताते हुए श्रीहेमहंसगणि और श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि वस्तुतः 'ष्या' प्रत्येक स्थान पर प्रत्ययसमुदाय रूप नहीं है । उदा. 'भोजवंशजाः क्षत्रियाः भोज्याः' यहाँ 'ष्या' में स्थित 'ष्य' 'भोज' शब्द के अन्त्य 'अ' का आदेश है । अतः उसमें 'प्रत्ययत्व' नहीं आयेगा । अतः 'ष्याया ईच्' रूप में भेदनिर्देश करने से अन्त्य 'आप्' का ही 'ईच्' आदेश होगा ।

इस चर्चा को कुछेक लोग, 'ष्या ईच्' रूप अभेदनिर्देश के सार्थक्य की चर्चा मानते हैं, किन्तु वस्तुतः यह अभेदनिर्देश का चारितार्थ्य है । जबकि 'नानुबन्धकृतमनेकवर्णत्व' की दृष्टि से यह अभेदनिर्देश व्यर्थ होगा, अतः वह इस न्याय का ज्ञापक बनेगा । इसकी चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी ने 'तरंग' में बताया हैं कि 'ईच्' आदेश करते समय, यदि यह न्याय नहीं है और अनुबन्ध अवयव ही है, ऐसा मानेंगे तो 'ईच्' आदेश में 'अनेकवर्णत्व' आयेगा और वस्तुतः 'ईच्' आदेश की उत्पत्ति के समय, प्रथम उसके स्वाभाविक अनेकवर्णत्व का स्वीकार किया गया है किन्तु बाद में इस न्याय के कारण वह एकवर्णस्वरूप माना जाता है, अतः यदि इसके स्वाभाविक अनेकवर्णत्व के कारण भेदनिर्देश करने पर भी संपूर्ण 'ष्या' का 'ईच्' आदेश होनेवाला था ही, तथापि ऐसा न करके अभेदनिर्देश किया वह संपूर्ण 'ष्या' का 'ईच्' आदेश करने के लिए किया, वह व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है ।

और इस प्रकार इस न्यायांश का ज्ञापन होने के बाद 'अनेकवर्णत्व' के अंश स्वरूप 'वर्ण' पद से अनुबन्ध का ग्रहण नहीं हो सकेगा । अतः अनुबन्धबोधक अवस्था में भी 'ईच्' आदेश में अनेकवर्णत्व का अभाव ही होगा । अतः संपूर्ण 'ष्या' का 'ईच्' आदेश करने के लिए अभेद-निर्देश किया वह चरितार्थ होगा ।

संक्षेप में यहाँ वर्णविशिष्ट अनेकवर्णत्व का ग्रहण करना चाहिए किन्तु वही वर्ण अनुबन्ध के वर्ण से भिन्न होना चाहिए । यहाँ 'ईच्' आदेश में अनुबन्धभिन्नवर्ण से विशिष्ट अनेकवर्णत्व है

नहीं, अतः 'ईच्' में अनेकवर्णत्व का अभाव माना जायेगा ।

यह न्याय न्यायसंग्रह के पूर्वकालीन परिभाषा-संग्रह में शाकाटायन के परिभाषापाठ में पूर्णतः उपलब्ध है । जबकि व्याडि के परिभाषासूचन व परिभाषापाठ में केवल अनेकवर्णत्व (अनेकाल्त्व) और असारूप्य अंश ही है, अनेकस्वरत्व अंश नहीं है । तो चान्द्र में केवल अनेकवर्णत्व अंश ही प्राप्त है । जैनेन्द्रपरिभाषावृत्ति में इस न्याय के स्थान पर 'नानुबन्धकृतं हलन्तत्वम्' न्याय है, जो कहीं भी प्राप्त नहीं है । कातन्त्र की दुर्गसिंहकृत परिभाषावृत्ति और कातन्त्रपरिभाषापाठ तथा कालाप परिभाषापाठ, शाकटायन, चान्द्र, व्याडिकृत परिभाषासूचन आदि में 'उच्चरितप्रध्वंसिनोऽनुबन्धाः' न्याय भी प्राप्त है । इस न्याय से सूचित होता है कि अनुबन्ध, प्रकृति या प्रत्यय का अवयव नहीं होता है ।

॥३५॥ समासान्तागम-संज्ञा-ज्ञापक-गण-नञ्निर्दिष्टान्यनित्यानि ॥

'समासान्त, आगम, संज्ञानिर्दिष्ट, ज्ञापकनिर्दिष्ट, गणनिर्दिष्ट, नञ्निर्दिष्ट' कार्य अनित्य है ।

'यथा प्रयोगदर्शनं क्वचित्' अध्याहार समझ लेना ।

समासान्त, आगम, संज्ञानिर्दिष्ट, ज्ञापकनिर्दिष्ट, गणनिर्दिष्ट, नञ्निर्दिष्ट कार्य अनित्य है । अर्थात् साहित्य में क्वचिद् 'यथाप्रयोग' व्याकरण के सूत्र द्वारा उपर्युक्त कार्य होने की संभावना होने पर भी, नहीं होते हैं या व्याकरण के सूत्र से जिस प्रकार होना चाहिए वैसा न होकर, अन्य प्रकार के होते हैं ।

'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' न्याय से 'समासान्त' इत्यादि कार्य में प्राप्त नित्यत्व का निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

समासान्तविधि-: 'बह्व्य आपो यस्मिन् तद् बह्वपं सरः' । यहाँ 'ऋक्पूःपथ्यपोऽत्' ७/३/७६ से 'अत्' समासान्त होगा । जबकि 'बह्व्य आपो येषु सरस्सु तानि बह्वाम्पि, बह्वम्पि' प्रयोग में 'ऋक्पूःपथ्यपोऽत्' ७/३/७६ से प्राप्त समासान्तविधि अनित्य होने से, सब अनुकूल संयोग/निमित्त होने पर भी नहीं होगा । यह समासान्तविधि अनित्य होने का सूचन 'ऋक्पूःपथ्यपोऽत्' ७/३/७६ सूत्रगत 'अपो' निर्देश से होता है । यदि समासान्तविधि नित्य ही होती तो 'पथ्यपोऽत्' के स्थान पर 'पथ्यपादत्' निर्देश किया होता ।

आगमविधि-: आगमविधि भी अनित्य है । उदा. 'पट्वा, पटिता', यहाँ 'पटि' धातु सेट् होने से नित्य 'इट्' की प्राप्ति है तथापि विकल्प से 'इट्' का आगम हुआ है । 'पक्त्वा, पचिता, आस्कन्तव्यम्, आस्कन्दितव्यम् । यहाँ 'पच्' और 'स्कन्द्' धातु अनिट है क्योंकि उनमें अनुस्वार की इत् संज्ञा हुई है । तथापि वहीं विकल्प से 'इट्' हुआ है । 'धाव्' धातु 'ऊदित्' होने 'वेट्' है, तथापि 'धावितः

धावितवान्' प्रयोग होते हैं । शुद्धि अर्थवाले 'धाव्' धातु से 'धौतः धौतवान्' प्रयोग होते हैं तथा 'जभ्' धातु से 'तिव्' प्रत्यय होने पर 'जभः स्वरे' ४/४/१०० से 'न' का आगम होकर 'जम्भति' रूप होगा किन्तु वही 'जभः स्वरे' ४/४/१०० से 'जञ्जभीति' में 'न' का आगम नहीं होगा क्योंकि आगमशास्त्र अनित्य है, और 'कम्' धातु से 'णिङ्' होकर, वर्तमान कृदन्त करते समय 'आनश्' प्रत्यय होगा तब 'कामयमानः' और 'कामयानः' ऐसे दो रूप होंगे क्योंकि 'म्' आगम अनित्य है।

'इट्, न्, म्' इत्यादि आगम के विकल्प या निषेध के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है, वह आगम की अनित्यता का ज्ञापक है । वह इस प्रकार है -: 'पट्वा, पटिता' इत्यादि प्रयोग में 'इट्' आदि आगम का विकल्प देखने को मिलता है, किन्तु इसके लिए विकल्प करनेवाले कोई सूत्र की रचना नहीं की गई है । वह इस न्याय के कारण ही नहीं किया गया है ।

इस प्रकार आगे भी 'यत्नाकरण' और इसके ज्ञापकत्व की कल्पना कर लेना ।

संज्ञानिर्दिष्ट-: 'चकासामास' इत्यादि प्रयोग में 'परोक्षा' संज्ञानिर्दिष्ट 'धातोरनेकस्वरादाम्' .....३/४/४६ से 'आम्' होता है । यही 'आम्' संज्ञानिर्दिष्ट होने से अनित्य है, अतः 'ददरिद्रौ' में परोक्षा होने पर भी, 'परोक्षा' संज्ञानिर्दिष्ट 'धातोरनेकस्वरादाम्' ....३/४/४६ से 'आम्' प्राप्त है, तथापि नहीं हुआ है ।

'आतो णव औः' ४/२/१२० सूत्र द्वारा किया गया 'औत्व' का विधान, इस न्याय का ज्ञापक है । यहाँ 'णव्' प्रत्यय का 'ओ' करने पर भी 'पपौ' इत्यादि की रूपसिद्धि हो सकती थी, तथापि 'औ' किया, वह 'ददरिद्रौ' रूप की सिद्धि के लिए किया गया है । यदि 'ओ' किया होता तो 'दरिद्रा' के 'आ' का 'अशित्यसन्णकच्णकानटि' ४/३/७७ से लोप होकर 'ददरिद्रो' स्वरूप अनिष्ट रूप होता, किन्तु यदि 'दरिद्रा' सम्बन्धित 'णव्' प्रत्यय का 'आम्' आदेश नित्य होता तो 'दरिद्राञ्चकार' प्रयोग ही होता, तो 'औत्व' अनवकाश होता अर्थात् 'औत्व' करने की जरूरत ही नहीं थी । तथापि 'औत्व' विधान किया, इससे सूचित होता है कि 'आम्' आदेश 'परोक्षा' संज्ञानिर्दिष्ट होने से अनित्य है । अतः जब 'आम्' आदेश नहीं होगा तब 'औत्व' की प्राप्ति का संभव होने से ही 'ओत्व' के विधान से बननेवाले अनिष्ट रूप 'ददरिद्रो' की निवृत्ति के लिए 'औत्व' का विधान किया है ।

यह न्यायांश न होता तो 'औत्व' विधान के अवकाश का संभव ही नहीं रहता और 'औत्व' विधान अनवकाश होता तो औत्व विधान ही न किया होता । अत एव यह औत्व-विधान इस न्यायांश का ज्ञापक है ।

ज्ञापकनिर्दिष्ट-: ज्ञापकनिर्दिष्ट अर्थात् 'सूत्र' में किये गए निर्देश से या 'गणपाठ' में किये गए निर्देश से सिद्ध माना जाता कार्य ज्ञापकनिर्दिष्ट कहलाता है और वह अनित्य है । उदा. 'दशैकादशादिकश्च' ६/४/३६ सूत्र में 'दशैकादश' शब्द का अकारान्त निर्देश है अतः 'दशैकादशान् गृह्णाति' प्रयोग होता है किन्तु सूत्र निर्दिष्ट 'दशैकादश' शब्द का 'अदन्तत्व', इस न्यायांश से अनित्य होने के कारण

'दशैकादश गृह्णाति' प्रयोग में दिखायी पडता नकारान्त प्रयोग भी अबाधित ही है।

'पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः' २/३/६४ सूत्रगत 'अगः' शब्द इस न्यायांश का ज्ञापक है। 'ऋगयनम्' इत्यादि प्रयोग में 'णत्व' का निषेध करने के लिए 'अगः' कहा है। 'शिक्षादेश्चाण्' ६/३/१४८ सूत्रगत-'शिक्षादि' गण में 'ऋगयनम्' इस प्रकार नकारयुक्त ही पाठ है, किन्तु यह 'नत्व' ज्ञापकनिर्दिष्ट होने से अनित्य है, अतः 'ऋगयनम्' में णत्व की प्राप्ति हो जाती है। वही णत्व इष्ट नहीं है, अत एव 'पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः' २/३/६४ में 'अगः' शब्द को रखकर इस प्रयोग और ऐसे अन्य प्रयोग में 'णत्व' का निषेध किया है।

इस न्यायांश में उदाहरण 'सूत्रनिर्देशरूप ज्ञापक' का बताया है जबकि ज्ञापक 'गणपाठ-निर्देशरूपज्ञापक' का बताया है।

गणनिर्दिष्ट-: 'कुटिता, कुटितुम्' इत्यादि प्रयोग में 'कुटादेर्ङिद्वदञ्णित्' ४/३/१७ से 'ता' (तृच्) और 'तुम्' प्रत्ययों को कुटादिगणनिर्दिष्ट 'ङित्त्व' प्राप्त हुआ, अतः धातु के उपान्त्य 'उ' का गुण नहीं हुआ। जबकि 'व्यचत् व्याजीकरणे' धातु से 'परोक्षा' का 'थव्' प्रत्यय होने पर 'विव्यचिथ' रूप होगा। इस प्रयोग में धातु का द्वित्व होने के बाद पूर्व के 'सस्वरान्तस्था' का 'ज्या-व्ये-व्यधि-व्यचि-व्यथेरिः' ४/१/७१ से य्वृत् होकर 'इ' होगा किन्तु 'कुटादेर्ङिद्वदञ्णित्' ४/३/१७ से होनेवाला ङित्त्व गण निर्दिष्ट होने से अनित्य होगा। अतः 'थव्' प्रत्यय ङिद्वद् नहीं होने से 'व्यचोऽनसि' ४/१/८२ सूत्र से य्वृत् नहीं होगा और 'विविचिथ' स्वरूप अनिष्ट रूप नहीं होगा।

इस प्रयोग में य्वृत् के निषेध के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है, वह इस न्याय का ज्ञापक है।

नञ्निर्दिष्ट-: 'क्रुङ् उ आस्ते, क्रुङ्ङ्वास्ते, किम् उ आवपनं, किम्वावपनं' इन दोनों प्रयोग में 'अञ्वर्गात्स्वरे वोऽसन्' १/२/४० से 'व कार' असत् होगा, अतः 'कुङ्ङ्वास्ते' में 'ह्रस्वान्ङ्णनो द्वे' १/३/२७ से 'ङ्' का द्वित्व होगा और 'किम्वावपनं' में पदान्त में आये हुए 'म्' का 'तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ' १/३/१४ से अनुस्वार नहीं होगा।

यह 'असद्भाव' नञ्निर्दिष्ट होने से अनित्य है। अतः 'तद् उ अस्य मतं, तद्व्वस्य मतम्' प्रयोग में 'ततोऽस्याः' १/३/३४ से 'व' का द्वित्व होगा।

'व्याप्तौ स्सात्' ७/२/१३० सूत्र में 'सात्' प्रत्यय को द्वित्वयुक्तसकारवाला किया है, वह इस न्यायांश का ज्ञापक है। 'अग्निसात्' इत्यादि प्रयोग में 'षत्व' का निषेध करने के लिए यह 'द्विसकारपाठ' किया गया है। यदि यह न्यायांश न होता, तो 'अग्निसात्' शब्द में षत्व की प्राप्ति ही नहीं थी क्योंकि 'सात्' का 'स' 'वृत्त्यन्तोऽसषे' १/१/२५ से 'पदादित्व' प्राप्त करता है। वह इस प्रकार-:

वृत्त्यन्तोऽसषे १/१/२५ सूत्र का अर्थ यह है कि 'वृत्ति' अर्थात् 'समास, कृत्, तद्धित'

इत्यादि वृत्तियों के अन्तिम अंश को पद संज्ञा नहीं होती है किन्तु 'स्' का 'ष्' होने की प्राप्ति हो, तो, वहाँ 'वृत्ति' के अन्तिम अंश को पदसंज्ञा नहीं होती है ऐसा नहीं है अर्थात् पूर्व अप्राप्त पदसंज्ञा उसकी होती ही है । अतः 'स्सात्' शब्द 'तद्धित' का प्रत्यय होने से पूर्व अप्राप्त पदसंज्ञा 'वृत्त्यन्तोऽसषे' १/१/२५ सूत्र के 'असषे' अंश से होगी, अतः 'स' पद के आदि में आया होने से 'षत्व' की प्राप्ति ही नहीं है क्योंकि 'नाम्यन्तस्था' .....२/३/१५ सूत्र से होनेवाली 'षत्व' विधि, पद के मध्य में आये हुए 'स' की ही होती है । तो वही 'स्सात्' प्रत्यय के 'स' का 'ष्' न हो इसलिए 'द्विसकार' पाठ क्यों करना चाहिए ? अर्थात् नहीं करना चाहिए, तथापि किया है, उससे सूचित होता है कि केवल 'असषे' अंश से होनेवाली पदविधि 'नञ्निर्दिष्ट' होने से अनित्य है । अतः जब यह नञ्निर्दिष्ट विधि [असषे] से 'स्सात्' को पदत्व नहीं होगा तब वही 'स्सात्' का 'स' पद के मध्य में आने से, उसका 'ष' हो जायेगा वही न हो इसलिए 'स्सात्' का द्विसकारयुक्त पाठ किया है ।

यह न्याय उसके प्रत्येक अंश में अनित्य है अत एव कुछेक 'समासान्त, आगम,' तथा 'संज्ञा, ज्ञापक, गण, नञ्' से निर्दिष्ट कार्य ही अनित्य है, जब शेष 'समासान्त, आगम' आदि छः कार्य नित्य ही हैं अर्थात् अपने-अपने विषय में उसकी प्रवृत्ति होती ही है ।

उदा. (१) 'इच् युद्धे' ७/३/७४ से होनेवाला 'इच्' समासान्त 'केशाकेशि' इत्यादि प्रयोग में होता ही है ।

(२) 'स्वराच्छौ' १/४/६५ से होनेवाला 'न' का आगम 'कुण्डानि' इत्यादि रूप में होगा ही ।

(३) स्वर संज्ञा निर्दिष्ट य, व, र, ल् 'इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्' १/२/२१ से 'दध्यत्र' इत्यादि प्रयोग में होगा ही ।

(४) 'ऊर्ध्वमौहूर्तिक' शब्द में उत्तरपद के आद्य स्वर की वृद्धि 'सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्त्तिके' ५/४/३० सूत्र निर्दिष्ट-सौत्रनिर्देशरूपज्ञापक निर्दिष्ट होने पर भी अनित्य नहीं है, नित्य ही है ।

(५) 'अजादेः' २/४/१६ सूत्र में 'अजादिगणनिर्दिष्ट' आप् प्रत्यय 'अजा' इत्यादि प्रयोग में होता ही है ।

(६) 'अनवर्णा नामी' १/१/६ सूत्र में 'नामिन्' संज्ञा में अवर्ण का वर्जन 'नञ्निर्दिष्ट' होने पर भी नित्य ही है ।

श्रीहेमहंसगणि ने इस न्याय को अनित्य बताया है इसका अर्थ यह है कि कुछेक 'समासान्त' आदि कार्य नित्य ही है । इस न्याय का स्वरूप ही अनित्य होने से, उसकी अनित्यता बताना आवश्यक नहीं है ।

श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इस न्याय का पूर्णतयाज्ञापन करने के बाद उसके अनित्यत्व/

निबर्लता का जो आश्रय किया है वह उचित नहीं है । अनित्यत्व को बतानेवाले इस न्याय के अनित्यत्व से ये सब विधियाँ नित्य हो जाती हैं और यही नित्यत्व स्वतः सिद्ध ही है । अतः इसके लिए इस न्याय की अनित्यता का आश्रय करने से गौरव होगा । इस न्याय द्वारा इन सब विधियों का अनित्यत्व बताने से ही 'क्वाचित्कत्व' और 'कादाचित्कत्व' स्पष्ट हो जाता है और वह अनित्यत्व केवल 'इष्ट प्रयोग' की सिद्धि करने के लिए ही है । अतः इष्ट प्रयोग की सिद्धि के लिए पुनः इस न्याय के अनित्यत्व का आश्रय करना व्यर्थ ही है । 'समासान्त' इत्यादि का 'नित्यत्व स्वतः सिद्ध ही है, अतः लक्ष्यानुसार, उसकी 'स्याद्वाद' के आश्रय द्वारा क्वचित् प्रवृति नहीं होती है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।

इस न्याय के बारे में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इस न्याय के समासान्त विधि की अनित्यता के बहुत से उदाहरण देखने को मिलते हैं किन्तु 'आगम' तथा 'संज्ञा, ज्ञापक, गण और नञ्' निर्दिष्ट कार्य की अनित्यता के विशेष उदाहरण नहीं मिलते हैं । अतः इसके अनित्यत्व के ज्ञापन का कोई फल नहीं है इसलिए इस न्याय का स्वीकार नहीं करना चाहिए ।

पाणिनीय परम्परा में श्रीनागेशभट्ट ने 'परिभाषेन्दुशेखर' में 'संज्ञापूर्वकमनित्यम्, आगमशास्त्रमनित्यम्, गणकार्यमनित्यम्, अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्, नञ्घटितमनित्यम्' इत्यादि न्यायों का उल्लेख करके उनके ज्ञापक इत्यादि के फल बताकर ये सब न्याय महाभाष्य में पठित नहीं हैं कहकर, इनका विविध प्रकार से खंडन किया है । उसी प्रकार श्रीलावण्यसूरिजी ने पाणिनीय परम्परानुसार इन न्यायों का खंडन करके कहा है कि यहाँ दूसरी व्यवस्था करनी चाहिए या पाणिनीय परम्परानुसार व्यवस्था की गई होती तो, इन सब न्यायों की कोई आवश्यकता नहीं रहती ।

यहाँ श्रीहेमहंसगणि ने "णत्वनिषेधश्च 'शिक्षादेश्चाण्' ६/३/१४० इति सूत्रोक्ते शिक्षादिगणे ऋगयनम् इति नान्त पाठरूपाज्ज्ञापकादपि सिद्ध्यति ।" वाक्य में 'ऋगयन' शब्द को 'नत्व युक्त' या 'नत्वविशिष्ट' कहने की जगह 'नान्तपाठरूप' कहा, यह उचित नहीं है क्योंकि 'ऋगयन' शब्द अकारान्त है । यदि यह नकारान्त ही होता तो किसी भी सूत्र से 'णत्व' होने की प्राप्ति ही नहीं होती । अतः 'णत्व' के निषेध के लिए, 'अगः' शब्द के उदाहरण स्वरूप में अर्थात् 'पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः' २/३/६४ के प्रत्युदाहरण स्वरूप 'ऋगयनम्' प्रयोग उचित नहीं लगता, तथापि 'पूर्वपदस्था....'२/३/६४ सूत्र के प्रत्युदाहरण में 'ऋगयनम्' प्रयोग रखा वह इसके 'अदन्तत्व' की सिद्धि करता है । अतः 'न्यायसंग्रह' में श्रीहेमहंसगणि ने जो 'नान्तपाठरूपाद्' कहा, वह अनुचित है और इसके स्थान पर 'नत्वविशिष्ट पाठरूपाद्' कहना चाहिए ।

सभी परिभाषासंग्रहों में ये छः कार्य भिन्न-भिन्न न्यायों के रूप में अनित्य बताये हैं । उन सभी को यहाँ एक ही न्याय में सम्मिलित किये गये हैं ।

॥३६॥ पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥

पूर्वोक्त अपवाद अनन्तर विधि-सूत्रों का बाध करतें हैं किन्तु उसके बाद के परम्परित विधि-सूत्रों का बाध नहीं करतें हैं ।

पूर्वोक्त बाधक/अपवाद-सूत्र, बाद में कहे जानेवाले बाध्य विधि-सूत्रों में से अनन्तर विधि-सूत्रों का ही बाध करते हैं किन्तु व्यवहित/परंपरित विधि-सूत्र का बाध नहीं करते हैं । व्यवहित विधि-सूत्र के निषेध को यह न्याय रोकता है ।

उदा. 'शिलषः' ३/४/५६ सूत्र से होनेवाला 'सक्' अनन्तर विधि स्वरूप 'लृदित्-द्युतादि-पुष्यादेः -' ३/४/६४ से होनेवाले 'अङ्' का ही बाध करेगा, किन्तु व्यवहित विधिस्वरूप 'भावकर्मणोः' ३/४/६८ से होनेवाले 'ञिच्' का बाध नहीं करता है । अतः 'आश्लिक्षत् कन्यां चैत्रः' में 'सक्' से 'अङ्' का बाध होने पर 'अङ्' नही होगा । किन्तु 'आश्लेषि कन्या चैत्रेण' में 'सक्' से 'ञिच्' का बाध नहीं होने से, निःसंकोच 'ञिच्' होगा किन्तु 'सक्' नहीं होगा ।

'सक्, अङ्' और 'ञिच्' सम्बन्धित सूत्रों का उपन्यास-क्रम ही इस न्याय का ज्ञापक है । 'सक्' प्रत्यय, 'अङ्' और 'ञिच्' दोनों का अपवाद होता है तथापि 'अङ्' का बाध करना इष्ट है, किन्तु 'ञिच्' का बाध इष्ट नहीं है, अतः यदि 'अङ्' प्रत्यय सम्बन्धित सूत्ररचना के बाद 'सक्' सम्बन्धित सूत्र का उपन्यास किया होता तो बाध्य की उक्ति के बाद बाधक की उक्ति होती और वही समर्थ/योग्य पक्ष होने से इस प्रकार का आदर करना न्याय्य है । और अनिष्ट 'ञिच्' का बाध भी, इस न्याय के बाद आनेवाले/अगले न्याय 'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' से दूर हो जाता था तथापि प्रथम बाधक की उक्ति, बाद में बाध्य की उक्ति-स्वरूप असमर्थ पक्ष का आश्रय किया वह इस न्याय से इष्ट सिद्धि हो ही जाएगी, ऐसे आशय से किया है ।

यह न्याय अनित्य है क्योंकि 'शिश्रियुः' इत्यादि प्रयोग में 'संयोगात्' २/१/५२ सूत्र से किया गया 'इय्' आदेश/अनन्तर सूत्र से विहित 'यत्व' का जैसे बाध करता है वैसे 'यवक्रियौ' इत्यादि प्रयोग में भी 'क्विबवृत्तेरसुधियस्तौ' २/१/५८ से होनेवाले 'यत्व' का भी बाध करता है । यदि यह न्याय नित्य होता तो व्यवहित सूत्र से होनेवाला 'यत्व' का बाध कदापि नहीं हो सकता है ।

प्रथम 'सक्' सम्बन्धित सूत्र, बाद में 'अङ्' सम्बन्धित सूत्र और अन्त में 'ञिच्' सम्बन्धित सूत्र का उपन्यास-क्रम ही इस न्याय का ज्ञापक है, ऐसा श्रीहेमहंसगणि का विधान उपयुक्त नहीं है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं । इसका कारण बताते हुए वे उपन्यास क्रम को सार्थक बता रहे हैं । वह इस प्रकार : 'अङ्' का अपवाद 'सक्' हो सकता है क्योंकि 'सक्' का विषय व्याप्य है और 'अङ्' का विषय व्यापक है । (यहाँ एक बात खास तौर से ध्यान में रखना कि 'शिलषः' ३/४/५६ से होनेवाले 'सक्' और 'लृदिद् द्युतादि...' ३/४/६४ से होनेवाले 'अङ्' के बीच ही व्याप्य/व्यापकभाव सम्बन्ध है, किन्तु 'हशिटो नाम्युपान्त्याद्...' ३/४/५५ से होनेवाले 'सक्' और 'शास्त्यसूवक्ति....' ३/४/६० से लेकर 'ऋदिच्छ्व-स्तम्भू...ज्रोवा' ३/४/६५ तक के सूत्र से होनेवाले

'अङ्' के बीच व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध नहीं है ।) अर्थात् 'सक्' का विषय केवल 'शिलष्' धातु ही है, जबकि 'अङ्' का विषय 'लृदित्, द्युतादि' और 'पुष्यादि' धातु है, जिसमें 'शिलष्' का समावेश हो जाता है । अतः 'सक्', 'अङ्' का अपवाद हो सकता है किन्तु 'ञिच्' का अपवाद नहीं हो सकता है क्योंकि 'ञिच्', 'भाव' और 'कर्म' में ही होता है । अतः भावे प्रयोग और कर्मणि प्रयोग से भिन्न कर्तरि प्रयोग में 'सक्' प्रत्यय के चारितार्थ का संभव है। संक्षेप में 'ञिच्' का और 'अङ्-सक्' का कार्यक्षेत्र भिन्न भिन्न होने से 'सक्' 'ञिच्' का अपवाद नहीं हो सकता है । 'ञिच्' के स्थान में 'सक्' या 'सक्' के स्थान में 'ञिच्' होने की संभावना होने पर ही, उन दोनों के बीच बाध्य-बाधकभाव सम्बन्ध स्थापित हो सकता है । अब 'भाष्योक्त' इस सिद्धान्त को मान लें, और 'ञिच्' का अपवाद 'सक्' है ऐसा मान लेने पर भी इस उपन्यासक्रम, इस न्याय का ज्ञापन करने को शक्तिमान् नहीं है, क्योंकि कर्तरि-अद्यतनी के प्रत्यय पर में आने पर होनेवाले सब प्रत्ययों का विधान करने के बाद, उपर्युक्त सब प्रत्ययों का बाध करने के लिए अन्त में भाव-कर्म में 'ञिच्' का विधान किया गया है ।

अद्यतनी में होनेवाले प्रत्ययों का उपन्यास क्रम इस प्रकार है । प्रकरण के आदि में ही, उत्सर्ग और व्यापक स्वरूप 'सिच्' का विधान किया, बाद में 'सक्' का इसके बाद आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों में होनेवाले 'ङ' का, उसके बाद केवल परस्मैपद में होनेवाले 'अङ्' विधान और अन्त में उपर्युक्त सब प्रत्ययों का बाधक/अपवाद स्वरूप केवल 'भाव-कर्म' में होनेवाले 'ञिच्' का विधान किया है । इस प्रकार इसी क्रम की अन्यथा उपपत्ति का संभव न होने से वह इस न्याय का ज्ञापक नहीं बनेगा ।

अपवादशास्त्र को अपने चारितार्थ्य के लिए परशास्त्र का अवश्य बाध करना होता है । यहाँ यदि अव्यवहित पर का बाध संभवित हो तो व्यवहित पर का बाध मानने में कोई प्रमाण नहीं है। यह सिद्धान्त प्रस्तुत न्याय के मूल में है ।

सामान्यतया उत्सर्गशास्त्र के बाद ही अपवादशास्त्र कहना उचित और न्याय्य है क्योंकि अपवाद के ज्ञान के लिए उत्सर्ग का ज्ञान होना जरूरी है, यह एक पक्ष है । दूसरा पक्ष कहता है कि प्रथम अपवादशास्त्र का विधान कर के, बाद में उतने अंश को छोडकर उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति होती है, अतः उत्सर्गशास्त्र का विधान बाद में करना चाहिए । प्रथम पक्ष 'लक्षणैकचक्षुष्क' का विषय है । जबकि द्वितीय पक्ष 'लक्ष्यैकचक्षुष्क' का विषय है । तथा प्रथम पक्ष ही शिष्य के लिए अनुकूल है, अतः उसका ही आदर करना चाहिए, तथापि यदि द्वितीय पक्ष का आश्रय किया गया हो तो, उसका कोई भी प्रयोजन होना ही चाहिए । वही प्रयोजन सूचक ही यह न्याय है । प्रयोजन यही है कि जब प्रथम अपवादशास्त्र का विधान किया गया हो तो, वह अनन्तरोक्त उत्सर्गसूत्र का ही बाध करता है किन्तु व्यवहित सहित संपूर्ण उत्सर्गशास्त्र का बाध नहीं करता है ।

'कातन्त्र' और 'कालाप' के सिवा अन्यत्र/सर्वत्र यह न्याय उपलब्ध है ।

॥३७॥ मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥

मध्य में कथित अपवाद-सूत्र, पूर्वोक्त विधिसूत्र का बाध करता है किन्तु बाद में आये हुए/अनन्तरोक्त विधिसूत्र का बाध नहीं करता है ।

पूर्व में आये हुए और बाद में आनेवाले बाध्यविधिसूत्रों के बीच आये हुए बाधक-सूत्र/अपवाद, पूर्व विधि/सूत्रों का बाध करता है किन्तु बाद में आनेवाले सूत्र का बाध नहीं करता है। ऊपर के न्याय से प्राप्त अनन्तर उत्तर विधि और सामान्यतया प्राप्त व्यवहित उत्तर विधि के निषेध को दूर करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. ब्रह्मभ्रूणवृत्रात् क्विप्' ५/१/१६१ से भूतकालअर्थ में होनेवाला 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'ब्रह्महा' इत्यादि रूप होंगे । यह 'क्विप्' प्रत्यय, पूर्वोक्त 'कर्मणोऽण्' ५/१/७२ से होने वाले 'अण्', 'ब्रह्मादिभ्यः' ५/१/८५ से होनेवाले 'टक्' और 'हनो णिन्' ५/१/१६० से होनेवाले 'णिन्' का बाधक है, किन्तु आगे वक्ष्यमाण 'क्त-क्तवतू' ५/१/१७४ से होनेवाले 'क्तवतु' प्रत्यय का बाध नहीं करेगा । अतः भूतकाल के अर्थ में 'ब्रह्मघातः, ब्रह्मघ्नः, ब्रह्मघाती' स्वरूप अनुक्रम से 'अण्, टक्' और 'णिन्' प्रत्ययान्त रूप नहीं होंगे किन्तु 'बह्महतवान्' स्वरूप 'क्तवतु' प्रत्ययान्त रूप होगा ही ।

इसी प्रकार के प्रयोग से ही इस न्याय का ज्ञापन होता है ।

यह न्याय और अगले तीनों न्याय अनित्य नहीं हैं ।

यहाँ 'ब्रह्मन्' कर्मपूर्वक 'हन्' धातु से 'कर्मणोऽण्' ५/१/७२ से होनेवाला 'अण्' और 'ब्रह्मादिभ्यः' ५/१/८५ से होनेवाला 'टक्' सामान्य काल में होता है । अतः वह सामान्य विहित कहा जाता है और 'हनो णिन्' ५/१/१६० से होनेवाला 'णिन्' यद्यपि भूतकाल अर्थ में होता है किन्तु उपपद विशेष की उक्ति नहीं होने से वह भी सामान्य ही माना जायेगा, अतः ये सब, विशेष विधान स्वरूप अपवाद सूत्र 'ब्रह्मभ्रूण-वृत्रात् क्विप्' - ५/१/१६१ से बाधित होंगे ।

श्रीहेमहंसगणि इस प्रकार के प्रयोग को ही इस न्याय का मूल मानते हैं । जबकि नवीन वैयाकरण कहते हैं कि वस्तुतः जो अपवादशास्त्र है, उसके बाधकताबीज का अनवकाशत्व क्षीण हो गया है अतः इसमें 'स्पर्द्धे ७/४/११९ परिभाषा से, बाध करने का सामर्थ्य नहीं रहता है । अतः अपने से उत्तर में स्थित उत्सर्गशास्त्र का बाधक नहीं बनता है और वही इस न्याय का बीज/मूल है ।

सामान्यतया अपवादशास्त्र समग्र/संपूर्ण उत्सर्गशास्त्र का बाध करता है किन्तु इस न्याय से उसके प्रदेश का संकोच होता है ।

यह न्याय व्याडि के परिभाषासूचन, कातन्त्र और कालाप के परिभाषासंग्रह में उपलब्ध नहीं हैं ।

॥३८॥ यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते ॥

जिस विधि के प्रति उपदेश/कथन/प्रवृत्ति अनर्थक हो वह विधिसूत्र बाध्य माना जाता है ।

'उपदेश' अर्थात् कथन या प्रवर्तन या प्रवृत्ति ।

जिस सूत्र की जहाँ प्रवृत्ति करने से कोई भी फल नहीं मिलता हो, वह सूत्र वहाँ बाध्य/बाधित माना जाता है अर्थात् उसी सूत्र की वहाँ प्रवृत्ति नहीं होती है ।

लोक में निष्फल भी मेघवृष्टि इत्यादि देखने को मिलता है किन्तु लक्षण(व्याकरण)शास्त्र में निष्फल प्रवृत्ति नहीं होती है, इसका सूचक यह न्याय है ।

उदा 'तनित्यजियजिभ्यो डद्' (उणादि-८९५) से 'उणादि' के 'डद्' प्रत्यय से 'तद्, त्यद्, यद्' आदि शब्द सिद्ध ही है । अतः यहाँ फिर से 'धुटस्तृतीयः' २/१/७६ से 'दत्व' विधि की प्राप्ति है किन्तु वह निष्फल होने से नहीं की जाती है ।

और 'सञ्चस्कार' इत्यादि प्रयोग में परोक्षा प्रत्यय पर में आने पर स्कृ स्कृ, इस प्रकार द्वित्व होने के बाद 'अघोषे शिटः' ४/१/४५ से प्रथम 'स्सट्' का लोप होगा बाद में फिर से वहीं पुनः पुनः 'स्सट्' होने की और इसका लोप होने की प्राप्ति है किन्तु वह निष्फल होने से नहीं होता है ।

इस न्याय का ज्ञापक इस प्रकार के रूपों की सिद्धि ही है । निष्फल कार्य करने से कदापि रूपों की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि वैसा करने से कदापि प्रक्रिया-विराम नहीं होता है । और जहाँ भी इस प्रकार प्रक्रिया के अनुपरम का प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति समझ लेना चाहिए ।

यह न्याय भी ऊपर के/पूर्वोक्त न्याय की तरह नित्य है ।

'लक्ष्य' के परिनिष्ठितत्व के लिए इस प्रकार के न्याय की आवश्यकता है, अन्यथा प्रक्रिया का उपरम/विराम कदापि नहीं हो सकता है और पद परिनिष्ठित नहीं बन पाता ।

॥३९॥ यस्य तु विधेर्निमित्तमस्ति नासौ विधिर्बाध्यते ॥

जिस विधि का निमित्त होता है, वही विधि बाधित नहीं होती है ।

जिस विधि का निमित्त अर्थात् प्रयोजन/हेतु और फल होता है वही विधि बाधित नहीं होती है अर्थात् सप्रयोजन और सफल विधि कभी भी बाधित नहीं होती है ।

उदा. 'तच्चारु' इत्यादि प्रयोग में 'तद्' का 'द्' स्वाभाविक होने पर भी उसका 'धुटस्तृतीयः' २/१/७६ से 'दत्व' करना ही पडेगा क्योंकि यही 'दत्व' विधि सप्रोजन और सफल है । यही दत्व विधि 'असदधिकार विहित' है, अतः 'तच्चारु' में 'चजः कगम्' २/१/८६ से पर कार्य करते समय वह असत् हो जायेगा अर्थात् च् का क् करते समय चत्व असत् हो जाने से, दत्व उपस्थित हो जायेगा

और च् का क् नहीं होगा। यदि 'धुटस्तृतीयः' २/१/७६ से दत्व विधि नहीं की जायेगी तो 'तवर्गस्य श्चवर्गष्टवर्गाभ्यां योगे चटवर्गौ' १/३/६० से होनेवाला जत्व और 'अघोषे प्रथमोऽशिटः' १/३/५० से होनेवाला चत्व असत् नहीं होगा और 'चजः कगम्' २/१/८६ से च् का क् निश्चित हो ही जायेगा।

संक्षेपमें 'धुटस्तृतीयः' २/१/७६ से होनेवाली दत्व विधि असदधिकारविहित होने से परकार्य करते समय वह असत् होगी किन्तु पूर्वकार्य करते समय वह असत् नहीं होगी, अतः 'तवर्गस्य श्चवर्ग'– १/३/६० से जत्व और उसी जत्व का 'अघोषे प्रथमोऽशिटः' १/३/५० से चत्व करते समय दत्व असत् नहीं होगा, किन्तु जब 'चजः कगम्' २/१/८६ से पर कार्य करते समय असत् दत्व के स्थान पर किये गये जत्व और चत्व दोनों असत् होंगे और 'चजः कगम्' २/१/८६ से होनेवाले गत्व और कत्व होने की संभावना भी नष्ट हो जायेगी।

इस न्याय के ज्ञापक इसी प्रकार के रूप या प्रयोग ही हैं। वह इस प्रकार -: यदि यह न्याय नहीं होता तो 'द' की दत्व विधि न होने पर वह असत् नहीं होता और (अतः) गत्व और कत्व का निवारण किसी प्रकार से नहीं होने से तक्चारु रूप ही होता किन्तु तच्चारु रूप नहीं हो सकता अतः इस प्रकार के रूप या प्रयोग ही इस न्याय के ज्ञापक हैं।

यह न्याय अनित्य है।

आ. श्रीलावण्यसूरिजी, इस न्याय की और इसके पूर्ववर्ती न्याय 'यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः' ....॥३८॥ की इस प्रकार की व्याख्या को उचित नहीं मानते हैं। क्योंकि ऐसा करने से 'अनर्थकता' का प्रसंग उपस्थित होता है। वह इस प्रकार :-

पूर्ववर्ती न्याय से निष्प्रयोजक विधि की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि ऐसा करने से क्रिया के 'अनुपरम' की आपत्ति आती है। किन्तु यह बात उपयुक्त/उचित नहीं लगती है क्योंकि आगे आनेवाले 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' न्याय में कहा गया है कि किसी भी क्रिया का तत्कालीन फल यदि प्राप्त न हो तो भी, वही तत्कालीन फल की अपेक्षा बिना रखे ही, शास्त्र की प्रवृत्ति करनी चाहिए।

यहाँ 'तच्चारु' इत्यादि प्रयोग के लिए 'तद्' में 'धुटस्तृतीयः' २/१/७६ की प्रवृत्ति करना इष्ट है, अतः अकेले 'तद्' में भी 'धुटस्तृतीयः' २/१/७६ की प्रवृत्ति करनी चाहिए क्योंकि वह सर्वथा/ पूर्णतः अनर्थक नहीं है। यदि वह सर्वथा अनर्थक होती तो ऐसी अनर्थक प्रवृत्ति का विधान शास्त्र में क्यों किया जाय?

इसका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीहेमहंसगणि इस न्याय के न्यास में कहते हैं कि व्यर्थविधि नहीं करना चाहिए ऐसा इस न्याय का अर्थ होने से 'गोपायति, पापच्यते, 'इत्यादि में धातु/अंग अकारान्त होने से वहाँ 'कर्तर्यनद्भ्यः शव्' ३/४/७१ से शव् करना नहीं चाहिए और तो 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' न्याय निर्विषयक हो जायेगा, अतः जहाँ पर क्रिया के 'अनुपरम' का प्रसंग उपस्थित होता है, वहाँ ही इस न्याय की प्रवृत्ति करनी चाहिए, अन्य किसी स्थान पर नहीं।

श्रीहेमहंसगणि की इस 'बात' का प्रत्युत्तर देते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि व्यापार/सूत्रप्रवृत्ति के अनुपरम को दूर करने के लिए भी इस न्याय की जरूरत नहीं है क्योंकि एक नियम/सिद्धांत/न्याय ऐसा है कि 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते ।' यह न्याय भाष्य में से ध्वनित होता है। अतः इस न्याय से किसी भी सूत्र की उसी ही लक्ष्य में दूसरी बार प्रवृत्ति नहीं होगी । महाभाष्य में बताया है कि 'अकृतकारि खल्वपि शास्त्रं', 'अग्निवत्' जैसे अग्नि जले हुए को फिर दूसरी बार जलाता नहीं है वैसे शास्त्र भी किये हुए कार्य को पुनः करता नहीं है ।

संक्षेप में, 'यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते' न्याय भी इसी बात को ही बताता है, अतः दोनों समान ही हैं, किन्तु इस न्याय के उदाहरण में 'तद्' रूप/प्रयोग बताया है वह इसी न्याय के लिए उपयुक्त नहीं है ऐसी मेरी मान्यता है ।

इन दोनों न्यायों में से प्रथम न्याय 'न्यायसंग्रह' के पूर्ववर्ती परिभाषासंग्रह में से भावमिश्रकृत-कातन्त्र परिभाषावृत्ति और जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति में ही नहीं है, इसे छोड़कर अन्य सब परिभाषासंग्रहों में है । और द्वितीय न्याय शाकटायन, भावमिश्रकृत कातन्त्रपरिभाषावृत्ति और जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति में नहीं है ।

और 'न्यायसंग्रह' के पश्चाद्वर्ती किसी भी परिभाषासंग्रह में ये दोनों न्याय उपलब्ध नहीं हैं अतः ऐसा माना जा सकता है कि श्रीहेमहंसगणि के बाद इन न्यायों का न्याय/परिभाषा के स्वरूप में खंडन किया गया होने से पश्चाद्वर्ती परिभाषासंग्रहों में इसे परिभाषा के स्वरूप में मान्यता प्राप्त नहीं हुई है । जबकि 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' न्याय, भाष्य के आधार पर केवल नागेश भट्ट ने 'परिभाषेन्दुशेखर' में संगृहीत किया है ।

॥४०॥ येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यैव बाधकः ॥

जिस विधि द्वारा, जो अवश्य प्राप्त हो, तथापि उसके लिए जिस विधि का आरंभ किया जाय, वही विधि, अवश्य प्राप्त विधि का ही बाध करती है ।

'नाऽप्राप्ते' में भाव में 'क्त' प्रत्यय हुआ है और 'येन' शब्द में कर्ता से तृतीया विभक्ति हुई है । जिस विधि द्वारा, जो 'नाऽप्राप्ते' अर्थात् अवश्य प्राप्त ही हो, तथापि उसके लिए जिस विधि का आरंभ किया जाता है वह निश्चय ही 'अवश्य प्राप्तिमान्' विधि का ही बाध करती है किन्तु 'प्राप्त्यप्राप्तिमान्' विधि का बाध नहीं करती है ।

'प्राप्त्यप्राप्तिमान्' विधि के बाधकत्व का निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'विद्वत्कुलं, विद्वान्, हे विद्वन्' इत्यादि प्रयोग में सर्वत्र ही 'सो रुः' २/१/७२ से रुत्व की प्राप्ति है ही, और 'स्वनडुत्कुलं, अनड्वान्, हे अनड्वन्' इत्यादि प्रयोग में सर्वत्र 'हो धुट्पदान्ते' २/१/८२ से 'ढत्व' की प्राप्ति है ही, जबकि 'पदस्य' २/१/८९ से प्राप्त 'संयोगान्तलोप' 'विद्वान्, हे विद्वन्, अनड्वान्, हे अनड्वन्' इत्यादि रूपों में 'ऋदुदितः' १/४/७० से 'न्' का आगम होने

के बाद ही होगा, किन्तु 'विद्वत्कुलं, स्वनडुत्कुलं' इत्यादि प्रयोग में 'पदस्य' २/१/८९ से संयोगान्त लोप की प्राप्ति नहीं है क्योंकि वहाँ धुट् का अभाव होने से 'न्' का आगम नहीं होगा, अतः संयोग नहीं मिलने के कारण 'पदस्य' २/१/८९ से होनेवाली विधि प्राप्त्यप्राप्तिमान् विधि है ।

ऐसी परिस्थिति होने पर भी 'रुत्व, ढत्व' और 'संयोगान्तलोप' का बाध करने के लिए 'स्रंसध्वंस् क्वस्सनडुहो दः' २/१/६८ से 'दत्व' विधि का आरंभ किया, किन्तु यह न्याय होने से वह दत्व विधि का सूत्र 'स्रंसध्वंस्....२/१/६८ 'अवश्य प्राप्तिमान रुत्व, ढत्व विधि का ही बाध करने में समर्थ होगा किन्तु प्राप्त्यप्राप्तिमान् संयोगान्तलोप का बाध नहीं कर सकता है, अतः 'विद्वत्कुलं स्वनडुत्कुलं' इत्यादि प्रयोग में अनुक्रम से रुत्व, ढत्व का बाध करके 'दत्व' ही होगा, और, 'विद्वान्, हे विद्वन्, अनड्वान्, हे अनड्वन्' इत्यादि प्रयोग में 'संयोगान्तलोप' का बाध करने में यह न्याय शक्तिमान्/समर्थ नहीं होने से 'पदस्य' २/१/८९ से संयोगान्तलोप होगा ही ।

'क्वस्' प्रत्यय का विशेषण, 'स्' इस न्याय का ज्ञापक है, वह इस प्रकार है- 'स्रंसध्वंसक्व-स्सनडुहो दः' २/१/६८ से होनेवाली दत्व विधि से क्वस् के 'स्' का 'द्' होगा अर्थात् 'सो रुः' २/१/७२ से प्राप्त रुत्वविधि का बाध करके 'क्वस्' के 'स्' का 'द्' होगा, । उसी ही तरह 'क्वस्' का 'स्' 'विद्वान्' इत्यादि प्रयोग में संयोगान्त होने से 'पदस्य' २/१/८९ होनेवाले संयोगान्त लोप का बाध करेगा तो, वहीं भी सकारान्त क्वस् प्रत्यय मिलेगा । उसका भी 'द्' होगा तो क्वस् के सकारान्तत्व का अभाव कहीं नहीं मिलेगा, अतः 'क्वस्' का विशेषण 'स्' व्यर्थ हो जाता है । यही विशेषण व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है । 'सो रुः' २/१/७२ से होनेवाली रुत्व विधि का वह बाध करता है क्योंकि वह अवश्य 'प्राप्तिमान्' है, जबकि 'पदस्य' २/१/८९ से संयोगान्त लोप होगा ही क्योंकि वह प्राप्त्यप्राप्तिमान् कार्य है । तब क्वस् प्रत्यय सकारान्त नहीं मिलेगा, अतः 'क्वस्' का स् विशेषण सार्थक होगा और 'दत्व' विधि 'रुत्व' का बाध कर सकेगी किन्तु संयोगान्तलोप का बाध नहीं कर सकेगी, अतः 'विद्वान्, हे विद्वन्' इत्यादि प्रयोग में 'न्' कार की 'दत्व' विधि भी नहीं होगी, किन्तु यदि क्वस् का 'स्' रूप विशेषण नहीं होता तो, 'विद्वान्, हे विद्वन्' इत्यादि में क्वस् प्रत्यय होने से न् कार का भी दत्व हो ही जायेगा ।

इस न्याय के बाद आनेवाले न्याय 'बलवन्नित्यमनित्यात्' ॥४१॥ से इस खंड के उपान्त्य अर्थात् 'अपवादात्क्वचिदुत्सर्गोऽपि' ॥ ५६॥ तक के न्यायों में सूत्रों के 'बलाबल' का विचार किया गया होने से वे 'बलाबलोक्ति' न्याय कहे जाते हैं ।

पूर्व के चार (पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते..॥३६॥ मध्येऽपजादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते......॥३७॥ यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः....॥३८॥ यस्य तु विधे र्निमित्तमस्ति...॥३९॥) न्याय द्वारा अपवादशास्त्र की व्यवस्था का वर्णन किया गया है । अतः अब अपवाद किसे कहा जाता है, उसकी व्याख्या के स्वरूप में यह न्याय बताया गया है ।

इस न्याय में आये हुए 'एव' शब्द को भिन्न स्थान पर रखकर भी व्याख्या की जाती है । अर्थात् उसमें 'स तस्य बाधक एव' स्वरूप में 'एव' रखकर न्याय का अर्थ इस प्रकार होगा ।

१२

जिस विधि द्वारा जो कार्य 'नाऽप्राप्त' अर्थात् अवश्य प्राप्त ही हो, तथापि अन्य विधिसूत्र का आरंभ होता है वह विधिसूत्र अवश्य प्राप्तिमान् विधि का बाध करता ही है। यदि इस प्रकार अवश्य प्राप्तिमान् विधि का बाध न करेगा तो वह नवीन आरंभ किया गया विधिसूत्र व्यर्थ होता है।

पाणिनीय व्याकरण में इस न्याय में 'एव' कार रखा नहीं गया है, यहाँ सिद्धहेम में पूर्वकथित न्याय द्वारा, कदाचित् अपवाद में भी बाधकत्व आता नहीं है, अतः यहाँ 'एव' शब्द रखा गया है किन्तु पाणिनीय व्याकरण में इस न्याय का स्वतंत्र न्याय के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु अपवाद किसे कहा जाय ? इसका परिचय और व्याख्या बतानेवाले वाक्य के स्वरूप में स्वीकार किया गया है।

यदि इस न्याय की 'एव' कार रहित या 'स तस्य बाधक एव' इस प्रकार की व्याख्या की जाय तो अवश्य प्राप्तिमान् 'रुत्व', 'ढत्व' का 'दत्व' विधि बाध करेगी ही। और संयोगान्तलोप अवश्य प्राप्तिमान् नहीं होने से इस विषय में यह न्याय उदासीन रहेगा अर्थात् वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होगी तब 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ परिभाषा सूत्र से व्यवस्था करने पर 'पदस्य' २/१/८९ सूत्र, 'सो रुः' २/१/७२ से पर होने से 'विद्वान्' इत्यादि रूप सिद्ध हो सकेंगे 'सन्त' ऐसा क्वस् का विशेषण स्वतः चरितार्थ ही है क्योंकि उसके द्वारा 'संयोगान्त लोप का बाध नहीं होता है, अतः वह इस न्याय का ज्ञापक नहीं बन सकता है।

किन्तु पूर्व की तरह 'स तस्यैव बाधकः' इस प्रकार एवकार रखने पर उसका ज्ञापक बनता है।

यहाँ बाध का अर्थ क्या है ? प्रश्न का विचारविमर्श करके श्रीलावण्यसूरिजी बाध के चार स्वरूप बता रहे हैं। बाध के बारे में पूर्वपक्षस्थापन करते हुए वे कहते हैं कि यदि व्यापकधर्मसे अविच्छिन्नधर्मी (व्यापकधर्मयुक्त धर्मी) में, व्याप्यधर्मवाले धर्मी से अतिरिक्त का ग्रहण होता है, ऐसा 'बाध' पद का अर्थ करने पर 'आटतुः' इत्यादि स्थल में द्वित्व नहीं होगा। उनके तर्क का तात्पर्य इस प्रकार है। 'स्वरादेर्द्वितीयः' ४/१/४ व्याप्य है और 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ व्यापक है। यहाँ ऊपर बताया उसी प्रकार बाध का अर्थ लेने पर 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा – धातु का आदिभूत जो स्वर, उससे भिन्न स्वरयुक्त, जो प्रथम एक स्वरयुक्त अंश उसका द्वित्व होता है किन्तु 'अट्' में इस प्रकार की परिस्थिति प्राप्त नहीं होने से 'अट्' का द्वित्व नहीं होगा।

श्रीलावण्यसूरिजी की यह बात उचित नहीं है। सिद्धहेम की व्यवस्था के बारे में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि सिद्धहेम में धातु का द्वित्व विधान 'द्विर्धातुः परोक्षा ङे प्राक् तु स्वरे स्वरविधेः'- ४/१/१ से शुरू होता है और 'हवः शिति' ४/१/१२ तक चलता है। उसमें प्रथम सूत्र सर्वसामान्य सूत्र है, जबकि 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ और 'स्वरादेर्द्वितीयः' ४/१/४ अपवाद सूत्र है। और 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ सूत्र अनेकस्वरयुक्त प्रत्येक धातु के लिए सामान्य है, जबकि 'स्वरादेर्द्वितीयः' ४/१/४ स्वरादि अनेक स्वरयुक्त धातु के लिए ही है, अतः अनेक स्वरयुक्त धातुओ कों छोड़कर केवल एक स्वरयुक्त प्रत्येक धातु का द्वित्व 'द्विर्धातुः परोक्षा ङे प्राक्

तु स्वरे' .....४/१/१ सूत्र से ही होता है, अतः यहाँ 'आटतुः' में 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ या 'स्वरादेर्द्वितीयः' ४/१/४ द्वारा अट् का द्वित्व नहीं होता है ।

'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ का अर्थ इस प्रकार है । 'स्वरादि से भिन्न अनेक स्वरयुक्त धातु के एक स्वरयुक्त आदि-*अंश का द्वित्व होता है ।' और यहाँ अट् स्वरादि है किन्तु अनेक स्वरयुक्त* नहीं है, अतः यहाँ उसका द्वित्व नहीं होगा ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ और 'स्वरादेर्द्वितीयः' ४/१/४ के बीच परस्पर बाध्यबाधकभाव बताया है, वह सही है किन्तु 'आटतुः' सिद्ध करने में 'आद्योंऽश एकस्वरः'-४/१/२ से द्वित्व करने का प्रयत्न किया है और उसके द्वारा बताया है कि 'स्वरादेर्द्वितीयः' ४/१/४ सूत्र के क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र में 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ की प्रवृत्ति होनी चाहिए । यहाँ 'अट्' धातु 'स्वरादेर्द्वितीयः' ४/१/४ के क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र में आता है किन्तु तथापि यहाँ 'आद्योंऽश एक स्वरः '४/१/२ की प्रवृत्ति नहीं होती है।

पाणिनीय परंपरा के अनुसार 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ को उन्होंने सर्वसामान्य मानकर, उसकी यहाँ प्रवृत्ति की है, किन्तु ऊपर बताया उसी प्रकार सर्वसामान्य धातु का द्वित्व, 'द्विर्धातुः परोक्षा ङे प्राक् तु स्वरे स्वरविधेः' ४/१/१ से ही होता है । यहाँ 'आटतुः' प्रयोग उसी सूत्र से ही सिद्ध होता है किन्तु 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ से नहीं ।

'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ सूत्र अनेक स्वरयुक्त धातुओं के लिए ही है ऐसी कोई स्पष्टता सूत्र में नहीं की गई है तथापि उसी सूत्र की वृत्तिमें 'अनेकस्वरस्य' विशेषण रखा है वह किस आधार पर ? उसकी चर्चा इस प्रकार हो सकती है । सामान्य रूप से पूर्वसूत्र में प्रयुक्त शब्द या पद की उपस्थति उसके बाद आनेवाले सूत्र में हो सकती है । यहाँ 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ से पूर्व स्थित 'द्विर्धातुः परोक्षा ङे' .... ४/१/१ सूत्र में केवल सामान्य रूप से धातु के द्वित्व का विधान किया गया है, अतः वहाँ अनेकस्वरस्य विशेषण रखा गया नहीं है, कि जिस के आधार पर 'यहाँ अनेक स्वरस्य' पद की अनुवृत्ति हो सके । तथापि वृत्ति में 'अनेकस्वरस्य' क्यों रखा गया है ? उसकी स्पष्टता करते हुए 'सिद्धहेमबृहद्वृत्ति' में बताया है कि एकस्वरस्य पूर्वेणैव सिद्धेऽत्र तस्य द्वित्वं अनेन कृते फलाभावः इत्यतः 'अनेकस्वरस्य' ग्रहणम् । इस प्रकार 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ में 'अनेक स्वरस्य' 'धातोः' का विशेषण होता है ।

संक्षेप में; 'व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिः' ॥६४॥ न्याय से यहाँ वृत्ति में 'अनेकस्वरस्य' का ग्रहण किया है ऐसा समझना उचित है ।

इस प्रकार 'आटतुः' में 'अट्' के द्वित्व के लिए 'आद्योंऽश एकस्वरः' ४/१/२ के स्थान पर 'द्विर्धातुः परोक्षा ङे' ...४/१/१ सूत्र की प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने चार प्रकार के बाधबीज बताये हैं ।

(१) तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यम् (२) तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्ये सति कृते चारितार्थ्यम् (३)

तद्प्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्ये सति कृतेऽचारितार्थ्यम् । (४) तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्ये सत्यपवादशास्त्र प्रवृत्त्युत्तरमुत्सर्गशास्त्रप्रवृत्तावशास्त्रप्रणयनवैयर्थ्यसम्भावना ।

इन चारों प्रकार के बाध-बीज का सिद्धहेम-व्याकरण में कहाँ किस प्रकार प्रयोग किया गया है, उसका उन्होंने इसी न्याय संबंधित 'तरंग' नामक वृत्ति में विस्तृत रूप से विवेचन किया है (जिज्ञासुओं को वहाँ से देख लेने की विज्ञप्ति है ।) अन्त में वे बताते हैं कि अन्य लोगों के मतानुसार, सर्वत्र केवल प्रथम बाधबीज से ही निर्वाह हो सकता है और अन्त में उन्होंने भी यह मान्य किया है ऐसा लगता है ।

यह न्याय कातन्त्र के तीनों परिभाषा-संग्रह, कालाप व जैनन्द्र परिभाषावृत्ति में प्राप्त नहीं है और पाणिनीय परम्परा के पुरुषोत्तमदेवकृत परिभाषावृत्ति, सीरदेवकृत परिभाषावृत्ति, हरिभास्करकृत परिभाषावृत्ति को छोड़कर अन्य परिभाषा-संग्रह में यह न्याय देखने को मिलता है ।

॥४१॥ बलवन्नित्यमनित्यात् ॥

अनित्य कार्य से नित्य कार्य बलवान् है ।

जो कार्य, अन्य कार्य होने के बाद भी होता है, और अन्य कार्य होने से पूर्व भी होता है उसी कार्य को नित्यकार्य कहा जाता है । जो कार्य, अन्य कार्य होने के बाद नहीं होता है, और अन्य कार्य होने से पूर्व होता है, उसी कार्य को अनित्य कार्य कहा जाता है, यदि दोनों कार्यों की एकसाथ प्राप्ति हो तो, नित्यकार्य, अनित्य कार्य से बलवान् बनता है । इसका क्या अर्थ ? अर्थात् नित्यकार्य की ही प्रवृत्ति प्रथम होती है । उदा. [1]अकार्ष्ट इत्यादि प्रयोग में (अ + कृ + सिच् + त) 'धुड्ह्रस्वाल्लुगनिटस्तथोः' ४/३/७० से होनेवाला 'सिच्' का लुक् अनित्य है, जबकि 'सिचि परस्मै समानस्याङिति' ४/३/४४ से होनेवाली वृद्धि नित्य है, अतः उससे अनित्य- सिच्लुक् का पर/बाद में होने पर भी बाध होगा और प्रथम वृद्धि होगी, बाद में ह्रस्व का अभाव हो जाने से 'सिच्' का लुक् नहीं होगा ।

'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ सूत्र में वृद्धि के लिए किया गया 'कलिहलि' का वर्जन इस न्याय का ज्ञापक है, क्योंकि 'कलिहलि' शब्द से 'णिच्' प्रत्यय होने पर, 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ और 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ की युगपद् प्राप्ति है, इस परिस्थिति में 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ 'पर' और नित्य होने से इस न्याय से अन्त्यस्वरादि का लोप ही प्रथम होनेवाला है किन्तु पटु, लघु इत्यादि शब्द में वृद्धि होने के बाद ही अन्त्यस्वरादि लोप होता है । इसकी व्यवस्था करने के लिए' नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ सूत्र में 'कलिहलि' का वर्जन किया है, 'कलिहलि' की तरह पटु लघु इत्यादि शब्द में भी नित्यत्व के कारण और इस न्याय से बलवान् हुए अन्त्यस्वरादि का लोप

१. 'अकार्ष्ट', रूप कृ धातु के परस्मैपद अद्यतनी मध्यम पुरुष, बहुवचन का है । आत्मनेपद - अद्यतनी प्रथम पुरुष एकवचन में 'सिच्' का लुक् होने पर 'अकृत' प्रयोग होता है ।

जो प्रथम होनेवाला है वह प्रथम न हो, उसके लिए 'कलिहलि' का वर्जन किया है । इसका तात्पर्य इस प्रकार है । कलि, हलि का 'कलिं हलिं वा आख्यत्' विग्रह करने पर ङ परक णि पर में होने से, 'असमानलोपे सन्वल्लघुनि ङे' ४/१/६३ से होनेवाला सन्वद्भाव और 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः' ४/१/६४ से होनेवाली दीर्घविधि मालूम नहीं देती है । उदा. 'अचकलत्, अजहलत्' यह तभी ही संभव है, जब नित्यत्व के कारण इस न्याय से बलवान् हुए अन्त्यस्वरादि का लोप हुआ हो और इस प्रकार वह समानलोपि बना हो । जबकि पटु, लघु इत्यादि शब्द के 'पटुं लघुं शुचिं रुचिं वा आख्यत्' प्रयोग करते समय ङ परक णि पर में होने से 'असमानलोपे' ...४/१/६३ से होनेवाला सन्वद्भाव और 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः' ४/१/६४ से होनेवाली दीर्घविधि पायी जाती है । उदा. 'अपीपटत्, अलीलघत् अशूशचत्, अरूरुचत्' इत्यादि रूप हुए किन्तु वह असंभव लगता है क्योंकि यहाँ भी 'त्र्यन्त्य-स्वरादेः' ७/४/४३ नित्य होने से इस न्याय से वह बलवान् होता है, अतः अन्त्य स्वररूप उकार या इकार का लोप होने से, 'समानलोपि' होने से 'समानलोपित्व' को दूर करने के उपाय में आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने वृद्धिविधान रूप' नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ सूत्र में कलिहलि का वर्जन किया है और इस कलिहलि के वर्जन से इस प्रकार की व्यवस्था की गई है कि कलिहलि से भिन्न पटु, लघु, शुचि, रुचि, इत्यादि प्रत्येक नाम्यन्त शब्द में णि निमित्तक अन्त्यस्वरादि का लोप नित्य होने पर भी, उसका बाध करके प्रथम वृद्धि करना और बाद में अन्त्यस्वरादि का लोप करना । जबकि कलिहलि में तो प्रथम से ही इस न्याय से बलवान् बना हुआ, अन्त्यस्वरादिलोप ही प्रथम होता है, इसका किसी भी प्रकार से निषेध नहीं होता है और पटु, लघु इत्यादि शब्द में प्रथम वृद्धि करने के बाद औकार, ऐकार रूप अन्त्यस्वर का लोप करने से समानलोपित्व आता नहीं है और सन्वद्भाव और दीर्घविधि की सिद्धि से अपीपटत् इत्यादि सुखपूर्वक प्रयोगसिद्धि हो सकेगी ।

संक्षेप में 'पटु' इत्यादि शब्द में प्रथम वृद्धि होती है उसका ज्ञापन करने के लिए आचार्यश्री ने कलिहलि के वर्जन का उपाय किया है । यदि ऐसा न किया होता तो नित्य होने के कारण इस न्याय से बलवान् बने हुए अन्त्यस्वरादिलोप ही सर्वत्र प्रथम होगा, ऐसी शंका से उसकी निवृत्ति करने के लिए वृद्धि-सूत्र में आचार्यश्री ने कलिहलि का वर्जन किया है ।

यदि यह न्याय न होता तो अन्त्यस्वरादिलोप के बलवत्त्व की आशंका ही नहीं होती, और 'नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः' न्याय से शिष्टप्रयोगानुसार सर्व रूप की सिद्धि हो सकती थी । वह इस प्रकार-: अचकलत् अजहलत् प्रयोग में प्रथम अन्त्य स्वर का लोप करके तथा अपीपटत् इत्यादि प्रयोग में प्रथम वृद्धि करने के बाद अन्त्यस्वरादि का लोप करके इन रूपों की सिद्धि हो जाती है तथापि इस न्याय की प्रवृत्ति की आशंका से ही आचार्यश्री ने पटु इत्यादि में प्रथम वृद्धि होती है, इसका ज्ञापन करने के लिए कलिहलि का वर्जन किया है और वह इस न्याय का ज्ञापक बनता है ।

यह न्याय अनित्य है क्योंकि 'नित्यादन्तरङ्गं' इत्यादि न्याय के द्वारा वह बाधित होता है ।

इस न्याय की वृत्ति के 'पटु, लघ्वादिशब्देष्वपि नित्यत्वादेतन्न्याये बलवत्त्वात्' शब्द की स्पष्टता करते हुए इस न्याय के न्यास में श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यहाँ किसी को शंका हो सकती

है कि अन्त्यस्वरादिलोप केवल नित्यत्व के कारण बलवान् नहीं होता है किन्तु नित्य के साथ-साथ पर भी है, अत एव वह बलवान् होता है और अन्त्यस्वरादिलोप के परत्व निमित्तक बलवत्त्व की आशंका के कारण प्रथम वृद्धि ही होती है, ऐसा ज्ञापन करने के लिए कलिहलि का वर्जन किया गया है। ऐसा माना जाय तो केवल नित्यत्व का ज्ञापन करने के लिए यह कलिहलिवर्जन किया है, ऐसा कैसे माना जाय ? इसका समाधान देते हुए वे कहते हैं कि प्रधानधर्म का संभव हो तो अप्रधान धर्म का व्यपदेश नहीं किया जाता है। और 'परान्नित्यम् ।' न्याय के अनुसार परत्व और नित्यत्व में नित्यत्व प्रधानधर्म होने से उसका ही व्यपदेश करना उचित है।

यहाँ ज्ञापक सम्बन्धित मतभेद बताते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ ज्ञापक मानने से अन्योन्याश्रय दोष आता है। उनका तर्क इस प्रकार है-

इस न्याय/परिभाषा का अस्तित्व मानकर लोप को नित्य माना, अतः वृद्धि का बाध करके लोप की प्राप्ति हुई, परिणामतः कलिहलि की रूपसिद्धि हो जायेगी। अतः 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ में कलिहलि का वर्जन व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि लोप से वृद्धि बलवती है, ऐसी परिस्थिति होने से पटु लघु इत्यादि शब्द में वृद्धि बलवती होने से प्रथम वृद्धि होगी और अन्त्यस्वरादि लोप बाद में होने से अपीपटत् इत्यादि की सिद्धि हो जायेगी। इसके विरोध में बताया गया है कि लोप को नित्य मानकर कलिहलिवर्जन व्यर्थ बनाकर उसके द्वारा न्याय का ज्ञापन करना उचित नहीं है।

उपर्युक्त उदाहरण में 'स्पर्द्धे'(परः) ७/४/११९ परिभाषा से निर्वाह हो सकता है। वृद्धि सूत्र से लोपसूत्र पर है अतः लोप बलवान् है, परिणामतः कलिहलि की रूपसिद्धि में कोई कठिनाई नहीं आयेगी। किन्तु अपीपटत् जैसे रूपों की सिद्धि में कठिनाई आयेगी। यह कठिनाई दूर करने के लिए 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ में कलिहलि का वर्जन आवश्यक है। इस कलिहलि का वर्जन वृद्धि को बलवान् बनाता है, अतः 'बलवन्नित्यमनित्यात्' का ज्ञापक दूसरा खोजना चाहिए। इसके अलावा प्रस्तुत उदाहरण में दूसरे कारण से भी अरुचि उत्पन्न होती है। 'नामिनोऽकलिहलेः'- ४/३/५१ से वृद्धि बलवती होती है, और कलिहलि का वर्जन जिस न्याय का ज्ञापन करता है, उसी न्याय से वृद्धि अनित्य होने से दुर्बल बनती है।

यह न्याय चान्द्र परिभाषापाठ, कातन्त्र की दुर्गसिंहकृत परिभाषावृत्ति में उपलब्ध नहीं है और पाणिनीय परम्परा के किसी भी परिभाषासंग्रह में यह न्याय नहीं दिया है क्योंकि वहाँ परत्व इत्यादि से ही व्यवस्था की गई है। कहीं कहीं 'कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्' स्वरूप नित्यत्व की व्याख्या दी गई है।

॥४२॥ अन्तरङ्गं बहिरङ्गात् ॥

बहिरंग कार्य से अन्तरंग कार्य बलवान् है।

'बलवत्' शब्द यहाँ और अगले न्यायों में जोड़ देना।

जहाँ अन्तरंग कार्य और बहिरङ्ग कार्य एक साथ होनेवाला हो वहाँ प्रथम अन्तरंग कार्य

करना । और बाद में बहिरङ्ग कार्य हो सकता हो तो करना । उदा. त इन्द्रम्, वृक्ष इन्द्रम् । इन दोनों उदाहरणों में मूलस्थिति इस प्रकार है – ' तद् जस् इन्द्रम्, वृक्ष ङि इन्द्रम्' यहाँ जस् का 'जस इ:' १/४/९ से इ आदेश होने पर और ङि में से ङकार इत् होने पर, 'त इ इन्द्रं' और 'वृक्ष इ इन्द्रं' होगा । इस परिस्थिति में इ को इन्द्रं शब्द के इ के साथ सन्धि होकर उनके स्थान पर 'समानानां तेन दीर्घ:' १/२/१ से दीर्घ ई होने की प्राप्ति है और उसी इ का त और क्ष में स्थिति अ के साथ मिलकर 'अवर्णस्येवर्णादिनै' – १/२/६ से एकार होने की प्राप्ति है तभी यहाँ दोनों कार्य में एत्व अन्तरङ्ग कार्य है क्योंकि वह एक पदाश्रित है, जबकि दीर्घ ई उभयपदाश्रित है, अत: वह बहिरङ्ग है, अत एव दीर्घ ईकार का बाध करके 'अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल्' १/२/६ से अन्तरङ्ग एत्व ही प्रथम होगा ।

इस न्याय का ज्ञापन 'वृत्त्यन्तोऽसषे' १/१/२५ सूत्र की रचना से होता है । यहाँ अन्तर् शब्द के र् का 'सो रु:' २/१/७२ से उ होने के बाद पूर्व के अ के साथ मिलकर ओ होने की और बाद में आये हुए अकार के कारण वत्व होने की प्राप्ति थी किन्तु यह न्याय होने से प्रथम, वत्व का बाध हो कर, ओत्व ही होगा क्योंकि ओत्व एकपदाश्रित है, अत: वह अन्तरङ्ग है और वत्व पदद्वयाश्रित होने से बहिरङ्ग कार्य है ।

'वार्णात्प्राकृतम्, लुबन्तरङ्गेभ्य:, अन्तरङ्गाच्चानवकाशम्' इत्यादि न्याय से इस न्याय का निरोध होता है, अत: वह निर्बल/अनित्य है ।

'त इन्द्रम्, वृक्ष इन्द्रम्', उदाहरण वाक्य अवस्था के हैं । वैयाकरणों में वाक्य के सम्बन्ध में दो मत प्रसिद्ध हैं । १. कुछेक की मान्यतानुसार परिनिष्ठित अर्थात् सिद्ध पद समुदित होकर वाक्य बनता है । २. जबकि अन्य कुछेक के मतानुसार अपरिनिष्ठित पद अर्थात् असिद्ध अवस्था में पद समुदित होते हैं बाद में वे पद परिनिष्ठित होते हैं ।

प्रथम मान्यतानुसार 'ते इन्द्रम्, वृक्षे इन्द्रम्' में दोनों पद परिनिष्ठित होने के बाद ही वाक्य अवस्था में आयेंगे । अत: इस न्याय की प्रवृत्ति करने की आवश्यकता ही नहीं है, किन्तु दूसरी मान्यतानुसार जब अपरिनिष्ठित सब पद समुदित होकर वाक्य होगा, बाद में वे परिनिष्ठित होंगे तब इस न्याय की प्रवृत्ति अनिवार्य हो जाती है ।

समास में जैसे अलौकिक विग्रह अवस्था होती है, उसी तरह वाक्य में ऐसी स्थिति मानकर यह उदाहरण दिया गया है ।

श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इस न्याय की कोई जरूरत/आवश्यकता नहीं है क्योंकि पूर्व के न्याय 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय में बताया गया है कि अन्तरङ्ग कार्य करना हो, उसी समय बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है । इससे ही ज्ञात होता है कि अन्तरङ्ग कार्य से बहिरङ्ग कार्य दुर्बल है, अत: यह भी सिद्ध हो जाता है कि अन्तरङ्ग कार्य बहिरङ्ग कार्य से बलवान् है । तथापि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय और 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय में महत्त्वपूर्ण फर्क यही है कि पूर्व न्याय अन्तरङ्ग कार्य करना हो तभी बहिरङ्ग कार्य को असद्वत् करता है, अर्थात्, प्रथम बहिरङ्ग कार्य होता है, बाद

में अन्तरङ्ग कार्य की प्राप्ति होती है, और उसी न्याय से बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होने पर अन्तरङ्ग कार्य होता नहीं है, अतः वहाँ अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कार्य की समकाल प्राप्ति नहीं होती है । जबकि 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय, जहाँ अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कार्य की समकाल प्राप्ति हो वहाँ बहिरङ्ग कार्य करने से पहले अन्तरङ्ग कार्य करता है, बाद में यदि बहिरङ्ग कार्य हो सकता हो तो करना ।

वस्तुतः पूर्वोक्त 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय की व्याख्या के समय ही कहा गया होता कि 'जब अन्तरङ्ग कार्य करना हो, तब बहिरङ्ग कार्य जो हो गया है वह असिद्ध होता है और अन्तरङ्गकार्य के साथ-साथ होनेवाला बहिरङ्ग कार्य, प्रथम नहीं होता है, किन्तु अन्तरङ्ग कार्य ही प्रथम होता है ।' तो निर्वाह हो सकता था । किन्तु अन्य व्याकरण सम्बन्धित परिभाषासंग्रह-जैसे व्याडि परिभाषापाठ, शाकटायन, चान्द्र, कातन्त्र, कालाप, भोज, पुरुषोत्तमदेव इत्यादि ने दोनों को भिन्न-भिन्न बताये है, अतः दोनों प्रकार के लक्ष्ययुक्त कार्य का स्पष्ट रूप से भिन्न-भिन्न संग्रह करने के लिए ही भिन्न-भिन्न न्याय के स्वरूप में स्वीकृत किया गया है ।

इसके बारे में विस्तृत विचार-विमर्श 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय में किया गया है ।

यह न्याय केवल कातन्त्र की दुर्गसिंहकृतपरिभाषावृत्ति में ही नहीं है । तथा पाणिनीय परम्परा के पुरुषोत्तमदेवकृतपरिभाषावृत्ति, सीरदेव, नीलकंठ और हरिभास्कर की परिभाषावृत्तियों में पाया जाता है, इसे छोड़कर पाणिनीय परम्परा के अन्य परिभाषासंग्रह में 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय में ही इसका समावेश किया गया है ।

॥४३॥ निरवकाशं सावकाशात् ॥

निरवकाश कार्य, सावकाश कार्य से बलवान् है ।

निरवकाश कार्य सावकाश कार्य से बलवान् है । निर् और सह शब्द का अनुक्रम से अल्प और बहु अर्थ लेना अर्थात् निरवकाश का मतलब अल्पविषयक और सावकाश का मतलब अधिक/बहुविषयक अर्थात् अल्पविषयक शास्त्र, बहुविषयक शास्त्र से बलवान् है । इसका भावार्थ क्या ? भावार्थ इस प्रकार है, बहुविषयक शास्त्र का बाध करके अल्पविषयक शास्त्र की प्रवृत्ति होती है । उदा. 'भिस ऐस्' १/४/२ सूत्र 'एद् बहुस्भोसि' १/४/४ सूत्र की अपेक्षा से अल्पविषयक है और 'एद् बहुस्भोसि' १/४/४ सूत्र बहुविषयक है । 'एद् बहुस्भोसि' १/४/४ बहुवचन के सकारादि, भकारादि और षष्ठी सप्तमी के द्विवचन के ओस् प्रत्ययनिमित्तक है । जबकि भिस ऐस् १/४/२ केवल भिस् प्रत्ययनिमित्तक है, अतः 'भिस ऐस्' १/४/२ निरवकाश है जबकि 'एद्बहुस्भोसि' १/४/४ सावकाश है, अतः 'वृक्षैः' इत्यादि प्रयोग में पर ऐसे 'एद्बहुस्भोसि' १/४/४ का बाध करके निरवकाश ऐसे 'भिस ऐस्' १/४/२ की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि 'एद्बहुस्भोसि' १/४/४ 'एभिः, एभ्यः' इत्यादि प्रयोग में सावकाश है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'भिस ऐस्' १/४/२ सूत्र स्वयं ही है । वह इस प्रकार-: यदि यह न्याय

न होता तो 'वृक्षैः इत्यादि प्रयोग में 'एद् बहुस्भोसि' १/४/४ से एत्व ही होता तो 'भिस ऐस्' १/४/२ सूत्र ही नहीं किया जाता, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति का कोई अवकाश ही नहीं रहता तथापि यह सूत्र बनाया, वह इस न्याय से 'भिस ऐस्' १/४/२ बलवान् होकर 'वृक्षैः' इत्यादि प्रयोग में यही 'भिस ऐस्' १/४/२ की प्रवृत्ति की संभावना का विचार करके ही सूत्र बनाया है, अन्यथा वही सूत्रकरण ही अनर्थक है ।

इस न्याय की अनित्यता नहीं है ।

इसके बारे में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यदि 'एद् बहुस्भोसि' १/४/४ सूत्र ही सर्वत्र प्रयुक्त हो तो 'भिस ऐस्' १/४/२ निरर्थक हो जाता है और वह निरर्थक होकर ज्ञापन करता है कि जहाँ 'भिस ऐस्' १/४/२ की प्रवृत्ति होनेवाली हो, वहाँ 'एद् बहुस्भोसि' १/४/४ प्रवृत्त नहीं होगा । यह न्याय कहीं भी बाध्य नहीं होता है क्योंकि निरवकाश कार्य अपवाद होने से सर्वसे बलवान् है ।

उनकी मान्यतानुसार 'येन नाऽप्राप्ते यो विधिरारभ्यते, स तस्यैव बाधकः' न्याय का ही यह प्रपञ्च है अर्थात् इसी न्याय में ही 'निरवकाशं सावकाशात्' समाविष्ट हो जाता है । तथापि दोनों में सूक्ष्म फर्क है । बाधकभाव दो प्रकार से आता है । (१) जहाँ असंभव हो वहाँ बाधक हो सकता है (२) जहाँ संभव हो वहाँ बाधक हो सकता है । उदा. सर्वे ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्, माठरकौण्डिन्यौ परिवेविषाताम् । (२) सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्, तक्रं कौण्डिन्याय ।

प्रथम उदाहरण में असंभव है, अतः माठर, कौण्डिन्य दोनों को परोसने के कार्य में लगाये जाते हैं, अतः परोसने के समय भोजन करना संभव नहीं है । अतः 'सति असंभवे बाधनं भवति[1]' जबकि दूसरे उदाहरण में कौण्डिन्य को तक्रदान के पूर्व या बाद में दहीं भी दिया जा सकता है अथवा दधि और तक्र दोनों साथ में दिया जा सकता है, अतः दधिदान का संभव होने से तक्रदान उसका निषेध करनेवाला बाधक बनता है । 'येन नाऽप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यैव बाधकः' न्याय जहाँ सर्वथा निरवकाशत्व होता है वहाँ बाधक बनता नहीं है जबकि 'निरवकाशं सावकाशात्' न्याय बाधक बनता है । 'निरवकाशं सावकाशत्' न्याय असंभव में बाधक बनता है जबकि 'येन नाऽप्राप्ते यो विधिरारभ्यते' न्याय संभव हो वहाँ ही बाधक बनता है ।

यह न्याय निरवकाश कार्य के बलवत्त्व को सूचित करता है, और मतवैभिन्य होने पर भी किस न किसी प्रकार से सभी व्याकरण परम्परा में इसका स्वीकार किया गया है ।

॥४४॥ वार्णात् प्राकृतम् ॥

वर्ण सम्बन्धित कार्य से प्रकृति सम्बन्धित कार्य बलवान् है ।

यहाँ धातु स्वरूप प्रकृति लेना, किन्तु नाम स्वरूप प्रकृति नहीं लेना क्योंकि नाम स्वरूप प्रकृति के कार्यों का समावेश वार्ण कार्यों में हो जाता है । वार्ण अर्थात् वर्ण सम्बन्धित । वर्ण सम्बन्धित का क्या अर्थ ? वर्ण का उच्चार करके जिसका विधान किया गया है, वह वार्ण कहा

१. व्याडि और वार्तिककार ने इसी मान्यता को स्वीकृति दी है, किन्तु भाष्यकार ने उसका खण्डन किया है ।

जाता है, उससे प्रकृति का उच्चार करके जिसका विधान किया गया है वही कार्य बलवान् होता है। 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय का यह अपवाद है ।

उदा. ऊवतुः, ऊवुः । 'वे + अतुस्, वे + उस्' में 'यजादिवचेः किति' ४/१/७९ से य्वृत् (संप्रसारण) होने के बाद 'उ' का द्वित्व होगा, अतः 'उ उ अतुस्, उ उ उस्' होगा । इस परिस्थिति में अन्तरंग कार्य स्वरूप द्विरुक्त उ की सन्धि होकर, 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ से दोनों के स्थान पर ऊ होने की प्राप्ति है क्योंकि वह प्रकृति आश्रित और पूर्वव्यवस्थित है, जबकि 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये' २/१/५० से होनेवाला द्वितीय 'उ' का उव् प्रत्ययाश्रित और बहिर्व्यवस्थित होने से बहिरङ्ग कार्य है उसकी भी प्राप्ति है । 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय से दीर्घविधि ही प्रथम होने की प्राप्ति है, और तो 'उवतुः उवुः' अनिष्ट रूप होंगे ।[1] किन्तु 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय का इस न्याय से बाध होकर बहिरङ्ग कार्य स्वरूप 'उव्' ही 'धातोरिवर्णो–' २/१/५० से प्रथम होगा क्योंकि धातु स्वरूप प्रकृति का नाम/शब्द ग्रहण करके उसका विधान किया गया होने से, वह प्राकृत है, और बाद में अन्तरङ्ग कार्य स्वरूप दीर्घविधि 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ सूत्र से होगी, क्योंकि 'समान' रूप वर्ण का उच्चार करके उसका विधान किया गया है, अतः वह वार्ण है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय से सिद्ध होनेवाले 'उवतुः उवुः' जैसे अनिष्ट रूपों का निषेध करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया है, वह है ।

यह न्याय अनित्य है क्योंकि अगला न्याय इस न्याय का अपवाद है ।

'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय में बताया है, उस प्रकार यह न्याय उसका अपवाद है, और उसके कार्य क्षेत्र में संकोच करता है । बहिरङ्ग स्वरूप प्रकृति सम्बन्धित कार्य, अन्तरङ्ग कार्य स्वरूप वर्ण सम्बन्धित कार्य का बाध करेगा । यहाँ इस न्याय में 'प्राकृत' शब्द में जो प्रकृति का ग्रहण है, वह नाम स्वरूप नहीं किन्तु धातु स्वरूप ग्रहण करना, क्योंकि कुछेक की मान्यतानुसार नाम स्वरूप प्रकृति के कार्यों का समावेश वार्ण कार्यों में हो जाता है । किन्तु श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यतानुसार वह उचित नहीं है क्योंकि ऐसे संकोच करने में कोई प्रमाण नहीं है, और पाणिनीय व्याकरण में भी 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' ८/२/६ सूत्र के भाष्य में 'कुमार्यै' प्रयोग की सिद्धि के लिए इस न्याय की प्रवृत्ति की गई है, अतः 'प्रकृति' में 'नाम' का भी ग्रहण हो जाता है और 'धातु' का ग्रहण तो इस न्याय के ज्ञापक से ही हो जाता है अर्थात् दोनों का ग्रहण करना चाहिए तथापि सिद्धहेम की परंपरा/परिपाटी अनुसार, श्रीहेमहंसगणि के वचनानुसार यहाँ धातु स्वरूप प्रकृति का ही ग्रहण करना उचित है । उन्होंने इस न्याय के न्यास में 'नद्यै' इत्यादि रूप में 'नदी' आदि शब्द रूप प्रकृति के यत्व रूप कार्य को वार्ण कार्य ही बताया गया है ।

• किसी भी वर्ण विशेष या वर्णसमुदाय विशेष का उच्चार करके कहा गया कार्य वार्ण कार्य कहा जाता है । और किसी भी धातुविशेष या धातुसमुदायविशेष या सर्वसामान्य 'धातु' शब्द का का उच्चार करके कहा गया कार्य प्राकृत कार्य है । ऐसा, प्राकृत कार्य उपर्युक्त वार्ण कार्य का बाध करता है ।

१. यहाँ स्पर्द्धे ७/४/११९ द्वारा धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् – २/१/५० से उव् ही हो सकता है ।

श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इस न्याय के ज्ञापक के रूप में 'श्रीहेमहंसगणि ने' ऊवतुः 'इत्यादि प्रयोग की सिद्धि के लिए अन्य कोई प्रयत्न नहीं किया गया है ।' उसे बताया है, वह उचित नहीं है । वस्तुतः श्रीहेमहंसगणि ने 'उवतुः, उवुः' इत्यादि अनिष्ट रूपों के निषेध के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है, उसका इस न्याय के ज्ञापक के रूप में स्वीकार किया है । ऐसे ज्ञापकों के प्रति श्रीलावण्यसूरिजी को अरुचि है । उनका कहना है कि इस न्याय के बिना भी 'नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः' न्याय का अवलम्बन लेकर इन रूपों की सिद्धि हो सकती है, तथा उससे भिन्न रूप अनिष्ट होने से सिद्ध किये गये नहीं हैं ऐसा अनुमित हो सकता है । तथा पाणिनीय व्याकरण के सूत्र 'दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च' (पा.सू. ६/१/१२) के महाभाष्य में स्पष्ट रूप से इस न्याय को ज्ञापकसिद्ध बताया है और इसके ज्ञापक के स्वरूप में 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' (पा.सू. ६/४/७८) सूत्र में 'असवर्णे' पद का ग्रहण ही बताया है, उसी प्रकार सिद्धहेम के सूत्र 'पूर्वस्याऽस्वे स्वरे य्वोरियुव्' [सि. ४/१/३७] सूत्र में 'अस्वे स्वरे' कहा है, वह इस न्याय का ज्ञापक है । वह इस प्रकार-इयेष (इयाय) इत्यादि में 'इ +इष् +अ' स्वरूप स्थिति में 'लघोरुपान्त्यस्य' ४/३/४ से गुण होने की और 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ से दीर्घ होने की समकालीन प्राप्ति है, वहाँ दीर्घविधि अन्तरङ्ग होने से प्रथम होगी और पर में/बाद में अस्व स्वर का अभाव होने से 'पूर्वस्याऽस्वे स्वरे ' ४/१/३७ में कथित 'अस्वे स्वरे' व्यर्थ हुआ और वह व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है तथा इस न्याय से बलवान् हुआ गुण 'लघोरुपान्त्यस्य' ४/३/४ से प्रथम होगा और अस्व स्वर पर में आने के बाद पूर्व इ का इय् आदेश होगा । इस प्रकार 'अस्वे स्वरे' पद सार्थक होगा और 'ईषतुः' इत्यादि प्रयोग में गुण होने की प्राप्ति का ही अभाव होने से इय्, उव् की प्रवृत्ति का अवकाश ही नहीं है अतः 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ से दीर्घविधि ही होगी ।

यह न्याय अस्थिर/अनित्य है क्योंकि अगले न्याय 'य्वृद् य्वृदाश्रयं च ॥ ४५॥' में वार्ण स्वरूप य्वृद् और य्वृदाश्रित कार्य को प्राकृत कार्य से बलवान् माना गया है । अर्थात् य्वृद् सम्बन्धित कार्य 'वार्णात् प्राकृतम्'' ॥४४॥ न्याय के क्षेत्र से बाहिर है ।

यह न्याय व्याडि के परिभाषासूचन, शाकटायन, चान्द्र, कातन्त्र की दुर्गसिंहकृतवृत्ति व भावमिश्रकृतवृत्ति में प्राप्त नहीं है । इसे छोड़कर अन्य सभी व्याकरण परम्परा में यह न्याय उपलब्ध है।

॥४५॥ य्वृद् य्वृदाश्रयं च ॥

य्वद् और य्वृदाश्रित कार्य प्राकृत कार्य से बलवान् है ।

वर्ण द्वारा उक्त कार्यस्वरूप य्वृद् और य्वृदाश्रित कार्य प्राकृत कार्य से भी बलबान् है । उदा. उपशूय, यहाँ 'उपश्वि + क्त्वा' है । यहाँ 'अनञः क्त्वो यप् ' ३/२/१५४ से 'क्त्वा' का यप् आदेश होगा, अतः 'उपश्वि + यप्' होगा । इस परिस्थिति में 'ह्रस्वस्य तः पित्कृति' ४/४/११३ से त् के आगम का कार्य ह्रस्वान्त प्रकृति आश्रित होने से प्राकृत है तथा 'यजादिवचेः किति' ४/१/७९ से होनेवाला य्वृद् का कार्य वार्ण है । उपर्युक्त न्याय से प्रथम त् का आगम होना चाहिए, तथापि उसका बाध करके इस न्याय से प्रथम 'यजादिवचेः किति' ४/१/७९ से य्वृद् प्रथम होगा बाद में भी 'ह्रस्वस्य तः पित्कृति' ४/४/११३ प्रवृत्त नहीं होगा किन्तु 'दीर्घमवोऽन्त्यम्' ४/१/१०३ से दीर्घ होगा क्योंकि

वह य्वृदाश्रित है और दीर्घ होने के बाद 'ह्रस्वस्य तः पित्कृति' ४/४/११३ प्रवृत्त नहीं होगा ।

यह न्याय अनित्य है ।

इस न्याय के बारे में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि कुछेक प्राचीन वैयाकरण मानते हैं कि यह न्याय, ऐसे/इस प्रकार के लक्ष्यानुसार प्रवृत्त होता है, अतः इसका कोई ज्ञापक नहीं है । जबकि नवीन वैयाकरण मानते हैं कि इस न्याय की कोई आवश्यकता नहीं है और वह इस प्रकार है । 'उपश्वि + क्त्वा' में 'उपश्वि + यप्' होने के बाद पूर्व में बताया उस प्रकार त् का आगम ह्रस्वान्त प्रकृति आश्रित होने से प्राकृत और य्वृत् सस्वरान्तस्थाश्रित होने से वार्ण है, तथापि त् का आगम केवल ह्रस्वस्वराश्रित होने से उसे वार्ण माना जा सकता है और य्वृद् 'यजादिवचेः किति' ४/१/७९ से यजादि स्वरूप प्रकृति को उद्देश्य बनाकर कहा गया होने से प्राकृत कहा जा सकता है और इस प्रकार उपर्युक्त 'वार्णात्प्राकृतम्' न्याय से निर्वाह हो सकता है, अतः इस न्याय की कोई आवश्यकता मालूम नहीं देती ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय के ज्ञापक के स्वरूप में ऐसे प्रयोगों को ही मानते हैं ।

इन दोनों न्यायों का भिन्न-भिन्न न्याय के स्वरूप में विधान भोज व्याकरण से शुरू हुआ है । इसके अलावा इससे पूर्व किसी भी व्याकरण या परिभाषाग्रंथों में यह परिभाषा/न्याय के रूप में उपलब्ध नहीं है । इसके बदले में पाणिनीय परम्परा में 'संप्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं' न्याय दिखाई देता है ।

॥४६॥ उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिः ॥

उपपदविभक्ति से कारकविभक्ति बलवती है ।

बलवती शब्द यहाँ अध्याहार है । जब एक ही शब्द से उपपदविभक्ति और कारकविभक्ति दोनों एकसाथ होने की प्राप्ति हो और दोनों भिन्न-भिन्न हो तो कारकनिमित्तक विभक्ति बलवती मानी जाती है । उदा. 'देवान् नमस्यति' । यहाँ 'शक्तार्थवषड्नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाभिः' २/२/६८ से नमस् के योग में 'देव' शब्द को चतुर्थी विभक्ति हो सकती है किन्तु 'देव' शब्द 'नमस्यति' का कर्म होने से कर्म में द्वितीया विभक्ति होगी ।

इस न्याय का ज्ञापक पूर्व न्याय में बताया उसी तरह ऐसे प्रयोग ही है ।

यह न्याय अस्थिर है और इसका ज्ञापक 'क्रुद्द्रुहेर्ष्यासूयार्थैर्यं प्रति कोपः' २/२/२७ सूत्र में 'यस्मै कोपः' के स्थान पर 'यं प्रति कोपः' स्वरूप किया गया निर्देश ही है क्योंकि कुप् धातु के योग में इसी सूत्र से 'यद्' से संप्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हो सकती है तथापि 'भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः' २/२/३७ से द्वितीया हुई है । यदि यह न्याय नित्य होता तो 'यं प्रति कोपः' के स्थान पर 'यस्मै प्रति कोपः' प्रयोग होता और उसमें चतुर्थी होने के बाद 'प्रति' शब्द व्यर्थ होने पर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' न्याय से 'प्रति' शब्द निवृत्त होने पर 'यस्मै कोपः' होता, किन्तु यह न्याय अनित्य होने से चतुर्थी का बाध होकर द्वितीया हुई है, अतः 'यं प्रति कोपः' ऐसा निर्देश किया गया है ।

उपपदविभक्ति अर्थात् अन्य किसी नाम या पद या अव्यय के योग में उसके साथ आये हुए शब्द से किसी निश्चित विभक्ति का होना वह, और कारकविभक्ति अर्थात् किसी भी शब्द कर्ता, कर्म,

करण, सम्प्रदान, अपादान या अधिकरण होने पर उसी कारक से होनेवाली विभक्ति के प्रत्यय रखना वही कारकविभक्ति कहलाती है ।

श्रीहेमहंसगणि इस न्याय के न्यास में कहते हैं कि 'नमस्यति' में 'नमः करोति' अर्थ में 'नमस्' अव्यय से क्यन् प्रत्यय होकर 'नमस्य' धातु बनता है, तो यहाँ ऐसी शंका उपस्थित होती है कि 'नमस्यति' के योग में चतुर्थी की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? क्योंकि 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' न्यायानुसार केवल नमः शब्द ही अर्थवान् माना जा सकता है जबकि यहाँ 'नमस्य' धातु अर्थवान् है किन्तु उसका एकदेश स्वरूप 'नमः' शब्द अर्थवान् नहीं है उसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि, आपकी बात सही है किन्तु 'अर्थवद्ग्रहणे-' न्याय की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती है क्यो कि 'न्यायाः स्थविरयष्टिप्रायाः' (न्याय स्थविरयष्टि जैसे हैं,) अर्थात् आवश्यकता होने पर ही न्याय की प्रवृत्ति करनी चाहिए । यहाँ यह 'अर्थवद्ग्रहणे-' न्याय की कोई आवश्यकता नहीं है ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक श्रीलावण्यसूरिजी की दृष्टि से उचित मालूम नहीं देता है । इस न्याय की अनित्यता के ज्ञापक के स्वरूप में- 'क्रुद्द्रुहेर्ष्यासूयार्थैर्यं प्रति कोपः' २/२/२७ को बताया है । उसमें यद् से प्रति के योग में होनेवाली द्वितीया विभक्ति (उपपदविभक्ति) की है किन्तु कुप् धातु के योग में सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी कारकविभक्ति नहीं की गई है । यह बात सही नहीं है । प्रथम बात यह है कि यहाँ 'कोपः' शब्द कुप्यति धातु से बना हुआ है, तथापि वह साक्षात् कुप् धातु नहीं है किन्तु शब्द है, तथा शब्द का कर्म या सम्प्रदान हो सकता नहीं है । दूसरी बात यह है सूत्र में प्रयुक्त यद् शब्द का अर्थ/विषय प्रति वास्तविक कोप का अभाव होने से सम्प्रदान संज्ञा हो सकती नहीं है, अन्यथा 'मनसा क्रुध्यति, शिष्यस्य क्रुध्यति विनयार्थम्, भार्यामिर्ष्यति, मैनामन्योऽद्राक्षीत्' इत्यादि में सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी होने की आपत्ति आयेगी, अतः यहाँ चतुर्थी की प्राप्ति नहीं थी । अत एव 'प्रति' शब्द के योग में द्वितीया विभक्ति हुई होने से यहाँ इस न्याय की कोई आवश्यकता/जरूरत ही नहीं है, अतः इसी सूत्र के निर्देश से इस न्याय का दुर्बलत्व बताया नहीं जा सकता है ।

तदुपरांत यह न्याय वाचनिकी परिभाषा के स्वरूप मे होने से वह अनित्य नहीं हो सकता है । जो न्याय ज्ञापकसिद्ध होता है उसकी ही अनित्यता बतायी जा सकती है और जहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है वहाँ अन्य कोई समाधान खोजना चाहिए ।

इस परिभाषा को नागेश ने परिभाषेन्दुशेखर में (परि. ९४) वाचनिकी बताई है और यह बात (पा.सू.) 'तत्र च दीयते' सूत्र के भाष्य से ध्वनित मानी है ।

इस न्याय की अनित्यता दूसरी तरह से भी बतायी जा सकती है । वह इस प्रकार -: 'विवक्षातः कारकाणि' न्याय, इस न्याय का बाधक हो सकता है क्योंकि उपपदविभक्ति और कारकविभक्ति दोनों प्राप्त हों ऐसे दृष्टान्त में कारक की कारक के स्वरूप में विवक्षा न करने पर, उपपद में आये हुए शब्द के योग में होनेवाली उपपदविभक्ति निःसंकोच हो सकती है ।

यह न्याय व्याडि के परिभाषासूचन, शाकटायन व कातन्त्र की दुर्गसिंहकृतवृत्ति को छोड़कर सभी परिभाषासंग्रह में है ।

॥ ४७ ॥ लुबन्तरङ्गेभ्यः ॥

अन्तरङ्गकार्य से भी लुप् बलवान् है ।

यहाँ 'अपि' शब्द अध्याहार है, अतः 'लुबन्तरङ्गेभ्योऽपि' है, ऐसा मानकर 'अन्तरङ्ग कार्य से भी' अर्थ करना चाहिए ।

बहिरङ्ग ऐसा लुप्, अन्तरङ्ग कार्य से भी बलवान् है, अतः अन्तरङ्गविधि का बाध करके बहिरङ्ग ऐसा लुप् प्रथम होता है । उदा. 'गर्गस्यापत्यानि गर्गाः' । यहाँ 'गर्ग + यञ् + जस्' है, उस में जस् के कारण/निमित्त से यञ् का लुप् (लोप) 'यञञोऽश्यापर्णान्तगोपवनादेः' ६/१/१२६[1] सूत्र से होनेवाला है और 'वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञ्णिति तद्धिते' ७/४/१ से यञ् प्रत्ययनिमित्तक वृद्धि भी होनेवाली है, तो यहाँ वृद्धि प्रकृत्याश्रित होने से अन्तरङ्गकार्य है, जबकि यञ् का लुप्, जस् प्रत्ययाश्रित होने से बहिरङ्ग है, अतः अन्तरङ्ग ऐसी वृद्धि का बाध करके बहिरङ्ग ऐसा यञ् का लुप् प्रथम होगा, बाद में ञित् णित् प्रत्यय नहीं रहने से वृद्धि नहीं होती है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्' २/१/११ में प्रत्ययोत्तरपदे का ग्रहण किया है वह है, क्योंकि स्यादि प्रत्यय का अधिकार होने से स्यादि प्रत्यय के निमित्त से प्रथम त्व और म आदेश होने के बाद विभक्ति का लोप हो सकता है तथापि इसी सूत्र में 'त्वदीयः, मदीयः जैसे रूपों की सिद्धि करने के लिए 'प्रत्यय' शब्द से तद्धित प्रत्यय का ग्रहण करने का विधान किया है, अतः यह सिद्ध होता है कि 'ऐकार्थ्ये' ३/२/८ सूत्र से प्रथम 'युष्मद् + ङस् + ईयस्,' और 'अस्मद् + ङस् + ईयस्' में स्थित स्यादि प्रत्यय का लोप अतिबहिरङ्ग होने के कारण होनेवाला ही है, अतः 'त्व' और 'म' आदेश करने के लिए 'प्रत्ययोत्तरपदे' का ग्रहण किया है । यहाँ 'युष्मद् + ङस् + ईयस्', और 'अस्मद् + ङस् + ईयस्' में ऐकार्थ्य की विवक्षा में होनेवाली अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का लोप ऐकार्थ्यनिमित्तक है, अतः वह अतीव बहिरङ्ग है क्योंकि ऐकार्थ्य प्रकृति-प्रत्यय दोनों निमित्तक या उभयपदनिमित्तक होता है,[2] अतः यहाँ स्यादि प्रत्यय का लोप बहिरङ्ग है ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है, जबकि 'त्व-म' आदेश केवल विभक्तिनिमित्तक होने से अन्तरङ्ग ही है, और उसकी सिद्धि स्यादि के अधिकार से ही हो सकती है, तथापि उसके लिए 'प्रत्ययोत्तरपदे' का ग्रहण किया वह इस न्याय का ज्ञापन करता है, अतः स्यादि प्रत्यय का लोप होने से अकेले स्यादि प्रत्यय के अधिकार से त्व- म आदेश नहीं होता है, अतः 'प्रत्ययोत्तरपदे' का ग्रहण किया है वह सफल है ।

इस न्याय की अनित्यता नहीं है ।

---

१. यहाँ 'न्यायसंग्रह' में यञ् प्रत्यय का लोप करने के लिए 'बहुष्वस्त्रियाम्' ६/१/१२४ सूत्र का निर्देश किया है, आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने भी उसी सूत्र का निर्देश किया है किन्तु उसके स्थान पर 'यञञोऽश्या पर्णान्तगोपवनादेः' ६/१/१२६ सूत्र से यञ् का लोप होता है । 'बहुष्वस्त्रियाम्' ६/१/१२४ केवल द्रि संज्ञक प्रत्यय का लोप करता है, जबकि यहाँ 'यञ्' गोत्रापत्य प्रत्यय होने से द्रि संज्ञक नहीं है ।

२. 'त्वदीयः' इत्यादि में प्रकृति-प्रत्ययनिमित्तक ऐकार्थ्य है, जबकि 'मत्पुत्रः' इत्यादि में पदद्वयनिमित्तक ऐकार्थ्य है ।

सिद्धहेम में अदर्शनवाचक लुक्, लुप् और लोप तीन शब्द हैं । लोप शब्द से लुक् और लुप् दोनों का ग्रहण होता है । उसमें से लुक् हुए प्रत्यय का स्थानिवद्भाव होता है । और उसके निमित्त से होनेवाला कार्य भी होता है जबकि लुप् हुए प्रत्यय का स्थानिवद्भाव नहीं होता है और लुप्तप्रत्ययनिमित्तक कार्य भी नहीं होता है ।★

उदा. 'अनतो लुप्' १/४/५९ और 'नामिनो लुग्वा' १/४/६१ । इकारान्त नपुंसकलिंग वारि शब्द है । उसका आमन्त्रण/ सम्बोधन में वारि+सि होता है तब 'नामिनो लुग्वा' १/४/६१ से सि प्रत्यय का विकल्प से लुक् होगा । जब लुक् होगा तब सि प्रत्यय का स्थानिवद्भाव करके 'ह्रस्वस्य-गुणः' १/४/४१ से इ का गुण करके 'हे वारे' रूप की सिद्धि होती है, जब लुक् नहीं होगा तब 'अनतो लुप्' १/४/५९ से सि प्रत्यय का लुप् होगा, और उसका स्थानिवद्भाव नहीं होने से 'ह्रस्वस्य गुणः' १/४/४१ सूत्र निर्दिष्ट कार्य भी नहीं होगा, अतः 'हे वारि' रूप सिद्ध होगा ।

उसी प्रकार यहाँ भी 'लुप्यय्वृल्लेनत्' ७/४/११२ सूत्र के निर्देशानुसार 'यञञोऽश्या-पर्णान्तगोपवनादेः' ६/१/१२६ सूत्र से 'यञ्' प्रत्यय का लुप होने पर उसके निमित्त से होनेवाली वृद्धि भी नहीं होगी और 'गर्ग+जस्' रहकर 'गर्गाः' रूप सिद्ध होगा ।

'प्रत्योत्तरपदे' का ग्रहण इस न्याय का ज्ञापक नहीं है, ऐसी समझ देते हुए अन्य किसी का कहना है कि 'त्वदीयः, मदीयः' जैसे रूप में 'तव मम ङसा' २/१/१५ पर होने से 'युष्मद्+ङस्' और 'अस्मद्+ङस्' का तव-मम आदेश होनेवाला था, उसका बाध करने के लिए ही 'प्रत्ययोत्तरपदे' शब्द का ग्रहण किया है, अतः उसका ज्ञापकत्व सिद्ध नहीं होता है । उसका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यदि 'तव मम ङसा' २/१/१५ का बाध करने के लिए ही 'प्रत्ययोत्तरपदे' का ग्रहण किया है, ऐसा मानने पर 'त्वमौप्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्' २/१/११, 'तव मम ङसा' २/१/१५ का अपवाद होगा और उत्सर्ग तथा अपवाद समानविषयक होने से तव और मम आदेश भी 'मन्त' का/मकारान्त का लेने पडेंगे और पाणिनीय व्याकरण में वे मन्त के ही है, अतः पूर्व के सूत्र से आती हुइ 'मन्त' शब्द की अनुवृत्ति व्यर्थ होगी, अतः पाणिनीय व्याकरण/परंपरानुसार 'मन्त' शब्द को ज्ञापक मानना चाहिए, किन्तु यहाँ सिद्धहेम में 'तव मम ङसा' २/१/१५ उत्सर्ग नहीं किन्तु केवल विशेषविधान ही है और उसी विशेषविधान से प्रकृति और प्रत्यय, उभय के स्थान पर एक ही आदेश होता है । जबकि 'त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे'- २/१/११, सूत्र युष्मद् और अस्मद् के मकारान्त अवयव का अनुक्रम से 'त्व' और 'म' आदेश करता है, अर्थात् दोनों के कार्यक्षेत्र भी भिन्न-भिन्न हैं, अतः ऊपर बताया उसी प्रकार से वस्तुतः 'प्रत्ययोत्तरपदे' ही इस न्याय का ज्ञापक है ।

यहाँ सिद्धहेम में 'त्वम् अहम्, यूयं वयं, तुभ्यं मह्यं, तव, मम' इत्यादि आदेश 'सि, जस् ङे, ङस् 'आदि प्रत्ययों के साथ संपूर्ण युष्मद् और अस्मद् के होते हैं । वहाँ प्रत्येक सूत्र में प्रत्ययों

★ लुप्य्वृल्लेनत् ७/४/११२ सूत्र कहता है कि प्रत्यय का लुप् होने पर लुप्तप्रत्ययनिमित्तक पूर्वकार्य नहीं होता है । उदा. गोमान्,यदि वह कार्य य्वृत्, लत्व या एनत् सम्बन्धित हो तो होता है । अर्थात् ये तीन कार्य लुप्तप्रत्ययनिमित्तक भी होते हैं । उदा. जरीगृहीति, निजागलीति, एनत् पश्य ।

से तृतीया विभक्ति का 'टा' प्रत्यय लगाया गया है, अतः प्रकृति और प्रत्यय, उभय/दोनों के स्थान पर ये आदेश होते हैं और वहाँ प्रकृति के मकारान्त अवयव के साथ नहीं किन्तु संपूर्ण प्रकृति के साथ एकादेश लेना चाहिए, क्योंकि 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ परिभाषा की यहाँ प्रवृत्ति होती है, जबकि 'युष्मदस्मदोः' २/१/६ सूत्र में अन्त्य 'द्' का 'आ' करने के लिए 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ परिभाषा की प्रवृत्ति होती है, अतः 'त्व' और 'म' आदेश म् पर्यन्त के ही होते हैं ऐसा 'मन्तस्य' शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है ।

यह न्याय हैम व्याकरण के 'न्यायसंग्रह' से पूर्वकालीन परिभाषासंग्रहों में जैनेन्द्र व भोज को छोड़कर कहीं प्राप्त नहीं है । हालाँकि पाणिनीय परम्परा के पश्चात्कालीन सभी परिभाषासंग्रह में इस न्याय को स्थान दिया गया है ।

॥४८॥ सर्वेभ्यो लोपः ॥

'लोप' सर्व कार्य से बलवान् है ।

'लोप' शब्द लुप् और लुक् दोनों का वाचक होने पर भी लुप् पूर्व के न्याय में उक्त होने से, 'गोबलीवर्द' न्याय से यहाँ 'लोप' शब्द से अदर्शनवाचक ऐसा 'लुक्' का ग्रहण करना चाहिए। और 'अप्रयोगीत्' १/१/३७ सूत्र द्वारा 'एति, अपगच्छति इति इत्' इस प्रकार अन्वर्थक संज्ञा जिसकी हुई है ऐसे अदर्शनवाचक 'इत्' का जैसे 'न वृद्धिश्चाविति क्ङिल्लोपे' ४/३/११ सूत्रगत 'लोप' शब्द में संग्रह किया गया है, वैसे, इस न्याय में भी 'इत्' संज्ञक का संग्रह कर लेना अर्थात् 'क्विप्' इत्यादि का संग्रह इस न्याय में उक्त 'लोप' शब्द से हुआ है ऐसा मान लेना अर्थात् इस न्याय का अर्थ इस प्रकार होगा-लुग्विधि सर्वविधि से बलवान् होने से उसकी प्रवृत्ति प्रथम होती है । उदा. 'अबुद्ध' प्रयोग में 'धुड्ह्रस्वाल्लुगनिटस्तथोः' ४/३/७० से सर्वप्रथम सिच् का लोप हो जाने से 'गडदबादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्यादेश्चतुर्थः स्ध्वोश्च प्रत्यये' २/१/७७ से आदि में आये हुए 'ब' का 'भ' नहीं होगा । यहाँ ऐसा न कहना कि लुप्त 'सिच्' का स्थानिवद्भाव करके आदि व्यञ्जन के स्थान पर चतुर्थ व्यंजन किया जायेगा क्योंकि चतुर्थत्व की विधि सकारादि प्रत्ययआश्रित होने से वर्णविधि है और वर्णविधि करनी हो तब स्थानिवद्भाव नहीं होता है । तथा 'शं सुखं तिष्ठति इति क्विप् शंस्थाः' नामक कोई व्यक्ति है । यहाँ 'क्विप्' का लोप हुआ है । यहाँ स्था धातु के 'आ' का ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४/३/९७ से दीर्घ ई नहीं होगा क्योंकि सर्वकार्य करने से पहले ही क्विप् का लोप हो जायेगा और ईत्व विधायक सूत्र में 'व्यञ्जन' शब्द का ग्रहण साक्षात् व्यञ्जन की प्रतिपत्ति के लिए ही है ।

इस न्याय का ज्ञापक - 'सस्तः सि' ४/३/९२ सूत्रगत 'सि' में आयी हुई सप्तमी की विषयसप्तमी के रूप में की गई व्याख्या है, वह इस प्रकार है —: यदि इसी सूत्रगत निमित्तसप्तमी का स्वीकार करके व्याख्या की गई होती तो वस् धातु से अद्यतनी में 'ताम्' पर में आने के बाद 'अवात्ताम्' इत्यादि प्रयोग में सिच् प्रत्यय होते ही, इस न्याय से लोपविधि बलवान् होने से सर्व प्रथम ही 'धुड्ह्रस्वाल्लुगनिटस्तथोः' ४/३/७० से सिच् का लोप हो जाने से 'सस्तः सि' ४/३/९२ से स्

का त् नहीं होगा, तथा लुप्त सिच् का स्थानिवद्भाव करके स् का त् करना संभव/शक्य नहीं है क्योंकि 'सस्तः सि' ४/३/९२ द्वारा इच्छित 'त' विधि का निमित्त सकारादिप्रत्यय है और वह सकार रूप वर्णाश्रित होने से वर्णविधि है तथा वर्णविधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है । इस प्रकार स्थानिवद्भाव की अप्राप्ति की आशंका से आचार्यश्रीहेमचंद्रसूरिजी ने यहाँ 'सि' में विषयसप्तमी की व्याख्या की है । अतः वस् धातु से अद्यतनी का ताम् प्रत्यय आते ही 'सिच्' के विषय में प्रथम 'सस्तः सि' ४/३/९२ से स् का त् करने के बाद ही सिच् आयेगा और उसका तुरंत ही लुक् होगा । बाद में सिच् का स्थानिवद्भाव करके 'व्यञ्जनानामनिटि' ४/३/४५ से वृद्धि होकर 'अवात्ताम्' रूप सिद्ध होगा । यहाँ ऐसा न कहना कि पूर्व की तरह यहाँ सिच् का स्थानिवद्भाव नहीं होगा, क्योंकि यहाँ 'सिच्' विशिष्ट वर्ण समुदायस्वरूप होने से उसमें वर्णरूपत्व का अभाव है, अतः तदाश्रित विधि भी वर्णविधि नहीं कही जा सकेगी । अतः सिच् का स्थानिवद्भाव निःसंकोच हो सकेगा । यदि इस न्याय में लोप शब्द से लुप् का भी ग्रहण किया जाय तो पूर्व के न्याय की कोई आवश्यकता नहीं रहती है । किन्तु पूर्वाचार्यों ने इस न्याय को भिन्न बताया है, अतः हमने भी यहाँ ऐसा किया है।

यह न्याय अनित्य/निर्बल है क्योंकि अगला न्याय उसको बाधित करता है ।

पूर्व न्याय में लुप् को अन्तरङ्ग कार्य से बलवान् बताया है । जबकि यहाँ लोप को सर्व कार्य से बलवान् बताया है और ऊपर बताया उसी प्रकार लोप शब्द से लुक् और लुप् दोनों का ग्रहण होता है, अतः उपर्युक्त न्याय का इस न्याय में समावेश हो सकता है, तथापि आचार्यश्री ने इसे पृथक् बताया है, इसका क्या कारण ?

'न्यायसंग्रह' के कर्ता श्रीहेमहंसगणि ने एक समाधान यह दिया है कि यहाँ लोप शब्द लुक् और लुप् दोनों का वाचक होने पर भी लुक् स्वरूप लोप का ग्रहण करना क्योंकि लुप् पूर्व में उक्त है । इसके बारे में वे लिखते हैं कि 'इह च न्याये लोप शब्देन यदि लुबपि व्याख्यायते तदा पूर्व न्यायं विनापि सरति परं पूर्वाचार्यैरसौ पृथगुक्त इत्यतोऽत्रापि तथैवोचे ।' किन्तु यह समाधान अपूर्ण लगता है क्योंकि कलिकालसर्वज्ञ जैसे महामेधावी पुरुष इस प्रकार एक भी न्याय अधिक दें ऐसा नहीं हो सकता है । अधिक सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि 'लुबन्तरङ्गेभ्यः' ॥४७॥ न्याय पृथक् कहा वह उचित ही है क्योंकि 'लुबन्तरङ्गेभ्यः' ॥४७॥ न्याय में स्पष्टता की गई है, उसी प्रकार उस परिभाषा में बहिरङ्ग ऐसा लुप् लेना चाहिए और वह अन्तरङ्ग कार्य से हमेशां बलवान् रहता है क्योंकि यह न्याय नित्य है ऐसा 'न्यायसंग्रह' के कर्ता श्रीहेमहंसगणि के वचन 'अस्थामता त्वस्य नावलोक्यते' से लगता है । इस न्याय को 'सर्वेभ्यो लोपः' ॥४८॥ में समाविष्ट करने पर 'सर्वेभ्यो लोपः' ॥४८॥ के साथ साथ वह भी अनित्य बन जायेगा, क्योंकि अगला न्याय 'लोपात् स्वरादेशः' ॥४९॥ न्याय, इस न्याय को अनित्य बनाता है ।

दूसरा यहाँ दोनों न्याय में लोप शब्द से लुक् ही ग्रहण करना चाहिए, यह भी उचित नहीं है क्योंकि आचार्यश्री को यदि लुक् ही लेना होता तो 'सर्वेभ्यो लुक्' ॥ और 'लुकः स्वरादेशः ॥' के स्वरूप में न्याय रचना की गई होती तो चल सकता था किन्तु वैसा न करके लोप शब्द रखा

उससे ज्ञात होता है कि इन दोनों न्याय में लुक् और लुब् दोनों लेने हैं केवल जहाँ लुक् बहिरङ्ग हो और अन्य कार्य अन्तरङ्ग हो वहाँ ही 'लुबन्तरङ्गेभ्यः' ॥४७॥ न्याय की प्रवृत्ति होती है किन्तु जहाँ लुप् और अन्य कार्य दोनों अन्तरङ्ग या बहिरङ्ग हो वहाँ 'सर्वेभ्यो लोपः' ॥४८॥ न्याय की प्रवृत्ति होती है और ऐसी परिस्थिति में 'लोपात्स्वरादेशः' ॥४९॥ न्याय उसका बाधक बन सकता है अन्यथा नहीं।

श्रीलावण्यसूरिजी को भी यहाँ लोप शब्द से लुक् और लुप् दोनों का ग्रहण इष्ट है । उन्होनें तो इसके साथ 'इत्' संज्ञा से होनेवाले लोप का भी यहाँ ग्रहण किया है और श्रीहेमहंसगणि ने भी उसे भिन्न पद्धति से ग्रहण किया है ।

पाणिनीय परंपरा में प्राचीन वैयाकरणों ने इस न्याय को ज्ञापकसिद्ध माना है किन्तु नागेश इत्यादि ने भाष्य में अनुक्त होने से ज्ञापकसिद्ध नहीं माना है ।

हैम के पूर्ववर्ती जैनेन्द्र व चान्द्र परिभाषासंग्रह में इस न्याय को स्थान नहीं दिया गया है जबकि पाणिनीय परंपरा के शेषाद्रिनाथ सुधी की परिभाषावृत्ति में भी यह न्याय उपलब्ध नहीं है।

॥ ४९॥ लोपात्स्वरादेशः ॥

'लोप' से स्वर का आदेश बलवान् होता है ।

इस न्याय में 'बलवान्' शब्द जोड़ देना और इस प्रकार अगले सात न्याय में भी 'बलवान्' शब्द जोडना ।

यहाँ भी 'लोप' शब्द से लुक्[१] ग्रहण करना क्योंकि यह न्याय पूर्वन्याय का अपवाद है।

सर्व कार्य से लोप (लुक्) बलवान् होने पर भी, जहाँ स्वर का आदेश करना हो वहाँ, लोप से स्वर का आदेश बलवान् हो जाता है । उदा. 'श्री देवता अस्य' में 'देवता' ६/२/१०१ से अण् होगा । यहाँ अण् णित् होने से 'वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञ्णिति तद्धिते' ७/४/१ से वृद्धि होने की संभावना है, किन्तु 'अवर्णेवर्णस्य' ७/४/६८ सूत्र पर होने से, उससे 'ई' का लुक् होगा किन्तु यह न्याय 'अवर्णेवर्णस्य' ७/४/६८ सूत्र का बाध करेगा और 'वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञ्णिति तद्धिते' ७/४/१ सूत्र से स्वर के आदेश रूप वृद्धि होकर 'श्रायं हविः' प्रयोग सिद्ध होगा ।

'वृद्धिः स्वरेष्वादेः' /७/४/१ से होनेवाली वृद्धि का, 'अवर्णेवर्णस्य' ७/४/६८ से पूर्वविधान किया है, वह इस न्याय का ज्ञापक है । वह इस प्रकार है । यदि यह न्याय न होता तो 'श्रायं' इत्यादि प्रयोग की सिद्धि के लिए प्रथम 'अवर्णेवर्णस्य' ७/४/६८ सूत्र का विधान किया होता । और बाद में 'वृद्धिः स्वरेष्वादेः-' ७/४/१ सूत्र का विधान किया होता, अतः परत्व के कारण वृद्धि ही प्रथम होगी किन्तु ऐसा नहीं किया है वह इस न्याय के आशय से ही ।

इस न्याय का अनित्यत्व 'नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः ।' न्याय में कहा जायेगा ।

१. पाणिनीय व्याकरण में लुप् और लुक् समानविषयक है । जहाँ स्थानिवद्भाव की आवश्यकता न हो वहाँ लोप किया जाता है ।

इस न्याय की अनित्यता इस प्रकार है-: यद्यपि यह न्याय नित्य होने पर भी जहाँ अनिष्टरूपसिद्धि होती हो वहाँ या शिष्टपुरुषप्रयुक्त रूप से भिन्न रूप होता हो वहाँ उसी रूप/प्रयोग शास्त्र के नियम और न्याय के अनुसार साधु/सही होने पर भी असाधु/अनुचित माना जाता है । उदा. 'चिकीर्ष्यते' में 'सन्नन्त' कृ धातु है और उसका कर्मणि -वर्तमाना अन्यदर्थ में प्रयुक्त यह रूप है। यहाँ 'चिकीर्ष' को 'क्यः शिति' ३/४/७० से क्य होगा अर्थात्, 'चिकीर्ष + क्य + ते' होगा । यहाँ एकसाथ 'दीर्घश्च्वियङ् यक्क्येषु च' ४/३/१०८ से स्वर के आदेश स्वरूप 'ष' के 'अ' का दीर्घ होने की प्राप्ति है, और 'अतः' ४/३/८२ से ष के अ का लोप होने की भी प्राप्ति है । यहाँ 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ और 'लोपात्स्वरादेशः' ।।४९।। न्याय-दोनों से दीर्घ ही हो सकता है तथापि दीर्घ न करके 'अतः' ४/३/८२ से 'अ' का लोप किया है क्योंकि शिष्टपुरुषों ने अ का लोप ही किया है और वही इष्ट है ।

इस न्याय के ज्ञापक 'वृद्धिः स्वरेष्वादेः-' ७/४/१ के प्राक् पाठ के बारे में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ सूत्र की व्याख्या में बताया है उसी प्रकार 'पर' शब्द इष्टवाची लेना और उसी प्रकार से अर्थ करने पर जहाँ तुल्यबलयुक्त सूत्रो की स्पर्द्धा हो वहाँ जो इष्ट हो वही होता है । अर्थात् वही इष्ट पूर्व होने पर भी पर सूत्र का बाध करता है और इस प्रकार महाभाष्य में भी बताया है, अतः जहाँ जहाँ ऐसी परिस्थिति हो वहाँ वहाँ ऊपर बताया उसी प्रकार अर्थ करना । यद्यपि पाणिनीय तंत्र में वृद्धिसूत्र ही पर है और लोपसूत्र पूर्व है, अतः वहाँ इस न्याय की कोई आवश्यकता नहीं है । तथा शाकटायन, चान्द्र व जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति में यह न्याय प्राप्त नहीं है, शायद वहाँ भी परत्व से ही निर्वाह हो सकता होगा ।

।। ५० ।। आदेशादागमः ।।

आदेश से आगम बलवान् है ।

उदा. अर्पयति प्रयोग में 'ऋ' धातु से 'णि' पर में आने पर 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ सूत्र से होनेवाली वृद्धि का बाध करके प्रथम 'अर्त्ति-री-व्ली ह्री-....... पुः' ४/२/२१ से पु आगम होगा । बाद में 'पुस्पौ'- ४/३/३ सूत्र से गुण होगा और 'अर्पयति' प्रयोग सिद्ध होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक ऐसे प्रयोगों के लिए अन्य कोई प्रयत्न नहीं किया है वह है और यह न्याय अनित्य होने से 'द्वयोः कुलयोः' प्रयोग में कुल शब्द के विशेषण रूप नपुंसकलिंग 'द्वि' शब्द से 'अनाम्स्वरे नोऽन्तः' १/४/६४ से न का आगम नहीं हुआ है किन्तु 'आद्वेरः' २/१/४१ से अन्त्य इ का स्वर रूप आदेश 'अ' हुआ । यहाँ किसी को शंका हो सकती है कि 'अनाम्स्वरे नोऽन्तः' १/४/६४ सूत्र के न्यास में कहा है कि 'आद्वेरः' १/४/४१ सूत्र पर है और अत्वविधि अन्तरङ्ग है अतः वह न आगम का बाध करके प्रथम प्रवृत्त होगा । तो इस न्याय की अनित्यता के उदाहरण स्वरूप यह 'द्वयोः कुलयोः' प्रयोग कैसे उचित माना जाय ? आपकी बात सत्य है किन्तु यदि यह न्याय नित्य/बलवान् होता तो परत्व और अन्तरङ्गत्व होने पर भी उसका भी बाध करके 'न' आगम ही होता क्योंकि यह न्याय विशेष विधि रूप ही है किन्तु ऐसा नहीं हुआ है, वह इस न्याय की अनित्यता के

कारण से ही ।

'आदेशादागम:' ॥ ५० ॥ और 'आगमात्सर्वादेश:' ॥ ५१॥ दोनों न्याय स्वतंत्र हैं । वे अन्य किसी न्याय के कार्य में बिना कुछ विक्षेप किये अपना कार्य करते हैं । आदेश से आगम बलवान् होता है किन्तु जहाँ समग्र/संपूर्ण प्रकृति का आदेश करना हो वहाँ आगम से आदेश बलवान् होता है ।

'ऋ' धातु का णि पर में आने के बाद 'नामिनोऽकलिहले:' ४/३/५१ सूत्र से वृद्धि की प्राप्ति है और 'अर्त्ति-री-व्ली ह्री....पु:' ४/२/२१ से पु आगम होने की प्राप्ति है । यहाँ 'ऋ' एक ही स्वररूप धातु होने से संपूर्ण के स्थान पर वृद्धि रूप आदेश होनेवाला है । अत: 'आगमात्सर्वादेश:'- से पु आगम का बाध हो सकता है । किन्तु यहाँ वृद्धि अन्त्यस्वर की करनी है और 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' न्याय से वही ऋ को अन्त्य स्वर मानकर वृद्धिरूप आदेश होगा अत: वह संपूर्ण 'ऋ' स्वरूप प्रकृति के स्थान में हुआ नहीं माना जायेगा । अत: 'आगमात् सर्वादेश:' ॥५१॥ न्याय की यहाँ प्राप्ति ही नहीं है किन्तु पूर्व के न्याय 'आदेशादागम:' ॥५०॥ से ऋ की वृद्धि होने के बजाय 'अर्त्ति-री-व्ली ह्री.... पु:' ४/२/२१ से पु का आगम होगा बाद में 'पुस्पौ' ४/३/३ से गुण रूप आदेश होगा ।

कुछेक नवीन वैयाकरण के मत में पु आगम नित्य है किन्तु आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने पूर्व से चली आती प्रणालिकानुसार आगमशास्त्र को अनित्य मानकर पु आगम को भी अनित्य माना है, अत एव 'आदेशादागम:' ॥५०॥ न्याय उन्होंने रखा है । नवीन वैयाकरणों के मत में पु आगम नित्य होने से इस न्याय की कोई आवश्यकता नहीं है ।

यह न्याय वाचनिक है, अत: इसका कोई ज्ञापक नहीं हो सकता है । अत: श्रीहेमहंसगणि ने ऐसे वाचनिक न्यायों में ज्ञापक नहीं मिलने से इष्ट रूप की सिद्धि करने के लिए या अनिष्ट रूप न हो, उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया ऐसा बताया है और उसे ही ज्ञापक के रूप में स्वीकार किया है ।

'आदेशादागम:' ॥५०॥ न्याय का क्षेत्र मर्यादित है तथापि वह अनित्य है क्योंकि 'आगमात्सर्वादेश:' ॥५१॥ उसका अपवाद है तथा (तदुपरांत) सर्वादेश न हो ऐसे स्थानों में भी यह न्याय अनित्य है । उदा. 'द्वयो: कुलयो:' ।

पाणिनीय व्याकरण में यह न्याय नहीं पाया जाता है क्योंकि वहाँ परत्व इत्यादि से व्यवस्था की गई है । यद्यपि आगमशास्त्र अनित्य है, ऐसा प्रत्येक परिभाषा-ग्रन्थ में स्वीकृत है तथापि पाणिनीय परंपरा में 'पुक्' आगम को नित्य माना है, अत: यह न्याय 'पु' आगम की दुर्बलता के लिए समर्थ नहीं है और इस न्याय का आश्रय नहीं करने से 'द्वयो: कुलयो:' की सिद्धि भी सरलता से हो सकेगी ।

॥ ५१॥ आगमात्सर्वादेश: ॥

आगम से सर्वादेश बलवान् है ।

'आदेशादागम:' ॥५०॥ न्याय का यह अपवाद है । आगम से भी संपूर्ण/पूरी प्रकृति का आदेश बलवान् होता है । उदा. प्रियतिसृण: कुलात्; इस उदाहरण में प्रियतिसृ शब्द, कुल शब्द का

विशेषण है । और प्रियतिसृ शब्द का विग्रह-वाक्य इस प्रकार है । -: 'प्रियाः तिस्रो यस्मिन् (यस्य) तत् प्रियतिसृ कुलम्' 'प्रियत्रि' शब्द में 'त्रि' का 'तिसृ' आदेश, 'न' का आगम होने से पहले ही होगा, बाद में 'न' का आगम होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक 'ऋतो रः स्वरेऽनि' २/१/२ सूत्र में तिस्र इत्यादि रूप में 'ऋ' का 'र' करने से सम्बन्धित विधि सूत्र में 'अनि' शब्द से नकार विषय का वर्जन किया है, उससे होता है । यदि यह न्याय न होता तो स्वरादि स्यादि प्रत्यय पर में होने से पूर्वन्याय से 'न' का आगम ही होता और तो, कौन से ऋ की रत्वविधि में नकार विषय का वर्जन करें ? तथापि 'अनि' शब्द में नकार के विषय का वर्जन किया, उससे ज्ञात होता है कि इस न्याय से प्रथम तिसृ आदेश होने के बाद ही 'न' का आगम होगा ।

यहाँ किसीको शंका होती है कि 'न' के आगम को छोड़कर 'प्रियतिसृणाम्' में 'आम्' का 'नाम्' आदेश होनेवाला हो तभी रत्व का निषेध करने के लिए 'अनि' कहा गया है । किन्तु वह सत्य नहीं है क्योंकि केवल 'नाम्' के लिए ही नकार विषय का वर्जन करना होता तो 'अनामि' इस प्रकार असंदिग्ध रीति से कहा होता किन्तु 'अनि' इस प्रकार सामान्यतया कहा गया, वह 'न' आगम विषय का वर्जन करने के लिए ही कहा गया है ।

इस न्याय की अनित्यता नहीं मालूम देती है । इसके बाद आनेवाले न्याय 'परान्नित्यम्' ॥५२॥ की भी अनित्यता नहीं है ।

इस न्याय के न्यास में श्रीहेमहंसगणि पूर्वपक्ष के रूप में ऐसी शंका उपस्थित करते हैं कि 'नोऽन्त' (आगम) से तिसृ आदेश पर है, अतः तिसृ आदेश ही प्रथम होनेवाला है, तो यहाँ इस न्याय की क्या आवश्यकता है ? इसी शंका का समाधान देते हुए वे कहते हैं कि आप की शंका उचित नहीं है, वस्तुतः तिसृ आदेश होने के बाद भी 'न' का आगम तो होनेवाला ही है अर्थात् 'न' आगम नित्य है और 'परान्नित्यम्' न्याय से 'न' आगम ही प्रथम होने की प्राप्ति है, उसको इस न्याय से दूर किया जाता है ।

'ऋतो रः स्वरेऽनि' २/१/२ सूत्रगत 'अनि' के ज्ञापकत्व सम्बन्धित विचार करते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यदि यह न्याय न होता तो स्वरादि स्यादि प्रत्यय पर में होने से प्रथम ही 'न' आगम हो जाने से 'न' आगम रूप व्यवधान के कारण तिसृ आदेश नहीं होगा तो किस के ऋ का 'न' पर में आने से रत्व करने का निषेध करें ?

यहाँ किसीको शंका होती है कि आगम किस तरह व्यवधान हो सकता है ? क्योंकि 'आगमा यद्‌गुणीभूतास्तद्‌ग्रहणेन गृह्यते ॥' न्याय से आगम स्वाङ्ग बनता है और 'स्वाङ्गमव्यवधायि ॥' न्याय से आगम व्यवधानरूप बनता नहीं है, तो यहाँ 'न' आगम व्यवधान किस तरह बन सकता है । इसका समाधान देते हुए श्रीहेमहंसगणि इस न्याय के न्यास में कहते हैं कि जिस शब्द से 'न' आगम होता है उसी शब्द सम्बन्धित कार्य जब करना हो तब यह न्याय उपस्थित होता है जबकि यहाँ 'न' आगम 'प्रियत्रि' शब्द से होता है और तिसृ आदेशरूप कार्य 'त्रि' रूप अवयव का है, अतः उसकी अपेक्षा

से 'न' आगम स्वाङ्ग बनता नहीं है अत एव 'न' आगम व्यवधानरूप होता ही है ।

यह न्याय और इसका पूर्ववर्ती न्याय 'आदेशादागमः' ॥५०॥ जैनेन्द्र, शाकटायन, चान्द्र परम्परा में प्राप्त नहीं है तथा पाणिनीय परम्परा में सर्वत्र परत्व इत्यादि से व्यवस्था की गई होने से वहाँ भी इस न्याय का कोई प्रयोजन नहीं है ।

॥ ५२॥ परान्नित्यम् ॥

पर कार्य से नित्यकार्य बलवान् है ।

'स्पर्द्धे' ७/४/११९ परिभाषा का अपवाद स्वरूप यह न्याय है । 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ कहता है कि जहाँ एकसाथ दो भिन्न-भिन्न सूत्रों से होनेवाले दो भिन्न भिन्न कार्य प्राप्त हो तब उन्हीं दो सूत्रों में से जो सूत्र पर हो उसी सूत्र से होनेवाला कार्य बलवान् बनता है और प्रथम वही कार्य होता है ।

जबकि यह न्याय कहता है कि जब एकसाथ दो भिन्न-भिन्न सूत्रों से होनेवाले दो भिन्न-भिन्न कार्यों की प्राप्ति हों तब यदि पूर्वसूत्र से होनेवाला कार्य नित्य हो तो वही नित्य कार्य पर सूत्र से होनेवाले कार्य का बाध करता है ।

उदा. 'युष्मान् अस्मान् वा आचक्षाणेन युष्या अस्या ।' यहाँ युष्मद् और अस्मद् से णिच् होगा तब 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से 'अद्' का लोप होगा और क्विप् होते ही उसका लोप होगा । 'णेरनिटि' ४/३/८३ से णिच् का लोप होगा और टा प्रत्यय होने पर 'युष्म् + आ' और 'अस्म् + आ' होगा । तब 'त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्' २/१/११ से 'त्व और 'म' आदेश होने की प्राप्ति है तथा 'टाङ्योसि यः' २/१/७ से 'म्' का 'य' होने की प्राप्ति है । इन दोनों कार्यों में 'त्व' और 'म' आदेश पर हैं जबकि यत्वविधि पूर्व होने पर भी नित्य है क्योंकि प्रथम त्व-म आदेश करेंगे तो भी 'टाङ्योसि यः' २/१/७ से 'त्व' और 'म' के 'अ' का 'य्' आदेश होगा । अतः इन प्रयोगों में 'युष्म्' और 'अस्म्' के 'म्' का, 'युष्म्-अस्म्' का 'त्व-म' आदेश करने से पूर्व 'टाङ्योसि यः' २/१/७ से य हो जायेगा ।

इस न्याय का ज्ञापन इस प्रकार होता है । - 'मा भवानटन्तं प्रयुक्त इति मा भवानटिटद्' इत्यादि प्रयोग में नित्य ऐसे धातु के द्वित्व का बाध करके अनित्य ऐसी ह्रस्वविधि 'उपान्त्यस्यासमानलोपिशास्वृदितो ङे' ४/२/३५ से प्रथम होगी उसका ज्ञापन करने के लिए 'ओणृ' धातु को 'ऋदित्' किया है ।

यदि द्वित्व नित्य होने से 'स्वरादेर्द्वितीयः' ४/१/४ से द्वितीय अंश का द्वित्व होनेवाला ही होता तो, 'ओ' उपान्त्य नहीं होने से ह्रस्व होने की प्राप्ति ही नहीं है तो ह्रस्वविधि की निवृत्ति के लिए 'ओणृ' धातु को ऋदित् करने की क्या आवश्यकता ? अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं है तथापि ऋदित् किया है, उससे ज्ञापन होता है कि पर कार्य से नित्य कार्य बलवान् होने से ह्रस्वविधि से पूर्व ही द्वित्वविधि हो जायेगी, किन्तु यहाँ ह्रस्वविधि अनित्य होने पर भी प्रथम होती है, उसका ज्ञापन

करने के लिए 'ओणृ' धातु को ऋदित् किया है । अतः 'मा भवानोणिणद्' इत्यादि प्रयोग में द्वित्व से पूर्व ही ह्रस्वविधि का निषेध होगा । जबकि 'मा भवानटन्तं प्रयुक्त इति मा भवानटिटद्' प्रयोग में प्रथम ह्रस्व होगा बाद में द्वित्व होगा और वह प्रयोग सिद्ध होगा । यदि यह न्याय न होता तो इस प्रकार ह्रस्वविधि प्रथम होती है उसका ज्ञापन करने के लिए ओणृ धातु को आचार्यश्री ने ऋदित् न किया होता क्योंकि ह्रस्वविधि पर है और द्वित्वविधि पूर्व है । अतः परत्व से ही काम चल सकता था ।

तथापि केवल इस न्याय की अपेक्षा से पर कार्य से नित्यकार्य बलवान् बनता है और वही नित्य कार्यरूप द्वित्व ही प्रथम होगा, किन्तु अनित्य ऐसा उपान्त्य ह्रस्व प्रथम नहीं होगा, तो 'मा भवानटिटद्' जैसे प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे । ऐसी आशंका से ही ऐसे प्रयोगों की सिद्धि के लिए ह्रस्वविधि प्रथम होगी उसका ज्ञापन करने के लिए आचार्यश्री ने 'ओणृ' धातु को ऋदित् किया है ।

इस न्याय का उदाहरण जो बताया गया है वही उचित नहीं है । यहाँ 'युष्या' और 'अस्या' की सिद्धि इस प्रकार बतायी गई है । 'युष्मान् अस्मान् वा आचक्षाणेन' विग्रह करने पर 'युष्मद् + णिच् + क्विप् + टा' और 'अस्मद् + णिच् + क्विप् + टा' होगा । यहाँ णिच् पर में होने से 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से युष्मद् और अस्मद् के अन्त्य 'अद्' का लोप होगा और 'अप्रयोगीत्' १/१/३७ से क्विप् का लोप होगा बाद में 'णेरनिटि' ४/३/८३ से णिच् का लोप होता है, अतः 'युष्म् + टा 'और 'अस्म्+टा' रहेगा । यहाँ श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि 'टा' प्रत्यय के कारण से युष्म् और अस्म् का 'त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्' २/१/११ से 'त्व-म' आदेश होने की प्राप्ति है और 'टाङ्योसि यः' २/१/७ से 'य्' होगा । अतः सर्वप्रथम 'य्' ही होगा किन्तु 'त्व-म' आदेश नहीं होंगे । यह बात नितांत अनुचित है । यहाँ युष्मद् और अस्मद् के म् पर्यन्त के अवयव का आदेश तभी ही होता है, जब मूल- विग्रह वाक्य में ही युष्मद् और अस्मद् एकवचन में हों, तब । यह बात सिद्धहेमबृहद्वृत्ति और उसके उदाहरण में स्पष्ट रूप से बतायी है । यहाँ विग्रहवाक्य में 'युष्मान्- अस्मान् है अर्थात् वह बहुत्वविशिष्ट है, अतः उसका 'त्व-म' आदेश होने की प्राप्ति ही नहीं है, अतः यहाँ किसी भी परशास्त्र की प्राप्ति नहीं है, अतः 'म्' का 'य्' आदेश स्वतः सिद्ध है ।

संक्षेप में, यह उदाहरण इस न्याय के लिए उचित नहीं है । श्रीलावण्यसूरिजी भी ऐसा मानते हैं । 'दीव्यति' उदाहरण इस न्याय के लिए उचित है । यहाँ दिवादि के दिव् धातु से वर्तमाना का अन्यदर्थे एकवचन का प्रत्यय तिव् आयेगा । उसे 'एताः शितः' ३/३/१० से शित् संज्ञा होगी । अब यहाँ 'लघोरुपान्त्यस्य' ४/३/४ से गुण होने की प्राप्ति है और 'दिवादेः श्यः' ३/४/७२ से 'श्य' होने की प्राप्ति है । 'श्य' नित्य है । जबकि 'लघोरुपान्त्यस्य' ४/३/४ से होनेवाला गुण पर है, उसका बाध करके नित्यशास्त्र ही प्रवृत्त होगा । दिव् + य + ति होगा । अब 'शिदवित्' ४/३/२० से श्यः ङिद्वद् होने से गुण नहीं होगा, वह इस न्याय का साफल्य है, और बाद में 'भ्वादेर्नामिनो दीर्घोर्वोर्व्यञ्जने' २/१/६३ से दिव् का इ दीर्घ होगा और दीव्यति रूप सिद्ध होगा ।

इस न्याय के ज्ञापक के रूप में श्रीहेमहंसगणि ने ओणृ धातु के ऋदित्करण को बताया है ।

उसके बारे में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इस न्याय के बिना ओण् धातु का ऋदित्करण व्यर्थ हो तब ही वह इस न्याय का ज्ञापक बन सकता है किन्तु ऐसा नहीं होता है । मान लिया जाय कि अभी यह न्याय नहीं है, अत: 'स्वरादेर्द्वितीय:' ४/१/४ से होनेवाला द्वित्व से 'उपान्त्यस्याऽसमानलोपि शास्वृदितो ङे' ४/२/३५ से होनेवाला ह्रस्व पर होने से प्रथम वही होने की प्राप्ति है । अत: उसका निवारण करने के लिए 'ओणृ' धातु को ऋदित् किया है । इस प्रकार वह सार्थक है अत: उससे इस न्याय का ज्ञापन नहीं हो सकता है । और यह न्याय होने पर भी 'मा भवानटिटद्' में उपान्त्यह्रस्वविधान पर होने से, वह द्वित्व का बाध करेगा ही, और इसी प्रयोग की भी सिद्धि हो जाती है, अत: इस न्याय के ज्ञापन की कोई आवश्यकता नहीं है ।

और उपान्त्य का ह्रस्व, वह ङ परक णि पर में आने से होता है, अत: उसे बहिरङ्ग माना जाय और द्वित्व केवल ङनिमित्तक होने से उसे अन्तरङ्ग माना जाय तो द्वित्व करते समय जो प्रथम हुआ है वह उपान्त्यह्रस्व असिद्ध होगा, तो 'ओणृ' धातु को ऋदित् किया है वह व्यर्थ होगा तथापि 'परान्नित्यम्' न्याय का किसी भी प्रकार से ज्ञापन कर सकता नहीं है । इस प्रकार से केवल इतना ही ज्ञापन हो सकता है कि बहिरङ्ग ऐसा उपान्त्यह्रस्व, अन्तरङ्ग ऐसे, द्वित्व के पूर्व ही होता है और केवल इतने से 'मा भवानटिटद्' की भी सिद्धि हो सकती है ।

इन सब बातों से इतना ही सिद्ध हो सकता है कि यह न्याय ज्ञापकसिद्ध नहीं है । 'मा भवानटन्तं प्रयुक्त' में 'माङ्' का योग होने से 'प्रायुक्त' के स्थान पर 'प्रयुक्त' रखा है ।[1] यहाँ उदाहरण में 'मा' और 'भवान्' क्यों रखा गया है इसकी स्पष्टता करते हुए न्यास में श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यदि यहाँ माङ् का प्रयोग न किया होता तो 'स्वरादेस्तासु' ४/४/३१ से आद्य स्वर 'अ' की वृद्धि होगी तो उपान्त्य ह्रस्व करने के बाद वृद्धि की गयी है या उपान्त्यह्रस्व किये बिना ही अकार की वृद्धि की गई है, वह मालूम नहीं होगा । अत: वृद्धि को दूर करने के लिए माङ् का प्रयोग किया है । वैसा करने के बाद भी माङ् के आ के साथ अटिटद् के अ की सन्धि होने के बाद, मालूम नहीं देता कि उपान्त्य ह्रस्व करने के बाद हुए अ के साथ सन्धि हुई है या उपान्त्य ह्रस्व किये बिना आ के साथ सन्धि हुई है । अत: माङ् और अटिटद् के बीच भवान् पद रखा है और उसी प्रकार 'मा भवानोणिणद्' में जान लेना ।

यह न्याय पाणिनीय परम्परा में केवल शेषाद्रिनाथ और नागेश ने दिया है और हैम के पूर्ववर्ती भावमिश्रकृत कातन्त्र परिभाषावृत्ति, कालापपरिभाषापाठ व जैनेन्द्रपरिभाषावृत्ति में है ।

॥ ५३ ॥ नित्यादन्तरङ्गम् ॥

नित्य कार्य से भी अन्तरङ्ग कार्य बलवान् है ।

'अनित्यमपि' शब्द यहाँ अध्याहार है अर्थात् अनित्य हो ऐसा अन्तरङ्ग कार्य नित्य कार्य से

१. यहाँ न्यास में श्रीहेमहंसगणि ने दिये हुए प्रतीकात्मक, इस न्याय की वृत्ति के शब्द में 'मा भवानटन्तम् प्रयुक्त' दिया है और उसीके अनुसार यहाँ समझ दी गई है । जब कि मूलन्यायवृत्ति में 'प्रायुक्त 'है । 'प्रायुक्त' में शायद लेखक का लेख दोष हो सकता है या तो मुद्रणदोष भी हो सकता है ।

भी बलवान् है । उदा. प्रेजुः प्रोपुः । यहाँ यज् और वप् धातु से परोक्षा का अन्यदर्थे बहुवचन का उस् प्रत्यय हुआ है । वे ही यज् और वप् धातु प्र उपसर्ग के साथ हैं, अतः 'प्र+यज्+उस्' और 'प्र+वप् +उस्' । यहाँ 'य्वृद् य्वृदाश्रयं च ॥' न्याय से यज् और वप् धातु के य और व का 'यजादि वचेः किति' ४/१/७९ से य्वृत् होगा और बाद में 'द्विर्धातुः परोक्षा ङे.....' ४/१/१ से द्वित्व होगा । अतः 'प्र+इ+इज्+उस्' और 'प्र+उ+उप्+उस्' होगा ।

यहाँ एत्व और ओत्व पदद्वयापेक्षित है अतः वह बहिरङ्ग है किन्तु नित्य है जबकि 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ से होनेवाली दीर्घविधि अन्तरङ्ग है किन्तु वह अनित्य है अतः, 'बलवन् नित्यमनित्यात्' ॥४१॥ से प्रथम एत्व, ओत्व होने की प्राप्ति है किन्तु यह न्याय होने से अनित्य ऐसे अन्तरङ्ग कार्यस्वरूप दीर्घविधि ही प्रथम होगी बाद में एत्व ओत्व होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक 'आशीः' ३/३/१३ सूत्रगत 'आशीः' शब्द है । मूल शब्द आशिस् है । यहाँ 'दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः' १/४/४५ से सि प्रत्यय का लोप होगा और 'सो रुः' २/१/७२ से स् का रु होगा और उसी रु का विसर्ग होने की और पूर्व का, ई दीर्घ होने की प्राप्ति है, किन्तु यह न्याय होने से नित्य ऐसे विसर्ग का बाध करके पूर्वव्यवस्थित होने से अन्तरङ्ग ऐसी दीर्घविधि प्रथम होगी, बाद में विसर्ग होगा ।

यदि यह न्याय न होता तो पूर्व न्याय से विसर्ग ही प्रथम होता, और बाद में रेफ का अभाव होने से दीर्घविधि न होती तो 'आशीः' इस प्रकार का निर्देश असंभव ही होता ।

यह न्याय नित्य नहीं है क्योंकि अगला न्याय इस न्याय का बाध करता है ।

यहाँ 'आशीः' ज्ञापक में दीर्घविधि अन्तरङ्ग मानी है और विसर्गविधि बहिरङ्ग मानी है । दीर्घविधि पूर्व व्यवस्थित होने से अन्तरङ्ग है, ऐसा कहा किन्तु स्थानी, निमित्त इत्यादि द्वारा दीर्घविधि बहिरङ्ग है और विसर्गविधि अन्तरङ्ग है क्योंकि दीर्घविधि में स्थानी इ है और निमित्त पदान्तत्व ही है । अतः इस न्याय का यहाँ पर निर्देश युक्तिसंगत लगता नहीं है ।

इसका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' न्याय की व्याख्या के समय अधिकापेक्षत्व से जो बहिरङ्ग है वह बहिरङ्ग नहीं कहा जाता है, यह सिद्ध किया ही है । अतः यहाँ जिस प्रकार से अन्तरङ्गत्व और बहिरङ्गत्व ग्रहण किया है वह सही है ।

वस्तुतः 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' और 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' इन दोनों न्याय से बहिरङ्ग से अन्तरङ्ग का प्राबल्य बता दिया है और वही न्याय भी नित्य से अन्तरङ्ग बलवान् होता है न्याय के बीजस्वरूप है, अतः यहाँ ज्ञापक की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी का मानना है ।

किन्तु इस न्याय में बहिरङ्गत्व गौण है, जबकि नित्यत्व मुख्य है । पूर्व न्याय से नित्य कार्य बलवान् हो जाता होने से इस न्याय की आवश्यकता है तथा उसका ज्ञापक 'आशीः' प्रयोग बताया वह उचित ही है । 'आशीः' में दीर्घविधि पर है किन्तु अनित्य है जबकि विसर्गविधि पूर्व है किन्तु नित्य है, अतः 'परान्नित्यम्' न्याय से प्रथम विसर्ग होने की प्राप्ति है और विसर्ग होने के बाद रेफ

के अभाव में दीर्घविधि नहीं होगी तो 'आशीः' प्रयोग नहीं हो सकेगा तथापि श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने 'आशीः क्यात्...सीमहि' ३/३/१२ में 'आशीः' प्रयोग किया उसे इस न्याय का ज्ञापक मानना उचित है।

यह न्याय भी किसी न किसी प्रकार से सभी व्याकरण परम्परा में मान्य है।

॥ ५४ ॥ अन्तरङ्गाच्चानवकाशम् ॥

अन्तरङ्ग कार्य से भी अनवकाश कार्य बलवान् है।

'बहिरङ्गमपि' यहाँ अध्याहार है अर्थात् अन्तरङ्ग कार्य से भी अनवकाश/निरवकाश कार्य बहिरङ्ग होने पर भी वह बलवान् गिना जाता है।

उदा.. 'त्वम्, अहम्'। 'युष्मद् +सि' और 'अस्मद् +सि' में 'त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्' २/१/११ से युष्मद् और अस्मद् के म् पर्यन्त अवयव का अनुक्रम से त्व और म आदेश होने की प्राप्ति है किन्तु वही आदेश होने पर 'त्वमहं सिना प्राक् चाकः' २/१/१२ अनवकाश/निष्फल हो जायेगा। जबकि 'त्वमौ प्रत्योत्तरपदे चैकस्मिन्' २/१/११ इससे भिन्न स्थल पर भी प्रवृत्त होनेवाला है, अतः वह चरितार्थ है और सावकाश है। इसी परिस्थिति में 'त्वमहं सिना प्राक् चाकः' २/१/१२, 'त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्' २/१/११ का बाध करता है। इस न्याय का ज्ञापक 'त्वमहं सिना प्राक् चाकः' २/१/१२ सूत्र ही है, क्योंकि यदि यह न्याय न होता तो युष्मद् और अस्मद् के म पर्यन्त अवयव का त्व-म आदेश अन्तरङ्ग होने से होता ही और, तो यह सूत्र व्यर्थ बन पाता, अतः इसी सूत्रकरण की कोई आवश्यकता नहीं थी, अत एव इसी सूत्रकरण व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है।

यह न्याय नित्य है।

पाणिनीय वैयाकरणों के मतानुसार निरवकाश और अपवाद दोनों एक ही हैं। तथापि यहाँ ऐसा न करके त्व और म प्रकृति के एक अंश का आदेश मानकर अन्तरङ्ग कहा है और त्वं तथा अहं को प्रकृति-प्रत्यय, उभयस्थाननिष्पन्न आदेश मानकर निरवकाश ऐसा बहिरङ्ग कहा है।

पाणिनीय तंत्र में परिभाषेन्दुशेखर में 'अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयान्' न्याय 'येन नाप्राप्ते' - न्याय से भिन्न बताया है तो कहीं पूर्व के 'अन्तरङ्गाद्'-न्याय में ही इस न्याय को समाविष्ट कर दिया है। और वहाँ 'येन नाऽप्राप्ते-' न्याय को उसके बीजस्वरूप बताया है। संक्षेप में, दोनों न्याय की व्याख्या साथ ही प्राप्त होती है। सिद्धहेम की परम्परा में 'येन नाऽप्राप्ते-' न्याय एवकार सहित है जबकि पाणिनीय तंत्र में वह एवकार रहित है। अतः सिद्धहेम में उसके द्वारा बाध्यविशेष का विचार किया गया है। जबकि पाणिनीय तंत्र में वही न्याय द्वारा बाध्य-सामान्य और बाध्य - विशेष दोनों का विचार किया गया है। अतः सिद्धहेम में 'उत्सर्गादपवादः' न्याय को 'येन नाऽप्राप्ते-' न्याय से भिन्न बताया है। और वही आवश्यक भी है। उसी ही प्रकार से सिद्धहेम में 'अन्तरङ्गाच्चानवकाशम्' न्याय

भी जरूरी है । जबकि पाणिनीय परंपरा में अपवाद में ही अनवकाश का समावेश कर दिया है । सिद्धहेम में उसी प्रकार अपवाद में अनवकाश का समावेश करना संभव है, तथापि दोनों में सूक्ष्म फर्क है उसका ज्ञापन करने के लिए भिन्न भिन्न बताये हैं और वही उचित ही है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं ।

॥ ५५ ॥ उत्सर्गादपवादः ॥

उत्सर्ग से अपवाद बलवान् होता है ।

उदा. 'आपचन्ति अस्मिन् इति आपाकः' । यहाँ 'पुंनाम्नि घः' ५/३/१३० से होनेवाले घ का अपवाद 'व्यञ्जनाद् घञ्' ५/३/१३२ से होनेवाला घञ् प्रत्यय ही होगा किन्तु औत्सर्गिक 'घ' प्रत्यय नहीं होगा ।

इसके ज्ञापक के रूप में 'गोचर-सञ्चर-वह-व्रज-व्यज -खलापण-निगम-बक-भग-कषाकष-निकषम्' ५/३/१३१ से गोचर - इत्यादि शब्दों के निपातन को बताया गया है । यदि इन शब्दों का घ प्रत्ययान्त के रूप में निपातन न किया जाय तो इस न्याय से 'पुंनाम्नि घः' ५/३/१३० का बाध होकर, 'व्यञ्जनाद् घञ्' ५/३/१३२ से घञ् ही होता ।

यह न्याय असमर्थ/अनित्य है क्योंकि, अगले न्याय से, इस न्याय के एकान्तत्व/नित्यत्व का बाध होता है ।

इसके अलावा अन्य ज्ञापक भी बताया जा सकता है । उदा. 'असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः' ५/१/१६ सूत्र में बताया गया है कि अपवाद रूप प्रत्यय के साथ समान रूप न हो ऐसा औत्सर्गिक प्रत्यय अपवाद के स्थान में विकल्प से होता है यदि वह अपवादविषयक प्रत्यय 'स्त्रियां क्तिः' ५/३/९१ के पूर्व आया हो तो । यदि उत्सर्ग से अपवाद बलवान् न होता और अपवाद के स्थान में उत्सर्ग होता ही तो इस प्रकार के सूत्र की आवश्यकता ही नहीं थी । शायद ऐसा सूत्र बनाया होता तो वही 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ॥' न्याय के अनुसार नियमार्थ होता किन्तु ऐसा नियम उपर्युक्त सूत्र में नहीं है, इससे ज्ञात होता है कि, इसे छोडकर अन्य कृदन्त और अन्यत्र सर्व स्थान में जहाँ जहाँ अपवाद स्वरूप प्रत्यय होता है वहाँ औत्सर्गिक प्रत्यय नहीं होता है ।

यह न्याय शाकटायन, चान्द्र परम्परा और पाणिनीय परम्परा में कहीं भी बताया नहीं है । पाणिनीय परम्परा में 'अपवादात्क्वचिदुत्सर्गोऽपि' न्याय प्राप्त है और यह न्याय उसके उद्गम का कारण है, अतः इस न्याय की प्रवृत्ति पाणिनीय परम्परा में हुई है । उत्सर्ग सामान्य शास्त्र है और अपवाद विशेष शास्त्र है, अतः विशेष शास्त्र सामान्य शास्त्र का बाध करता ही है, ऐसा सर्वस्वीकृत नियम होने से, पाणिनीय परम्परा में में इसे न्याय/परिभाषा के रूप में बताया नहीं है । चान्द्र परिभाषापाठ में यह न्याय 'विशेषविधिः सामान्यात्' स्वरूप में है ।

॥ ५६॥ अपवादात्क्वचिदुत्सर्गोऽपि ॥

अपवाद् से भी क्वचित् उत्सर्ग बलवान् होता है ।

उदा. 'मख गतौ' धातु से 'मखन्ति स्वर्गं गच्छन्ति अनेन इति मखः' और 'मठ निवासे' 'मठन्ति निवसन्ति छात्रादयोऽत्र इति मठः' इत्यादि प्रयोग में 'व्यञ्जनाद् घञ्' ५/३/१३२ से होनेवाला 'घञ्' रूप आपवादिक प्रत्यय का बाध करके, इस न्याय से औत्सर्गिक घ प्रत्यय 'पुंनाम्नि घः' ५/३/१३० से होता है ।

मख, मठ इत्यादि प्रयोग की सिद्धि के लिए अन्य कोई प्रयत्न नहीं किया गया है, वह इस न्याय का ज्ञापक है । यदि यह न्याय न होता तो अपवाद रूप 'व्यञ्जनाद् घञ्' ५/३/१३२ से 'घञ्' प्रत्यय होकर, मख, मठ के स्थान पर 'माख, माठ' इत्यादि अनिष्ट रूप होते ।

इस न्याय की अनित्यता का संभव नहीं है क्योंकि इस न्याय का स्वरूप ही अनित्य है ।

यद्यपि इस न्याय का समावेश 'नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः' ॥५७॥ न्याय में हो सकता है क्योंकि इस न्याय का स्वरूप ही अनित्य और लक्ष्यानुरोधि है । अतः जहाँ इष्ट हो वहाँ ही यह न्याय प्रवृत्त होता है अन्यथा इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

पाणिनीय व्याकरण में 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते' न्याय भी इस न्याय के अर्थ का बोधक है । यहाँ सिद्धहेम में इस न्याय से केवल उत्सर्गशास्त्र का बलवत्त्व बताया गया है, उससे इतना हीं सिद्ध होता है कि कुछेक स्थानों में अपवादशास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

यह न्याय भी चान्द्र को छोड़ कर सभी परिभाषासंग्रहों में प्राप्त है ।

॥ ५७॥ नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः ॥

अनिष्ट प्रयोजन या प्रयोग के लिए शास्त्रप्रवृत्ति नहीं होती है ।

शास्त्र का मतलब क्या ? शास्त्र अर्थात् सूत्र या न्याय । इस व्याकरण के सूत्र और व्याकरणशास्त्र सम्बन्धित न्याय की प्रवृत्ति अनभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिए नहीं होती है । शास्त्र अर्थात् सूत्र और न्याय शिष्ट प्रयोग की सिद्धि के लिए ही है ।

अनिष्ट प्रयोग की सिद्धि का प्रतिबन्ध/निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

सूत्र की प्रवृत्ति अनिष्ट प्रयोग के लिए नहीं होती है, वह इस प्रकार है । 'नयति, णींग् प्रापणे' धातु गित् होने से 'ईगितः' ३/३/९५ से फलवान् कर्ता की विवक्षा में आत्मनेपद सिद्ध होने पर भी 'कर्तृस्थामूर्त्ताऽऽप्यात्' ३/३/४० से णींग् धातु से आत्मनेपद किया, वह नियम के लिए हुआ क्योंकि 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ॥' और वह नियम इस प्रकार होता है कि - यदि णींग् धातु का कर्म कर्ता में ही हो और वह अमूर्त्त अर्थात् अरूपी हो, केवल बुद्धिगम्य हो तभी ही णींग् धातु से आत्मनेपद होता है । उदा. 'श्रमं विनयते ।' (वह श्रम दूर करता है) किन्तु कर्ता में स्थित कर्म

अमूर्त न हो तो फलवत् कर्ता होने पर भी आत्मनेपद नहीं होता है । उदा. 'चैत्रस्य मन्युं विनयति, गडुं विनयति, बुद्ध्या विनयति ।'

और दूसरा यह नियम होता है कि - 'कर्तृस्था'-३/३/४० सूत्र में कोई विशेष अर्थ नहीं कहा होने पर भी शमयति क्रियार्थक ही णींग् धातु से आत्मनेपद होता है अन्य अर्थवाले णींग् धातु से आत्मनेपद विधि नहीं होगी क्योंकि शिष्ट पुरूषों को यही इष्ट है । अतः इस प्रकार व्यवस्था हुई है और होगी ।

संक्षेप में, दोनों नियम इकट्ठे होकर इस प्रकार नियम होता है । शमयति क्रियार्थक णींग् धातु से तब ही आत्मनेपद होता है कि जब उसका कर्म कर्ता में ही हो और अमूर्त हो तो, और इस प्रकार/ऐसा न हो तो फलवत् कर्ता हो तो भी णींग् धातु से आत्मनेपद नहीं होता है ।

अतः 'शमयति' क्रिया से भिन्न अर्थवाले णींग् धातु से सर्वत्र फलवत् कर्ता की विवक्षा हो या न हो तथापि आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों सिद्ध हो जाते हैं । उदा. अजां ग्रामं नयति नयते वा ।

'श्री आदिनाथः' इत्यादि प्रयोग में 'श्री ' के 'ई' का 'य्' होने की प्राप्ति है तथापि नहीं हुआ है । यह शिष्टसंमत होने से इस न्याय से 'यत्व' का अभाव हुआ मानना चाहिए ।

जहाँ अनिष्ट प्रयोग होता है वहाँ न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है, उदा. 'लोपात्स्वरादेशः' न्याय की प्रवृत्ति 'चिकीर्ष्यते' इत्यादि प्रयोग में नहीं होती है । 'चिकीर्ष्यते' इत्यादि प्रयोग सिद्ध करते समय जब 'क्यः शिति' ३/४/७० से 'क्य' होगा तब चिकीर्ष + य+ ते होगा । इसी परिस्थितिमें 'अ' का 'अतः' ४/३/८२ से लोप होने की संभावना है, और 'दीर्घश्च्वियङ्यक्क्येषु च' ४/३/१०८ से दीर्घविधि होने की प्राप्ति और 'लोपात्स्वरादेशः' न्याय कहता है कि लोप से स्वर का आदेश बलवान् होता है तो यहाँ यदि यह न्याय प्रवृत्त होगा तो 'अतः' ४/३/८२ से अ का लोप होने के बजाय 'दीर्घश्च्वियङ्यक्क्येषु च' ४/३/१०८ से दीर्घविधि होगी और 'चिकीर्ष्यते' के स्थान पर 'चिकीर्षायते' रूप होगा किन्तु वह रूप अनिष्ट/असाधु होने से 'लोपात्स्वरादेशः' न्याय की प्रवृत्ति ऐसे अनिष्ट रूपों की सिद्धि के लिए नहीं की जायगी ।

इस न्याय का ज्ञापक उन स्थानों पर अन्य कोई विशेष स्पष्टता का अभाव अर्थात् विशेषण की अनुक्ति ही है । 'कर्तृस्थामूर्ताऽऽप्यात्' ३/३/४० से 'शमयत्यर्थस्य', इस प्रकार 'नी' धातु का विशेषण नहीं कहा है और 'लोपात्स्वरादेशः' न्याय में 'दीर्घश्च्वियङ्-' ४/३/१०८ से होनेवाले दीर्घ का वर्जन करने के लिए 'दीर्घवर्जः स्वरादेशः' ऐसा नहीं कहा है, वह इस न्याय के अस्तित्व के कारण से ही नहीं कहा है ।

यह न्याय अनित्य होने से 'इदमदसोऽक्येव' १/४/३ सूत्र में अनिष्ट नियम को दूर करने के लिए 'एव' कार का प्रयोग किया है ।

'इदमदसोऽक्येव' - १/४/३ सूत्र का नियमत्व एवकार बिना भी सिद्ध ही है क्योंकि 'इमकैः अमुकैः' इत्यादि प्रयोग में 'भिस ऐस्' १/४/२ से ही भिस् का ऐस् आदेश सिद्ध होने पर भी यह

सूत्ररचना की, वह नियम के लिए हुआ क्योंकि 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ॥' न्याय है।

किन्तु एव कार का प्रयोग नहीं होगा तब यहाँ दो प्रकार का नियम हो सकेगा ।

१, इदम् और अदस् शब्द से पर ही अक् हो तो भिस् का ऐस् आदेश होता है । किन्तु अन्य शब्द से पर अक् हो तो भिस् का ऐस् आदेश नही होता है । २. इदम् और अदस् के पर में अक् हो तब ही भिस् का ऐस् आदेश होता है किन्तु अक् रहित इदम् और अदस् के भिस् का ऐस् आदेश नहीं होता है ।

यहाँ 'इदमदसोऽक्येव' १/४/३ सूत्र के लिए प्रथम नियम अनिष्ट है, क्योंकि इदम् और अदस् से भिन्न अन्य-अक् प्रत्ययान्त शब्द से भिस् का ऐस् आदेश पाया जाता है । उदा. तकैः, विश्वकैः ।

जबकि दूसरा नियम इष्ट है क्योंकि 'एभिः अमीभिः' इत्यादि प्रयोग में अक् रहित इदम् और अदस् से पर आये हुए भिस् का ऐस आदेश नहीं पाया जाता है ।

इन दो नियमों में पहले अनिष्ट नियम को दूर करने के लिए 'इदमदसोऽक्येव' १/४/३ में एवकार का प्रयोग किया है ।

यदि यह न्याय नित्य होता तो इस न्याय से अनिष्ट नियम दूर हो ही जाता और शेष इष्ट नियम की प्रवृत्ति होती तो, उसके लिए 'इदमदसोऽक्येव' १/४/३ सूत्र में एवकार का प्रयोग क्योंकिया जाता ? अतः यही एवकार का प्रयोग इस न्याय की अनित्यता बताता है ।

समग्र/संपूर्ण व्याकरणशास्त्र, उत्सर्ग और अपवाद से भरपूर है । 'लक्ष्यैकचक्षुष्क आचार्य अर्थात् लोक में प्रयुक्त भिन्न भिन्न भाषाकीय प्रयोगों का संग्रह करने की दृष्टियुक्त, वैयाकरणों ने शब्दों के अर्थ का उचित बोध कराने के लिए अपने आप ही शास्त्र की प्रक्रिया के निर्वाह के लिए यथायोग्य प्रकृति, प्रत्यय, धातु, कृदन्त इत्यादि विभाग की योजना की है और उसके अनुसार उसके लक्षण भी बताये हैं तथापि आचार्य शब्द की और अपनी मर्यादित शक्ति से अवगत थे, अर्थात् लोक में प्रयुक्त सर्व प्रकार के शब्द और प्रयोगों का वे सम्यक् प्रकार से संग्रह कर सकने वाले नहीं हैं वह स्वयं अच्छी तरह जानते थे, अतः उन्होंने अपने शास्त्र में 'सिद्धिः स्याद्वादात्' (सि. १/१/२) और 'सिद्धिरनेकान्तात्' (जै. १/१/१) जैसे सूत्र द्वारा अनेकान्तत्व प्रदर्शित किया है । तथा 'लोकात्' १/१/३ जैसे सूत्र द्वारा लोक में अर्थात् वैयाकरणों, महाकवि इत्यादि शिष्टपुरूषों द्वारा भूतकाल में प्रयुक्त और ऐसे ही भविष्यत्कालीन महापुरूषों द्वारा प्रयुक्त होनेवाले संभवित प्रयोगों का भी इसमें समावेश कर लिया गया है । तदुपरांत सिद्धहेम में यही 'लोकात्' १/१/३ सूत्र का व्याप केवल संस्कृत व्याकरण स्वरूप सात अध्याय तक मर्यादित नहीं है, किन्तु संपूर्ण आठों अध्याय में इस सूत्र का अधिकार है अर्थात् संस्कृत भाषा के सिवाय/अलावा प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची, चूलिकापैशाची और अपभ्रंश इत्यादि छः भाषा के सूत्रों में 'लोकात्' १/१/३ सूत्र का अधिकार है ।

पाणिनीय व्याकरण में भाष्यकार ने भी 'यथालक्षणमप्रयुक्तं' कहा है और उसकी व्याख्या

दो प्रकार से की गई है । प्रथम व्याख्या इस प्रकार है । 'अप्रयुक्ते शब्दे लक्षणानुसारमेव व्यवस्था कार्या।' अर्थात् यदि शब्द प्रयोग न किया गया हो तो उसकी स्पष्टता/समझ लक्षण अनुसार देना/करना या व्याकरण के सूत्र अनुसार प्रयोग सिद्धि करना । दूसरी व्याख्या इस प्रकार है- 'नैव वा लक्षणमप्रयुक्ते प्रवर्तते, प्रयुक्तानामेव लक्षणेनान्वाख्यानात्' अर्थात् जब शब्द अप्रयुक्त हो तो वहाँ लक्षण के सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है । व्याकरण के सूत्र से भूतकाल में हुए प्रयोग का हीं अन्वाख्यान अर्थात् सिद्धि होती है ।

इन दोनों व्याख्याओं में से दूसरी व्याख्या में 'अप्रयुक्त' शब्द 'अनिष्ट प्रयोग' के अर्थ में है । अर्थात् दूसरी व्याख्या का अर्थ यह हुआ कि अनिष्ट प्रयोग की सिद्धि करने के लिए शास्त्र की प्रवृत्ति करना उचित नहीं है । अत: यह व्याख्या और प्रस्तुत न्याय समानार्थक ही है ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी का कथन है ।

'भोज व्याकरण' में यह न्याय है और 'कातन्त्र' की भावमिश्रकृत परिभाषावृत्ति में भी इस न्याय का समानार्थक 'यल्लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात् सिद्धम्' न्याय प्राप्त है ।

यहाँ अप्रयुक्त शब्द अर्थात् अनिष्ट प्रयोग रूप शब्द है अत एव व्याकरणशास्त्र की इसमें प्रवृत्ति नहीं होती है ऐसा बताना उचित नहीं हैं क्योंकि प्रयुक्त शब्द भी अनिष्ट प्रयोग रूप होते हैं । अत: 'अनिष्टार्था' पद से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि व्याकरणशास्त्र अनिष्ट प्रयोगों की सिद्धि नहीं करता है ।

इस न्याय के आधार पर 'नी' धातु फलवत्कर्तृत्वविशिष्ट होने पर भी उससे आत्मनेपद नहीं होता है किन्तु परस्मैपद होता है ।

पाणिनीय तंत्र में ऐसे प्रयोगों में फल कर्तृगामी होने पर भी वहाँ 'नी' धातु के फलवत्कर्तृत्व की विवक्षा न करके परस्मैपद सिद्ध किया है ।

यह न्याय इष्ट प्रयोगों की सिद्धि और अनिष्ट प्रयोगों का निवारण करने के लिए है । अत: उसकी अनित्यता बताना उचित नहीं है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी का मानना है । उसके कारण देते हुए वे कहते हैं कि 'इदमदसोऽक्येव' १/४/३ सूत्र में कथित एवकार के सार्थक्य के लिए ही इस न्याय के अनित्यत्व की कल्पना करनी पड़ती है । यह न्याय सूत्रकार के विधान/वचन को अनर्थक बनाने में प्रवृत्त नहीं होता है किन्तु अनिष्टता के निवारण में ही प्रवृत्त होता है । और दूसरी एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि यह न्याय केवल शास्त्र की ही अनिष्ट प्रवृत्ति को दूर करता है और श्रीहेमहंसगणि ने बताया है, उसी प्रकार से यह व्याकरण के सूत्र और न्याय/परिभाषा इन दोनों का ही इसी शास्त्र की व्याख्या में समावेश किया गया है, अत: इस न्याय से अनिष्ट नियम को दूर करना संभव नहीं है । अत एव इष्ट नियम का बोध कराने के लिए एवकार का प्रयोग करना अनिवार्य है । और वही सार्थक ही है । अत: उसके द्वारा इस न्याय की अनित्यता बताना उचित नहीं है तथा संभवित भी नहीं है ।

★ ★

इस प्रकार पूर्वकृत न्यायवृत्ति का कहीं कहीं आधार ले के प्रभु श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने इकट्ठे किये हुए सत्तावन न्यायों की बृहद्वृत्ति पूर्ण हुई ।

तपागच्छाचार्य श्री सोमसुंदरसूरिजी महाराज के सकल शिष्यों में अग्रणी गच्छेन्द्र आचार्य श्री रत्नशेखरसूरीश्वरजी गुरु के प्रवर्तमान सांनिध्य में उनके शिष्य श्रीहेमहंसगणिविरचित 'न्यायार्थमञ्जुषिका' नामक बृहद्वृत्ति का प्रथम वक्षस्कारक संपूर्णता को प्राप्त करता है ।

— ★ — ★ —

इति कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यैर्विरचित
श्री सिद्धहेमशब्दानुशासनस्य स्वोपज्ञबृहद्वृत्त्यन्ते
तैरेव समुच्चितानां सप्तपञ्चाशतः न्यायानां
प्रथम-वक्षस्कारस्य
पण्डित श्रीहेमहंसगणिकृतस्वोपज्ञन्यायार्थमञ्जूषा
नाम बृहद्वृत्तेश्च स्वोपज्ञन्यासस्य च
तपागच्छाधिराज-शासनसम्राट्
आचार्य श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वराणां पट्टालङ्कार-
आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरीश्वरैः
संदृब्धं न्यायार्थसिन्धुं च तरङ्गं च क्वचिद् क्वचिदुपजीव्य
शासनसम्राट् आचार्य
श्रीविजयनेमि-विज्ञान-कस्तूर-यशोभद्र-शुभङ्करसूरिणां
पट्टधर आचार्य श्रीविजयसूर्योदयसूरीश्वराणां
शिष्य
मुनि नन्दिघोषविजयकृतः
सविवरणं हिन्दीभाषानुवादः
समाप्तिमगात् ॥

अथ

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनगत

पण्डित श्रीहेमहंसगणिभिः

समुच्चितानां न्यायानां द्वितीयो वक्षस्कारः ॥

॥ ५८ ॥ प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणम् ॥ १॥

प्रकृति का ग्रहण किया हो तो स्वार्थिकप्रत्ययान्त का भी ग्रहण होता है ।

यहाँ प्रकृति धातु स्वरूप और नाम स्वरूप दोनों का ग्रहण संभवित है । केवल प्रकृति और स्वार्थिकप्रत्ययान्त प्रकृति में बहुत कुछ अन्तर होता है और अत एव 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' न्याय के कारण मूल प्रकृति के स्वरूप का ही ग्रहण संभव है किन्तु स्वार्थिकप्रत्ययान्त का स्वरूप मूलप्रकृति से भिन्न होने के कारण, उसका ग्रहण संभव नहीं था, उसका ग्रहण करने के लिए यह न्याय है । यहाँ 'स्वार्थिकप्रत्ययान्तानाम्' का विशेष्य 'प्रकृतीनाम्' अध्याहार है ।

उसमें केवल धातु-स्वरूप प्रकृति के ग्रहण के विषय में 'स्वार्थिक प्रत्ययान्त' का ग्रहण इस प्रकार है । उदा. 'विनिमेयद्यूतपणं पणव्यवह्रोः २/२/१६ में 'पणि' रूप से केवल 'पणि' धातु का ही ग्रहण प्राप्त है, तथापि स्वार्थिक 'आय' प्रत्ययान्त 'पणि' धातु का भी ग्रहण होता है, अत एव 'शतस्य शतं वा पणिष्ट' प्रयोग की तरह 'शतस्य शतं वा अपणायीद्' इत्यादि प्रयोग में भी 'विनिमेयद्यूतपणं.....' २/२/१६ से ही पणि धातु के व्याप्य को विकल्प से कर्म संज्ञा होगी । जब कर्म संज्ञा नहीं होगी तब 'शत' शब्द से 'शेष' में सम्बन्ध में 'शेषे' २/२/८१ से षष्ठी होगी ।

केवल नाम रूप प्रकृति के ग्रहण से स्वार्थिकप्रत्ययान्त नाम का भी ग्रहण होता है । उदा. 'ग्रामात् परस्मिन् देशे वसति' प्रयोग में जैसे केवल 'पर' शब्द के प्रयोग में 'प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्द-' २/२/७५ से 'ग्राम' शब्द से पंचमी हुई है वैसे 'परावरात्स्तात्' ७/२/११६ सूत्र से स्वार्थ में 'स्तात्' होने पर वही 'स्तात्' प्रत्ययान्त 'पर' शब्द (परस्तात् शब्द) के योग में भी ग्राम शब्द से 'प्रभृत्यन्यार्थदिक् शब्द' - २/२/७५ से दिक्शब्द के योग में होनेवाली पंचमी विभक्ति होगी और 'ग्रामात् परस्तात् वसति' प्रयोग सिद्ध होगा ।

सर्वादि गण में नियम के लिए डतर और डतम प्रत्यय का ग्रहण किया, वह इस न्याय का ज्ञापक है ।

डतर और डतम प्रत्यय के ग्रहण का अर्थ/प्रयोजन यही है- डतर और डतम प्रत्यय हैं और केवल प्रत्ययों का सर्वादित्व कभी भी संभव नहीं है, अतः प्रत्यय में प्रकृति का आक्षेप करने से इस प्रकार अर्थ होता है कि जो भी यत्, तत् किम्, अन्य, एक इत्यादि शब्द से स्वार्थिक डतर या डतम प्रत्ययों का संभव हो वही, डतर और डतम प्रत्ययान्त यद् आदि शब्दों का ग्रहण होता है । अर्थात् उन शब्दों को सर्वादित्व प्राप्त होता है और 'यतरस्मै, यतमस्मात्' इत्यादि प्रयोग में स्मै इत्यादि

आदेश होते हैं ।

ये डतर और डतम प्रत्यय का ग्रहण नियमार्थ है, ऐसा आचार्यश्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने बताया है और वही नियम इस प्रकार है -:

स्वार्थिक प्रत्ययान्त सर्वादि शब्दों की मूल प्रकृति सर्वादि होने से उसे सर्वादित्व की प्राप्ति होती है किन्तु वह प्राप्ति डतर और डतम, दो ही स्वार्थिक प्रत्ययान्त शब्दों से होती है किन्तु अन्य स्वार्थिक प्रत्यय है वही प्रत्ययान्त सर्वादि शब्दों को सर्वादित्व प्राप्त नहीं होता है, अतः प्रकृष्ट अर्थ में हुए स्वार्थिक तमप् प्रत्ययान्त 'सर्वतम' शब्द को सर्वादि नहीं माना जा सकता है, अतः उससे पर आये हुए 'ङे, ङसि, ङि' का' 'स्मै स्मात् स्मिन्' आदेश नहीं होंगे और 'सर्वतमाय, सर्वतमात्' और 'सर्वतमे' रूप होंगे ।

इस प्रकार अन्य स्वार्थिक प्रत्यय जिसके अन्त हैं ऐसे सर्वादि शब्दों के सर्वादित्व को दूर करने के लिए डतर और डतम प्रत्यय का ग्रहण इसलिए ही किया जाता है कि जिससे किसी भी प्रकार के विशेष भेदभाव बिना ही सब स्वार्थिक प्रत्ययान्त सर्वादि शब्दों को किसी भी प्रकार से सर्वादित्व की प्राप्ति होती हो, और इन सब को सर्वादित्व की प्राप्ति इस न्याय से ही होती है क्योंकि अन्य किसी भी प्रकार से कभी स्वार्थिकप्रत्ययान्त सर्वादि शब्दों को सर्वादित्व की प्राप्ति नहीं होती है ।

अतः इस प्रकार से इस न्याय के कारण सब प्रकार के स्वार्थिकप्रत्ययान्त सर्वादि शब्दों को, मूल प्रकृति सर्वादि होने से सर्वादित्व की प्राप्ति होने से, डतर और डतम को छोड़कर अन्य स्वार्थिकप्रत्यय जिसके अन्त में है ऐसे सर्वादि शब्दों के सर्वादित्व का निषेध करने के लिए जो डतर और डतम प्रत्यय का सर्वादि गण में ग्रहण किया, उसका इस न्याय के बिना असंभव होने से ही इस न्याय का ज्ञापक है ।

यह न्याय अनित्य है । अतः 'पणायति' प्रयोग में 'पणि' धातु 'इदित्' होने पर भी आत्मनेपद नहीं होता है ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक 'णिङ्' का ङित्त्व है, अतः 'कामयते' में आत्मनेपद होता है । यदि यह न्याय नित्य होता तो 'कामयते' प्रयोग करते समय भी 'कम्' धातु से आत्मनेपद ही होता, क्योंकि मूल 'कम्' धातु आत्मनेपदी ही है, तथापि 'कामयते' में आत्मनेपद करने के लिए णिङ् प्रत्यय में ङ् रखा है, वह इस न्याय की अनित्यता को सूचित करता है अर्थात् जैसे 'पणायति' में आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद हुआ, वैसे यहाँ भी परस्मैपद हो जायेगा ऐसी आशंका से ही आचार्यश्री ने 'णिङ्' को ङित् किया है ।

स्वार्थिक प्रत्ययों का क्या अर्थ हो सकता है, इसके बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'प्रतीयतेऽर्थोऽनेन इति प्रत्ययः' इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर, प्रत्यय से किसी भी अर्थ का प्रतिपादन होना चाहिए । यहाँ बताये गये स्वार्थ में होनेवाले 'आय' इत्यादि प्रत्ययों का कोई अर्थ प्रतीत नहीं होता है और शास्त्र में बताया भी नहीं तथापि उसका प्रकृति के अर्थ में ही विधान किया गया होने से प्रकृति का ही अर्थ प्रत्यय का मान लेना चाहिए क्योंकि कोई भी प्रत्यय अनर्थक नहीं होता है ।

पाणिनीय तंत्र में 'सुपि स्थः' (पा.सू.३/२/४) के महाभाष्य में कहा है कि जिस प्रत्यय के अर्थ का निर्देश न किया हो वह स्वार्थ में मान लेना । और 'प्रत्यय' स्वरूप में अन्वर्थक अर्थात् अर्थानुसारी संज्ञा करने से, अन्य किसी भी अर्थ की उपस्थिति न होती हो वहाँ प्रत्यय के सबसे नजदीक में प्रकृति होने से प्रकृति का ही अर्थ प्रत्यय में आता है । संक्षेप में प्रत्यय अर्थात् उसका अपना या अपनी प्रकृति के अर्थ का बोध जिससे हो, वह । अतः जिस शब्द से स्वार्थिक प्रत्यय होता है, उसके मूल शब्द के साथ जैसा व्यवहार होता है, और उससे जो कार्य होते हैं, वैसा व्यवहार और वही कार्य, वही स्वार्थिक प्रत्ययान्त शब्द से भी होता है । ऐसा यह न्याय कहता है ।

स्वार्थिक प्रत्यय के बारे में जैसी चर्चा आ.श्रीलावण्यसूरिजी ने की है वैसी चर्चा श्रीहेमहंसगणि ने भी इस न्याय के न्यास में की है । दोनों चर्चाएँ समान ही हैं, केवल शाब्दिक अन्तर ही हैं । इसके अलावा श्रीलावण्यसूरिजी ने इस न्याय की अनित्यता के ज्ञापक की विशेष रूपमें चर्चा की है ।

स्वार्थिक प्रत्यय के बारे में चर्चा इस प्रकार है- : स्वार्थिक प्रत्यय दो तरह के हैं १. कुछेक आख्यात सम्बन्धित । उदा. 'आय' इत्यादि और २. कुछेक तद्धित सम्बन्धित हैं । उदा. 'कार' इत्यादि और 'तमप्' इत्यादि । इसमें से 'आय' आदि और 'कार' आदि प्रत्यय सामान्यतया प्रकृति के - अर्थ में होते हैं, जैसे कि 'गुपौधूप'-३/४/१ 'कमेर्णिङ्' (३/४/२) 'ऋतेर्ङीयः' ३/४/३ इत्यादि आख्यात में होनेवाले स्वार्थिक प्रत्यय हैं और 'वर्णाव्ययात्स्वरूपे कारः' ७/२/१५६ 'रादेफः' ७/२/१५७ 'नाम-रूप-भागाद् धेयः' ७/२/१५८ इत्यादि तद्धित खंड के स्वार्थिक प्रत्यय हैं ।

'गुप्तिजो गर्हा-क्षान्तौ सन्' ३/४/५, 'कितः संशयप्रतीकारे' ३/४/६ से होनेवाले सन् इत्यादि प्रत्ययों का, 'आय' इत्यादि स्वार्थिक प्रत्यय में समावेश हो सके या नहीं ? उसकी चर्चा करते हुए श्रीहेमहंसगणि बता रहे हैं कि उपर्युक्त सूत्र से होनेवाला सन् विशेष अर्थ में ही होता है, अतः यही सन् स्वार्थिक न होने के कारण उसका आय इत्यादि में समावेश न करना चाहिए किन्तु यह बात उचित नहीं है । 'धातूनामनेकार्थत्वम्' न्याय से गर्हा इत्यादि अर्थ प्रत्यय के नहीं किन्तु धातु के ही मानने चाहिए, तथापि, वह उपाधिविशेष नहीं है । गर्हा इत्यादि अर्थ में स्थित गुप् इत्यादि धातु से ये प्रत्यय होते हैं । इस प्रकार अर्थ करना चाहिए, जबकि उपाधि प्रकृति से भिन्न रहकर प्रकृति के विशेष अर्थ का बोध कराती है ।

अब तद्धित के तमप् इत्यादि प्रत्यय, प्रकृति के अर्थ से अधिक अर्थ का बोध कराते हैं, अतः वे प्रकृष्ट इत्यादि अर्थ रूप उपाधि की अपेक्षा रखते हैं, अतः वे 'आय' इत्यादि और 'कार' इत्यादि से भिन्न है, ऐसा मानना चाहिए जैसे 'बहूनां मध्ये प्रकृष्ट आढ्यः आढ्यतमः' । इसी अर्थ में 'प्रकृष्टे तमप्' ७/३/५ से तमप् होगा यहाँ यह तमप् इत्यादि उपाधि से युक्त होने पर भी उसका अर्थ प्रकृति के अर्थ के विशेषण रूप हो जाता है और उसका प्रकृति के अपने ही अर्थ द्वारा निर्णय करना होने से, प्रकृति के अर्थ में ही उसका समावेश होता है । प्रत्यय तो केवल उसके द्योतक ही हैं । जैसे 'च' इत्यादि समुच्चय अर्थ के द्योतक हैं ।

पाणिनीय तंत्र में व्यवहार अर्थवाले 'पणि' धातु से 'आय' प्रत्यय नहीं होता है । श्रीभट्टोजी

दीक्षित ने कहा है कि पणि के साहचर्य से पणि धातु से स्तुति के अर्थ में ही 'आय' प्रत्यय होता है अर्थात् पणि का अर्थ स्तुति ही है, जबकि पणि धातु के अर्थ, स्तुति और व्यवहार दो हैं, उनमें से जब पणि धातु का स्तुति अर्थ हो तब ही स्वार्थिक 'आय' प्रत्यय होता है ।

सिद्धहेम की परम्परा में स्तुति और व्यवहार दोनों अर्थ में पणि धातु से आय प्रत्यय होता है ।

'पणायति' उदाहरण को छोड़कर 'अपणिष्ट, अपणायीद्' उदाहरण क्यों दिया ? इसकी स्पष्टता करते हुए श्रीहेमहंसगणि ने बताया है कि 'पणायति' उदाहरण में 'गुपौधूप'-३/४/१ सूत्र से शित् प्रत्यय पर में होने के कारण आय प्रत्यय नित्य होनेवाला है, अतः 'आय' प्रत्यय रहित पणि धातु नहीं मिलता होने से स्वाभाविक ही 'पणि' के ग्रहण से उसका ही ग्रहण होता है, ऐसी किसी को आशंका हो सकती है, और वहाँ इस न्याय का कोई फल दिखायी नहीं देता है, जबकि 'अशित्' प्रत्यय पर में आने के कारण 'अपणिष्ट' और 'अपणायीद्' उदाहरण देने से वहाँ दोनों प्रकार के (आयान्त और आयान्तरहित) पणि धातु मिलते होने से ऊपर बतायी गई आशंका नहीं होती है और इस न्याय का फल प्रकट होता है । वह इस प्रकार-: पणि धातु से 'अशवि ते वा' ३/४/४ सूत्र से अशित् प्रत्यय पर में होने से आय प्रत्यय विकल्प से होता है और उसी प्रकार आय रहित पणि धातु का संभव होने पर भी आयप्रत्ययान्त पणि धातु का ग्रहण हुआ है वह इस न्याय के कारण ही है।

यहाँ श्रीलावण्यसूरिजी ने बताया है कि 'विनिमेयद्यूत'—२/२/१६ सूत्र के सार्थक्य की आशंका दूर करने के लिए 'अपणायीद्' उदाहरण दिया है, ऐसी प्राचीन वैयाकरण अर्थात् श्रीहेमहंसगणि इत्यादि की मान्यता है, किन्तु वह उचित नहीं है क्योंकि केवल 'अपणिष्ट' उदाहरण देने से 'आय' प्रत्यय का वैकल्पिकत्व प्रतीत हो ही जाता है, अतः ऐसी कोई आशंका पैदा नहीं होती है ।

इसके बारे में मैं इतना ही बताना चाहता हूँ कि केवल 'पणायति' या 'अपणिष्ट' उदाहरण में इस न्याय के फल का दर्शन नहीं होता है, जबकि 'अपणिष्ट' और 'अपणायीद्' उदाहरण देने से इस न्याय का फल स्पष्ट रूप से दिखायी देता है और श्रीहेमहंसगणि ने 'विनिमेयद्यूतपणं....' २/२/१६ सूत्र के सार्थक्य की बात ही नहीं की है ।

इस न्याय के बारे में अपना स्वतंत्र विचार प्रस्तुत करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि ऐसे विषय में न्याय की कोई आवश्यकता नहीं है जहाँ प्रकृति के अर्थपरक प्रत्यय होते हैं वहाँ भी प्रत्ययान्त स्वरूप भिन्न होने पर भी उसका प्रकृतित्व नष्ट नही होता है । ऐकार्थीभाव मानकर प्रत्यय का भी भिन्न अर्थ मानना चाहिए ऐसा पूर्वपक्ष के तर्क का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि स्वार्थिक प्रत्ययान्त शब्द का अर्थ प्रकृति के अर्थ से भिन्न नहीं होता है, अतः 'शतस्य शतं वा अपणिष्ट, अपणायीद् वा' उदाहरण में अर्थभेद नहीं होने से इस न्याय की आवश्यकता नहीं है, तथापि स्वार्थिक *प्रत्ययान्त शब्द सर्वत्र केवल प्रकृति के ग्रहण से ही स्वीकृत है, उसी अर्थ में इस न्याय की* आवश्यकता मानकर प्रकृति से होनेवाले कार्य में इस न्याय की प्राप्ति होती है, अतः यहाँ उसका उदाहरण दिया गया है ।

इस न्याय की अनित्यता के फलस्वरूप यह कहा गया है कि 'पणायति' इत्यादि में इस न्याय की अनित्यता के कारण आत्मनेपद नहीं हुआ है । परंतु वह समुचित/सही प्रतीत नहीं होता है । सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में 'पणायति' इत्यादि प्रयोग में आत्मनेपद का अभाव इस प्रकार सिद्ध किया है । 'पणि' इत्यादि में स्थित 'ङ्' अनुबंध आत्मनेपद के लिए है । जब अशव् प्रत्यय अर्थात् विकरण प्रत्ययरहित काल में अथवा गर्णकार्यरहित काल में 'अशवि ते वा' ३/४/५ से 'आय' इत्यादि प्रत्यय विकल्प से होंगें तब 'आय' इत्यादि प्रत्यय के अभाव में आत्मनेपद ही होगा और इस प्रकार 'ङ्' अनुबंध सार्थक होगा । अतः 'आय' इत्यादि प्रत्यय होगें तब आत्मनेपद नहीं होगा अत एव 'पणायति' में स्थित आत्मनेपद के अभाव को इस न्याय की अनित्यता का फल नहीं मानना चाहिए ।

और अनित्यता का जो ज्ञापक बताया है वह भी उचित नहीं है क्योंकि ज्ञापक हमेंशा न्याय के अभाव में व्यर्थ बनता है और न्याय के अस्तित्व में सार्थक बनता है । अतः यदि इस न्याय को नित्य माना जाय तो अनित्यता का ज्ञापक व्यर्थ बनना चाहिए । उसी प्रकार 'कमेर्णिङ्' ३/४/२ में 'णिङ्' का ङित्त्व व्यर्थ बनता नहीं है क्योंकि ऊपर बताया उसी प्रकार यह न्याय नित्य होने पर भी और कम् धातु आत्मनेपदी होने पर भी जब स्वार्थ में णि प्रत्यय होगा तब वह परस्मैपदी हो जायेगा । वही परस्मैपद न हो, इसलिए 'णि' को ङित् करना आवश्यक है । इस प्रकार णिङ् का ङित्त्व व्यर्थ नहीं होता है अतः वह इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक बन सकता नहीं है ।

'डतर-डतम' के ग्रहण से यह नियम निष्पन्न/फलित होता है कि स्वार्थिक प्रत्यय में से केवल 'डतर' और 'डतम' जिसके अन्त में आया हो उसे सर्वनाम/सर्वादि संज्ञा होती है, अन्य को नहीं । इस प्रकार सर्वादि गण में डतर-डतम का ग्रहण नियम के लिए है ऐसा जो विधान किया गया वह इस न्याय का ज्ञापक है ।

अब इसी ज्ञापक के बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी 'डतर, डतम का ग्रहण नियमार्थ हैं' उसके प्रति शंका व्यक्त करते हैं । सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में कहा है कि "तयोः स्वार्थिकत्वात् प्रकृतिद्वारेणैव सिद्धे" और शब्दमहार्णवन्यास में कहा है "स्वार्थिकत्वात् प्रकृत्यविशिष्टतया यत्तदादि प्रकृतिद्वारकमेव सर्वादित्वं भविष्यति, किमनयोरुपादानेन" इससे ऐसा सिद्ध नहीं होता है कि डतर-डतम का ग्रहण नियमार्थ है । और आचार्य श्रीहेमचंद्रसूरिजी ने इसके लिए इस न्याय की प्रवृत्ति की है ।

न्यासकार ने एक स्थान पर कहा है कि 'सर्वमादीयतेऽभिधेयत्वेन गृह्यतेऽनेन इति सर्वादिः' इस प्रकार अन्वर्थक संज्ञा का आश्रय करने से प्रत्येक सर्वनाम का इसमें ग्रहण हो सकता है, अतः स्वार्थिक प्रत्ययान्त सर्वादि शब्दों का भी उसमें ग्रहण हो ही जाता है । वस्तुतः इस प्रकार अन्वर्थक संज्ञा का आश्रय करने से सर्वादि गणपाठ व्यर्थ हो जाता है । उससे यह सिद्ध होता है कि जिस नाम में सर्वादित्व हो और सर्वादिगण में पाठ किया हो उसीसे ही सर्वादि सम्बन्धित कार्य होता है । यदि डतर-डतम का सर्वादिगण में पाठ न किया जाय तो वे सर्वादि होने पर भी सर्वादि सम्बन्धित कार्य नहीं होता है । अतः सर्वादि कार्य के लिए उसका सर्वादिगण में पाठ करना आवश्यक है । इस प्रकार

वही डतर-डतम ग्रहण सार्थक ही है, व्यर्थ नहीं है । अतः वह ज्ञापक नहीं बन सकता है । यह मान्यता भी सही प्रतीत नहीं होती है क्योंकि ऊपर बताई वही व्याख्या सूत्रकार ने नहीं दी है, लघुन्यासकार ने ही दी है । सूत्रकार के मतानुसार सर्वादि गणपाठ में जो पठित हो उसे ही सर्वादित्व प्राप्त होता है । यहाँ सर्वादि की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए । 'सर्वः आदिर्यस्य सः सर्वादिः ।'

डतर और डतम के, सर्वादि गण में किये गये पाठ को अन्य प्रकार से सार्थक बताते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि श्रीहेमचंद्राचार्यजी ने भी डतर-डतम ग्रहण का अन्य प्रयोजन/हेतु बताते हुए कहा है कि 'अन्यादि लक्षणदार्थं च' । उसका अर्थ इस प्रकार है । डतर और डतम प्रत्ययान्त शब्द से पर आये हुए 'सि' और 'अम्' प्रत्यय का 'पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः' १/४/५८ से द् आदेश करने के लिए यहाँ डतर-डतम का ग्रहण किया है । यदि डतर-डतम का यहाँ ग्रहण न किया जाय तो 'पञ्चतोऽन्यादेः' १/४/५८ से कथित द् आदेश नहीं होगा । अतः डतर-डतम ग्रहण का यहीं प्रयोजन होने से इस न्याय के अभाव में भी वह सार्थक है । अतः वह इस न्याय का ज्ञापक नहीं बन सकता है ।

यद्यपि आगे आचार्यश्रीहेमचंद्रसूरिजी ने स्वयं 'डतर-डतम ग्रहण' के नियमार्थत्व की शंका की है और बाद में उसके नियमार्थत्व का समर्थन भी किया है । वह इस प्रकार है :- वह (ऊपर बताया गया) प्रयोजन होने से स्वार्थिक प्रत्ययान्त-(अन्य) सर्वादि में सर्वादित्व के अभाव का वह कैसे ज्ञापन कर सकता है ? अन्यथा अनुपपद्यमान अर्थात् जो व्यर्थ हो वही ज्ञापक हो सकता है और ऊपर बताया उसी प्रकार डतर-डतम ग्रहण की अन्यथा अनुपपत्ति नहीं है । इसी शंका का प्रत्युत्तर देते हुए वे स्वयं कहते हैं कि केवल 'पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः' १/४/५८ से होनेवाले 'द्' आदेश के लिए ही डतर-डतम का ग्रहण नहीं किया गया है किन्तु अन्य स्वार्थिक प्रत्ययान्त को सर्वादित्व की प्राप्ति न हो उसके लिए भी डतर-डतम का ग्रहण किया गया है । सर्वादि गण में पाठ करने से असंज्ञा में ही सर्वादित्व की प्राप्ति होती है ।

संक्षेप में डतर-डतम का सर्वादि गण में और अन्यादि पंचक में ग्रहण किया गया है, उसमें से अन्यादि पंचक में किया गया पाठ 'द्' आदेश से चरितार्थ है, तथापि सर्वादि गण में किया गया पाठ व्यर्थ है और वही व्यर्थ होकर अन्य स्वार्थिक प्रत्ययान्त सर्वादि शब्दों में सर्वादित्व का अभाव करता है ।

श्रीलावण्यसूरिजी, श्रीहेमचन्द्रचार्यजी द्वारा की गई 'नियमार्थत्व' की इसी स्पष्टता/समाधान को स्वीकार नहीं करते हैं । वे तो कहते हैं कि डतर-डतम का ग्रहण, अन्यादि पंचक से होनेवाले 'द्' आदेश के लिए ही है, अतः स्वार्थिकप्रत्ययान्त सर्वादि के सर्वादित्व का निषेध करने में वह समर्थ नहीं हो सकता है, अतः वह इस न्याय का ज्ञापक नहीं बन सकता है ।

अन्त में वे कहते हैं कि आचार्यश्री के वचन के कारण, डतर-डतम ग्रहण के नियमार्थत्व का स्वीकार करने पर भी वह इस न्याय का ज्ञापक नहीं बन सकता है और शायद इस न्याय का अनन्यथासिद्ध प्रयोजन हो तो इस न्याय का वाचनिक न्याय के स्वरूप में स्वीकार करना चाहिए ।

किन्तु श्रीलावण्यसूरिजी की यह बात उचित प्रतीत नहीं होती है क्योंकि सर्वादि गणपाठ में डतर-डतम के ग्रहण के दो हेतु/प्रयोजन आचार्यश्री ने स्वयं स्पष्ट रूप से बताये हैं :-

१. अन्य स्वार्थिक प्रत्ययान्त सर्वादि शब्दों के सर्वादित्व का निषेध करने के लिए ।

२. 'पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः' १/४/५८ से होनेवाले 'सि' और 'अम्' प्रत्यय का 'द्' आदेश करने के लिए ।

प्रथम हेतु द्वारा आचार्यश्री ने स्पष्ट रूप से डतर-डतम ग्रहण को नियमार्थत्व प्रदान किया है, अतः श्रीहेमहंसगणि की बात बिलकुल आधाररहित है ही नहीं । यदि आचार्यश्री को केवल 'सि' और 'अम्' का 'द्' आदेश ही स्वीकार्य होता तो, सर्वादि गणपाठ में डतर-डतम को रखने के बजाय 'पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः' १/४/५८ सूत्र में ही 'अन्याऽन्यतरेतर डतर डतमस्य' शब्द से ही अन्यादि पञ्चक का स्पष्ट रूप से ग्रहण किया होता, किन्तु वैसा न करके सर्वादि गणपाठ में डतर-डतम को रखे, वह नियमार्थ ही है ।

दूसरे हेतु/प्रयोजन के कारण अन्य-वैयाकरणों-वृत्तिकारों इत्यादि को डतर-डतम ग्रहण के नियमार्थत्व के विषय में आशंका पैदा होने की संभावना के कारण सूत्रकार आचार्यश्री ने स्वयं इसका समाधान दिया है । अतः श्रीलावण्यसूरिजी द्वारा उपस्थित की गई शंका बिल्कुल आधार रहित न होने पर भी उचित नहीं है ।

संक्षेप में, डतर-डतम का सर्वादि गणपाठ में ग्रहण नियमार्थ ही है, अतः वह इस न्याय का ज्ञापक बनता है ।

यद्यपि प्रकृति के ग्रहण से स्वार्थिक प्रत्ययान्त का ग्रहण सर्वत्र-सभी परम्परा में होता ही होगा, तथापि शाकटायन परिभाषापाठ को छोडकर अन्यत्र कहीं भी यह न्याय परिभाषा के रूप में संगृहीत नहीं है ।

॥ ५९॥ प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ॥ २ ॥

प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों का ग्रहण प्राप्त हो तो प्रत्यय का ही ग्रहण होता है ।

'ग्रहण' शब्द का यहाँ और अगले न्याय के साथ भी सम्बन्ध है । जहाँ विवक्षित शब्द 'प्रत्यय' स्वरूप और 'अप्रत्यय' स्वरूप भी हो, वहाँ प्रत्यय स्वरूप ही ग्रहण करना किन्तु अप्रत्यय स्वरूप ग्रहण नहीं करना ।

'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' ॥१॥ न्याय से दोनों का ग्रहण प्राप्त था, उनमें से प्रत्यय का ग्रहण करने के लिए और अप्रत्यय का निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

(अगले तीन न्याय भी जहाँ इस प्रकार दोनों का ग्रहण संभव हो, वहाँ एक का निषेध करने के लिए है ।)

उदा. 'कालात् तन तर तम काले' ३/२/२४ सूत्र में सप्तमी अलुप् का विधान किया गया

है। यहाँ 'तर' और 'तम' दोनों प्रत्यय ग्रहण करने, किन्तु 'तरति, ताम्यति' से 'लिहादिभ्यः' ५/१/५० सूत्र से 'अच्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुए 'तर' और 'तम' शब्द का ग्रहण नहीं करना चाहिए।

इस न्याय का ज्ञापक, सूत्र में जो 'अविशिष्ट कथन' किया है, वह है। वह इस प्रकार है :- यहाँ 'तर' और 'तम' दोनों प्रत्यय ही ग्रहण करना चाहिए किन्तु 'नाम' स्वरूप शब्द ग्रहण करना नहीं। 'पूर्वाह्णेतरां, पूर्वाह्णेतमां' इत्यादि प्राचीन प्रयोगों में ये दो प्रत्यय ही दिखाई पड़ते हैं, तथापि सूत्र में कोई स्पष्टता नहीं की गई, वह इस न्याय के कारण ही।

यह न्याय अनित्य है, अतः 'स्त्रीदूतः'१/४/२९ से 'नारी सखी....'२/४/७६ इत्यादि सूत्र से विहित ङी प्रत्ययान्त की तरह 'तरी' इत्यादि अव्युत्पन्न होने से, वह ङी प्रत्ययान्त नहीं है किन्तु प्रत्ययरहित है तथापि ऐसे ईकारान्त शब्दों का ग्रहण होता है।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये' २/१/५० में साक्षात् 'प्रत्यय' शब्द का ग्रहण है। (यदि यह न्याय नित्य होता तो सूत्र में 'प्रत्यय' शब्द रखने की कोई आवश्यकता नहीं थी, तथापि रखा गया है वह इस न्याय की अनित्यता को सूचित करता है।)

यहाँ 'तरी' इत्यादि शब्द उणादि प्रत्ययान्त है तथापि 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि' न्याय से यहाँ अव्युत्पत्ति पक्ष का आश्रय किया गया है।

यह न्याय सिद्धहेम के पूर्व, व्याडि के नाम से दिये गये व्याडि के परिभाषापाठ में ही उपलब्ध है किन्तु यह परिभाषापाठ व्याडि का अपना ही है ऐसा कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, अतः सिद्धहेम के पूर्व किसीने भी इस सिद्धांत को परिभाषा के रूप में माना नहीं है, जब सिद्धहेम के पश्चात्कालीन प्रायः सभी परिभाषावृत्तियों में यह न्याय उपलब्ध है। अतः ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं मालूम देती है। संभवतः वैयाकरण द्वारा इस सिद्धांत को परिभाषा के रूप में मान्यता सिद्धहेम के बाद ही प्रदान की गई हो।

प्रो. के. वी. अभ्यंकरकृत जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति में यह न्याय 'त्यात्यसंभवे त्यस्य ग्रहणम्' रूप में दिया है, यहाँ प्रत्यय को 'त्य' संज्ञा दी गई है।

यह न्याय 'अङ्गस्य' (पा.सू. ६/४/१) के भाष्य में वचन के रूप में भाष्यकार ने बताया है और वहाँ भी किसी भी प्रकार का ज्ञापक नहीं रखा है, अतः उनके मतानुसार भी यह न्याय वाचनिकी परिभाषा के रूप में है।

आनुपूर्वी विशिष्ट स्वरूपयुक्त शब्द के विषय में ही प्रत्यय या अप्रत्यय का प्रश्न उपस्थित होता है और वहाँ ही यह न्याय प्रवृत्त होता है और केवल वर्ण का निर्देश जहाँ हो वहाँ यह न्याय प्रवृत्त नहीं होता है। अतः 'इश्च्वावर्णस्याऽनव्ययस्य' ४/३/१११ और 'अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल्' १/२/६ इत्यादि सूत्र में इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है।

पाणिनीय व्याकरण में प्राचीन मतानुसार इस न्याय का स्वीकार हुआ है, जबकि नवीन

मतावलंबी इस न्याय को मान्य करते नहीं हैं, उनके मतानुसार यदि यह न्याय होता तो वार्त्तिककार ने 'तिति प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्' इस प्रकार वार्तिक न किया होता । अन्य के मतानुसार इष्ट प्रत्यय का ग्रहण करने के लिए ही यह न्याय है और पूर्वोक्त वार्तिक का ही वह अनुवाद है और जहाँ केवल प्रत्यय का ग्रहण न करना हो वहाँ आचार्यश्री/सूत्रकार के व्याख्यानानुसार अर्थ करना चाहिए ।

इस न्याय का स्वीकार करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इस न्याय का स्वीकार करने पर जहाँ केवल प्रत्यय का ग्रहण न करना हो वहाँ वृत्तिकार या भाष्यकार के व्याख्यान का अनुसरण करना पड़ता है और अस्वीकार करने पर भी केवल प्रत्यय का ग्रहण करने के लिए वृत्तिकार या भाष्यकार के व्याख्यान का अनुसरण करना पड़ता है । ऐसे स्वीकार और अस्वीकार दोनों में समान दोष होने से स्वीकार करना उचित है और जहाँ इसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति करनी हो वहाँ लक्ष्यानुसार इस न्याय की प्रवृत्ति-निवृत्ति मान लेना ।

यह न्याय शास्त्रकार ने शास्त्र में स्थान-स्थान पर वचन के रूप में कहा है, अतः वह वाचनिकी परिभाषा है । और वहीं वहीं सूत्र में उन्हीं शब्दों के प्रत्ययत्व का प्रतिपादन करनेवाला है ।

॥ ६०॥ अदाद्यनदाद्योरनदादेरेव ॥ ३॥

'अदादि' धातु और 'अनदादि' धातु का ग्रहण संभव हो तो 'अनदादि' धातु का ही ग्रहण करना ।

'धातोः' पद यहाँ अध्याहार है ।

यहाँ विवक्षित धातु अदादि गण का हो और अदादि को छोड़कर अन्य किसी गण में वैसे ही स्वरूपवाला धातु हो तो अदादि गण के धातु का ग्रहण न करके, अदादि से भिन्न धातु का ग्रहण करना ।

उदा. 'उपान्वध्याङ्वसः' २/२/२१ सूत्र में 'वस्' धातु कहा है । यहाँ 'वस्' धातु के दो प्रकार हैं । एक 'वस्' धातु अदादि गण का हैं । उसका 'वस्ते' रूप होता है जबकि दूसरा 'वस्' धातु भ्वादि गण का है, उसका 'वसति' रूप होता है । तो यहाँ इन दोनों में से कौन-सा ग्रहण करना या दोनों का ग्रहण करना ? तो इस न्याय के आधार पर यहाँ 'वसति' रूपवाले अर्थात् 'भ्वादि' के 'वस्' धातु का ग्रहण करना, किन्तु 'वस्ते' रूपवाले अदादि के 'वस्' धातुका ग्रहण न करना ।

इस न्याय की स्थापना 'शासस्हनः शाध्येधिजहि' ४/२/८४ सूत्र से होती है क्योंकि इस सूत्र में 'अस्' धातु अदादि ग्रहण का ग्रहण करना है ऐसा उसके साथ आये हुए 'शास्' और 'हन्' धातु से निश्चित होता है । यदि यह न्याय न होता तो यहाँ इस सूत्र में 'अस्' धातु से अदादि गण के 'अस्' धातु का ग्रहण करने के लिए 'शास्' और 'हन्' धातुओं के साहचर्य की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु यहाँ 'असति' और 'अस्यति' का ग्रहण नहीं करना है । अतः इस न्याय से संभावित 'असति' और 'अस्यति' के ग्रहण का निषेध करने के लिए 'शास्' और 'हन्' के साहचर्य की आवश्यकता है ।

यह न्याय अनित्य है । अतः 'ऋह्रीघ्राध्रात्रोन्दनुदविन्तेर्वा' ४/२/७६ में 'ऋ' से भ्वादि और अदादि दोनों गण के 'ऋ' धातु का ग्रहण होता है ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक नहीं बताया गया है ।

वस्तुतः इस न्याय की अनित्यता का कोई फल नहीं है, क्योंकि 'ऋह्रीघ्राध्रा'-४/२/७६ में ऋण के अर्थविशेष द्वारा ही उसका नियंत्रण हुआ है और इस प्रकार किसी के भी ग्रहण में विशेषण का अभाव ही कारण है, अतः दोनों का ग्रहण हो सकता है ।

सिद्धहेम की परम्परा में 'श्य, शव्' इत्यादि विकरण प्रत्यय होते हैं । पाणिनीय परम्परा में 'शप्' इत्यादि होते हैं । पाणिनीय तंत्र में अदादि धातु से 'शप्' विकरण प्रत्यय करके बाद में उसका लोप किया जाता है, जबकि सिद्धहेम में पहले से ही विकरण प्रत्यय के विधान में ही अदादि का वर्जन किया है । अतः अन्य तंत्र में 'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य' ऐसा न्याय है ।

इस न्याय के बारे में श्रीलावण्यसूरिजी द्वारा किये गये विचार-विमर्श का सार इस प्रकार है :-

'शासस्हनः शाध्येधिजहि' ४/२/८४ सूत्र में अदादि के 'अस्' धातु का ग्रहण करने के लिए 'शास्' और 'हन्' धातु के साहचर्य का आधार लिया है । उसके बारे में विचार करने पर लगता है कि यहाँ किसी भी एक 'अस्' का ग्रहण करना है तो किसका ग्रहण करना उसका निर्णय करने के लिए साहचर्य का आश्रय करना ही पड़ेगा और उसके द्वारा यह न्याय ज्ञापन करना संभवित नहीं है । ज्ञापक बनाने के लिए इस न्याय के अभाव में उसे व्यर्थ बनाना पड़ता है, किन्तु उसी प्रकार वह व्यर्थ नहीं बन सकता है । जैसे इस न्याय के अस्तित्व में अनदादि का ही ग्रहण संभवित है, अतः यहाँ साहचर्य का आश्रय आवश्यक है, वैसे इस न्याय के अभाव में भी दो में से किसका ग्रहण करना, उसका निर्णय करना मुश्किल होने से भी साहचर्य का आश्रय लेना ही पड़ता है । इस प्रकार वह किसी भी तरह व्यर्थ नहीं बन पाता है । अतः वह ज्ञापक नहीं बन सकता है ।

अतः इस न्याय के बल से, साहचर्य के आश्रय का अनुमान करके इस न्याय को सिद्ध करना उचित नहीं है । अत एव 'गमहनविद्लृविशदृशो वा' ४/४/८४ में लाभार्थक तुदादि के विद् धातु का ग्रहण करने के लिए सूत्र में 'सानुबन्ध 'पाठ किया है, अन्यथा इस न्याय द्वारा ही तुदादि के लाभार्थक विद् धातु का ही ग्रहण होनेवाला है, अतः सानुबन्ध निर्देश व्यर्थ होता है क्योंकि 'सत्ता' और 'विचार' अर्थवाला 'विद्' धातु अनदादि होनेपर भी आत्मनेपदी है अतः उससे 'क्वसु' प्रत्यय होनेवाला ही नहीं है ।

अब 'गमहनविद्लृ' ४/४/८४ में सानुबन्ध निर्देश क्यों किया, उसकी स्पष्टता करते हुए लघुन्यासकार कहतें है कि यहाँ 'विद्' स्वरूप में निरनुबन्ध निर्देश करने से, ऊपर बताया उसी प्रकार इस न्याय से लाभार्थक तुदादि के ही विद्लृ धातु का ही ग्रहण होगा ऐसा न कहना क्योंकि 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य' न्याय से 'तुदादि' के लाभार्थक 'विद्लृ' धातु का ग्रहण संभव नहीं है, और प्रस्तुत न्याय और 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य' न्याय परस्पर विरुद्ध होने से, उन

की प्रवृत्ति नहीं होगी और 'विश्' के साहचर्य से तुदादि का ग्रहण नहीं होगा, ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि 'विश्' के पूर्व में 'हन्' धातु है, अतः उसके साहचर्य से अदादि के विद् का ग्रहण करना पड़ेगा, अतः सानुबन्ध निर्देश करना आवश्यक है ।

संक्षेप में, 'गमहनविद्लृविशदृशो वा' ४/४/८४ में तीन न्याय उपस्थित होते हैं । १ अदाद्यनदाद्योरनदादेरेव २. निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य और ३. साहचर्यात् सदृशस्यैव । इसमें से निरनुबन्ध ग्रहणे न सानुबन्धकस्य न्याय, उसका प्रतिपक्षी 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्येन' न्याय होने से निर्बल है, जबकि 'साहचर्यात् सदृशस्यैव' न्याय की प्रवृत्ति के लिए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि पूर्व साहचर्य और पर साहचर्य में से परसाहचर्य बलवान् है । अतः उसकी प्रवृत्ति होगी किन्तु यह बात उचित प्रतीत नहीं होती है । कहीं भी, किसी भी स्थान पर ऐसे दो प्रकारों के साहचर्य का स्वीकार करके पर साहचर्य को बलवान् नहीं बताया गया है । अतः इस प्रश्न के बारे में ज्यादा विचार - विमर्श करने की आवश्यकता है ।

शास्त्रकार ने शास्त्र में इस न्याय का स्पष्ट रूप से निर्देश नहीं किया है, तथापि कहीं कहीं इस न्याय की प्रवृत्ति की है । पाणिनीय व्याकरण में इस न्याय की चर्चा करते हुए, कैयट ने उसके अस्तित्व का और ज्ञापकसिद्धत्व का स्वीकार किया है किन्तु नागेश ने साहचर्य की परिभाषा का आश्रय करके, उसका खंडन किया है और सिद्धहेम में भी इस न्याय का कोई बलवान् ज्ञापक प्राप्त नहीं है । इस न्याय की वृत्ति में कथित ज्ञापक में, ऊपर बताया उसी तरह ज्ञापकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

अतः आचार्यश्री की प्रवृत्ति ही इस न्याय का आधार है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।

यह न्याय चान्द्र, कातंत्र, कालाप, जैनेन्द्र व भोज परम्परा में प्राप्त नहीं है ।

॥ ६१॥ प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः प्राकरणिकस्यैव ॥ ४॥

'प्राकरणिक' अर्थात् प्रस्तुत प्रकरण सम्बन्धित और 'अप्राकरणिक' अर्थात् अन्य प्रकरण सम्बन्धित । प्राकरिणक और अप्राकरणिक दोनों का ग्रहण संभव हो तो प्राकरणिक का ही ग्रहण करना चाहिए ।

'प्राकरणिक' शब्द की व्युत्पत्ति बता रहे हैं । 'प्रकरण' अर्थात् 'स्वाधिकार', 'प्रकरणेन चरति' वाक्य में 'प्रकरण' शब्द से 'चरति' अर्थ में 'चरति' ६/४/११ सूत्र से 'इकण्' प्रत्यय होगा । 'वृद्धिः स्वरेष्वादे:'-७/४/१ से आद्य स्वर की वृद्धि होने पर 'प्राकरणिक' शब्द बनेगा ।

'प्राकरणिक' अर्थात् स्वाधिकार में कथित प्रत्यय आदि और अन्य के अधिकार में कथित प्रत्यय आदि, विवक्षित सूत्र की अपेक्षा से अप्राकरणिक कहा जाता है ।

प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों का ग्रहण संभवित हो तो प्राकरणिक अर्थात् स्वाधिकार

में कथित हो, वही लेना, किन्तु अन्य अधिकार में कथित हो ऐसे अप्राकरणिक का ग्रहण नहीं करना।

उदा: 'इञ इतः' २/४/७१ ङी विधायक सूत्र में जो 'इञ्' प्रत्यय कहा वही इञ् प्रत्यय व्याकरण में दो प्रकार के आते हैं। एक तद्धित के अधिकार में 'अत इञ्' ६/१/३१ 'सुतङ्गमादेरिञ्' ६/२/८५ से होनेवाला और दूसरा कृत्प्रत्यय विधायक 'प्रश्नाख्याने वेञ्' ५/३/११९ सूत्र से होनेवाला 'इञ्' प्रत्यय भी है, तो यहाँ कौनसा 'इञ्' प्रत्यय ग्रहण करना ? तब 'यञो डायन् च वा' २/४/६७ सूत्र से 'यञ्' इत्यादि तद्धित प्रत्यय ग्रहण किये हैं, अतः यहाँ तद्धित का 'इञ्' प्रत्यय प्राकरणिक है, जबकि 'प्रश्नाख्याने वेञ्' ५/३/११९ से होनेवाला कृत्सूत्रोक्त 'इञ्' प्रत्यय अप्राकरणिक है। अतः यहाँ इस न्याय से प्राकरणिक तद्धित के 'इञ्' प्रत्यय का ग्रहण होगा किन्तु 'प्रश्नाख्याने वेञ्' ५/३/११९ से होनेवाले 'इञ्' प्रत्यय का ग्रहण नहीं होगा। अतः 'सुतङ्गमेन निर्वृत्ता सौतङ्गमी' में 'इञ इतः' २/४/७१ से 'ङी' प्रत्यय होगा।

प्रश्न होने पर 'इञ्' प्रत्यय इस प्रकार होता है 'हे चैत्र त्वं कां कारिमकार्षीः।' और आख्यान अर्थात् किसीके प्रश्न के उत्तर में भी 'इञ्' प्रत्यय होता है। किसीने पूछा, उसी वक्त, कोई प्रत्युत्तर देता है 'सर्वां कारिमकार्षम्।' यहाँ 'कारि' शब्द 'इञ्' प्रत्ययान्त और इकारान्त भी है, अतः 'इञ इतः' २/४/७१ से ङी होने की प्राप्ति है किन्तु यहाँ 'इञ इतः' २/४/७१ में 'इञ्' प्रत्यय तद्धित का ही ग्रहण करना क्योंकि वह प्राकरणिक है। किन्तु 'कारि' शब्द में स्थित् 'इञ्' प्रत्यय कृत्सूत्रोक्त होने से अप्राकरणिक है अतः उसका ग्रहण नहीं होता है, अत एव यहाँ 'इञ इतः' २/४/७१ से 'ङी' प्रत्यय नहीं होगा।

इस न्याय का ज्ञापक 'शकादिभ्यो द्रेर्लुप्' ६/१/१२० सूत्र में 'द्रि' संज्ञा का अधिकार/अनुवृत्ति चली आती ही है, तथापि 'द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः' ६/१/१२३ में पुनः 'द्रि' का ग्रहण किया, वह है। इस न्याय से प्राकरणिक ऐसे द्रि संज्ञक 'अञ्' और 'अण्' प्रत्यय का ही लुप् होता है किन्तु अप्राकरणिक एसे द्रि संज्ञक 'अञ्' और 'अण्' इत्यादि का लोप नहीं होगा, इस प्रकार आचार्यश्री को शंका होने से, अप्राकरणिक ऐसे द्रि संज्ञक प्रत्ययों का लोप करने के लिए पुनः 'द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः' ६/१/१२३ में द्रि का ग्रहण किया है।

भावार्थ इस प्रकार है :- 'द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः' ६/१/१२३ सूत्र अपत्याधिकार में है और 'द्रि' संज्ञा दो प्रकार की है। एक अपत्याधिकार में आयी हुई 'राष्ट्रक्षत्रियात् सरूपाद्राजाऽपत्ये द्रिरञ्' ६/१/११४ इत्यादि सूत्र से होनेवाली द्रि संज्ञा, जो यहाँ प्राकरणिकी है और दूसरी 'शस्त्रजीविसंघाधिकार' में 'पूगादमुख्यकाञ्ज्यो द्रिः' ७/३/६० इत्यादि सूत्र से होनेवाली द्रि संज्ञा जो यहाँ अप्राकरणिकी है, अतः यहाँ प्राकरणिकी अपत्याधिकारस्था द्रि संज्ञा का ग्रहण हो सकेगा, किन्तु शस्त्रजीविसंघाधिकारस्था द्रि संज्ञा का ग्रहण नहीं हो सकता है। उसी शस्त्रजीविसङ्घाधिकारस्था द्रि संज्ञा का भी, 'द्रेरञणो-' ६/१/१२३ इत्यादि सूत्र में ग्रहण करने के लिए पुनः द्रि का ग्रहण किया है।

संक्षेप में, 'द्रेरञणो—' ६/१/१२३ सूत्र में दोनों अधिकार में आये हुए द्रिसंज्ञक 'अञ्'

और 'अण्' प्रत्यय का ग्रहण करना है और इसी सूत्र से इसका लोप करना है, अतः 'मद्रस्यापत्यं स्त्री मद्री' में जैसे 'मद्र' शब्द से अपत्य अर्थ में 'पुरुमगधकलिङ्गशूरमसद्विस्वरादण्' ६/१/११६ से 'अण्' प्रत्यय होगा और उसकी द्रि संज्ञा होगी, उसका 'द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः' ६/१/१२३ से लोप होगा । बाद में 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणकार्यं विज्ञायते' न्याय से लुप्त अण् प्रत्यय निमित्तक 'अणञेयेकण्' — २/४/२० से ङी प्रत्यय होगा और 'अस्य ङ्यां लुक्' २/४/८६ से 'मद्र' के 'अ' का लोप होने से 'मद्री' शब्द सिद्ध होगा ।

वैसे ही पर्शु नामक किसी स्त्री के बहु अपत्य 'माणवक' है, तो वहाँ 'पुरुमगध.....' ६/१/११६ से 'अण्' होगा और उसको द्रि संज्ञा होगी, उसी द्रि संज्ञक 'अण्' का 'शकादिभ्यो द्रेर्लुप्' ६/१/१२० से लुप् होगा और 'पर्शवः' रूप होगा, उसका स्त्रीत्व विवक्षित 'शस्त्रजीविसङ्घ' हो तब 'पर्शु' शब्द से 'पर्श्वादेरण्' ७/३/६६ से द्रि संज्ञक अण् होगा, उसका भी 'द्रेरञणोऽप्राच्य-' ६/१/१२३ से लुप् होगा । बाद में 'उतोऽप्राणिनश्चायुरज्ज्वादिभ्य ऊङ्' २/४/७३ से 'ऊङ्' होगा और 'पर्शू' शब्द सिद्ध होगा ।

यह न्याय अनित्य होने से 'जृष्' धातु का अद्यतनी के दि प्रत्यय के साथ 'अजरत्' रूप सिद्ध करते समय जैसे 'ऋदिच्छ्वि' —३/४/६५ से हुए आख्यात सम्बन्धित 'अङ्' प्रत्यय होने से 'ऋवर्णदृशोऽङि' ४/३/७ से गुण होता है, वैसे 'जरणं जरा 'इत्यादि में 'षितोऽङ्' ५/३/१०७ से हुए कृत्सूत्रोक्त 'अङ्' प्रत्यय होने से 'ऋवर्णदृशोऽङि' ४/३/७ से गुण होता है । यदि यह न्याय नित्य होता तो प्राकरणिक ऐसे 'ऋदिच्छ्वि-' ३/४/६५ से हुए 'अङ्' प्रत्यय पर में होता तभी ही गुण होता क्योंकि वह आख्यात् सूत्रोक्त है और 'ऋवर्णदृशोऽङि' ४/३/७ आख्यात विभाग में ही कथित है । जबकि 'षितोऽङ्' ५/३/१०७ कृत्सूत्रोक्त होने से वह अप्राकरणिक है, अतः 'ऋवर्ण-दृशोऽङि' ४/३/७ से गुण नहीं हो सकता है तथापि गुण किया है वह इस न्याय की अनित्यता को सूचित करता है ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय के कुछेक अंश की इस प्रकार चर्चा करते हैं ।

एक ही शब्द अनेक अर्थ बताने में समर्थ हो तब उस प्रयुक्त शब्द का कोई एक ही अर्थ निश्चित करने में जैसे संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, देश, काल, सामर्थ्य, औचित्य इत्यादि अनेक कारण के सन्दर्भ लिए जाते हैं[1], वैसे व्याकरण में भी अभिधा के नियामक के रूप में प्रकरण है ही और वह सर्वसम्मत है ही, यही इस न्याय से प्रतीत होता है । यह न्याय स्वतःसिद्ध ही है, अतः उसे ज्ञापक की अपेक्षा नहीं है, तथापि सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में 'द्रेरञणो-' ६/१/१२३ सूत्र में कथित 'द्रावनुवर्तमाने पुनर्द्रिग्रहणं भिन्नप्रकरणस्यापि द्रेर्लुबर्थम्' विधान द्वारा इस न्याय को सूचित किया है ।

कुछेक के मतानुसार 'प्रकरण' अर्थविशेष का ही नियामक है' ऐसा सामान्य नियम होने से

१. संयोगो विप्रयोगश्च, साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं, शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥ सामर्थ्यमौचिती देशः, कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दस्यानवच्छेदे, विशेषस्मृतिहेतवः ॥ (वाक्यपदीय-भर्तृहरि)

इस न्याय की पृथक् कोई आवश्यकता नहीं है । वस्तुतः यह न्याय, इसी नियम का ही अनुवाद है।

इस न्याय की अनित्यता के फलस्वरूप श्रीहेमहंसगणि ने बताया है कि जैसे आख्यात के 'ॠदिच्छिव'— ३/४/६५ सूत्र से 'जॄष्' धातु से अद्यतनी में 'अङ्' प्रत्यय होने पर 'ॠवर्णदृशोऽङि' ४/३/७ से गुण होता है वैसे कृत्प्रकरणसम्बन्धित 'षितोऽङ्' ५/३/१०७ से विहित 'अङ्' प्रत्यय पर में हो तो भी 'ॠवर्णदृशोऽङि' ४/३/७ से ही गुण होगा ।

श्रीलावण्यसूरिजी के मतानुसार यह बात उचित प्रतीत नहीं होती है । वे कहते हैं कि ऊपर बताया उसी तरह यह न्याय ज्ञापकसिद्ध नहीं है किन्तु स्वतःसिद्ध ही है । अतः इस न्याय की अनित्यता की कल्पना न करनी चाहिए ।

यह न्याय नित्य होगा तो भी गुणविधायक सूत्र-'ॠवर्णदृशोऽङि' ४/३/७ से ही दोनों स्थान पर गुण होगा । प्रथम बात यह कि इस न्याय की प्रवृत्ति शब्द और अर्थ का निर्णय करने के लिए ही है । जबकि यहाँ 'अङ्' का अर्थ द्वारा ग्रहण नहीं किया गया है किन्तु स्वरूप से ही ग्रहण किया है अर्थात् जहाँ इस शब्द द्वारा कोन-सा अर्थ ग्रहण किया जाय ? ऐसा संशय हो वहाँ प्रकरण के अनुसार अर्थ करना, ऐसा इस न्याय का तात्पर्य है । यहाँ स्वरूप से ही 'अङ्' का ग्रहण है किन्तु 'अङ्' वाचक अन्य पद से ग्रहण नहीं किया है । अतः यहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति का अवकाश ही नहीं है ।

जबकि द्रि संज्ञा में उसके द्वारा विशेष प्रत्ययों का ग्रहण होता है और द्रि संज्ञा दो प्रकार के प्रत्ययों को होती है । एक प्रकार अपत्य अर्थ में होनेवाले और दूसरा प्रकार 'शस्त्रजीविसङ्घात' अर्थ में होनेवाले । अतः यहाँ कौन-से अर्थ में हुए प्रत्यय की द्रि संज्ञा लेना उसका संशय होने से उसका निर्णय करने के लिए इस न्याय की प्रवृत्ति का संभव है, किन्तु श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने पुनः द्रि का ग्रहण करके इस न्याय की प्रवृत्ति को रोक दिया है, यह उचित है ।

अब अङ् विधायक दोनों सूत्र धातु से ही अङ् करते हैं, अतः दोनों का प्रकरण एक ही मानना चाहिए । दूसरी बात यह है कि पहले 'अङ्' विधायक सूत्र 'ॠदिच्छिवस्तम्भू'— ३/४/६५ के समीप में ही गुण विधायक सूत्र का पाठ नहीं किया है । वैसे द्वितीय 'अङ्' विधायकसूत्र 'षितोऽङ्' ५/३/१०७ के बाद तुरत ही गुणविधायक सूत्र का पाठ नहीं किया है, किन्तु स्वतंत्र गुणविधायक प्रकरण में ही उसका पाठ किया है, अतः यहाँ प्राकरणिक या अप्राकरणिक का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है ।

दूसरी एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि आख्यातप्रकरण और कृत्प्रकरण को भिन्न-भिन्न प्रकरण के स्वरूप में कहीं भी स्वीकृति नहीं दी गई है और वही बात 'सङ्ख्या-सम्भद्रान्मातुर्मातुर्च' ६/१/६६ सूत्र के न्यास से स्पष्ट हो जाती है । अतः इस न्याय के अनित्यत्व का फल बताने के लिए दोनों प्रकरणों को भिन्न-भिन्न प्रकरण के स्वरूप में मानना उचित नहीं है । न्यास में की गई चर्चा का सार इस प्रकार है ।

आख्यात प्रकरणगत 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ से, यहाँ 'द्वैमातुरः' इत्यादि प्रयोग में अन्त्य स्वर की वृद्धि क्यों नहीं होगी ? उसका कारण बताते हुए कहा है कि 'संभवे सति बाधनं भवति' न्याय के पक्ष में 'तक्रकौण्डिन्य' न्याय से ञित् णित् तद्धित प्रत्यय पर में होने पर भी 'वृद्धिः स्वरेष्वादेः' ७/४/१ सूत्र से 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ का बाध होगा ।

जिन लोगों की मान्यता है कि 'असंभवे सति बाधनं भवति' उनकी मान्यतानुसार 'माठरकौण्डिन्य' न्याय के द्वारा 'वृद्धिः स्वरेष्वादेः' ......७/४/१ से 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ का बाध करना संभव नहीं है, अतः उनकी मान्यतानुसार यहाँ कहते है कि आख्यातप्रकरण और कृत्प्रकरण एक ही हैं । अत एव 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ सूत्र आख्यात और कृत्प्रत्यय होने पर ही प्रवृत्त होता है, जबकि यहाँ दोनों से भिन्न तद्धित प्रकरण है । अतः यहाँ 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ की प्राप्ति ही नहीं है । और 'वृद्धिः स्वरेष्वादेः' ७/४/१ से होनेवाली वृद्धि और उसका सूत्र तद्धित प्रकरण में ही कहा गया है । अतः स्वप्रकरण सम्बन्धित सूत्र से ही वृद्धि होगी किन्तु अन्य प्रकरण कथित वृद्धि सूत्र से वृद्धि नहीं होगी । और 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ तथा 'वृद्धिः स्वरेष्वादेः' ......७/४/१ के बीच ज्यादा अन्तर भी है, अत एव इन दोनों में परस्पर बाध्य-बाधक भाव पैदा नहीं होता है ।

मेरी दृष्टि से भी आख्यातप्रकरण और कृत्प्रकरण दोनों एक ही हैं क्योंकि सूत्रकार आचार्यश्री ने स्वयं चौथे अध्याय में आख्यात सम्बन्धित सूत्रों के विधान करने के बाद भी पांचवें अध्याय में जिस में बहुधा/विशेष रूप से कृत्प्रत्यय विधायक सूत्र ही है उसमें भी बीच में कहीं कहीं आख्यात सम्बन्धित सूत्र भी रखे हैं । और इन सूत्रों से विहित प्रत्ययों की कृत्संज्ञा न हो इसलिए पांचवें अध्याय के प्रथम सूत्र 'आ तुमोऽत्यादिः कृत्' ५/१/१ में संपूर्ण पांचवें अध्याय में कहे गये त्यादि प्रत्यय का वर्जन किया गया है । पाचवें अध्याय में आये हुए आख्यात प्रत्यय सम्बन्धित सूत्र इस प्रकार हैं :-

(१) श्रुसदवस्भ्यः परोक्षा वा ५/२/१ (२) अद्यतनी ५/२/४ (३) विशेषाऽविवक्षा - व्यामिश्रे ५/२/५ (४) रात्रौ वसोऽन्त्ययामाऽस्वप्तर्यद्य ५/२/६ से सति ५/२/१९ तक (५) भविष्यन्ती ५/३/४ से क्रियायां क्रियार्थायां तुम्णकच्भविष्यन्ती ५/३/१३ (६) सत्सामीप्ये सद्वद् वा ५/४/१ से अधीष्टौ ५/४/३२ (७) सप्तमी यदि—५/४/३४, शक्तार्हे कृत्याश्च ५/४/३५ (८) आशिष्याशीः पञ्चम्यौ ५/४/३८ से प्रचये नवा सामान्यार्थस्य ५/४/४३ (९) इच्छार्थे कर्मणः सप्तमी ५/४/८९

यदि सूत्रकार आचार्यश्री को दोनों प्रकरण की भिन्न भिन्न व्यवस्था करनी होती तो, उपर्युक्त करीब ६८ सूत्रों को चौथे अध्याय के किसी भी पाद में समाविष्ट किये होते, तथापि ऐसा नहीं किया है, इससे स्पष्ट होता है कि दोनों प्रकरण एक ही हैं । और चौथे अध्याय में निर्दिष्ट गुण-वृद्धि-आदेश -लोप इत्यादि सम्बन्धित सूत्रों की प्रवृत्ति पांचवें अध्याय में भी होती है ।

यह न्याय प्राय: अन्य किसी भी परम्परा में इसी स्वरूप में प्राप्त नहीं है ।

॥ ६२॥ निरनुबन्धग्रहणे सामान्येन ॥ ५॥

सूत्र में यदि निरनुबन्ध का ग्रहण हो तो सामान्यतया सर्व का ग्रहण करना ।

'सामान्य' का अर्थ यहाँ 'निरनुबन्ध 'और 'सानुबन्ध 'इस प्रकार दोनों का ग्रहण करना । (सूत्र में यदि कोई शब्द, धातु या प्रत्यय निरनुबन्ध ग्रहण किया हो तो, उसे सामान्य कथन मानकर, निरनुबन्ध और सानुबन्ध दोनों का ग्रहण करना) निरनुबन्ध से सानुबन्ध में बहुत कुछ स्वरूपभेद/शब्दभेद/विसदृशता होने के कारण सानुबन्ध का ग्रहण संभव नहीं था, उसे संभव बनाने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'स्व:' और 'क:' यहाँ 'र: पदान्ते विसर्गस्तयो:' १/३/५३ सूत्र में निरनुबन्ध रेफ का ग्रहण है, अत: जैसे 'स्व:' में 'स्वर्' शब्द के स्वाभाविक रेफ का विसर्ग हुआ वैसे 'क:' में 'कस्' के 'स्' का 'सो रु:' २/१/७२ से हुए 'रु' सम्बन्धित 'र्' का भी विसर्ग होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक/आरोपक 'अरो: सुपि र:' १/३/५७ में 'रु' का वर्जन किया, वह है । यहाँ 'र: पदान्ते-' १/३/५३ सूत्र में जिस रेफ के विसर्ग का विधान है वह निरनुबन्ध और सानुबन्ध दोनों प्रकार के रेफ का विसर्ग करता है और उसके ही अधिकार में आये हुए 'अरो: सुपि र:' १/३/५७ में 'रु' का वर्जन न किया जाय तो 'गीर्षु ,धीर्षु' की तरह 'पयस्सु, चन्द्रमस्सु' इत्यादि प्रयोग में भी 'रु ' सम्बन्धित 'र्' का विसर्ग होता किन्तु वह अनिष्ट है, अत: 'रु' सम्बन्धित र् का वर्जन करने के लिए 'अरो:' पद रखा है और 'अरो:' पद से ज्ञात होता है कि 'र: पदान्ते' - १/३/५३ में जो 'र्' है उससे इस न्याय के कारण दोनों प्रकार के (सानुबन्ध और निरनुबन्ध) रेफ का विसर्ग होता है ।

यह न्याय अनित्य है, क्योंकि दूसरा एक न्याय है कि 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य' । यह न्याय प्रस्तुत 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्येन' न्याय का बाधक है ।

(ये दोनों न्याय-परस्पर एकदूसरे के बाधक बनते हैं यह एक विचारणीय विषय है ।)

वस्तुत: 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य' न्याय प्रथम/पहले ज्ञापकसिद्ध के स्वरूप में बता देने के बाद, उसके प्रतिपक्ष स्वरूप यह न्याय न कहना चाहिए क्योंकि एक ही विषय में परस्पर विरुद्ध न्याय का अस्तित्व होना उचित नहीं है । अब प्रश्न यहीं पैदा होता है कि दोनों न्याय ज्ञापक सिद्ध हीं हैं तो दो में से किस को यहाँ उचित मानना चाहिए ? उसका कोई निश्चायक नहीं है, अत: दोनों न्याय के अस्तित्व का स्वीकार करना चाहिए, ऐसी कोई शंका करें तो उसका प्रत्युत्तर श्रीलावण्यसूरिजी इस प्रकार देते हैं । पहले जिस न्याय की स्थापना की गई हो उसी न्याय से विरुद्ध अर्थवाले न्याय से पूर्व के न्याय की अनित्यता का ही ज्ञापन हो सकता है और वही उचित है । अत एव 'अरो: सुपि र:' १/३/५७ सूत्र के न्याससारसमुद्धार में बताया है कि लाक्षणिक न्याय

('लक्षणप्रतिपदोक्तयोः'—) और निरनुबन्ध न्याय (निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य) अनित्य है । किन्तु 'रु' के वर्जन को इस न्याय का ज्ञापक नहीं माना है । अतः उसे इस न्याय का ज्ञापक नहीं मानना चाहिए, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं और वस्तुतः वे इस न्याय का ही स्वीकार नहीं करते हैं । केवल पूर्व के निरनुबन्ध न्याय को ही अनित्य मानते हैं ।

कुछेक 'रु' में स्थित 'उ' कार को अनुबन्ध के रूप में स्वीकारते नहीं हैं । उनका कहना है कि 'रु' में स्थित उकार का अन्य कोई कार्य-प्रयोजन नहीं है, वह केवल उच्चारण के लिए ही है । जबकि शास्त्रकार की शैली-पद्धति अनुसार अनुबन्धों का विशिष्ट प्रयोजन होता है । यहाँ ऐसा कोई विशिष्ट प्रयोजन नहीं है, अतः उकार में अनुबन्धत्व नहीं है, अत एव वह इस न्याय का विषय नहीं बन पाता है ।

इसका खंडन करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते है कि 'अतोऽति रोरुः' १/३/२०, 'रोर्यः' १/३/२६ इत्यादि सूत्रों में उकार अनुबन्ध सार्थक है । अतः वह केवल उच्चार करने के लिए ही है, ऐसा नहीं है और वही उकार अनुबन्ध का फल यह है कि 'प्रातरत्र, भ्रातर्गच्छ' इत्यादि प्रयोग में उकार अनुबन्ध रहित रेफ का 'उ' नहीं होता है ।

ऊपर बताया, उसी प्रकार से 'उ' अनुबन्ध होने से 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य' की प्राप्ति दूर करना संभव नहीं है । अतः यह 'अरोः सुपि रः' १/३/५७ स्वरूप ज्ञापक द्वारा उसकी अनित्यता का ज्ञापन करना आवश्यक है ।

यह न्याय कातंत्र की दुर्गसिंहकृत परिभाषावृत्ति, कालाप परिभाषापाठ को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं है । शायद उन सभी परम्परा में 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य' न्याय की अनित्यता से ही निर्वाह किया गया है ।

॥ ६३॥ साहचर्यात्सदृशस्यैव ॥ ६॥

साहचर्य से तत्सदृश का ही ग्रहण होता है ।

अव्यभिचारी द्वारा व्यभिचारी को नियंत्रित किया जाता है उसे साहचर्य कहा जाता है व्यभिचारी शब्द, धातु या प्रत्यय इत्यादि के साथ प्रयुक्त अव्यभिचारी शब्द, धातु या प्रत्यय के सदृश ही व्यभिचारी शब्द, धातु या प्रत्यय का ग्रहण करना किन्तु असदृश का ग्रहण नहीं करना ।

इष्ट शब्द, धातु या प्रत्यय इत्यादि के ग्रहण की सिद्धि के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'क्त्वातुमम्' १/१/३५ यहाँ 'क्त्वा' और 'तुम्' प्रत्यय 'कृत्' हैं, अतः उसके साहचर्य से 'अम्' प्रत्यय भी 'कृत्' ही लेना, किन्तु द्वितीया विभक्ति एकवचन का 'अम्' प्रत्यय नहीं लेना ।

यह न्याय अनित्य है । अतः 'वत्तस्याम्' १/१/३४ में 'वत्' और 'तसि' के साहचर्य से, केवल तद्धित सम्बन्धित 'आम्' प्रत्यय का ग्रहण न करके, उसके जैसे, परोक्षा के स्थान में किये

गये, आख्यात सम्बन्धित 'आम्' प्रत्यय का भी ग्रहण होता है, अतः 'इदमनयोरतिशयेन किमिति किंतराम्' । यहाँ 'किं' शब्द से 'द्वयोर्विभज्ये च तरप्' ७/३/६ से 'तरप्' प्रत्यय होगा और 'किं-त्याद्येऽव्ययादसत्त्वे तयोरन्तस्याम्' ७/३/८ से 'तरप्' प्रत्यय के अन्त्य का 'आम्' आदेश होने पर, उसी 'आम्' से विहित 'सि' प्रत्यय का 'अव्ययस्य' ३/२/७ से लुप् होता है क्योंकि वही 'किंतराम्' इत्यादि रूपों को 'वत्तस्याम्' १/१/३४ से अव्यय संज्ञा होती है। उसी ही तरह/वैसे ही 'पाचयाञ्चक्रुषा' में भी परोक्षा के स्थान पर हुए 'आम्' प्रत्ययान्त 'पाचयाम्' शब्द को 'वत्तस्याम्' १/१/३४ से अव्यय संज्ञा होने से 'अव्ययस्य' ३/२/७ से 'टा' प्रत्यय का लोप होता है ।

यहाँ इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक नहीं बताया गया है ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने इस न्याय को लोकसिद्ध बताया है । उसका लोकसिद्धत्व बताते हुए वे कहतै हैं कि 'रामलक्ष्मणौ' कहने से 'लक्ष्मण' के साहचर्य से 'राम' शब्द द्वारा 'दशरथ' राजा के पुत्र 'राम' का ही ग्रहण होगा और 'रामकृष्णौ' कहने से 'राम' शब्द से, 'कृष्ण' के साहचर्य से 'बलराम' का ग्रहण होगा । अतः यहाँ ज्ञापक की अपेक्षा नहीं है । तथापि श्रीहेमहंसगणि ने 'अविशेषोक्ति' को ही इस न्याय का ज्ञापक माना है, वह उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि 'अविशेषोक्ति' से सामान्य का ग्रहण संभव है किन्तु विशेष का ग्रहण संभव नहीं है ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं । किन्तु ऐसे स्थान पर सामान्य का ग्रहण इष्ट नहीं होता है बल्कि विशेष का ग्रहण ही इष्ट होता है, अतः विशेषोक्ति करना अनिवार्य है तथापि विशेषोक्ति नहीं की गई है, वह इस न्याय के अस्तित्व को मानकर अन्य शब्द, धातु या प्रत्यय के साहचर्य से, उससे सम्बन्धित 'तत्सदृश' का ही ग्रहण होगा ।

इस न्याय के अनित्यत्व का फल बताया गया वह उचित/सही नहीं है ।

'वत्तस्याम्' १/१/३४ सूत्र के बृहन्न्यास और लघुन्यास में 'आम्' से तद्धित के 'आम्' के साथसाथ परोक्षा के स्थान में हुए 'आम्' के ग्रहण को और षष्ठी के 'आम्' प्रत्यय के अग्रहण को इस प्रकार सिद्ध किया है और उसमें इस न्याय की ही प्रवृत्ति की गई है ।

बृहन्न्यास में कहा है कि 'आम्' तीन प्रकार के हैं । (२) षष्ठी के बहुवचन का 'आम्' (२) तद्धित का 'आम्' (३) परोक्षा के स्थान पर हुआ 'आम्' । यहाँ 'वत्तस्याम्' १/१/३४ में कौन-सा 'आम्' लेना उसकी कोई विशेष स्पष्टता नहीं कि गई है तथापि षष्ठी बहुवचन के आम् को छोड़कर शेष दो प्रकार के 'आम्' को ही ग्रहण करना । क्योंकि 'वत्' और 'तस्' प्रत्यय अविभक्ति है, अतः 'आम्' भी अविभक्ति ही ग्रहण करना । तद्धित का 'आम्' प्रत्यय जैसे अविभक्ति है वैसे परोक्षा के अर्थ में हुए 'क्वसु' प्रत्यय के स्थान पर हुआ 'आम्' भी अविभक्ति है, जबकि षष्ठी बहुवचन का 'आम्' प्रत्यय विभक्ति का प्रत्यय है, अतः उसका ग्रहण नहीं हो सकता है ।

और लघुन्यास में इस प्रकार कहा है -: 'वत्तस्याम्' १/१/३४ में 'वत्' और 'तस्' के साहचर्य से 'आम्' तद्धित का अर्थात् 'किं-त्याद्येऽव्यया' ७/३/८ से हुए 'आम्' का ग्रहण करना । यहाँ 'तद्धित का' ऐसा कहा है उसके उपलक्षण से 'धातोरनेकस्वरादाम्' ३/४/४६ इत्यादि सूत्र

से विहित आम् का भी ग्रहण होता है । अतः 'पाचयाञ्चक्रुषा' इत्यादि में 'टा' का लोप होने से 'तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ' १/३/१४ से अनुस्वार और अनुनासिक दोनों होंगे । यहाँ उपलक्षण से षष्ठी के बहुवचन के 'आम्' प्रत्यय का ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि जो 'आम्' 'आम्' के स्वरूप में ही हंमेशा के लिए रहता हो उसका ही ग्रहण होता है, जबकि षष्ठी बहुवचन के 'आम्' का 'नाम्, साम्' आदेश होते हैं, अतः उसका ग्रहण नहीं होगा ।

ऊपर बताया वही समाधान देकर, फिर से /पुनः दूसरा समाधान देते हैं किन्तु वह समाधान बृहन्न्यास में दिया है वही है । संक्षेप में यहाँ 'आम्' ग्रहण के लिए सूत्रकार ने बृहन्न्यास में, और लघुन्यासकार ने भी इसी न्याय की प्रवृत्ति की है किन्तु इस न्याय की अनित्यता का आश्रय नहीं किया है । अतः यहाँ अनित्यता का फल बताना उचित नहीं है ।

'पाचयाञ्चक्रुषा' में 'पाचयाम्' को 'वत्तस्याम्' १/१/३४ से अव्यय संज्ञा क्यों करनी चाहिए, उसकी चर्चा जैसे श्रीलावण्यसूरिजी ने की है, वैसे श्रीहेमहंसगणि ने भी की है ।

अव्यय संज्ञा करने का मुख्य कारण तृतीया एकवचन के 'टा' प्रत्यय का लोप करने का है । दूसरा कारण 'पाचयाम्' में पदत्व लाने का है । वही पदत्व आने से 'म्' का अनुस्वार और अनुनासिक दोनों होते हैं । यह पदत्व दो प्रकार से संभव है । १. 'आम्' स्वतंत्र प्रत्यय मानकर 'आमन्त को अव्यय बनाकर उसमें नामत्व सिद्ध करके 'टा' प्रत्यय का लोप करके, स्याद्यन्त पद बनाया जा सकता है । और २. परोक्षा के क्वसु के स्थान पर हुए 'आम्' में परोक्षावद्भाव करके उसमें त्याद्यन्त पद संज्ञा हो सकती है ।

उसमें स्याद्यन्त पदनिष्पति की चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी पूर्वपक्ष का स्थापन करते हैं और कहते हैं कि 'वत्तस्याम्' १/१/३४ सूत्र में अविभक्ति 'वत्' और 'तस्' के साहचर्य से 'आम्' भी अविभक्ति ग्रहण किया जायेगा, अतः षष्ठी बहुवचन के 'आम्' का ग्रहण नहीं होगा । और 'आम्' की तद्धित प्रत्यय के स्वरूप प्रसिद्धि है, अतः 'पाचयाञ्चक्रुषा' इत्यादि में 'क्वसु' के स्थान पर 'धातोरनेकस्वरादाम्' ३/४/४६ से हुए 'आम्' का भी ग्रहण नहीं होगा, तो उसकी अव्यय संज्ञा न होने से तृतीया एकवचन के 'टा' प्रत्यय का लोप नहीं होगा ।

और यहाँ कोई ऐसा तर्क करें कि 'पाचयाम्' में नामत्व नहीं है, अतः उससे 'टा' प्रत्यय नहीं हो सकता है, अतः अव्यय संज्ञा करके नामत्व लाकर बाद में तृतीया का टा प्रत्यय लाकर उसका लोप किया जाय, उससे ज्यादा अच्छा यह है कि अव्ययसंज्ञा द्वारा नामत्व लाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, अतः टा प्रत्यय भी नहीं होगा ।

'उसका प्रत्युतर देते हुए श्रीहेमहंसगणि तथा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यहाँ अव्यय संज्ञा करके नामत्व लाकर, टा प्रत्यय का लोप करने से पदत्व आता है । इससे 'तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ' १/३/१४ से 'म्' का अनुस्वार भी होता है, अन्यथा 'म्नां धुड्वर्गेऽन्त्यो.....' १/३/३९ से अन्त्य व्यञ्जन ही होता ।

अब त्याद्यन्तपदत्व के बारे में शंका करते हैं कि 'पाचयाम्' में अव्यय संज्ञा करके, प्रत्यय लाकर, उसका लोप करके पदत्व लाना उससे अच्छा यह है कि 'क्वसु' के स्थान पर हुए 'आम्' में परोक्षावद्भाव द्वारा पदत्व लाया जा सकता है और णव् इत्यादि परोक्षा के स्थान पर हुए 'आम्' में परोक्षत्व स्थानिवद्भाव द्वारा आ सकता है । इस प्रकार वह त्यादि विभक्त्यन्त पद होता है, तो ये अव्यय संज्ञा आदि व्यर्थ ही हैं ।

उसका प्रत्युत्तर देते हुए (वे दोनों) कहते हैं कि ऊपर बताया उसी प्रकार से त्याद्यन्तनिमित्तक पद संज्ञा होनेवाली ही नहीं है क्योंकि क्वसु के स्थान पर हुए 'आम्' में परोक्षावद्भाव आता नहीं है । यद्यपि क्वसु में परोक्षावद्भाव है तथापि उसके आदेश 'आम्' में परोक्षावद्भाव नहीं है । इस 'आम्' में परोक्षावद्भावाभाव का ज्ञापन 'वेत्तेः कित्' ३/४/५१ सूत्र से होता है । इसके बारे में श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यता और श्रीहेमहंसगणि की मान्यता, प्रायः समान ही है । केवल श्रीहेमहंसगणि द्वारा की गई 'कित्' और 'अवित्' के बारे में गौरव- लाघव कि चर्चा को वे अस्थानापन्न मानते हैं । जबकि मेरी अपनी मान्यतानुसार यदि 'क्वसु' के स्थान पर हुए 'आम्' का परोक्षावद्भाव होता तो 'वेत्तेरवित् 'भी कहने की आवश्यकता नहीं है । इसकी स्पष्टता करने से पहले, श्रीहेमहंसगणि और श्रीलावण्यसूरिजी द्वारा की गई चर्चा का तात्पर्य/सार यहाँ प्रस्तुत करता हूँ ।

'तत्र क्वसुकानौ तद्वत्' ५/२/२ सूत्र में 'क्वसु' का परोक्षावद्भाव, द्वित्व इत्यादि की सिद्धि के लिए किया गया है । अतः स्यादि की अनुत्पत्ति स्वरूप अनिष्ट सिद्ध करने के लिए वह समर्थ नहीं बनता है ।

'वेत्तेः कित्' ३/४/५१ सूत्र से 'आम्' के परोक्षावद्भाव की निवृति इस प्रकार ज्ञापित होती है । 'विदाञ्चकार' इत्यादि रूप में 'विद्' के 'इ' का गुण न हो इसलिए परोक्षा स्थानिक 'आम्' को कित् बनाया गया है । यदि 'आम्' को 'वेत्तेरवित्' सूत्र बनाकर 'अवित्' किया होता तो परोक्षास्थानि 'आम्' में 'इन्ध्यसंयोगात् परोक्षा किद्वत्' ४/३/२१ से कित्व आ जाता और गुण का अभाव सिद्ध हो जाता । तथापि 'वेत्तेरवित्' सूत्र न बनाकर, 'वेत्तेः कित्' ३/४/५१ सूत्र किया, उससे ज्ञापित होता है कि 'आम्' का परोक्षावद्भाव नहीं होता है, अतः परोक्षावद्भावनिमित्तक कित्त्व, द्वित्व इत्यादि कार्य नहीं होते हैं । उदा. 'जुहवाञ्चक्रतुः' इत्यादि में आम् का परोक्षावद्भाव नहीं होने से कित्त्व नहीं होगा और 'हु' के 'उ' का गुण होगा और द्वित्व करने के लिए 'भीह्रीभृहोस्तिव्वत्' ३/४/५० से 'तिव्वत्' किया है । बाद में 'हवः शिति' ४/१/१२ से द्वित्व होगा, अतः यहाँ 'विदाञ्चकार' में परोक्षानिमित्तक 'द्विर्धातुः परोक्षा'- ४/१/१ से द्वित्व नहीं होगा और कित् करने से गुणाभाव होगा ।

किसी भी विधान को ज्ञापक बनाना हो तो उसे व्यर्थ बताना चाहिए । यहाँ 'वेत्तेः कित्' ३/४/५१ ऊपर बताया उसी प्रकार व्यर्थ है किन्तु उसकी सार्थकता अन्य प्रकार से बताई जा सकती है और उसे श्रीहेमहंसगणि ने गौरव लाघव की चर्चा करके, सार्थक बताया है । उसकी सार्थकता इस प्रकार है ।

'वेत्तेरवित्' स्थान पर 'वेत्तेः कित्' ३/४/५१ करने से वर्णलाघव और प्रक्रियालाघव होता है । 'कित्' से 'अवित्' में वर्ण/मात्रा ज्यादा है । अतः और 'आम्' को अवित् किया जाय बाद में परोक्षावद्भाव द्वारा 'इन्ध्यसंयोगात् परोक्षा किद्वत्' ४/३/२१ से 'कित्त्व' लाकर बाद में गुणाभाव होगा उसके बजाय 'आम्' को सीधे ही 'किद्वत्' करने से प्रक्रियालाघव भी होगा और 'मात्रालाघवमप्युत्सवाय मन्यन्ते वैयाकरणाः । न्याय होने से यही सूत्ररचना सार्थक होगी । अतः यह सूत्र परोक्षावद्भावाभाव का ज्ञापन करने में समर्थ नहीं होगा ।

श्रीहेमहंसगणि ने स्वयं पूर्वपक्ष के रूप में प्रतिपादित की गई इसी सार्थकता का आंशिक खंडन करते हुए वे कहते हैं कि मात्रालाघव करना वही आचार्यश्री को एकान्तरूप में सम्मत नहीं है । क्योंकि उन्होंने जैसे 'क्लीबे' २/४/९७ सूत्र में नपुंसकलिङ्ग के लिए 'क्लीब' शब्द का प्रयोग किया है वैसे 'नपुंसकस्य शिः' १/४/५५ में 'क्लीब' का प्रयोग किया होता किन्तु ऐसा नहीं किया उससे ज्ञापित होता है 'मात्रालाघवमप्युत्सवाय मन्यन्ते वैयाकरणाः' न्याय अनित्य है, अतः लाघव सम्बन्धित अभाव के कारण 'वेतेः कित्' ३/४/५१ से हुआ कित्त्वविधान व्यर्थ होकर परोक्षावद्भावाभाव का ज्ञापन करता है, और ऐसा करने से यदि लाघव हो तो वही गुण ही है, कोई दोष नहीं है । ऐसा अन्य स्थानों पर भी देखने को मिलता है । उदा. 'अनवर्णा नामी' १/१/६ सूत्र में संज्ञा को एकवचन में रखकर वचनभेद क्यों किया ? उसकी स्पष्टता करते हुए आचार्य श्रीहेमचंद्रसूरिजी कहते हैं, जहाँ 'नामिन्' संज्ञा सम्बन्धित कार्य करना हो वहाँ कार्य स्वर से कार्यी स्वर न्यून होना चाहिए, और तभी वहाँ 'नामिन्' संज्ञा होती है अन्यथा 'नामिन्' संज्ञा नहीं होती है, उसका ज्ञापन करने के लिए 'नामी' इस प्रकार एकवचन में रखकर वचनभेद किया है । अतः 'ग्लायति, म्लायति' इत्यादि धातु के ऐकार की नामिन् संज्ञा न होने से 'नामिनो गुणोऽक्ङिति' ४/३/१ से गुण नहीं होगा ।

इसकी विशेष स्पष्टता करते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि गुण, अधिक या विशेष आरोपण स्वरूप है । 'ग्लायति' इत्यादि में ऐकार है और इसका गुण हो तो उसका आसन्न ए होता है और एकार, ऐकार से न्यून है । यद्यपि ऐकार और एकार दोनों दो-दो मात्रायुक्त होने पर भी एकार विवृततर आस्यप्रयत्न द्वारा पैदा होता है, जबकि ऐकार अतिविवृततर आस्यप्रयत्न द्वारा पैदा होता है । इस प्रकार ऐकार से एकार न्यून है । अतः यदि ऐकार का 'ए' करने पर अधिक/विशेष आरोप होने की बात दूर रहती है और इसके स्थान पर न्यूनता आती है । अतः 'ऐ' का 'ए' होनेवाला हो तो 'ऐ' की 'नामिन्' संज्ञा नहीं होती है । उसका ज्ञापन करने के लिए संज्ञा (नामिन्) को एकवचन में रखा है और ऐसा करने से वर्ण का लाघव होता है, वह गुण ही है किन्तु दोष नहीं है ।

श्रीलावण्यसूरिजी कित् और अवित् सम्बन्धित श्रीहेमहंसगणि द्वारा की गई गौरव-लाघव की चर्चा को मान्य नहीं करते हैं । वे कहते हैं परोक्षा के विषय में अवित् और कित् पर्यायवाची हैं, अतः उनके गौरव-लाघव की चर्चा नहीं करनी चाहिए और प्रक्रियागौरव की जो बात है उसका भी वे स्वीकार नहीं करते हैं । तथा श्रीहेमहंसगणि ने दिये हुए 'क्लीबे' २/४/९७ और 'नपुंसकस्य शिः'

१/४/५५ सूत्र से उन्होंने बताया है कि पर्यायवाची शब्दों में गौरव-लाघव की चर्चा आवश्यक नहीं है।

श्रीहेमहंसगणि तथा श्रीलावण्यसूरिजी ने 'वेत्तेरवित्' सूत्र की रचना करने को कहा है, किन्तु मेरी दृष्टि से वह उचित नहीं है । यद्यपि लघुन्यास में ऐसी चर्चा है, अत एव उन्होंने भी ऐसी चर्चा की है । विद् धातु से होनेवाले 'आम्' में कित्त्व नहीं है, उसकी प्राप्ति कराने के लिए 'वेत्तेः कित्' ३/४/५१ सूत्र की रचना आवश्यक है किन्तु 'वेत्तेरवित्' सूत्रकरण की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जैसे 'आम्' कित् नहीं है वैसे वह 'वित्' भी नहीं है, अतः वह 'अवित्' ही है ।

यहाँ शायद किसीको ऐसी शंका हो सकती है कि परोक्षा के 'णव् ' प्रत्यय के स्थान पर जब 'आम्' होगा तो उसमें वित्त्व आयेगा । अतः 'आम्' को अवित् करना आवश्यक है । किन्तु यह शंका उचित नहीं है क्योंकि 'धातोरनेकस्वरादाम्'.....३/४/४६ से परोक्षा के स्थान पर हुए 'आम्' में परोक्षावद्भाव आता नहीं है । यदि परोक्षा के अर्थ में हुए प्रत्यय में परोक्षावद्भाव प्राप्त होता तो, 'तत्र क्वसुकानौ तद्वत्' ५/२/२ में 'तद्वत्' शब्द न रखा होता । अतः जैसे 'क्वसु' और 'कान' प्रत्यय में परोक्षावद्भाव करने के लिए 'तद्वत्' शब्द रखा वैसे 'धातोरनेकस्वरादाम्.....३/४/४६ में भी तद्वत् शब्द रखकर परोक्षावद्भाव प्राप्त होता, तो 'आम्' अवित् होने से अपने आप ही उसमें 'इन्ध्यसंयोगात्'....४/३/२१ से कित्त्व आ जाता, तथापि 'आम्' में 'कित्त्व' की प्राप्ति कराने के लिए 'वेत्तेः कित्' ३/४/५१ सूत्र बनाया, उससे ज्ञात होता है कि 'आम्' में परोक्षावद्भाव नहीं है । यदि 'आम्' में परोक्षावद्भाव होता तो 'वेत्तेः कित्' ३/४/५१ या 'वेत्तेरवित्' दो में से एक भी सूत्र की आवश्यकता नहीं रह पाती । और 'आम्' के परोक्षावद्भावाभाव से 'दयाञ्चक्रे' इत्यादि में 'अनादेशादेरेक'...४/१/२४ से एत्व नहीं होगा ।

दूसरी एक विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि 'धातोरनेकस्वरादाम्'..... ३/४/४६ से संपूर्ण परोक्षा प्रत्यय के स्थान पर ही 'आम्' आदेश होता है किन्तु कोई एक ही प्रत्यय विशेष के स्थान पर 'आम्' आदेश नहीं होता है । अतः णव्, थव् इत्यादि के वित्त्व का 'आम्' में व्यपदेश नहीं हो सकता है । इसलिए भी 'वेत्तेरवित्' की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसी मेरी मान्यता है।

यह न्याय व्याडि के परिभाषासूचन, कातंत्र की दुर्गसिंहकृत और भावमिश्रकृतवृत्तियाँ, कातंत्र परिभाषापाठ, कालाप, जैनेन्द्रवृत्ति एवं भोजव्याकरण में प्राप्त नहीं है । पाणिनीय परम्परा के पश्चात्कालीन सभी परिभाषासंग्रह में यह न्याय प्राप्त है ।

॥ ६४॥ वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् ॥ ७॥

'वर्ण' के ग्रहण से, उसी वर्ण के सजातीय अनेक वर्णों का ग्रहण होता है ।

सूत्र में एक वर्ण का ग्रहण किया हो, तो, वहाँ उसके सजातीय अनेक वर्ण का भी ग्रहण होता है । 'अमुकवर्णस्य' इस प्रकार एकवचन से निर्देश किया होने से, एक ही वर्ण का ग्रहण हो सकता है, किन्तु दो, तीन इत्यादि का ग्रहण नहीं हो सकता है, उसका ग्रहण करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'रंरम्यते' इत्यादि प्रयोग में जैसे 'रम्' धातु के 'र' में स्थित अकार के बाद, धातु के अन्त में अनुनासिक आने से 'मुरतोऽनुनासिकस्य' ४/१/५१ से 'मु' का आगम होगा, वैसे 'हम्म्' धातु से 'यङ्' होने पर, 'जंहम्म्यते' प्रयोग में भी, 'मुरतोऽनुनासिकस्य' ४/१/५१ में अनुनासिक की जाति ग्रहण करने पर, 'हम्म्' धातु के अकार के बाद, दोनों मकार अन्त में आये होने पर भी 'मुरतोऽनुनासिकस्य' ४/१/५१ से ही 'मु' का आगम होगा ।

'जंहम्म्यते' इत्यादि प्रयोग की सिद्धि के लिए अन्य किसी विशेष प्रयत्न का विधान नहीं किया गया है, वह इस न्याय का ज्ञापक है ।

यह न्याय अनित्य है, अतः क्वचित्/कदाचित् वर्णग्रहण से जाति का ग्रहण नहीं होता है । उदा. 'सु' सहित का 'घिणुङ्' धातु उदित् होने से 'उदितः स्वरान्नोऽन्तः' ४/४/९८ से 'न' का आगम होगा और वही 'न' का 'तवर्गस्य श्चवर्ग'-१/३/६० से 'ण' होगा, अतः 'सुघिण्ण्' होगा । उससे 'मन्वन्क्वनिप्विच् क्वचित्' ५/१/१४७ से 'वन्' प्रत्यय होगा तब 'वन्याङ् पञ्चमस्य' ४/२/६५ से पञ्चमजाति में अन्त्य दोनों 'ण्ण्' का ग्रहण करने पर दोनों के स्थान में 'आङ्' आदेश होगा और 'आङ्' 'ङित्' होने से अन्त्य 'इ' का गुण नहीं होने से 'सुघि आ वन् = सुघ्यावन्' शब्द होगा, उसका प्रथमा विभक्ति एकवचन में 'सुघ्यावा' रूप होगा ।

और जब प्रस्तुत न्याय का उपयोग/प्रयोग नहीं होगा, तब 'पञ्चम' शब्द से अन्त्य एक ही 'ण्' का ग्रहण होगा और 'वन्याङ् पञ्चमस्य' ४/२/६५ से अन्त्य 'ण्' का 'आङ्' होने पर, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' न्याय से आगम स्वरूप 'ण्' का 'न्' होगा और परिणामतः 'सुघिन् आ वन् = सुघिनावन्' शब्द होगा, उसका प्रथमा विभक्ति एकवचन में 'सुघिनावा' रुप भी होगा ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक 'काष्ठतङ्क्षि कुलानि' इत्यादि प्रयोग में 'न्' का आगम करने के लिए 'धुटां प्राक्' १/४/६६ में, 'धुटां' में किया गया बहुवचन का प्रयोग है । यहाँ, दो या अधिक 'धुट्' के समुदायरूप 'धुट्' की जाति का ग्रहण करने के लिए, बहुवचन का प्रयोग किया है । यदि यह न्याय नित्य होता तो, इस प्रकार 'धुटां प्राक्' १/४/६६ के स्थान पर 'धुटः प्राक्' स्वरूप सूत्र रचना की संभावना थी । तथापि धुडन्त जाति स्वरूप-अनेक 'धुट्' का ग्रहण करने के लिए, 'धुट्' शब्द को बहुवचन में रखा, वह, इस न्याय की अनित्यता को सूचित करता है ।

यहाँ 'वर्णग्रहणे' कहा, वह केवल उपलक्षण ही है, अतः क्वचित् विशिष्ट वर्णसमुदाय के ग्रहण में भी जाति का ग्रहण होता है ।

उदा. 'चोरयन्तं प्रायुक्त अचूचुरत्' । यहाँ 'णि' जाति का आश्रय लिया गया है । 'चुरण्' धातु में, 'चुरादिभ्यः' ३/४/१७ से णिच् होगा । बाद में 'लघोरुपान्त्यस्य ४/३/४ से गुण होने पर 'चोरि' होगा, अतः 'चोरयन्तं प्रायुक्त' विग्रह करने पर 'चोरि' धातु से 'णिग्' होगा और 'अद्यतनी' का 'दि' प्रत्यय होने के बाद 'णिश्रि'.....३/४/५८ से 'ङ' होगा अर्थात् यहाँ 'अचोर् + णिच् + णिग् + ङ + दि' है । यहाँ दो 'णि' है । उसमें सें प्रथम 'णि' धातु से अव्यवहित पर में है किन्तु

वह 'ङ्परक' नहीं है अर्थात् उसके पर में ङ नहीं है । जबकि दूसरा 'णि' 'ङ परक' है अर्थात् उसके पर में 'ङ' है किन्तु वह धातु से अव्यवहित पर में नहीं है । अतः 'चो' का 'उपान्त्यस्यासमानलोपि'- ४/२/३५ से ह्रस्व नहीं होगा क्योंकि सूत्र में 'ङे परे णौ' का विधान किया है, और यदि 'णेरनिटि' ४/३/८३ से पूर्व के 'णि' का लोप करने पर 'ङ परक णि' प्राप्त तो होता है किन्तु धातु समानलोपि हो जाता है, अतः 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से उपान्त्यह्रस्व नहीं होगा । यदि 'उपान्त्यस्या-' ४/२/ ३५ सूत्र में 'णि' से 'णि' जाति का ग्रहण किया जाय तो दोनों 'णि' एक ही माना जायेगा । अतः दोनों 'णि', ङ्परक ही माने जायेंगे और यदि दोनों 'णि' का निमित्त स्वरूप में ग्रहण किया जाय तो, पूर्व के 'णि' का लोप होने पर भी धातु 'समानलोपि' नहीं होता है क्योंकि 'णि' को छोड़कर अन्य किसी 'समानस्वर' का लोप होने पर ही समानलोपित्व प्राप्त होता है । उदा. 'कलिमाख्यत् अचकलत्' । यहाँ 'कलि' शब्द के 'इ' का लोप, 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से होगा, अतः वह समानलोपि होगा ।

यहाँ 'अचूचुरत्' में ऊपर बताया उसी प्रकार से समानलोपित्व का अभाव होते ही 'उपान्त्यस्या-' ४/२/३५ से 'चु' रूप में ह्रस्व होने के बाद, 'द्विर्धातुः'.... ४/१/१ से द्वित्व होने के बाद पूर्व के लघुनामी स्वर का 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः ४/१/६४ से दीर्घ होगा और 'अचूचुरत्' प्रयोग सिद्ध होगा ।

इस न्याय के बारे में श्रीलावण्यसूरिजी इस प्रकार चर्चा करते हैं ।

'प्रत्युच्चारणं शब्दो भिद्यते' (प्रत्येक उच्चारण के समय शब्द भिन्न होता है) ऐसी उक्ति, व्याकरणशास्त्र में कहीं कहीं पायी जाती है । महाभाष्य में बहुत से स्थान पर ऐसा मालूम पड़ता है । अतः जब एक ही शब्द का बार-बार प्रयोग होता है, तब प्रत्येक को भिन्न मानना या सब को एक ही मानना, उसके समाधान/निराकरण के लिए यह न्याय है ।

एक ही 'अ' कार, प्रत्येक समय पर भिन्न होता है और ह्रस्व, दीर्घ, इत्यादि भेदयुक्त भी होता है । उसी प्रकार/वैसे अन्य वर्ण भी वह कालभेद, देशभेद या गुणभेद से भिन्न भिन्न होता है । अतः एक के ग्रहण से अन्य का ग्रहण नहीं हो सकता है । उन सब का ग्रहण करने के लिए यह न्याय है ।

'वर्णग्रहण' अर्थात् वर्णत्व की व्याप्यजाति से अवच्छिन्न जो होता है, उसका ग्रहण करने से उसी जाति से अवच्छिन्न प्रत्येक जाति का ग्रहण होता है । लोग में भी जाति पक्षका आश्रय करके व्यवहार होता है और वह प्रसिद्ध भी है । अतः इस न्याय के लिए ज्ञापक की अपेक्षा नहीं है । उदा. 'देवः पूज्यः' प्रयोग में देवत्व जाति की विवक्षा करने से प्रत्येक देव का पूज्यत्व सिद्ध होता है ।

तथापि श्रीहेमहंसगणि ने इस न्याय से सिद्ध होनेवाले प्रयोग की सिद्धि के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है, उसे, इस न्याय का ज्ञापक माना है, ऐसा कहा गया वह उचित नहीं है ।

श्रीलावण्यसूरिजी 'यत्नान्तराकरणम्' को कदापि ज्ञापक के रूप में स्वीकार करते नहीं हैं । वे कहते हैं कि 'आचार्यश्री ने, इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं किया है, ऐसा कहने से उस न्याय से सिद्ध होनेवाले प्रयोग में अनभिधानत्व है, ऐसा स्वीकार करने की आपत्ति आती है । और आचार्यश्री

द्वारा या उनके स्वयं कथित शब्द द्वारा, उनके द्वारा उक्त न हो ऐसे न्याय का भी स्वीकार किया जाता है किन्तु ऐसे गमक/ज्ञापक के अभाव में अपने आप ही ऐसे प्रयोग की कल्पना करके, उसकी सिद्धि के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया है, ऐसा अनुमान लगाना उचित नहीं है ।

यद्यपि इस न्याय का आचार्य श्रीहेमचंद्रसूरिजी ने स्वयं, स्वमुख से उपदेश नहीं किया है तथापि उसका अर्थ 'औदन्ताः स्वराः' १/१/४ सूत्र के बृहन्न्यास में स्पष्ट रूप से कहा है । वह इस प्रकार है । काल और शब्द, इन दो के व्यवधान से वर्ण में भेद पाया जाता है । उदा. असंहिता में 'अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः' १/२/४१ में काल रूप व्यवाय/व्यवधान है और 'दृतिः' में 'ऋ' और 'इ' के बीच 'त्' रूप व्यवधान है किन्तु जब एक ही वर्ण होता है तब व्यवधान नहीं होता है। उदा. 'अ' । अब अकेले 'अ' का उच्चार होता है तब उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक, निरनुनासिक इत्यादि गुण द्वारा उस में भिन्नता आती है । अतः काल के व्यवाय से, और उदात्त अनुदात्त इत्यादि गुण के भेद से 'अ' में विविध प्रकार होते हैं, अतः जिस गुणविशिष्ट 'अ' का वर्णसमाम्नाय में पाठ किया हो, वही गुणविशिष्ट को ही वही 'अ' संज्ञा होती है । अतः 'दण्डाग्रम्' इत्यादि में दीर्घ का अभाव होगा । इस शंका का प्रत्युत्तर देते हुए वे स्वयं कहते हैं कि जाति का आश्रय करने से कोई दोष पैदा नहीं होगा । उदा. उदात्त इत्यादि भेद/गुण से भिन्न अकार इत्यादि में जाति समान होने से उनमें भी 'अ' इत्यादि संज्ञा का व्यवहार होगा।

इस प्रकार न्याय के स्वरूप को न कहकर आचार्यश्री ने न्याय का अर्थ दे दिया उससे ज्ञापित है कि यह न्याय स्वतः सिद्ध है, अतः यहाँ ज्ञापक की आवश्यकता नहीं है ।

इस न्याय की अनित्यता और उसके ज्ञापक का श्रीलावण्यसूरिजी पूर्णतया स्वीकार नहीं करते हैं । वे कहते हैं कि यह न्याय नियम स्वरूप नहीं है, अतः सर्वत्र वर्ण के ग्रहण में जाति का ग्रहण करना ही चाहिए । इस नियम का आश्रय नहीं करने से, क्वचित् वर्णग्रहण में व्यक्ति पक्ष का आश्रय करके प्रयोगसिद्धि हो सकती हो तो कर लेना, किन्तु इस न्याय की अनित्यता का आश्रय न लेना चाहिए क्योंकि ऐसा करने में अनित्यता का कोई फल नहीं है ।

यद्यपि 'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा' ऐसा अर्थ भी परिभाषा/न्याय का किया गया है, तथापि शास्त्र का व्यवहार बहुधा लोकव्यवहार को अनुसरता है । अतः जहाँ तक लोक के अनुसार व्यवस्था हो सकती हो तो उसी प्रकार से व्यवस्था करना उचित है, ऐसी श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यता है ।

लोकव्यवहार इस प्रकार है । लोक में 'घटो द्रव्यम्' कहने से घटत्व से अविच्छिन्न प्रत्येक घट में द्रव्यत्व रहता है, ऐसा ज्ञान हो सकता है किन्तु 'घटमानय' कहा जाय तो घटत्व से अविच्छिन्न प्रत्येक घट नहीं लाया जा सकता है, किन्तु केवल एक ही घट लाया जाता है । वैसे जहाँ जातिपक्ष का आश्रय करने से लक्ष्यसिद्धि होती हो वहाँ जातिपक्ष का आश्रय करना और जहाँ व्यक्तिपक्ष का आश्रय करने से लक्ष्य सिद्धि होती हो वहाँ व्यक्तिपक्ष का आश्रय करना अर्थात् सफल अर्थसाधक मार्ग का यहाँ आश्रय करना । इस प्रकार इस न्याय का अनित्यत्व ज्ञापक द्वारा सिद्ध न करना चाहिए ।

सिद्धहेम की परंपरा में जातिपक्ष और व्यक्तिपक्ष दोनों सम्मत हैं । 'औदन्ताः स्वराः' १/१/४ सूत्र की बृहद्वृत्ति तथा उसके बृहन्न्यास में कहा है कि ऊपर बताया उसी प्रकार से जातिपक्ष का आश्रय करने से सब वर्ण का संग्रह हो जाता है, तो 'अ, आ, इ, ई,..' में दीर्घ का पाठ किया वह व्यर्थ होगा क्योंकि केवल 'अ इ उ ऋ लृ' कहने से ही उसके सजातीय दीर्घ का भी समावेश हो जाता है । उसका प्रत्युत्तर देते हुए वे स्वयं कहते हैं कि 'जातिव्यक्तिभ्यां च शास्त्रं प्रवर्तते' अर्थात् शास्त्र में जातिपक्ष और व्यक्तिपक्ष का भी आश्रय किया गया है । उसका ज्ञापन करने के लिए दीर्घ का भी पाठ किया है ।

इस न्याय की अनित्यता के ज्ञापक के स्वरूप में 'धुटां प्राक्' १/४/६६ सूत्र स्थित बहुवचन को माना है । उसके बारे में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यह बहुवचन ऐसा सूचित करता है कि यहाँ कोई धुट् में व्यक्तिपक्ष का आश्रय करके केवल एक ही धुट् का ग्रहण न करें किन्तु संपूर्ण धुट् जाति का यहाँ आश्रय करना ।

संक्षेप में, इस शास्त्र में जातिपक्ष और व्यक्तिपक्ष दोनों की व्यवस्था होने से उसी प्रकार से शास्त्र की प्रक्रिया का निर्वाह होता है तथापि वर्ण के विषय में जातिपक्ष का आश्रय बतानेवाले, इस न्याय का स्वनिर्दिष्ट युक्ति द्वारा या लौकिक दृष्टान्त से सिद्ध करने के बाद उसके ही विषय में पुनः व्यक्तिपक्ष का आश्रय करना उचित नहीं है और उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है ।

अतः व्यक्तिपक्ष के आश्रय के बोधक [धुटां प्राक् १/४/६६ सूत्रगत] बहुवचन, जातिपक्ष के आश्रय का अनित्यत्व भी सूचित करता है, अतः वह इस न्याय की अनित्यता का ही बोधक है ।

श्रीलावण्यसूरिजी इसके बारे में कहते हैं कि आपकी बात सही है, उसका हम स्वीकार करते हैं तथापि इतना विशेष कहते हैं कि अन्य सामान्य न्याय की तरह यह भी केवल ज्ञापक सिद्ध होने से इसकी सर्वत्र प्रवृत्ति नहीं होती है । और यह न्याय लोकसिद्ध अर्थ को बतानेवाला होने से, उसमें विशिष्ट नियमन करने की शक्ति नहीं है, इतना ही हमारा कहना है ।

'णि' को विशिष्ट वर्णसमुदाय मानना या केवल वर्ण मानना, इसकी चर्चा जैसे श्रीलावण्यसूरिजी ने की है वैसे श्रीहेमहंसगणि ने भी न्यास में उसकी चर्चा की है । श्रीलावण्यसूरिजी ने 'केचित्तु' कहकर 'णि' को विशिष्टवर्णसमुदाय नहीं किन्तु वर्ण ही कहना चाहिए, ऐसी मान्यतावाले का मत दिखलाकर उसका खंडन किया है । किन्तु वही मत किसका है वह स्पष्ट नहीं होता है क्योंकि श्रीहेमहंसगणि ने तो 'णि' विशिष्टवर्णसमुदाय ही है, ऐसा स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया है ।

श्रीहेमहंसगणि ने न्यास में 'णि' में वर्णसमुदायत्व है या नहीं ? इसकी चर्चा करते हुए बताया है कि 'णि' में 'ण्' लोप होने पर केवल 'इ' ही रहता है, अतः उसका 'वर्णग्रहणे जातिग्रहणं' में ही समावेश हो जाता है, अतः इसके लिए 'उपलक्षणत्वात् विशिष्टवर्णसमुदायेऽपि जातिग्रहणम्' ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं है ।

इस शंका का प्रत्युत्तर देते हुए वे कहते हैं कि शास्त्र में उच्चारित जो रूप हो उसका ही

ग्रहण करना चाहिए और उसमें ही औचित्य है । उदा. इट् आश्रित विधि को वर्णविधि कही नहीं है क्योंकि वह विशिष्टवर्णसमुदाय है । अतः यहाँ 'णि' के ग्रहण को भी वर्णग्रहण के बजाय विशिष्टवर्णसमुदाय का ग्रहण है ऐसा कहना ।

अन्यथा 'अग्रहीत्' प्रयोग में 'अग्रह् इ स ईत्' में 'इट ईति' ४/३/७१ से 'सिच्' का लोप होगा । इस प्रयोग की साधनिका इस प्रकार है । ग्रह धातु से 'अद्यतनी' ३/३/११ प्रथम पुरुष एकवचन का (अन्यदर्थे) 'दि' प्रत्यय होगा, बाद में 'दि' के पूर्व में 'सिजद्यतन्याम्' ३/४/५३ से सिच् होगा, और 'सः सिजस्तेर्दिस्योः' ४/३/६५ से 'सिच्' के पर में आये हुए 'दि' के आदि में 'ईत्' होगा और 'स्ताद्यशितोऽत्रोणादेरिट्' ४/४/३२ से 'सिच्' के आदि में 'इट्' होगा । बाद में 'गृह्णोऽपरोक्षायां दीर्घः' ४/४/३८ से 'इट्' दीर्घ होगा । यहाँ 'इट् ईति' ४/३/७१ से 'सिच्' का लोप करना हो तो, दीर्घ किये गये 'इट्' का स्थानिवद्भाव करना पडेगा, किन्तु यदि 'इट्' आश्रित सिच्लोप को वर्णविधि मानेंगे तो 'इट्' का स्थानिवद्भाव नहीं होगा किन्तु यहाँ 'इट्' को वर्ण न मानकर, विशिष्टवर्णसमुदाय ही माना है । अतः इट् आश्रित सिच्लोप वर्णविधि नहीं कही जायेगी और इट् का स्थानिवद्भाव होकर, निःसंकोच 'इट ईति' ४/३/७१ से सिच्लोप होगा ।

इस प्रकार 'णि' भी केवल इकार स्वरूप नहीं किन्तु ण् और इ का विशिष्ट वर्णसमुदाय ही है ।

सामान्यतया वैयाकरणों में वाजप्यायन इत्यादि जातिपक्ष में माननेवाले हैं । उनका कहना है कि शब्द से जाति का ही बोध होता है किन्तु व्यक्ति का बोध नहीं होता है क्योंकि व्यक्तियाँ अनन्त होती हैं, किन्तु उन सब में रहनेवाली जाति एक ही होती है । जबकि शब्द में व्यक्ति मानने से, अनन्त व्यक्ति के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है और किसी भी प्रमाण से केवल इतनी ही व्यक्ति का ग्रहण करना ऐसा निर्णय/निश्चय नहीं हो सकता है । अतः इस शब्द से यह व्यक्ति वाच्य है, ऐसा वाच्य-वाचक सम्बन्ध ग्रहण हो नहीं सकता है ।

और जाति द्रव्यवाचक शब्द में और द्रव्य में तो होती ही है, किन्तु साथ साथ गुण, संज्ञा, और क्रियावाचक शब्द में भी जाति होती है और व्यक्ति, जातिरहित नहीं हो सकती है, अतः जाति के ग्रहण से व्यक्ति का ग्रहण हो ही जाता है ।

जबकि व्यक्तिवादी, व्याडि, पाणिनि इत्यादि कहते हैं कि शब्द से व्यक्ति ही वाच्य है क्योंकि वह अनुभव सिद्ध है और अनुपपत्ति के प्रतिसंधान के बिना भी उसकी प्रतीति हो सकती है तथा क्रिया आदि का व्यक्ति के साथ ही संबंध संभव है किन्तु जाति के साथ उसका सीधा सम्बन्ध संभव नहीं है ।

व्याकरणशास्त्र में कौनसे पक्ष का स्वीकार किया है ? जातिपक्ष या व्यक्तिपक्ष ? सिद्धहेम और अन्य व्याकरण परम्परा में जातिपक्ष और व्यक्तिपक्ष दोनों का स्वीकार किया गया है । जातिपक्ष का स्वीकार इस प्रकार है ।-'जात्याख्यायां नवैकोऽसङ्ख्यो बहुवत्' २/२/१२१ सूत्र में कहा है कि जाति बतानेवाले शब्द का विकल्प से बहुवचन होता है, यदि वह संख्या या विशेषण रहित अर्थात्

अकेला हो तो । 'संपन्नो यवः, संपन्ना यवाः ।' यहाँ जाति अर्थ में एकवचन का ही प्रयोग की संभावना होने से, उससे बहुवचन करने के लिए इसी सूत्र की रचना की गई है, अतः 'संपन्ना यवाः' प्रयोग भी होगा ।

यदि व्याकरण में व्यक्ति पक्ष ही मान्य होता तो, 'यव' में व्यक्ति बाहुल्य होने से स्वाभाविकतया ही बहुवचन होनेवाला ही था, तथापि यह सूत्र बनाया, इससे ज्ञापित होता है कि व्याकरण में जाति पक्ष मान्य है ।

यदि जातिपक्ष अकेला ही यहाँ मान्य होता तो 'स्यादावसङ्ख्येयः' ३/१/११९ से एकशेष समास करने की आवश्यकता नहीं थी, तथापि व्यक्तिपक्ष भी मान्य होने से प्रत्येक के लिए भिन्न भिन्न शब्दप्रयोग होगा । अतः 'एकशेष' का विधान करना आवश्यक है ।

जातिपक्ष का स्वीकार करने पर भी भिन्न भिन्न अर्थवाले, सरूप शब्दों में 'एकशेष' नहीं होगा । अतः एकशेष का विधान करना आवश्यक है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा मानने से 'अक्षा भुज्यन्ताम्, भज्यन्ताम्, दीव्यन्ताम्,' प्रयोग में 'अक्ष' शब्द बिभीतक ( ) अर्थ में शकटाङ्ग ( ) अर्थ में तथा देवनाङ्ग ( ) अर्थ में है । अतः उनका 'एकशेष' कदापि नहीं हो सकेगा । अत एव ऐसे प्रयोग में एक ही अक्षत्व जाति का स्वीकार करके उसी शब्द के वाच्य में परम्परा से व्यक्ति का ज्ञान होता है, ऐसा स्वीकार करने से कोई दोष पैदा नहीं होता है ।

'जाति में जाति रहती नहीं है,' ऐसी मान्यता नैयायिकों की है क्योंकि ऐसा करने से अनवस्था दोष पैदा होता है । अतः उन्होंने ऐसी मान्यता का स्वीकार किया है किन्तु वैयाकरण जाति में भी जाति मानतें हैं क्योंकि उन लोगों का ऐसा नहीं है कि प्रत्येक जाति में जाति होनी ही चाहिए । वे कहते हैं कि जहाँ अवच्छेदकता से जाति में जाति की सिद्धि हो सकती हो, वहाँ ही इसे मानना, अन्यत्र नहीं ।

संक्षेप में समग्र/संपूर्ण व्याकरण में जातिपक्ष और व्यक्तिपक्ष दोनों मान्य हैं किन्तु यह न्याय केवल वर्णग्रहण के विषय में है, अतः इसके बारे में विचार करने पर लगता है कि उसमें भी दोनों पक्ष मान्य हैं । सिद्धहेम में 'औदन्ताः स्वराः' १/१/४ सूत्र में ऊपर बताया गया है उसी प्रकार से दोनों पक्ष मान्य किये गये हैं, वैसे पाणिनि व्याकरण में भी 'अइउण्' सूत्र-१ के महाभाष्य में पतंजलि ने व्यक्तिवादियों के मतानुसार अकार इत्यादि में सब भेद/प्रकार बताकर, अन्त में जातिपक्ष द्वारा समाधान किया है ।

यह न्याय केवल भावमिश्रकृत कातंत्र परिभाषावृत्ति में ही है, अन्यत्र कहीं भी इसे परिभाषा के रूप में बताया गया नहीं है ।

॥ ६५॥ वर्णैकदेशोऽपि वर्णग्रहणेन गृह्यते ॥ ८॥

वर्ण के ग्रहण से वर्ण के एक अंश का भी ग्रहण होता है ।

वृद्ध प्रवाद ऐसा है कि 'ऋ' के मध्य में अर्द्धमात्रावाला रेफ है और आगे तथा पीछे एक

चतुर्थांश मात्रावाले स्वर हैं । वैसे ही 'लृकार' में मध्य में अदुर्धमात्रावाला 'ल्' है और आगे तथा पीछे एक चतुर्थांश मात्रावाले स्वर हैं । अतः जैसे गाय बेचने से मांस नहीं बेचने का नियम भंग नहीं होता है, क्योंकि गाय में मांस बुद्धि का अभाव है, वैसे 'ऋ', 'लृ' के ग्रहण में 'र्, ल्' का ग्रहण प्राप्त नहीं था क्योंकि 'ऋ' और 'लृ' में, 'रत्व' और 'लत्व' बुद्धि का अभाव है । अतः 'ऋ' और 'लृ' द्वारा, 'र्' और 'ल्' का भी ग्रहण होता है उसका ज्ञापन करनेवाला यह न्याय है ।

उदा. 'प्रलीयमानम्' प्रयोग में जैसे 'प्र' और 'न' के बीच व्यवधान होने से 'स्वरात्' २/३/८५ से 'न' का 'ण' नहीं हुआ है, वैसे 'प्रक्लृप्यमानम्' में भी 'स्वरात्' २/३/८५ से प्राप्त 'न' के 'ण' का 'लृ' के व्यवधान से, उसके एक भाग रूप 'ल्' का व्यवधान स्वीकार करके निषेध हुआ है अर्थात् 'न' का 'ण' हुआ नहीं है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'प्रक्लृप्यमानम्' इत्यादि प्रयोग में 'रषृवर्णान्नो णः'....२/३/६३ से 'रषृवर्णात्' की अनुवृत्ति जिसमें आती है ऐसे 'स्वरात्' २/३/८५ से प्राप्त णत्व का निषेध करने के लिए अन्य कोई विशिष्ट प्रयत्न नहीं किया है, वही 'यत्नान्तराकरण' है ।

यह न्याय अनित्य होने से 'कृतः, कृतवान्' इत्यादि में 'रदादमूर्च्छमदः क्तयोर्दस्य च' ४/२/६९ से 'क्त' और 'क्तवतु' के 'त' का 'न' नहीं हुआ है । यदि यह न्याय नित्य होता तो 'कृ' के 'ऋ' में आये रेफ के कारण 'रदादमूर्च्छमदः'-४/२/६९ से 'क्त' और 'क्तवतु' के 'त' का 'न' हो ही जाता ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन 'रषृवर्णात्'....२/३/६३ सूत्र में रेफ और ऋवर्ण दोनों का ग्रहण किया है, उससे होता है । यदि यह न्याय नित्य होता तो ऋवर्ण में भी रेफ होने से रेफ का ही ग्रहण किया होता तो चल सकता किन्तु इस न्याय की अनित्यता बताने के लिए वैसा नहीं किया गया है । और पाणिनि ने भी इस न्याय के कारण 'ण' विधायक सूत्र में, रेफ और ऋवर्ण दोनों के ग्रहण करने के बजाय केवल रेफ का ही ग्रहण किया है और 'रषाभ्यां नो णः' कहा है, क्योंकि ऋवर्ण में रेफ आया हुआ है । अतः उससे पर आये 'न' का 'ण' हो ही जायेगा ।

इस न्याय की विशेष चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यहाँ इस न्याय में दो पक्ष हैं । एक कहता है कि वर्णग्रहण से उसके एकदेश का भी ग्रहण होता है । दूसरा पक्ष कहता है कि वर्णग्रहण से उसके एकदेश का ग्रहण नहीं होता है ।

यहाँ 'कृतः, कृतवान्' में 'रदादमूर्च्छमदः'.....४/२/६९ से 'त' का 'न' होने की आशंका तब ही पैदा होती है, जब प्रस्तुत न्याय के अस्तित्व का ज्ञान हो, और तो उसी शंका के निवारण के लिए समाधान खोजना आवश्यक होता । यहाँ 'अग्रहणपक्ष' लेने पर यह न्याय अनित्य है, ऐसा सिद्ध होता है, अतः 'कृतः' में स्थित् 'ऋ' से रेफ का ग्रहण नहीं होगा, तभी 'त' का 'न' भी नहीं होगा । यदि कोई इस न्याय को नित्य ही मानता है, अर्थात् अकेले ग्रहणपक्ष का ही स्वीकार करता है तो, उनके मत से भी यहाँ 'नत्व' का अभाव होगा, इसको बताने के लिए यहाँ दूसरा समाधान रखा है । उसमें कहा है कि 'रेफात्परेण स्वरभागेन व्यवधानाद्' अर्थात् 'ऋ' के ग्रहण से रेफ का

ग्रहण होने पर भी रेफ के बाद तुरत में/अनन्तर 'त' नहीं है किन्तु बीच में एकचतुर्थांश मात्रायुक्त स्वर है, अतः 'त' का 'न' नहीं होगा ।

यहाँ इस न्याय की अनित्यता के ज्ञापक के रूप में 'रषृवर्णान्नो ण एकपदेऽनन्त्यस्याल-चटतवर्गशसान्तरे' २/३/६३ में 'र' और 'ऋ' दोनों का ग्रहण किया है वही है, अर्थात् यहाँ इस न्याय के अग्रहणपक्ष का ही स्वीकार है ।

यद्यपि पाणिनि ने स्वयं 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' [पा. सू. ८/४/१] सूत्र की रचना करके सिद्ध किया है कि उनको इस न्याय का ग्रहणपक्ष ही सम्मत है, अत एव जहाँ इस न्याय से या अन्य प्रकार से 'न' के 'णत्व' की प्राप्ति होने पर भी 'णत्व' इष्ट न हो ऐसे शब्दों का एक स्वतंत्र 'क्षुभ्नादि' गण बताया है । तथापि महाभाष्यकार को अग्रहण पक्ष ही सम्मत है, ऐसा भाष्य देखने से लगता है ।

ग्रहणपक्ष ऐसा कहता है-कि यहाँ ऐसी शंका न करनी चाहिए कि यदि सन्ध्यक्षर या 'आ' कार इत्यादि के अवयव का पृथग्ग्रहण किया जायेगा तो 'अग्ने, इन्द्र, वायो उदकम्' इत्यादि में समानदीर्घ होने की तथा 'आलूय, प्रलूय' इत्यादि में ह्रस्वनिमित्तक 'त' का 'ह्रस्वस्य तः पित्कृति'....४/४/११३ आगम होने की तथा 'वाचा तरति' इत्यादि में 'आ' में द्विस्वर मानकर तन्निमित्तक 'इकण्' होने की आपत्ति आयेगी । अतः उसका प्रतिषेध/निषेध करना होगा क्योंकि 'तैलं न विक्रेतव्यम्, घृतं न विक्रेतव्यम्' कहने से सरसव और गाय से पृथग् हुए तैल और घी के विक्रय का निषेध होता है किन्तु तैल सहित के सरसव और गाय इत्यादि के विक्रय का निषेध नहीं होता है, वैसे यहाँ भी समुदाय के अवयव का पार्थक्य ग्रहण करने पर भी, संपूर्ण समुदाय से, उसके अवयव सम्बन्धित विधि नहीं होगी । अतः किसी भी प्रकार का दोष पैदा नहीं होगा । इस प्रकार ग्रहणपक्ष निर्दोष है और शायद यदि सन्ध्यक्षर ऐकार में, अकार और एकार तथा औकार में अकार और ओकार स्पष्टतया प्रतीत होने से उससे सम्बन्धित कार्य होगा, ऐसी किसीको शंका हो तो, वह भी उचित नहीं है क्योंकि ऐ और औ में प्रतीयमान अवयव का स्वतंत्र सन्ध्यक्षर से भिन्न प्रयत्न होने से दोनों स्वतंत्र हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः उसमें समान स्वर आश्रित विधि नहीं होगी । 'आ'-कार इत्यादि में उसके अवयव स्पष्ट प्रतीत नहीं होते हैं, अतः उसके अवयव का स्वतंत्र/भिन्न ग्रहण नहीं होगा और सन्ध्यक्षर में ऊपर बताया उसी प्रकार के प्रयत्नभेद होने से उसमें भी अवयव का, समुदाय (एकवर्ण) से स्वतंत्र ग्रहण नहीं होगा । जबकि ऋकार में रेफ स्वतंत्र प्रतीत होता है, अतः उसका स्वतंत्र ग्रहण होगा ।

यह ग्रहणपक्ष की मान्यतावाले का तर्क है ।

इसके खिलाफ अग्रहणपक्षवाले कहते हैं कि वस्तुतः सन्ध्यक्षर, नृसिंह की तरह भिन्न ही है । जैसे नृसिंह में नृत्व का या सिंहत्व का व्यवहार नहीं होता है किन्तु नृ जाति और सिंह जाति से एक स्वतंत्र प्रकार की जाति का ही व्यवहार होता है, वैसे ही सन्ध्यक्षर में अकार इत्यादि अवयव प्रत्यभिज्ञा से स्वतंत्र प्रतीत होते हैं तथापि वस्तुतः वे पृथक् नहीं हैं ।

यह पक्ष कहता है कि सन्ध्यक्षर, अक्षरों का समुदाय है, ऐसी जो प्रसिद्धि है, व केवल

भ्रान्तिमूलक ही है, और इस भ्रान्ति के कारण ग्रहणपक्ष समुपस्थापित हुआ है ।

इस अग्रहणपक्ष में 'ऋ' में स्थित रेफ का स्वतंत्र ग्रहण नहीं होता है, अतः 'आनृधुः' इत्यादि में 'न' का आगम करने के लिए, णत्व के लिए णत्वविधि में तथा 'कृप्' धातु के रेफ का 'लृ' आदेश करने के लिए तत्सम्बन्धित सूत्र में 'ऋ' का पृथक् ग्रहण करना चाहिए और ऐसा न करने से कैसे दोष पैदा होते हैं, उसे दिखाकर, वहाँ वहाँ ज्ञापक इत्यादि से कार्यसिद्ध करके, महाभाष्यकार ने अग्रहणपक्ष को ही समर्थित किया है ।

उपर्युक्त सभी चर्चा पाणिनीय तंत्र के महाभाष्य की है, किन्तु सिद्धहेम की परम्परा में अग्रहणपक्ष है या ग्रहणपक्ष है, उसकी चर्चा श्रीलावण्यसूरिजी ने की है । उनकी मान्यतानुसार सिद्धहेम में भी अग्रहणपक्ष ही है । उनका तर्क इस प्रकार है :-

१. 'आनृधुः' इत्यादि प्रयोग में न का आगम करने के लिए 'अनातोनश्चान्त ऋदाद्यशौ संयोगस्य' ४/१/६९ में ऋदादि का ग्रहण किया है ।

२. 'रषृवर्णान्नो ण एकपदे'....२/३/६३ में रेफ और ऋ दोनों का ग्रहण किया है ।

३. 'कृप्' धातु के 'ऋ' और 'र्' का अनुक्रम से 'लृ' और 'ल्' करने के लिए 'ऋर लृलं कृपोऽकृपीटादिषु' २/३/९९ सूत्र में केवल 'र्' का ग्रहण किया होता तो चल सकता तथापि 'ऋ' का भी ग्रहण किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्रकार आचार्यश्री को अग्रहणपक्ष ही मान्य है ।

वे दूसरी बात यह कहते हैं कि 'रदादमूर्च्छमदः'....४/२/६९ सूत्र की वृत्ति में 'रेफात् परेण स्वरभागेन व्यवधानाद् वा' कहकर दूसरा समाधान रखा है, वह भी ग्रहणपक्षवाले की दृष्टि से यह प्रयोग कैसे सही है, उसका ज्ञापन करने के लिए ही है । किन्तु उससे ग्रहणपक्ष आचार्यश्री को सम्मत है, ऐसा सिद्ध नहीं होता है ।

तीसरी बात यह कहते हैं कि 'प्रलीयमान' की तरह 'प्रक्लृप्यमान' इत्यादि में 'णत्व' का निषेध करने के लिए ही यह न्याय है, किन्तु इस न्याय के बिना भी णत्व का निषेध हो सकता है क्यों कि क्लृप् में साक्षात्/स्पष्टतया लश्रुति विद्यमान है । इसे छोड़कर अन्य किसी भी कारणवश इस न्याय के अस्तित्व की संभावना प्रतीत नहीं होती है ।

श्रीहेमहंसगणि इस न्याय के न्यास में दूसरी बात यह कहते हैं कि 'ऋ' में स्थित रेफ का रेफ के स्वरूप में ही ग्रहण करने पर भी 'कृतः, कृतवान्' में 'त' का 'न' नहीं होगा, क्योंकि रेफ और 'त' के बीच स्वर का व्यवधान है तथापि श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने यही व्यवधान केवल एकचतुर्थांश मात्रायुक्त होने से, अत्यन्त अल्प होने के कारण उसकी विवक्षा नहीं की है और यह बात उन्होंने 'रदादमूर्च्छमदः'....४/२/६९ सूत्र की बृहद्वृत्ति में कहे 'ऋकारैकदेशभूतस्य रेफस्याग्रहणात्' विधान से स्पष्ट होती है ।

संक्षेप में आचार्यश्री को अग्रहणपक्ष ही मान्य हो ऐसा प्रतीत होता है ।

यह न्याय व्याडि के परिभाषासूचन, शाकटायन परिभाषापाठ व जैनेन्द्रपरिभाषावृत्ति को छोड़कर कहीं भी प्राप्त नहीं है ।

॥ ६६॥ तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ॥९॥

प्रकृति इत्यादि के मध्य में स्थित का भी प्रकृति के ग्रहण से, ग्रहण होता है।

एक या अनेक 'श्ना' इत्यादि प्रत्यय धातु इत्यादि के बीच में हो तो, उस धातु इत्यादि से जो कार्य करना हो, वही कार्य उसी धातु से भी होता है ।

धातु के दो अवयवों के बीच प्रत्यय आदि आने से धातु खंडित हो गया, ऐसा माना जाता है और दो कपाल/भाग में खंडित घट से पानी नहीं लाया जा सकता है, वैसे खंडित हुए धातु से धातुकार्य नहीं हो सकता, ऐसी मान्यता को दूर करने के लिए यह न्याय है ।

एक प्रत्यय बीच में आया हो ऐसा उदाहरण इस प्रकार है । उदा. 'अरुणत्' यहाँ 'श्न' प्रत्यय धातु के दो अवयव 'रु' और 'ध्' के बीच आया है तथापि धातु के पूर्व 'अड्धातोरादिर्ह्यस्तन्यां चामाङा' ४/४/२९ से अट् होगा ।

अनेक प्रत्यय बीच में आया हो ऐसा उदाहरण इस प्रकार है । उदा. 'अतृणेट्' यहाँ 'तृह्' धातु के दो अवयव 'तृ' और 'ह्' के बीच 'श्न' प्रत्यय और 'ईत्' आये हैं, तथापि धातु के पूर्व 'अड्धातोरादि ....४/४/२९ से 'अट्' आगम होगा ।

किसीको यहाँ शंका होती है कि 'श्न' प्रत्यय तथा 'श्न' प्रत्यय और 'ईत्' करने से पूर्व ही धातु के पूर्व/आदि में 'अट्' आगम करेंगे तो इस न्याय का यहाँ अवकाश ही कहाँ रहता है ? उसका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि आपने जो शंका की है वह व्यर्थ है क्योंकि 'कृतेऽन्यस्मिन् धातुप्रत्ययकार्ये पश्चाद्वृद्धिस्तद्बाध्योऽट्च' न्याय से अट् का आगमन धातु सम्बन्धित सर्व कार्य करने के बाद ही होगा । अतः 'अड्' का आगमन प्रथम नहीं हो सकता है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'त्वमहं सिना प्राक् चाकः' २/१/१२ सूत्रगत 'प्राक् चाकः' शब्द है। 'अक्' प्रत्ययान्त 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के प्रथमा विभक्ति के 'सि' प्रत्यय पर में होने पर 'त्वकम्' और 'अहकम्' रूप ही इष्ट है । यदि 'त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात् पूर्वोऽक्' ७/३/२९ से 'अक्' प्रथम करने पर इस न्याय से 'अक्' सहित 'युष्मद्' और 'अस्मद्' का 'त्वम्' और 'अहम्' आदेश होगा तो 'अक्' का विधान व्यर्थ होगा और शब्द में 'अक्' होने पर भी नहीं सुना जायेगा, अतः 'अक्' प्रत्यय करने से पूर्व ही 'त्वम्' और 'अहम्' आदेश हो तभी ही 'त्वकम्' और 'अहकम्' होंगे । अत एव सूत्र में 'प्राक् चाकः' शब्द रखा है ।

यदि यह न्याय न होता तो 'अक्' प्रत्यय 'त्वम्' और 'अहम्' आदेश करने से पूर्व किया होता, तो भी 'त्वमहं सिना-' २/१/१२ सूत्र से केवल 'युष्मद्' और 'अस्मद्' का त्वं, अहं आदेश होता और 'अक्' प्रत्यय रहता ही किन्तु यह न्याय होने से ही 'प्राक् चाकः' रखना आवश्यक है । अतः वह इस न्याय का ज्ञापक है ।

यह न्याय नित्य है ।

श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यतानुसार यह न्याय लोकसिद्ध और ज्ञापकसिद्ध है, अत एव इसकी अनित्यता नहीं है ।

पाणिनीय तंत्र में इस न्याय को लोकसिद्ध बताया गया है । उन्होंने बताया है कि गंगा के ग्रहण से गंगा मे प्रविष्ट अन्य नदियों का भी ग्रहण हो ही जाता है । तथा देवदत्ता अर्थात् किसी स्त्री के ग्रहण से उसके उदर में स्थित गर्भ का भी ग्रहण हो जाता है । इस प्रकार लौकिक दृष्टान्त से सिद्ध यह न्याय, ऊपर बताया उसी प्रकार ज्ञापक द्वारा भी सिद्ध हो सकता है ।

व्याडि के 'परिभाषासूचन' में यह न्याय (नं. १८) है । इसके अलावा 'तद्भक्तस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' ॥१७॥ न्याय भी देखने को मिलता है और 'तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' ॥ ६२॥ न्याय भी है । ये तीनों न्याय प्राय: समान हैं किन्तु शाकटायन परिभाषा में 'तद्भक्तस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' के स्थान पर 'तदागमस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' ॥ न्याय है, अत: ऐसा निश्चय हो सकता है कि 'तद्भक्तस्तद्'-न्याय आगम सम्बन्धित है किन्तु प्रत्यय सम्बन्धित नहीं है, जबकि यह न्याय प्रत्यय सम्बन्धित है। इस प्रकार दोनों न्याय के क्षेत्र भिन्न-भिन्न है ।

व्याडि के परिभाषासूचन में यह न्याय दो बार बताया गया है, जबकि कातंत्र व कालाप परम्परा में यह न्याय नहीं बताया है ।

॥ ६७॥ आगमा यद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ॥ १०॥

प्रकृति के ग्रहण से उसके अवयव बने हुए आगम का भी ग्रहण होता है ।

जो 'आदि' शब्द से या 'अन्त' शब्द से निर्दिष्ट हो, उसे आगम कहा जाता है । उदा. 'अड् धातोरादिर्ह्यस्तन्यां चामाङा' ४/४/२९ और 'अनाम्स्वरे नोऽन्त:' १/४/६४ इत्यादि

यहाँ बहुवचन 'अतान्त्रिक' होने से एक या अनेक आगम का ग्रहण करना । जिस धातु या नाम में आगम, उसी धातु या नाम के अवयव स्वरूप हो गया हो, तो उसी धातु या नाम के ग्रहण से, उसके अवयव स्वरूप बने आगम का भी ग्रहण हो जाता है अर्थात् केवल धातु या नाम से जो कार्य होता है, वही कार्य आगमसहित धातु या नाम से भी होता है ।

यहाँ 'यद्गुणीभूता:' शब्द में, लक्षणा द्वारा 'गुण' शब्द का अर्थ 'अवयव' ग्रहण करना । 'आदि' शब्द और 'अन्त' शब्द द्वारा किये गये निर्देश का फल बतानेवाला यह न्याय है ।

उसमें एक आगम हो ऐसा उदाहरण 'प्रण्यपतत्' है । यहाँ 'प्र' और 'नि' उपसर्ग सहित 'पत्' धातु है । इस प्रयोग में 'प्रनि' और 'पत्' धातु के बीच 'अट्' आगम होने पर भी 'नेर्ङ्मादा-' २/३/७९ से 'नि' का 'णि' होगा ही, क्योंकि इस न्याय से 'पत्' कहने से 'अपत्' का भी उसमें ग्रहण हो जायेगा क्योंकि अट् आगम पत् धातु का अवयव हो जाता है ।

दो आगम हों ऐसा उदाहरण 'प्रण्यपनीपत्' है । यहाँ 'पत्' धातु के ग्रहण से 'नी' और 'अड्'

दोनों आगम का भी ग्रहण होता है क्योंकि वे दोनों पत् धातु के अवयव हो गये हैं । यहाँ 'अट्' आगम 'आदि' शब्द से और 'नी' आगम अन्त शब्द से निर्दिष्ट है ।

यहाँ शंका की जाती है कि 'नी' आगम और 'अट्' आगम का ग्रहण इस न्याय से हो जाता है किन्तु द्वित्वभूत जो 'प' है उसका ग्रहण इस न्याय से संभवित नहीं है, क्यों कि वह आगम नहीं है, अतः प्र के बाद आये हुए नि उपसर्ग का णित्व करने में वह धातु और नि के बीच व्यवधायक होगा ही, तो वही व्यवधान किस प्रकार दूर होगा ?

यही द्वित्वजन्य पकार इत्यादि का 'अव्यवधायित्व' अगले 'स्वाङ्गमव्यवधायि' न्याय में कहा जायेगा । इस प्रकार अगले उदाहरण में भी शंका और समाधान जान लेना ।

(इस प्रयोग की साधनिका इस प्रकार है । पत् धातु से 'व्यञ्जनादेरेकस्वराद् भृशाभीक्ष्ण्ये यङ् वा' ३/४/९ से यङ् होगा, उसका 'बहुलं लुप्' ३/४/१४ से लोप होगा । 'सन्यङश्च' ४/१/३ से आद्य 'प' का द्वित्व होगा । उसमें 'वञ्च -स्रंस-ध्वंस -भ्रंश-कस-पत-पद-स्कन्दोऽन्तो नीः' ४/१/५० से द्वित्वभूत 'प' के अन्त में 'नी' आगम होगा, बाद में अद्यतनी का 'दि' प्रत्यय होगा, उसका 'व्यञ्जनाद्देः सश्च दः' ४/३/७८ से लोप होगा, और 'अड्धातोरादि-' ४/४/२९ से अट् आगम होगा, अन्त में 'अपनीपत्' के पूर्व में आये और 'प्र' बाद आये हुए 'नि' का 'नेङ्मादा-' २/३/७९ से 'णि' होगा ।)

तीन आगम हो ऐसा उदाहरण- 'प्रनि' पूर्वक के 'यम्' धातु के यङ्लुबन्त अद्यतनी में प्रथम पुरुष एकवचन का 'दि' प्रत्यय होने पर - प्रण्ययंयंसीद् होता है । (यहाँ इस प्रयोग में अट्, मु और स् तीन आगम हैं । अट् आगम- 'अड्धातोरादि-' ४/४/२९ से, मु आगम 'मुरतोऽनुनासिकस्य' ४/१/५१ से और स आगम 'यमिरमिनम्यातः' - ४/४/८६ से होगा ।)

यहाँ प्र के बाद आये हुए 'नि' का 'णि' 'अकखाद्यषान्ते पाठे वा' २/३/८० से होगा ।

(इस प्रयोग की साधनिका पूर्ववत् है केवल 'मु' आगम सम्बन्धित 'म्' का 'तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ' १/३/१४ से और धातु के 'म्' का 'शिड्हेऽनुस्वारः' १/३/४० से अनुस्वार होगा और 'यमिरमिनम्यातः'- ४/४/८६ से 'सिच्' के आदि में इट् होगा और धातु के अन्त में 'स्' होगा, उससे पूर्व 'सः सिजस्तेर्दिस्योः' ४/३/६५ से अद्यतनी के 'दि' प्रत्यय के आदि में 'ईत्' होता है, अन्त में 'इट ईति' ४/३/७१ सिच् का लोप होता है ।)

इस न्याय का ज्ञापक 'सेट् क्वस्' प्रत्यय का 'उष्' आदेश करने के लिए 'क्वसुष् मतौ च' २/१/१०५ से भिन्न अन्य कोई सूत्र नहीं किया है, वह है । वह इस प्रकार है- 'क्वसुष् मतौ च' २/१/१०५ से अनिट् 'क्वस्' का 'उष्' आदेश 'बभूवुषी' इत्यादि प्रयोग में सिद्ध होता है किन्तु 'पेचुषी' इत्यादि में 'पेचिवस्' के 'घसेकस्वरातः क्वसोः' ४/४/८२ से हुए 'इट्' सहित के 'क्वस्' के प्रत्यय सम्बन्धित 'इट्' दिखाई नहीं देता है । अतः उसी 'इट्' के लोप के लिए या सेट् 'क्वस्' के उष् आदेश के लिए कोई सूत्र होना चाहिए किन्तु उसके लिए अन्य कोई भी सूत्र नहीं है, वह

इस न्याय से 'सेट् क्वस्' का 'उष्' आदेश 'क्वसुष् मतौ च' २/१/१०५ से ही हो जायेगा ऐसी आशा से ही अन्य सूत्र नहीं किया है ।

यह न्याय व्यभिचारी अर्थात् अनित्य है । अतः 'वेः स्कन्दोऽक्तयोः' २/३/५१ से षत्व विधि में 'स्कन्द' धातु का ग्रहण करने पर भी 'अट्' सहित 'स्कन्द' धातु में षत्व विधि नहीं होती है और 'व्यस्कन्दत्' प्रयोग होता है ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन 'उपसर्गात्सुग्सुवसोस्तुस्तुभोऽट्यप्यद्वित्वे' २/३/३९ सूत्र में उक्त 'अट्यपि' शब्द से होता है । वह इस प्रकार है :-

'अभ्यषुणोद्' इत्यादि प्रयोग में 'अट्' व्यवधान हो तो भी षत्व होता है । उसका ज्ञापन करने के लिए सूत्र में 'अट्यपि' रखा है । यदि यह न्याय स्थिर होता तो 'सुग्' के ग्रहण से ही 'अट्' सहित 'सुग्' का भी ग्रहण सिद्ध था, तो 'अट्' का व्यवधान नहीं होता, अतः 'अट्यपि' कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी, तथापि 'अट्यपि' कहा, वह यह न्याय अनित्य होने से केवल 'सुग्' कहने से 'अट्' सहित 'सुग्' का ग्रहण न होता, तो 'अट्' के व्यवधान के कारण 'अभ्यषुणोत्' में षत्व नहीं होगा, ऐसी संभावना का विचार करके सूत्र में 'अट्यपि' कहा है ।

'आगमोऽनुपघाती' न्याय भी है अर्थात् आगम उपघात नहीं करता है । उदा. भवान्, भवतु शब्द में 'ऋदुदितः' १/४/७० से 'न' आगम करने से 'अतु', 'अन्तु' स्वरूप हो जाता है तथापि 'न्' आगम अनुपघाती होने से 'अभ्वादेरत्वसः सौ' १/४/९० से 'अतु', अन्तलक्षण दीर्घ होगा ही, किन्तु इस न्याय का भी यहाँ ही अन्तर्भाव हो गया है, क्योंकि दोनों न्याय समान फलदायक हैं।

'आगम' के अनुपघातित्व का अर्थ इस प्रकार है- आगम, अपने व्यवधान के कारण जिस कार्य में विघ्न आता है, वही कार्य करते समय उपघात अर्थात् प्रकृति को नुकसान या खंडित करता नहीं है और यदि आगम को शब्द या धातु या प्रकृति का अवयव ही मान लिया जाय तो, अवयवी स्वरूप प्रकृति का ग्रहण करने से ही उसी आगम का भी ग्रहण हो जाय तो वही आगम व्यवधान बनता नहीं है । अतः उसका अनुपघातित्व सिद्ध हो जाता है ।

इस न्याय को पाणिनीय परम्परा में लोकसिद्ध बताया है । 'देवदत्त' के ग्रहण से उसके अधिकांश अंग का भी ग्रहण हो ही जाता है, उसी प्रकार से व्याकरण में अवयवत्व के बोधक 'आदि' और 'अन्त' शब्द से विहित आगम में अवयवत्व आ जाता है । अतः उससे विशिष्ट का भी ग्रहण होता है और उसमें ही औचित्य है, ऐसी श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यता है ।

इस न्याय की अनित्यता का खण्डन करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि वस्तुतः 'उपसर्गात् सुग्सुवसो' २/३/३९ सूत्र में 'अट्यपि' शब्द रखने का कारण भिन्न ही है । यहाँ 'उपसर्गात्' अर्थात् उपसर्ग से अव्यवहित पर में धातु होना चाहिए, ऐसा नहीं किन्तु धातु सम्बन्धित सकार होना चाहिए, अर्थात् अव्यवहित परत्व धातु का नहीं किन्तु 'स'कार का लेना है । अतः अट् आगम करने से 'स'कार अव्यवहित पर में नहीं आयेगा, तो 'स' का 'ष' नहीं हो सकता है, वही

षत्व करने के लिए 'अट्यपि' कहना आवश्यक है और इस प्रकार 'अट्यपि' शब्द से इस न्याय की अनित्यता की सिद्धि नहीं हो सकती है तथा 'वेः स्कन्दोऽक्तयोः' २/३/५१ से 'व्यस्कन्दत्' इत्यादि में षत्व की प्राप्ति ही नहीं, अतः उसमें षत्व का निषेध करने के लिए इस न्याय को अनित्य बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है । शायद किसी स्थान पर इस न्याय को अनित्य मानने की आवश्यकता प्रतीत हो तो 'अतो म आने' ४/४/११४ सूत्र के सामर्थ्य से ही इस न्याय की अनित्यता सिद्ध हो सकेगी, अतः 'शयिष्यमाणः' इत्यादि प्रयोग में 'म' आगम को 'शयिष्य' के अकार के रूप में ही मान लिया जाय तो 'शयिष्याणः' प्रयोग ही होता, तो 'म' आगम व्यर्थ होता । वह व्यर्थ होकर इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करता है ।

यहाँ ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि म आगम के विधान के सामर्थ्य से ही 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ से होनेवाली दीर्घविधि का बाध होगा, अतः इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन नहीं हो सकेगा, क्योंकि वैसा करने से साक्षात् शास्त्र का बाध होगा और शास्त्र के बाध की कल्पना करना, उससे न्याय के अनित्यत्व की कल्पना करने में औचित्य है ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'उपसर्गात् सुग्'-२/३/३९ सूत्रगत 'अट्यपि' शब्द को इस न्याय की अनित्यता के ज्ञापक के रूप में माना है, उसके लिए उन्होंने इस न्याय के न्यास में तर्क प्रस्तुत करते हुए बताया है कि शायद कोई ऐसा कहे कि सूत्रकार आचार्यश्री ने 'नाम्यन्तस्था'-२/३/१५ सूत्र में 'शिड्नान्तरेऽपि' कहा है, उसी अधिकार से यहाँ अन्य वर्ण के व्यवधान को मान्य नहीं किया है। अतः 'अट्' के व्यवधान में षत्व होने की प्राप्ति ही नहीं है । अत एव यहाँ सूत्र में 'अट्यपि' कहा है । अतः इस 'अट्यपि' शब्द से किस प्रकार इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन हो सकेगा ? इस शंका का प्रत्युत्तर देते हुए वे कहते हैं कि यदि यह न्याय नित्य होता तो 'सुग्' इत्यादि के ग्रहण से 'अट्' सहित 'सुग्' इत्यादि का ग्रहण सिद्ध होने से 'अट्' द्वारा व्यवधान होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अतः इस 'अट्यपि' को ज्ञापक माना वही उचित है ।

इसका तात्पर्यार्थ इस प्रकार है- 'अभ्यषुणोत्' इत्यादि में आचार्यश्री को षत्व ही इष्ट है। उसका 'शिड्नान्तरेऽपि' के अधिकार से अन्य वर्ण के व्यवधान की अनुमति प्राप्त नहीं होने से 'अट्' के व्यवधान से षत्व का निषेध हो जाता है, उसी निषेध को यह 'आगमा यद्गुणीभूता' न्याय से दूर किया, तथापि न्याय की अनित्यता के कारण से आचार्यश्री को यकिन न हुआ, अतः सूत्र में षत्व के लिए 'अट्यपि' कहा है ।

न्यासगत, श्रीहेमहंसगणि की उपर्युक्त बात का श्रीलावण्यसूरिजी ने पूर्णतया खंडन किया है । वे कहते हैं कि 'उपसर्गात्'- २/३/३९ सूत्र की वृत्ति इत्यादि का विचार करने पर सूत्रोक्त 'अट्यपि' शब्द सार्थक होने से इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करने में वह समर्थ नहीं है । इस सूत्र की वृत्ति का अर्थ इस प्रकार है- यदि द्वित्व न हुआ हो तो उपसर्गस्थित 'नामी, अन्तस्था' और 'क-वर्ग' से पर आये हुए 'स' का 'ष' होता है, यदि वह 'सुग्' इत्यादि धातु सम्बन्धित हो तो, 'अट्यपि' अट् आगम रूप व्यवधान होने पर भी षत्व होता है । और 'शिड्नान्तरेऽपि' के अधिकार

से 'अट्' के व्यवधान में षत्व की प्राप्ति नहीं थी, अतः यहाँ 'अट्यपि' कहा है ।

सूत्र के अर्थानुसार यहाँ 'स' का, उपसर्गस्थित नामी, अन्तस्था और कवर्ग से अव्यवहित परत्व ही षत्व का निमित्त है और 'अट्' के व्यवधान से वही अव्यवहित परत्व का बाध होता है, उसे दूर करने के लिए 'अट्यपि' कहा है, अतः वही सार्थक है, ऐसा बृहद्वृत्ति का आशय है ।

'आगमोऽनुपघाती' न्याय को श्रीहेमहंसगणि ने 'आगमा यद्‌गुणीभूता' न्याय के समानार्थ मानकर, उसमें ही उसका समावेश किया है, उसका श्रीलावण्यसूरिजी ने खंडन किया है ।

यहाँ 'भवतु' शब्द से, 'ऋदुदितः' १/४/७० से 'न' आगम होगा तब भवतु का अत्वन्तत्व खंडित नहीं होगा और अत्वन्त निमत्तक दीर्घ 'अभ्वादेरत्वसः सौ' १/४/९० से होगा । अनुपघातित्व का अर्थ बताते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते है कि 'स्वव्यवधानहेतुकं यथाप्राप्तकार्याणामुपघातमागमो न करोति ।' यदि आगम को तत्सम्बन्धित नाम या धातु स्वरूप प्रकृति के अवयव स्वरूप मान लिया जाय तो वही आगम प्रकृति के किसी भी कार्य में व्यवधान नहीं बनता है । अतः उपर्युक्त व्याख्यानुसार वही आगम अनुपाघाती कहा जाता है ।

इसके बारे में टिप्पणी करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'भवान्' इत्यादि रूप में 'आगमोऽनुपघाती' न्याय का कोई फल नहीं है क्योंकि 'न' आगम का विधान करनेवाला सूत्र 'ऋदुदितः' १/४/७० से दीर्घविधायक 'अभ्वादेरत्वसः सौ' १/४/९० पर है । अतः वही बलवान् होकर दीर्घविधि प्रथम होगी बाद में न आगम होगा । अतः इस न्याय की वहाँ कोई आवश्यकता नहीं हैं । 'परान्नित्यम्' न्याय भी यहाँ प्रवृत्त नहीं होता है । परकार्य से नित्यकार्य बलवान् है, तथा आगमविधि प्रथम होगी ऐसा न कहना क्योंकि आगमविधि प्रथम होगी तो 'भवान्' में अत्वन्तत्व का विघात होने से दीर्घविधि अनवकाश होगी, अतः वह अपवादशास्त्र होगा, और नित्यशास्त्र से अपवादशास्त्र बलवान् होता है, अतः दीर्घ ही प्रथम होगा और 'न' आगम बाद में होगा ।

यदि आगम को इस न्याय से अव्यवधायक माना जाय, तो 'अतो म आने' ४/४/११४ से होनेवाले 'म' आगम की व्यर्थता होगी, अतः यह न्याय, आगम के अव्यवधायकत्व का कथन करनेवाला नहीं है, किन्तु आगम के स्वभावसिद्ध अनुपघातित्व का कथन करनेवाला मानना चाहिए । वह इस प्रकार है ।

व्याकरणशास्त्र में आदेश को शत्रुवत् माना है और आगम को मित्रवत् माना है । आदेश जिसका होता है उसे वह दूर करके उसके स्थान में वह स्वयं आता जाता है, अतः वह शत्रुसमान है क्योंकि जैसे शत्रु राजा, अन्य राजा को गादी से, उठाकर स्वयं गादी/सिंहासन पर बिराजमान होता है, वैसा ही आदेश के विषय में है ।

जबकि आगम किसीके स्थान पर नहीं होता है अर्थात् जहाँ होता है वहाँ, उसके पास बैठ जाता है, अतः वह किसीका उपधात नहीं करता है ।

संक्षेप में, 'मित्रवदागमः' न्याय का ही यह न्याय अनुवाद करता है, किन्तु अन्य कुछ नूतन

प्रतिपादन नहीं करता है ।

यह न्याय प्रत्येक परिभाषासंग्रह में प्राप्त है । केवल शाब्दिक परिवर्तन कुछेक स्थान पर किया गया है ।

॥ ६८॥ स्वाङ्गमव्यवधायि ॥ ११॥

धातु इत्यादि का अपना अङ्ग उसी धातु इत्यादि सम्बन्धित कार्य करने में व्यवधायक नहीं होता है ।

द्वित्व इत्यादि स्वरूपयुक्त धातु इत्यादि का अपना अङ्ग, उसी धातु इत्यादि अङ्गी सबन्धित कार्य करने में व्याघात करता नहीं है । 'स्वाङ्ग' होनेका यही फल है, ऐसा दिखानेवाला यह न्याय है ।

प्रकृति सम्बन्धित कार्य करते समय उसी प्रकृति का अपना ही अङ्ग व्यवधान बनता हो तो, वही व्यवधान, व्यवधान नहीं माना जाता है और कार्य होता ही है ।

उदा. 'संचस्कार' यहाँ 'सम्' उपसर्ग से 'कृ' धातु है । यहाँ 'स्सट्' का आगम अन्तरङ्ग होने से प्रथम होगा, अतः 'सम् स्सट् कृ' होगा । अब जब परोक्षा का 'णव्' प्रत्यय होगा तब द्वित्व विधि प्रथम होगी क्योंकि वह पर और नित्य है और केवल धातु आश्रित होने से अन्तरङ्ग भी है । अतः 'स्सटि समः' १/३/१२ और 'लुक्' १/३/१३ प्रवृत्त होने से पहले द्वित्व होगा । बाद में 'ऋतोऽत्' ४/१/३८ से 'ऋ' का 'अ' और 'कङश्चञ्' ४/१/४६ से 'क' का 'च' होकर 'सम् चस्कृ अ' होगा । अब इस न्याय के बल से धातु के अङ्ग स्वरूप द्वित्व से उत्पन्न 'च' का व्यवधान, व्यवधान नहीं माना जाता है, अतः 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' न्याय से स्सट् की निवृत्ति नहीं होती है ।

धातु के पूर्व में 'स्सट्' आगम तभी ही होता है कि जब 'सम्' और धातु के बीच आनन्तर्य हो । यदि द्वित्व से उत्पन्न वर्ण या वर्णसमुदाय का व्यवधान के स्वरूप में स्वीकार किया जाय तो 'सम्' और 'कृ' धातु के बीच आनन्तर्य का अभाव होने से 'स्सट्' की निवृत्ति होती ही है ।

इस न्याय का ज्ञापन 'नेङ्र्मादापतपद'.......२/३/७९ सूत्र का, उपन्यास 'द्वित्वेऽप्यन्तेऽप्यनितेः परेस्तु वा' २/३/८१ के पूर्व किया गया, उससे होता है, यहाँ यदि 'द्वित्वेऽप्यन्ते'—२/३/८१ सूत्र का स्थापन पहले किया होता तो, 'द्वित्वेऽपि' की अनुवृत्ति 'नेङ्र्मादा......' २/३/७९ सूत्र में आती तो 'प्रणिपतति' की तरह 'प्रणिपपात' में भी 'नि' का 'णि' निः संकोच होता, किन्तु इस प्रकार उसकी अनुवृत्ति के बिना ही, यह न्याय होने से 'द्वित्वेऽप्यन्ते'—२/३/८१ से पूर्व ही 'नेङ्र्मादापत'-२/३/७९ सूत्र रखा है, तथापि इष्टप्रयोगसिद्धि होती है ।

'प्रणिपतति' में जैसे 'नि' का 'णि' किया है वैसे 'प्रणिपपात' में 'नि' का 'णि' इष्ट ही है और वही 'नि' का 'णि' तब ही संभवित होता, जब 'द्वित्वेऽप्यन्ते-' २/३/८१ सूत्र के बाद 'नेङ्र्मादापत'- २/३/७९ सूत्र रखा होता, क्योंकि वैसा करने से 'द्वित्वेऽपि' की अनुवृत्ति 'नेङ्र्मादापत-

२/३/७९ सूत्र में आती तो 'दुर्' को छोड़कर अन्य उपसर्ग और 'अन्तर्' शब्द स्थित 'र, ष' और 'ॠ' वर्ण से पर आये हुए 'नि' का 'णि' उसके बाद आये हुए ङ्मा, दा, पत - इत्यादि धातु का द्वित्व होने पर भी निर्विवाद/निःसंकोच होता, किन्तु ऐसा नहीं किया है , वही ज्ञापन करता है कि 'स्वाङ्गमव्यवधायि' न्याय होने से, द्वित्वभूत धातु का पूर्व भाग उसी धातु का अङ्ग होने से, वह 'प्रनि' और धातु के बीच व्यवधायक नहीं होगा और जैसे 'प्रणिपतति' में 'नि' का 'णि' होता है, वैसे 'प्रणिपपात' में निर्विघ्न 'नि' का 'णि' होगा ।

स्वाङ्ग हो, वही अव्यवधायि बनता है, किन्तु पराङ्ग हो तो उसका व्यवधान, व्यवधान ही माना जाता है ।

उदा. 'संचस्कार', यहाँ 'च', 'कृ' धातु का अङ्ग बनेगा, अतः ऊपर बताया उसी तरह सम् और कृ के बीच होनेवाले 'स्सट्' आगम के लिए व्यवधान स्वरूप नहीं होगा क्योंकि वही कार्य कृनिमित्तक है , किन्तु 'स्सटि समः' १/३/१२ से जब 'सम्' के 'म्' का 'स्' करना हो तब और 'लुक्' १/३/१३ से जब 'सम्' के 'म्' का लोप करना हो, तब द्वित्व से उत्पन्न 'च' 'स्सट्' या 'सम्' दो में से किसीका अपना स्वाङ्ग नहीं होने से 'म्' का सकार और 'म्' का लोप करते समय व्यवधान माना जायेगा । अतः 'सम्' के 'म्' का 'स्' और लोप नहीं होगा ।

यह न्याय अनित्य होने से षत्व विधि के 'वेः स्कन्दोऽक्तयोः' २/३/५१ सूत्र में द्वित्व सहित स्कन्द धातु का ग्रहण नहीं किया होने से विचिस्कन्तसति' इत्यादि प्रयोग में षत्व नहीं होगा ।

इस न्याय के व्यभिचारीत्व/अनित्यता का प्रतिष्ठापक/ज्ञापक 'प्रतितष्ठौ' इत्यादि प्रयोग में स्वाङ्ग स्वरूप द्वित्व का व्यवधान होने पर भी षत्व करने के लिए 'स्था-सेनि-सेध-सिच-सञ्जां द्वित्वेऽपि' २/३/४० में 'द्वित्वेऽपि' कहा, वह है । यहाँ 'स्था' इत्यादि का द्वित्व होने पर भी, उसका द्वित्वभूत स्वाङ्ग क्वचित् इस न्याय की अनित्यता के कारण व्यवधान स्वरूप होने पर भी इसी सूत्र से उसके 'स' का 'ष' होगा ही उसका ज्ञापन करने के लिए 'द्वित्वेऽपि' कहा है ।

पूर्व के 'आगमा यद्गुणीभूताः'—न्याय का ही यह विशिष्ट प्रकार/प्रपंच/विस्तार है । पूर्व न्याय में आगम को नाम या धातु स्वरूप प्रकृति के अङ्ग मान लेने पर वे व्यवधायक नहीं होते हैं और यहाँ द्वित्व इत्यादि से उत्पन्न मूल धातु सम्बन्धित किन्तु धातु से भिन्न अधिक वर्ण या वर्णसमुदाय स्वाङ्ग बनता है और वह अव्यवधायि होता है ।

इस न्याय के ज्ञापक के रूप में 'नेङ्मादा'-२/३/७९ और 'द्वित्वेऽप्यन्ते' —२/३/८१ सूत्रों के स्थापना/रचनाक्रम को बताया है । इसके बारे में टिप्पणि करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यह न्याय कोई अपूर्व कथन नहीं है, किन्तु परोक्षा इत्यादि में धातु का द्वित्व होने के बाद, वही द्वित्वभूत व्यञ्जन या स्वर, प्रकृति के अपने अङ्ग स्वरूप होने से वही धातु निमित्तक कार्य करने में व्यवधान नहीं करता है । जैसे देवदत्त अपने अङ्ग द्वारा तिरोहित नहीं हो सकता है । अतः यह न्याय

स्वतः सिद्ध है, इसलिए ज्ञापक की कोई आवश्यकता नहीं है ।

ऊपर बताया उसी प्रकार से सूत्रों का स्थापनाक्रम/रचनाक्रम स्वरूप ज्ञापक भी समुचित नहीं लगता है । उपसर्ग और धातु के बीच सम्बन्ध कब किया जाय ? इसके बारे में दो मान्यताएँ हैं । कुछेक कहते हैं कि 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेन ।' तो अन्य कुछेक कहते हैं कि 'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, पश्चादुपसर्गेण ।' अब 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेन' इसी पक्ष का आश्रय करने पर धातु और उपसर्ग का योग प्रथम होने से, उन दोनों के सम्बन्धनिमित्त 'नि' की णत्वविधि प्रथम होगी क्योंकि वह अन्तरङ्ग कार्य है । बाद में धातु का द्वित्व होगा । इस प्रकार जैसे 'प्रणिपतति' में णत्वविधि होगी, वैसे 'प्रणिपपात' में भी इस न्याय की प्रवृत्ति के बिना ही, णत्व विधि हो सकती है । अतः 'नेङ्र्मादा'- २/३/७९ सूत्र में 'द्वित्वेऽपि' की अनुवृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं है, अतः उसी सूत्र में 'द्वित्वेऽपि' का अभाव और इस प्रकार के सूत्रों का रचनाक्रम/स्थापनाक्रम इस न्याय का ज्ञापक नहीं बन सकता है ।

और 'प्राणिणिषति' इत्यादि प्रयोग में द्वितीय नकार के णत्व की सिद्धि के लिए 'द्वित्वेऽपि' कहना आवश्यक है क्योंकि 'अदुरुपसर्गस्थादन्तःशब्दस्थाच्च रादेः-' अर्थात् 'दुर्' को छोड़कर अन्य उपसर्ग और अन्तर् शब्दस्थित रेफ, षकार और ऋवर्ण से पर आये हुए 'न' का 'ण' करना है । 'प्राणिणिषति' में द्वितीय नकार और पूर्व के उपसर्ग में स्थित रेफ के बीच 'ण' का व्यवधान है अतः णत्व की प्राप्ति नहीं है, उसी णत्व की प्राप्ति कराने के लिए 'द्वित्वेऽपि' कहना आवश्यक है ।

यहाँ 'प्राणिणिषति' में 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेन', उसी सिद्धान्तानुसार पहले णत्वविधि होगी बाद में द्वित्व आदि होगा, तो द्वित्व 'णि' का होगा किन्तु 'निमित्तापाये नैमित्तकस्याऽप्यपायः' न्याय से पुनः 'नि' हो जायेगा, अतः उसी 'नि' का 'णि' करने के लिए सूत्र में 'द्वित्वेऽपि' कहना आवश्यक है ।

यहाँ दूसरा मत स्वीकारने पर 'अनिनिषति' रूप सिद्ध करने के बाद प्र उपसर्ग से उसे जोड़ने पर प्रथम 'नि' का 'णि' निःसंकोच हो सकेगा किन्तु द्वितीय 'नि' का 'णि' नहीं होगा क्योंकि 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' न्याय होने से सूत्र की एक ही बार प्रवृत्ति होगी, अतः द्वितीय 'नि' का 'णि' करने के लिए सूत्र में 'द्वित्वेऽपि' कहना आवश्यक है ।

'प्रणिपपात' प्रयोग के लिए 'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण' मत स्वीकार करने पर भी द्वित्वभूत 'प' में अन्यत्व बुद्धि पैदा हो सकती नहीं, अतः वहाँ भी णत्वविधि होगी । यहाँ शायद इस न्याय की प्रवृत्ति का संभव है तथापि ऊपर बताया उसी प्रकार सूत्रपाठ के क्रम का ज्ञापकत्व उचित नहीं है ।

'संचस्कार' प्रयोग में इस न्याय का फल श्रीहेमहंसगणि ने बताया है, उसके बारे में टिप्पणी करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते है कि 'संचस्कार' प्रयोग में इस न्याय का फल बताना, उससे यह

कहना उचित है कि 'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण' मान्यता के पक्ष में 'प्रणिपपात' इत्यादि प्रयोग की सिद्धि इस न्याय से होती है, क्योंकि 'संचस्कार' में 'कृ' के द्वित्वनिमित्तक 'च' का व्यवधान, व्यवधान नहीं माना जाता है । इस प्रयोग में लौकिक दृष्टान्त से काम चल सकता है, ऐसा वे कहते हैं । जैसे लोक में निमित्त/कारण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता है किन्तु वही कार्य वैसा ही रहता है, और 'जातसंस्कारो न निवर्तते' रूप अन्य न्याय भी प्राप्त है, अतः 'संचस्कार ' में 'च' का व्यवधान होने पर भी 'स्सट्' की निवृत्ति नहीं होती है या 'निमित्तापाये' न्याय की अनित्यता कहने से ही कोई दोष पैदा नहीं होगा और यह फल भी अन्यथा सिद्ध नहीं माना जायेगा ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'संचस्कार' प्रयोग में द्वित्वनिमित्तक 'च' को धातु का ही अङ्ग माना है । और वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति की है । जैसे 'प्रणिपपात' में इस न्याय का फल श्रीलावण्यसूरिजी ने मान्य किया है, वैसे यहाँ भी 'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण', मान्यता/सिद्धांत के पक्ष में 'चकार' रूप सिद्ध करने के बाद 'सम्' उपसर्ग आने पर 'स्सट्', 'कार' के पूर्व में होगा । 'संपरेः कृगः स्सट्' ४/४/९१ में 'संपरेः' में पञ्चमी विभक्ति है, अतः 'स्सट्' अव्यवहित पर में आये हुए 'कृ' के आदि में होगा जबकि यहाँ 'सम्' और 'कृ' (कार) के बीच 'च' का व्यवधान है । इस न्याय से 'च' का व्यवधान, व्यवधान नहीं माना जाता है, अतः 'सम्' और 'कार' का परस्पर आनन्तर्य माना जायेगा । अत एव 'कार' के आदि में 'स्सट्' आगम होगा । अतः इस प्रयोग के लिए लौकिक दृष्टान्त और 'जातसंस्कारो न निवर्तते' और 'निमित्तापाये-' न्याय की अनित्यता का आश्रय लेने की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा कोई कह सकता है । किन्तु इसके बारे में अधिक विचार करने पर लगता है कि श्रीलावण्यसूरिजी ने उपसर्ग और धातु के सम्बन्ध के बारे में जिन दो मान्यताएँ बताई, वही दोनों मान्यताएँ व्याकरणशास्त्र में प्रसिद्ध होने पर भी, दोनों निर्बल भी है । दो में से कोई भी एक सिद्धांत/मान्यता इतनी प्रबल नहीं है कि जिसका निश्चितरूप से ग्रहण किया जा सके ।

इस न्याय का स्वीकार करना हो तो ऊपर बताया उसी प्रकार 'धातुः पूर्वं साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण' सिद्धांत निश्चित करना होगा । इसी सिद्धांत के बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'आस्यते गुरुणा' प्रयोग में 'आस्' धातु अकर्मक है और 'उपास्यते गुरुः' प्रयोग में 'आस्' धातु सकर्मक बन जाता है, वह कैसे होता है ? और 'गम्' धातु का 'गच्छति' करते है तब परस्मैपद होता है और 'संगच्छते' रूप करते हैं तब आत्मनेपद के प्रत्यय होते हैं । यदि 'धातुः पूर्वं साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण' मान्यता के पक्ष का स्वीकार करने पर, पहले 'आस्' धातु से भाव में प्रत्यय करना होगा, बाद में उपसर्ग से युक्त किया जायेगा तब, उसी भाव में हुए प्रत्यय को कर्म में हुआ प्रत्यय कैसे माना जायेगा ? और 'गच्छति' में परस्मैपद के प्रत्यय से 'गच्छति' रूप सिद्ध करने के बाद, उसे 'सम्' उपसर्ग से युक्त करने पर 'संगच्छते' कैसे होगा ? इसी परिस्थिति में 'पूर्व धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेन'

पक्ष का ही स्वीकार करना पड़ेगा । 'संचस्कार' प्रयोग में भी इसी पक्ष का आश्रय करना पड़ेगा, और वही ज्यादा उचित है । पाणिनीय तंत्र में मुख्यतया इसी पक्ष का आश्रय किया गया है । वैसे ही यहाँ किया जायेगा तो 'कृ' धातु से पहले 'सम्' उपसर्ग होगा और उपसर्ग के आगमन के साथ ही 'संपरेः कृगः स्सट्' ४/४/९१ से 'स्सट्' का आगम होगा, और बाद में 'संचस्कार' में परोक्षा के प्रत्ययनिमित्तक द्वित्व आदि होगा और 'समस्करोत्' इत्यादि में ह्यस्तनी के प्रत्ययनिमित्तक 'अड्' आगम इत्यादि भी बाद में होंगे । वे होंगे तब भी 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' न्याय से 'स्सट्' की निवृत्ति नहीं होगी क्योंकि 'निमित्तापाये-' न्याय अनित्य है।

और 'प्रणिपपात' प्रयोग में भी इस पक्ष का आश्रय करने से ऊपर बताया उसी प्रकार इस न्याय का कोई प्रयोजन नहीं रहता है । इस प्रकार इस न्याय के बिना भी कोई दोष न पैदा होता हो तो भी इस न्याय को लोकसिद्ध न्याय के रूप में स्वीकार करना चाहिए, किन्तु ज्ञापक द्वारा इसे सिद्ध न करना चाहिए ।

दूसरी एक बात श्रीलावण्यसूरिजी यह बताते हैं कि 'स्वाङ्गं' शब्द के कारण 'पराङ्ग' अव्यवधायक बनता नहीं है, ऐसा स्वीकार करके 'पराङ्ग' का फल बताया कि 'संचस्कार' प्रयोग में, 'च', 'कृ' का अङ्ग है किन्तु सम् या स्सट् का अङ्ग नहीं है अतः 'स्सटि समः' १/३/१२ और 'लुक्' १/३/१३ से होनेवाला 'सम्' के 'म्' का 'स्' और लोप करते समय 'च' का व्यवधान व्यवधान नहीं माना जायेगा, ऐसा कहना अनर्थक है क्यों कि 'च' स्वाङ्ग ही नहीं है, अतः इस न्याय की प्रवृत्ति होने का कोई अवकाश ही नहीं है ।

न्याय की वृत्ति में बताया उसी प्रकार इस न्याय की अनित्यता के कारण से 'विचिस्कन्त्सति' इत्यादि में षत्व नहीं होता है, और इसी अनित्यता का ज्ञापक 'स्था सेनि सेध सिच सञ्जां द्वित्वेऽपि' २/३/४० सूत्रगत 'द्वित्वेऽपि' शब्द है और श्रीहेमहंसगणि अपनी इस बात का ही समर्थन करते हुए इस न्याय के स्वोपज्ञ न्यास में कहते हैं कि किसी को शंका हो सकती है कि जैसे षत्व का विधान करनेवाला मुख्य सूत्र 'नाम्यन्तस्था कवर्गात् पदान्तः कृतस्य सः शिड्नान्तरेऽपि' २/३/१५ सूत्र में 'शिट्' और नकार के व्यवधान को व्यवधान माना नहीं है, वैसे यहाँ भी द्वित्व के व्यवधान को, व्यवधान न मानने का विधान 'द्वित्वेऽपि' शब्द से होता है तो, इसे इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक कैसे माना जाय ? उसका प्रत्युत्तर देते हुए वे स्वयं कहते हैं कि यदि यह न्याय नित्य होता तो, द्वित्व द्वारा व्यवधान होता है, ऐसा कहा जा सकता ही नहीं है और 'प्रतितष्ठौ' इत्यादि प्रयोग में आचार्यश्री को षत्व ही इष्ट है, और वह 'शिड्नान्तरे' के अधिकार के कारण दूसरे प्रकार का (द्वित्व आदि का) व्यवधान आने से षत्व का निषेध होगा, वह निषेध इस 'स्वाङ्गमव्यवधायि' न्याय से दूर होगा , तथापि आचार्यश्री को कई न्याय अनित्य होते हैं इसलिए न्यायों ऊपर विश्वास नहीं हैं, अतः द्वित्व का व्यवधान होने पर भी, ऐसे प्रयोगों में षत्व होगा ही, ऐसा सूचित करने के लिए सूत्र में 'द्वित्वेऽपि' शब्द रखा है । वह इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करता है ।

इन सब बातों का श्रीलावण्यसूरिजी खंडन करते हैं । उनकी मान्यतानुसार 'स्वाङ्गमव्यवधायि' की कोई अनित्यता नहीं है । वे कहते हैं कि 'वेः स्कन्दोऽक्तयोः' २/३/५१ में 'वेः' पंचमीनिर्दिष्ट है, अतः उससे परत्व लेना है, वही धातु का लेना या 'स' का लेना ? अर्थात् परत्व विशेषण किस का हो ? धातु का या 'स' का ? धातु का विशेषण नहीं बन सकता है क्योंकि धातु स्वयं 'स' कार का विशेषण बनता है, अथवा 'स्कन्दः' पद से सकार ही विशेषित होता है क्योंकि 'स्कन्द्' धातु कार्यी के स्वरूप में नहीं है किन्तु सकार ही कार्यी है और वही मुख्य होने से सूत्रकार 'वि' के परत्व से उसे ही विशेषित करते हैं ।

इस प्रकार विचार करने पर 'वेः स्कन्दोऽक्तयोः' २/३/५१ सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है । 'वि' से पर आये अव्यवहित 'स' का ष होता है यदि वह स्कन्द धातु सम्बन्धित हो, और उसके बाद में क्त या क्तवतु प्रत्यय न आया हो तो ।

इसी अर्थानुसार 'विचिस्कन्त्सति' इत्यादि प्रयोग में इस न्याय से भी षत्व की प्राप्ति दुःसाध्य ही है, अतः उसी 'षत्व' का निषेध करने के लिए इस न्याय को अनित्य बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है और 'शिड्नान्तरेऽपि' के अधिकार से उपसर्ग और सकार के बीच व्यवधान रहितत्व चाहिए, वह 'विचिस्कन्त्सति' इत्यादि प्रयोग में प्राप्त नहीं है, अत एव षत्व की प्राप्ति हो सकती नहीं है।

और इस प्रकार 'स्था सेनि सेध सिच सञ्जां द्वित्वेऽपि' २/३/४० में उक्त 'द्वित्वेऽपि' शब्द भी सार्थक ही है क्योंकि द्वित्व करने से 'प्रतितष्ठौ' इत्यादि में 'त' का व्यवधान आने पर 'स' में नामिपरत्व नहीं आता है, अतः उसी 'त' के व्यवधान को दूर करने के लिए 'द्वित्वेऽपि' शब्द सूत्र में रखा है ।

और 'स्था-सेनि-सेध-सिच सञ्जां द्वित्वेऽपि' २/३/४० में 'द्वित्वेऽपि' शब्द का महत्व बताते हुए सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में कहा है कि 'सेन्' धातु अषोपदेश है इसलिए और 'स्था' और 'सञ्ज्' में द्वित्व होने पर अवर्णान्त व्यवधान आता है उसे दूर करने के लिए तथा 'सिच्, सञ्ज्' और 'सेध्' में 'षण्' पर में हो तब, इसका नियम करने के लिए 'द्वित्वेऽपि' कहा है । न्यास में भी 'स्था' और 'सञ्ज्' के लिए कहा है कि उपसर्ग स्थितनामी-अन्तस्था आदि और धातु के बीच अवर्णान्त व्यवधान पैदा होने के कारण 'स्था' और 'सञ्ज्' का यहाँ ग्रहण किया है । इन सब बातों से ऐसा सूचित होता है कि यहाँ सब को उपसर्ग स्थित 'नामी' आदि से अव्यवहित परत्व धातु का नहीं किन्तु 'स' का ही मान्य है ।

इस प्रकार श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यतानुसार इस न्याय की अनित्यता प्रतीत नहीं होती है और अनित्यता का कोई फल दिखाई नहीं देता है और यह न्याय ज्ञापकसिद्ध भी नहीं है क्योंकि स्वाङ्ग का अव्यवधायकत्व लोकसिद्ध ही है ।

और इस न्याय में पूर्व के [आगमा यद्गुणीभूता....] न्याय का समावेश हो ही जाता है क्योंकि आगम का - 'आदि' और 'अन्त' शब्द से विधान किया गया है । अतः प्रकृति के अवयव हो ही जाते हैं, अतः वह स्वाङ्ग कहा जाता है तथापि यह न्याय अप्रसिद्ध है और पूर्व का न्याय, प्रत्येक

व्याकरण में पाया जाता है, अतः उसे इस न्याय से पृथक् कहा है । पाणिनीय परम्परा में यह न्याय बताया गया नहीं है । अन्य किसी भी परिभाषा संग्रह में इस प्रकार का न्याय नहीं है ।

ऊपर बताया उसी प्रकार आगम, आदि या अन्त शब्द से निर्दिष्ट होने से वह प्रकृति का अवयव बन जाता है किन्तु द्वित्वभूत धातु के पूर्व भाग 'चकार, पपात' इत्यादि में 'च' और 'प' का अङ्गत्व किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता है । यहाँ 'द्विर्धातुः परोक्षा-' ४/१/१ सूत्र से धातु का द्वित्व हुआ है । अतः वही द्वित्वभूत धातु में परस्पर अंग-अंगीभाव स्थापित नहीं हो सकता है किन्तु दोनों भागों में भिन्न भिन्न धातुत्व माना जाता है किन्तु 'चकार' और 'पपात' के 'च' और 'प' में, 'कृ' और 'पत' के धातुत्व का किस प्रकार संभव हो सकता है ? उसका प्रत्युत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है । यहाँ एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से 'च' और 'प' में भी 'कृ' रूपत्व और 'पत्' रूपत्व अक्षत ही माना जाता है । इस प्रकार इन प्रयोगों में उपसर्ग और धातु के बीच आनन्तर्य में कोई क्षति पैदा नहीं होती है ।

यह न्याय अन्य किसी भी परम्परा में प्राप्त नहीं है ।

॥ ६९ ॥ उपसर्गो न व्यवधायी ॥ १२॥

उपसर्ग व्यवधान बनता नहीं है ।

उपसर्ग का हमेशां धातु के पूर्व ही प्रयोग किया जाता है और यही बात 'धातोः पूजार्थस्वतिगतार्थाधिपर्यतिक्रमार्थातिवर्जः प्रादिरुपसर्गः प्राक् च' ३/१/१ सूत्र से निश्चित स्वरूप में बतायी गई है अर्थात् 'प्र' आदि उपसर्ग, धातु के अवयव बनते नहीं हैं और उपसर्ग विभक्त्यन्त होने से स्वतंत्र पद भी है, अतः उसमें व्यवधायकत्व आता है, उसका निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'उक्षांप्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्' । यहाँ 'उक्ष्' धातु से परोक्षा का 'उस्' प्रत्यय का 'गुरुनाम्यादेः -' ३/४/४८ से 'आम्' किया है और वही आमन्त 'उक्ष्' से 'प्रचक्रुः' का प्रयोग हुआ है । यहाँ 'उक्षां' और 'चक्रुः' के बीच 'प्र' को व्यवधान स्वरूप माना नहीं है । इसका तात्पर्यार्थ इस प्रकार है । 'गुरुनाम्यादेः-' ३/४/४८ सूत्र की वृत्ति में कहा है कि 'आमन्ताच्च' परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु-पश्चादनन्तरं प्रयुज्यन्ते' और यही अर्थ, इसी सूत्र में, 'धातोरनेकस्वरादाम् परोक्षायाः कृभ्वस्ति चानुतदन्तम्' ३/४/४६ सूत्र से चली आती 'कृभ्वस्ति चानुतदन्तम्' शब्दों की अनुवृत्ति से प्राप्त है । 'धातोरनेकस्वरादाम्-' ३/४/४६ सूत्रोक्त 'अनु' और उसी सूत्र तथा 'गुरुनाम्यादेः'-३/४/४८ की वृत्ति के अर्थानुसार 'कृ,भू' और 'अस्' धातु के परोक्षा के रूपों का, आमन्त धातु के पर ही अनन्तर प्रयोग करना है किन्तु व्यवहित अर्थात् किसी का व्यवधान न होना चाहिए तथा विपर्यस्त अर्थात् आमन्त पूर्व भी प्रयोग नहीं हो सकता है । यदि यहाँ इस प्रयोग में 'प्र' को व्यवधान स्वरूप माना जाय तो, यह प्रयोग असाधु/अनिष्ट ही माना जायेगा, किन्तु इस न्याय के बल से 'प्र', 'उक्षां' और 'चक्रुः' के बीच व्यवधायक नहीं होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक, 'गायति' स्वरूपवाले 'गी' धातु से 'टक्' का विधान करनेवाला 'गायोऽनुपसर्गात् टक्' ५/१/७४ में उपसर्ग वर्जन है । वह इस प्रकार है । जैसे 'साम गायति इति सामगी स्त्री' में 'साम' से युक्त 'गायति' से 'टक्' हुआ, वैसे 'साम संगायति इति सामसंगायी' में उपसर्ग सहित 'गायति' से 'टक्' न हो, किन्तु 'कर्मणोऽण्' ५/१/७२ से 'अण्' ही हो, इसका ज्ञापन करने के लिए 'अनुपसर्गात्' कहा है । यदि यह न्याय न होता तो 'गायष्टक्' इतना ही सूत्र बनाया होता तो 'सामसंगायी' में 'टक्' की प्राप्ति ही नहीं है क्योंकि 'साम' और 'गी' धातु के बीच व्यवधान है । अतः 'गायति' धातु कर्म से पर नहीं माना जायेगा । अतः उपसर्ग का वर्जन किया, वह व्यर्थ हुआ और वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि इस न्याय के कारण कर्म और धातु के बीच उपसर्ग का व्यवधान माना जाता नहीं है और अतः जैसे 'सामगी' में 'टक्' प्रत्यय हुआ वैसे 'सामसंगायी' में 'टक्' प्रत्यय होकर 'सामसंगी' ऐसा अनिष्ट रूप होगा ऐसी आशंका से ही 'अनुपसर्गात्' कहा है ।

यह न्याय एकान्तिक/नित्य नहीं है, अतः 'समागच्छति' में 'आङ्' का व्यवधान होने पर भी 'समोगमृच्छिप्रच्छिश्रुवित्स्वरत्यर्तिदृशः' ३/३/८४ से आत्मनेपद नहीं होगा ।

इस न्याय की वृत्ति के 'व्यवहित' और 'विपर्यस्त' पदों की समझ देते हुए श्रीहेमहंसगणि न्यास में कहते हैं कि आमन्त धातु के बाद ही परोक्षान्त 'कृ-भू' और 'अस्' का प्रयोग होना चाहिए । कहीं कहीं काव्य में निम्नोक्त प्रकार के व्यवहित तथा विपर्यस्त प्रयोग पाये जाते हैं, जो व्याकरणानुसार असाधु/अनुचित ही माना जाता है । व्यवहित—: 'तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्' । विपर्यस्त : 'नाऽरेश्चकार गणयामयमस्त्रपातान् ।'

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय के बारे में निम्नोक्त टिप्पणी करते हैं ।

यहाँ उपसर्ग संज्ञा के सूत्र 'धातोः पूजार्थस्वति-' ३/१/१ में 'धातोः प्राक्' के स्वरूप में 'धातो' में पञ्चमी विभक्ति है, अतः उपसर्ग हमेशां धातु से अव्यवहित पूर्व में ही होता है । कोई यहाँ शंका कर सकता है कि 'धातोः प्राक्' में धातु शब्द से षष्ठी विभक्ति है ऐसा मान लिया जाय तो 'प्राक्' शब्द पूर्व अवयववाचक माना जायेगा और उसी प्रकार उपसर्ग धातु के आदि अवयव स्वरूप होगा, तो, उसका 'स्वाङ्गमव्यवधायि' ॥ ११॥ न्याय में ही समावेश हो सकेगा, किन्तु यह बात सही नहीं है क्योंकि 'प्राक्' शब्द दिशावाचक है, अतः दिक्शब्द के योग में 'धातोः' में पंचमी ही मानी जायेगी और वही उचित है तथा 'प्राक्' शब्द पूर्व अवयववाचक के स्वरूप में कहीं भी प्रयुक्त हुआ दिखायी नहीं देता है ।

और 'समागच्छति' प्रयोग में श्रीहेमहंसगणि ने इस न्याय की अनित्यता बतायी है, किन्तु वास्तव में इस न्याय द्वारा उपसर्ग का दूसरे के प्रति अव्यवधायकत्व को कहने से, उसका परस्पर अव्यवधायकत्व सिद्ध नहीं हो सकता है । तथा परस्पर का व्यवधायकत्व किसी भी प्रकार से दूर नहीं किया जा सकता है । अतः 'सम्' और 'गम्' के बीच आये हुए 'आङ्' को व्यवधान ही माना जायेगा, अत एव आत्मनेपद की प्राप्ति नहीं हो सकती है और इसके लिए इस न्याय के अनित्यत्व की कल्पना न करनी चाहिए । दूसरी बात यह कि 'सम्' उपसर्गयुक्त 'गम्' धातु के कर्म की विवक्षा

करने पर भी वहाँ आत्मनेपद की अप्राप्ति हो जाती है और निःसंकोच परस्मैपद होता है ।

'भट्टि' काव्य के टीकाकार जयमंगलाकार कहते हैं कि अनु शब्द के सामर्थ्य से ही 'कृ-भू' और 'अस्' धातु के परोक्षान्त रूपों का आमन्तयुक्त धातु से अव्यवहित पर में ही प्रयोग होना चाहिए। अतः वे भट्टिकाव्य के 'उक्षांप्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्' के स्थान पर 'उक्षान् प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्' तथा 'बिभरांप्रचकारासौ' के स्थान पर 'प्रबिभरांचकारासौ' पाठों की कल्पना करते हैं ।

'कृञ्चानु प्रयुज्यते लिटि' [पा. सू. ३/१/४०] के महाभाष्य से एक बात स्पष्ट होती है कि भाष्यकार ने उपसर्ग को केवल धातु के अर्थ के द्योतक ही माने हैं, अतः उपसर्ग का, धातु से भिन्न कोई अर्थ नहीं है, अतः उपसर्ग में व्यवधायकत्व नहीं है ।

और महाभाष्य में कहा है कि 'विपर्यासनिवृत्त्यर्थं, व्यवहितनिवृत्त्यर्थञ्च' इन दोनों वार्तिकों द्वारा 'तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्' तथा 'प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार' इत्यादि व्यवहितत्वयुक्त और नाऽरेश्चकार गणयामयमस्त्रपातान् इत्यादि विपर्यस्त प्रयोगों का व्यावर्तन किया है, तथापि ऐसे प्रयोग कवियों द्वारा किये गए होने से छन्दोवत्/छान्दस् प्रयोग कहकर इसके साधुत्व का स्वीकार किया है ।

यह न्याय सिद्धहेम परम्परा के 'न्यायसंग्रह' को छोड़कर कहीं भी उपलब्ध नहीं है और वास्तव में गद्यसाहित्य में ऐसे प्रयोग होते ही नहीं हैं । जो होते हैं, वे काव्य में ही होते हैं और कवि द्वारा प्रयुक्त ऐसे प्रयोग क्वचित् व्याकरण के नियम विरुद्ध भी होते हैं किन्तु काव्य के क्षेत्र में छन्दोभंग न हो, इसलिए ऐसी सामान्यतया छूट दी जाती है । जैसे कला/चित्रकला आदि के क्षेत्र में कलाकार निरंकुश होते हैं वैसे काव्य के क्षेत्र में कवि निरंकुश माने जाते हैं, अतः ऐसे प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से असाधु/अनुचित होने पर भी, उसका अनादर नहीं होता है और यही बात इस न्याय से सिद्ध की गई है । व्याकरण की दृष्टि से इस न्याय का कोई महत्व प्रतीत नहीं होता है ।

॥ ७० ॥ येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि स्यात् ॥ १३ ॥

जहाँ जिस वर्ण इत्यादि का अवश्य व्यवधान हो, वहाँ उसका व्यवधान होने पर भी तत्सम्बन्धित कार्य होता ही है ।

जहाँ, जो वर्ण इत्यादि, अवश्य व्यवधायक होते हों, किन्तु अव्यवधान का संभव ही न हो, वैसे प्रसंग में व्यवधान होने पर भी, तत्सम्बन्धित कार्य होता ही है । अप्राप्त कार्य की प्राप्ति कराने के लिए यह न्याय है । [इस प्रकार अगले दोनों न्याय में जान लेना]

उदा. 'चार्वी, गुर्वी,' इत्यादि प्रयोग में स्वर और 'उ' कार के बीच एक व्यंजन का व्यवधान होने पर भी 'स्वरादुतो गुणादखरोः' २/४/३५ से 'ङी' होगा ही, क्योंकि स्वर के पर में अव्यवहित 'उ' कार हो, ऐसा गुणवाचक शब्द एक भी प्राप्त नहीं है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'स्वरादुतो गुणादखरोः' २/४/३५ में 'स्वरादुतो' कहा है, वह है । स्वर

से पर जो 'उ' कार, तदन्त गुणवाचक शब्द से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङी प्रत्यय होता है, किन्तु 'खरु' शब्द से नहीं होता है। यदि यह न्याय न होता तो स्वर से पर, अव्यवहित उकार हो, ऐसा गुणवाचक एक भी शब्द न होने से, यही सूत्र व्यर्थ होता है या असंगत है तथापि ऐसा सूत्र बनाया, उससे सूचित होता है कि स्वर और उ के बीच, अवश्य प्राप्त एक व्यंजन का व्यवधान, इस न्याय के बल से, व्यवधायक नहीं होता है, ऐसे आशय से ही 'स्वर के पर जो उकार' ऐसा जो कथन किया है वह असंगत नहीं माना जायेगा ।

और 'स्वरादुतो गुणादखरोः' २/४/३५ में 'खरु' शब्द का जो वर्जन किया है वह भी इस न्याय का ज्ञापक है क्योंकि यहाँ स्वर से पर, जो उकार, वही उकार जिसके अन्त में हो ऐसे गुणवाचक शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङी प्रत्यय विकल्प से होता है, ऐसा कहने से ही 'खरु' शब्द से ङी प्रत्यय होने की प्राप्ति ही नहीं है क्योंकि 'खरु' शब्द में स्वर 'अ' और अन्त्य 'उ' के बीच 'र्' का व्यवधान है, तथापि 'खरु' शब्द का वर्जन किया, उससे सूचित होता है कि स्वर और उकार के बीच एक व्यंजन का व्यवधान तो अवश्य होता ही है, अतः इस न्याय के कारण, उसी एक व्यंजन का व्यवधान, व्यवधान स्वरूप नहीं माना जाता है तथा 'खरु' शब्द में भी स्वर और 'उ' के बीच एक ही व्यंजन का व्यवधान होने से, यहाँ भी 'ङी' की प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित होगा, ऐसी आशंका से 'खरु' का वर्जन किया गया है ।

'येन नाव्यवधानं' अर्थात् जिसके द्वारा या जहाँ अवश्य व्यवधान आता ही हो वहाँ वही व्यवधान, व्यवधान नहीं माना जाता है, ऐसा क्यों ? जहाँ अव्यवधान का संभव हो, वहाँ व्यवधान, व्यवधान माना ही जाता है। उदा. 'ज्युंङ् गतौ' धातु से 'णिग्' और वही णिगन्त 'ज्युंङ्' धातु से 'सन्' प्रत्यय होने पर 'जुज्यावयिषति' रूप होगा। यहाँ 'ज्यु' धातु का द्वित्व होने के बाद पूर्व 'जु' में स्थित 'उ' और निमित्तस्वरूप अवर्णान्त अन्तस्था, 'ज्या' में स्थित 'या' के बीच 'ज्' का व्यवधान है, अतः 'ओर्जान्तस्थापवर्गेऽवर्णे' ४/१/६० से 'जु' के 'उ' का 'इ' नहीं होगा क्योंकि जहाँ अव्यवहित का संभव ही न हो, वहाँ व्यवहित का आदर किया जाता है, अन्यत्र नहीं, किन्तु यहाँ 'ओर्जान्तस्थापवर्गेऽवर्णे' ४/१/६० सूत्र से होनेवाले कार्य के लिए 'यियविषति' इत्यादि प्रयोग में अव्यवहित 'अवर्णान्त अन्तस्था' का संभव होने से 'जुज्यावयिषति' में स्थित व्यवहित 'अवर्णान्त अन्तस्था' का ग्रहण नहीं होता है ।

इस न्याय की अनात्यन्तिकता/अनित्यता प्रतीत नहीं होती है ।

श्रीहेमहंसगणि 'स्वर से अव्यवहित पर में उ हो, ऐसा गुणवाचक शब्द एक भी नहीं है' कथनगत गुणवाचक शब्द के बारे में टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि 'तितउ' शब्द में स्वर से अव्यवहित पर में 'उ' है किन्तु वह द्रव्यवाचक है, अतः उसका यहाँ ग्रहण न हो, इसके लिए गुणवाचक कहा है ।

इस न्याय में दो ज्ञापक बताये गये हैं। १. स्वरादुतो गुणादखरोः २/४/३५ में 'स्वरादुतो' कहा वह और २. 'अखरोः' पद से 'खरु' शब्द का वर्जन किया वह। वैसे तो ये दोनों ज्ञापक सही/

उचित हैं किन्तु दो में से 'अखरोः' शब्द से 'खरु' शब्द का वर्जन स्वरूप ज्ञापक ज्यादा स्पष्ट है।

श्रीहेमहंसगणि ने 'येन नाव्यवधानमिति किम् ?' इस प्रकार पदकृत्य करके 'नाव्यवधानम्' की आवश्यकता समझायी है, उसके प्रति श्रीलावण्यसूरिजी ने अरुचि बतायी है। वे कहते हैं कि 'येन नाव्यवधानम्' न होने पर केवल 'व्यवहितेऽपि स्यात्' इतना ही न्याय का स्वरूप होता है, तो इसका अर्थ यही होता है कि संपूर्णशास्त्र की प्रवृत्ति व्यवधान में भी होती है। यही अर्थ इष्ट नहीं है और ऐसा अर्थ करने में कोई प्रमाण भी नहीं है क्योंकि व्यवहितप्रवृत्ति, इस न्याय का लक्ष्य ही नहीं है। अतः जिस प्रकार श्रीहेमहंसगणि ने पदकृत्य किया है, उसी प्रकार से यहाँ अतिव्याप्ति दोष दूर होता है किन्तु वास्तव में अव्याप्तिदोष, अतिव्याप्तिदोष से ज्यादा बलवान् होने से उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए। अत एव दो नञ् का सार्थक्य बताकर लक्ष्य के एकदेश में इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है, ऐसी शंका दूर हो सकती है।

उसके स्थान पर 'नाव्यवधानमित्यत्र नञ्द्वयोपादानं किमर्थम्' इस प्रकार प्रश्न करके, उपर्युक्त बात सिद्ध की जाती तो अच्छा होता, ऐसी श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यता है। उन्होंने यही अर्थ इस प्रकार/निम्नोक्त प्रकार से सिद्ध किया है।

'नाव्यवधानम्' में दो नञ् का ग्रहण अवर्जनीय व्यवधान का ग्रहण करने के लिए है। अतः जहाँ अव्यवधान हो और सूत्र की प्रवृत्ति संभवित हो वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः 'ज्युंङ् गतौ' धातु से प्रेरक में इच्छादर्शक रूप करने पर 'जुज्यावयिषति' रूप में 'जु' और 'या' के बीच 'ज्' का व्यवधान है। यहाँ निमित्त अवर्णान्त अन्तस्था 'या' है, कार्य 'जु' के 'उ' का 'इ' करना है, वही 'ओर्जान्तस्था'-४/१/६० से होता है। इस प्रयोग में 'ज्' का व्यवधान, व्यवधान ही माना जायेगा क्योंकि इस प्रकार के व्यवधानरहित 'यियविषति' इत्यादि प्रयोग प्राप्त है, अतः 'ज्' का व्यवधान आवश्यक नहीं है।

इस न्याय की आवश्यकता क्यों खडी हुई ? इसके बारे में विचार करने पर लगता है कि प्रत्येक व्याकरण में 'पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य' [सि. ७/४/१०४] और 'सप्तम्या पूर्वस्य' [सि. ७/४/१०५] जैसे परिभाषा सूत्र हैं। इन सूत्रों का अर्थ इस प्रकार है।

१. यदि किसी सूत्र में, किसी भी कार्य का पंचमी विभक्ति से निर्देश किया गया हो तो, वही कार्य, पंचमी से निर्दिष्ट जो धातु या शब्द या वर्ण हो उससे अव्यवहित पर में आये हुए प्रत्यय, वर्ण या शब्द को होता है।

२. यदि किसी सूत्र में, किसी भी कार्य का सप्तमी विभक्ति से निर्देश किया गया हो तो वही कार्य, सप्तमी निर्दिष्ट शब्द या प्रत्यय या वर्ण से अव्यवहित पूर्व में आये हुए शब्द, धातु या वर्ण को होता है।

ऊपर बताया उसी प्रकार के अर्थ से किसी भी कार्य, अव्यवहित पूर्व या पर को ही होता है किन्तु जब किसी सूत्र से होनेवाला कार्य निमित्त और निमित्ति के बीच, व्यवधानराहित्य संभवित

ही न हो, तो वहाँ यह न्याय, एक वर्ण के व्यवधान की अनुज्ञा/सम्मति देता है ।

क्या इन दोनों परिभाषासूत्रों की वास्तव में प्रत्येक स्थान पर प्रवृत्ति होती है ? इसके बारे में विचार करने पर लगता है कि 'लघोरुपान्त्यस्य' ४/३/४ सूत्र में पूर्व के 'नामिनो गुणोऽक्ङिति' ४/३/१ सूत्र में से 'अक्ङिति' की अनुवृत्ति होती है और वह प्रत्यय का विशेषण है तथा सप्तमी से निर्दिष्ट है, अतः जिस लघुनामी स्वर का गुण करना है, वह अकित् अङित् प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व में होना चाहिए, किन्तु 'लघोरुपान्त्यस्य' ४/३/४ सूत्र में उपान्त्यस्य विशेषण से लघुनामी स्वर और प्रत्यय के बीच एक व्यंजन का व्यवधान अवश्य आयेगा । अतः यहाँ परिभाषा सूत्र का स्पष्टतया बाध होता है । यदि परिभाषा सूत्र का बाध न माना जाय तो विधिसूत्र की व्यर्थता प्रतिपादित होती है । यही परिभाषाबाध और विधिवैयर्थ्य दो में से एक भी इष्ट नहीं है । अत एव यह न्याय बनाया गया है ।

इस प्रकार 'स्वरादुतो गुणादखरोः' २/४/३५ सूत्र से स्वर से पर में तुरत 'उ' हो, ऐसा गुणवाचक शब्द एक भी प्राप्त नहीं है, अतः यहाँ विधिशास्त्र की व्यर्थता होती है । और यदि एक वर्ण के व्यवधानयुक्त का इस न्याय के बिना स्वीकार करने पर 'पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य' ७/४/१०४ का बाध होता है, वह न हो इसलिए इस न्याय का आश्रय किया गया है ।

मेरी दृष्टि से 'स्वरादुतो' और 'अखरोः' जैसे इस न्याय का ज्ञापक बनते हैं वैसे 'लघोरुपान्त्यस्य' ४/३/४ सूत्रगत 'उपान्त्यस्य' शब्द भी ज्ञापक बन सकता है ।

अन्य वैयाकरणों ने इस न्याय का आश्रय किया है, किन्तु न्याय के स्वरूप में उल्लेख नहीं किया है ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी बताते हैं ।

परिभाषासंग्रह देखने पर प्रतीत होता है कि यह न्याय परिभाषा के क्षेत्र में सब से प्राचीन माना गया व्याडि के परिभाषासूचन, शाकटायन, और जैनेन्द्रपरिभाषावृत्ति में भी प्राप्त है किन्तु सिद्धहेम के पश्चात्कालीन किसी भी परिभाषासंग्रह में यह न्याय नहीं है ।

व्याडि के परिभाषासूचन में इस न्याय का ज्ञापक इस प्रकार बताया है । 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' [पा. सू. ७/३/७४] सूत्र में 'श्यन्' प्रत्यय पर में होने पर 'शम्' आदि धातुओं के स्वर दीर्घ होते हैं । 'शम्' आदि का, षष्ठी के बहुवचन के 'आम्' से निर्देश किया होने से 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ सूत्र से अन्त्य का दीर्घ करना है, यहाँ अन्त्य 'म्' है, उसका दीर्घ किसी भी प्रकार संभव नहीं है तथा 'श्यनि' में सप्तमी से निर्देश किया गया होने से उससे अव्यवहित पूर्व के वर्ण का ही दीर्घ होता है और उसके अव्यवहित पूर्व में 'म्' है । अतः वहाँ 'शम्' आदि में इस न्याय से उपान्त्य स्वर दीर्घ होता है ।

श्रीलावण्यसूरिजी यह न्याय अपूर्व अर्थ नहीं बताता है, ऐसा कहकर इसकी स्पष्टता इस प्रकार करते हैं । यह 'स्वरादुतो-' २/४/३५ सूत्र में स्वर से पर में 'उ' हो, ऐसे गुणवाचक शब्द का ग्रहण किया है, इससे यह ज्ञात होता है कि पूर्व के स्वर की मात्रा के समान मात्रायुक्त वर्ण का, 'उ' के

लिए अव्यवधायकत्व होता है । अतः 'मृदु' में स्थित पूर्व ऋ की मात्रा के समान मात्रा 'दु' की है। यहाँ अकेले 'उ' की भी एक मात्रा है और 'दु' की भी एक ही मात्रा मानी जाती है । अतः वह इस न्यायानुसार व्यवधान नहीं माना जायेगा । यदि दो व्यञ्जनों का व्यवधान आये तो डेढ मात्रायुक्त 'दु' माना जायेगा, तो वह अधिक मात्रायुक्त व्यवधान होने से अव्यवधान नहीं माना जायेगा ।

॥ ७१॥ ऋकारापदिष्टं कार्यं लृकारस्यापि ॥ १४ ॥

ऋकार से अपदिष्ट कार्य लृकार को भी होता है ।

उदा. 'कृपौङ् सामर्थ्ये' धातु से 'सन्' प्रत्यय होने पर 'वृद्भ्यः स्यसनोः' ३/३/४५ से परस्मैपद में 'चिक्लृप्सति' होगा । यहाँ कृप् धातु के ऋ का लृ निर्निमित्त होने से प्रथम 'ऋर लृलं कृपोऽकृपीटादिषु' २/३/९९ सूत्र से लृ होगा, बाद में 'सन्यङश्च' ४/१/३ से द्वित्व होगा तब 'ऋतोऽत्' ४/१/३८ से 'ऋ' के स्थान पर हुए 'लृ' का भी 'अत्' आदेश होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक 'दूरादामन्त्र्यस्य'...७/४/९९ सूत्र में 'ऋ' को छोड़कर अन्य स्वरों का प्लुतत्व करने का विधान करके पुनः 'लृ' का ग्रहण किया है, वह है । क्योंकि इस न्याय से 'ऋ' का निषेध करने पर, 'लृ' का भी निषेध हो जाता है किन्तु 'लृ' को प्लुतविधि करनी होने से, इसका पुनः ग्रहण किया है ।

यह न्याय चंचल है । अतः 'ऋलृति ह्रस्वो वा' १/२/२ में 'ऋ' और 'लृ' दोनों का ग्रहण किया है । यह न्याय नित्य होता, तो केवल 'ऋति ह्रस्वो वा' सूत्र बनाया होता तो चल सकता ।

'दूरादामन्त्र्यस्य'-७/४/९९ सूत्र की वृत्ति में यह न्याय थोड़ी-सी भिन्न रीति से बताया गया है । उसमें 'ऋवर्णग्रहणे लृवर्णस्यापि' कहा है, किन्तु लृकार प्रायः कहीं भी प्रयुक्त नहीं पाया जाता है, अतः 'ऋर लृलं कृपोऽकृपीटादिषु' २/३/९९ सूत्र के न्यास में 'ऋकारापदिष्टं लृकारस्यापि' पाठ प्राप्त होने से, यहाँ ऐसा कहा है ।

यह न्याय सिद्धहेम व्याकरण को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है, क्योंकि अन्य वैयाकरणों ने ऋवर्ण और लृवर्ण की परस्पर सवर्ण संज्ञा मानी है, अतः उनके मत से ऋवर्ण को उद्देश्य बनाकर कहा गया कार्य लृवर्ण से स्वाभाविक ही हो जाता है, जबकि सिद्धहेम की परम्परा में ऋवर्ण और लृवर्ण के स्थान भिन्न भिन्न होने से स्व संज्ञा नहीं की है, अत एव लृकार के स्थान में होनेवाले आदेशों को ऋवर्ण से भिन्न करके बता दिये हैं । उदा. अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल् १/२/६ से लृ वर्ण का 'अल्' आदेश किया है । और 'लृत्याल् वा' १/२/११, में लृ वर्ण का वृद्धि रूप 'आल्' आदेश किया है । सिद्धहेम की परम्परा में 'लृ' का दीर्घ है अर्थात् लृकार का भी अस्तित्व है, अतः 'क्लृ + लृकारः' की सन्धि 'क्लृकारः' भी होती है किन्तु अन्य व्याकरणानुसार अर्थात् पाणिनीय इत्यादि में 'ऋ' और लृ वर्ण की स्व संज्ञा द्वारा जो कार्य होते हैं, वे कार्य इस व्याकरण में अन्य विशेष प्रकार से सिद्ध किये हैं । अतः स्व संज्ञा का कोई फल नहीं है तथापि 'अचिक्लृपत्' जैसे प्रयोग में लृत्वविधि अनिमित्तक और अन्तरङ्ग होने से प्रथम होगी, और द्वित्व इत्यादि प्रत्यय-

निमित्तक होने से बहिरङ्ग है । अतः यदि लृत्वविधि प्रथम होगी तो द्वित्व होने के बाद पूर्व के लृ का 'ऋतोऽत्' ४/१/३८ से 'अ' करने के लिए यह न्याय है ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय के बारे में कहते हैं कि केवल 'अचिक्लृपत्' जैसे शायद एक ही प्रयोग के लिए योगारम्भ (नया सूत्र या नया न्याय) प्रयुक्त नहीं होता है । अतः ऐसे प्रयोग के लिए 'ऋतोऽत्' ४/१/३८ सूत्र में भी लृकार का भी ग्रहण किया होता तो 'दूरादामन्त्र्यस्य' .....७/४/९९ सूत्र में भी लृकार का ग्रहण आवश्यक नहीं रहता या पाणिनीय परम्परा की तरह 'ऋर लृलं कृपोऽकृपीटादिषु' २/३/९९ सूत्र असदधिकार में कह दिया होता तो, चल सकता था क्योंकि लृकार पर कार्य करते समय असद् हो जाता तो 'लृ' को 'ऋ' मानकर उसका 'अ' निःसंकोच किया जा सकता और ऐसा करने पर, इस न्याय/बात के ज्ञापक के रुप में 'दूरादामन्त्र्यस्य'....७/४/९९ में लृकार का ग्रहण किया है, वही न करना होता ।

उस प्रकार उपर्युक्त प्रयोग की सिद्धि हो सकती है, तथापि वह आचार्यश्रीहेमचन्द्रसूरिजी के वचन के खिलाफ है । अतः उसका अस्वीकार करना चाहिए क्योंकि आचार्यश्री ने स्वयं 'ऋर लृलं कृपोऽकृपीटादिषु' २/३/९९ तथा 'दूरादामन्त्र्यस्य'...७/४/९९ सूत्रों में इस न्याय का विधान किया है ।

दूसरी बात यह कि ये न्यायसूत्र, प्रत्येक व्याकरण में सर्वसामान्य हैं, ऐसा उन्होंने कहा है । अतः ऐसे न्याय की उनको कोई आवश्यकता न होने पर भी, अन्य परम्परा में यह न्याय है, ऐसा ज्ञापन करने के लिए 'ऋर लृलं'-२/३/९९ तथा 'दूरादामन्त्र्यस्य'.....७/४/९९ सूत्रों में इस न्याय का कथन किया है, ऐसा समझना और वही उनको भी मान्य है ही ।

यदि इस न्याय का स्वीकार किया जाय तो 'ऋलृति ह्रस्वो वा' १/२/२ सूत्र में 'ऋ' और 'लृ' दोनों के ग्रहण में व्यर्थता आती है । अतः इस न्याय को अनित्य मानना आवश्यक है । इस अनित्यता के फलस्वरूप 'गम्लृं' आदि के षष्ठी बहुवचन में 'आम्' का 'नाम्' आदेश होने पर 'ह्रस्वापश्च' १/४/३२ से दीर्घ लृकार होगा क्योंकि सिद्धहेम में दीर्घ लृकार भी माना गया है और 'गम्लृनाम्' आदि और 'प्रक्लृप्यमान' इत्यादि प्रयोग में ऋवर्ण से विहित णत्व विधि नहीं होगी । यद्यपि 'वर्णैकदेशोऽपि वर्णग्रहणेन गृह्यते' न्याय से 'ल्' के व्यवधान के कारण णत्व विधि नहीं होगी, ऐसा कह दिया है, तथापि इस न्याय से संपूर्ण 'लृ' वर्ण को 'ऋ' वर्ण मानकर जो णत्व विधि होनेवाली है, वह यह न्याय अनित्य होने से नहीं होगी ।

॥ ७२॥ सकारापदिष्टं कार्यं तदादेशस्य शकारस्यापि ॥१५॥

सकार को उद्देश्य बनाकर कहा गया कार्य उसके आदेश शकार को भी होता है ।

'तदादेशस्य' शब्द द्वारा ज्ञात होता है कि यह पूर्वोक्त (५७ न्यायगत) 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः॥' न्याय का ही प्रपंच/विस्तार है । अतः वस्तुतः जो सकार का आदेश रूप शकार है, वह 'भूतपूर्वक'.....न्याय से सकार ही माना जाता है । वही इस न्याय का तात्पर्यार्थ है ।

उदा. 'षस्च गतौ' । यहाँ 'षः सोऽष्ट्यैष्ठिवष्वस्कः' २/३/९८ से 'ष' का 'स' होगा और 'सस्य शषौ' १/३/६१ से 'स्च्' के 'स्' का 'श्' होगा, अर्थात् धातु 'षस्च्' में से 'सश्च्' होगा, बाद में 'यङ्' प्रत्यय होकर, उसका लोप होने पर 'सासश्च' होगा । ह्यस्तनी का 'दिव्' प्रत्यय होने पर, उसका 'व्यञ्जनाद्देः'....४/३/७८ से लोप होगा और 'अड् धातोरादि'....४/४/२९ से अट् आगम होगा और 'असासश्च्' होगा । इसमें स्थित 'श्', 'स्' का आदेश होने से उसका 'संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्' २/१/८८ से लोप होगा और 'चजः कगम्' २/१/८६ से 'च्' का 'क्' होकर, 'असासक्' रुप सिद्ध होगा ।

'स्' के आदेश 'श्' को ही 'स्' सम्बन्धित कार्य होता है किन्तु स्वाभाविक 'श्' को 'स्' सम्बन्धित कार्य नहीं होता है । उदा. 'भवान् शेते ।' यहाँ 'श' का 'ङ्नः सः'....१/३/१८ से 'त्स' या 'त्श' नहीं होगा ।

इस न्याय का ज्ञापन 'ङ्नः सः त्सोऽश्चः' १/३/१८ में 'श्च' का वर्जन किया है, उससे होता है । वह 'भवान्श्च्योतति' इत्यादि में 'श' का 'त्स' न हो इसलिए (श्च का वर्जन किया) है । यदि यह न्याय न होता तो 'श' का 'त्स' होने की प्राप्ति ही नहीं है क्योंकि 'ङ्नः सः त्सोऽश्चः' १/३/१८ सूत्र में 'सः' कहा है, जबकि 'भवान्श्च्योतति' इत्यादि में 'श' है, वैसा होने पर भी यहाँ 'श्च' का वर्जन किया, वह इस न्याय का ज्ञापन करता है ।

वस्तुतः 'श्च' के वर्जन से 'सकारापदिष्टं कार्यं शकारस्यापि' खंड/भाग का ज्ञापन होता है किन्तु 'तदादेशस्य' के साथ संपूर्ण न्याय का ज्ञापन नहीं होता है क्योंकि 'श्च' में जो 'श्' है, वह अविशिष्ट है अर्थात् वह 'स' के आदेश रुप ही 'श' है ऐसा नहीं है । अतः 'तदादेशस्य' अंश का दूसरा ज्ञापक खोजना चाहिए, इसी शंका का प्रत्युत्तर देते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यही ज्ञापक पूर्ण न्याय का ज्ञापन कराने में समर्थ होने से, अन्य ज्ञापक खोजने की आवश्यकता नहीं है । वह इस प्रकार है :- 'अश्च' के द्वारा 'श्च्योतति' इत्यादि सम्बन्धी 'श्च' का वर्जन किया है, किन्तु अन्य किसी 'श्च' का वर्जन नहीं होता है क्योंकि 'श्च्योतति' इत्यादि प्रयोग को छोडकर कहीं भी 'श्च' प्राप्त नहीं है और वही 'श्च' में स्थित 'श्', 'स' का ही आदेश है क्योंकि वह 'श', 'सस्य शषौ' १/३/६१ सूत्र से हुआ है । अतः 'श्च' में स्थित सकार के आदेशरुप 'श' कार को सकार सम्बन्धित कार्य का निषेध 'श्च' के वर्जन से होता है । अतः 'अश्च' कहने से पूर्ण न्याय का ज्ञापन होता है ।

इस न्याय की चञ्चलता/अनित्यता दिखायी नहीं पडती है ।

इस न्याय के ज्ञापक 'अश्चः' के बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरि कहते हैं कि 'अश्चः' कहने से लक्षणा से 'श्च्योतति' इत्यादि के शकार का वर्जन होता है, तथापि, शब्दतः उसका वर्जन नहीं होता है अतः 'अश्चः','सकारापदिष्टं कार्यं शकारस्यापि' भाग का ज्ञापन कर सकता है, किन्तु 'तदादेशस्य' भाग का ज्ञापन कर सकने में समर्थ नहीं है । इसका कारण बताते हुए, वे कहते हैं कि 'अश्चः' शब्द द्वारा उपस्थापित जो अर्थ है, उसी अर्थ का ही 'अश्चः' द्वारा ज्ञापन करने में औचित्य है किन्तु, उसी अर्थ के अर्थ का अर्थात् परंपरित प्रयोजन (अर्थ) का ज्ञापन करने में, वह समर्थ

नहीं हो सकता है क्योंकि वह 'अश्चः' शब्द शाब्दबोध का विषय है और पद, वाक्य इत्यादि का विवेचन करनेवाले वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि शाब्दबोध में शब्द का उपस्थित जो अर्थ या शब्द द्वारा प्रकट होनेवाला जो अर्थ, उसका ही ज्ञापन होता है । अत एव 'तदादेशस्य' अंश का ज्ञापकत्व बताने के लिए, न्यायवृत्ति में जैसा बताया है वैसा ही उपाय बताया है ऐसा प्रतीत होता है ।

यद्यपि 'सिद्धहेम बृहद्वृत्ति' में केवल 'शकारस्य सकारोपदिष्टं कार्यं विज्ञायते' कहा है, किन्तु 'तदादेशस्य' कहा नहीं है तथापि 'भवान्शेते' में 'त्स' आदेश न हो, इसलिए 'तदादेशस्य' कहना आवश्यक है ।

न्यासकार ने इस न्याय को किंचित् भिन्न प्रकार से बताया है । वह इस प्रकार है । 'ङ्नः सःत्सोऽश्चः' १/३/१८ सूत्र में बताये हुए प्रत्युदाहरण, 'षट्श्च्योतति' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'दन्त्यापदिष्टं कार्यं तालव्यस्यापि भवति, परं दन्त्यस्थाननिष्पन्नस्य न तु सर्वस्य ।' यहाँ तदादेशस्य के स्थान पर वैसे ही अर्थयुक्त वाक्य रखा गया है ।

'अश्चः' संपूर्ण न्याय के ज्ञापक के रूप में किस प्रकार मान्य हो सकता है, उसका उपाय बताते हुए वे कहते हैं कि 'श्च' की प्रवृत्ति 'श्च्योतति' इत्यादि को छोड़कर कहीं भी प्राप्त नहीं है, वही बात सही है । अतः 'श्च' को 'श्च्योतति' आदि में स्थित 'श्च' का ही अनुकरण मानने पर इस 'श्च' के वर्जन को संपूर्ण न्याय का ज्ञापक माना जा सकता है अर्थात् 'तदादेशस्य' अंश का भी वह ज्ञापक बनता है ।

कुछेक वैयाकरण के मतानुसार प्रक्रियाभेद करने पर, इस न्याय की कोई आवश्यकता नहीं है, वे कहते हैं कि यद्यपि सब को 'स' के स्थान पर हुए 'श' को भी 'स' की तरह कार्य करना ही इष्ट है, अतः उनको सूत्र की व्यवस्था/स्थापना ही इस प्रकार से करनी चाहिए कि, जिससे सकार को उद्देश्य बनाकर कहा हुआ कार्य करते समय 'श' असत् हो जाय और वही सकार ही है, ऐसा मानकर कार्य हो ।

सिद्धहेम व्याकरण में यद्यपि 'सस्य शषौ' १/३/६१ सूत्र में 'र्हादर्हस्वरस्यानु नवा' १/३/३१ सूत्र से 'अनु' पद की अनुवृत्ति आती है । अतः 'प्राप्यमाण' अर्थात् धातु या नाम सम्बन्धित सर्व कार्य करने के बाद ही 'स' का 'श' करना चाहिए, ऐसा करने से 'असासक्, मधुक्, मूलवृट्' इत्यादि प्रयोग में 'स' का 'श' करने से पूर्व/पहले ही 'संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्' २/१/८८ से 'स' का लोप होगा और रूप सिद्धि होगी । इस प्रकार प्रत्येक प्रयोग में इस न्याय की प्रवृत्ति बिना ही प्रयोगसिद्धि होती है ।

यही बात श्रीहेमहंसगणि ने न्यास में बतायी है । वे कहते हैं कि इस प्रकार ऐसे उदाहरणों से इस न्याय की प्रवृत्ति उचित नहीं है, किन्तु श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने धातुपारायण में इस न्याय की प्रवृत्ति की है, अतः हमने भी वैसा किया है । जबकि श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि ऊपर बताया उसी प्रकार से इस न्याय के बिना भी उपर्युक्त प्रयोग की सिद्धि होती है तथापि 'अश्चः' पद के आधार पर, अनुमित इस न्याय की प्रवृत्ति करने में कोई बाध प्रतीत नहीं होता है ।

दूसरी शंका यह पैदा होती है कि, इस प्रकार, इस न्याय का कोई फल ही न हो तो उसके 'अश्वः' पद का त्याग करना चाहिए, अर्थात् केवल 'इनः सः त्सः' सूत्ररचना करनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि 'आचार्याः कृत्वा न निवर्तन्ते' न्याय भी है ।

किसीको यहाँ शंका होती है कि 'श्च्योतति' इत्यादि में सकार का शकार आदेश करना और बाद में 'अश्चः' कहकर उसे दन्त्य 'स' सम्बन्धित कार्य करने का निषेध करना उसके स्थान पर पाठ में ही तालव्य श कह देना चाहिए जिससे प्रक्रिया लाघव भी हो किन्तु ऐसा करना उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि ऐसा करने से 'मधु श्च्योतति इति क्विप्' करने से 'मधुश्च्युत्' होगा और 'तं आचष्टे' विग्रह करके 'णिच्' प्रत्यय होने पर 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से अन्त्यस्वरादि का लोप होगा बाद में पुनःक्विप् करने पर 'णिच्' का लोप होगा, और 'सि' प्रत्यय होगा, उसका भी लोप होने पर 'य्वोऽशिति' ४/३/८१ से 'य' का लोप होगा । बाद में 'संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्' २/१/८८ से 'श्च' के 'श्' का 'स' मानकर लोप करने पर 'चजः कगम्' २/१/८६ से 'च' का 'क' करने पर 'मधुक्' रूप होगा किन्तु यदि तालव्य 'श' का ही धातुपाठ में पाठ किया जायेगा तो 'मधुक्' के स्थान पर 'मधुड्' रूप होगा जो अनिष्ट है । अतः धातुपाठ में सोपदेश धातु करना आवश्यक है । और इस न्याय का ज्ञापक न हो तो 'स' के आदेश 'श' को सकारापदिष्ट कार्य हो या न हो, इसकी आशंका बनी ही रहती है, उसे दूर करने के लिए 'अश्चः' शब्द द्वारा 'श्च' में स्थित 'श' का वर्जन किया है और वही वर्जन ही इस न्याय का ज्ञापक बनता है, यही बात सिद्धहैमबृहद्वृत्ति में बतायी गई है ।

न्यासकार ने ऊपर बताया उसी प्रकार 'दन्त्यापदिष्टं कार्यं तालव्यस्य भवति परं दन्त्यस्थान-निष्पन्नस्य न तु सर्वस्य' न्याय बताया है और उसके ज्ञापक के रूपमें उपदेश अवस्था में किये गए दंत्यपाठ को ही बताया है । वे कहते हैं कि इस प्रकार 'श्च' के वर्जन के स्थान पर, पाठ में ही तालव्य 'श' का उपदेश करना चाहिए । किन्तु यदि यह न्याय न होता तो, दन्त्यपाठ निरर्थक बनता है । और दन्त्यपाठ का इस न्याय को छोड़कर अन्य कोई प्रयोजन भी नहीं है ।

इन दोनों मान्यताओं का समन्वय करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि दोनों की मान्यताएँ सही हैं और दोनों ज्ञापक भी उचित हैं ।

श्रीहेमहंसगणि ने न्यास में दूसरी भी एक बात बतायी है कि साहित्य के क्षेत्र में कवियों और आलंकारिको को श्लेष अलंकार में 'श' और 'स' समान मान्य है अर्थात् जब एक ही शब्द के दो भिन्न भिन्न अर्थ करने हों तब स (दन्त्य) को श (तालव्य) और तालव्य 'श' को दन्त्य 'स' माना जाता है ।

उदा. आदौ धनभवे येन घृतमेधायितं तथा
जज्ञे यथोर्वीशस्यश्री श्रीनाभेयः स वः श्रियै ॥

यहाँ उर्वीशस्य श्री अर्थात् राजा की शोभा/लक्ष्मी, उर्वी अर्थात् बड़ी/महा सस्यश्री अर्थात् धान्य की संपत्ति स्वरूप शोभा ।

यह न्याय भी अन्य किसी भी परिभाषासंग्रह में संगृहीत नहीं है ।

॥ ७३ ॥ ह्रस्वदीर्घापदिष्टं कार्यं न प्लुतस्य ॥ १६ ॥

ह्रस्व या दीर्घ को उद्देश्य बनाकर कहा गया कार्य प्लुत को नहीं होता है ।

प्लुत स्वर हमेशां ह्रस्व या दीर्घ के स्थान पर ही होता है । अतः 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' न्याय से वही प्लुत स्वर भी ह्रस्व या दीर्घ कहा जाता है । अतः ह्रस्व या दीर्घ शब्द का उच्चार करके कहा गया कार्य प्लुत को भी हो सकता है । इसका निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

ह्रस्वापदिष्ट कार्य इस प्रकार है - 'हे राज ३ निह'। यहाँ 'दूरादामन्त्र्यस्य ' ...७/४/९९ पर और नित्य होने से प्लुतविधि पहले होगी, बाद में प्लुत 'अ' के बाद आये हुए 'न्' का 'ह्रस्वान्ङणनो द्वे' १/३/२७ से द्वित्व नहीं होगा ।

इस न्याय के इस अंश का ज्ञापक, 'ह्रस्वान्ङणनो-' १/३/२७ में 'ह्रस्वात्' इस प्रकार सामान्य से ह्रस्व का विधान किया गया है, वह है क्योंकि यहाँ प्लुत न हो ऐसे ही ह्रस्व से पर आये हुए 'ङ, ण, न' का द्वित्व इष्ट है किन्तु प्लुत हो ऐसे ह्रस्व से पर आये हुए 'ङ, ण, न' का द्वित्व इष्ट नहीं है, तथापि सूत्र में सामान्य से ह्रस्व का विधान किया गया वह इस न्याय के अस्तित्व के कारण ही ।

दीर्घापदिष्टकार्य इस प्रकार है :-

'अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने' १/३/३२ में दीर्घ का वर्जन करने पर भी दीर्घ के स्थान पर हुए प्लुत का, इस न्याय के कारण वर्जन नहीं होता है अतः 'हे गो३ त्रात, हे गो३ त्त्रात' में दीर्घ के स्थान पर हुए प्लुत से पर आये हुए तकार का 'अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने' १/३/३२ से ही द्वित्व होगा ।

इस न्यायांश का ज्ञापक 'प्लुताद्वा' १/३/२९ सूत्र है । वह इस प्रकार है । 'अनाङ्माङो दीर्घाद्वा च्छः'१/३/२८ सूत्र से दीर्घ के स्थान पर हुए प्लुत से पर आये हुए 'छ' का द्वित्व सिद्ध हो ही जाता था तथापि दीर्घ के स्थान पर हुए प्लुत से पर आये हुए 'छ' का द्वित्व करने के लिए 'प्लुताद्वा'१/३/२९ किया क्योंकि इस न्याय के कारण दीर्घ शब्द से निर्दिष्ट कार्य दीर्घ के स्थान पर हुऐ प्लुत को नहीं होता है । अतः 'अनाङ्माङो दीर्घाद्वा च्छः' १/३/२८ से दीर्घ के स्थान पर हुए प्लुत से पर आये हुए 'छ' का द्वित्व नहीं होगा । अत एव दीर्घ के स्थान पर किये गये प्लुत से पर आये हुए 'छ' का द्वित्व करने के लिए 'प्लुताद्वा' १/३/२९ सूत्र किया है । उदा. आगच्छ भो इन्द्रभूते ३ च्छत्रमानय, आगच्छ भो इन्द्रभूते ३ छत्रमानय ।' यहाँ दीर्घ के स्थान पर हुए प्लुतस्वर 'इन्द्रभूते३' में 'ए३' है उससे पर आये 'छ' का विकल्प से द्वित्व 'अनाङ्माङो दीर्घाद्वा च्छः' १/३/२८ से नहीं होगा किन्तु 'प्लुताद्वा' १/३/२९ से ही होगा ।

इस न्याय की अनित्यता मालूम नहीं पडती है ।

इस न्याय के ह्रस्वांश में ज्ञापक के रूप में श्रीहेमहंसगणि ने 'ह्रस्वान् ङणनो द्वे' १/३/२७ में 'ह्रस्वान्' इस प्रकार सामान्योक्ति की गई है इसको बताया है । इस बात का श्रीलावण्यसूरिजी स्वीकार नहीं करते हैं । वे कहते हैं कि सामान्योक्ति करने से, प्लुत रूप का ग्रहण इष्ट नहीं है, ऐसा

लक्ष्यैकचक्षुष्कवैयाकरण के लिए सुज्ञेय है, तथापि यह बात अपने/हमारे जैसे लक्षणैकचक्षुष्क लोक के लिए दुर्ज्ञेय होने से और आचार्यश्री ने स्वयं, वैसा अर्थ नहीं कहा है, अतः इस अंश का अन्य ज्ञापक खोजना चाहिए या 'दीर्घांश' के ज्ञापक द्वारा ही 'एकदेशानुमत्या' संपूर्ण न्याय का ज्ञापन होता है, ऐसा मानना चाहिए ।

'हे बटो ३ एहि' इत्यादि प्रयोग में इस न्याय के अनित्यत्व की कल्पना की गई है किन्तु वह सही नहीं है । श्रीहेमहंसगणि ने न्यास में उसका खंडन करते हुए कहा है कि 'हे बटु + सि', स्थिति में, 'बटु' के 'उ' का 'दूरादामन्त्र्यस्य-' ७/४/९९ पर होने से प्रथम प्लुत होगा और बाद में 'ह्रस्वस्य गुणः' १/४/४१ से 'उ' का गुण होगा, किन्तु यह बात सही नहीं है । गुण प्रथम होता है और प्लुतविधि बाद में होगी क्योंकि 'ह्रस्वस्य गुणः' १/४/४१ से होनेवाला गुण, केवल आमन्त्र्यनिमित्तक है, अतः वह अन्तरङ्ग कार्य है , जबकि प्लुतविधि 'दूरादामन्त्र्य' निमित्तक है, अतः वह बहिरङ्ग है । अत एव 'परादन्तरङ्गं' न्याय से गुण ही प्रथम होगा, किन्तु प्लुतविधि प्रथम नहीं होगी । अतः इस प्रयोग के लिए यह न्याय अनित्य है ऐसा न कहना चाहिए ।

यह न्याय अन्य किसी भी परिभाषाग्रंथ में उपलब्ध नहीं है । अतः इस न्याय का स्वीकार किया जाय या नहीं, यह एक प्रश्न है । श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय का पूर्णतः अस्वीकार करते हैं । इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि इस न्याय का कोई फल नहीं है और इसका कोई ज्ञापक भी नहीं है । ह्रस्वांश में जो फल बताया गया है कि 'हे राज ३ निह' में 'ह्रस्वान्ङणनो द्वे' १/३/२७ से 'न' के द्वित्व का निषेध तथा 'प्लुताद्वा' १/३/२९ सूत्र की सार्थकता के लिए इस न्याय की कल्पना की गई है, परिणामतः 'हे गो ३ त्रात, हे गो ३ त्त्रात' इस प्रकार 'त्' का विकल्प से द्वित्व होता है । यही कार्य इस न्याय के बिना भी सिद्ध हो सकता है । वह इस प्रकार है ।

'हे राज ३ निह' प्रयोग में प्रथम 'राजन्' का स्वर 'अ' प्लुत होगा क्योंकि प्लुतविधि, पदान्तर (अन्य पद सम्बन्धित) स्वरनिमित्तक द्वित्व की अपेक्षा से अन्तरङ्ग है, जबकि द्वित्व बहिरङ्ग कार्य है । अतः प्लुतविधि प्रथम होने पर, ह्रस्व नहीं मिलेगा और द्वित्व नहीं होगा ।

इस प्रयोग में ऐसी शंका न करनी चाहिए कि 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' न्याय से, ह्रस्व मानकर द्वित्व की प्राप्ति होती है, उसे रोकने के लिए यह न्याय है । क्योंकि कोई भी न्याय इष्ट प्रयोग की सिद्धि के लिए ही होता है, अतः यदि न्याय से अनिष्ट प्रयोग सिद्ध होता हो, तो न्याय की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए । यहाँ यदि इस 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' न्याय की प्रवृत्ति करेंगे तो 'देवानिह' प्रयोग में भी उसकी प्रवृत्ति करके 'न' का द्वित्व करने की आपत्ति आयेगी और अत एव 'ह्रस्वान् ङणनो द्वे' १/३/२७ सूत्र के स्वोपज्ञशब्दमहार्णवन्यास में भी उन्होंने कहा है कि 'हे राज ३ न् इह' में 'राजन्' शब्द से आमन्त्र्य में 'सि' का लोप करने के बाद 'नामन्त्र्ये' २/१/९२ से 'न्' का लोप नहीं होगा । बाद में प्लुतविधि अन्तरङ्ग तथा पर होने से प्रथम प्लुत होगा ओर ह्रस्व का अभाव होने से द्वित्व नहीं होगा ।

यहाँ आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने स्वयं इस न्याय का आश्रय नहीं किया है ।

और इस न्याय के दीर्घांश के ज्ञापक 'प्लुताद्वा' १/३/२९ के बारे में विचार करने पर लगता

है कि दीर्घ और प्लुत की वास्तविक/यथार्थ भिन्नता बताने के लिए ही इसी सूत्र की रचना की गई है। 'प्लुताद्वा' १/३/२९ सूत्र के स्वोपज्ञशब्दमहार्णवन्यास में उन्होंने कहा है कि यदि दीर्घ और प्लुत दोनों वस्तुतः भिन्न हो तो, अनुवृत्त 'दीर्घाद्' पद और 'प्लुताद्' पद के बीच विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध किस प्रकार संभव है । उसका प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं कि दीर्घ द्विमात्रायुक्त और प्लुत त्रिमात्रायुक्त है । अतः दोनों के बीच सामान्याधिकरण्य अर्थात् विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध असंभवित होने पर भी 'मञ्चाः क्रोशन्ति' की तरह स्थान का उपचार करने से विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध हो सकता है । 'दीर्घोऽस्यास्ति स्थानित्वेन' इस प्रकार विग्रह करके 'अभ्रादित्वाद्'- 'अभ्रादिभ्यः' ७/२/४६ से 'अ' प्रत्यय होने पर दीर्घ शब्द से ही प्लुत का भी कथन होता है, अतः दोनों के बीच सामान्याधिकरण्य प्राप्त होता है ।

और इस प्रकार दीर्घ और प्लुत के बीच स्वाभाविक भिन्नता/भेद होने से ही दीर्घापदिष्ट कार्य प्लुत को नहीं होगा । अत एव पूर्व के 'अनाङ्माङो'......१/३/२८ सूत्र से 'छ' का द्वित्व प्राप्त नहीं होगा । इसी कारण से प्लुत से पर आये हुए 'छ' का द्वित्व करने के लिए 'प्लुताद्वा' १/३/२९ सूत्र करना आवश्यक है ।

इस प्रकार 'प्लुताद्वा' १/३/२९ सूत्र से इस न्याय का ज्ञापन नहीं हो सकता है तथापि शायद लघुन्यासकार के कथनानुसार यहाँ भी श्रीहेमहंसगणि ने इसी सूत्र को इस न्याय का ज्ञापक माना है किन्तु ऊपर बताया उसी प्रकार से उसका भी खंडन हो जाता है और 'एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः' १/१/५ सूत्र में स्थानी के रूप में तीन मात्रावाला स्वर लिया गया है, अतः स्वाभाविक संज्ञाभेद हो जाने से ह्रस्वापदिष्ट या दीर्घापदिष्ट कार्य प्लुत को कदापि नहीं होता है । अत एव इस न्याय का न्याय के स्वरूप में स्वीकार करना नहीं चाहिए, ऐसी अपनी मान्यता है ।

अन्यथा विद्वान् सज्जन अपनी-अपनी रीतिसे, इसके बारे में विचार करके निर्णय करें ।

॥ ७४ ॥ संज्ञोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं न तदन्तस्य ॥१७॥

संज्ञा सूत्र में और उत्तरपद के अधिकार सूत्र में प्रत्यय के ग्रहण से, केवल उसी प्रत्यय का ही ग्रहण करना किन्तु उसी प्रत्ययान्त शब्द का ग्रहण नहीं करना ।

सामान्यतया, जहाँ सूत्र में केवल प्रत्यय का ही ग्रहण हो, वहाँ उसी प्रत्ययान्त शब्द का ग्रहण किया जाता है । वस्तुतः प्रत्यय में ही प्रकृति का आक्षेप किया जाता है क्योंकि प्रत्यय हमेशां प्रकृति के साथ ही होता है, प्रकृति के बिना प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होती है । अतः अकेले प्रत्यय का ग्रहण किया हो, वहाँ तदन्त का ग्रहण होता है । उसका निषेध करने के लिए यह न्याय है और यह निषेध 'संज्ञाधिकार' और 'उत्तरपदाधिकार' में ही प्रवृत्त होता है ।

संज्ञाधिकार में प्रत्ययग्रहण से 'तदन्त' का ग्रहण नहीं होता है । वह इस प्रकार है :- उदा.'स्यादिर्विभक्तिः' १/१/१९ सूत्र का अर्थ, 'स्याद्यन्त और त्याद्यन्त को विभक्ति संज्ञा होती है, ऐसा नहीं करना किन्तु 'केवल, स्यादि और त्यादि प्रत्ययों को ही विभक्ति संज्ञा होती है,' इस प्रकार अर्थ करना ।

इस न्यायांश का ज्ञापक, संज्ञाधिकार में आये 'तदन्तं पदम्' १/१/२० सूत्र में 'अन्त' शब्द का ग्रहण है । यदि यह न्यायांश न होता तो , केवल 'सा पदम्' कहने से भी प्रत्यय में प्रकृति का आक्षेप हो जाता और तदन्तविधि की प्राप्ति हो ही जाती, तो 'अन्त' शब्द का प्रयोग क्यों किया जाय ? किन्तु यह न्यायांश होने के कारण संज्ञाधिकार में, तदन्तविधि प्राप्त नहीं होगी, ऐसी आशंका से ही सूरिजी ने 'तदन्तं पदम्' १/१/२० सूत्र में 'अन्त' शब्द का ग्रहण किया है । इस न्यायांश की चंचलता/अनित्यता प्रतीत नहीं होती है ।

उत्तरपदाधिकार में प्रत्यय ग्रहण से 'तदन्त' का ग्रहण नहीं होता है, वह इस प्रकार है :- 'न नाम्येकस्वरात् खित्युत्तरपदेऽमः' ३/२/९ से उत्तरपद का अधिकार शुरू होता है । उसी अधिकार में आये हुए 'कालात्तनतर' - ३/२/२४ सूत्र में आये 'तन, तर' इत्यादि से केवल 'तन तर' इत्यादि प्रत्यय का ही ग्रहण करना किन्तु वही 'तन, तर' इत्यादि प्रत्यय जिसके अन्त में आते हैं वैसे शब्दों का ग्रहण नहीं करना ।

(उदा. 'पूर्वाह्णेतनः पूर्वाह्णतनः' इत्यादि प्रयोग में 'तन' इत्यादि प्रत्यय पर में आने पर, सप्तमी का विकल्प से लुप् नहीं होता है । यहाँ 'कालात् तनतरतमकाले ३/२/२४ सूत्र में केवल 'तन, तर, तम' प्रत्यय ही लेना किन्तु उसी प्रत्ययान्त शब्द नहीं लेना ।)

इस न्यायांश का ज्ञापन, 'उत्तरपदाधिकार' में आये 'नवाऽखित्कृदन्ते रात्रेः' ३/२/११७ सूत्र स्थित 'अन्त' शब्द से होता है :- वह इस प्रकार है । यदि यह न्यायांश न होता तो यहाँ 'नवाऽखित्कृदन्ते रात्रेः ३/२/११७ में भी 'खित्कृति' कहा होता तो भी, प्रत्यय में प्रकृति का आक्षेप करके तदन्तविधि प्राप्त हो सकती थी ही, तथापि सूत्र में 'अन्त' शब्द का प्रयोग क्यों किया ? किन्तु यह न्यायांश होने की आशंका से ही 'तदन्त' विधि की प्राप्ति कराने के लिए अन्त शब्द का प्रयोग किया है ।

यह न्यायांश चटुल/अनित्य है । अतः 'नेन्सिद्धस्थे' ३/२/२९ सूत्र उत्तरपद के अधिकार में होने पर भी वहाँ 'इन्' प्रत्यय से 'इन्' प्रत्ययान्त शब्द का ग्रहण किया है । अतः 'स्थण्डिलशायी' इत्यादि प्रयोग में 'इन्'अन्तवाला 'शायिन्' शब्द पर में होने पर 'तत्पुरुषे कृति' ३/२/२० से प्राप्त सप्तमी के अलुप् का निषेध हुआ है । अतः सप्तमी का लुप् हुआ है ।

संज्ञा और उत्तरपद के अधिकार में, यदि प्रत्यय के ग्रहण से तदन्त का ग्रहण हो तो कैसी परिस्थिति पैदा होती, इसके बारे में स्पष्टीकरण करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यदि संज्ञाधिकार और उत्तरपद के अधिकार में 'तदन्त' का ग्रहण होता तो 'स्त्यादिर्विभक्तिः' १/१/१९ सूत्र से 'सि' और 'ति' आदि को विभक्ति संज्ञा होने के स्थान पर 'स्यन्त' और 'त्यन्त' शब्द को विभक्ति संज्ञा होती अर्थात् 'गृहं, पुत्राणाम्' इत्यादि को विभक्ति संज्ञा होगी । अतः 'तदन्तं पदम्' १/१/२० सूत्र से, वे जिसके अन्त में हैं, ऐसे 'काष्ठगृहं, युष्मत्पुत्राणाम्' इत्यादि को पदसंज्ञा होगी और संपूर्ण 'युष्मत्पुत्राणाम्' को स्याद्यन्त युष्मत् मानकर 'वस्' इत्यादि आदेश होने की आपत्ति आयेगी । ऐसी परिस्थिति का निवारण करने के लिए यह न्याय है ।

इस न्याय के ज्ञापक 'तदन्तं पदम्' १/१/२० सूत्र में 'अन्त' ग्रहण क्यों किया ? इसके बारे में स्पष्टता करते हुए श्रीहेमचन्द्रसूरिजी बृहन्न्यास में कहते हैं कि यदि 'अन्त' ग्रहण न किया जाय तो इस न्याय के कारण, सि इत्यादि को 'पद' संज्ञा हो जाय और तो 'अग्निषु' इत्यादि में 'सु' का 'स्' पद के मध्य में आने के बजाय पद की आदि में गिना जाय और अतः षत्व नहीं होगा, ऐसी शंका नहीं करनी, क्यों कि 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ७/४/११५ परिभाषा से तदन्तविधि प्राप्त हो सकती है। उसका प्रत्युत्तर देते हुए वे कहते हैं कि 'पद' संज्ञा में 'अन्त' का ग्रहण किया इससे ज्ञापित होता है कि संज्ञाप्रकरण में सर्वत्र तदन्तविधि नहीं होती है। अतः इसी सूत्र के पूर्ववर्ती सूत्र 'स्त्यादिर्विभक्तिः' १/१/१९ में 'तदन्त' की विभक्ति संज्ञा नहीं होगी। अन्यथा तदन्त की 'विभक्ति' संज्ञा हो जाय तो 'शेषाय युष्मद्वृद्धिहिताय नमः' इत्यादि में 'युष्मद्वृद्धिहिताय' का 'ते' आदेश होने की आपत्ति आयेगी। अतः 'अग्निषु' इत्यादि में केवल 'सु' इत्यादि प्रत्यय को 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ७/४/११५ परिभाषा से पद संज्ञा नहीं होगी।

इस न्याय के दो विभाग हैं, १. संज्ञाविधि में प्रत्यय के ग्रहण से, उसी प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं होता है। २. उत्तरपद के अधिकार में भी प्रत्यय के ग्रहण से उसी प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं होता है।

इसमें प्रथम संज्ञाविधि में प्रत्यय के ग्रहण से तदन्त का ग्रहण नहीं होता है, इस प्रकार केवल शब्दार्थ करने से 'नाम' संज्ञा विधायक 'अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम' १/१/२७ सूत्र में कथित 'विभक्ति' शब्द से 'विभक्त्यन्त का ग्रहण नहीं होगा किन्तु केवल 'विभक्ति' का ही ग्रहण होगा क्यों कि 'अधातुविभक्ति'...१/१/२७ सूत्र संज्ञाधिकार में है। अतः विभक्त्यन्त को 'नाम' संज्ञा होने पर, उसके अवयवस्वरूप स्यादि प्रत्यय का लोप करने की आपत्ति आयेगी। अतः विभक्त्यन्त को 'नाम' संज्ञा न हो, इस आशय से प्रस्तुत न्याय का शाब्दबोध किस प्रकार किया जाय, उसकी चर्चा करते हैं, उसके निष्कर्ष के रूप में कहते हैं कि-

'संज्ञानिष्ठविधेयतया साक्षान्निरूपिता योद्देश्यता तत्प्रयोजकं प्रत्ययबोधकं पदं, न तदन्त बोधकम्।' संज्ञा में स्थित जो विधेयता, उसी विधेयता द्वारा साक्षात् निरूपित जो उद्देश्यता, उसी उद्देश्यता का प्रयोजक ऐसा जो प्रत्यय, वह स्व का ही बोधक होता है, किन्तु प्रत्ययान्त का बोधक नहीं होता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'नाम' संज्ञा का विधान किया गया है। जो कोई शब्द अर्थवत् है, उसे उद्देश्य बनाकर यह विधान किया गया है तथा उद्देश्यता 'अर्थवत्' में है और प्रत्ययबोधक 'विभक्ति' पद से 'केवल विभक्ति के प्रत्यय' ऐसा अर्थ न लेकर 'विभक्त्यन्त' अर्थ लिया जायेगा, इससे कोई दोष पैदा नहीं होगा, किन्तु यही/ऐसा अर्थ करने से 'आऽतुमोऽत्यादिः कृत्' ५/१/१-संज्ञाधिकार सूत्र में 'अत्यादिः' से 'त्याद्यन्तभिन्न' अर्थ भी लिया जायेगा, जो इष्ट नहीं है। यहाँ उपर्युक्त समझौता अनुसार, 'कृत्' संज्ञा के उद्देश्य बननेवाले 'तुम्' पर्यन्त प्रत्यय होने से इसी उद्देश्य का प्रयोजक 'त्यादि' प्रत्यय नहीं है। अतः 'त्यादि' पद से 'त्याद्यन्त' का ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं आयेगी।

यही अनिष्टापत्ति दूर करने के लिए उपर्युक्त स्पष्टीकरण की अधिक स्पष्टता करते हुए कहा है कि जिस प्रत्यय को संज्ञा की गई हो वह प्रत्यय साक्षात् उद्देश्य बनता है और ऐसे स्थल पर प्रत्ययवाचक पद से तदन्त का ग्रहण नहीं होगा, ऐसा इस न्याय का अर्थ समझना चाहिए । जहाँ प्रत्यय की संज्ञा स्वयं उद्देश्य बनती हो, वहाँ तदन्त का ग्रहण हो सकता है ।

इस दृष्टि से कृदन्त और तद्धितान्त को 'नाम' संज्ञा प्राप्त करने में कोई आपत्ति/बाधा नहीं आयेगी ।

संज्ञा का उद्देश्य, प्रत्ययत्व व्याप्य धर्मयुक्त हो, वहाँ भी प्रत्ययवाचक पद से तदन्त का ग्रहण नहीं होगा । यहाँ कृत् के उद्देश्यस्वरूप 'तुम्' तक के प्रत्ययों में प्रत्ययत्व व्याप्य धर्म है । 'त्यादि' भी प्रत्यय है, अत एव 'त्यादि' यहाँ उद्देश्य का प्रयोजक बनता है, अप्रयोजक नहीं । परिणामतः 'त्यादिभिन्न' 'तुम्' तक के प्रत्यय 'कृत्' कहे जाते हैं ।

बृहन्न्यास में इस न्याय के बारे में कहा है कि संज्ञाधिकार में 'तदन्त' का ग्रहण नहीं होता है, अतः 'आतुमोऽत्यादिः कृत्' ५/१/१ सूत्र में त्यादि प्रत्ययों के वर्जन से तदन्त का वर्जन नहीं करना । अब 'अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम' १/१/२७ से केवल 'कृत्' और 'तद्धित' प्रत्ययों को ही 'नाम' संज्ञा हो सकेगी, किन्तु कृदन्त और तद्धितान्त को नाम संज्ञा नहीं होगी । परिणामतः 'छिद्, भिद्' स्वरूप 'क्विबन्त' की 'नाम' संज्ञा नहीं होगी, क्यों कि 'अधातु' से उसका निषेध हुआ है । 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' न्याय से भी यहाँ 'नाम' संज्ञा नहीं होगी क्यों कि प्रत्ययनिमित्तक जो कार्य होता है, वही कार्य प्रत्यय का लोप होने पर भी होता है, किन्तु उसी प्रत्यय से सम्बन्धित/ प्रत्यय का कार्य हो वही कदापि नहीं होता है क्यों कि कार्यि के स्वरूप में कदापि 'असत्' का स्वीकार नहीं होता है ।

कृत् और तद्धित की ही नाम संज्ञा होने से 'औपगवः' स्थल पर षष्ठी से ऐकार्थ्य नहीं होने से लोप नहीं होगा ।

इसी शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि यदि संज्ञी प्रत्यय हो तो 'तदन्त' की संज्ञा नहीं होती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्यय की जो संज्ञा की गई हो वह 'कृत्, तद्धित' आदि जिसके अन्त में हो ऐसे कृदन्त तद्धितान्त इत्यादि को दूसरी 'नाम' संज्ञा न हो । यह बात ऊपर बतायी गई है ।

'अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम' १/१/२७ में विभक्ति को छोड़कर अन्य शेष प्रत्यय जिनके अन्त में हो, ऐसे शब्दों को 'नाम' संज्ञा होती है, ऐसा बताया गया है और बृहद्वृत्ति में कहा है कि 'विभक्त्यन्त' के वर्जन से 'आप्' इत्यादि प्रत्ययान्त शब्दों को भी 'नाम' संज्ञा होती ही है और अनुक्रम से तद्धितान्त और कृदन्त के उदाहरण भी दिये गये हैं ।

बृहन्न्यास में भी कहा है कि जिन्होंने [पाणिनि इत्यादि ने] सामान्यतया प्रत्यय का वर्जन किया है, उसके लिए 'आप्' 'कृत्' 'तद्धित' इत्यादि प्रत्ययान्त शब्दों को नाम (प्रातिपदिक) संज्ञा

नहीं होती है । अत: उनको, उन्हीं शब्दों से स्यादि प्रत्यय करने के लिए अन्य विशेष प्रयत्न करना पड़ा है । जबकि यहाँ तो 'विभक्ति' के वर्जन से ही इसे छोड़कर अन्य शेष प्रत्ययान्त शब्दों को 'नाम' संज्ञा होती ही है ।

विशेष के निषेध से सामान्य में तदन्त की अनुज्ञा मिल जाती है ।

इस प्रकार विभक्त्यन्त के वर्जन से शेष अन्य प्रत्ययान्त शब्द में उसमें स्थित सामान्य अर्थवत्त्व के कारण 'नाम' संज्ञा होती है किन्तु कृदन्तत्व या तद्धितान्तत्व के कारण 'नाम' संज्ञा नहीं होती है क्यों कि उसमें स्वरूप से उद्देश्यता के उपस्थापक पदत्व का अभाव है । दूसरी बात यह कि यदि सूत्र का विधि या नियम या प्रतिषेधस्वरूप अर्थ होता हो तो, उसमें विधिस्वरूप अर्थ ही बलवान् होने से, वही अर्थ करना, इस प्रकार 'अविभक्ति' शब्द में पर्युदास नञ् का आश्रय करने से विभक्तिभिन्न, विभक्तिसदृश प्रत्ययान्त अर्थवान् शब्दों को 'नाम' संज्ञा होती है, इस प्रकार विधि स्वरूप अर्थ होगा, जबकि विभक्त्यन्त को 'नाम' संज्ञा नहीं होती है, ऐसा प्रतिषेधार्थक अर्थ नहीं होगा ।

'अधातु' शब्द का निषेधस्वरूप अर्थ ही हो सकता है, अतः धातु का वर्जन किया गया है, तो 'छिद्, भिद्' इत्यादि क्विबन्त धातुओं को 'नाम' संज्ञा कैसे होगी ? क्यों कि 'क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति....' न्याय से उसका धातुत्व अक्षत ही रहता है । उसका समाधान देते हुए कहा गया है कि आपकी शंका उचित नहीं है क्यों कि 'अविभक्ति' में पर्युदास नञ् करने से, उसके द्वारा ही कृदन्त-स्वरूप क्विबन्त को 'नाम' संज्ञा होगी ही । 'अविभक्ति' में पर्युदास नञ् से विधिस्वरूप अर्थ होगा । अतः 'अधातु' से होनेवाले निषेध की यहाँ 'क्विबन्त' में प्रवृत्ति नहीं होगी ।

सिद्धहेम की परंपरा में 'कृदन्त' और 'तद्धितान्त' को 'विभक्तिभिन्नप्रत्ययान्तत्व' के कारण से ही 'नाम' संज्ञा होती है, किन्तु 'कृदन्तत्व' या 'तद्धितान्तत्व' के कारण उसकी 'नाम' संज्ञा नहीं होती है, वैसे 'आप्' 'ङी' इत्यादि प्रत्यय जिसके अन्त में हैं वैसे शब्द और 'समास' इत्यादि को भी सामान्य 'अर्थवत्त्व' और विभक्तिभिन्नप्रत्ययान्तत्व के कारण ही 'नाम' संज्ञा होती है, तथापि अन्यत्र केवल अर्थवत्त्व के कारण होनेवाली 'नाम' संज्ञा के विषय में यहाँ 'अधातु' से हुए निषेध की, ऊपर बताया उसी प्रकार से 'अविभक्ति' सम्बन्धित पर्युदासप्राप्तविधि के कारण, अप्रवृत्ति होगी, किन्तु जहाँ प्रत्ययान्तत्व और अर्थवत्त्व न हो, वहाँ दोष होने से 'अधातु' से निषेध हुआ है, वैसा मानना चाहिए ।

सिद्धहेम व्याकरण में इस न्याय के 'उत्तरपदाधिकार' अंश में दो ज्ञापक मिलते हैं । प्रथम ज्ञापक 'नवाऽखित्कृदन्ते रात्रेः' ३/२/११७ में 'कृदन्ते' शब्द में 'अन्त' शब्द का ग्रहण किया है, वह है । ऐसा लगता है कि आ. श्रीलावण्यसूरिजी को इस ज्ञापक के बारे में अरुचि है । इसके बारे में विशेष विमर्श करते हुए वे कहते हैं कि जहाँ किसी भी प्रत्यय का साक्षात् ग्रहण किया हो वहाँ इस न्याय से 'तदन्तविधि' का निषेध होता है किन्तु प्रत्यय की संज्ञा को यदि सूत्र में ग्रहण किया हो तो 'तदन्तग्रहण' का निषेध नहीं होता है अर्थात् 'तदन्त' का ग्रहण होता है । अतः यहाँ

'नवाऽखित्कृदन्ते रात्रेः' ३/२/११७ में प्रत्यय की संज्ञा का ग्रहण किया गया होने से 'तदन्त' का ग्रहण होगा, अतः केवल 'कृति' कहा गया होता तो भी चल सकता था, तथापि 'कृदन्ते' में 'अन्त' शब्द का ग्रहण किया है, वही व्यर्थ ही है । यहाँ ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ७/४/११५ सूत्र में प्रत्यय शब्द, साक्षात् प्रत्यय के लिए कहा गया होने से तदन्तग्रहण का निषेध होता है क्यों कि 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ७/४/११५ में किसी एक प्रत्यय या किसी निश्चित प्रत्यय समुदाय के लिए विधान नहीं किया गया है किन्तु सर्वसामान्य सभी प्रत्ययों के लिए विधान किया गया होने से 'तदन्तग्रहण' का निषेध नहीं होता है और अकेले कृत् प्रत्यय का कहीं भी प्रयोग नहीं होता है और उत्तरपद भी कभी अकेले कृत्प्रत्यय स्वरूप नहीं होता है अतः केवल 'कृति' कहने से ही 'तदन्तग्रहण' हो ही जायेगा । अतः इस न्याय का ज्ञापन करने के लिए सूत्र में 'अन्त' ग्रहण करना उचित नहीं है । ऐसा प्रथम ज्ञापक के बारे में कहकर वे दूसरा ज्ञापक बताते हैं । वह इस प्रकार है :-

'हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये' ३/२/९४ में स्थित 'लेख' शब्द इस न्याय का ज्ञापन करता है । इसके बारे में सिद्धहेमबृहद्वृति में कहा है कि अण् के साहचर्य से ही 'लेख' शब्द भी 'अणन्त' ही लिया जायेगा किन्तु घञन्त 'लेख' शब्द का ग्रहण नहीं करना । अतः 'हृदयस्य लेखः हृदयलेखः' होगा । ऐसा कहकर श्रीहेमचन्द्राचार्यजी कहते हैं कि 'अणि' कहने से ही 'लेख' शब्द का ग्रहण हो ही जाता था तथापि सूत्र में 'लेख' शब्द रखा, उससे ज्ञापन होता है कि 'उत्तरपद' के अधिकार में प्रत्यय के ग्रहण से तदन्त का ग्रहण नहीं होता है । इस प्रकार इस न्याय का ज्ञापन होने के बाद 'नवाऽखित्कृदन्ते रात्रेः' ३/२/११७ में अन्तग्रहण सार्थक होता है । इस प्रकार दूसरा ज्ञापक बताया गया है ।

तथापि सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में 'नवाऽखित्कृदन्ते रात्रेः' ३/२/११७ की वृत्ति में कहा गया है कि 'इदमेव ज्ञापकं इहोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययस्यैव ग्रहणं, न तदन्तस्य' । इस प्रकार इसी अन्तग्रहण को श्रीहेमचंद्राचार्यजी ने स्वयं मान्यता/स्वीकृति दी है, अतः उसे भी आ. श्रीलावण्यसूरिजी स्वीकार करते हैं । उसके बारे में वे कहते हैं कि यदि इसी सूत्रगत 'अन्त' शब्द को, इस न्यायांश का ज्ञापक माना जाय तो 'हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये' ३/२/९४ सूत्रगत 'लेख' शब्द को इस न्याय का फल मानना चाहिए ।

यहाँ एक बात खास तौर से विचारणीय है कि जैसे किसी एक न्याय का प्रयोग एक से अधिक, दो-तीन-चार इत्यादि स्थान पर पाया जाता है, वैसे किसी भी न्याय का ज्ञापन एक से अधिक स्थान पर हो सकता है ? या नहीं ? यहाँ इसी न्यायांश के विषय में आ. श्रीहेमचंद्रसूरिजी ने स्वयं स्पष्ट रूप से दो ज्ञापक बताये हैं । अतः इसके बारे में विचार करने की आवश्यकता खड़ी हुई है । सामान्यतया संपूर्ण व्याकरण में प्रत्येक न्याय के केवल एक एक ज्ञापक बताये जाते हैं, ऐसी एक मान्यता है, किन्तु इसी मान्यता का कोई आधार/मूल नहीं है क्यों कि पाणिनीय परम्परा में, अन्य किसी भी व्याकरण परम्परा से अधिक परिभाषावृत्तियाँ उपलब्ध/प्राप्त हैं । उसमें भिन्न भिन्न वृत्ति में, बहुत से न्याय/परिभाषाओं के भिन्न भिन्न ज्ञापक बताये गये हैं । एक वृत्ति में जो ज्ञापक

बताया हो उससे बिलकुल भिन्न ज्ञापक अन्य वृत्ति में बताया जाता है । अतः मेरी अपनी मान्यतानुसार किसी भी न्याय के एक से अधिक ज्ञापक होना अयुक्त नहीं है । तथापि किसी को ऐसी आशंका हो सकती है कि एक बार एक ज्ञापक बतला दिया और न्याय की सिद्धि कर दी गई, बाद में अन्य स्थान पर उसी न्याय की प्रवृत्ति न करना युक्तियुक्त नहीं लगता है और इस प्रकार एक ही न्याय के अनेक ज्ञापक हों वहाँ वही ज्ञापक, ज्ञापक न रहकर, नियम हो जाता है ।

इसके बारे में अधिक विचार करने पर लगता है कि उपर्युक्त आशंका उचित ही है क्यों कि जब/यदि एक ही न्याय के विषय में अनेक ज्ञापक प्राप्त हो तब/तभी वही ज्ञापक, ज्ञापक न रहकर नियम बन जाता है किन्तु जब एक ही न्याय के विषय में सूत्रकार आचार्यश्री स्वयं दो या तीन ज्ञापक बता रहे हों तब, इसके बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि वहीं दो या तीन ज्ञापकों में से केवल एक ही ज्ञापक बलवान् हो सकता है । इसे छोड़कर अन्य ज्ञापक, सामान्यतया उसी न्याय का ज्ञापन कर सकते हों किन्तु व्याकरणशास्त्र की चर्चा के क्षेत्र में निर्बल सिद्ध होते हों या होने की संभावना हो तो उसके लिए अन्य बलवत्तर ज्ञापक रखना आवश्यक हो जाता है ।

प्रस्तुत न्यायांश के विषय में भी प्रायः/शायद 'नवाऽखित्कृदन्ते रात्रेः' ३/२/११७ और 'हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये' ३/२/९४ में से किसी एक ज्ञापक उनको निर्बल मालूम पड़ा होगा, अत एव दूसरा ज्ञापक रखा होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है, किन्तु इन दोनों में कौन सा ज्ञापक निर्बल है, उसकी स्पष्टता उन्हों ने नहीं की है, अतः विद्वान् लोग स्वयं इसके बारे में विचार करके निर्णय करें, वही उचित है ।

तथापि श्रीलावण्यसूरिजी ने इन दोनों ज्ञापक में से 'नवाऽखित्कृदन्ते रात्रेः' ३/२/११७ सूत्रगत 'अन्त' शब्द को ज्ञापक माना है । इसके बारे में 'तरंग' नामक टीका में उन्होंने बताया है कि 'हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये' ३/२/९४ सूत्रगत अण् अन्तवाले 'लेख' शब्द और 'नवाऽखित्कृदन्ते रात्रेः' ३/२/११७ सूत्रगत 'अन्त' शब्द दोनों को ज्ञापक मानना परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है तथापि 'लेख' शब्द को शब्दरूप विशेषण मानकर 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा से 'लेख' शब्द जिसके अन्त में हो, वैसे 'परमलेख' आदि शब्द पर में आने पर 'हृदय' का 'हृद्' आदेश होता है, ऐसा अर्थ करने पर 'हृत्परमलेख' इत्यादि में 'हृदय' का 'हृद्' आदेश हो सकता है । अतः सूत्र में 'लेख' शब्द का ग्रहण सार्थक होता है और इस प्रकार वह ज्ञापक नहीं बनता है, ऐसा कुछेक विद्वानों का मत है, उसका समर्थन करने के लिए 'हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये' ३/२/९४ सूत्रगत 'लेख' शब्द को ज्ञापक न मानना चाहिए और 'नवाऽखित्कृदन्ते रात्रेः' ३/२/११७ सूत्रगत 'अन्त' शब्द की अन्य किसी प्रकार से सार्थकता सिद्ध नहीं होती है, अतः उसे ही ज्ञापक मानना उचित है ।

'खित्यनव्ययारुषो मोऽन्तो ह्रस्वश्च ३/२/१११ सूत्र उत्तरपद के अधिकार में होने पर भी वहाँ 'खिति' शब्द से खित्प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है । वह इस न्याय की अनित्यता का फल है और 'खिति' शब्द से यहाँ तदन्त का ग्रहण किस प्रकार होता है, उसकी चर्चा विशेष रूप से श्रीलावण्यसूरिजी ने की है किन्तु वह यहाँ अप्रस्तुत और अनावश्यक होने से यहाँ नहीं दी है । जिज्ञासु वहाँ से देख लें ।

'घञ्युपसर्गस्य बहुलम्' ३/२/८६ सूत्र भी उत्तरपद के अधिकार में है । अतः इस न्याय के कारण 'घञि' के स्थान में 'घञन्ते' कहना चाहिए, तथापि 'घञ्युपसर्गस्य बहुलम्' ३/२/८६ सूत्र के सामर्थ्य से ही तदन्तविधि प्राप्त होगी । अन्यथा सूत्र व्यर्थ होगा क्यों कि घञ्स्वरूप उत्तरपद कभी ही प्राप्त नहीं है ।

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि 'अ' शब्द से 'आचार' अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय करके नामधातु बनाकर उससे, 'घञ्' प्रत्यय करने पर धातु स्वरूप का 'लुगस्याऽदेत्यपदे २/१/११३ से लोप होगा और 'घञ्' स्वरूप 'अ' ही शेष बचेगा; उसका उपसर्ग के साथ सम्बन्ध करने पर उपसर्ग के बाद 'घञ्' आयेगा । वहाँ उपसर्ग का अन्त्य स्वर दीर्घ होगा । किन्तु इसी परिस्थिति में 'घञ्युपसर्गस्य बहुलम्' ३/२/८६ सूत्र की कोई प्रवृति ही नहीं होगी क्योंकि यदि उपसर्ग नाम्यन्त होगा तो 'ह्रस्वोऽपदे वा' १/२/२२ से ह्रस्व होगा और यदि उपसर्ग अकारान्त होगा तो 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ से दोनों मिलकर दीर्घ ही होगा । अतः घञ्निमित्तक दीर्घ का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है । इस प्रकार सूत्र के वैयर्थ्य को दूर करने के लिए तदन्तविधि करने में कोई दोष नहीं है ।

'संज्ञाविधौ न तदन्तविधिः' या 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे न तदन्तविधिः' स्वरूप न्याय सभी परिभाषासंग्रह में है तथा उत्तरपद के अधिकार में प्रत्ययग्रहण के विषय में ऐसा न्याय 'सत्यविधौ न तदन्तविधिः' (जैनेन्द्र परिभाषा-५५) और 'द्यावित्यधिकारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणमेव (जै-६०) रूप में कहीं कहीं प्राप्त है ।

॥ ७५॥ ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ॥ १८ ॥

'नाम' का ग्रहण करके जो कार्य करने को कहा गया हो वही कार्य, वही 'नाम' जिसके अन्त में हो, ऐसे शब्दों(समास आदि)से नहीं होता है ।

'निर्देशे सति' यहाँ अध्याहार समझ लेना ।

साक्षात् 'नाम' का ग्रहण करके, जो कार्य करने को कहा हो वही कार्य, वही शब्द यदि समास आदि शब्दसमुदाय के अन्त में आया हो तो अर्थात् वही 'नाम' जिसके अन्त में है, ऐसे समास आदि से नहीं होता है । उदा. 'सूत्रप्रधानो नडः, सूत्रनडः तस्य अपत्यम्' । यहाँ 'अत इञ्' ६/१/३१ से 'इञ्' प्रत्यय होगा और 'अनुशतिकादि' होने से 'अनुशतिकादीनाम्' ७/४/२७ से उभयपद के आद्य स्वर की वृद्धि होगी और 'सौत्रनाडिः' शब्द होगा । यहाँ 'सूत्रनडः' शब्द से 'नडादिभ्य आयनण्' ६/१/५३ से 'आयनण्' प्रत्यय नहीं होगा ।

यहाँ शंका होती है कि यहाँ इस न्याय की क्या आवश्यकता है ? क्यों कि 'सूत्रनड' शब्द 'नडादि' शब्द से भिन्न है, अतः 'आयनण् की प्राप्ति ही नहीं है । उसका उत्तर इस प्रकार है । जैसे 'गवेन्द्र' शब्द में 'इन्द्र' शब्द पर में होने पर 'इन्द्रे' १/२/३० से 'गो' के 'ओ' का 'अव' आदेश होता है, वैसे 'गवेन्द्रयज्ञ' शब्द में भी 'इन्द्रयज्ञ' शब्द पर आने पर 'गो' के 'ओ' का 'अव' आदेश होता है । यहाँ 'इन्द्रयज्ञ' शब्द में 'इन्द्र' रूप शब्दावयव के प्राधान्य की विवक्षा की गई है ।

ऊपर बताया उसी प्रकार यहाँ 'सूत्रनड' शब्द में 'नड' शब्द के प्राधान्य की विवक्षा की गयी है, अतः केवल 'नड' शब्द से जैसे 'आयनण्' होता है, वैसे 'सूत्रनड' शब्द से भी 'आयनण्' प्रत्यय होने की प्राप्ति है, किन्तु इस न्याय से निषेध किया गया होने से 'आयनण्' नहीं होगा किन्तु 'अत इञ्' ६/१/३१ से 'इञ्' प्रत्यय ही होगा ।

इस प्रकार जब अवयव के प्राधान्य की विवक्षा की जायेगी तब ही इस न्याय की प्राप्ति/प्रवृत्ति का संभव है । अन्यथा 'नाम' के ग्रहण से निर्दिष्ट कार्य, वही 'नाम' जिसके अन्त में हो ऐसे समास आदि को कहीं भी प्राप्त नहीं है । अतः यह न्याय निरवकाश या व्यर्थ हो जाता है, अत एव 'नामग्रहण' से निर्दिष्ट कार्य, वही 'नाम' रूप अवयव के प्राधान्य की विवक्षा हो, ऐसे समास आदि को उसी कार्य की प्राप्ति होती है, उसका निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

इस न्याय का ज्ञापन 'मालेषीकेष्टकस्याऽन्तेऽपि भारितूलचित्ते' २/४/१०२ सूत्रगत 'अन्त' शब्द से होता है । वह इस प्रकार है -:

यहाँ 'मालेषीकेष्टक'—२/४/१०२ में 'अन्त' शब्द का ग्रहण करने से 'मालभारि' शब्द की तरह 'उत्पलमालभारि' इत्यादि प्रयोग में भी ह्रस्व होता है ।

यदि अवयवप्राधान्य की विवक्षा करने से ही 'माला' शब्द की तरह 'उत्पलमाला' इत्यादि शब्द के अन्त्य का ह्रस्व हो ही जाता तो, यहाँ 'अन्त' शब्द का ग्रहण क्यों किया ? अर्थात् ग्रहण न किया होता किन्तु 'माला' स्वरूप 'नामग्रहण' से निर्दिष्ट ह्रस्वविधि, इस न्याय से 'उत्पलमाला' इत्यादि शब्दों से नहीं होती है । अतः वहाँ ह्रस्वविधि करने के लिए सूत्र में 'अन्त' शब्द रखा गया है ।

यह न्याय अनित्य होने से द्व्याश्रय महाकाव्य में (सर्ग -२, श्लोक-६७) 'प्रियासृजोऽसावपृणद् द्विडस्ना' पंक्ति में 'प्रियासृजः' और 'द्विडस्ना' दोनों प्रयोग में समास के अन्त में आये 'असृज्' का 'दन्तपाद-नासिका-हृदयासृग्-यूषोदक-दोर्यकृच्छकृतो दत्पन्नस् हृदसन्-युषन्नुदन् दोषन् यकञ्छकन् वा' २/१/१०१ से विकल्प से 'असन्' आदेश किया है ।

इस न्याय के तरलत्व का ज्ञापन 'केवलसखिपतेरौः' १/४/२६ सूत्रस्थ 'केवल' शब्द से होता है । और उसी 'केवल' शब्द के कारण ही 'प्रियसखौ, नरपतौ 'इत्यादि प्रयोग में 'ङि' प्रत्यय का 'औ' आदेश नहीं होता है । यदि यह न्याय नित्य होता तो 'सखिपतेरौः' सूत्ररचना करने पर भी 'प्रियसखौ, नरपतौ' इत्यादि में 'औत्व' का निषेध हो ही जाता, तो सूत्र में 'केवल' शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता ? अर्थात न किया जाता, तथापि 'केवल' शब्द का प्रयोग किया है, वह इस न्याय की अनित्यता सूचित करता है ।

'उपपदविधिषु न तदन्तविधिः' स्वरूप एक दूसरा न्याय भी कहीं कहीं प्राप्त होता है । उसका अर्थ इस प्रकार है :- जहाँ कोई निश्चित उपपद से पर आये हुए कोई निश्चित धातु से निश्चित प्रत्यय होता हो, वहाँ वही उपपद यदि किसी समास के अन्त में आया हो तो वैसे समास से पर आये हुए, उसी धातु से भी, वही प्रत्यय नहीं होता है ।

उदा. 'योगक्षेमौ करोति इति शीला योगक्षेमकरी ।' यहाँ 'क्षेम' शब्द, 'योगक्षेम' समास के अन्त में आया हुआ है । अतः 'क्षेमप्रियमद्रभद्रात् खाण्' ५/१/१०५ से 'क्षेम' स्वरूप उपपद से पर आये हुए 'कृ' धातु से होनेवाले 'ख' और 'अण्' प्रत्यय नहीं होंगे, किन्तु 'हेतुतच्छीलानुकूले ऽशब्द श्लोक-कलह-गाथा-वैर-चाटु-सूत्र-मन्त्रपदात्' ५/१/१०३ से 'ट' प्रत्यय ही होगा । यदि 'ख' और 'अण्' प्रत्यय होते तो 'योगक्षेमंकरा, योगक्षेमकारी' जैसे अनिष्ट रूप होते, वे नहीं होते हैं ।

इस न्याय का ज्ञापन 'नग्नपलितप्रियान्धस्थूलसुभगाढ्यतदन्ताच्च्व्यर्थेऽच्वेर्भुवः खिष्णुखुकञौ' ५/१/१२८ में स्थित 'अन्त' शब्द से होता है । 'अनग्नो नग्नो भवति इति नग्नंभविष्णुः नग्नंभावुकः' में जैसे 'खिष्णु' और 'खुकञ्' प्रत्यय हुए हैं । वैसे 'अननग्नो अनग्नो भवति इति अनग्नंभविष्णुः, अनग्नंभावुकः' इत्यादि प्रयोग में भी 'खिष्णु' और 'खुकञ्' प्रत्यय करने के लिए 'नग्नपलितप्रियान्ध'- ५/१/१२८ सूत्र में 'अन्त' शब्द का ग्रहण किया है । यदि 'उपपदविधिषु न तदन्तविधिः' न्याय न होता तो 'अनग्नंभविष्णुः अनग्नंभावुकः' इत्यादि प्रयोग में भी 'नग्न' शब्द की प्रधानता की विवक्षा से ही 'खिष्णु' ओर 'खुकञ्' प्रत्यय होनेवाले ही थे तो फिर उसके लिए सूत्र में 'अन्त' शब्द क्यों रखा ? किन्तु 'नग्नपलितप्रियान्ध'- ५/१/१२८ सूत्र में 'अन्त' शब्द का ग्रहण किया उससे सूचित होता है कि 'उपपदविधिषु न तदन्तविधिः' न्याय भी है ।

किन्तु इसी 'उपपदविधिषु...' न्याय 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' न्याय में ही समाविष्ट हो जाता है क्यों कि उपपदविधि में उपपद के 'नाम' ग्रहण द्वारा ही कार्य कहा गया है और उपपद भी 'नाम' ही है ।

और 'ग्रहणवता नाम्ना न तदादिविधिः' न्याय भी व्याकरणशास्त्र में उदाहरण और ज्ञापक के साथ देखने को मिलता है । वह इस प्रकार :-

उणादि सूत्र से निष्पन्न 'न्यङ्कु' शब्द में जब अव्युत्पत्ति पक्ष का आश्रय करेंगे तब 'न्यङ्कोरिदम् (मृगविशेषस्येदम्)' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होगा और 'नैयङ्कवम्' तथा 'न्याङ्कवम्' रूप होंगे । यहाँ जैसे 'न्यङ्कु' शब्द में 'न्यङ्कोर्वा' ७/४/८ से 'न्यङ्कु' शब्द के यकार से पूर्व ऐकार विकल्प से हुआ है, वैसे 'न्यङ्कुचर्मन्' शब्द से 'न्यङ्कुचर्मणः इदम्' अर्थ में अवयव प्राधान्य की विवक्षा में भी 'न्यङ्कोर्वा' ७/४/८ से उसके यकार से पूर्व विकल्प से ऐकार नहीं होगा क्यों कि यह न्याय उसका निषेध करता है ।

'ग्रहणवता नाम्ना न तदादिविधिः' न्याय का ज्ञापन 'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ से होता है । इसी सूत्र से जैसे 'द्वारादेः' ७/४/६ सूत्र में आये हुए 'द्वार' इत्यादि शब्द के 'व' कार से पूर्व 'औ' कार होता है, वैसे 'द्वार' शब्द जिसके आदि में है, ऐसे शब्द के अवयव स्वरूप 'द्वार' इत्यादि के वकार से पूर्व 'औ' कार होता है, वही सिद्ध होता है । वह इस प्रकार है । 'द्वारादेः' ७/४/६ सूत्र में 'द्वार' इत्यादि शब्दों के अवयवप्राधान्य की विवक्षा करने पर तदादिविधि की प्राप्ति होती ही है । तथापि इस न्याय से उसका निषेध होने से उसका प्रतिप्रसव करने के लिए 'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ सूत्र किया है ।

प्रतिप्रसव इस प्रकार होता है - 'द्वारे नियुक्तः' वाक्य में 'तत्र नियुक्ते' ६/४/७४ से 'इकण्' प्रत्यय होने पर 'दौवारिकः' होता है । यहाँ जैसे 'द्वारादेः' ७/४/६ से केवल 'द्वार' शब्द के वकार से पूर्व औकार होता है, वैसे 'द्वारपालस्यापत्यं दौवारपालिः' प्रयोग में भी 'द्वार' शब्द जिस की आदि में है ऐसे 'द्वारपाल' स्वरूप शब्द समुदाय में भी वकार से पूर्व औकार इष्ट है और वह अवयवप्राधान्य की विवक्षा से सिद्ध हो सकता था, किन्तु 'ग्रहणवता नाम्ना न तदादिविधिः' न्याय से उसका निषेध होने से नहीं होगा । अतः 'द्वार' इत्यादि शब्द में तदादिविधि होती है । उसका ज्ञापन करने के लिए और 'न्यग्रोध' शब्द में तदादिविधि नहीं होती है, किन्तु अकेले 'न्यग्रोध' शब्द के यकार से पूर्व ऐकार होता है, ऐसा कहा । इस प्रकार द्वार इत्यादि शब्द में तदादिविधि होती है, उसका ज्ञापन करने के लिए 'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ सूत्र किया है ।

'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ सूत्र का अर्थ इस प्रकार है :- ञित् णित् प्रत्यय पर में होने पर अकेले 'न्यग्रोध' शब्द के यकार से पूर्व ऐकार होता है । उदा. 'न्यग्रोधस्य विकारो दण्डः, नैयग्रोधो दण्डः' । अकेले 'न्यग्रोध' शब्द को क्यों ? तो 'न्यग्रोधमूले भवाः न्याग्रोधमूलाः शालयः ।'

भावार्थ इस प्रकार है :- 'द्वार' इत्यादि में 'तदादिविधि' आचार्यश्री को इष्ट है किन्तु 'न्यग्रोध' शब्द के लिए इष्ट नहीं है । यदि 'ग्रहणवता नाम्ना न तदादिविधिः' न्याय न होता तो 'न्यग्रोध' शब्द को 'द्वार' इत्यादि शब्दों के साथ ही कहकर, ऐसा कहा होता कि 'द्वार' इत्यादि शब्दों को अवयव-प्राधान्य की विवक्षा में, उससे तदादिविधि होती है किन्तु 'न्यग्रोध' शब्द से 'नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः' न्याय से, उसमें अवयवप्राधान्य की विवक्षा न करने पर, उससे 'तदादिविधि' नहीं होती है अर्थात् केवल 'न्यग्रोध' शब्द से ही उसके य से पूर्व 'ऐ' होता है, किन्तु 'न्यग्रोध' शब्द जिसके आदि में है ऐसे शब्दसमुदाय अर्थात् समास इत्यादि में 'य' से पूर्व 'ऐ' नहीं होगा और इस प्रकार सब प्रयोग सिद्ध हो सकते हैं तथापि आचार्यश्री ने, ऐसा नहीं किया, उसका कारण यही है कि इस प्रकार की विवक्षा तब ही सफल होती है कि जब उसका बाधक कोई न्याय होता । किन्तु यहाँ 'ग्रहणवता नाम्ना न तदादिविधिः' न्याय होने से केवल 'न्यग्रोध' शब्द सम्बन्धित जो ऐकारविधि इष्ट है, वही सिद्ध होगी किन्तु 'द्वार' इत्यादि शब्द में तदादिविधि होगी ही, ऐसा किसी भी प्रकार से बताना चाहिए, ऐसा विचार करके, उसका ज्ञापन करने के लिए ही आचार्यश्री ने 'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ सूत्र किया है ।

अतः इस प्रकार ज्ञापन होता है कि जो ऐकार विधि केवल 'न्यग्रोध' शब्द से होती है, वही विधि 'द्वार' इत्यादि शब्द में तदादिविधि अर्थात् 'द्वार' इत्यादि शब्द जिसकी आदि में हैं वैसे शब्दसमुदाय/समास इत्यादि में भी होती है और इस प्रकार 'द्वार' इत्यादि शब्द में तदादिविधि होती है, उसका ज्ञापन करने के लिए जो 'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ सूत्र किया, वह इस न्याय की आशंका से ही, किन्तु इस न्याय का ऐसा साक्षात् पाठ कहीं भी प्राप्त होता न होने से, उसे पृथक् बताया नहीं है ।

इस न्याय की विशेष चर्चा इस प्रकार है :- 'नडादिभ्य आयनण्' ६/१/५३ से 'सूत्रनड'

शब्द से 'आयनण्' प्रत्यय होने की प्राप्ति है, उसे दूर करने के लिए यह न्याय है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी और श्रीहेमहंसगणि, दोनों मानते हैं किन्तु उसकी प्राप्ति वे दोनों भिन्न भिन्न प्रकार से बताते हैं । श्रीहेमहंसगणि कहते है कि 'सूत्रनड' शब्द 'नडादि' से अन्य होने से 'आयनण्' होनेवाला ही नहीं है, तो उसका निषेध करने के लिए इस न्याय की क्या आवश्यकता है ? ऐसी शंका करके, वे स्वयं ही उत्तर देते हैं कि जैसे 'गवेन्द्र' में 'इन्द्र' शब्द पर में हो तो 'गो' के 'ओ' का 'अव' आदेश होता है, वैसे 'गवेन्द्रयज्ञ' में भी इन्द्ररूप अवयवप्राधान्य की विवक्षा से ही 'इन्द्रे' १/२/३० से 'गो' के 'ओ' का 'अव' आदेश होता है, वैसे यहाँ 'सूत्रनड' शब्द में अवयवप्राधान्य की विवक्षा से 'आयनण्' प्रत्यय होने की प्राप्ति है ।

जबकि श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'नडादिभ्य आयनण्' ६/१/५३ के अर्थानुसार 'नड' इत्यादि नाम से आयनण् प्रत्यय होता है । अब 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा की प्रवृत्ति करने पर 'नड' इत्यादि शब्द जिसके अन्त में है ऐसे 'सूत्रनड' इत्यादि शब्द से 'आयनण्' प्रत्यय की प्राप्ति होती है और केवल 'नड' शब्द से 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' न्याय द्वारा 'आयनण्' प्रत्यय सिद्ध हो सकता है । इस प्रकार 'सूत्रनड' शब्द से 'आयनण्' प्रत्यय की प्राप्ति है, किन्तु ऊपर बताया उसी तरह 'नड' स्वरूप अवयवप्राधान्य की विवक्षा से 'आयनण्' प्रत्यय की प्राप्ति बताना उचित नहीं है । इसके सबूत में वे कहते हैं कि सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में 'मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि भारितूलचिते' २/४/१०२ की वृत्ति के 'इदमेव ज्ञापकं ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' शब्दगत 'इदमेव' शब्द की व्याख्या स्वरूप लघुन्यासकार का मत बताते हैं । वह इस प्रकार है । 'माला' इत्यादि शब्द नाम के विशेषण है । अतः 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ से तदन्त नाम का भी ग्रहण हो जाता था और अकेले 'माला' इत्यादि शब्द का ग्रहण 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' न्याय से हो जाता है तथापि 'अन्तेऽपि' शब्द रखा वह इस न्याय का ज्ञापन करता है । यही बात लघुन्यासकार की है ।

अब श्रीहेमहंसगणि की बात के बारे में विचार करें । श्रीहेमहंसगणि इस न्याय के न्यास में न्यायवृत्ति के 'इन्द्ररूपावयवप्राधान्यविवक्षया' शब्द की चर्चा करते हुए कहते हैं कि जिस शब्द का सूत्र में 'नाम' पूर्वक ग्रहण हो, वही शब्द, जिस समास इत्यादि समुदाय के आदिरूप या अन्तरूप अवयव के रूप में हो, तो वही समुदाय भी उसी अवयव के योग से वैसे स्वरूपवाला माना जाता है । उदा. शुक्ल रूप अवयव के योग में 'स्तंभ' भी शुक्ल ही माना जाता है । यहाँ तक की उनकी बात सही है किन्तु आगे जो बताया कि 'इन्द्रे' रूप अवयव के योग से 'इन्द्रयज्ञ' शब्द भी वैसा माना जायेगा । अतः 'गो' के 'ओ' का 'अव' आदेश हो सकेगा । 'इन्द्रे' १/२/३० सूत्र के संदर्भ में उनकी यही बात उचित नहीं लगती है, इसके बारे में आगे चर्चा की जायेगी । किन्तु इस प्रकार 'सूत्रनड' शब्द में 'नड' रूप अवयव के प्राधान्य की विवक्षा हो तब 'नडादिभ्य आयनण्' ६/१/५३ से 'आयनण्' प्रत्यय होने की प्राप्ति है या हो सकता है ।

अब 'इन्द्रे' १/२/३० सूत्र सम्बन्धित 'गवेन्द्रयज्ञ' में स्थित 'इन्द्रयज्ञ' शब्द में 'इन्द्र' रूप अवयवप्राधान्य की विवक्षा, श्रीहेमहंसगणि ने की है, जबकि 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' न्याय की वृत्ति

में 'इन्द्रादित्व' की विवक्षा की है। दोनों परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। उसका प्रत्युत्तर देते हुए वे स्वयं कहते हैं कि 'इन्द्रे' का क्या अर्थ ? 'इन्द्र' शब्द जिसके आदि में है, वैसा शब्द पर में हो तो, अतः 'गवेन्द्रयज्ञ' में ही 'ओ' का 'अव' आदेश होगा। जबकि 'गवेन्द्र' में 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' न्याय से 'अव' आदेश होगा, किन्तु यह बात हमने लघुन्यासकार की मान्यतानुसार बतायी है। जबकि वृत्तिकार की मान्यतानुसार यहाँ अवयवप्राधान्य की विवक्षा ही है क्यों कि वृत्ति में कहा है कि 'इन्द्रे' का क्या अर्थ ? इन्द्र शब्दगत 'इ' पर में आया हो तो, ऐसा अर्थ करने पर जैसे 'गवेन्द्र' में 'ओ' का 'अव' आदेश होता है, वैसे 'गवेन्द्रयज्ञ' में भी 'ओ' का अव' आदेश होता है अर्थात् 'इ' स्वर जिसमें है ऐसे इन्द्र शब्द की ही प्रधानता है।

जबकि श्रीलावण्यसूरिजी इसके बारे में कहते हैं कि लघुन्यासकार ने यहाँ अवयवप्राधान्य की विवक्षा नहीं की है। वे कहते हैं कि लघुन्यासकार ने न्यास में 'इन्द्रे' शब्द के बारे में चर्चा करते हुए कहा है कि 'स्वर इत्यस्याधिकरणमिन्द्रे इति, ततस्तदादाविति वक्तव्यम्' अर्थात् 'इन्द्रे' शब्द अनुवर्तमान 'स्वरे' का विशेषण ही है और 'इन्द्रे' शब्द में स्थित सप्तमी विभक्ति 'इ' रूप स्वर के अधिकरणत्व का ही कथन करती है तथा 'तदादाविति वक्तव्यम्' वाक्य भी वृत्तिकार श्रीहेमचंद्राचार्य जी के अभिप्राय का ही वर्णन करता है और वृत्तिकार ने 'इन्द्रशब्दस्थे स्वरे परे' कहा है। अतः वहाँ 'इन्द्र' या 'इ' स्वरूप अवयवप्राधान्य की विवक्षा है ही नहीं।

किन्तु न्यासकार का दूसरा कथन/वाक्य, इसी मान्यता के अनुकूल नहीं है क्यों कि उन्होनें आगे कहा है कि 'केवले च व्यपदेशिवद्भावाद् भवति'। इसी वाक्य के आधार पर श्रीहेमहंसगणि ने, 'इन्द्रे' का अर्थ 'इन्द्रादौ शब्दे परे' किया है, ऐसा मानना पडता है।

संक्षेप में लघुन्यासकार की टिप्पणी द्विअर्थी या तो संदिग्ध प्रतीत होती है। अतः 'इन्द्रे' १/२/३० सूत्र के लिए इन्द्रादित्व की कल्पना और अवयवप्राधान्य की विवक्षा के लिए उसका आश्रय न लेना चाहिए।

और वस्तुतः वृत्तिकार ने 'इन्द्रस्थे स्वरे परे' कहने से ही 'गवेन्द्रयज्ञ' में भी 'ओ' का 'अव' आदेश हो जायेगा। उसके लिए 'व्यपदेशिवद्भाव' या 'अवयवप्राधान्य की विवक्षा' करने की कोई आवश्यकता हमें प्रतीत नहीं होती है।

इस न्याय के ज्ञापक 'मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि भारितूलचिते' २/४/१०२ में स्थित 'अन्तेऽपि' शब्द है। उसका ज्ञापकत्व सिद्ध करने में श्रीलावण्यसूरिजी ने 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा की प्रवृत्ति की है। जबकि श्रीहेमहंसगणि ने अवयवप्राधान्य की विवक्षा की है।

इस न्याय के स्वीकार से ही 'पूर्वमनेन सादेश्चेन्' ७/१/१६७ सूत्र में 'सादेश्च' शब्द चरितार्थ होता है। अन्यथा पूर्व शब्द से जैसे 'इन्' प्रत्यय होता है वैसे 'कृतपूर्व' शब्द से भी 'इन्' प्रत्यय हो सकता है। यहाँ 'कृतपूर्व' में 'इन्' प्रत्यय करने के लिए श्रीलावण्यसूरिजी ने 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा की प्रवृत्ति की है।

पाणिनीय व्याकरण में 'पूर्वादिनि' (पा. ५/२/८६) और 'सपूर्वाच्च' (पा. ५/२/८७) सूत्र में से सपूर्वाच्च (पा. ५/२/८७) को इस न्याय का ज्ञापक माना है किन्तु सिद्धहेम में, श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने 'मालेषीकेष्टकस्याऽन्तेऽपि भारितूलचिते' २/४/१०२ में स्थित 'अन्तेऽपि' शब्द को इस न्याय का ज्ञापक माना है । अतः उसका ही स्वीकार करना चाहिए ।

इस न्याय के ज्ञापक के बारे में आगे चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी बताते हैं कि सिद्ध-हेम की परम्परा में 'मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि'- २/४/१०२ सूत्र के 'अन्तेऽपि' अंश से यह न्याय प्रत्यय- भिन्नविधिविषयक है, ऐसा ज्ञापन होता है । अतः यह न्याय, इस परम्परा में प्रत्ययाप्रत्ययविधि साधारण है, ऐसा माना जाता है और जहाँ प्रत्ययभिन्नविधिविषय या प्रत्ययविधि हो वहाँ इस न्याय की अप्रवृत्ति मालूम देती हो तो, श्रीहेमहंसगणि ने बताया है, उसी प्रकार 'केवलसखिपतेरौः' १/४/२६ सूत्र के 'केवल' शब्द से इस न्याय की अनित्यता जान लेना ।

इस न्याय के द्वितीय ज्ञापक 'पूर्वमनेन सादेश्चेन्' ७/१/१६७ सूत्र के 'सादेश्च' शब्द के बारे में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यदि यह न्याय न होता तो 'पूर्वमनेन'-७/१/१६७ स्वरूप सूत्र से ही 'कृतपूर्व' इत्यादि में भी तदन्तविधि होनेवाली ही थी, अतः 'तदन्त' ग्रहण करने के लिए रखे गए 'सादेश्च' शब्द का वैयर्थ्य स्पष्ट ही है, और वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' न्याय है । इस न्याय का ज्ञापन होने के बाद इस न्याय से 'पूर्व' शब्द भी नाम होने से तदन्तविधि नहीं होगी, अतः 'कृतपूर्वम्' इत्यादि से 'इन्' प्रत्यय करने के लिए 'सादेश्च' कहना आवश्यक ही है । अतः इस प्रकार वह सार्थक भी होगा । इस न्याय का ज्ञापन होने के बाद 'मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि'-२/४/१०२ सूत्र का 'अन्ते' शब्द का ग्रहण भी सार्थक ही होगा ।

किन्तु ऐसा करने पर प्रत्ययविधिविषय की संभावना हो तो, 'मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि'-२/४/१०२ सूत्रगत 'अपि' शब्द व्यर्थ होता है । अतः प्रत्ययभिन्नविधिविषय में 'अन्तेऽपि' शब्द द्वारा ही ज्ञापन करना उचित है ।

दूसरी बात यह है कि 'केवलसखिपतेरौः' १/४/२६ सूत्र के 'केवल' शब्द को ज्ञापक माना है, वह प्रत्ययविधिविषय के अभाव में जानना । यदि प्रत्ययविधिविषय का आश्रय किया जाय तो 'मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि'-२/४/१०२ सूत्र का 'अन्तेऽपि' शब्द सिर्फ स्पष्टता करने के लिए ही है और 'केवलसखिपतेरौः' १/४/२६ सूत्रगत 'केवल' शब्द सार्थक होगा ।

यदि अनित्यत्व के ज्ञापन की आवश्यकता प्रतीत हो तो, अनित्यता के ज्ञापक के रूप में 'पुरुषहृदयादसमासे' ७/१/७० सूत्रगत 'असमासे' शब्द को जानना । वह इस प्रकार है :- पुरुष और हृदय के 'नाम' संज्ञा के रूप में ग्रहण किया होने से 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' न्याय से प्राप्त, तदन्तविधि के निषेध के कारण 'परमपुरुष' इत्यादि समास से तदन्तविधि नहीं होनेवाली है । अतः उसका निषेध करने के लिए 'असमासे' पद रखा, वह व्यर्थ होकर इस न्याय की अनित्यता बताता है ।

और ऊपर बताया उसी तरह 'दन्त-पाद-नासिका'-२/१/१०१ सूत्र में इस न्याय के प्रत्यय-

विधिविषयत्व का स्वीकार करने पर 'तदन्तविधि' किसी भी प्रकार के बिना बाध होती है । अतः 'प्रियासृजोऽसावपृणद् द्विडस्त्रा' ऐसा द्व्याश्रय [सर्ग-२, श्लोक-६७] का प्रयोग भी संगत होता है तथा इस न्याय को केवल प्रत्ययविधिविषयक मानने पर अथवा सामान्य से नामग्रहणविषयक मानने पर, ऐसे दोनों प्रकार से भी उपपदविधि में इस न्याय की प्रवृत्ति का बाध नहीं होता है । अतः 'उपपदविधिषु न तदन्तविधिः' न्याय भी 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' न्याय में ही समाविष्ट हो जाता है । अतः उसका पृथक् निर्देश करना आवश्यक नहीं है ।

'ग्रहणवता नाम्ना न तदादिविधिः' ऐसा भी न्याय देखने को मिलता है, ऐसा कहकर श्रीहेमहंसगणि ने 'न्यायार्थमञ्जूषाबृहद्वृत्ति' में इसकी सिद्धि की है, किन्तु यह न्याय वास्तव में है कि नहीं, इसके बारे में उनको भी शंका है । यही शंका इस न्याय के न्यास में उनके द्वारा प्रयुक्त 'न्यङ्कुशब्दस्य व्युत्पत्तिपक्षस्त्विह नाद्रियते, न्यायसत्तासन्देहापादकत्वात्' शब्द से अभिव्यक्त होती है और श्रीलावण्यसूरिजी ने इन शब्दों के आधार पर तथा सिद्धहेमबृहद्वृत्ति के अनुषाङ्गिक सबूतों को लेकर यह न्याय निर्मूल है अर्थात् ऐसे किसी भी न्याय का अस्तित्व नहीं है, ऐसा सिद्ध किया है। उनका कथन इस प्रकार है :-

सिद्धहेमबृहद्वृत्ति द्वारा इतना ही सिद्ध होता है कि 'द्वार' इत्यादि शब्दों में तदादिविधि होती है, उसका ज्ञापन करने के लिए ही 'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ सूत्र में 'केवलस्य' शब्द रखा है। केवल इतने से ही इस न्याय का ज्ञापन नहीं होता है । इसी 'केवलस्य' शब्द से इस न्याय का ज्ञापन तब ही हो सकता है कि जब अन्य किसी भी सबूत/प्रमाण से तदादिविधि सिद्ध होती हो, किन्तु यहाँ ऐसा कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं होता है कि जिससे कोई भी शब्दसम्बन्धित 'तदादिविधि' सिद्ध ही हो । उसके बदले/बजाय यहाँ 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' न्याय से 'द्वार' इत्यादि शब्दों को ही प्रत्ययविधि होनेवाली है क्यों कि उसका स्वरूप से ही ग्रहण किया है । अतः 'द्वारपाल' इत्यादि 'तदादि' शब्दों से, यही विधि किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं है, तथापि 'द्वारपाल' इत्यादि 'तदादि' शब्दों से भी, अकेले 'द्वार' शब्द से जो विधि होती है, वह होती है, उसका ज्ञापन करने के लिए 'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ सूत्र में 'केवलस्य' शब्द रखा है और 'श्वादेरिति' ७/४/१० सूत्र भी इस बात का ही ज्ञापन करता है ।

इस न्याय (तदादिविधि) का ज्ञापन 'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ सूत्र से होता है, ऐसा श्रीहेमहंसगणि ने बताया है और उन्होंने संपूर्ण सूत्र को ज्ञापक माना है, जबकि श्रीलावण्यसूरिजी ने 'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ सूत्रगत 'केवलस्य' शब्द को ज्ञापक माना है क्यों कि इसी सूत्र का नियमपरक अर्थ और विधिपरक अर्थ बताया है । वह इस प्रकार है :- सिद्धहेम के 'द्वारादेः' ७/४/६ सूत्र की बृहद्वृत्ति के 'श्वादेरिति' ७/४/१० इति प्रतिषेधात् द्वारादिपूर्वाणामपि भवति द्वारपालस्यापत्यं दौवारपालिः' शब्दों की व्याख्या करते हुए लघुन्यासकार कहते हैं कि 'श्वन्' शब्द भी 'द्वारादि' ही है और उससे तदादि कार्य का प्रतिषेध होने से ही 'द्वारादि' शब्द में तदादि कार्य की प्राप्ति होती है । इस प्रकार बृहद्वृत्ति और लघुन्यास, दोनों से बोध हो सकता है कि 'द्वार' इत्यादि

शब्द जिसकी आदि में है, वैसे प्रत्येक शब्द को 'द्वारादेः' ७/४/६ से होनेवाले कार्य की प्राप्ति का अभाव है, अतः 'श्वादि' शब्द से उसी कार्य की प्राप्ति ही नहीं है, तथापि उसका निषेध किया, वह 'तदादिविधि' द्वारा उसी कार्य की प्राप्ति का ज्ञापन स्पष्टतया कराता है । यहाँ 'तदादि' कार्य का निषेध किसी भी न्याय से हुआ प्रतीत नहीं होता है ।

आगे 'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ की बृहद्वृत्ति में 'न्यग्रोध' शब्द के व्युत्पत्तिपक्ष और अव्युत्पत्तिपक्ष का आश्रय करके सूत्र का अर्थ बताया है और 'केवलस्येति किम् ?' कहकर उदाहरण के रूप में 'न्यग्रोधमूले भवाः न्याग्रोधमूलाः शालयः' 'न्यग्रोधाः सन्ति अस्मिन्', 'ऋश्यादित्व' से चातुर्थिक 'क' प्रत्यय करने पर 'न्यग्रोधकम्' होगा और 'तत्र भवो न्याग्रोधकः' दिए हैं । इस प्रकार समासघटक और प्रत्ययान्तघटक 'न्यग्रोध' शब्द का 'केवल' शब्द द्वारा व्यावर्तन होता है, ऐसा बताकर 'इदमपि द्वारादीनां तदादेर्विधेर्ज्ञापकम्' कहा है और लघुन्यासकार ने 'इदमपि' की स्पष्टता करते हुए कहा है कि 'न केवलं श्वादेः', इस प्रकार 'श्वादि' शब्दों से 'तदादिविधि' का निषेध किया है ।

और इस प्रकार सिर्फ/मात्र 'केवलस्य' शब्द को ही ज्ञापक बताया है । अब संपूर्ण सूत्र ज्ञापक क्यों नहीं बनता है ? इसकी चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी 'न्यग्रोधस्य केवलस्य' ७/४/७ सूत्र की बृहद्वृत्ति के शब्दों में कहते हैं कि 'यही सूत्र क्यों किया ?' तो कहते हैं कि 'न्यग्रोहतीति' अर्थानुसार जब व्युत्पतिपक्ष का आश्रय किया जायेगा तब 'न्यक्' शब्द की सिद्धि करते समय, जो 'नि' शब्द से प्रथमा है, उसी अपेक्षा से, 'नि' का इकार पदान्त में होने से, उसके स्थान पर हुआ 'य्' भी पदान्त में होगा, अतः 'य्वः पदान्तात् प्रागैदौत्' ७/४/५ से ही 'ऐ' आगम होनेवाला था, तथापि इस सूत्र की रचना की, वह नियम के लिए है और यदि अव्युत्पत्तिपक्ष का आश्रय करेंगे तो, 'य्' पदान्त में नहीं होगा । अतः 'य्वः पदान्तात्-' ७/४/५ से 'ऐ' आगम नहीं हो सकता है, अतः उसके लिए यह सूत्र किया । यह अर्थ विधिपरक है । ऐसे संपूर्ण सूत्र का दोनों पक्षों में सार्थक्य होने से 'द्वारादि' शब्द में तदादिविधि का वह ज्ञापक है, ऐसा कथन बृहद्वृत्ति से सम्मत नहीं लगता है ।

इसके बारे में विशेष चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी अपनी 'तरंग' नामक टीका में कहते हैं कि यदि 'न्यङ्कुचर्मन्' से 'न्यङ्कोर्वा ७/४/८ सूत्र से दो रूप इष्ट हैं या एक ही रूप ? और वह कौन-सा रूप इष्ट है ? इसका निर्णय करना चाहिए ।

यदि सिर्फ 'न्याङ्कुचर्मणम्' रूप ही इष्ट होता तो यहाँ अव्युत्पत्तिपक्ष का ही आश्रय करना चाहिए क्यों कि ञित् णित् तद्धित प्रत्यय और 'न्यङ्कु' शब्द के बीच अव्यवधान होना चाहिए, वह यहाँ प्राप्त नहीं है । अतः 'न्यङ्कोर्वा' ७/४/८ सूत्र की प्रवृत्ति स्वयं ही नहीं होगी और 'य्वः पदान्तात्'- ७/४/५ सूत्र की भी प्रवृत्ति नहीं होगी क्यों कि इसी सूत्र में भी 'न्यङ्कु' शब्द और निमित्त के रूप ञित् णित् प्रत्यय के बीच अव्यवधान ही होना चाहिए, ऐसा बताया है, जो 'न्यङ्कुचर्मन्' में प्राप्त नहीं है ।

और यदि सिर्फ 'नैयङ्कुचर्मणम्' रूप ही इष्ट होता तो व्युत्पत्तिपक्ष का ही आश्रय करना चाहिए। और दोनों रूप इष्ट हों तो, दोनों पक्ष का आश्रय करना चाहिए और इस प्रकार यदि संपूर्ण निर्वाह होता हो तो, यही 'ग्रहणवता नाम्ना न तदादिविधिः' न्याय का आश्रय करना आवश्यक नहीं है। अतः 'न्याङ्कुचर्मणम्' रूपसिद्धि द्वारा यह न्याय है ऐसा स्वीकार करना प्रामाणिक नहीं लगता है।

इस प्रकार 'नैयङ्कवम्' और 'न्याङ्कवम्', उन दोनों की सिद्धि व्युत्पत्तिपक्ष और अव्युत्पत्तिपक्ष का आश्रय करके हो सकती है। अतः 'न्यङ्कोर्वा' ७/४/८ सूत्र न करना चाहिए ऐसा न कहना क्योंकि 'न्यङ्कोर्वा' ७/४/८ सूत्र से दोनों पक्ष में सिद्ध रूपों को साधुत्व प्राप्त होता है। अतः वही सूत्र सार्थक ही है।

कुछेक वैयाकरण, इसी कारण से, इसी प्रकार के सूत्र की रचना नहीं करते हैं।

संक्षेप में श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यतानुसार यही 'तदादिविधि' का न्याय सर्वथा निर्मूल है और इस न्याय के अभाव में 'न्यङ्कुचर्मन्' शब्द से होनेवाले 'न्याङ्कुचर्मणम्' रूप में न्यङ्कोर्वा ७/४/८ से 'ऐ' आगम विकल्प से होगा, ऐसा भी न कहना क्योंकि उसकी प्राप्ति का ही अभाव है और अवयवप्राधान्य की विवक्षा में 'ऐ' आगम होगा ऐसा भी न कहना क्योंकि अवयवप्राधान्य की विवक्षा अनिश्चित/अनियंत्रित है और अवयवप्राधान्य की विवक्षा कहाँ करना ? सूत्र में ? या लक्ष्य में ? यदि सूत्र में अवयवप्राधान्य की विवक्षा करें तो, 'न्यङ्कु' शब्द के अवयवस्वरूप जो यकार, उसका प्राधान्य माना जायेगा, किन्तु शब्द का प्राधान्य नहीं माना जायेगा और यकार जैसे 'न्यङ्कु' में है वैसा 'न्यङ्कुचर्मन्' में भी है। अतः यह तदादिविधि नहीं कही जायेगी और उसी कारण से तदादिविधि का निषेध करनेवाले न्याय से, अवयवप्राधान्य की विवक्षा में प्राप्त होनेवाले कार्य का निषेध नहीं हो सकेगा।

और यदि 'न्यङ्कुचर्मन्' प्रयोग में अवयवप्राधान्य की विवक्षा करेंगे तो 'न्यङ्कुचर्मन्' में 'न्यङ्कु' की प्रधानता मानी जा सकती और इसके यकार से पूर्व 'ऐ' आगम की प्राप्ति होती, किन्तु सिर्फ इतने से ही 'न्यङ्कोर्वा' ७/४/८ सूत्र से कार्य नहीं हो सकता है क्योंकि 'न्यङ्कोर्वा' ७/४/८ सूत्र का अर्थ यही कहा है कि ञित् णित् तद्धित प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व में आये हुए 'न्यङ्कु' शब्द के अवयवस्वरूप 'य' से पूर्व 'ऐ' होता है। यहाँ 'न्यङ्कुचर्मन्' शब्द में स्थित 'न्यङ्कु' शब्द ञित् णित् तद्धित प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व में नहीं है।

इस प्रकार यहाँ अवयवप्राधान्य की विवक्षा द्वारा 'ऐ' आगम होने की स्वाभाविक प्राप्ति ही नहीं है। अतः उसके लिए कोई विशेष न्याय की कल्पना आवश्यक नहीं है।

और ऊपर बताया उसी तरह श्रीहेमहंसगणि भी कहते हैं कि इसी तदादिविधि का न्याय कहीं भी नहीं बताया गया है। अतः केवल 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' इतना ही न्याय मानना चाहिए।

यह न्याय पाणिनीय परम्परा में 'येन विधिस्तदन्तस्य' सूत्र के महाभाष्य में बताया है, तो अन्य परम्परा में 'येनविधिस्तदन्तस्य' स्वरूप ही यह न्याय है। जैनेन्द्र, शाकटायन इत्यादि में 'प्रातिपदिक

ग्रहणे/(मृद्ग्रहणे) न तदन्तविधिः' स्वरूप यह न्याय है ।

'उपपदविधिषु न तदन्तविधिः' और 'ग्रहणवता नाम्ना न तदादिविधिः' न्याय अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं है ।

॥ ७६॥ अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवताऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति ॥ १९॥

जिस सूत्र में 'अन्, इन्, अस्' या 'मन्' प्रत्यय सम्बन्धित कार्य बताया गया हो, वहाँ वही कार्य उसी प्रत्ययान्त नाम को करना, भले ही वह अर्थवान् हो या अनर्थक हो ।

व्याकरण में जहाँ जहाँ 'अन्, इन्, अस्, मन्,' सम्बन्धित या तन्निमित्तक कार्य करना हो, वहाँ वही शब्द या वर्णसमुदाय अर्थवान् हो तो भी और अनर्थक हो तो भी ग्रहण करना चाहिए ।

उपर्युक्त वर्णसमुदाय सम्बन्धित, तदन्तविधि और अतदन्तविधि दोनों की प्रवृत्ति होती है अर्थात् 'अन्' इत्यादि सम्बन्धित कार्य करना हो तब सार्थक 'अन्' की तरह अनर्थक 'अन्' इत्यादि का भी ग्रहण करना ।

'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' न्याय का यह अपवाद है ।

उसमें सार्थक 'अन्' का उदाहरण इस प्रकार है - 'राजि' धातु से 'उक्षितक्षि'-(उणादि ९००) से 'अन्' प्रत्यय होने पर 'राजन्' शब्द होगा । उससे स्त्रीलिङ्ग में 'स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्ङीः' २/४/१ से 'ङी' प्रत्यय होगा । यहाँ 'अनोऽस्य' २/१/१०८ से 'अन्' के 'अ' का लोप होगा और 'राज्ञी' शब्द होगा ।

अनर्थक 'अन्':- अश्नाति (अश्) धातु से 'षप्यशौभ्याम्'- (उणादि-९०३) से उणादि का 'तन्' प्रत्यय होकर 'अष्टन्' होगा । एक नियम ऐसा है कि संपूर्ण वर्णसमुदाय ही अर्थवान् होता है किन्तु उसका एक भाग/अंश/अवयव अर्थवान् नहीं होता है । अर्थात् 'राजन्' शब्द का 'अन्', 'अन्' सम्बन्धित कार्य करना हो तब वह अर्थवान् होगा किन्तु 'अश्' धातु से हुए 'तन्' प्रत्यय सम्बन्धित 'अन्' अर्थवान् नहीं होगा अर्थात् 'अष्टन्' का 'अन्' अनर्थक होगा । अब 'अष्टौ प्रियाः येषां ते प्रियाष्टनः, तान् पश्य, प्रियाष्ट्णः पश्य' में 'अन्' अनर्थक होने पर भी उसी 'अन्' के 'अ' का लोप 'अनोऽस्य' २/१/१०८ से ही होगा ।

'इन्' सार्थक इस प्रकार है-'दण्डोऽस्यास्ति', यहाँ 'अतोऽनेकस्वरात्' ७/२/६ से 'दण्ड' शब्द से 'इन्' प्रत्यय होगा । और यहाँ सार्थक 'इन्' के 'इ' का 'इन्हन्पूषार्यम्णः शिस्योः' १/४/८७ से दीर्घ होगा ।

अनर्थक 'इन्' इस प्रकार है :- 'स्रगस्यास्ति' यहाँ 'स्रग्' शब्द से 'अस्तपोमायामेधास्रजो विन्' ७/२/४७ से 'विन्' प्रत्यय होगा और इसी 'विन्' प्रत्यय सम्बन्धित 'इन्' अनर्थक ही है तथापि यहाँ भी 'इन्हन्पूषार्यम्णः शिस्योः' १/४/८७ से 'इन्' का 'इ' दीर्घ होगा ।

'अस्' सार्थक इस प्रकार है :-'आप्नोति (आप्)' धातु से 'आपोऽपाप्ता-' (उणादि-९६४) से 'अस्' प्रत्यय होगा और धातु का 'अप्सर्' आदेश होगा, अतः 'अप्सरस्' होगा, उसका प्रथमा विभक्ति एकवचन में 'अप्सराः' रूप होगा । यहाँ सार्थक 'अस्' प्रत्यय के 'अ' का 'अभ्वादेरत्वसः सौ' १/४/९० से दीर्घ होगा ।

अनर्थक 'अस्' इस प्रकार है :- 'खरस्येव नासिकाऽस्य खरणाः ।' यहाँ 'खरखुरान्नासिकाया नस्' ७/३/१६० से 'नासिका' का 'नस्' आदेश होने पर 'खरणस्' होगा । 'पूर्वपदस्थाद् नाम्न्यगः' २/३/६४ से 'न' का 'ण' होता है । यहाँ 'नस्' शब्द सार्थक है किन्तु उसका एक भाग 'अस्' अनर्थक है तथापि, यहाँ 'अभ्वादेरत्वसः सौ' १/४/९० से 'अ' की दीर्घविधि होगी ।

सार्थक 'मन्' इस प्रकार है :- 'स्यति' (सो) धातु से 'स्यतेरीच्च वा' (उणादि-९१५) से उणादि का मन् प्रत्यय होने पर, 'स्यति' के 'आ' ('आत्सन्ध्यक्षरस्य' ४/२/१ से 'ओ' के स्थान पर हुए) का 'ई' होगा और 'सीमन्' शब्द होगा । उसका प्रथमा विभक्ति एकवचन में 'सीमा' रूप होगा । यहाँ स्त्रीलिङ्ग में 'मनः' २/४/१४ से 'ङी' का निषेध, सार्थक 'मन्' होने से हुआ है ।

अनर्थक 'मन्' इस प्रकार है :- 'महतो भावः महिमा, तमतिक्रान्ता स्त्री 'अतिमहिमा स्त्री ।' यहाँ 'महत्' शब्द से 'पृथ्वादेरिमन् वा' ७/१/५८ से 'इमन्' प्रत्यय होने पर 'महिमन्' शब्द होगा । उसका 'अति' के साथ 'अतिरतिक्रमे च' ३/१/४५ से समास होने पर 'अतिमहिमन्' शब्द होगा । उससे स्त्रीलिङ्ग में 'स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्ङीः' २/४/१ से 'ङी' होने की प्राप्ति है । किन्तु 'मनः' २/४/१४ से यहाँ उसका निषेध होने पर 'अतिमहिमा स्त्री' होगा । यहाँ 'इमन्' प्रत्यय का एक भाग 'मन्' होने से, वह अनर्थक है तथापि इस न्याय के कारण 'मनः' २/४/१४ से 'ङी' का निषेध होगा ।

उपलक्षण से 'अतु' भी सार्थक और अनर्थक दोनों प्रकार के ग्रहण होते हैं । उसमें सार्थक 'अतु' इस प्रकार है । 'इदं प्रमाणमस्य इति इयान्, किं प्रमाणमस्य इति कियान् ।' यहाँ 'इदं' और 'किम्' शब्द से 'इदंकिमोऽतुरिय्किय् चास्य' ७/१/१४८ से 'अतु' प्रत्यय होगा और 'इदं' तथा 'किम्' का अनुक्रम से 'इय्, किय्' आदेश होगा । अतः 'इयत्, कियत्' शब्द होंगे । उकार की 'इत्' संज्ञा होने से उसका लोप होगा और प्रथमा विभक्ति एकवचन में 'अतु' प्रत्यय के 'अ' का 'अभ्वादेरत्वसः सौ' १/४/९० से दीर्घ होगा ।

अनर्थक 'अतु' इस प्रकार है :- 'गावोऽस्य सन्ति इति गोमान्' । यहाँ 'गो' शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः' ७/२/१ से 'मतु' प्रत्यय हुआ है । उकार की इत् संज्ञा होने पर, उसका लोप होगा । यहाँ 'अतु', 'मतु' का एक भाग होने से अनर्थक है तथापि यहाँ भी 'अभ्वादेरत्वसः सौ' १/४/९० से ही दीर्घ होगा ।

इस न्याय के 'अस्' अंश का ज्ञापन 'अभ्वादेरत्वसः सौ' १/४/९० सूत्रगत 'अभ्वादेः' शब्द से होता है । वह इस प्रकार होता है :- 'पिण्डं ग्रसते इति क्विपि पिण्डग्रः' इत्यादि प्रयोग में दीर्घ का निषेध करने के लिए 'अभ्वादेः' कहा है । 'पिण्डग्रः' में 'ग्रस्' धातु का 'अस्' अनर्थक होने

से 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' न्याय से यहाँ 'ग्रस्' धातु के 'अ' का दीर्घ होने की प्राप्ति ही नहीं है किन्तु यह न्याय होने से अनर्थक 'अस्' को भी दीर्घविधि की प्राप्ति की संभावना होने से सूत्र में 'अभ्वादेः' कहा है । यहाँ 'पिण्डग्रः' इत्यादि प्रयोगों को छोड़कर, 'स्त्रियमसति अस्यति वा इति क्विपि स्त्र्यः' जैसे प्रयोगों में अस् धातु का वर्जन करने के लिए 'अभ्वादेः' कहा है । किन्तु 'पिण्डग्रः' में दीर्घविधि का निषेध करने के लिए 'अभ्वादेः' नहीं कहा है, ऐसा न कहना चाहिए क्योंकि यदि सिर्फ 'अस्' धातु का ही वर्जन करना होता तो 'अनसोऽत्वसः सौ' कहकर निःसंदिग्धतया सूत्र में ही 'अस्' धातु का वर्जन किया होता और वृत्ति में भी 'असन्तस्य अस्धातुवर्जस्य' के रूप में व्याख्या की होती, किन्तु ऐसा न करके 'अभ्वादेः' स्वरूप व्यापक वचन/निर्देश किया वह 'पिण्डग्रः' इत्यादि प्रयोग की अपेक्षा से ही किया है ।

इस न्याय का 'इन्' अंश अनित्य होने से 'सुपथी स्त्री' प्रयोग में 'पथिन्' शब्द उणादि से निष्पन्न होने से, अव्युत्पत्तिपक्ष का आश्रय करके 'इन्' को अनर्थक माना है अतः 'इनः कच्' ७/३/१७० से 'कच्' समासान्त नहीं होगा ।

इस प्रकार शेष अंश में भी ज्ञापक और अनित्यता का विचार कर लेना ।

इस न्याय में श्रीहेमहंसगणि ने केवल एक 'अस्' अंश का ज्ञापक बताया है तो क्या शेष अंशों के ज्ञापक बताना आवश्यक नहीं है ? ऐसी शंका करके, उसका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीलावण्यसूरिजी 'एकदेशानुमत्या संपूर्णोऽयं न्यायः ज्ञाप्यते' कहते हैं । उसका भावार्थ इसी प्रकार है- न्यायों का स्वरूप सिद्ध ही है । अतः उन्हीं न्यायों की इस शास्त्र में प्रवृत्ति हुई है, वह बताने के लिए ही ज्ञापक का आश्रय किया जाता है और जहाँ न्याय में बहुत से विभाग होते हैं वहाँ केवल एक ही अंश का, अपने शास्त्र के किसी भी वचन द्वारा ज्ञापन किया जाय तो, शेष अंश भी, इस शास्त्र को सम्मत है ही, ऐसा बोध हो सकता है । वह कैसे ? उसके लिए यहाँ स्थालीपुलाक न्याय का आश्रय किया गया है । जैसे पतीली में चावल पकाने को रखे हों तो वह चावल पक गये हैं कि नहीं ? उसकी जाँच करने के लिए केवल एक ही चावल को दबाया जाता है और यदि वह एक पक गया हो तो शेष सब चावल भी पक गये है ऐसा मान लिया जाता है । वैसे यहाँ भी एक अंश के ज्ञापन से संपूर्ण न्याय का ज्ञापन हो जाता है, ऐसा मान लिया जाता है ।

पाणिनीय परम्परा में यह न्याय 'येन विधिस्तदन्तस्य' (पा. सू. १/१/७२) सूत्र के महाभाष्य में वार्त्तिक के रूप में कहा है और वहाँ उसे 'वाचनिक' के रूप में स्वीकार किया है किन्तु ज्ञापकसिद्ध माना नहीं है । जबकि नवीन वैयाकरणों ने 'कार्मस्ताच्छील्ये' (पा. सू. ६/४/१७३) सूत्र में 'कार्म' शब्द रूप निपातन द्वारा 'एकदेशानुमत्या सम्पूर्णः' न्याय से ज्ञापकसिद्ध माना है । किन्तु दूसरे वैयाकरण इस न्याय के ज्ञापकसिद्धत्व का स्वीकार नहीं करते हैं किन्तु वाचनिक ही मानते हैं । जबकि सिद्धहेम की परम्परा में 'अभ्वादेरत्वसः सौ' १/४/९० सूत्रगत 'अभ्वादेः' से इस न्याय का ज्ञापन होता है । अतः उसे ज्ञापकसिद्ध ही मानना चाहिए ।

परिभाषेन्दुशेखर में नागेश ने यह न्याय भाष्यकार के वचन के रूप में बताया होने से

'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' न्याय की अनित्यता बतानेवाले न्याय के रूप में इसका स्वीकार किया है ।

'अन्, इन्, अस्, मन्' की तरह 'अतु' भी सार्थक और अनर्थक, दोनों प्रकार का ग्रहण होता है, ऐसा श्रीहेमहंसगणि ने बताया है । इसके बारें में श्रीलावण्यसूरिजी ने विस्तृत चर्चा की है । उसका सार इस प्रकार है । 'इदंकिमोऽतुरियकिय् चास्य' ७/१/१४८ से विहित 'अतु' प्रत्ययान्त 'इयतु, कियतु' शब्द में 'अतु' सार्थक है किन्तु 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः' ७/२/१ से हुए 'मतु' प्रत्ययान्त 'गोमतु' में 'अतु' अनर्थक है क्योंकि वह 'मतु' प्रत्यय का एक भाग है । जबकि व्याकरणशास्त्र में संपूर्ण प्रत्यय ही अर्थवान् माना जाता है किन्तु प्रत्यय का एक भाग अर्थवान् माना जाता नहीं है । अतः अत्वन्तनिमित्तक दीर्घ नहीं होता है तथापि अनर्थक अत्वन्त का स्वर भी 'अभ्वादेरत्वसः सौ' १/४/९० से दीर्घ हुआ है । इसके बारे में बृहन्न्यास में कहा है कि 'मतु' इत्यादि में 'उकार' अनुबन्ध किया, उसका फल दीर्घविधि ही है, अन्यथा 'उकार' अनुबंध न किया होता । उकार अनुबन्ध करने से 'अतु' के ग्रहण के साथ साथ 'मतु' का भी ग्रहण होता है । अन्यथा 'नोऽन्त' करने के लिए 'शतृ' की तरह 'मतु' का भी ऋकार अनुबन्ध किया होता ।

'अतु, मतु,' और 'डावतु' इत्यादि प्रत्यय के बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि बृहन्न्यास में निम्नोक्त प्रकार से शंका करके समाधान किया है— 'तदनुबन्धग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणम्' न्याय से 'अतु' के साथ, 'मतु' का भी ग्रहण हो सकता है किन्तु उसके साथ 'यत्तदेतदो डावादिः' ७/१/१४९ से होनेवाले 'डावतु' प्रत्यय और 'क्त-क्तवतु' ५/१/१७४ से होनेवाले 'क्तवतु' प्रत्यय का ग्रहण नहीं होगा क्योंकि 'डावतु' और 'क्तवतु' में उकारानुबन्ध के साथ 'ड' और 'क' भी अनुबंध है । इसका समाधान देते हुए श्रीहेमचन्द्राचार्यजी कहते हैं कि यहाँ अनर्थक 'अतु' की भी तदन्तविधि होती है । अन्यथा 'मतु' आदि को उकारानुबन्ध न किया जाता और उकार अनुबंध का फल भी यही है कि 'अतु' के ग्रहण के साथ साथ 'मतु' आदि का भी ग्रहण होता है । अन्यथा 'नोऽन्त' करने के लिए 'शतृ' की तरह 'मतु' को भी ऋकार अनुबन्ध किया जाता । अतः यहाँ प्रत्यय सम्बन्धित 'तदनुबन्धग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणम्' (एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य ग्रहणम्) न्याय की प्रवृत्ति का अवकाश ही नहीं है । अतः ऊपर बताये हुए दोष का यहाँ संभव नहीं है ।

स्वोपज्ञवृत्तिकार/बृहन्न्यास (शब्दमहार्णवन्यास)कार आचार्यश्री को भी सार्थक 'अतु' के साथ साथ 'मतु, डावतु, क्तवतु' इत्यादि के अनर्थक 'अतु' का भी ग्रहण इष्ट है, वैसा बृहन्न्यास देखने पर स्पष्ट दिखायी पडता है । अतः श्रीहेमहंसगणि ने कहा वह सही है और आचार्यश्रीलावण्यसूरिजी को भी वह मान्य ही है ।

यह न्याय व्याडि के परिभाषासूचन, चान्द्र, कातंत्र और कालाप परम्परा में नहीं है ।

॥ ७७॥ गामादाग्रहणेष्वविशेषः ॥ २०॥

जहाँ सूत्र में 'गा-मा-दा' रूप में धातुओं का निर्देश किया हो वहाँ 'अविशेष' अर्थात् सामान्यतया सर्व का ग्रहण करना ।

जहाँ सूत्र में 'गा–मा–दा' रूप में धातुओं का निर्देश किया हो वहाँ 'गांङ् गतौ, गैं शब्दे, मांक् माने, मांङ्क् मानशब्दयोः, मेङ् प्रतिदाने' इत्यादि और 'दा' रूप धातुओं का अविशेष अर्थात् सामान्यतया सब का ग्रहण करना किन्तु किसी एक का ग्रहण नहीं होगा ।

यह न्याय 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः........' 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः'....., 'अदाद्यनदाद्योः'....... इत्यादि न्यायों का अपवाद है, ऐसा आगे बताया जायेगा । इसमें सूत्र में 'गा' का ग्रहण किया हो तो, दोनों 'गा' का ग्रहण इस प्रकार होता है – 'गाते' और 'गायति' दोनों प्रकार के 'गा' धातु से 'यङ्' प्रत्यय होकर, उसका लोप होने पर 'आशीः' का अन्यदर्थे एकवचन का प्रत्यय 'क्यात्' होने से 'जागेयात्' रूप होगा । यही रूप दोनों 'गा' धातु सम्बन्धित होनेसे 'जागेयाद् ग्रामं' या 'जागेयाद् गीतं' दोनों प्रयोग होगें । यहाँ दोनों 'गा' धातु के 'आ' का 'गापास्थासादामाहाकः' ४/३/९६ से 'ए' होता है।

यदि यह न्याय न होता तो 'गायति' का 'गा' स्वरूप लाक्षणिक है क्योंकि 'गै' धातु सन्ध्यक्षरान्त होने से 'आत्सन्ध्यक्षरस्य' ४/२/१ सूत्र से 'ऐ' का 'आ' हुआ है । अतः सन्ध्यक्षरस्वरूप लक्षण से प्राप्त होने से 'लाक्षणिक' है । जब 'गाते' स्वरूपवाला 'गा' धातु आकारान्त होने से वह 'प्रतिपदोक्त' है । अतः 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः....' न्याय से 'गाते' स्वरूपवाले 'गा' धातु के ही 'आ' का 'ए' होता किन्तु 'गै' धातु के 'आ' का 'ए' न होता अथवा 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः...' न्याय से कृत्रिम 'गै' धातु सम्बन्धित 'गा' का ग्रहण हो सकता, किन्तु अकृत्रिम (स्वाभाविक) 'गाङ्' धातु का ग्रहण नहीं हो सकता ।

इस न्याय का ज्ञापन 'गायोऽनुपसर्गाट्टक्' ५/१/७४ सूत्र गत 'गायो' शब्द से होता है क्योंकि 'गाते' स्वरूपवाले 'गा' धातु का निषेध करने के लिए 'गायः' शब्द रखा है । यदि 'गः' कहा होता तो दोनों 'गा' धातु का ग्रहण हो जाता, वह न हो, इसलिए 'गायः' कहा है ।

इस अंश में यह न्याय अनित्य है क्यों कि 'गस्थकः' ५/१/६६ में 'गः' रूप में सामान्यतया निर्देश किया है, तथापि वहाँ 'गांङ् गतौ' धातु को छोड़कर केवल 'गैं शब्दे (गायति)' का ही ग्रहण किया है ।

'मा' का ग्रहण इस प्रकार है :- 'मितः, मितवान्' इन दोनों प्रयोगों में 'मा' धातु से 'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्यय हुए हैं और 'मा' धातु के 'आ' का 'दोसोमास्थ इः '४/४/११ से 'इ' हुआ है। यहाँ 'मांक् माने, मांङ्क् मानशब्दयोः' 'मेङ् प्रतिदाने' (मयति), तीनों धातुओं के 'आ' का 'इ' होता है । अतः 'मितः, मितवान्' के तीनों धातुओं के अर्थ होते हैं ।

इस न्यायांश का ज्ञापन 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४/३/९७ सूत्र की वृत्ति के 'मा इति मांमांङ्-मेंङाम् ग्रहणम्' शब्दों से होता है ।

यदि यह न्यायांश न होता तो 'मा' स्वरूप सामान्य कथन से 'अदाद्यनदाद्योः' न्याय से अथवा 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः'- न्याय से केवल 'मेंङ्' का ही ग्रहण होता किन्तु 'मांक्' और 'मांङ्क्' धातु का ग्रहण न होता अथवा 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः....' न्याय से केवल 'मांक्' और 'मांङ्क' का ही

ग्रहण होता किन्तु 'मेंङ्' का ग्रहण न होता और तो 'मा इति मां -मांङ्-मेंङाम् ग्रहणम्' कहा वही अयुक्त ही होता, किन्तु यह न्याय होने से, वही उक्ति अयुक्त/असंगत नहीं मानी जायेगी ।

इस अंश में भी यह न्याय परिप्लव/चंचल है । अतः 'मिमीमादामित्स्वरस्य' ४/१/२० सूत्र में सामान्य से प्रत्येक 'मा' धातु का ग्रहण करने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया है । यदि यह न्याय नित्य होता तो, इस न्याय से ही प्रत्येक 'मा' धातु का ग्रहण हो सकता था, तो बहुवचन का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता न थी, तथापि बहुवचन का प्रयोग किया, वह इस न्यायांश की अनित्यता बताता है ।

'दा' का ग्रहण इस प्रकार है - 'प्राज्ज्ञश्च' ५/१/७९ में 'ज्ञा' रूप धातु के साहचर्य से 'दा' रूप धातु का यहाँ ग्रहण करना किन्तु 'दा' संज्ञक धातु का आग्रह न करना और इतना कहकर बाद में इस न्याय के बल से अविशेषरूप में 'दा' रूपवाले छः धातुओं का ग्रहण किया है । उदा. 'डुदांगक् दाम् वा' धनप्रदः 'दों' वृक्षप्रदः । 'देंङ्' पुत्रप्रदः । 'दांवक्' केदारप्रदः । 'दैंव्' भोजनप्रदः । यहाँ छः धातु 'से' प्राज्ज्ञश्च' ५/१/७९ सूत्र से 'ड' प्रत्यय किया है ।

यदि यह न्यायांश न होता तो 'अदाद्यनदाद्योः'- न्याय से 'डुदांगक्' और 'दांवक्' इन दो धातु को छोड़कर केवल शेष चार धातुओं का ही ग्रहण होता अथवा 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः'- न्याय से 'दों, देंङ्' और 'दैंव्' को छोड़कर केवल तीन ही धातुओं का ग्रहण होता अथवा 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः'- न्याय से 'डुदांग्क्, दाम्, दांवक्' को छोड़कर केवल तीन धातुओं का ग्रहण होता किन्तु छः धातुओं का ग्रहण न होता ।

'दाट्धेसिशदसदो रुः' ५/२/३६ सूत्र की वृत्ति में 'षडपि दारूपा ग्राह्याः' कहा वह इस न्याय का ज्ञापक है क्योंकि इसी सूत्र में 'ट्धे' को पृथक् कहने से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यहाँ 'दा' शब्द से 'दा' संज्ञा का आग्रह नहीं करना चाहिए अर्थात् ट्धे (धयति) की पृथगुक्ति से यहाँ, दा संज्ञा का निरास सिद्ध होता है, किन्तु दा रूप छः धातुओं का ग्रहण कैसे सिद्ध होता है ? क्योंकि ऊपर बताया उसी तरह 'अदाद्यनदाद्योः'- 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः'- 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः' - इत्यादि न्याय इन छः धातुओं के ग्रहण में विक्षेप करनेवाले हैं तथापि 'दारूपा षडपीह ग्राह्याः' ऐसा जो कहा, वह इस न्याय को 'अदाद्यनदाद्योः' इत्यादि तीनों न्यायों का अपवाद मानकर या उसका स्मरण करके ही कहा है ।

इस न्यायांश में कोई अनित्यता प्रतीत नहीं होती है ।

यह न्याय 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' न्याय के 'स्वं रूपं शब्दस्य' अंश का प्रपंच है ।

(और अब आगे बलाबलोक्ति के दश न्याय कहते हैं)

इस न्याय में तीन अंश हैं । इन तीनों अंशों में श्रीहेमहंसगणि ने ज्ञापक बताये हैं, किन्तु वस्तुतः ज्ञापक तो केवल 'गा' स्वरूप अंश में ही है और वह सूत्रस्वरूप में है । जबकि शेष दो अंशों के ज्ञापक, वृत्ति में कहे गये शब्द हैं, किन्तु वे वास्तविक ज्ञापक नहीं हैं । 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि'

४/३/९७ सूत्र की वृत्ति में बताये गये शब्द -'मां- मांङ् मेंङाम् ग्रहणम्' इस न्याय से प्राप्त अर्थ को ही बताता है अर्थात् वह इस न्याय के फलस्वरूप ही है । अतः इस न्यायांश के ज्ञापक के रूप में उसे बताया नहीं जा सकता है । और 'प्राज्ज्ञश्च' ५/१/७९ सूत्र की वृत्ति में 'षण्णां दारूपाणां ग्रहणम्' ऐसा श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने स्वयं नहीं कहा है किन्तु उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा है कि 'इह पूर्वं सूत्रे च दारूपं गृह्यते न संज्ञा, ज्ञा-ख्यासाहचर्यात्' । अतः दारूप सर्व धातु का ग्रहण होगा और छः प्रकार के 'दारूप' धातुओं के उदाहरण दिये जा सकते हैं । और केवल इतने से ही उसके द्वारा इस न्याय का ज्ञापन होता है ऐसा कहना उचित नहीं है । अतः 'गा' अंश में बताये गए ज्ञापक से ही संपूर्ण न्याय का ज्ञापन होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।

इस न्याय की अनित्यता 'गस्थकः' ५/१/६६ सूत्र से श्रीहेमहंसगणि ने बताई है किन्तु उससे इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन नहीं होता है क्योंकि 'थक' प्रत्यय 'शिल्पी' (कलाकार) के अर्थ में होता है और 'गांङ्' धातु 'गत्यर्थक' होने से उससे 'शिल्पी' अर्थ में 'थक' प्रत्यय होनेवाला ही नहीं है । अतः यहाँ 'गः' शब्द से (गायति) 'गै' धातु का ग्रहण किया है । ऐसी शंका श्रीलावण्यसूरि तथा श्रीहेमहंसगणि दोनों ने की है और श्रीहेमहंसगणि ने उसका प्रत्युत्तर देते हुए कहा है कि इस न्याय से दोनों प्रकार के 'गा' धातुओं का ग्रहण संभवित था तथापि एक का ही ग्रहण किया, उससे ज्ञापित होता है कि इस न्याय की यहाँ प्रवृत्ति नहीं की गई है । अतः वह इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक है किन्तु श्रीलावण्यसूरिजी की इस बात के प्रति स्पष्टरूप से अरुचि दिखायी पड़ती है । वे तो कहते हैं कि केवल इतने से ही यही सूत्र इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक नहीं बन सकता है । किन्तु वहाँ भी श्रीहेमचन्द्रसूरिजी को इस न्याय की प्रवृत्ति का स्वीकार ही इष्ट/अभिप्रेत है । अन्यथा उन्होंने स्वयं यहाँ इस न्याय की अनित्यता बतायी होती, किन्तु इसके स्थान पर उन्होंने कहा कि 'गांङ्' धातु गत्यर्थक होने से उससे हुए प्रत्यय द्वारा 'शिल्पी' अर्थ प्रकट नहीं हो सकता है और 'गमन' क्रिया, शिल्प या कौशल का विषय ही नहीं है और लघुन्यासकार ने भी इसी सूत्र की प्रवृत्ति में इस न्याय की अनित्यता का आश्रय नहीं किया है ।

इस न्याय में 'प्राज्ज्ञश्च' ५/१/७९ सूत्र के सम्बन्ध में छ प्रकारों के ही दा धातु क्यों दिये ? और सातवाँ 'दींङ्च् क्षये' धातु 'यबक्ङिति' ४/२/७ सूत्र से दा रूप होता है तथापि क्यों नहीं दिया है ? उसकी स्पष्टता करते हुए श्रीहेमहंसगणि ने न्यास में कहा है कि 'दींङ्च् क्षये ' धातु अकर्मक है । जबकि 'प्राज्ज्ञश्च' ५/१/७९ सूत्र में कर्म से पर आये हुए दा रूप धातु लेना है । अतः 'दींङ् च् क्षये' धातु कभी भी कर्म से पर आता नहीं है, उसी कारण से ही यहाँ उसका उदाहरण नहीं दिया है ।

जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति को छोड़कर, अन्य किसी भी सिद्धहेम के पूर्ववर्ती परिभाषासंग्रह में यह न्याय नहीं है, जबकि पश्चात्कालीन सभी परिभाषासंग्रहों में यह न्याय है ।

॥ ७८॥ श्रुतानुमितयोः श्रौतो विधिर्बलीयान् ॥ २१॥

सूत्रप्राप्त और परिभाषाप्राप्त विधि में से सूत्रप्राप्त विधि बलवान् है ।

'श्रुत' अर्थात् सूत्र में साक्षात् शब्द द्वारा कही गई हो वह और अनुमित अर्थात् परिभाषा से निष्पन्न या पूर्वानुवृत्ति या अधिकार इत्यादि से आरोपित ।

'श्रुतानुमितयोः' यहाँ सम्बन्ध में षष्ठी है और 'विध्योः' पद अध्याहार है और उसमें 'निर्धारणे' षष्ठी है ।

'श्रुतस्यायं श्रौतः' यहाँ 'तस्येदम्' ६/३/१६० से 'अण्' प्रत्यय होने पर 'वृद्धिः स्वरेष्वादेः...' ७/४/१ से 'उ' की वृद्धि होने से 'श्रौतः' शब्द होगा । अर्थ इस प्रकार है :- 'श्रुत' और 'अनुमित' दोनों प्रकार की विधियों का जहाँ संभव हो वहाँ दो में से श्रुतविधि बलवान् मानी जाती है, और वही होती है

उदा. 'ॠतां क्ङिन्तीर्' ४/४/११६ 'तीर्णम्' यहाँ 'तॄ' धातु से 'क्त' प्रत्यय हुआ है उसका 'ॠल्वादेरेषां तो नोऽप्रः' ४/२/६८ से 'न' हुआ है और उसका 'रषृवर्णान्नो'-२/३/६३ से 'ण' हुआ है । अब 'ॠतां क्ङिन्तीर्' ४/४/११६ से 'ॠ' का इर्' करते समय, वही 'इर्' आदेश सिर्फ 'ॠ' का करना या संपूर्ण ॠकारान्त 'तॄ' का करना ? यहाँ 'ॠ' का 'इर्' आदेश श्रुतविधि है, अतः वही होगी । जबकि समग्र/संपूर्ण ॠकारान्त धातु का 'इर्' आदेश 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ परिभाषा से निष्पन्न होने से नहीं होगा । इसके अतिरिक्त यहाँ ॠदन्तत्व और ॠताम् दोनों का विशेषण- विशेष्यभाव होने पर ॠतां विशेषण होगा और 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा से ॠदन्तत्व आरोपित विशेष्य होने से अनुमित होगा । अतः अनुमित ॠदन्तत्व निबर्ल होने से तत्सम्बन्धितविधि नहीं होगी । ॠदन्त की विधि कौन सी है, तो कहते हैं कि 'इर्' आदेश अनेकवर्णयुक्त होने से 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ से निष्पन्न समग्र/अखंड ॠकारान्त धातु का 'इर्' आदेश होने की प्राप्ति है, वही ॠदन्त सम्बन्धितविधि है । अर्थात् दोनों तरह से 'ॠ' का 'इर्' आदेश श्रुतविधि है और संपूर्ण ॠकारान्त धातु का 'इर्' आदेश अनुमित होगा । अतः श्रुतविधि बलवान् होने से वही होगी ।

इस न्याय का ज्ञापन 'ॠतां क्ङिन्तीर्' ४/४/११६ सूत्रगत 'ॠतां' शब्द से होता है । यहाँ 'ॠतामृतः' निर्देश करने के स्थान पर सिर्फ 'ॠतां' निर्देश किया, वह इस न्याय के अस्तित्व के कारण ही । वह इस प्रकार है ।

यहाँ 'ॠतां' की व्याख्या 'ॠदन्तानाम्' होगी और 'इर्' आदेश अनेकवर्णयुक्त होने से, 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ परिभाषा से संपूर्ण ॠकारान्त धातु का ही 'इर्' आदेश होने की प्राप्ति है । जबकि आचार्यश्री को केवल ॠकार का ही 'इर्' आदेश इष्ट है । अत एव 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ परिभाषा को निरवकाश करने के लिए 'ॠतामृत इर्' ऐसा निर्देश करना आवश्यक था तथापि ऐसा न करके केवल 'ॠतां' निर्देश किया, वह इस न्याय से श्रुत ॠ का ही

'इर्' होगा किन्तु अनुमित संपूर्ण ॠकारान्त धातु का 'इर्' आदेश नहीं होगा ऐसे आशय से ही ।

यह न्याय अनित्य होने से 'मनोरौ च वा' २/४/६१ सूत्र में स्थित 'वा' शब्द का, पूर्वसूत्र से चली आती अनुवृत्ति स्वरूप - अनुमित ङी के साथ सम्बन्ध होता है किन्तु श्रुत 'औ' कार के साथ सम्बन्ध नहीं होता है । अतः सूत्र के अर्थ में 'मनु' शब्द से 'ङी' विकल्प से होता है, वैसा अर्थ होगा किन्तु 'औ' और 'ऐ' विकल्प से होता है ऐसा अर्थ नहीं हो सकता है । अतः 'मनोर्भार्या' धवयोग में, 'मनु' शब्द से 'मनोरौ च वा' २/४/६१ से विकल्प से 'ङी' होगा अर्थात् जब 'ङी' प्रत्यय होगा तब 'मनु' शब्द के अन्त्य 'उ' का 'औ' और 'ऐ' आदेश होगा । 'औ' आदेश होने पर 'मनावी' और 'ऐ' आदेश होने पर 'मनायी' शब्द होंगे, और जब ङी प्रत्यय नहीं होगा तब 'मनुः' । इस प्रकार स्त्रीलिङ्ग में तीनों रूप सिद्ध होगें ।

यदि 'वा' शब्द का 'औ च' के साथ सम्बन्ध किया जाय तो ङी प्रत्यय नित्य होगा और 'मनावी, मनायी' तथा 'मन्वी' रूप होते किन्तु वैसा नहीं होता है , वह इस न्याय की अनित्यता के कारण 'वा' का अनुमित 'ङी' के साथ सम्बन्ध किया गया होने से है ।

'निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः स्युः' ऐसा न्याय भी पाया जाता है । जैसे 'यस्वरे पादः पदणिक्यघुटि' २/१/१०२ में 'पादः' शब्द की 'पादन्तस्य' व्याख्या हो सकती है, वैसा करें तो पाद् शब्द जिसके अन्त में हो वैसा नाम वह 'पाद्' शब्द का विशेष्य होगा और 'पद्' आदेश अनेकवर्णयुक्त होने से 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ७/४/१०६ का बाध करके 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ परिभाषा से 'पाद्' अन्तवाले संपूर्ण शब्द का 'पद्' आदेश होने की प्राप्ति है किन्तु यहाँ केवल 'पाद्' शब्द का ही 'पद्' आदेश होगा क्योंकि सूत्र में केवल 'पाद्' शब्द का ही निर्देश किया है । उदा. द्वौ पादौ यस्य द्विपात् । यहाँ 'पात्पादस्याहस्त्यादेः' ७/३/१४८ से 'पाद' का 'पाद्' आदेश होगा । उससे जब तृतीया विभक्ति एकवचन का 'टा' प्रत्यय होगा तब 'यस्वरे पादः पदणिक्यघुटि' २/१/१०२ से संपूर्ण 'द्विपात्' शब्द का 'पद्' आदेश न होकर, केवल सूत्रनिर्दिष्ट 'पात्' शब्द का ही 'पद्' आदेश होता है । अतः 'द्विपदा' रूप होगा।

किन्तु 'निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः स्युः' न्याय 'श्रुतानुमितयोः श्रौतो विधिर्बलीयान्' न्याय के एक भाग स्वरूप ही है, किन्तु भिन्न नहीं है । अतः उसी न्याय की सिद्धि भी इसी न्याय से हो जाती है । कैसे ? तो कहते हैं कि 'यस्वरे पादः पदणिक्यघुटि' २/१/१०२ में पूर्वसूत्र से अधिकार के रूप में आता 'नाम्नः' पद विशेष्य बनता है और 'पादः' शब्द विशेषण बनता है । अतः 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा से 'पादन्तस्य' अर्थ प्राप्त होता है । किन्तु यही 'पादन्तत्व' परिभाषा द्वारा आरोपित होने से 'अनुमित' कहा जाता है । अतः पादन्तत्व सम्बन्धित 'पद्' आदेश स्वरूपविधि, अनेकवर्णयुक्त होने से 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ परिभाषा से संपूर्ण 'पादन्त' शब्द का 'पद्' आदेश होने की प्राप्ति है किन्तु वह निर्बल होने से नहीं होता है और सूत्र में केवल 'पाद्' शब्द साक्षात् कहा गया होने से उसका ही 'पद्' आदेश होता है क्योंकि वह श्रौतविधि है । अतः वह, अनुमित 'पादन्त' विधि से बलवान् है

इस न्याय का ज्ञापक 'ॠतां क्ङितीर् ४/४/११६ सूत्र में 'ॠतामृतः' कहने के स्थान पर 'ॠतां' कहा, वह है। इसके बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यही ज्ञापक उचित नहीं है। इस न्याय के विषय में सूत्रकार श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने स्वयं किसी भी प्रकार का ऐसा विधान नहीं किया है कि जिससे यहाँ केवल 'ॠतां' कहने से ही ॠकारान्त के अन्त्य 'ॠ का ही 'इर्' आदेश हो सके। अतः 'ॠतां' निर्देश द्वारा इस न्याय का ज्ञापन नहीं हो सकेगा और इस न्याय के बिना 'ॠतां' निर्देश की व्यर्थता भी प्रतीत नहीं होती है। इसलिए इस न्याय का ज्ञापक यदि बताना ही हो तो 'किरो लवने' ४/४/९३ सूत्रगत 'किरः' और उसके जैसे अन्य सूत्रगत अन्य प्रयोगों को ही ज्ञापक के रूप में बताने चाहिए।

यदि यह न्याय न होता तो 'ॠतां क्ङितीर्' ४/४/११६ सूत्र में 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ और 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ परिभाषा की प्रवृत्ति से संपूर्णः ॠकारान्त' धातु का 'इर्' आदेश हो जाता तो यही 'किरः' इत्यादि निर्देश व्यर्थ हो जाता है। वह व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है। अतः जहाँ 'ॠतां' कहा है वहाँ केवल 'ॠ' का ही 'इर्' आदेश होगा, किन्तु 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ से ॠकारान्त धातु का ग्रहण अनुमित है और उसी अनुमित संपूर्ण स्थानी का 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ७/४/१०७ परिभाषा से 'इर्' आदेश नहीं होगा किन्तु ऊपर बताया उसी तरह श्रौत ॠ का ही 'इर्' आदेश होता है किन्तु इस बात का भी उन्होंने आगे खंडन किया है और 'ॠतां क्ङितीर्' ४/४/११६ के 'ॠतां' निर्देश में और उसके कार्य में 'निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः स्युः' न्याय की प्रवृत्ति बतायी है। उसकी चर्चा आगे की जायेगी।

श्रीहेमहंसगणि ने 'मनोरौ च वा' २/४/६१ सूत्र में इस न्याय की अनित्यता का फल बताया है और श्रीलावण्यसूरिजी ने उसका खंडन किया है किन्तु वह उचित प्रतीत नहीं होता है। उन्होंने किया हुआ खंडन इस प्रकार है :-

श्रौतविधि और अनुमितविधि, दोनों में परस्पर विरोध हो तो ही 'श्रौतविधि' की बलवत्ता बताने के लिए यह न्याय है। यहाँ 'मनोरौ च वा' २/४/६१ में श्रौत औकार विधान और अनुमित ङी विधान दोनों के साथ विकल्प का सम्बन्ध करने पर परस्पर विरोध नहीं आता है। अतः यहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति का अभाव है। यही परस्पर विरोधाभाव बताते हुए वे कहते हैं कि 'मनोरौ च वा' २/४/६१ सूत्र में चकार से, पूर्व सूत्र में से अनुवृत्त 'ऐ' का जैसे समुच्चय होता है, वैसे 'ङी' का भी समुच्चय होता है। अतः औकार और ऐकार के साथ साथ 'ङी' का भी समुच्चय है। अतः 'सन्नियोगशिष्टानां सहैव प्रवृत्तिः, सहैव निवृत्तिः' न्याय से 'मनु' के 'उ' का जब 'औ' या 'ऐ' आदेश नहीं होगा तब 'ङी' भी नहीं होगा अर्थात् प्रथम 'औ' या 'ऐ' आदेश करना बाद में 'ङी' प्रत्यय करना। अतः 'ङी' का विकल्प करने के लिए इस न्याय के अनित्यत्व का आश्रय न करना, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं किन्तु इसके बारे में सिद्धहेमसूत्रवृत्ति, बृहद्वृत्ति और बृहन्न्यास देखने से मालूम पड़ता है कि 'मनोरौ च वा' २/४/६१ सूत्र में चकार से 'ऐ' का ही समुच्चय किया है किन्तु 'ङी' का समुच्चय नहीं किया है। दूसरी बात 'ङी' का अधिकार 'गौरादिभ्यो मुख्यान् ङीः' २/

४/१९ से चला आता है इसे 'ङी' की अनुवृत्ति कहनी हो तो यही 'ङी' अनुवृत्ति से आया हुआ है। संक्षेप में 'ङी' अनुमित है और अनुमित किसे कहा जाता है उसकी व्याख्या श्रीहेमहंसगणि ने बतायी है और उसका स्वीकार श्रीलावण्यसूरिजी ने भी किया है। उसके अनुसार यही 'ङी' भी अनुमित ही है। उसका 'च' से समुच्चय नहीं होता है। उसी कारण से 'सन्नियोगशिष्टानां सहैवप्रवृत्तिः'-न्याय की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरी एक बात उन्होंने यह कही है कि प्रथम 'उ' का 'औ' या 'ऐ' आदेश होने के बाद ही 'ङी' होगा और 'औ' या 'ऐ' आदेश नहीं होने पर 'ङी' भी नहीं होगा। उनकी यह बात सही नहीं है। यहाँ विकल्प का ('वा' का) 'ङी' के साथ ही सम्बन्ध है किन्तु 'औ' या 'ऐ' के साथ सम्बन्ध नहीं है।★ अतः जब 'ङी' होगा तब ही 'औ' और 'ऐ' होगा और 'ङी' नहीं होगा तब 'ऐ' और 'औ' भी नहीं होगा। यही बात सिद्धहेम बृहन्न्यास देखने से स्पष्ट हो जाती है।

श्रीहेमहंसगणि ने 'श्रुतानुमितयोः' न्याय में ही 'निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः स्युः' न्याय को समाविष्ट किया है किन्तु वह उचित नहीं लगता है। इस न्याय के न्यास में उन्होंने बताया है, उसी तरह 'श्रुतानुमितयोः...' न्याय में स्थित 'विधि' शब्द से, उसमें आदेश स्वरूप और प्रत्यय स्वरूप (अनादेश स्वरूप) दोनों विधि का समावेश होता है, जबकि 'निर्दिश्यमानस्यैव'- न्याय केवल आदेशस्वरूपविधि के लिए ही है। अतः इस न्याय का 'श्रुतानुमितयोः' - न्याय में समावेश हो जाता है क्योंकि 'श्रुतानुमित-' न्याय 'निर्दिश्यमानस्यैव' - न्याय का व्यापक है और 'निर्दिश्यमानस्यैव'-न्याय 'श्रुतानुमित'-न्याय का व्याप्य है। किन्तु इस बात का श्रीलावण्यसूरिजी खंडन करते हैं। वे कहते हैं कि वस्तुतः 'श्रुतानुमित' - न्याय का बोध होता ही नहीं है क्योंकि दोनों न्याय के विषय भिन्न भिन्न है। इन दोनों न्याय के विषय के बारे में वे कहते हैं कि जहाँ श्रुत और अनुमित दोनों निमित्तों व कार्य की भिन्न भिन्न उपस्थित होती हो वहाँ ही इसी 'श्रुतानुमित-' न्याय की प्रवृत्ति का संभव है, जबकि 'निर्दिश्यमानस्यैव' न्याय की प्रवृत्ति, जहाँ आदेश के स्थानी की श्रुत और अनुमित ऐसी पृथक् पृथक् उपस्थिति न होती हो वहाँ होती है।

इस न्याय के उदाहरण में 'ॠतां क्ङितीर्' ४/४/११६ सूत्र को बताया है। यहाँ 'ॠतां' पद से ॠदन्त धातु और ॠकार दोनों की भिन्न भिन्न उपस्थितियाँ नहीं होती हैं किन्तु 'ॠतां' पद से ही 'ॠतां धातूनां' के रूप में धातु के विशेषण(अन्त्य अवयव)स्वरूप ॠ, ऐसा अर्थ होता है। अतः 'ॠदन्त धातु' और 'ॠ' दोनों भिन्न भिन्न उपस्थित नहीं होते हैं अतः स्पर्द्धा का अभाव होता है और स्पर्द्धा ही नहीं होने से बलाबल का विचार करना उचित नहीं है। अतः 'श्रुतानुमितयोः'-न्याय की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होगी किन्तु 'निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः स्युः' न्याय की प्रवृत्ति होगी। इस न्याय के फलस्वरूप 'यस्वरे पादः.....२/१/१०२ में 'पाद्' शब्द तदन्त का उपस्थापक होने पर भी 'उच्चारित एव शब्दः प्रत्यायको, नानुच्चारितः' या 'निर्दिश्यमानस्यैवा'-न्याय के कारण 'पादन्त' का 'पद्'

★ प्रत्ययसंनियोगार्थश्चकारोऽनुवर्तते, वा शब्दो विकल्पार्थः, प्रथमविधेयता प्रधानेन ङीप्रत्ययेन सम्बध्यते, न त्वौकारेण, तत्संनिधानेनाप्रधानत्वादित्याह ङीर्वा भवति। (सिद्धहेमबृहन्न्यास - सूत्र २/४/६१)

आदेश नहीं होगा, किन्तु केवल 'पाद' शब्द का ही 'पद्' आदेश होगा ।

इस न्याय के ज्ञापक के रूप में आगे/पहले 'श्रुतानुमितयोः'- न्याय के ज्ञापक के रूप में जो 'किरो लवने' ४/४/६३ सूत्रगत 'किरः' प्रयोग को बताया, वह है, क्योंकि यह न्याय न होता तो 'ॠतां क्ङितीर्' ४/४/११६ से 'कॄ' धातु के 'ॠ' का 'इर्' होने के स्थान पर संपूर्ण 'कॄ'धातु का ही 'इर्' आदेश हो जाता, तो 'किरः' निर्देश व्यर्थ होता । यही 'किरः' निर्देश व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है ।

इस प्रकार श्रीहेमहंसगणि ने बताये हुए 'श्रुतानुमितयोः' न्याय के ज्ञापक को उन्होंने 'निर्दिश्यमानस्यैव'- न्याय के फल के रूप में बताया है और 'किरो लवने' ४/४/९३ सूत्रगत 'किरः' निर्देश को ज्ञापक बताया है । तो प्रश्न यही पैदा होता है कि 'श्रुतानुमित-' न्याय का विषय क्या है ? कौन-सा है ? उसका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते है कि 'त्रिचतुरस्तिसृचतसृ स्यादौ' २/१/१ इत्यादि सूत्र 'श्रुतानुमितयोः' न्याय की प्रवृत्ति के स्थल हैं । वह इस प्रकार :- इसी सूत्र में, पूर्व सूत्र से आती हुई 'स्त्रियाम्' पद की अनुवृत्ति का प्रत्यक्ष या श्रौत 'त्रि-चतुर्' शब्द के साथ ही सम्बन्ध होगा किन्तु 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषाप्राप्त 'त्रि' या 'चतुर्' अन्तवाले 'प्रियत्रि, प्रियचतुर्' इत्यादि संपूर्ण के स्थान में 'तिसृ, चतसृ' आदेश नहीं होगा ।

यहाँ श्रीलावण्यसूरिजी ने तथा श्रीहेमहंसगणि ने (लघुन्यासकार के मतानुसार) शब्द के विषय में 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा की प्रवृत्ति की है, किन्तु पहले/पूर्वे बताया है वैसे 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ की प्रवृत्ति यहाँ न की जाय तो, 'ॠतां क्ङितीर्' ४/४/११६ में उसकी प्रवृत्ति करनी चाहिए और वहाँ वह हो सकती है । वैसा करने पर श्रीलावण्यसूरिजी ने बताये हुए उदाहरण और ज्ञापक विपरीत/व्यस्त हो जायेंगे अर्थात् 'ॠतां क्ङितीर्' ४/४/११६ और 'किरो लवने' ४/४/९३ में 'किरः' निर्देश 'श्रुतानुमित' - न्याय का उदाहरण और ज्ञापक बनेगा तथा 'श्रुतानुमित-' न्याय का उदाहरण 'त्रिचतुरस्तिसृ- '२/१/१ 'निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः स्युः' न्याय का उदाहरण बनेगा ।

दूसरी विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि श्रीलावण्यसूरिजी ने पाणिनीय परंपरानुसार दिये हुए न्याय 'निर्दिश्यमानस्यादेशाः स्युः' में एवकार नहीं है, जबकि श्रीहेमहंसगणि की वृत्ति और न्यास में 'निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः स्युः 'न्याय है । यहाँ एवकार स्पष्ट है । यही एवकार न होता तो श्रीलावण्यसूरिजी ने किये हुए खंडन को मान्यता दी जा सकती, किन्तु, यही एवकार ऐसा सूचित करता है कि सूत्र में कहे गये शब्द का ही आदेश होता है, किन्तु इसे छोडकर अन्य किसी भी परिभाषाप्राप्त या न्यायप्राप्त तदन्त का आदेश कदापि नहीं होता है अर्थात् उसी एवकार से, अनुमित स्थानी की दुर्बलता बतायी है । अत एव इसी 'निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः स्युः' न्याय का 'श्रुतानुमितयोः श्रौतो विधिर्बलीयान्' न्याय में समावेश किया है, उसमें कुछ अनुचित नहीं है । और यही एवकार युक्त न्याय में अन्य परम्परा के एवकार रहित न्याय का भी समावेश हो ही जाता है । अतः 'निर्दिश्यमानस्यादेशाः' न्याय को यहाँ पृथक् कहने की आवश्यकता भी नहीं है ।

आ.श्रीलावण्यसूरिजी ने, इस न्याय का खंडन करने से पहले पूर्वपक्ष के रूप में 'निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः स्युः' का प्रतिपादन किया है [१] और खंडन करते समय उसमें से एवकार निकालकर 'निर्दिश्यमानस्यादेशाः' कहकर खंडन किया है [२] वह उचित नहीं लगता है ।

यह न्याय व्याडि के परिभाषासूचन, शाकटायन, कातंत्र की दुर्गसिंह और भावमिश्रकृत परिभाषावृत्तियों, जैनेन्द्र, भोज व्याकरण में नहीं है । व्याडि के परिभाषासूचन, शाकटायनपाठ व कातंत्र की दुर्गसिंहकृत वृत्ति में 'औपदेशिक प्रायोगिकयोरौपदेशिकस्य' न्याय का शायद यही अर्थ है ।

॥ ७९॥ अन्तरङ्गानपि विधीन् यबादेशो बाधते ॥२२॥

'यप्' आदेश अन्तरङ्ग विधियों का भी बाध करता है ।

यहाँ 'अनञः क्त्वो यप्' ३/२/१५४ सूत्र से होनेवाला 'यप्' पदद्वयापेक्षी है और प्रत्ययाश्रित है, अतः वह बहिरङ्ग है । 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' और 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' उन दोनों न्यायों का बाधक यह न्याय है अर्थात् बहिरङ्गस्वरूप यबादेश सर्व अन्तरङ्गविधियों का बाध करता है ।

उदा. 'प्रशम्य' । यहाँ 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'शम्' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होगा तब 'अहन्पञ्चमस्य क्विक्ङिति' ४/१/१०७ से प्रथम दीर्घ होने की प्राप्ति है । वह प्रकृतिआश्रित होने से और एक पदापेक्षी होने से अन्तरङ्ग है । जबकि 'क्त्वा' का 'यप्' आदेश ऊपर बताया उसी प्रकार पदद्वयापेक्षी और प्रत्ययाश्रित होने से बहिरङ्ग है । अतः 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' न्याय से दीर्घविधि पहले होने की प्राप्ति है, तथापि इस न्याय से उसका बाध होकर बहिरङ्गस्वरूप 'क्त्वा' का 'यप्'आदेश प्रथम होगा, बाद में धुडादि प्रत्यय न मिलने से दीर्घविधि नहीं होगी और 'प्रशम्य' रूप सिद्ध होगा ।

इस न्याय का ज्ञापन 'यपि चादो जग्ध्' ४/४/१६ सूत्रगत 'यपि च' शब्द से होता है । वह इस प्रकार है :- 'प्रजग्ध्य' रूप सिद्ध करने के लिए सूत्र में 'यपि च' शब्द रखा है । यदि 'यपि च' शब्द न रखा होता तो भी 'अद्' धातु का तकारादि 'कित्' प्रत्यय पर में होने पर 'जग्ध्' आदेश होता है और 'जग्धि' रूप होता है । यदि 'क्त्वा' का 'यप्' आदेश करने से पूर्व ही 'अद्' का 'जग्ध्' आदेश होता तो 'यपि च' शब्द बिना भी 'क्त्वा' प्रत्यय तकारादि 'कित्' होने से जग्ध्' 'आदेश हो सकता है तथापि 'यपि च' शब्द रखा, उससे ज्ञापित होता है कि इस न्याय के कारण 'अद्' का 'जग्ध्'आदेश होने से पूर्व ही 'क्त्वा' का 'यप्' आदेश होगा तब, यदि 'यपि च' शब्द न रखा होता तो 'यप्' आदेश होने के बाद तकारादि कित् प्रत्यय न मिलने से, 'प्रजग्ध्य' रूप में, जो 'जग्ध्' आदेश हुआ है, वह न होता । अतः 'यपि च' शब्द इस न्याय का ज्ञापक है । अत एव कहा है :-

> "तादौ किति जग्धि सिद्धे, यपि चेति यदुच्यते ।
> ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां यपा भवति बाधनम् ॥"

---

१. सिद्धहेमशब्दानुशासन बृहद्वृत्ति-द्वितीय अध्याय के अन्त में दिये गये 'न्यायसमुच्चय' की न्यायार्थसिन्धु टीका-पृ. १३९, पंक्ति ५२

२. एजन, पृ. १३९, पंक्ति ६७.

अर्थ :- 'क्त्वा' तकारादि कित् प्रत्यय होने से 'जग्ध्' आदेश सिद्ध होता है, तथापि 'यपि च' कहा उससे ज्ञापित होता है कि 'यप्' आदेश बहिरङ्ग होने पर भी सर्व अन्तरङ्ग कार्यों का बाध करता है ।

इस न्याय की अनित्यता प्रतीत नहीं होती है ।

'प्रदाय, प्रपाय,' इत्यादि रूपों में इस न्याय के कारण ईत्व नहीं होगा, ऐसा सिद्धहेम-बृहद्वृत्ति में कहा है । इसके बारे में विचार करने पर लगता है कि इन उदाहरणों में 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४/३/९७ सूत्र में ही 'अयपि' कहने से ही उसका निषेध हो जाता है । अतः इस न्याय के उदाहरण के रूप में उसे बताना न चाहिए या यदि उसे इस न्याय के उदाहरण के रूप में मान्य किया जाय तो 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४/३/९७ सूत्र में 'अयपि' कहने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'आ' का 'ई' 'कित्-ङित्' हो ऐसे 'अशित्' प्रत्यय पर में होने पर ही होता है । 'यप्' प्रत्यय स्वयं कित् नहीं है और स्थानिवद्भाव द्वारा भी उसे कित्त्व प्राप्त नहीं होता है क्योंकि कित्त्व, क रूप वर्ण के कारण है, उसी क रूप वर्ण के कारण होनेवाले कित्निमित्तक कार्य भी वर्णविधि कही जायेगी । अतः उसका स्थानिवद्भाव नहीं होगा । अतः 'अयपि' व्यर्थ हुआ और व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि क्वचित् ''अनुबन्धघटितधर्मानयने 'अवर्णविधौ' इति प्रतिषेधो न प्रवर्तते ।'' अर्थात् अनुबन्ध को अवयव मानकर प्राप्त किया जाता धर्म और उसी धर्म के कारण होनेवाले कार्य में 'अवर्णविधि' स्वरूप जो स्थानिवद्भाव का निषेध है, वह प्रवृत्त नहीं होता है अर्थात् गुण का स्थानिवद्भाव होता है । परिणामतः 'अनुभूय' इत्यादि में 'क्त्वा' प्रत्यय का 'कित्त्व','यप्' में प्राप्त होता है और उसी कारण से गुण का निषेध होता है ।

वस्तुतः 'यपि चादो जग्ध्' ४/४/१६ में 'यपि' ग्रहण व्यर्थ होता है और स्वप्रवृति की विरुद्ध प्रवृत्ति का बाध करने से, वह चरितार्थ भी होता है । अतः 'यप्' प्रत्यय अपनी प्रवृत्ति हो जाने के बाद अन्य प्राप्तविधि का बाध करने में समर्थ नहीं हो सकता है । अतः स्थानिवद्भाव द्वारा उत्तर प्राप्त ईत्व का बाध करने के लिए 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४/३/९७ में 'अयपि' कहा है ।

और इस न्याय से, जो 'यप्' अन्तरङ्ग कार्य के निमित्त का नाश करनेवाला है, उसी 'यप्' की बलवत्ता बतायी गई है । किन्तु जो 'यप्' उदासीन है, वह बलवान् नहीं बनता है । अतः 'प्रेष्य गतः' इत्यादि प्रयोग में णिगन्त, प्र पूर्वक के 'इष्' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होगा तब ('प्र इष् णि क्त्वा में) इस न्याय से णि के कारण होनेवाले उपान्त्य का गुण होने से पूर्व 'क्त्वा' का 'यप्' आदेश नहीं होगा । अन्यथा यदि 'क्त्वा' का 'यप्' आदेश होता तो 'यप्' से पूर्व आये हुए 'णि' का 'लघोर्यपि' ४/३/८६ से 'अय्' आदेश हो जाय, किन्तु यहाँ 'यप्' अन्तरङ्ग कार्यस्वरूप गुण का नाश करनेवाला न होने से वह बलवान् बनता नहीं है । अतः प्रथम 'इष्' धातु के 'इ' का गुण होगा, बाद में 'क्त्वा' का 'यप्' आदेश होगा और 'यप्' आदेश होने के बाद 'णेरनिटि' ४/३/८३ से 'णि' का लोप होगा और 'प्रेष्यः' रूप सिद्ध होगा ।

पाणिनीय परम्परा में महाभाष्यकार ने भी इस न्याय का स्वीकार किया है ।

यह न्याय जैनेन्द्रपरिभाषावृत्ति को छोड़कर सिद्धहेम के पूर्वकालीन किसी भी परिभाषासंग्रह में नहीं है, जबकि पश्चात्कालीन पाणिनीय परम्परा के सभी परिभाषासंग्रह में यह न्याय है ।

॥ ८० ॥ सकृद्गते स्पर्द्धे यद्बाधितं तद्बाधितमेव ॥ २३ ॥

एक साथ दो सूत्र की प्राप्ति होने पर / तुल्य बल के विरोध में एक बार जिसका बाध होता है, वह बाधित ही माना जाता है ।

'धातूनामनेकार्थत्वात्' अर्थात् धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं या 'गत्यर्था ज्ञानार्थाः' अर्थात् गति अर्थवाले सब धातु ज्ञान अर्थवाले कहे जाते हैं, उसी न्याय से यहाँ भी 'गते' का अर्थ 'ज्ञाते' करना ।

'स्पर्द्धा' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि दो प्रकार की विधियाँ अन्यत्र सावकाश हो और यहाँ एक ही स्थान पर उन दोनों विधियों की प्राप्ति हो तो, उन दोनों के बीच स्पर्धा हुई मानी जाती है । इसी स्पर्धा के समय उन्ही दो सूत्रों में से कोई भी एक सूत्र किसी भी कारण से पहले बाधित हुआ हो तो वह बाधित ही माना जाता है अर्थात् बाधक सूत्र की प्रवृत्ति होने के बाद भी बाधित सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

उदा. 'द्वयोः कुलयोः'। यहाँ 'द्वि ओस्' स्थिति में 'आदेशादागमः' न्याय से 'अनाम्स्वरे नोऽन्तः' १/४/६४ से 'नोऽन्त' की प्राप्ति है किन्तु उसका 'आद्वेरः' २/१/४१ से बाध होगा क्योंकि वही सूत्र पर है और वह अन्तरङ्ग कार्य है । अतः 'अनाम्स्वरे नोऽन्तः' १/४/६४ बाध्य होगा और 'आद्वेरः' २/१/४१ बाधक होगा । अब 'आद्वेरः' २/१/४१ से 'इ' का 'अ' करने के बाद, 'एद्बहुस्भोसि' १/४/४ से 'द्व' के 'अ' का 'ए' करने के बाद पुनः 'अनाम्स्वरे नोऽन्तः' १/४/६४ की प्राप्ति होगी, किन्तु वह पहले 'आद्वेरः' २/१/४१ से बाधित हुआ होने से, यहाँ भी बाधित ही माना जायेगा और 'नोऽन्त' नहीं होगा ।

इस न्याय का ज्ञापन 'उदच उदीच्' २/१/१०३ में किये गए ' णि - वर्जन' से होता है। 'उदञ्चमाचष्टे इति णौ उदयति ।' इसी प्रयोग में 'उदयति' रूप की सिद्धि करने के लिए 'उदच उदीच्' २/१/१०३ सूत्र में 'णि' का वर्जन किया है । यदि 'णि' का वर्जन न किया होता तो भी 'उदच्' का 'णि' प्रत्यय पर में होने से 'उदीच्' आदेश करने के बाद भी, 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से अन्त्यस्वरादि का लोप होकर 'उदयति' रूप सिद्ध हो सकता था अर्थात् 'णि' का वर्जन करने की कोई आवश्यकता न थी किन्तु यह न्याय होने से 'णि' प्रत्यय पर में होने पर अन्त्यस्वरादि का लोप होने से पहले, विशेषविधि होने से 'उदच्' का 'उदीच्' आदेश होता तो, 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३, 'उदच उदीच्' २/१/१०३ से एक बार बाधित हो जाता है । अतः 'उदीच्' आदेश होने के बाद भी 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ की प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः 'उदयति' के स्थान पर 'उदीचयति' रूप होगा, किन्तु वह अनिष्ट है । अतः 'उदच उदीच्' २/१/१०३ में 'णि' का वर्जन आवश्यक है और 'उदीच्' आदेश किये बिना, अन्त्यस्वरादि का लोप करके ही 'उदयति' रूप सिद्ध होता है ।

यह न्याय अनित्य/अनिश्चित होने से 'प्रियतिसृणः कुलस्य' में 'आगमात् सर्वादेशः' न्याय से प्रथम बाधित 'न' का आगम 'तिसृ' आदेश होने के बाद भी होगा । यहाँ 'प्रियत्रि' शब्द में 'त्रि' का 'त्रिचतुरः' २/१/१ से 'तिसृ' आदेश होनेवाला है, और 'अनाम्स्वरे'-१/४/६४ से 'न' का आगम भी होनेवाला है, तो 'आगमात्सर्वादेशः', 'अनाम्' ...१/४/६४ का बाध करेगा और 'तिसृ' आदेश होने के बाद भी, पूर्वबाधित 'न' का आगम होगा ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय को लोकसिद्ध बताते हैं । उदा. समान बलयुक्त दो मालिकों का सेवक एक ही मनुष्य हो तो, वही सेवक दोनों मालिकों के कार्य अनुक्रम से करेगा, किन्तु जब एक ही साथ दोनों मालिकों के कार्य भिन्न भिन्न (विरुद्ध) दिशा के होंगे तो वह दोनों कार्य एकसाथ करने में असमर्थ होने से , दो में से जो बलवान् होगा, उसका कार्य करेगा और निर्बल का कार्य नहीं करेगा । वैसे यहाँ व्याकरणशास्त्र में भी, दोनों समान बलवाले सूत्र में स्पर्धा होगी और परत्व आदि अन्य किसी भी निमित्त से जो बलवान् होगा, उसकी प्रवृत्ति होगी ।

'स्पर्द्धे' ७/४/११९ सूत्र का ही यह न्याय प्रपंच है और ' स्पर्द्धे' ७/४/११९ सूत्र की नियमार्थतामूलक यह न्याय है । अर्थात् 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ से जहाँ समान बलवाले सूत्र एकसाथ उपस्थित होते हों वहाँ परसूत्र सम्बन्धित कार्य होता है, बाद में पूर्वसूत्र सम्बन्धित कार्य होता है या नहीं ? इसकी कोई बात बताई गई नहीं है । जबकि इस न्याय से परसूत्र सम्बन्धित कार्य होने के बाद, पूर्वसूत्रप्राप्त कार्य नहीं होता है ।

इस न्याय के उदाहरण 'द्वयोः कुलयोः' में 'द्वि' शब्द से 'अनाम्स्वरे'-१/४/६४ से 'नोऽन्त' करने के लिए 'आदेशादागमः' न्याय की प्रवृत्ति बतायी है, उसे श्रीलावण्यसूरिजी उचित नहीं मानते हैं । इसके बारे में वे कहते हैं कि 'अनाम्स्वरे-' १/४/६४ के न्यास में केवल परत्व और अन्तरङ्गत्व के कारण ही, उसी सूत्र की 'द्वयोः कुलयोः' में प्रवृत्ति नहीं होती है और 'नोऽन्त' नहीं होता है, ऐसा बताया है । वहाँ 'आदेशादागमः' न्याय की प्रवृत्ति बतायी नहीं है । इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वयं ही 'द्वयोः कुलयोः' उदाहरण में 'आदेशादागमः' न्याय की अनित्यता बता दी है । अतः यहाँ इस न्याय की चर्चा अनावश्यक है ।

यदि यहाँ 'आदेशादागमः' न्याय की प्रवृत्ति होती तो, परत्व, अन्तरङ्गत्व इत्यादि आदेश को बलवत्तर नहीं बना सकते हैं क्योंकि यह न्याय कहता है कि परत्व, नित्यत्व, अन्तरङ्गत्व इत्यादि से बलवान् बने आदेश से भी आगम बलवान् है ।

यहाँ परत्व और अन्तरङ्गत्व में से वास्तव में क्या है ? उसकी चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि वस्तुतः यहाँ परत्व से ही व्यवस्था होती है , अन्तरङ्गत्व से नहीं क्योंकि अन्तरङ्गत्व बहिरङ्गत्व से सापेक्ष है । तो 'नोऽन्त' और 'अत्व' में से बहिरङ्ग कौन ? एक दृष्टि से विचार करने पर 'नोऽन्त' स्वरादिनिमित्तक है अतः उसे बहिरङ्ग मानने की इच्छा होती है किन्तु वह 'स्यादि' विशेषण सहित है अतः वह स्यादिनिमित्तक ही है । जबकि 'अत्व' भी स्यादिनिमित्तक ही है, अर्थात् दोनों समान हुए ।

दूसरी दृष्टि से विचार करने पर स्यादिप्रत्यय में प्रत्येक स्यादिप्रत्यय आ जाता है, जबकि स्वरादिस्यादि में, व्यञ्जनादिस्यादि का समावेश नहीं होता है । उसी दृष्टि से 'नोऽन्त' अल्प प्रदेशवाला है, जबकि 'अत्व' अधिक प्रदेशवाला है, अतः कदाचित् 'नोऽन्त' को अन्तरङ्ग और 'अत्व' को बहिरङ्ग माना जा सकता है, किन्तु इस प्रकार का अन्तरङ्गत्व और बहिरङ्गत्व स्वीकृत नहीं है । अतः यहाँ परत्व ही व्यवस्थापक है ।

इस न्याय के ज्ञापक के औचित्य के बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'उदच उदीच्' २/१/१०३ और 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ में तुल्य बलत्व नहीं है अतः उन दोनों के बीच किसी भी प्रकार की स्पर्द्धा नहीं है । उसी कारण से इस न्याय के विषय के रूप में उसे न लेना चाहिए । वे कहते हैं कि 'उदच्' का 'उदीच्' आदेश विशेषविधि है और विशेषविधि, सामान्यविधि से बलवान् होती है, अतः उन दोनों के बीच तुल्यबलत्व नहीं है और यदि प्रतिपदोक्तत्व के कारण 'उदीच्' आदेश को बलवान् माना जाय तो भी, उन दोनों में तुल्यबलत्व नहीं होता है।

यद्यपि लघुन्यास में 'णि' वर्जन की चर्चा करते हुए, इस न्याय की प्रवृत्ति बतायी है और इस न्याय की व्याख्यानुसार वह उचित प्रतीत होती है । यदि यह न्याय न होता तो 'णि वर्जन' के बिना ही 'उदयति' रूप सिद्ध हो सकता है क्योंकि बिना णि वर्जन,'उदच्' से 'णि' प्रत्यय होने पर 'उदच उदीच्' २/१/१०३ और 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ की प्राप्ति है किन्तु 'उदच उदीच्' २/१/१०३ विशेष विधि होने से प्रथम होगी, बाद में 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से अन्त्यस्वरादि का लोप होकर 'उदयति' रूप बन सकता है । अतः यही णि वर्जन व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है । अतः इस न्याय के कारण यदि 'णि' वर्जन न किया होता तो 'उदच्' का ' उदीच्' आदेश होने के बाद 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से अन्त्य स्वरादि का लोप नहीं होगा । इस प्रकार 'उदच उदीच्' २/१/१०३ सूत्रगत 'णि' वर्जन इस न्याय का ज्ञापक बनता है । इस बात का अस्वीकार करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि पूर्वोक्त रीति से 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ परिभाषा का नियमार्थमूलक अर्थघटन करने पर इस न्याय की सिद्धि होती है तथापि, ये दोनों सूत्र केवल अन्यत्र सावकाश होने से ही तुल्यबलत्व है ऐसा स्वीकार करके लघुन्यासकार ने यहाँ इसी प्रयोग में इस न्याय का स्वीकार किया है और 'णि' वर्जन की सार्थकता बतायी है ।

पाणिनीय परम्परा में 'उदच उदीच्' २/१/१०३ सूत्र के स्थानि 'उद ईत्'.....सूत्र में 'णि' वर्जन नहीं किया गया है । उनके मत में 'उदीचयति ' रूप ही होता है । 'णि' वर्जन न करने पर भी 'उदीच्' आदेश के अन्त्यस्वरादि का 'नैकस्वरस्य' ७/४/४४ से लोप नहीं होता है । 'उदीच्' या 'उदच्' का एक स्वरत्व किस प्रकार है उसकी स्पष्टता करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि पाणिनीय परम्परानुसार उपसर्ग-स्वरूप पूर्वपद को, समुदाय-स्वरूप शब्द से धातुनिमित्तक प्रत्यय करते समय, पृथक् किया जाता है । इस बात का स्वीकार करके 'उदच्'और 'उदीच्' में 'उद्' को पृथक् करने पर 'अच्' और' ईच्' ऐसा एक स्वरवाला स्वरूप प्राप्त होता है । अतः 'नैकस्वरस्य' ७/४/४४ से अन्त्यस्वरादि का लोप नहीं होगा ।

सिद्धहेम की परम्परा में भी 'न प्रादिरप्रत्ययः' ३/३/४ सूत्र से 'प्रादि' का धातु के अवयव के रूप में निषेध किया है । अतः यहाँ 'अच्' में ही धातुत्व है, ऐसा मानकर 'अच्' से पूर्व ही 'अड्' आगम होता है किन्तु 'उद्' से पूर्व 'अड्' आगम नहीं होता है तथापि 'उदच उदीच्' २/१/१०३ सूत्र में 'उदयति' प्रयोग किया होने से 'णि' के लिए समग्र/संपूर्ण 'उदच्' का ही प्रकृतित्व स्वीकृत है ऐसा सिद्ध होता है ।

इसके बारे में विशेष चर्चा करते हुए 'तरंग' नामक टीका में श्रीलावण्यसूरिजी 'उदीचयति' रूप को ही उचित मानते हैं । वे कहते हैं कि संपूर्ण 'उदच्' को ही प्रकृति मान लिया जाय तो, सब सही हो जाता है किन्तु ऐसा मानने पर 'णि' प्रत्यय से प्रयुक्त क्रियावाचित्व भी संपूर्ण समुदाय का ही मानना पडेगा और तो संपूर्ण समुदाय को ही धातुत्व प्राप्त होगा किन्तु उसके अवयव को धातुत्व प्राप्त नहीं होगा । जबकि जहाँ स्वाभाविक धातु हो वहाँ, उपसर्ग सहित धातु, विशिष्ट क्रियावाची होने पर भी उपसर्ग रहित धातु का सामान्य क्रियावाचित्व अक्षत ही रहता है । अतः उपसर्ग दूर करने पर भी, धातुत्व दूर नहीं होता है, इतना वहाँ विशेष है । यहाँ आख्यात का अर्थ अथवा 'करोति' अर्थ में 'णि' प्रत्यय जिससे होता है, उसका धातुत्व माना जाता है और 'णि' होने के बाद, उपसर्ग को अलग करने पर, धातु के अवयवत्व की आपत्ति आने से आनर्थक्य का प्रसंग उपस्थित होता है । अतः संपूर्ण 'उदच्' को प्रकृति न मानना चाहिए और 'उदच उदीच्' २/१/१०३ में 'णि' का वर्जन न करना क्योंकि वह अनर्थक है तथा ' उदीचयति' और अद्यतनी में 'उदैचिचद्' रूप ही उचित है । जबकि शास्त्रकार आचार्यश्री ने स्वयं 'उदयति' रूप को ही इष्ट माना है । वही विरोधाभास परम्परानुसारी है, अतः उसका सैद्धान्तिक स्तर पर कोई समाधान नहीं मिल पाता है क्यो 'कि 'न प्रादिरप्रत्ययः' ३/३/४ सूत्र के 'अभ्यमनायत्' और 'प्रासादीयत्' रूप, 'उद्' और 'अच्' को पृथक् करने के लिए पर्याप्त/बलवान् सबूत है और 'उदच्' में 'एकस्वरत्व के कारण ' नैकस्वरस्य' ७/४/४४ से 'उदच्' और 'उदीच्' के अन्त्यस्वरादि के लोप का निषेध होता है, किन्तु 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' न्याय से 'उदयति' रूप इसी परम्परा में स्वीकृत है । अतः इस न्याय और इसके ज्ञापक के रूप में 'णि' वर्जन को स्वीकार करना चाहिए, ऐसा मेरा अपना मत है ।

इस न्याय की अनित्यता के बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'सकृद्गते स्पर्द्धे-' न्याय और 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्' न्याय परस्पर विरुद्ध हैं । अतः 'प्रियतिसृणः कुलस्य' उदाहरण में 'आगमात्सर्वादेशः' न्याय से बाधित 'नोऽन्त' 'तिसृ' आदेश होने के बाद भी होगा ही । यही अर्थ/प्रयोजन 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ सूत्र का केवल विधिपरक अर्थ करने से भी सिद्ध हो सकता है । जबकि 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ सूत्र की नियमपरक व्याख्या करने पर 'सकृद्गते'-न्याय का अर्थ सिद्ध होता है ।

यद्यपि सिद्धहेम की परंपरा में 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ सूत्र को परिभाषा सूत्र माना है और परिभाषा की 'अनियमे नियमकारिणी' व्याख्या का स्वीकार करने पर 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ का नियमपरक अर्थ की व्याख्या करना चाहिए । अतः यही 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ सूत्र का विधिपरक अर्थ

करके 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्' न्याय की सिद्धि करना संभव नहीं है तथापि लक्ष्यानुसार इस न्याय के अनित्यत्व का आश्रय करके, 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्' न्याय का स्वीकार हो सकता है और आचार्यश्री ने भी बहुत से स्थान पर 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्'- न्याय को बताया है और आश्रय किया है ।

संक्षेप में जहाँ परसूत्र की ही प्रवृत्ति इष्ट हो वहाँ 'स्पर्द्धे' '७/४/११९ सूत्रका नियमार्थपरक अर्थ करना और जहाँ प्रथम परसूत्र की और बाद में पूर्वसूत्र की प्रवृत्ति इष्ट हो वहाँ 'स्पर्द्धे' ७/४/ ११९ सूत्र का केवल विधिपरक अर्थ करना ।

॥८१॥ द्वित्वे सति पूर्वस्य विकारेषु बाधको न बाधकः ॥२४॥

धातु का द्वित्व होने पर , उसका जो पूर्व भाग/खंड, उसका परिवर्तन/रूपान्तर करते समय, उसी रूपान्तर के बाधक सूत्र, अपनी बाध्यविधि का बाध करने में समर्थ नहीं होते हैं ।

'स्पर्द्धे परः, बलवन्नित्यमनित्यात्' इत्यादि न्यायों का यह अपवाद है । उदा. 'अचीकरत्' यहाँ 'अचकरत्' होने के बाद 'असमानलोपे सन्वल्लघुनि ङे' ४/१/६३ से 'सन्वद्भाव' होने की प्राप्ति है और 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः' ४/१/६४ से दीर्घविधि की प्राप्ति है । इन दोनों में दीर्घविधि पर और नित्य है, अतः वही प्रथम होनी चाहिए किन्तु इस न्याय के कारण सन्वद्भाव पूर्व खंड के विकार सम्बन्धित होने से, उसकी बाधक दीर्घविधि, सन्वद्भाव का बाध करने में समर्थ नहीं होती है । अतः प्रथम सन्वद्भाव होगा और बाद में दीर्घविधि होगी । यदि दीर्घविधि ही प्रथम होती तो 'अचाकरत्' ऐसा अनिष्ट रूप होता ।

इस न्याय का ज्ञापन 'आगुणावन्यादेः' ४/१/४८ में बताये हुए 'नी' इत्यादि आगम के वर्जन से होता है । वह इस प्रकार है :- 'वनीवच्यते, नरिनर्त्ति' इत्यादि रूप में द्वित्व हुए धातु के पूर्वभाग के 'अ' का 'आ' होने की प्राप्ति है, उसका निषेध करने के लिए 'नी' इत्यादि आगम का वर्जन किया है । यदि यह न्याय न होता तो 'आ' का अभाव दूसरी तरह भी सिद्ध हो सकता है । धातु का द्वित्व होने के बाद, पूर्वभाग के 'अ' का 'आ' और 'इ, उ' इत्यादि का गुण 'आगुणौ' -४/१/४८ से होता है, जबकि 'वञ्च स्रंस ध्वंस-' ४/१/५० और अन्य सूत्र से 'नी' इत्यादि का आगम होता है। ये सूत्र 'आगुणौ'-४/१/४८ का अपवाद है । अतः 'आगुणौ'- ४/१/४८ का बाध करके 'नी' इत्यादि आगम ही प्रथम होगा, बाद में 'आ' या 'गुण' नहीं होगा ।

किन्तु यह न्याय होने से, हालाँकि 'नी' इत्यादि आगम ही प्रथम होगा तथापि वही 'नी' इत्यादि आगम 'आत्व' या 'गुण' का बाध करने में समर्थ नहीं होंगे । अतः 'नी' इत्यादि आगम और आत्व दोनों होने पर 'वानीवच्यते, नारिनर्त्ति' इत्यादि अनिष्ट रूप होंगे, ऐसी आशंका से ही आचार्यश्री ने 'नी' इत्यादि आगम का वर्जन किया है ।

इस न्याय की अनिश्चितता/अनित्यता प्रतीत नहीं होती है ।

यहाँ 'नी' इत्यादि आगम आत्व का अपवाद है, अतः 'नी' इत्यादि आगम ही प्रथम होगा, अतः 'आगुणौ'- ४/१/४८ में 'नी' इत्यादि का वर्जन व्यर्थ हुआ , वह इस न्याय का ज्ञापन करता है । इस न्याय का ज्ञापन होने के बाद, 'नी' इत्यादि आगम, आत्व का बाध करने में समर्थ नहीं हो सकता है। अतः 'आगुणावन्यादेः' ४/१/४८ में 'न्यादि' वर्जन सार्थक होगा । यहाँ ऐसा न कहना चाहिए कि 'नी' इत्यादि आगम होने से पहले, अभ्यास (द्वित्व हुए) के पूर्वखंड से 'नी' इत्यादि का आगम करने पर भी 'आत्व' दुर्वार ही है क्योंकि जब आत्व नहीं होगा तब 'नी' इत्यादि आगम करने के बाद 'अन्यादेः' से होनेवाले निषेध की संभावना होने से 'उपसंजनिष्यमाणनिमित्तोऽप्यपवाद उपसंजातनिमित्तमप्युपसर्गं बाधते' न्याय से प्रथम आत्व की प्रवृत्ति नहीं होगी ।

यदि 'न्यादि' का वर्जन न किया होता तो 'नी' इत्यादि में इस न्याय के कारण बाधकत्व का संपूर्ण अभाव हो जाता है । अतः पुनः आत्व की प्रवृत्ति दुर्वार हो जाती है । उसी आत्व का निषेध करने के लिए 'नी' इत्यादि का वर्जन आवश्यक है । यहाँ कोई ऐसा कह सकता है कि 'वनीवच्यते' में 'वनी' अंश में आकारान्तत्व नहीं होने से आत्व की प्राप्ति ही नहीं है । अतः आत्व का निषेध व्यर्थ होगा और न्यादि वर्जन व्यर्थ होगा । उसके प्रत्युत्तर में बताया जा सकता है कि 'न्यादि' का वर्जन जिस अंश में व्यर्थ होकर न्याय का ज्ञापन करता है, वहाँ वैयधिकरण्य से भी अन्वय का ज्ञापन करता है । प्रस्तुत उदाहरण में 'न्यादि' वर्जम से द्वित्व में पूर्व के साथ सम्बन्धित अकार के आत्व स्वरूप वैयधिकरण्य - अन्वय का भी ज्ञापन होता है । अतः 'नी' आगम करने से, अकारान्तत्व के अभाव से प्राप्त दोष नहीं रहता है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं ।

यह न्याय सिर्फ चान्द्र, कातंत्र की भावमिश्रकृत परिभाषावृति, कातंत्रपरिभाषापाठ, कालाप परिभाषापाठ व भोज परम्परा में नहीं है ।

॥ ८२॥ कृतेऽन्यस्मिन् धातुप्रत्ययकार्ये पश्चाद्वृद्धिस्तद्बाध्योऽट् च ॥ २५॥

धातु के प्रत्ययसम्बन्धित अन्य सर्व कार्य करने के बाद वृद्धि और उसका बाध्य 'अट्' होता है ।

यद्यपि यहाँ 'वृद्धि' सामान्य से कहा है तथापि, 'अट्' आगम की बाधक 'स्वरादेस्तासु' ४/४/३१ से होनेवाली 'वृद्धि' ही यहाँ लेनी है । यदि ऐसा न किया जाय तो 'अट्' और 'वृद्धि' का बाध्यबाधकभाव नहीं होगा । अतः 'तद्बाध्य' 'अट्' का विशेषण नहीं होगा ।

'बलवन्नित्यमनित्यात्, अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' इत्यादि न्यायों का अपवाद यह न्याय है । वृद्धि इस प्रकार होती है :-

'ऋंक् गतौ' धातु से 'ह्यस्तनी' के परस्मैपद का अन्यदर्थे बहुवचन का 'अन्' प्रत्यय होने पर 'ऐयरुः' रूप और 'अधि' उपसर्गपूर्वक 'इंङ्क् अध्ययने' धातु से 'ह्यस्तनी' आत्मनेपद अन्यदर्थे बहुवचन का 'अन्त' प्रत्यय होने पर 'अध्यैयत' रूप होता है ।

यहाँ 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव्'- २/१/५० से 'इय्' आदेश हो या न हो, तो भी 'स्वरादेस्तासु'

४/४/३१ से वृद्धि होगी ही, अतः वह नित्य है । अत एव प्रथम वृद्धि होने की प्राप्ति है तथापि नित्य ऐसी वृद्धि प्रथम न होकर, इस न्याय से 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव्'- २/१/५० से 'इय्' आदेश करने के बाद ही 'स्वरादेस्तासु' ४/४/३१ से वृद्धि होगी । यदि प्रथम वृद्धि की जाय तो 'ऐयरुः' के स्थान में 'आयरुः' रूप और 'अध्यैयत' के स्थान पर 'अध्यायत' रूप होगा, किन्तु वे इष्ट नहीं हैं ।

इस न्यायांश का ज्ञापन 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' ४/४/३० सूत्र की रचना द्वारा होता है । 'इंण्क् गतौ' अधि पूर्वक के 'इंक् स्मरणे' और 'असक् भुवि' धातुओं से ह्यस्तनी का 'अन्' प्रत्यय होने पर अनुक्रम से 'आयन्, अध्यायन्, आसन्' इत्यादि रूप होते हैं, तब 'ह्विणोरप्विति' ४/३/१५, 'इको वा' ४/३/१६ होनेवाला 'य' का और 'श्नास्त्योर्लुक्' ४/२/९० से होनेवाले 'अ-लोप' का बाध करके 'स्वरादेस्तासु' ४/४/३१ से वृद्धि प्रथम हो सकती है, क्योंकि वह पर और नित्य है, तथापि प्रथम वृद्धि करने के लिए 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' ४/४/३० सूत्र की रचना की, उससे ज्ञापित होता है कि यह न्यायांश होने से 'इंण्क्' और 'इंक्' का अनुक्रम से 'ह्विणोरप्विति-' ४/३/१५ और 'इको वा' ४/३/१६ से यत्व और श्नास्त्योर्लुक्' ४/२/९० से 'अस्' धातु के अ का लोप होने के बाद ही 'स्वरादेस्तासु' ४/४/३१ से होनेवाली वृद्धि का विचार हो सकता है अर्थात् प्रथम यत्व और अ का लोप होने के बाद स्वरादित्व का अभाव होने से वृद्धि नहीं होगी और 'आयन्' इत्यादि रूप सिद्ध नहीं हो सकते हैं । अतः उन्हीं यत्व और 'अ-लोप' का बाध करने के लिए. पुनः 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' ४/४/३० सूत्र की, रचना की, वह सार्थक होगी ।

इस अंश में यह न्याय अनित्य/अनियत है । अतः 'सम्' पूर्वक के 'ॠं प्रापणे' धातु अथवा 'ॠक् गतौ' धातु से 'समो गमृच्छि'- ३/३/८४ से आत्मनेपद होगा तब 'समार्ष्ट' इत्यादि रूप में 'धुड् ह्रस्वाल्लुगनिटस्तथोः' ४/३/७० से प्राप्त 'सिच्' का लोप करने से पहले ही नित्य ऐसी वृद्धि प्रथम होगी और बाद में धुड् या ह्रस्व न मिलने पर 'सिच्' का लोप नहीं होगा ।

अट्विधि इस प्रकार है :- 'अचीकरत्' इत्यादि प्रयोग में पूर्वोक्त कारण से, नित्य और अल्पनिमित्तक होने से, अन्तरङ्ग ऐसे अट् की प्रथम प्राप्ति है तथापि 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः' ४/१/६४ से पहले दीर्घ करने के बाद ही 'अट्' आगम होगा और यदि प्रथम 'अड्' किया जायेगा तो धातु स्वरादि हो जाने से, दीर्घ नहीं होगा ।

इस न्यायांश का ज्ञापन 'अड् धातोरादि'- ४/४/२९ सूत्र में 'अनु' पद का उपन्यास नहीं किया है, उससे होता है । यदि नित्यत्व इत्यादि कारण से प्रथम 'अड्' करेंगे तो धातु स्वरादि हो जाने से, 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः' ४/१/६४ से दीर्घविधि न होने से, 'अचीकरत्' इत्यादि रूप की सिद्धि नहीं हो सकती है । अतः धातु सम्बन्धित सर्व कार्य करने के बाद ही 'अड्' होता है, वही बताने के लिए 'अड् धातोरादि' -४/४/२९ सूत्र में 'अनु' पद का उपन्यास करना आवश्यक था, यदि ऐसा किया होता तो अच्छा होता, यही आचार्यश्री को मालूम था तथापि, 'अनु' पद का उपन्यास नहीं किया है, उससे सूचित होता है कि यह न्यायांश होने से 'अनु' पद का उपन्यास किये बिना ही धातु सम्बन्धित सर्व कार्य करने के बाद ही 'अड्' आगम होगा, वह आचार्यश्री को मालूम है ही ।

यह न्यायांश भी अनित्य है, अत एव 'उपसर्गात्सुग्सुवसो'-२/३/३९में 'अट्यपि' कहा है। 'अभ्यषुणोद्' इत्यादि प्रयोग में 'अट्' का व्यवधान होने पर भी षत्व होता है। वह बताने के लिए 'अट्यपि' कहा है। यदि यह न्यायांश नित्य होता तो, प्रथम षत्व होने के बाद 'अड्' आगम होता और तो 'अट्' के व्यवधान से कोई फर्क न पडता, अतः 'अट्यपि' कहने की कोई आवश्यकता न थी, तथापि 'अट्यपि' कहा, वह बताता है कि यह न्याय अनित्य है।

इस न्यायांश के दो अंश हैं और श्रीहेमहंसगणि ने दोनों के भिन्न भिन्न ज्ञापक बताये हैं। प्रथमांश का ज्ञापक 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' ४/४/३० सूत्र ही है। जबकि द्वितीयांश 'अट्' का ज्ञापक 'अड् धातो-' ४/४/२९ सूत्र में 'अनु' पद का ग्रहण नहीं किया है वह है। किन्तु बृहद्वृत्ति के आधार पर श्रीलावण्यसूरिजी ने द्वितीय अंश के ज्ञापक का खंडन किया है। 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' ४/४/३० की बृहद्वृत्ति के कथनानुसार इसी सूत्र से ही संपूर्ण न्याय का ज्ञापन होता है। उसका भावार्थ इस प्रकार है :- 'यत्व ' तथा 'लुक्' होने के बाद स्वरादित्व का अभाव हो जाने से 'स्वरादे'-४/४/३१ से वृद्धि नहीं होगी, अतः इसी सूत्र की रचना द्वारा वृद्धि का विशेष विधान किया है किन्तु यहाँ किसी को शंका हो सकती है कि 'अड् धातोरादि'- ४/४/२९ और 'स्वरादेस्तासु' ४/४/३१ में विषय सप्तमी होने से या 'स्वरादेस्तासु' ४/४/३१ परसूत्र होने से 'यत्व' या 'लुक्' होने से पूर्व ही वृद्धि होगी तो 'यत्व' या 'लुक्' की प्राप्ति कैसे होती है ? यही बात सत्य है अतः 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' ४/४/३० सूत्र ज्ञापन करता है कि 'कृतेऽन्यस्मिन् धातुप्रत्ययकार्ये पश्चाद् वृद्धिस्तद्बाध्योऽट्च्'। अतः 'ऐयरुः, अध्यैयत' इत्यादि में 'इय्' आदेश होने के बाद वृद्धि होगी और 'अचीकरत्' में 'अट्' करने से पूर्व ही दीर्घविधि हो जायेगी क्योंकि 'अट्' होने के बाद स्वरादित्व के कारण दीर्घ नहीं हो सकता है। और यही बात उचित है क्योंकि 'अड् धातोरादि-' ४/४/२९ सूत्र की सर्वत्र प्राप्ति है और वह सामान्यविधि है, अतः स्वरादि या अस्वरादि सर्वत्र उसकी प्रवृत्ति का अवकाश है। जबकि 'स्वरादेस्तासु' ४/४/३१ और 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' ४/४/३० सूत्र उसका अपवाद है। अतः यदि केवल वृद्धि ही अन्त में होती है ऐसा ज्ञापन हो तो 'अड्' आगम का कोई नैयत्य नहीं रहता है अतः उसकी पूर्वप्रवृत्ति होती है। किन्तु यही 'अड्' का भी यही 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' ४/४/३० सूत्र से ही नियमन होता है क्योंकि उत्सर्ग और अपवाद समान योगक्षेमवाले होते हैं और इस प्रकार न्यायसिद्धि होने के बाद 'अड् धातो'- ४/४/२९ सूत्रगत 'अनु' पद के अनुपादान को ज्ञापक के रूप में बताने की कोई आवश्यकता नहीं है तथापि वैचित्र्य बताने के लिए दोनों अंशों में भिन्न भिन्न ज्ञापक बताये हैं किन्तु बृहद्वृत्ति अनुसार 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' ४/४/३० सूत्र ही संपूर्ण न्याय का ज्ञापक बनता है।

'अचीकरत्' प्रयोग की सिद्धि के लिए 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः' ४/१/६४ सूत्र में 'अस्वरादेः' कहा है। यदि 'अट्' प्रथम हो जाता तो वह धातु स्वरादि हो जाता है। किन्तु यही बात सही प्रतीत नहीं होती है। वस्तुतः 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः' ४/१/६४ सूत्रगत 'अस्वरादेः' वचन के सामर्थ्य से ही, जो धातु बिना 'अट्' ही स्वरादि हो उसे ही स्वरादि के रूप में यहाँ मानना चाहिए, अन्यथा ङ के विषय में सर्व धातुओं से 'अट्' अवश्य होता ही है, अतः सब ही धातु स्वरादि हो जायेंगे तो 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः' ४/१/६४ में 'अस्वरादेः' निरर्थक होगा। इस प्रकार 'अस्वरादेः' पद स्वरादि

धातुओं का व्यावर्तक नहीं बनेगा । इस प्रकार जो धातु बिना 'अट्' ही स्वरादि होता है उसका ही 'अस्वरादेः' से व्यवच्छेद होता है । ऐसा अर्थ करने से कोई दोष पैदा नहीं होता है और धातु तथा प्रत्यय सम्बन्धित कार्य करने के बाद 'अट्' की प्रवृत्ति का कोई फल नहीं है । अतः इस 'अट्' सम्बन्धित अंश की आवश्यकता नहीं है ।

इसी 'अट्' अंश का ज्ञापक जो बताया, वह भी उचित नहीं है क्योंकि 'अनु' पद का अनुपादन प्रयोजनाभावमूलक ही है । इसके बारे में श्रीलावण्यसूरिजी का कहना है कि उपात्त पद ही ज्ञापक बनता है, अनुपात्तपद नहीं और ज्ञापकत्व अर्थात् ज्ञापनकर्तृत्व और यदि कर्तृत्व न हो तो 'वन्ध्यासुत' इत्यादि की तरह, वह असंभवित बन जाता है और यदि यह 'अट्' अंश को अनावश्यक माना जाय तो, 'उपसर्गात् सुग् सुव सो'-२/३/३९ में स्थित 'अट्यपि' शब्द सप्रयोजन है क्योंकि 'अट्' नित्य होने से उसकी प्रवृत्ति ही प्रथम होगी, अतः उसी 'अट्' के व्यवधान के कारण षत्व की अप्राप्ति होगी । और इस प्रकार के 'पश्चादड्भवने न किञ्चिद् विनश्यति' न्यायवृत्ति के अंश की श्रीहेमहंसगणि ने न्यास में स्पष्टता की है कि यहाँ किसी को शंका हो सकती है कि 'अट्' आगम होने के बाद, उसके व्यवधान के कारण, उससे पूर्व हुए 'ष' का 'निमित्ताभावे'- न्याय से निवर्तन होता है क्योंकि षत्व में उपसर्ग और धातु का आनन्तर्य कारण है और वह 'अट्' के व्यवधान से नष्ट होता है, ऐसी शंका पैदा करके, उसका समाधान देते हुए वे कहते हैं कि 'आगमोऽनुपघाती' न्याय से अड् आगम से व्यवधान नहीं होता है , किन्तु इसी न्यायांश को न मानें तो ऐसे समाधान की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती है ।

तथा 'अट्' आगम के लिए 'अड्धातोरादि'- ४/४/२९ में विषयसप्तमी की व्याख्या की है वह भी उचित है । यद्यपि ह्यस्तनी, अद्यतनी या क्रियातिपत्ति के प्रत्यय और धातु के बीच 'अट्' इत्यादि के व्यवधान के कारण निमित्तसप्तमी के स्थान में विषयसप्तमी उचित है, ऐसा स्वीकार करने पर भी, धातु और प्रत्यय सम्बन्धित सर्व कार्य करने के बाद भी, अड् आगम करने के लिए विषयसप्तमी की ही आवश्यकता है । इस प्रकार इसी न्यायांश के अस्तित्व का समाधान हो सकता है किन्तु इसी न्यायांश का भी ज्ञापक 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' ४/४/३० सूत्र ही माना जा सकता है ।

यह न्याय सिद्धहेम को छोडकर अन्य किसी भी परम्परा में नहीं पाया जाता है ।

॥८३॥ पूर्वं पूर्वोत्तरपदयोः कार्यं कार्यं पश्चात्सन्धिकार्यम् ॥२६॥

समास में प्रथम पूर्वपद सम्बन्धित कार्य और उत्तरपद सम्बन्धित कार्य भिन्न भिन्न रूप से करके, बाद में पूर्वपद और उत्तरपद की सन्धि का कार्य करना ।

'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' इत्यादि न्यायों का यह अपवाद है ।

पूर्वपद सम्बन्धित कार्य इस प्रकार है :- अग्निश्च इन्द्रश्च अग्नेन्द्रौ । यहाँ पूर्वपद 'अग्नि' के 'इ' का 'वेदसहश्रुतावायुदेवतानाम्' ३/२/४१ से 'आ' द्वन्द्व समास की अपेक्षा से बहिरङ्ग होने पर भी प्रथम होगा, किन्तु 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ से होनेवाला सन्धिकार्य द्वन्द्व समास की

अपेक्षारहित होने से अन्तरङ्ग होने पर भी प्रथम नहीं होगा । यदि यह सन्धिकार्य अन्तरङ्ग होने से प्रथम होता तो, पूर्वपद और उत्तरपद के अवयव से उत्पन्न 'ई' का 'उभयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशभाक्' न्याय से, जब 'अग्नी' स्वरूप में 'ई' को पूर्वपद के अन्त में माना जायेगा तो उसका, 'वेदसहश्रुतावायुदेवतानाम्' ३/२/४१ से 'आ' होने पर 'अग्नान्द्रौ' होगा और जब उसी 'ई' को उत्तरपदके आदि में स्थित माना जायेगा तो, पूर्वपद 'अग्न्' होगा और उसके अन्त्य 'न्' का 'वेदसहश्रुता'-३/२/४१ से 'आ ' होगा तो 'अगेन्द्रौ' रूप होगा । ऐसे इन दोनों प्रकार से अनिष्ट रूप ही होंगे । अतः 'आत्व' रूप पूर्वपद सम्बन्धित कार्य करके ही यथाप्राप्त सन्धिकार्य करना, वह यहाँ 'अवर्णस्येवर्णादि'- १/२/६ से होनेवाला 'एत्व' होगा ।

इस न्याय का उपपादन/ज्ञापन 'य्वः पदान्तात् प्रागैदौत्' ७/४/५ की वृत्ति में, पूर्वसूत्र में से अनुवृत्त 'वृद्धिप्राप्तौ सत्याम्' शब्दों से होता है । वह इस प्रकार है :- इसी सूत्र का अर्थ यह है कि 'ञित् णित्' तद्धित प्रत्यय पर में आया हो तो, जिस 'इ' वर्ण और 'उ' वर्ण की वृद्धि होनेवाली है उन्हीं 'इ' वर्ण और 'उ' वर्ण के स्थान में हुए जो 'य्' और 'व्', उससे पूर्व अनुक्रम से 'ऐ' और 'औ' होता है । उदा. 'व्याकरणं वेत्ति अधीते वा, वैयाकरणः ।' यहाँ 'तद्वेत्त्यधीते' ६/२/११७ से 'अण्' हुआ है । वैसे, 'स्वश्वस्य अयम् ' में 'तस्येदम्' ६/३/१६० से 'अण्' होगा और 'सौवश्वः' होगा ।

यदि यह न्यायांश न होता तो 'व्याकरण' और 'स्वश्व' शब्द बने तब ही यत्व और वत्व हो गया होने से, 'इ' वर्ण और 'उ' वर्ण की वृद्धि की प्राप्ति कैसे होती ? और यही 'इ' वर्ण और 'उ' वर्ण वृद्धिमान् न माना जाय तो 'य्वः पदान्तात् प्रागैदौत्' ७/४/५ से 'ऐ' और 'औ' भी कैसे होता?

किन्तु यह न्यायांश होने से 'अण्' प्रत्यय करते समय ' वि आकरण अण्' और 'सु अश्व अण्' की स्थिति में 'वि' और 'सु' के 'इ' वर्ण और 'उ' वर्ण का 'अण्' के कारण वृद्धि रूप कार्य ही प्रथम होगा । किन्तु यत्व और वत्व रूप सन्धिकार्य प्रथम होगा, ऐसी संभावना से ही, आचार्यश्री ने 'वृद्धिप्राप्तौ सत्याम्' शब्दो की अनुवृत्ति की है और वही 'वृद्धिप्राप्ति' होने पर 'य्वः पदान्तात् प्रागैदौत्' ७/४/५ सूत्ररचना के सामर्थ्य से ही, उसी वृद्धि का बाध करके यत्व, वत्व ही होगा और बाद में 'ऐ, औ' होगा ।

इसी न्यायांश का अनैयत्य मालूम नहीं देता है ।

उत्तरपद सम्बन्धित कार्य इस प्रकार है :- 'परमश्चासावयं च परमायम्' यहाँ 'परम सि- इदम् सि' में 'ऐकार्थ्ये' ३/२/८ से स्यादि प्रत्यय का लोप होने पर 'परम इदम्' होगा, बाद में समासनिमित्तक 'सि' प्रत्यय होगा, तब 'परम इदम् सि' होगा यहाँ उत्तरपद के 'इदम्' का 'अयमियं पुंस्त्रियोः सौ' २/१/३८ से 'अयम्' आदेश स्यादि-पुल्लिङ्ग की अपेक्षा होने से बहिरङ्ग है, तथापि, प्रथम होगा, किन्तु 'अवर्णस्येवर्णादि'- १/२/६ से होनेवाला 'एत्व' स्यादिपुल्लिङ्ग की अपेक्षारहित ऐसा, पूर्वपद और उत्तरपद की सन्धि का कार्य, अन्तरङ्ग होने पर भी प्रथम नहीं होगा ।

यदि यही अन्तरङ्ग कार्य प्रथम होता तो 'उभयस्थाननिष्पन्नो-' न्याय से, उसी एकार को यदि

'इदम्' सम्बन्धित माना जाय तो 'एकदेशविकृत-' न्याय से 'एदम्' का 'अयमियम्'- २/१/३८ से 'अयम्' आदेश होने पर 'परमयम्' रूप होगा और एकार को यदि 'परम' शब्द सम्बन्धित माना जाय तो, केवल 'दम्' ही बचेगा और अवयव में समुदाय का उपचार करने पर वही 'दम्' भी 'इदम्' ही कहा जायेगा अतः उसका भी 'अयमियम्-' २/१/३८ से 'अयम्' आदेश करने पर 'परमेऽयम्' रूप होगा । ये दोनों रूप अनिष्ट है । अतः उत्तरपद का 'अयम्' आदेश करने के बाद ही यथाप्राप्त संधिकार्य होगा और 'अवर्णस्ये-' १/२/६ से 'एत्व' नहीं किन्तु 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ से दीर्घविधि ही होगी ।

इस न्यायांश का ज्ञापन 'आतो नेन्द्रवरुणस्य' ७/४/२९ सूत्रनिर्दिष्ट 'इन्द्र' शब्द के स्वर की वृद्धि के निषेध से होता है । वह इस प्रकार है :- 'अग्नेन्द्रौ देवतेऽस्य इति आग्नेन्द्रं सूक्तम्' । यहाँ 'अग्नेन्द्र' शब्द से 'देवता' ६/२/१०१ से 'अण्' प्रत्यय हुआ है ।

यहाँ प्रथम पूर्वपद सम्बन्धित कार्य करना । वह इस प्रकार है :- इस न्याय से सिद्ध 'वेदसहश्रुतावायु-' ३/२/४१ से 'अग्नि' के 'इ' का 'आ' होने के बाद, अण् प्रत्यय पर में होने से 'अग्ना इन्द्र अण्' में 'देवतानामात्वादौ' ७/४/२८से उभयपद के आद्यस्वर की वृद्धि होने की प्राप्ति है । अतः 'अ' और 'इ' दोनों की वृद्धि होनेवाली है, उसका 'आतो नेन्द्रवरुणस्य' ७/४/२९ से निषेध किया है ।

यह न्यायांश न होता तो, यही निषेध व्यर्थ होता । वह इस प्रकार है :- 'इन्द्र' शब्द में दो ही स्वर हैं, उनमें से प्रथम स्वरसंधि द्वारा दूर होता है अर्थात् 'अग्ना' के 'आ' के साथ 'इन्द्र' के 'इ' की संधि होने पर 'ए' होगा क्योंकि इस न्यायांश के अभाव में, एत्व विधि अन्तरङ्ग है, अतः 'अवर्णस्ये' १/२/६ से प्रथम एत्व होगा और दूसरा स्वर 'न्द्र' में 'अ' है, उसका 'अण्' प्रत्यय पर में होने से, 'अवर्णेवर्णस्य-' ७/४/६८ से लोप होने पर, वह दूर होगा, अतः 'इन्द्र' शब्द स्वररहित होने पर, उसके स्वर की वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं है । अतः उसका निषेध भी व्यर्थ है । तथापि उसकी वृद्धि का निषेध किया, उससे सूचित होता है कि प्रथम उत्तरपद सम्बन्धित कार्य करना, उसके बाद ही पूर्वपद और उत्तरपद सम्बन्धित सन्धिकार्य करना । ऐसा करने पर 'अग्ना इन्द्र अण्' में प्रथम सन्धिकार्य के स्थान पर 'देवतानामात्वादौ' ७/४/२८ से 'अ' की वृद्धि के साथ साथ 'इन्द्र' के 'इ' की भी वृद्धि होने पर 'आग्ना ऐन्द्र आग्नैन्द्र' ऐसा अनिष्ट रूप होगा अतः उसकी वृद्धि का निषेध करना आवश्यक है । अतः 'आतो नेन्द्रवरुणस्य' ७/४/२९ से किया गया वृद्धिनिषेध सार्थक है ।

यह न्यायांश अनित्य होने से 'परम इः यस्य तस्य परमेः' प्रयोग में 'परम इ' दो पदों में से उत्तरपद स्वरूप 'इ' का षष्ठी एकवचन का ङस् प्रत्यय पर में होने पर भी 'ङित्यदिति' १/४/२३ से 'ए' नहीं होता है । यदि ऐसा होता तो 'परमेः' के स्थान पर 'परमैः' जैसा अनिष्ट रूप होता ।

इस न्याय के 'पूर्वोत्तरपदयोः कार्यं' अंश का अर्थ करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'पूर्वपदकार्य' अर्थात् पूर्वपद सम्बन्धित कार्य और उत्तरपदकार्य अर्थात् उत्तरपद सम्बन्धित कार्य न कि 'पूर्वपदं' और 'उत्तरपदं' शब्दों के उच्चार कर कहा गया कार्य । अन्यथा वृद्धिकार्य को

पूर्वपदकार्य या उत्तरपदकार्य नहीं कहा जा सकता है । यही बात श्रीहेमहंसगणि की मान्यतानुसार है । किन्तु श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यतानुसार 'पूर्वपद' शब्द का उच्चार कर कहे गये कार्य को ही पूर्वपद सम्बन्धित कार्य कहना ही औचित्यपूर्ण है । अतः 'वैयाकरण' इत्यादि में 'ऐ' आगम और आद्य स्वर की वृद्धि पूर्वपद सम्बन्धित कार्य नहीं है । वैसे 'परमायम्' में 'अयम्' आदेश उत्तरपद सम्बन्धित कार्य न होने से इस न्याय के बिना अनिष्ट रूप होगा, ऐसा भी न मानना चाहिए क्योंकि वही कार्य भी 'उत्तरपद' का उच्चार करके नहीं कहा गया है । यद्यपि 'अयम्' आदेश उत्तरपद में स्थित 'इदम्' सम्बन्धित ही है तथापि वह उत्तरपद है, इसलिए उसका 'अयम्' आदेश करना है, वैसा नहीं है । और वृद्धि में तो संपूर्ण शब्द के आदि में स्थित स्वर की ही वृद्धि का विधान है, यदि वह शब्द सामासिक होने से, पूर्वपद के आद्यस्वर की वृद्धि होती है, तथापि वह पूर्वपद की वृद्धि नहीं कही जा सकती । अतः ऐसे उदाहरण में इस न्याय की प्रवृत्ति न करनी चाहिए, ऐसा उनका मत है । तथापि श्रीहेमहंसगणि ने दिये हुए 'परमायम्, परमाहम्, आग्नेन्द्र' इत्यादि प्रयोग में, उन्होंने इस न्याय की प्रवृत्ति का स्वीकार किया है, ऐसा, इस न्याय की 'तरंग' टीका देखने से स्पष्ट मालूम देता है ।

इस न्याय के दोनों अंश और उसके ज्ञापक की चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इस न्याय के दोनों अंशों का स्वीकार करना संभव है तथापि इन दोनों के लिए भिन्न भिन्न ज्ञापक हों, ऐसा लगता नहीं है यहाँ पूर्वांश के ज्ञापक के रूप में 'य्वः पदान्तात् प्रागैदौत्' ७/४/५ सूत्र की वृत्ति के 'तत्प्राप्तौ सत्याम्' शब्दों के अनुवर्तन को माना है किन्तु वह उचित नहीं लगता है । ज्ञापक तो वही कहा जाता है कि जिसके बिना अमुक कार्य या रूप अनुपपन्न हो और जिसके अस्तित्व में ही वही कार्य उपपन्न हो ।

यहाँ इकार और उकार की वृद्धिप्राप्ति संभावना के विषययुक्त ही है, अर्थात् यदि यहाँ यत्व, वत्व, न हुआ होता तो, उसके स्थानी इकार और उकार की वृद्धि होती अर्थात् 'तत्प्राप्तौ सत्याम्' पद, केवल उपलक्षण से इकार और उकार के स्वरूप का परिचय कराता है किन्तु वही इकार और उकार का व्यावर्तक नहीं है । और वृद्धिप्राप्ति का समय आये तब तक वे ही इकार-उकार, इकार उकार ही रहते हों, यह आवश्यक नहीं है । अतः संधि से यत्व -वत्व होने पर भी 'तत्प्राप्तौ सत्याम्' पद का परिचायकत्व दूर नहीं होता है, अतः उसके द्वारा इस न्यायांश का ज्ञापन करना उचित नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि परिनिष्ठित पद ही अन्यपद की आकांक्षा रखता है, इसके अनुसार 'व्याकरण' शब्द, उसकी सर्वथा निष्पत्ति न हो तब तक, उसे नामत्व भी प्राप्त नहीं होता है और नाम संज्ञा में ही द्वितीया कि उत्पत्ति होकर 'व्याकरणमधीते' इत्यादि विग्रह हो सकता है । इस प्रकार संहिता होने से तद्धित का 'अण्' प्रत्यय हो तब तक संधि बिना नहीं रहा जा सकता है । अतः इस न्याय से ऐसे प्रयोग में 'वृद्धिप्राप्तिकाल' आये तब तक, संधिकार्य की निवृत्ति नहीं हो सकती है और ऊपर बताया उसी तरह आद्य स्वर की वृद्धि का कार्य पूर्वपद सम्बन्धित या उत्तरपद सम्बन्धित नहीं है किन्तु संपूर्ण समुदाय सम्बन्धित है ।

इस प्रकार यहाँ इस न्याय के बिना भी कार्य सिद्ध हो सकता है और इस न्याय से इकार की वृद्धिप्राप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है । अतः 'तत्प्राप्तौ सत्याम्' शब्दों की अनुवृत्ति को इस

न्यायांश का ज्ञापक मानना उचित नहीं है । 'आतो नेन्द्रवरुणस्य' ७/४/२९ सूत्र की बृहद्वृति में इसी सूत्र को ही संपूर्ण न्याय का ज्ञापक माना गया है और उसकी ज्ञापकता बताते हुए बृहद्वृत्ति में कहा है कि ''यहाँ किसीको शंका होती हो कि 'इन्द्र' शब्द में दो स्वर हैं, उनमें से प्रथम स्वर सन्धि द्वारा दूर हो जायेगा, जबकि अन्त्य स्वर 'अ' 'अवर्णेवर्णस्य' ७/४/६८ से दूर हो जायेगा तो 'इन्द्र' शब्द स्वररहित होने से, उसके स्वर की वृद्धि का निषेध करने की क्या आवश्यकता ? यही शंका उचित है किन्तु यही वृद्धि निषेध ही ज्ञापन करता है कि 'बहिरङ्ग ऐसा, पूर्वपद सम्बन्धित और उत्तरपद सम्बन्धित कार्य करने के बाद ही सन्धिकार्य होता है ।' और 'पूर्वेषुकामशम-' इत्यादि की सिद्धि होती है ।

यहाँ ऐसी शंका न करनी कि उत्तरपद की वृद्धि के निषेध द्वारा संपूर्ण (पूर्वपद और उत्तरपद, दोनों न्यायांश का) न्याय का ज्ञापन कैसे हो सकता है ? क्योंकि 'असति बाधके प्रमाणानां सामान्ये पक्षपातः' न्याय से या 'एकदेशानुमत्या संपूर्णस्य' न्याय से संपूर्ण न्याय का ज्ञापन होता है, ऐसा मानना चाहिए ।

लघुन्यासकार ने भी 'वैयाकरण' इत्यादि शब्द में इस न्याय की अप्रवृत्ति ही बतायी है । वे भी 'य्वः पदान्तात् प्रागैदौत्' ७/४/५ सूत्र की वृत्ति के 'तत्प्राप्तौ सत्याम्' शब्दों की अनुवृत्ति को, इस न्याय के पूर्वांश के ज्ञापक के रूप में अनुचित बताते हैं । लघुन्यासकार का अभिप्राय इस प्रकार है :- वे बृहद्वृत्ति के 'परत्वान्नित्यत्वाच्च वृद्धेः प्रागेव सर्वत्रानेनैदौतौ' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'वि आकरण' में 'आतो नेन्द्रवरुणस्य' ७/४/२९ से ज्ञापित 'पूर्वं सन्धिकार्यं न भवति' का वह ज्ञापकसिद्ध होने से आश्रय नहीं किया जायेगा तब यत्व-वत्व का अभाव होगा और 'ऐ, औ' नहीं होगा । और 'पूर्वं सन्धिकार्यं न भवति' का आश्रय करेंगे तो 'इ-उ' का 'ऐ-औ' होगा किन्तु यत्व-वत्व का अभाव होगा,, अतः उससे पूर्व 'ऐ-औ' नहीं होगा । अब 'इ' का 'ऐ' होने के बाद उसका 'आय्' होगा, तब उसके 'आ' का ही ऐ करना पड़ेगा, अतः प्रथम वृद्धि ही होगी और यत्व-वत्व नहीं होगा, ऐसा आग्रह न करना, और इस प्रकार 'तत्प्राप्तौ सत्याम्' अनर्थक ही होगा, जो इष्ट नहीं है ।

वस्तुतः यहाँ 'वैयाकरण' इत्यादि प्रयोग मे इस न्याय की प्रवृत्ति की चर्चा उचित नहीं लगती है क्योंकि यहाँ पूर्वपद सम्बन्धित या उत्तरपद सम्बन्धित कार्य का ही अभाव है ।

और लघुन्यासकार ने जो कहा कि 'वि आकरण' में प्रथम वृद्धि करके 'आय्' आदेश करके उसके 'आ' का 'ऐ' करने से रूपसिद्धि होगी, वह भी उचित नहीं है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं । वस्तुतः इस प्रकार की रूपसिद्धि लघुन्यासकार को इष्ट है ही नहीं, ऐसा लघुन्यास देखने से स्पष्ट लगता है । यह तो उन्होंने सिर्फ रूपसिद्धि करने की संभवितता का ही विचार किया है, ऐसा हमारा/अपना मत है ।

यह न्याय केवल जैनेन्द्र की परिभाषावृत्ति, नागेश के परिभाषेन्दुशेखर और शेषाद्रिनाथ की परिभाषावृत्ति में ही है, इसे छोडकर अन्यत्र कहीं भी यह न्याय नहीं है।

॥ ८४ ॥ संज्ञा न संज्ञान्तरबाधिका ॥२७॥

पूर्वसूत्र से हुई संज्ञा का परसूत्र से हुई संज्ञा से बाध नहीं होता है ।

उदा. 'प्रस्थः' यहाँ 'गति' और 'उपसर्ग' दोनों संज्ञा का सद्भाव/अस्तित्व होने से 'गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः' ३/१/४२ से तत्पुरुष समास भी होगा और 'उपसर्गादातो डोऽश्यः' ५/१/५६ से 'ड' भी होगा ।

इस न्याय का ज्ञापन 'धातोः पूर्जाथ'- ३/१/१ सूत्र से की गई,'प्र' इत्यादि की उपसर्ग संज्ञा से होता है । यदि इसके बाद आये हुए 'उर्याद्यनुकरणश्च्वि'-३/१/२ सूत्र से होनेवाली 'गति' संज्ञा द्वारा 'उपसर्ग' संज्ञा का बाध होता तो 'उपसर्ग' संज्ञा निष्फल ही होती, तो वह करते ही नहीं, तथापि वही 'उपसर्ग' संज्ञा की है उसका इस न्याय के कारण 'गति' संज्ञा से बाध नहीं होने के कारण ही की है ।

यह न्याय अनित्य है, अतः 'स्पृहेर्व्याप्यं वा' २/२/२६ में 'वा' का ग्रहण किया है । यदि यह न्याय नित्य ही होता तो 'स्पृह'धातु के व्याप्य को 'वा' के ग्रहण बिना ही , कर्म और संप्रदान दोनों संज्ञायें हो सकती हैं क्योंकि दोनों में बाध्यबाधकभाव का ही अभाव है । अतः कर्म संज्ञा का संप्रदान संज्ञा से बाध नहीं होता । अतः 'वा' विकल्प बिना भी 'चैत्रं चैत्राय वा स्पृहयति' सिद्ध हो सकता है, तथापि वा का ग्रहण किया वह यह न्याय अनित्य होने से, संप्रदान संज्ञा से, कर्म संज्ञा का बाध हो जायेगा, ऐसी संभावना से ही ।

दूसरा भी एक न्याय यह है कि 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' वह इस प्रकार है :- 'करणं च' २/२/१९ से दिव् धातु के 'करण्' को एकसाथ ही 'कर्म' और 'करण' दो संज्ञाएँ होती हैं, अतः 'अक्षान् अक्षैर्वा दीव्यति' ऐसे दोनों प्रकारों के प्रयोग होते हैं । 'अक्षैदेर्वयते मैत्रश्चैत्रेण' प्रयोग में 'अक्ष' शब्द को 'करण' संज्ञा होने से तृतीया विभक्ति हुई है और 'कर्म' संज्ञा हुई होने से 'गतिबोधाहारार्थशब्दकर्मनित्याकर्मणामनीखाद्यदिह्वाशब्दायक्रन्दाम्' २/२/५ से प्राप्त नित्य अकर्मक धातु सम्बन्धित, अणिग् अवस्था के कर्ता को होनेवाली कर्मसंज्ञा 'चैत्र' को नहीं होती है और 'अक्ष' शब्द को कर्म संज्ञा हुयी होने से ही 'दिव्' धातु से 'आणिगि प्राणिकर्तृकानाप्याण्णिगः' ३/३/१०७ सूत्र से प्राप्त अकर्मकलक्षण परस्मैपद नहीं होता है ।

यहाँ कोई कहता है कि 'अक्षैर्देवयते मैत्रश्चैत्रेण' प्रयोग में 'कर्म' और 'करण' दोनों संज्ञाएँ चरितार्थ हैं, तथापि 'अक्षान् अक्षैर्वा दीव्यति' प्रयोग होने पर भी दोनों संज्ञाओं की स्पर्द्धा में 'करणहेतुक' तृतीया विभक्ति ही उचित है किन्तु द्वितीया न हो क्योंकि वह पर है । यहाँ ऐसा उत्तर दिया जाता है कि आपकी बात सही है किन्तु जब 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय का प्रयोग होता है, तब द्वितीया भी होती है । वह इस प्रकार है :- इस न्याय का अर्थ यह है कि प्रत्येक कार्य के प्रति संज्ञा करनेवाले सूत्र भिन्न भिन्न माने जाते हैं, अतः 'करणं चं' २/२/१९ सूत्र में यद्यपि एकसाथ दो संज्ञाएँ की जाती हैं, तथापि 'अक्षान् अक्षैर्वा दीव्यति' वैसे दो प्रकार के प्रयोग पाये जाते हैं, उसकी

सिद्धि के लिए 'प्रति कार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय से 'करणं च' २/२/१९ सूत्र की पुनः आवृत्ति करके दो बार व्याख्या की जाती है। प्रथम बार 'दिवः करणं कर्म स्यात्' और दूसरी बार 'दिवः करणं करणं स्यात्' ऐसे दो बार भिन्न भिन्न संज्ञाएँ की जाती हैं और यही अर्थ 'च'कार से सूचित होता है क्योंकि 'अव्ययानामनेकार्थत्वात्' (अव्ययों के अनेक अर्थ होते हैं) अतः प्रथम व्याख्या में यही सूत्र केवल कर्मसंज्ञा का विधायक होता है किन्तु 'करण' संज्ञा का विधायक नहीं होता है। अतः 'अक्षान् दीव्यति' प्रयोग किसी भी प्रकार के विरोध के बिना ही हो सकता है। यतः 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ का विचार करते समय प्रथम व्याख्या के पक्ष में 'करण' संज्ञा के विधान का ही अभाव होने से, तृतीया की प्राप्ति का भी अभाव होगा। अतः कर्म संज्ञा की किसके साथ स्पर्द्धा होगी ? अर्थात् स्पर्द्धा का भी अभाव होगा और दूसरी व्याख्यानुसार 'अक्षैर्दीव्यति' प्रयोग तो आपके मतानुसार भी संमत/निर्विगान ही है और ऐसी दो भिन्न भिन्न व्याख्याएँ 'अक्षान् दीव्यति, अक्षैर्दीव्यति' दो भिन्न भिन्न प्रयोगों की सिद्धि के लिए ही हैं।

अब यहाँ दूसरी शंका होती है कि यदि आप दो भिन्न भिन्न व्याख्याएँ करेंगे तो उससे एक ही सूत्र में दो सूत्रों का आरोपण करने से वे दोनों भिन्न भिन्न सूत्र माने जायेगें तो भी इन दो सूत्रों से विहित कर्म और करण संज्ञाओं के बीच की स्पर्द्धा कैसे दूर हो सकती है ? और यही निवृत्ति न हो तो प्रथम 'करणं च' २/२/१९ से हुई कर्मसंज्ञा का, द्वितीय 'करणं' च '२/२/१९ सूत्र से हुई करणसंज्ञा से जो बाध होगा, वह कैसे दूर किया जा सकेगा ? उसका प्रत्युतर देते हुए कहते हैं कि जब 'करणं च' २/२/१९ सूत्र में सूत्रद्वयत्व का आरोप नहीं करेगें तब स्पर्धा होगी, किन्तु जब उसमें सूत्रद्वयत्व का आरोप करेगें तब, ये दोनों संज्ञाएँ अपने अपने सूत्र में स्थित होने से स्पर्द्धा की निवृत्ति होगी। जैसे एक ही घर के अंदर दीवार इत्यादि करके घर के दो भिन्न भिन्न विभाग में रहती सपत्नीयाँ/सौतें-जैसे एक-दूसरी को बिना बाधा पहुँचाए रहती हैं। यदि ऐसा न हो तो इसी एक सूत्र के दो सूत्र किये गये, वही प्रयत्न व्यर्थ होगा। इस प्रकार स्पर्द्धा की निवृत्ति होने पर कौन किस का बाध करेगा ?

तात्पर्य इस प्रकार है :- यहाँ 'करणं च' २/२/१९ सूत्र से होती दोनों संज्ञाओं का विधान 'अक्षैर्देवयते मैत्रश्चैत्रेण' इत्यादि प्रयोग में चरितार्थ है। अतः 'अक्षान् अक्षैर्वा दीव्यति' इत्यादि प्रयोग में ऊपर बतायी गई युक्ति से तृतीया ही हो सकती है, किन्तु द्वितीया का प्रयोग भी प्राप्त होता है। अतः उसके समर्थन में 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय के बल से एक ही 'करणं च' २/२/१९ सूत्र की दो भिन्न भिन्न व्याख्या द्वारा, उसी सूत्र में सूत्रद्वयत्व का आरोप करके, उसके प्रथम सूत्र द्वारा द्वितीया भी की जाती है।

किन्तु यह 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय द्वारा उपर बतायी गई, युक्ति से 'करणं च' २/२/१९ सूत्र में दो भिन्न भिन्न व्याख्या द्वारा सूत्रद्वयत्व का आरोप करके दो संज्ञाओं के बीच की स्पर्द्धा दूर करके, कर्म संज्ञा का करण संज्ञा से होनेवाले बाध को दूर किया, वह 'संज्ञा न संज्ञान्तरबाधिका' न्याय का ही एक प्रकार है, केवल उसका समर्थन करने की पद्धति ही भिन्न है। अतः इस न्याय

से पृथक् नहीं कहा गया है ।

सामान्यतया परसूत्र पूर्व का, और अपवाद उत्सर्ग का तथा विशेषविधि सामान्य विधि का बाधक बनता है । उसी तरह पूर्वसूत्रोक्त संज्ञा का उसीसे सम्बन्धित परसूत्रोक्त संज्ञा से बाध नहीं होता है ।

बाध्य और बाधक एकसाथ नहीं रह सकते हैं, उसी अर्थमूलक यह न्याय है । अर्थात् जहाँ दोनों एकसाथ हों तो वहाँ उनके बीच परस्पर बाध्यबाधकभाव नहीं रहता है । अतः एक शब्द या वर्ण में अनेक संज्ञाएँ होती हैं, ऐसे न्यायसिद्ध या औचित्यसिद्ध अर्थ ही यहाँ कहा है । अतः जहाँ दो भिन्न भिन्न संज्ञाओं का फल एक साथ न रहता हो, वहाँ वे संज्ञाएँ एक साथ करना संभव नहीं होने से जिस कार्य का बाध होता है, उसी कार्य की प्रयोजक संज्ञा की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि उसका कोई फल नहीं है ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय की व्याख्या ' प्रतिकार्यं संज्ञाविधायकानि शास्त्राणि भिद्यन्ते ' की है और उसका अर्थ लघुन्यास के अनुसार सही होने पर भी, संज्ञासूत्र की पुनः आवृत्ति करने से, दो संज्ञा के बीच के बाध्यबाधकभाव की निवृत्ति होती है, ऐसा कहकर जो विवेचन किया है, उसे श्रीलावण्यसूरिजी उचित नहीं मानते हैं ।

यहाँ कर्म और करण स्वरूप दो संज्ञाओं के बाध्यबाधकभाव का कारण, दो परस्पर विरुद्ध विभक्तियाँ हैं । और संज्ञासूत्र की पुनः आवृत्ति करने से यह दूर नहीं होता है, क्योंकि विरोध के हेतु की निवृत्ति के अभाव में भी, सूत्रावृत्ति करने से विरोध की निवृत्ति होती है, वह न्याय्य प्रतीत नहीं होता है ।

और यहाँ दृष्टांत के रूप में 'दो सपत्नियों/सौतों के बीच जो विरोध है वह एक ही घर में, बीच में दीवार करके, दो घर बनाने पर दूर हो जाता है' ऐसा जो कहा, वह भी उचित नहीं है क्योंकि दो सौतों के बीच का विरोध एकगृहनिमित्तक नहीं है किन्तु समानपतिकात्व सम्बन्धित है । अतः गृह के दो भाग करने से उसकी निवृत्ति का कैसे संभव है ? वैसे दो संज्ञाओं के बीच का विरोध सूत्र की पुनः आवृत्ति करने से कैसे दूर हो सकता है ?

तथा लघुन्यास में बताये सूत्रभेदकरण का आशय इस प्रकार है कि जितने भिन्न भिन्न संज्ञानिमित्तक कार्यो की संभावना हो, उतने भिन्न भिन्न संज्ञाविधायक सूत्रों कि कल्पना करना । यही बात महाभाष्य में भी बतायी है । उसका अर्थ इस प्रकार है :- द्वितीया की उत्पत्ति करनेवाली कर्मसंज्ञाविधायक 'करणं च' २/२/१९ सूत्र को भिन्न मानना और अकर्मत्व प्रयुक्त, अणिक्कर्ता को कर्म करनेवाली तथा 'अणिगि प्राणिकर्तृकानाप्याण्णिगः' ३/३/१०७ सूत्र से परस्मैपद नहीं करनेवाली कर्मसंज्ञा भिन्न होनेसे उसके लिए कर्मसंज्ञाविधायक 'करणं च' २/२/१९ को भिन्न मानना । अतः 'अक्षैर्देवयते यज्ञदत्तेन' प्रयोग में 'अणिक्कर्ता' को कर्मत्व न होने से और परस्मैपद का भी अभाव होने से द्वितीया की उत्पत्ति की प्रयोजक ऐसी कर्म संज्ञा चरितार्थ न होने से वही कर्म संज्ञा अनवकाश

होती है । अतः द्वितीया अवश्य होगी । परिणामतः 'अक्षान् देवयति' प्रयोग भी होगा । ऐसा मानने पर कर्मसंज्ञा सावकाश होने से द्वितीया ही होनी चाहिए, ऐसी शंका को स्थान ही नही रहता है । 'संज्ञा न संज्ञान्तरबाधिका' का 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय के साथ फल की समानता होने पर भी अर्थ की दृष्टि से दोनों भिन्न हैं ।

'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय की सिद्धहेम बृहद्वृत्त्यनुसार चर्चा इस प्रकार है :- बृहद्वृत्ति में 'करणं च' २/२/१९ सूत्र के 'च' कार का फल बताते हुए कहा है कि 'करणं वा' कहने से ही सिद्धि हो जाती थी, तथापि 'च' दो संज्ञाओं का समावेश करने के लिए है । ऐसा कहकर आगे कहते हैं कि "अतः 'अक्षैर्देवयते मैत्रश्चैत्रेण' उदाहरण में 'अक्ष' से करणत्व के कारण तृतीया होती है और 'अक्ष' के कर्मत्व के कारण, 'गतिबोधाहारार्थ-' २/२/५ से 'नित्याकर्मत्वनिमित्तक, अणिग् अवस्था के कर्ता को कर्मत्व प्राप्त नहीं होता है । अतः 'चैत्रेण' में तृतीया होगी और 'देवयते' में 'अणिगि प्राणि' - ३/३/१०७ से अकर्मत्वनिमित्तक परस्मैपद भी नहीं होगा ।" बाद में पुनः शंका की गई है कि 'अक्षान् दीव्यति' प्रयोग में भी 'अक्ष' को कर्म और करण संज्ञा हुई है । अतः पर ऐसी करणसंज्ञानिमित्तक तृतीया विभक्ति ही करनी चाहिए । उसका उत्तर देते हुए कहा है कि यही शंका उचित नहीं है । स्पर्द्धा हो वहाँ ही पर सूत्र बलवान् बनता है और स्पर्द्धा तो समान विषय में ही होती है और प्रतिनियत कर्मशक्ति व प्रतिनियत करणशक्ति का अभिधान करनेवाली द्वितीया और तृतीया में समानविषयत्व ही नहीं है । अतः द्वितीया ही होगी । यही प्रथम समाधान है । दूसरा समाधान देते हुए कहा है कि 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय से दोनों संज्ञा अनवकाश होने से द्वितीया और तृतीया दोनों अनुक्रम से/पयार्य से करने में कोई विरोध नहीं है ।

इसमें प्रथम समाधान 'संज्ञा न संज्ञान्तर बाधिका' न्याय का अनुमोदक है क्योंकि उसमें कहा है कि समान विषयवालों में ही परस्पर विरोध होता है । अतः भिन्न विषयवाली दो संज्ञाओं में परस्पर विरोध का अभाव होने से पर ऐसी करण संज्ञा से पूर्वोक्त कर्मसंज्ञा का बाध नहीं होता है । दूसरे समाधान में कहा है कि विरोध हो तो भी अनवकाश संज्ञा का परसंज्ञा से बाध नहीं होता है और यहाँ अनवकाशत्व तो दोनों संज्ञा का है । जबकि 'अक्ष' के कर्मत्व के कारण, 'अणिक्कर्ता' को कर्मत्व की प्राप्ति नहीं होगी तब 'देवयते' में परस्मैपद नहीं होगा । इस परिस्थिति में अनवकाशत्व कैसे है ? इसी शंका का समाधान 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' मत द्वारा दिया है । वह इस प्रकार है :- संज्ञा निमित्तक जितने कार्य हैं उसी प्रत्येक कार्य के लिए भिन्न भिन्न संज्ञा सूत्र समझने चाहिए, वैसे यहाँ द्वितीयोत्पत्ति रूप कार्य के लिए 'दिव्' धातु के करण को कर्म संज्ञा करनेवाले सूत्र का, द्वितीयोत्पत्ति के बिना अनवकाशत्व अक्षत ही रहता है और द्वितीया विभक्ति होती है क्योंकि करणसंज्ञा से कर्मसंज्ञा का बाध नहीं होता है ।

और न्यासकार ने भी 'प्रतिकार्यं' की स्पष्टता करते हुए कहा है कि एक ही कर्म के या करण के प्रत्येक कार्य के लिए भिन्न भिन्न संज्ञासूत्र मानने चाहिए । न्यासकार की यही स्पष्टता उपर्युक्त अर्थ ही सूचित करती है किन्तु श्रीहेमहंसगणि ने बताया हुआ व्याख्याद्वयस्वरूप अर्थ या सूत्रभेद से विरोधाभाव इत्यादि अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है । यदि सूत्रभेद से विरोधाभाव हो जाता तो

व्याकरणशास्त्र में प्रत्येक सूत्र भिन्न भिन्न होने से, कदापि कोई किसी का बाध करने में समर्थ नहीं बन पाता है । किन्तु श्रीहेमहंसगणि का ऐसा अर्थघटन और दृष्टांत उचित नहीं है ऐसा श्रीलावण्य-सूरिजी मानते हैं ।

ऊपर बताया उसी तरह 'संज्ञा न संज्ञान्तरबाधिका' न्याय और 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय का फल समान होने पर भी अर्थ से दोनों न्याय भिन्न हैं ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय की दूसरी तरह सरल व्याख्या की है और वह इस न्याय के न्यास में बतायी है । वह इस प्रकार है :- 'वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युद्' में जैसे लक्षणार्थ में 'प्रति' शब्द है वैसे 'प्रति कार्यं' में भी है । कार्य को लक्ष्य बनाकर एक ही शब्द की भिन्न भिन्न संज्ञाएँ की जाती हैं, वे उसी उसी कार्य के लिए ही होती हैं । उदा. 'वारि' शब्द में स्थित इकार का स्वरसंज्ञा के कारण 'वारीणाम्' में 'र्हादर्हास्वरस्या-' १/३/३१ से 'इ' का द्वित्व नहीं होता है क्योंकि वहाँ स्वर का वर्जन किया है । ह्रस्व संज्ञा के 'कारण' 'ह्रस्वापश्च' १/४/३२ से 'आम्' का 'नाम्' आदेश हुआ है । समान संज्ञा के कारण 'दीर्घोनाम्यतिसृ'- १/४/४७ से 'इ' दीर्घ हुआ है। 'नामि' संज्ञा के कारण 'हे वारे ! हे वारि !' में आमन्त्र्य 'सि' का 'नामिनो लुग्वा' १/४/६१ से विकल्प से लोप हुआ है । यदि एक ही शब्दादि को भिन्न भिन्न संज्ञानिमित्तक भिन्न भिन्न इष्ट कार्य की सिद्धि न होती हो तो शास्त्रकार एक ही शब्दादि को भिन्न भिन्न संज्ञा क्यों करें ? अतः यहाँ भी 'अक्षान् दीव्यति' स्वरूप द्वितीयान्त प्रयोग यदि होता ही न हो और स्पर्द्धा में पर ऐसी करणसंज्ञा से पूर्वोक्त कर्मसंज्ञा का बाध होता तो शास्त्रकार आचार्यश्री 'करणं च' २/२/१९ से दिव् धातु के करण को कर्म और करणसंज्ञा क्यों करें ? अतः सार्वत्रिक ऐसी कर्म और करण संज्ञा के विधान से ऐसा ज्ञापन होता है कि करणसंज्ञानिमित्तक तृतीया की तरह कर्मसंज्ञानिमित्तक द्वितीया के प्रयोगयुक्त 'अक्षान् दीव्यति' प्रयोग भी होता ही है, किन्तु स्पर्द्धा मानकर परहेतुक तृतीया से उसका बाध नहीं होगा । द्वितीया विभक्ति करना ही कर्मसंज्ञा के विधान का मुख्य फल है ।

किन्तु श्रीलावण्यसूरिजी 'प्रतिकार्यं-' की इस व्याख्या को स्वीकार करते नहीं हैं । वे तो इतना ही कहते हैं कि यही व्याख्या बृहद्वृत्त्यनुसार नहीं है । भिन्न भिन्न कार्य के उद्देश्य से भिन्न भिन्न संज्ञाएँ की गई हैं । अतः उसी उसी संज्ञानिमित्तक कार्य होते हैं, और यही अर्थ सर्वसामान्य है । वही अर्थ भिन्न भिन्न संज्ञाओं के कार्य से प्रतीत होता है और उपर्युक्त व्याख्या का स्वीकार करने पर भी 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते ' की प्रथम व्याख्या में जो द्वितीया, अन्यत्र सावकाश है, उसका तृतीया से बाध होता है, वही दूर नहीं हो सकता है ।

इस सब चर्चा का तात्पर्य/निष्कर्ष यह है कि संज्ञाओं में स्वभाव से ही बाध्यबाधकभाव नहीं होता है, वह 'संज्ञा न संज्ञान्तरबाधिका' का भावार्थ है । जब संज्ञाओं में कार्य द्वारा परस्पर विरोध हो तो बाध्यबाधकभाव रहता ही है, उसी बात का 'प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय द्वारा समर्थन ही है ।

'प्रतिकार्यं' 'संज्ञा भिद्यन्ते' न्याय पाणिनीय परम्परा के 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' का समानार्थक ही है, और वह चान्द्र, कातंत्र व कालाप परम्परा को छोड़कर शाकाटायन तथा पाणिनीय परम्परा के सभी परिभाषासंग्रह में प्राप्त है ।

॥ ८५॥ सापेक्षमसमर्थम् ॥ २८॥

अन्यपद की अपेक्षायुक्त पद, दूसरे पद के साथ, समास इत्यादि विधि के लिए समर्थ नहीं हो सकता है ।

उदा. 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' यहाँ 'राजन्' शब्द का विशेषण 'ऋद्ध' शब्द होने से, 'पुरुष' शब्द के साथ उसका समास नहीं होगा ।

इस न्याय का ज्ञापन, ऐसे प्रयोग में समास इत्यादि का निषेध करने के लिए कोई विशेष सूत्र की रचना नहीं की है , उससे होता है ।

'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ परिभाषा का, यह न्याय, प्रपंच है ।

यह न्याय अनित्य होने से 'देवदत्तस्य दासभार्या' इत्यादि में 'दास' शब्द 'देवदत्त' का विशेषण होने से सापेक्ष होने पर भी समास हुआ है । अतः 'देवदत्तस्य यो दासः तस्य भार्या' 'देवदत्त के नौकर की पत्नी' अर्थ होगा ।

यहाँ ऐसा न कहना चाहिए कि अगले न्याय से 'देवदत्त' पद से सापेक्ष 'दास' शब्द को 'भार्या' शब्द के साथ समास होगा, क्योंकि 'दास' शब्द का क्रिया द्वारा 'देवदत्त' शब्द के साथ सामानाधिकरण्य का अभाव होने से, वह अप्रधान होगा । जबकि अगला न्याय तो, सापेक्ष हो किन्तु मुख्य-प्रधान होने पर ही, अन्यपद के साथ समास करता है ।

'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ सूत्र से पद सम्बन्धित प्रत्येक विधि 'समर्थाश्रित' अर्थात् 'समर्थपदाश्रित' जानना है । 'सामर्थ्य' दो प्रकार के हैं - १. व्यपेक्षा सामर्थ्य और २. एकार्थीभाव सामर्थ्य । १. भिन्न भिन्न अर्थवाले पदों का आकांक्षावश होनेवाला सम्बन्ध 'व्यपेक्षा सामर्थ्य' है' । २. जब पदों का अर्थ गौण हो जाता हो या तो उसके अर्थ की निवृत्ति होकर अन्य प्रधान / मुख्य अर्थ का ग्रहण हो तो दो अर्थों का एक ही अर्थ में रूपान्तरित होना या अन्य अर्थ का प्रगट होना एकार्थीभाव सामर्थ्य कहा जाता है ।

इसमें से वाक्य में 'व्यपेक्षा सामर्थ्य' होता है और समास में 'एकार्थीभाव सामर्थ्य' होता है । 'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ परिभाषासूत्र का अर्थ इतना ही है कि पद-सम्बन्धित प्रत्येक कार्य में उपर्युक्त दो सामर्थ्यों में से एक सामर्थ्य तो अवश्य होता ही है । यहाँ व्यपेक्षा सामर्थ्यवाले समुदाय (वाक्य) में स्थित पदों को भी समासादि विधि की प्राप्ति होती है । उदा. 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः, महत् कष्टं श्रितः' इन दोनों पद-समुदायों में परस्पर व्यपेक्षा सामर्थ्य है । अतः वे समर्थ माने जाते हैं और यही समर्थत्व दूर नहीं होने से समास होने का प्रसंग उपस्थित होता है, उसका निषेध करने के लिए यह न्याय है । यह न्याय औचित्यसिद्ध होने से ज्ञापक की आवश्यकता नहीं है । ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं और श्रीहेमहंसगणि के 'यत्नान्तराकरण' ज्ञापक के प्रति वे अरुचि प्रदर्शित करते हैं ।

सिद्धहेम की बृहद्वृत्ति में 'समास, नामधातु, कृत्, तद्धित, उपपदविभक्ति, युष्मदस्मदादेश, प्लुतविधि' को भी 'पदविधि' कही है ।

इसके अतिरिक्त श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय को 'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ परिभाषा के प्रपंच के रूप में भी स्वीकार नहीं करते हैं । वे कहते हैं कि इस न्याय को 'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है । सिर्फ जहाँ 'व्यपेक्षा सामर्थ्य' है वहाँ उसके अवयवगत पदों में समास के असामर्थ्य का केवल बोध ही इस न्याय से होता है । अतः इन दोनों के विषय भिन्न भिन्न हैं ।

संक्षेप में यह न्याय केवल इतना ही बताता है कि जहाँ व्यपेक्षा सामर्थ्य हो वहाँ गमकत्व का अभाव होने से समास नहीं होता है । जबकि एकार्थीभाव सामर्थ्य हो वहाँ समास होता है । क्वचित् गमकत्व हो तो मुख्य शब्द विशेषणयुक्त/विशेषणसापेक्ष होने पर भी समास होता है- वही बात अगले 'प्रधानस्य तु सापेक्षत्वेऽपि समासः' ॥२९॥ न्याय से सूचित हो जाती है ।

यह न्याय चान्द्र को छोड़कर अन्य किसी भी परम्परा में प्राप्त नहीं है, शायद 'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ सूत्र में ही इसका समावेश हो जाता होने से इसे पृथक् बताने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई होगी । जबकि अगला न्याय 'प्रधान्यस्य तु सापेक्षत्वेऽपि समासः' न्याय जैनेन्द्र जैसे कुछेक परिभाषासंग्रह में प्राप्त है, अतः वहाँ भी शायद सूत्र के रूप में या 'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ सूत्र की वृत्ति में इस न्याय को बताया होगा ।

॥८६॥ प्रधानस्य तु सापेक्षत्वेऽपि समासः ॥२९॥

प्रधान/मुख्य शब्द सापेक्ष हो, तो भी उसका समास होता है ।

जिसका क्रिया के साथ सामानाधिकरण्य द्वारा प्रयोग हुआ हो वह प्रधान/मुख्य माना जाता है ।

उदा. 'राजपुरुषोऽस्ति दर्शनीयः' इत्यादि प्रयोग में समास होने से पूर्व की स्थिति में 'पुरुष' शब्द का, अपने विशेषण 'दर्शनीयः' शब्द के साथ सापेक्षत्व होने पर भी उसका 'राजन्' शब्द के साथ तत्पुरुष समास होगा । यहाँ पुरुषत्व का जो अधिकरण है, वही 'अस्ति' क्रिया का भी अधिकरण है । अतः क्रिया के साथ सामानाधिकरण्य से 'पुरुष' शब्द प्रधान है ।

इस न्याय का ज्ञापन 'उपमेयं व्याघ्राद्यैः साम्यानुक्तौ' ३/१/१०२ सूत्रगत 'साम्यानुक्तौ' शब्द से होता है । वह इस प्रकार है :- यह 'साम्यानुक्तौ' शब्द 'पुरुषो व्याघ्रः शूरः' इत्यादि प्रयोग में समास का निषेध करने के लिए रखा है । 'व्याघ्र' और 'पुरुष' शब्द का समास इस प्रकार होता है - 'व्याघ्र इव व्याघ्रः' और बाद में 'पुरुषश्चासौ व्याघ्रश्च पुरुषव्याघ्रः' इत्यादि प्रयोग में 'उपमेयं व्याघ्राद्यैः साम्यानुक्तौ' ३/१/१०२ से कर्मधारय समास इष्ट है किन्तु 'व्याघ्रत्व' के उपचार करने के कारण-स्वरूप 'शूरत्व' का उपन्यास किया जायेगा तब (उसी शूरत्व का उपन्यास इस प्रकार होता है- 'शूरः पुरुष अत एव शूरत्वेन व्याघ्र इव व्याघ्रः') 'पुरुषो व्याघ्रः शूरः' में 'पुरुष' और 'व्याघ्र' शब्द का समास इष्ट नहीं है । अतः उसकी निवृत्ति करने के लिए समासविधायक सूत्र में 'साम्यानुक्ति' शब्द का ग्रहण किया है और उसकी व्याख्या भी इस प्रकार की है कि यदि साम्य बतानेवाले शब्द का उपन्यास न किया हो तो कर्मधारय समास होता है । जबकि यहाँ साम्य बतानेवाले 'शूर' शब्द का

प्रयोग किया है, अतः समास नहीं होता है । यदि 'पुरुष' शब्द का अपने विशेषण 'शूर' शब्द की सापेक्षता से ही असमर्थ होने से पूर्वोक्त न्याय से ही यहाँ भी समास के अभाव की सिद्धि हो जाती तो, उसी समास के अभाव के लिए 'साम्यानुक्ति' शब्द का ग्रहण क्यों किया ? अर्थात् न करना चाहिए तथापि ग्रहण किया है, वह बताता है कि, पूर्वोक्त न्याय का बाधक यह न्याय होने से, इस न्याय से 'पुरुष' शब्द, 'शूर' शब्द से सापेक्ष होने पर भी, प्रधान/मुख्य होने से 'व्याघ्र' शब्द के साथ, अनिष्ट ऐसा समास हो ही जायेगा, ऐसी आशंका से ही 'साम्यानुक्ति' कहा है ।

इस न्याय की अनित्यता/विसंवादिता प्रतीत नहीं होती है ।

यह न्याय और अगला न्याय 'तद्धितीयो भावप्रत्ययः' - ॥३०॥ न्याय भी पूर्वोक्त न्याय का अपवाद है तथा ये दोनों न्याय 'किं हि वचनान्न भवति' न्याय के प्रपंच हैं ।

श्रीहेमहंसगणि इस न्याय की अनित्यता का निर्देश नहीं करते हैं, तदुपरांत पूर्वोक्त 'सापेक्षमसमर्थम्' न्याय की अनित्यता 'देवदत्तस्य दासभार्या' उदाहरण देकर बतायी है । इस उदाहरण में 'देवदत्तस्य दासभार्या' का 'देवदत्तस्य दासस्य भार्या' विग्रह करने पर 'दास' शब्द सापेक्ष होने से असमर्थ है तथापि समास किया है । यही उदाहरण इस न्याय की अनित्यता बतानेवाला बन सकता है ।

इसके बारे में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि क्वचित् अप्रधान/गौण भी सापेक्ष होने पर भी, उसका समास होता है । उदा. 'देवदत्तस्य दासभार्या', यहाँ 'देवदत्तस्य यो दासः तस्य भार्या' स्वरूप प्रतीति में 'दास' शब्द अप्रधान होने पर भी और 'देवदत्तस्य' विशेषण से सापेक्ष होने पर भी, 'गमकत्व' के कारण समास होगा ।

'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ की बृहद्वृत्ति में कहा है कि क्वचित् विशेषण के योग में भी यदि गमकत्व हो तो समास होता ही है । उदा.'देवदत्तस्य गुरुकुल' 'यज्ञदत्तस्य दासभार्या'अतः अन्यत्र कहा है कि -

"सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो, नित्यं सर्वः प्रवर्तते ।
स्वार्थवत् सा व्यपेक्षा हि, वृत्तावपि न हीयते ॥"

संक्षेप में, जहाँ वृत्ति अर्थात् समास में सम्बन्ध की हानि न होती हो तो, वहाँ सापेक्षत्व होने पर भी अप्रधान का भी समास होता है ।

'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ सूत्र से समर्थत्व हो वहाँ ही 'पदविधि' होती है ऐसा कहा और पूर्वोक्त न्याय से सामान्यतया जो सापेक्ष है वह असमर्थ माना जाता है, तथापि 'राजपुरुषोऽस्ति दर्शनीयः' इत्यादि प्रयोग में सापेक्षत्व होने पर भी समास होता है, उसका ज्ञापन करने के लिए उसके साधुत्व के लिए, यह न्याय कहा है ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने उनकी 'तरंग' टीका में सापेक्षत्व की विस्तृत विचारणा की है । कुछेक स्थान पर प्रधान सापेक्ष हो, वैसे सामासिक शब्द भी पाये जाते हैं और अप्रधान/गौण सापेक्ष हो, वैसे भी समास पाये जाते हैं । अतः प्रश्न होता है कि किस प्रकार का सापेक्षत्व समास के लिए उचित माना जाय ? इस प्रश्न के बार में उन्होंने महाभाष्यादि ग्रन्थों के आधार पर विशेष रूप से

चर्चा की है । इसके सम्बन्ध में शब्दनित्यवादी और शब्दानित्यवादी पक्षों के मत की भी समीक्षा की गई है । इसके संदर्भ में ही जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था वृत्तियों का समास में कैसे विनियोग होता है, उसके बारे में विविध दृष्टिबिंदु/अभिप्राय प्रस्तुत किये गये हैं । अन्त में जहत्स्वार्था पक्ष का समर्थन करते हुए आचार्यश्रीलावण्यसूरिजी ने इस विषय का उपसंहार करते हुए कहा है कि जिज्ञासुओं को विशेष विस्तार के लिए आकर ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए ।

प्रस्तुत न्याय के सन्दर्भ में यह चर्चा प्रत्यक्ष रूप से उपकारक न होने से जिज्ञासुओं को श्रीलावण्यसूरिजी की वृत्ति/टीका देख लेने की विनंति करते हैं ।

॥ ८७॥ तद्धितीयो भावप्रत्ययः सापेक्षादपि ॥ ३०॥

तद्धित सम्बन्धित भावप्रत्यय, सापेक्ष शब्द से भी होता है ।

उदा. 'काकस्य कृष्णस्य भावः, काकस्य कार्ष्ण्यम्' इत्यादि प्रयोग में 'काक' शब्द से सापेक्ष ऐसे 'कृष्ण' शब्द से भी 'पतिराजान्तगुणाङ्गराजादिभ्यः कर्मणि च' ७/१/६० से ट्यण् प्रत्यय होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक 'पुरुषहृदयादसमासे' ७/१/७० सूत्रगत 'असमासे' शब्द है । इसी सूत्र का अर्थ इस प्रकार है :- समास का विषय न हो तो 'पुरुष' और 'हृदय' शब्द से भाव और कर्म में 'अण्, त्व' और 'तल्' प्रत्यय होते हैं । उदा. 'पुरुषस्य भावः कर्म वा पौरुषम्, पुरुषत्वं, पुरुषता'। यदि समास होनेवाला हो तो 'भावे त्वतल्' ७/१/५५ से सिर्फ 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय ही होते हैं किन्तु 'अण्' प्रत्यय नहीं होता है । उदा. 'परमस्य पुरुषस्य भावः परमपुरुषत्वम्, परमपुरुषता । यहाँ 'अण्' होकर 'परमपौरुषम्' प्रयोग नहीं होगा ।

यदि यह न्याय न होता तो समासविषयक 'पुरुष' शब्द को 'परम' शब्द की अपेक्षा होने से 'सापेक्षमसमर्थम्' न्याय से ही असमर्थ होने से 'अण्' होने की प्राप्ति ही नहीं है तो, 'अण्' का अभाव करने के लिए 'असमासे' कहने की क्या आवश्यकता ? तथापि 'असमासे' कहा, उससे ज्ञापित होता है कि 'सापेक्षमसमर्थम्' न्याय का बाधक यह न्याय होने से, सापेक्ष शब्द से भी तद्धितीय भावप्रत्यय होने की पूर्णतः संभावना है ।

इस न्याय की अग्राह्यता/अनित्यता नहीं है ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने इस न्याय की सिन्धु टीका में 'यत्तु "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति".....सिद्धिः सम्भाव्यते' कहकर किसी का मत बताया है किन्तु यही उद्धरण किसका है और कहाँ से लिया है, वह बताया नहीं है । हालाँकि यह बात श्रीहेमहंसगणि के इस न्याय के न्यास में पूर्वपक्ष स्वरूप में है । उसका भावार्थ इस प्रकार है : 'गुणे शुक्लादयः, पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति' लिङ्गानुशासन की पंक्त्यनुसार, 'गुण' और 'गुणि' में अभेदोपचार करने से या 'गुणवाचि' शब्दों से मत्वर्थीय प्रत्यय का लोप हुआ है ऐसा मान लेने से या 'शुक्ल' इत्यादि शब्दों का गुणपरत्व और गुणिपरत्व सर्वसंमत होने से गुणवाचक 'कृष्ण' शब्द से भाव में 'ट्यण्' प्रत्यय करके 'कार्ष्ण्यम्' सिद्ध करके बाद में उसका 'काक' के साथ सम्बन्ध करने से, इस प्रयोग की सिद्धि हो सकती है और ऐसा करने पर इस न्याय की आवश्यकता भी नहीं रहती है किन्तु श्रीलावण्यसूरिजी इस बात

का स्वीकार नहीं करते हैं और इस प्रकार सिद्धि हो सकती है या नहीं ? ऐसी शंका उठाकर, उसी शंका का श्रीहेमहंसगणि ने दिये हुए समाधान का भी स्वीकार नहीं करते हैं ।

इस शंका का समाधान देते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यहाँ 'कृष्ण' शब्द कौन-सा लेना ? गुणवाचि या गुणाङ्गवाचि ? यदि 'कृष्ण' शब्द वर्णवाचक अर्थात् गुणवाचक लेंगे तो 'ट्यण्' नहीं होगा क्योंकि वही 'ट्यण्' तो गुणाङ्गवाचि शब्द से होता है ।

किन्तु यही समाधान सही नहीं है क्योंकि केवल वर्णवाचक 'कृष्ण' शब्द से भी भाव में 'वर्णदृढादिभ्यः'- ७/१/५९ से ट्यण् होता है । वस्तुतः 'वर्णदृढादिभ्यः'-७/१/५९ से होनेवाले 'ट्यण्' से निष्पन्न 'कार्ष्ण्यम्' और 'पतिराजान्तगुणाङ्ग'-७/१/६० से 'ट्यण्' होकर बने 'कार्ष्ण्यम् दोनों में बहुत अन्तर है । प्रथम 'कार्ष्ण्यम्' शब्द में 'वर्णदृढादिभ्यः'-७/१/५९ से हुआ 'ट्यण्', 'कृष्ण' रूप गुण में रही हुई 'कृष्णत्व' जाति का ही अभिधान करता है, अतः उसका काक के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, अत एव 'काकस्य कार्ष्ण्यम्' प्रयोग नहीं हो सकेगा । जबकि 'काकस्य कृष्णस्य भावः काकस्य कार्ष्ण्यम्' प्रयोग में 'कृष्ण' शब्द गुणाङ्गवाचि ही है, 'अतः भावप्रत्यय द्वारा गुण का अभिधान होने से पूर्व 'काकस्य कृष्णस्य भावः' में समानाधिकरण्यमूलक षष्ठी विभक्ति है, ऐसा जान लेना, जबकि भावप्रत्यय होने के बाद षष्ठी 'काकस्य कार्ष्ण्यम्' में सम्बन्धमूलक षष्ठी होती है, ऐसा जान लेना, और ऐसा करने से 'कृष्ण' शब्द में सापेक्षत्व रहता ही है । अतः इस न्याय की प्रवृत्ति बिना भाव में प्रत्यय करना असंभवित है । इस प्रकार यहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति होती है ।

यह न्याय भी अन्य किसी भी परम्परा में प्राप्त नहीं है ।

॥८८॥ गतिकारकङस्युक्तानां विभक्त्यन्तानामेव कृदन्तैर्विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासः ॥ ३१॥

विभक्ति जिसके अन्त में है वैसे गतिसंज्ञक नाम, कारक हो वैसे शब्द और कृदन्त के सूत्र में जो नाम ङसि अर्थात् उपलक्षण से पंचमी विभक्ति के तीनों प्रत्ययों से उक्त हो वैसे सभी विभक्त्यन्त नाम का जब कृदन्त के साथ समास होता है तब उसी (उत्तरपद स्वरूप) कृदन्त से विभक्ति होने से पहले ही समास हो जाता है और उसी समास से ही विभक्ति होती है ।

यद्यपि 'नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम्' ३/१/१८ में कहा है कि 'नाम' को 'नाम' के साथ समास होता है अर्थात् विभक्त्यन्त नाम को ही विभक्त्यन्त नाम के साथ समास होता है ऐसा स्पष्ट कहा नहीं है, तथापि, 'ऐकार्थ्ये' ३/२/८ से समासान्तर्वर्ति विभक्ति का लोप होता है, उससे ज्ञापित होता है कि विभक्त्यन्त का ही, विभक्त्यन्त के साथ ही समास होता है । अतः दोनों पदों को विभक्त्यन्तत्व की प्राप्ति होने से, कृदन्त स्वरूप उत्तरपद के अविभक्त्यन्तत्व का नियम करने के लिए यह न्याय है ।

उसमें 'गति'[१] संज्ञक और कृदन्त का समास इस प्रकार होता है :- 'विकिरति पक्षौ इति स्त्री चेत् विष्करी' इत्यादि प्रयोग में केवल पक्षी अर्थ की अपेक्षा होने से, अन्तरंग कार्यस्वरूप स्सट्' वौ विष्किरो वा' ४/४/९६ से प्रथम होगा, बाद में 'विस्किर' स्थिति में 'ऊर्याद्यनुकरण'- ३/१/२ से जिसकी 'गति' संज्ञा हुई है, उसी 'वि' का जिसके अन्त में 'नाम्युपान्त्यप्रीकृगृज्ञः कः' ५/१/५४ से 'क' प्रत्यय आया, उसी 'स्किर' के साथ 'गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः' ३/१/४२ से तत्पुरुष समास होगा और अन्त में 'असोङसिवूसहस्सटाम्'२/३/४८ से 'स्सट्' के 'स' का 'ष' होगा । अर्थात् 'विष्किरः पक्षी' होगा । बाद में स्त्रीत्व की विवक्षा में, अकारान्त होने से 'जातेरयान्तनित्यस्त्रीशूद्रात्' २/४/५४ से 'ङी' प्रत्यय होकर 'विष्किरी' शब्द होगा ।

यदि यह न्याय न होता तो विभक्त्यन्त 'स्किर' कृदन्त के साथ ही 'वि' का समास होगा, तब कर्म इत्यादि शक्ति तथा संख्या इत्यादि की अपेक्षा से बहिरङ्ग ऐसी विभक्ति की उत्पत्ति के पहले ही केवल स्त्रीत्व की विवक्षा की अपेक्षा से, अन्तरङ्ग कार्यस्वरूप आप् प्रत्यय पहले ही होगा और 'स्किर' के स्थान में 'स्किरा' के साथ समास होने पर अकारान्तत्व रहित 'विष्किरा' शब्द होगा, अतः 'ङी' नहीं होगा ।

कारक और कृदन्त का समास इस प्रकार होता है । उदा: 'चर्मणा क्रीयते स्म चर्मक्रीती' इत्यादि प्रयोग में 'चर्मन् टा क्रीत' स्थिति में 'चर्मन्' शब्द कारक है और तृतीया विभक्त्यन्त है । उसका 'क्त' प्रत्ययान्त 'क्रीत' कृदन्त के साथ, 'कारकं कृता' ३/१/६८ से तत्पुरुष समास होगा, बाद में 'क्रीतात्करणादेः' २/४/४४ से अकारान्त 'क्रीत' शब्द जिसके अन्त में है, वैसे 'करणादि' शब्द से 'ङी' प्रत्यय होगा ।

यदि विभक्त्यन्त 'क्रीत' शब्द के साथ 'चर्मन् +टा' का समास होगा तो, ऊपर बताया उसी तरह यहाँ भी आप् अन्तरङ्ग होने से विभक्ति की उत्पत्ति से पूर्व ही आप् प्रत्यय होता तो अकारान्तत्व के अभाव में 'ङी' प्रत्यय नहीं होगा । पूर्वपद तो विभक्त्यन्त ही होता है । अतः 'चर्मन्' पद होगा और उसके 'न्' का 'नाम्नो नोऽनह्नः २/१/९१ से लोप होगा ।

'ङस्युक्त' और 'कृदन्त' का समास इस प्रकार होता है । कृत्प्रत्यय विधायक सूत्र में 'ङसि' अर्थात् एकदेश का समुदाय में उपचार करने पर, संपूर्ण पंचमी विभक्ति द्वारा और 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ परिभाषा से अन्त का व्यपदेश करने पर पंचमी विभक्ति का प्रत्यय जिसके अन्त में है, ऐसे शब्द से उक्त, विभक्त्यन्त शब्दों को विभक्ति रहित कृदन्त के साथ समास होता है । उसमें ङसि द्वारा उक्त इस प्रकार है :- 'कच्छं पिबति इति कच्छपी' प्रयोग में 'कच्छ अम् प' स्वरूप स्थिति में 'नाम्नो गमः खड्डौ च विहायसस्तु विहः' ५/१/१३१ सूत्र से अधिकृत जो 'नाम्नो' पद है उसकी अनुवृत्ति 'स्थापास्नात्रः कः' ५/१/१४२ में आती है । अतः उसी 'नाम्नः' पद से उक्त किसी भी 'नाम' है, उससे पर आये हुए 'स्था, पा, स्ना, त्रा' धातु से क प्रत्यय होता है । अतः 'क' प्रत्ययान्त प के साथ ङसि द्वारा उक्त 'नाम्नः' पद से जो भी शब्द लिया जायेगा उसका समास होगा और यही शब्द

१. 'गति' संज्ञक शब्दों को अव्यय संज्ञा होती है और 'अव्यय' संज्ञावाले शब्दों के प्रत्येक स्यादि प्रत्यय का लोप' 'अव्ययस्य' ३/२/७ से होता है । अतः 'गति' संज्ञक प्रत्येक शब्द विभक्त्यन्त कहलाता है ।

विभक्त्यन्त होना चाहिए किन्तु उसका जिसके साथ समास होता है वह विभक्त्यन्त न होना चाहिए। अतः कच्छ अम् का विभक्ति रहित क प्रत्ययान्त 'प' के साथ ' ङस्युक्तं कृता' ३/१/४९ से समास होगा और 'कच्छप' शब्द बनेगा । उससे स्त्रीलिंग में 'जातेरयान्त- २/४/५४ से ङी प्रत्यय होने पर, 'अस्य ङ्यां लुक्' २/४/८६ से 'अ' का लोप होकर 'कच्छपी' शब्द बनेगा । यदि विभक्त्यन्त 'प' के साथ 'कच्छ अम्' का समास होता तो, विभक्ति होने से पूर्व 'प' से आप् होता और आप् प्रत्यय होने से अकारान्तत्व के अभाव में ङी नहीं होगा ।

पंचमी के 'भ्यस्' प्रत्यय से उक्त भी 'उपर्युक्त युक्ति द्वारा' 'ङस्युक्त' ही कहलाता है । 'विषं धरति इति विषधरी' इत्यादि प्रयोग में 'विष अम् धर' स्थिति में 'आयुधादिभ्यो' धृगोऽदण्डादेः' ५/१/९४ से पंचमी बहुवचन के 'भ्यस्' प्रत्ययान्त 'आयुधादिभ्यो' शब्द से 'विष' शब्द उक्त है, तथापि वह 'ङस्युक्त' ही कहा जाता है । अतः 'विष अम्' को 'अच्' प्रत्ययान्त 'धर' शब्द के साथ 'ङस्युक्तं कृता' ३/१/४९ से समास होगा बाद में स्त्रीत्व की विवक्षा में 'जातेरयान्त'- २/४/५४ से 'ङी' प्रत्यय होगा । यदि विभक्त्यन्त 'धर' शब्द के साथ 'विष अम्' का समास होता तो ऊपर बताया उसी तरह यहाँ 'आप्' प्रत्यय होता और 'धर' के अदन्तत्व के नाश से 'ङी' प्रत्यय नहीं होता ।

इस न्याय के कारक अंश में ज्ञापक, 'क्रीतात्करणादेः' २/४/४४ सूत्रगत अकारान्त 'क्रीत' शब्द है । वह इस प्रकार है :- यहाँ 'क्रीतात्करणादेः' २/४/४४ में 'करणादेः क्रीतात्' कहा है और करण का आदि अवयवत्व, समास के बिना संभव नहीं है । संक्षेप में करणरूप शब्द जिस समास के आदि में है ऐसे अकारान्त 'क्रीत' शब्दान्त समास से 'ङी' प्रत्यय होता है ।

यदि यह न्याय न होता तो सामान्यतया विभक्त्यन्त को विभत्यन्त के साथ ही समास होता है । अतः यदि विभक्त्यन्त 'क्रीत' शब्द के साथ 'करण कारक' स्वरूप शब्द का 'कारकं कृता' ३/१/६८ से समास होता तो 'क्रीत' शब्द के अदन्तत्व का संभव नहीं है क्योंकि आप् प्रत्यय अन्तरङ्ग कार्य होने से, विभक्ति के पूर्व ही वह होता है, तथापि यहाँ 'क्रीत' शब्द के अदन्तत्व को ग्रहण किया है, वह ज्ञापन करता है कि कारक को अविभक्त्यन्त कृदन्त के साथ ही समास होता है ।

इस न्याय के 'गति' और 'ङस्युक्त' अंश का ज्ञापन 'विष्किरी, कच्छपी' इत्यादि प्रयोग में 'ङी' के बाधक/ प्रतिबन्धक 'आप्' प्रत्यय का निषेध करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है, उससे होता है । वह इस प्रकार है :- 'विष्किरी, कच्छपी' इत्यादि प्रयोग में आचार्यश्री को 'ङी' ही इष्ट है और वह तब ही होता है कि जब 'आप्' द्वारा शब्द के अदन्तत्व का विघात न होता हो । यदि आचार्यश्री को उत्तरपद का विभक्त्यन्तत्व ही इष्ट होता तो वह विभक्ति का बाध करके 'आप्' प्रत्यय ही होने से उत्तरपद के अदन्तत्व का व्याघात करेगा ही ।

तथापि 'आप्' का निषेध करने के लिए कोई प्रयत्न नही किया है, उससे ज्ञापित होता है कि इस न्याय से कृदन्तस्वरूप उत्तरपद के अविभक्त्यन्तत्व का नियम होने से, विभक्ति करते समय होनेवाले, 'आप्' प्रत्यय का निषेध हो ही गया है । अतः 'विष्किरी, कच्छपी' इत्यादि शब्दों में 'आप्' द्वारा अदन्तत्व का व्याघात भी नहीं होगा और 'ङी' प्रत्यय निःसंकोच होगा ही ।

इस न्याय की अनित्यता प्रतीत नहीं होती है ।

पूर्व न्याय में बताया है उसी तरह यहाँ भी 'गति' और 'ङस्युक्त' अंश में ऊपर बताये हुए प्रयोग में 'आप्' का निषेध करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया है, वह (यत्नान्तराकरणम्) ज्ञापक बन नहीं सकता है ।

वस्तुतः विभक्ति की उत्पत्ति का कारण कारक, संख्या इत्यादि की उपस्थिति ही है । जाति-द्रव्य-लिङ्ग-सङ्ख्या और कारक रूप पदार्थों की उपस्थिति क्रमिक ही होती है । अतः विभक्त्युत्पत्ति से पूर्व लिङ्ग की उपस्थिति के निमित्तस्वरूप 'आप्' यहाँ प्रथम होना चाहिए अर्थात् पूर्वोपस्थिति के निमित्तत्व के कारण विभक्ति-उत्पत्ति की अपेक्षा से लिङ्गनिमित्तक 'आप्' की उत्पत्ति अन्तरङ्ग है । अतः कहीं भी अकारान्त शब्द प्राप्त नहीं होगा तो अकारान्त 'क्रीत' शब्द से होनेवाला 'ङी' प्रत्यय निरवकाश ही होगा । अतः वह अकारान्त निर्देश व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि विभक्त्यन्त कारकों को कृदन्त के साथ विभक्ति की उत्पत्ति से पूर्व ही समास हो जाता है और ' एकदेशानुमत्या संपूर्णस्य' न्याय से, उसे संपूर्ण न्याय का ज्ञापक मानना चाहिए ।

इस न्याय को बृहद्वृत्ति में ज्ञापकसिद्ध नहीं कहा है किन्तु इष्टित्वस्वरूप कहा है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी 'ङस्युक्तं कृता' ३/१/४९ की बृहद्वृत्ति में कथित 'इह गतिकारकङस्युक्तानां विभक्त्यन्तानामेव......समास इष्यते' शब्दों के आधार पर कहते है । अतः इस न्याय को ज्ञापकसिद्ध न कहकर आचार्यश्री के वचनस्वरूप ही मानना चाहिए । इसका आशय केवल इतना ही है कि 'गति' और 'ङस्युक्त' अंश में ज्ञापक नहीं है, अतः केवल कारक अंश में ही ज्ञापक का उपन्यास करना इससे अच्छा है कि पूर्ण न्याय को वचनस्वरूप में स्वीकार किया जाय और उसके लिए 'इष्यते' शब्द का प्रयोग किया है ।

तथा 'सा हि धनक्रीता, प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।' जैसे उदाहरण के लिए कुछेक इस न्याय को अनित्य मानते हैं और कहते हैं कि यहाँ 'क्रीत' से समास होने से पूर्व ही विभक्ति होने से उससे पूर्व स्त्रीत्वनिमित्तक 'आप्' हो गया है । जबकि 'क्रीतात्करणादेः' २/४/४४ सूत्र की बृहद्वृत्ति में कहा ही कि 'धनं च सा क्रीता च धनक्रीता' स्वरूप कर्मधारय समास होता है और यदि 'धनेन क्रीता धनक्रीता' समास किया जाय तो वह अपप्रयोग है अथवा अन्य के मत से 'धनेन क्रीता धनक्रीता' में आप् प्रत्ययान्त के साथ भी समास होता है और 'बहुलाधिकार' से वैसा हो सकता है और समास होने के बाद अकारान्तत्व नहीं होने से, ङी नहीं होता है ।

यह न्याय शाकटायन, चान्द्र, कातंत्र और कालाप परम्परा को छोड़कर अन्य सभी परिभाषा संग्रह में उपलब्ध है ।

॥ ८९॥ समासतद्धितानां वृत्तिर्विकल्पेन वृत्तिविषये च नित्यैवापवादवृत्तिः ॥ ३२॥

समास और तद्धित की वृत्ति विकल्प से होती है और वृत्ति के पक्ष में विषय में अपवाद की प्रवृत्ति नित्य होती है अर्थात् उत्सर्ग स्वरूप वृत्ति की प्रवृत्ति नहीं होती है।

पर अर्थ को कहनेवाली 'वृत्ति' कही जाती है । वह तीन प्रकार की है १. समासवृत्ति, २. तद्धितान्तवृत्ति ३. नामधातुवृत्ति । उदा. 'राज्ञः पुरुष राजपुरुषः, उपगोरपत्यं औपगवः, पुत्रमिच्छति

इति पुत्रकाम्यति ।' इसमें से समास में उसके अवयव के रूप में दो या दो से अधिक पद रहते हैं जबकि अन्य दो वृत्तियों में उनके अवयवों के रूपों में प्रकृति और प्रत्यय होते हैं । इस प्रकार समास में भिन्नपद और शेष दो वृत्ति में प्रकृति और प्रत्यय संयुक्त होकर, समुदाय के अर्थ को कहते हैं और इस प्रकार पर अर्थ अर्थात् समुदाय के अवयव अपने अर्थ को छोड़कर जो कहते हैं, उसे वृत्ति कही जाती है ।

उसमें जब, वाक्य द्वारा जिसका कथन किया जा सकता है, उसके लिए जब वृत्ति का आश्रय लिया जाता है तब 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यैव बाधको भवति' न्याय से, वही वृत्ति उसी वाक्य की बाधक बनती है अर्थात् वृत्ति होती हो तो वृत्ति ही करनी पड़ती है किन्तु उसके विग्रहवाक्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता है । उसी बाध को रोककर उसी विग्रहवाक्य का भी विकल्प से प्रयोग किया जा सकता है, उसका ज्ञापन करने के लिए यह न्याय है और जब उत्सर्ग और अपवाद-स्वरूप दोनों वृत्ति की संभावना हो तब हमेशां अपवाद ही होता है किन्तु उत्सर्ग कदापि नहीं होता है अर्थात् वृत्ति के पक्ष में उत्सर्ग का अपवाद से हमेशां बाध होता है ऐसा यह न्याय कहता है ।

'समासवृत्ति' इस प्रकार है । 'कायस्य पूर्वोऽशः पूर्वकायः ।' यहाँ 'पूर्वापराधरोत्तर'-३/१/५२ से 'पूर्वकायः' स्वरूप अंशितत्पुरुष समास और 'कायस्य पूर्वोऽशः' इस प्रकार वाक्य भी होता है । किन्तु 'षठ्ययत्नाच्छेषे' ३/१/७६ से औत्सर्गिक 'कायपूर्वः' स्वरूप षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं होगा ।

इस न्याय के आद्यांश का ज्ञापन 'नित्यं प्रतिनाऽल्पे' ३/१/३७ सूत्रगत 'नित्यं' शब्द से होता है । यही 'नित्यं' शब्द इस न्याय से प्राप्त वाक्यस्वरूप विकल्प का निषेध करने के लिए है । अतः यहाँ 'शाकस्याल्पत्वं शाकप्रति' में 'शाकप्रति' समास ही होगा किन्तु वाक्य नहीं होगा, अत एव वाक्य में 'प्रति' शब्द का प्रयोग नहीं होगा ।

और इस न्याय के द्वितीय अंश 'वृत्तिविषये नित्यैवापवादवृत्तिः' का ज्ञापन 'पारेमध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा' ३/१/३० सूत्रगत 'वा' शब्द से होता है । वही 'वा' स्वरूप विकल्प के ग्रहण से जब 'पारेमध्ये-' ३/१/३० से 'पारेगङ्गम्' नहीं होगा, तब, इस न्याय से निषिद्ध 'षष्ठ्ययत्नाच्छेषे' ३/१/७६ से होनेवाला औत्सर्गिक 'गङ्गापारम्' ऐसा षष्ठीतत्पुरुष होगा और 'गङ्गायाः पारम्' स्वरूप वाक्य भी इसी न्याय के प्रथम अंश से होगा अर्थात् इसी समास के तीन रूप होंगे । १. पारेगङ्गम् २. गङ्गापारम् और ३. गङ्गायाः पारम् ।

यदि यह न्यायांश न होता तो, अनुक्रम से ही उत्सर्ग और अपवाद की प्रवृत्ति हो सकती और षष्ठी समास भी होता । तो उसके लिए 'वा' ग्रहण क्योंकिया ? किन्तु वही 'वा' ग्रहण इस न्यायांश की शंका से ही किया है । अतः 'वा' ग्रहण इस न्यायांश का ज्ञापन करता है ।

तद्धितवृत्ति इस प्रकार है :- 'गर्गस्यापत्यं वृद्धं गार्ग्यः' यहाँ 'गर्गादेः'- ६/१/४२ से 'यञ्' प्रत्यय और वाक्य होगा, किन्तु 'अतः इञ्' ६/१/३१ से होनेवाला औत्सर्गिक 'इञ्' प्रत्यय नहीं होगा और 'गार्गि' रूप नहीं होगा ।

यही तद्धितवृत्ति विकल्प से होती है, इसका ज्ञापन 'नित्यं ञञिनोऽण्' ७/३/५८ के 'नित्यं'

शब्द से होता है । यह 'नित्यं' शब्द इस न्याय से प्राप्त विकल्प का निषेध करने के लिए है । अत: 'क्रियाव्यतिहार' हो तो 'व्यवक्रोशनं' अर्थ में स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'वि+अव+क्रोश्' धातु से 'व्यतिहारेऽनीहादिभ्यो ञः' ५/३/११६ से 'ञ' प्रत्यय होने पर स्वार्थ में 'नित्यं ञञिनोऽण्' ७/३/५८ से 'अण्' प्रत्यय होगा और स्त्रीलिङ्ग में ङी प्रत्यय होकर 'व्यावक्रोशी' शब्द बनेगा ।

यहाँ केवल 'ञ' प्रत्ययान्त 'व्यवक्रोश' शब्द का प्रयोग नहीं होता है, किन्तु 'अण्' सहित ही प्रयोग होता है अर्थात् 'प्रज्ञ एव प्राज्ञः' इत्यादि में 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' ७/२/१६५ से होनेवाले स्वार्थिक 'अण्' प्रत्ययान्त शब्द की वृत्ति में विकल्प से वाक्य भी होता है किन्तु यहाँ उसी तरह 'व्यवक्रोश' प्रयोग न होने से 'व्यवक्रोशा एव व्यावक्रोशी' स्वरूप विग्रहवाक्य नहीं होता है ।

'तद्धितवृत्तिविषये नित्यैवापवादवृत्तिः' रूप द्वितीय अंश में 'वोदश्वितः' ६/२/१४४ सूत्रगत 'वा' शब्द ज्ञापक है और यही 'वा' शब्द औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय करने के लिए है । अतः 'औदश्वित्कम्' में 'इकण्' प्रत्यय होगा और 'औदश्वितम्' में इस न्याय से निषिद्ध होने पर भी 'वा' ग्रहण के सामर्थ्य से 'संस्कृते भक्ष्ये' ६/२/१४० से औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय होगा और प्रथम न्यायांश के बल से 'उदश्विति संस्कृतम्' स्वरूप वाक्य भी होगा और तीन रूप होंगे ।

यदि यह न्यायांश न होता तो अनुक्रम से उत्सर्ग और अपवाद दोनों की प्रवृत्ति होती, और पक्ष में औत्सर्गिक 'अण्' भी सिद्ध हो ही जाता । उसके लिए 'वा' ग्रहण की कोई आवश्यकता न थी, तथापि 'वा' ग्रहण किया, वह इस न्यायांश का ज्ञापन करता है ।

समासवृत्ति और तद्धितवृत्ति की व्यवस्था का केवल अनुवादस्वरूप यह न्याय है । इस न्याय से अन्य कोई नई व्यवस्था नहीं होती है । इस न्याय के साध्य की सिद्धि उसी उसी सूत्र द्वारा ही हो जाती है । उदा. 'नित्यं प्रतिना-' ३/१/३७ सूत्र में 'नित्यं' शब्द रखा है । इससे यह ज्ञात होता है कि ऐसे नित्य समास को छोड़कर अन्य समास में वाक्य भी होता है ।

'पारेमध्ये'- ३/१/३० सूत्रगत 'वा' शब्द से ऐसा ज्ञापन होता है कि ऐसे सूत्र को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र अपवाद समास के विषय में उत्सर्ग समास नहीं होता है और ऐसे स्थान पर अपवाद के साथ साथ उत्सर्ग समास भी होता है ।

और 'वाऽऽद्यात्' ६/१/११ सूत्र से शुरू से होनेवाला 'वा' का अधिकार, ज्ञापन करता है कि 'तद्धितवृत्ति' में सर्वत्र ही वाक्य भी होता है ।

'वोदश्वितः' ६/२/१४४ सूत्रगत 'वा' ग्रहण से, ऐसे प्रयोगों को छोड़कर अपवादतद्धित प्रत्यय के विषय में, औत्सर्गिक तद्धित प्रत्यय नहीं होता है और ऐसे स्थान पर अपवादतद्धित प्रत्यय की तरह उत्सर्गतद्धित प्रत्यय भी होता है, ऐसा ज्ञापन होता है ।

इस न्याय की अनित्यता नहीं है क्योंकि व्याकरण के सूत्र से सिद्ध हुए कार्य में अनित्यता का संभव ही नहीं है ।

यहाँ वृत्ति के तीन प्रकार बताये हैं किन्तु उसके चार और पाँच प्रकार भी है । चार प्रकार में उपर्युक्त तीन प्रकार के अतिरिक्त 'कृद्वृत्ति' भी है और पाँच प्रकार में क्वचित् 'एकशेषवृत्ति' को बताया जाता है । सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में आचार्यश्री ने स्वयं वृत्ति का त्रैविध्य, चातुर्विध्य और पंचविध्य

भी बताया है । उन्होंने 'वृत्त्यन्तोऽसषे १/१/२५ की बृहद्वृत्ति के 'परार्थाभिधानं वृत्तिः तद्वांश्च पदसमुदायः समासादिः' की समझ देते हुए न्यास में कहा है कि यहाँ 'आदि' शब्द से 'नामधातु' और 'तद्धित' का संग्रह करना । इस प्रकार उन्होंने त्रैविध्य बताया है ।

जबकि 'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ सूत्र की बृहद्वृत्ति में कहा है कि 'समास-नामधातु-कृत्-तद्धितेषु वाक्ये व्यपेक्षा, वृत्तावेकार्थीभावः ।' इन शब्दों द्वारा वृत्ति के चार प्रकार उन्होनें बताये हैं । हालाँकि 'कद्वृत्ति' का 'समास' में अन्तर्भाव हो सकता है ।

'एकशेष' के वृत्तित्व के लिए श्रीलावण्यसूरिजी ने इस प्रकार विचार किया है । वे कहते हैं कि 'एकशेष' में जो एक बचता है उससे ही लुप्त हुए पद का अभिधान होता है । ऐसा स्वीकार किया गया है । अतः'परार्थाभिधान' स्वरूप वृत्ति का लक्षण 'एकशेष' में भी रहता ही है । इसी कारण से बृहद्वृत्ति में 'समानानामर्थेनैकः शेषः' ३/१/११८ सूत्र में कहा है कि 'द्वन्द्वापवादश्चायम्'। इन शब्दों के आधार पर श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि शास्त्रकार ने 'एकशेष' में समासरूपवृत्ति के अपवादस्वरूप वृत्तित्व का स्वीकार किया है ।

किन्तु द्वन्द्व भी समास ही है और एकशेष भी समास है । अतः द्वन्द्व समास के अपवादस्वरूप एकशेष में वृत्तित्व हो, इसमें कुछ नया नहीं है । अतः एकशेष को समास से पृथक् वृत्ति न माननी चाहिए, तथापि अन्य समास में उभय पद दृश्यमान होते हैं, जबकि यहाँ केवल एक ही पद दृश्यमान होता है । अतः उसका वैशिष्ट्य बताने के लिए 'एकशेष' को भिन्न वृत्ति मानी हो ऐसा लगता है।

श्री भट्टोजी दीक्षित ने 'कृत्-तद्धित-समासैकशेष' और 'सनाद्यन्त' धातुस्वरूप पाँच प्रकार की वृत्ति बतायी है । 'नामधातु' को 'सनाद्यन्त' धातु में सम्मिलित किया गया है ।

यह न्याय अन्य किसी भी परिभाषा संग्रह में न्याय या परिभाषा के स्वरूप में प्राप्त नहीं है, तथापि सर्व व्याकरण परम्परा में इसके अनुसार व्यवहार किया गया है ।

॥ ९० ॥ एकशब्दस्यासङ्ख्यात्वं क्वचित् ॥ ३३ ॥

'एक' शब्द में क्वचित् सङ्ख्यात्व नहीं होता है ।

'एक' शब्द की संख्या के रूप में प्रसिद्धि होने से, उसमें 'सङ्ख्यात्व' होता ही है, ऐसी मान्यता का निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'एकम् अहः-एकाहम् । यहाँ इस समास में 'एक' शब्द होने पर भी उसे संख्या के रूप में नहीं लिया गया है । अतः 'अह्नः' ७/३/११६ से 'एकाहन्' से अट् समासान्त होगा, 'नोऽपदस्य तद्धिते' ७/४/६१ से अन्त्यस्वरादि का लोप होगा और 'अहनिर्युहकलहाः' (लिङ्ग पु. १५/३) से पुंस्त्व प्राप्त होने पर भी 'अहःसुदिनेकतः' (लिङ्ग न. ८/२) से होनेवाली विशेषविधि से नपुंसकत्व होने पर 'एकाहम्' होगा ।

यदि 'एक' को संख्या के रूप में लिया जाय तो 'सर्वांशसङ्ख्याऽव्ययात्' ७/३/११८ से 'एकाहन्' से 'अट्' समासान्त होगा और उसी सूत्र से 'अहन्' का 'अह्न' आदेश होकर 'अर्द्धसुदर्शन-देवनमह्ना' (लिङ्गः पु.११/१) से पुंस्त्व प्राप्त होने पर 'एकाह्न' ऐसा अनिष्ट रूप होगा ।

इस न्याय का ज्ञापन 'सङ्ख्यातैकपुण्यवर्षादीर्घाच्च रात्रेरत्' ७/३/११९ में रहे 'एक' शब्द से होता है । यहाँ इस सूत्र में 'च' कार से पूर्व के 'सर्वांशसङ्ख्याऽव्ययात्' ७/३/११८ सूत्र से 'सङ्ख्या' शब्द की अनुवृत्ति होती है, और 'एक' शब्द भी संख्यावाचक ही है, तो उसका भी ग्रहण 'संख्या' शब्द से हो सकता है तथापि उसका यहाँ पृथग्ग्रहण किया, उससे ज्ञापित होता है कि 'एक' शब्द को क्वचित् सङ्ख्यावाचक नहीं माना जाता है । अतः जब उसमें 'सङ्ख्यात्व' नहीं होगा तब भी इसी 'सङ्ख्यातैक -' ७/३/११९ से 'एक' शब्द जिसके आदि में है वैसे 'रात्रि' अन्तवाले' अर्थात् 'एकरात्रि' शब्द से भी 'अत्' समासान्त होगा ।

'क्वचित्' कहने से कुछेक स्थान पर ही एक शब्द का असङ्ख्यात्व है, शेष स्थान पर प्रायः वह सङ्ख्यावाचक ही है । अतः 'एकधा' इत्यादि प्रयोग में 'सङ्ख्याया धा' ७/२/१०४ से धा प्रत्यय होगा ।

इस न्याय का स्वरूप ही अनित्य होने से उसकी अनित्यता नहीं है ।

यह न्याय अन्य किसी परिभाषासंग्रह में उपलब्ध नहीं है । यह न्याय लोकव्यवहार सिद्ध ही है क्योंकि 'एक' शब्द के विविध अर्थ कोशकार ने भी दिये हैं । वह इस प्रकार है :-

'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च, प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे सङ्ख्यायां च निगद्यते ॥

'एकशब्दस्य प्रसिद्धिस्तावत् सङ्ख्यात्वस्यैव' ऐसा श्रीहेमहंसगणि ने कहा, वही 'प्रसिद्धि' शब्द से ही कुछ ज्ञात हो जाता है । और 'एकगुरुकः, एकाधिकरण, एक आचार्याः' इत्यादि प्रयोगों में वह संख्या अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त है, वह लोकप्रसिद्ध ही है और अन्य वैयाकरण इस न्याय का आश्रय नहीं करते हैं किन्तु 'एकाह' शब्द की सिद्धि करने के लिए उसमें 'अह्न' आदेश न हो इसके लिए, 'अह्न' आदेश का निषेध करनेवाले सूत्र में ही 'एक' शब्द का ग्रहण किया है । उदा. उत्तमैकाभ्यां च' (पा.सू. ५/४/९०) । उनके मत से 'एकाह' शब्द पुल्लिङ्ग है । जबकि सिद्धहेम में लिङ्गानुशासनानुसार वह नपुंसकलिङ्ग है । शब्द के लिङ्ग के लिए वैयाकरण के वचन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि महाभाष्य में कहा है कि 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्य'। अतः शब्द के लिङ्ग के लिए लोकव्यवहार को ही प्राधान्य देना ।

इस न्याय को न्याय के स्वरूप में स्वीकार करना नहीं चाहिए , ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं क्योंकि 'एकाह' शब्द की सिद्धि के लिए ही इस न्याय की आवश्यकता है ।

यहाँ 'सर्वांशसङ्ख्याऽव्ययात्' ७/३/११८ सूत्र से 'एकाह' मे 'अहन्' का अह्न आदेश होने की प्राप्ति है किन्तु उसके बाद आये हुए 'सङ्ख्यातैकपुण्य'-७/३/११९ में पूर्वसूत्र से 'सङ्ख्या' शब्द की अनुवृत्ति आती होने पर भी 'एक' शब्द का ग्रहण किया है । उससे यह सिद्ध होता है कि पूर्वसूत्र में 'सङ्ख्या' शब्द से 'एक' का ग्रहण नहीं होता है और बृहद्वृत्ति में भी कहा है कि 'एकग्रहणं सङ्ख्याग्रहणेनानेनैकस्याग्रहणार्थम् तेन पूर्वसूत्रे सङ्ख्याग्रहणेन एकस्याग्रहणम् - एकमहः एकाहम्' इन शब्दों के आधार पर श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इन शब्दों द्वारा श्रीहेमचन्द्रसूरिजी 'एक' शब्द का विशेष अर्थ ही बताना चाहते हैं किन्तु सामान्य ऐसे इस न्याय का ज्ञापन करना नहीं चाहते हैं ।

इसके बारे में इतना ही कहना है कि प्रथम वक्षस्कार/विभाग के ५७ न्यायों को छोड़कर इसी द्वितीय खंड के ६५ न्याय और तृतीय खंड के १८ न्याय श्रीहेमहंसगणि ने बृहद्वृत्ति -लघुन्यास इत्यादि में से चयन किये हुए हैं । अतः इन न्यायों का स्पष्ट उल्लेख शायद बृहद्वृत्ति या बृहन्न्यास इत्यादि में भी न पाया जाता हो । अतः इस ज्ञापक से इतना ही सिद्ध होता है कि व्याकरणशास्त्र में भी लोकप्रसिद्ध 'एक' शब्द के अन्य विविध अर्थों का स्वीकार किया गया है ।

यह न्याय भी अन्य किसी भी परिभाषासंग्रह में नहीं है ।

॥ ९१॥ आदशभ्यः सङ्ख्या सङ्ख्येये वर्तते, न सङ्ख्याने ॥ ३४॥

'दशन्' पर्यन्त सङ्ख्या, सङ्ख्येय के रूप में होती है, किन्तु संख्यान के रूप में मानी जाती नहीं है ।

यहाँ 'आदशभ्यः' शब्द से केवल 'दशन्' तक नहीं किन्तु 'अष्टादश' तक की संख्या लेना क्योंकि 'दशन्' शब्द का प्रयोग 'अष्टादश' तक होता है और 'आदशभ्यः' शब्द का अर्थ 'दशन् शब्द प्रयोगावधि' किया गया है । अतः 'अष्टादश' पर्यन्त की संख्या, संख्येय अर्थात् विशेष्य के साथ सामानाधिकरण्य अर्थात् समान वचन और विभक्ति में प्रयुक्त होती है । उदा. 'एको घटः द्वौ घटौ, त्रयो वा ....यावत् अष्टादश घटाः' प्रयोग होता है किन्तु 'घटानां एको वा, द्वौ वा त्रयो वा...' प्रयोग नहीं किया जा सकता है क्योंकि 'एक' से 'अष्टादश' पर्यन्त संख्या का संख्यान अर्थात् विशेष्य के रूप में प्रयोग नहीं होता है किन्तु विशेषण के रूप में ही प्रयोग होता है । जबकि 'एकोनविंशतिः' शब्द से लेकर सभी संख्यावाचक शब्द 'सङ्ख्येय' के रूप में तो हैं ही, किन्तु 'सङ्ख्यान' के रूप में भी उनका प्रयोग होता है । उदा. 'एकोनविंशतिर्घटाः' तथा 'घटानां एकोनविंशतिः', वैसे 'नवनवतिर्घटाः घटानां वा' । 'शतं, सहस्रं, लक्षं, कोटिर्वा घटाः' तथा 'शतं, सहस्रं लक्षं, कोटिर्वा घटानाम्' प्रयोग भी होता है ।

इस न्याय का ज्ञापन 'सुज्वार्थे सङ्ख्या सङ्ख्येये सङ्ख्यया बहुव्रीहि :' ३/१/१९ सूत्रगत 'सङ्ख्येय' शब्द से होता है ।

यदि यह न्याय न होता तो कौन-सी संख्या 'सङ्ख्येय' के रूप में है वह कैसे मालूम देता? और उसका ज्ञान न हो तो 'सङ्ख्यान' स्वरूप संख्या का भी ज्ञान न होता और उसका परिहार किये बिना 'सङ्ख्येय' रूप संख्या के साथ कैसे समास होगा ? और यही ज्ञापक 'आदशभ्यः' पद को छोडकर, शेष संख्या के लिए है अर्थात् संख्येय के रूप में किसी भी संख्या है, इतना ही अर्थ इसी 'सुज्वार्थे सङ्ख्या'— ३/१/१९ सूत्र से ध्वनित होता है ।

यह न्याय अनित्य होने से 'आसन्नादूरा'—३/१/२० से हुए 'आसन्नदशन्' समास से 'प्रमाणी सङ्ख्याड्डः' ७/३/१२८ से 'ड' समासान्त होगा और 'आसन्नदशा' होगा । उसी समास का अर्थ 'नव' अथवा 'एकादश' होता है 'आसन्ना-दश' में 'दश' का अर्थ 'दश सङ्ख्या येषां' ऐसा व्यधिकरण बहुव्रीहि समास होता है ।

यह न्याय भी अन्य किसी भी परिभाषापाठ में प्राप्त नहीं है ।

इस न्याय में प्रयुक्त 'आदशभ्यः' शब्द के दो अर्थ होते हैं । 'दशन्' शब्द तक और 'दशन्'

शब्द का प्रयोग जहाँ तक होता है वहाँ तक अर्थात् 'अष्टादश' तक । उनमें से 'अष्टादश शब्द तक' अर्थ यहाँ लेना है और श्रीहेमहंसगणि ने भी यही अर्थ लिया है तथापि श्रीलावण्यसूरिजी ने 'अत्र केचन' कहकर अन्य किसी के मत से 'दशन्' संख्यावाचक शब्द पर्यन्त अर्थ लेना है, ऐसा बताकर उसका खंडन किया है किन्तु यही मत किसका है, उसकी स्पष्टता नहीं की है ।

यह न्याय सङ्ख्येय अर्थवाचक संख्याओं के अस्तित्व का केवल बोध कराता है किन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि इस न्याय के पूर्व उसमें सङ्ख्येयत्व नहीं था । दूसरी बात यह कि जो बात लोक से प्राप्त हो, उसमें शास्त्र का व्यापार नहीं होता है और वही बात लोकप्रसिद्ध होने से, उसके लिए न्याय का आश्रय करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने विविध कोश इत्यादि के उदाहरण देकर यही 'एक' से 'अष्टादश' पर्यन्त संख्यावाचक शब्दों में केवल सङ्ख्येयत्व ही है, और वह लोकप्रसिद्ध ही है ऐसा सिद्ध कर दिखाया है। अन्त में वे कहते हैं कि ये 'एक' से 'अष्टादश' पर्यन्त की संख्या केवल गुणिपरक (सङ्ख्येयत्ववत्) है और विंशति आदि संख्याएँ गुणपरक और गुणिपरक (सङ्ख्यानत्ववत् और सङ्ख्येयत्ववत्) मानी जाती है और वह शब्दशक्ति के स्वभाव से ही है, उसके लिए कोई न्याय इत्यादि की आवश्यकता नहीं है, ऐसा महाभाष्य इत्यादि में बताया है ।

इस न्याय के श्रीहेमहंसगणि ने बताये हुए ज्ञापक के लिए श्रीलावण्यसूरिजी को पूर्णतः अरुचि है । वे कहते हैं कि अमुक संख्या संख्येयवृत्ति है ऐसा ज्ञापन करना उचित नहीं है और ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि अमुक संख्या केवल संख्येयवृत्ति है क्योंकि 'सुज्वार्थे सङ्ख्या सङ्ख्येये सङ्ख्यया बहुव्रीहिः' ३/१/१९सूत्र में संख्येयवृत्ति संख्या का ग्रहण किया है किन्तु संख्येयमात्रवृत्ति सङ्ख्या का ग्रहण नहीं किया है और अगले सूत्र में 'विंशति' इत्यादि को भी सङ्ख्येयवृत्ति के रूप में ग्रहण किया है ।

इसके अतिरिक्त शास्त्रकार आचार्यश्री ने भी प्रायः प्रत्येक सूत्र की बृहद्वृत्ति में उसी सूत्रगत शब्दों और उनसे किस न्याय का ज्ञापन होता है, वह बता दिया है किन्तु 'सुज्वार्थे सङ्ख्या'- ३/ १/१९ की बृहद्वृत्ति में, इसी सूत्र से, प्रस्तुत न्याय का ज्ञापन होता है ऐसा कहीं नही कहा है, इसलिए भी इस प्रकार उसका ज्ञापकत्व बताना उचित नहीं है ।

इस न्याय की अनित्यता बताते हुए श्रीहेमहंसगणि 'आसन्नदशा' का अर्थ नव अथवा एकादश करते हैं और 'आसन्ना दश' का अर्थ करते हुए कहते हैं कि 'आसन्ना दश सङ्ख्या येषां' ऐसा वाक्य भी होगा ।

किन्तु 'आसन्ना दश' का यही अर्थ सही प्रतीत नहीं होता है । श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यदि 'अष्टादश' पर्यन्त संख्या-शब्द का संख्येयत्व आपकी पद्धति से ज्ञापकसिद्ध हो तो ही उसका अनित्यत्व बताने की आवश्यकता है, किन्तु ऊपर बताया उसी तरह वह ज्ञापकसिद्ध नहीं है और किसी भी प्रकार के प्रमाण बिना 'दशशब्दान्त' संख्याओ का सङ्ख्येयमात्रवृत्तित्व किस प्रकार दूर हो सकता है ? अतः 'दशानामासन्ना' ऐसा ही वाक्य हो सकता है या तो 'आसन्नादूरा-' ३/१/२०

सूत्र के सामर्थ्य से व्यधिकरणपद बहुव्रीहि समास का स्वीकार करना चाहिए और बृहद्वृत्ति के वैसे वाक्य को केवल अर्थ बतानेवाला समझना चाहिए ।

यही बात पाणिनीय परंपरा के 'आसन्नादूरा-' (पा.सू. २/२/२५) सूत्र के महाभाष्य में चर्चित है । संक्षेप में स्वाभाविक संख्येयत्व के त्याग की अपेक्षा सूत्रविधान के सामर्थ्य से व्यधिकरण बहुव्रीहि की कल्पना करना उचित प्रतीत होता है ।

'आसन्नदशा' के बारे में आगे चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि शायद 'दशन्' शब्द में संख्यानत्व है, ऐसा स्वीकार करके 'आसन्ना दश (सङ्ख्या) येषां' ऐसा विग्रह करके समास करने पर भी, 'एकार्थ चानेकं च' ३/१/२२ सूत्र से ही समास सिद्ध हो जाता है, तथापि 'आसन्ना'- ३/१/२० से प्रतिपदसमास का विधान किया वह, 'प्रमाणीसङ्ख्याड्डः' ७/३/१२८ से 'ड' करने के लिए ही है, ऐसा इसी सूत्र की वृत्ति से ही स्पष्ट हो जाता है । अर्थात् इस समास में आचार्यश्री को 'दश' इत्यादि संख्या का संख्यानत्व अभिमत है किन्तु उन्होंने इस न्याय के अनित्यत्व का आश्रय नहीं किया है । अतः इसी 'आसन्नादूरा'-३/१/२० सूत्र से हुई द्वितीयादि विभक्ति के अर्थ में समास विधान के सामर्थ्य से ही इस प्रकार का विग्रह होता है । इसके लिए यहाँ केवल स्वाभाविक संख्येयत्व का त्याग किया है, उसका ही इसी सूत्र द्वारा ज्ञापन होता है किन्तु उससे इस न्याय को अनित्यता प्राप्त नहीं होती है और इसी सूत्र से इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन नहीं होता है क्योंकि ऊपर बताया उसी तरह यह न्याय केवल लोकप्रसिद्ध अर्थ का ही अनुवादक होने से, उसके अनित्यत्व की चर्चा निर्मूल है । यद्यपि लघुन्यास में 'आदशभ्यः सङ्ख्या सङ्ख्यानेऽपि वर्तते' ऐसा प्रायिक वचन है, अतः वह इस न्याय की अनित्यता के लिए पर्याप्त/उचित नहीं माना जा सकता है ।

इस न्याय का निष्कर्ष बताते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि बहुलाधिकार से सामान्यतया 'अष्टादश' पर्यन्त की संख्या केवल संख्येयवृत्ति है, जबकि उसके बाद की संख्या, संख्येयवृत्ति और संख्यानवृत्ति भी है और शब्दशक्ति से तथा लक्ष्यानुसार क्वचित् 'अष्टादश' पर्यन्त की संख्या, संख्यानत्व युक्त हो सकती है , किन्तु उसका निर्णय शास्त्रकार के वचन पर ही आधारित नहीं है ।

इस न्याय के न्यास में श्रीहेमहंसगणि ने 'आसन्ना दश' का अर्थ 'एकोनविंशतिः एकविंशतिः' तथा 'एकादश, द्वादश, त्रयोदश' इत्यादि किया है किन्तु वह उचित नहीं है और वही अर्थ बृहद्वृत्ति के अर्थ के साथ युक्तिसंगत भी प्रतीत नहीं होता है । आ.श्रीलावण्यसूरिजी ने बृहद्वृत्त्यनुसार उसका खंडन किया है । वही चर्चा अतिविस्तृत होने से ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ नहीं देते हैं ।

और शायद श्रीहेमहंसगणि की यह चर्चा/बात लघुन्यास के आधार पर हो ऐसा लगता है किन्तु विशेष विचार करने पर 'आसन्नादूरा-' ३/१/२० सूत्र का इतना भाग त्रुटित हो ऐसा लगता है क्योंकि 'नवैकादश वेति पर्यायो विघटेत' इस प्रकार की शंका का उत्थापन करने के बाद उसका कोई समाधान नहीं दिया गया है ।

संक्षेप में इस न्याय को विशेषविधान के रूप में लोकप्रसिद्ध बात का ही अनुवादक मानना चाहिए । अतः उसके ज्ञापक या अनित्यत्व की कोई चर्चा करने की आवश्यकता नहीं रहती है ।

यह न्याय भी अन्य किसी भी परिभाषासंग्रह में संगृहीत नहीं है ।

॥९२॥ णौ यत्कृतं तत्सर्वं स्थानिवद् भवति ॥३५॥

'णि' प्रत्यय पर में होने पर जो कार्य होता है उन सब का स्थानिवद्भाव होता है ।

यहाँ 'णौ' में निमित्तसप्तमी लेनी किन्तु विषयसप्तमी नहीं लेनी ।

उदा० 'स्फुरत् णि सन्, पुस्फारयिषति' । यहाँ 'स्फुर्' धातु से 'णि' प्रत्यय होगा तब, 'चिस्फुरोर्नवा' ४/२/१२ से 'स्फुर् धातु के 'उ' का 'आ' होगा अर्थात् 'स्फार् णि' होगा । यहाँ आत्व, णिनिमित्तक है, अतः वह असद्वत् होगा, अतः जब उससे सन् प्रत्यय होगा तब, 'सन्यङश्च' ४/१/३ से 'स्फुर्' धातु के एकस्वरयुक्त आद्यांश का द्वित्व करते समय, 'णि' के कारण हुआ 'स्फा' असद्वद् होगा और 'स्फु' का ही द्वित्व होगा, बाद में 'अघोषे शिटः' ४/१/४५ से 'शिट्' का लोप होगा और 'द्वितीयतुर्ययोः पूर्वौ' ४/१/४२ से 'फु' का 'पु' होने पर 'पुस्फारयिषति' रूप सिद्ध होगा ।

'णौ' में यदि विषयसप्तमी हो तो स्थानिवद्भाव नहीं होता है । उदा० 'श्वि' धातु से 'सन् परक णि' प्रत्यय आने से पूर्व ही, 'श्वेर्वा' ४/१/८९ से होनेवाला 'य्वृत्' अन्तरङ्ग कार्य होने से पहले ही हो जायेगा क्योंकि 'श्वेर्वा' ४/१/८९ की वृत्ति में 'सन्परे णौ विषये' ऐसी विषयसप्तमी की व्याख्या की गई है । अतः 'श्वि' का 'य्वृत्' करने पर 'शु' होगा । उसी 'शु' का 'सन्यङश्च' ४/१/३ से द्वित्व करते समय स्थानिवद्भाव नहीं होगा और 'शु' के स्थान पर 'श्वि' का द्वित्व नहीं होगा किन्तु 'शु' का ही द्वित्व होनेकी प्राप्ति है किन्तु उससे पूर्व णिनिमित्तक 'उ' की वृद्धि 'औ' होगी और उसका 'आव्' होगा तो यहाँ 'शाव्' का द्वित्व नहीं होगा किन्तु 'शु' का ही द्वित्व होगा क्योंकि वृद्धि और 'आव्' आदेश णिनिमित्तक है । संक्षेप में 'य्वृत्' करते समय 'णौ' में विषयसप्तमी है, जबकि 'वृद्धि' और 'आव्' आदेश करते समय णौ में निमित्तसप्तमी है । अतः 'श्वेर्वा' ४/१/८९ से हुए य्वृत् का स्थानिवद्भाव नहीं होगा किन्तु 'वृद्धिः स्वरेष्वादेः'- ७/४/१ से हुई वृद्धि और 'आव्' आदेश का स्थानिवद्भाव होगा और 'शु' का ही द्वित्व होगा ।

यदि 'णौ' में सामान्य सप्तमी ली जाय तो, यहाँ 'श्वि' में हुए य्वृत् का भी स्थानिवद्भाव हो जाता तो, बाद में द्वित्व होने पर 'शिशावयिषति' ऐसा अनिष्ट रूप होता ।

इस न्याय का ज्ञापक 'ओर्जान्तस्थापवर्गेऽवर्णे' ४/१/६० सूत्र है । इसी सूत्र के कारण 'युक् मिश्रणे' और 'पूग्श् पवने' धातु से 'सन्' प्रत्यय होने पर 'यियविषति, पिपविषति' रूप होते हैं । ये रूप सिद्ध करने के लिए 'ओर्जान्तस्था'- ४/१/६० सूत्र के स्थान पर सिर्फ 'पयोऽवर्णे' किया होता तो भी 'यियविषति' और 'पिपविषति' रूप में द्वित्व होने के बाद 'उ' का 'इ' हो सकता है तथापि 'जुं गतौ' (सौत्र धातु), 'यौति, पुनाति' इत्यादि धातु से 'णि' होने के बाद 'सन्' प्रत्यय होने पर, 'जिजावयिषति, यियावयिषति, पिपावयिषति' इत्यादि प्रयोग में ण्यन्त 'जवति' इत्यादि धातु के 'उ' का 'इ' करने के लिए 'ओर्जान्तस्थापवर्गेऽवर्णे ४/१/६०, स्वरूप दीर्घ/बडे सूत्र की रचना की वह इस न्याय का ज्ञापन करता है । वह इस प्रकार है ।

यदि यह न्याय न होता तो 'जिजावयिषति' इत्यादि प्रयोग में वृद्धि और 'आव्' आदेश अन्तरङ्ग होने से प्रथम वृद्धि और 'आव्' आदेश करने के बाद द्वित्व करने पर 'आ' का ह्रस्व करने के बाद पूर्व के 'अ' का 'सन्यस्य' ४/१/५९ से 'इ' सिद्ध हो सकता है, तो उसके लिए 'ओर्जान्तस्थापवर्गे'- ४/१/६०, जैसा बडा सूत्र क्योंकिया जाय ? अर्थात् ऐसा बृहत्सूत्र न करना चाहिए तथापि किया । वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि वृद्धि और 'आव्' का स्थानिवद्भाव होने पर 'सन्यस्य' ४/१/५९ से इत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है । अतः इस न्याय की आशंका से ही इत्व के लिए 'ओर्जान्तस्थापवर्गे'-४/१/६० स्वरूप दीर्घसूत्र किया है ।

यह न्याय अनित्य है । अतः णिनिमित्तक हुए जिस कार्य का स्थानिवद्भाव करना है उसका आधारभूत वर्ण या वर्णसमुदाय यदि अवर्णवाला हो तो ही इस न्याय की प्रवृत्ति होती है अन्यथा नहीं । उदा. कृतण् चुरादि है । अतः 'णि' प्रत्यय पर में होने पर 'कृतः कीर्त्तिः' ४/४/१२२ से 'कीर्त्त्' आदेश होने के बाद 'अचिकीर्तत्' होगा । यहाँ 'की' का ही द्वित्व होगा किन्तु 'कृ' का द्वित्व नहीं होगा क्योंकि कीर्त्त् स्वरूप वर्णसमुदाय ईकारवाला है किन्तु अकारवाला नहीं है । अतः स्थानिवद्भाव का अभाव होता है ।

यहाँ किसी को शंका हो सकती है कि यहाँ इस न्याय की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि णौ में निमित्तसप्तमी है, जबकि 'कीर्त्त्' आदेश तो निर्निमित्त है । यही बात सच है, तथापि 'येन विना यन्न स्यात्, तत्तस्यानिमित्तस्यापि निमित्तम्' न्याय से 'णिच्' के संनियोग में ही 'कीर्त्त्' आदेश पाया जाता है । अतः णिच् संनियोग के बिना अनुपपन्न कीर्त् आदेश के लिए 'णिच्' अनिमित्त होने पर भी निमित्त माना जाता है ।

'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७/४/१०९ परिभाषा के प्रपंच-स्वरूप यह न्याय है । इसके बाद के/ अगले न्याय से लेकर 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि' न्याय तक ग्यारह न्याय 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' न्याय की अनित्यता के प्रपंच स्वरूप है ।

आ. श्रीहेमचन्द्रसूरिजी कहते हैं कि इस न्याय के फलस्वरूप 'पुस्फारयिषति,' और 'चुक्षावयिषति' इत्यादि प्रयोग में द्वित्व होने के बाद पूर्व खण्ड में उकार का श्रवण होता है । यहाँ 'पुस्फारयिषति' में 'चिस्फुरोर्नवा' ४/२/१२ से णिनिमित्तक हुए आत्व का और 'चुक्षावयिषति' में वृद्धि का स्थानिवद्भाव होता है ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'अचिकीर्त्तत्' रूप सिद्ध करने के लिए इस न्याय के अनित्यत्व का आश्रय किया है । जबकि श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इस न्याय की अनित्यता का आश्रय करके इस रूप की सिद्धि करना, बृहद्वृत्ति के अनुसार ठीक नहीं लगता है क्योंकि अनित्यत्व का कोई ज्ञापक नहीं है और 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' से प्राप्त अनित्यत्व प्रामाणिक नहीं माना जाता है । यह न्याय ज्ञापक साजात्यमूलक है क्योंकि शास्त्रकार आचार्यश्री ने स्वयं कहा है कि 'एतच्च ज्ञापकं चान्तःस्थापवर्गादन्यत्राऽप्यवर्ण एव द्रष्टव्यम् ।'

यदि इस न्याय को अनित्य माना जाय तो, उसी अनित्यता के स्थान का नियमन/निर्णय,

अनित्यता के ज्ञापक बिना कैसे प्राप्त होगा ? और ऐसे स्थानविशेष का निर्णय कहीं भी बताया नहीं है तथा यही अनित्यत्व महाभाष्य इत्यादि से विरुद्ध हैं । इसके अतिरिक्त इस न्याय को श्रीहेमहंसगणि ने 'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७/४/१०९ परिभाषा का प्रपंच कहा है, वह भी उचित नहीं है क्योंकि यहाँ आम तौर पर स्थानि स्वरूप 'उ' वर्ण का 'इ' वर्ण करना है और वह वर्णविधि है । अतः इस परिभाषा का यहाँ विषय ही नहीं है ।

वस्तुतः, सिद्धहेम की परम्परा में 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' ७/४/११० सूत्र से प्राप्त स्थानिवद्भाव का निषेध 'न सन्धि-ङी-य-क्वि-द्वि-दीर्घासद्विधावस्क्लुकि' ७/४/१११ सूत्र से होता है । उसके प्रतिप्रसव स्वरूप यह न्याय है अर्थात् अप्राप्तस्थानिवद्भाव की प्राप्ति का विधायक यह न्याय है ।

इस न्याय के ज्ञापक के बारे में आगे चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि किसी को यहाँ शंका हो सकती है कि 'ओर्जान्तस्थापवर्गेऽवर्णे' ४/१/६० सूत्र में 'णि' का ग्रहण नहीं किया है, तथापि उसके द्वारा 'णि' के विषय में स्थानिवद्भाव का अनुमान किस प्रकार होता है ? उसका प्रत्युत्तर देते हुए वे कहते हैं कि इसी सूत्र से 'सन्' प्रत्यय पर में होने पर 'इ' होता है और वही 'सन्' क्वचित् मुख्य होता है । उदा 'यियविषति, पिपविषति' इत्यादि, और क्वचित् वह गौण होता है । उदा. 'अबीभवत्, अपीपवत् ।'

वस्तुतः 'ङ परक णि' होता है, तब ही सन्वद्भाव द्वारा सन्निमित्तक कार्य की प्राप्ति होती है । यदि केवल 'णि' के कारण ही इसी सूत्र से 'इ' होता हो तो, णि के विषय में स्थानिवद्भाव का ज्ञापन इसी सूत्र के 'जान्तस्थापवर्गे' शब्द से होना संभवित है, किन्तु वैसा नहीं है, क्योंकि केवल 'सन्' प्रत्यय पर में होने पर भी इत्व होता है । यही बात सत्य है क्योंकि सन् प्रत्यय निमित्तक 'इत्व' केवल 'यियविषति, पिपविषते' इत्यादि प्रयोग में दिखायी पड़ता है । जबकि अन्यत्र 'सन्', 'णि' से व्यवहित ही पाया जाता है और वहाँ णि के कारण 'सन्यस्य' ४/१/५९ से ही इत्व सिद्ध हो जाता है । अतः 'जान्तस्थापवर्गे' शब्द व्यर्थ होते हैं । उसके सार्थक्य के लिए 'णि' के विषय में उसे ज्ञापक मानने में कोई दोष नहीं है ।

श्रीहेमहंसगणि ने बताया है कि यदि णिनिमित्तक हुए कार्य का स्थानिवद्भाव करना हो तो, उसके आधारभूत वर्ण या वर्णसमुदाय अवर्णयुक्त होना चाहिए, और तो ही इस न्याय की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है । इसके उदाहरण में 'पुस्फारयिषति' के 'स्फा' को वर्ण माना है, और 'जिजावयिषति' के 'जाव्' को वर्णसमुदाय माना है, किन्तु 'स्फा' वर्ण नहीं है, वर्णसमुदाय ही है । अतः 'स्फा' और 'जाव्' दोनों को वर्णसमुदाय ही मानने चाहीए । परिणामतः 'आधारभूत वर्ण या वर्णसमुदाय अवर्णयुक्त होना चाहीए' ऐसा न कहकर 'आधारभूत वर्णसमुदाय अवर्णयुक्त होना चाहिए' ऐसा कहना समुचित प्रतीत होता है ।

यह न्याय चान्द्र, पुरुषोत्तमदेवकृत परिभाषावृत्ति, सीरदेवकृत परिभाषावृत्ति, हरिभास्करकृत परिभाषावृत्ति में प्राप्त है, अन्यत्र नहीं ।

॥९३॥ द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति ॥३६॥

दो बार कही हुई बात दृढ होती है ।

जिसके लिए व्याकरण के धातुपाठ इत्यादि में दो बार प्रयत्न किया हो वह बताता है कि 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति', दो बार कहा हुआ एक ही कार्य नित्य होता है अर्थात् अव्यभिचारी रूप से वह कार्य होता ही है ।

उदा. 'असूच् क्षेपणे' धातु से अद्यतनी का 'दि' प्रत्यय पर में होने पर 'आस्थत्' रूप होगा । यहाँ 'अङ्' का व्यभिचार नहीं होता है । यही 'अस्' धातु से 'शास्त्यसूवक्तिख्यातेरङ्' ३/४/६० से अङ् प्रत्यय होगा और पुष्यादि गणपाठ में 'असूच् क्षेपणे' धातु होने से 'लृदिद्द्युतादिपुष्यादेः परस्मै' ३/४/६४ से भी 'अङ्' प्रत्यय होनेवाला है ।

अन्य कुछेक के मतानुसार पुष्यादिगणपठित धातु में क्वचित् 'अङ्' का व्यभिचार पाया जाता है । उदा. भगवन् मा कोपीः । [बालरामायण] यहाँ पुष्यादित्व होने पर भी 'अङ्' प्रत्यय नहीं हुआ है ।

'दंश' धातु से, 'यङ्' प्रत्यय का लोप होने पर, किसी भी सूत्र से नहीं होनेवाला 'न' का लोप होगा ही, उसका ज्ञापन करने के लिए 'गृलुपसदचरजपजभदशदहो गर्ह्ये' ३/४/१२ सूत्र में यङन्त 'दंश' धातु के 'न' का लोप 'दश' निर्देश द्वारा दिखा दिया होने पर भी, पुनः 'जपजभदहदशभञ्जपशः' ४/१/५२ में किया 'दश', स्वरूपनिर्देश ही, इस न्याय का ज्ञापक है । इसका ज्ञापकत्व इस प्रकार है । यहाँ श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने ऐसा विचार किया कि किसी भी ज्ञापक द्वारा एक बार ज्ञापित विधि, 'समासान्तागम-ज्ञापक-गण-नञ्निर्दिष्टानि अनित्यानि' न्याय से, जैसे 'दशैकादश' शब्द के अकारान्तत्व में अनित्यता आती है, वैसे यहाँ भी 'दंश' के उपान्त्य 'न' का लोप न होने की आपत्ति आती है, वह न हो, उसके लिए 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' न्याय से अनित्यता का भय दूर करने के लिए ही श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने 'दंश' के उपान्त्य 'न'-लोप का दो बार ज्ञापन किया है ।

यदि यह न्याय न होता तो, दो बार ज्ञापित विधि में आती अनित्यता का निषेध किसी भी प्रकार से संभव नहीं है किन्तु इस न्याय से दो बार ज्ञापित विधि में नित्यत्व प्राप्त हो जाता है । अतः आचार्यश्री के अपने मतानुसार 'दंदशीति' प्रयोग में उपान्त्य 'न' का लोप होता ही है ।

अन्य कुछेक के मतानुसार यङ्लुबन्त 'दंश' धातु के उपान्त्य 'न' का लोप नहीं हुआ है । अतः 'दन्दंशीति' प्रयोग भी होता है, और यही रूप श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने स्वयं 'जपजभ'.....४/१/५२ सूत्र की वृत्ति में साक्षात् बताया है, अतः वही रूप भी उनको अंशतः सम्मत ही है, ऐसा मानना चाहिए । अतः उसकी सिद्धि करने के लिए इस न्याय की अनित्यता का आश्रय लेना चाहिए ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय की अनित्यता बताने के बजाय यह कहते हैं कि जिनके मत से 'दन्दंशीति' में 'दंश' के उपान्त्य 'न' का लोप नहीं होता है, उसके मत से यह न्याय है ही नहीं,

ऐसा मानना और क्वचित् इस न्याय की आवश्यकता दिखायी दे तो, लोकसिद्ध मानकर उसका आश्रय करना चाहिए ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय के फल और ज्ञापक की चर्चा करते हुए फल को ज्ञापक और ज्ञापक में फल बताते हैं । इसके लिए उन्होंने बृहद्वृत्ति और लघुन्यास का आधार लिया है ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'आस्थद्' में 'अङ्' के व्यभिचार का अभाव बताया है किन्तु वह 'शास्त्यसूवक्तिख्यातेरङ्' ३/४/६० की बृहद्वृत्ति के अनुकूल प्रतीत नहीं होता है क्योंकि बृहद्वृत्ति में कहा है कि 'अस्' धातु पुष्यादि होने से 'अङ्' होनेवाला ही था, तथापि आत्मनेपद में अङ् करने के लिए, यहाँ 'अस्' का ग्रहण किया है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि पुष्यादित्व से होनेवाला 'अङ्' परस्मैपद में ही होता है, जबकि इसी सूत्र से होनेवाला 'अङ्' परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों में होता है । अत: 'पर्यस्थत' प्रयोग के लिए यहाँ 'अस्' का ग्रहण किया है ।

लघुन्यासकार ने पुष्यादि पाठ को ज्ञापक बताते हुए कहा है कि 'आत्मनेपदार्थम् इति' ऐसे बृहद्वृत्ति के शब्द से आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों में इसी सूत्र से ही 'अङ्' होनेवाला है, तो पुष्यादि पाठ में इसका निर्देश क्योंकिया ? वह व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है, अत: 'अस्' धातु से 'अङ्' होगा ही । जबकि अन्य पुष्यादि धातु से 'अङ्' न भी हो सकता है अर्थात् उसमें अङ् का व्यभिचार देखने को मिलता है । अत एव 'भगवन् ! मा कोपी:' इत्यादि (रामायणोक्त) प्रयोग की सिद्धि हो सकती है ।

यदि इस प्रकार 'पुष्यादि' पाठ ज्ञापक होता तो 'दश' (४/१/५२) निर्देश इस न्याय का उदाहरण बनता है ।

ऐसा होने पर भी कुछेक कहते हैं कि 'दिवादि' में 'अस्' धातु का पाठ 'श्य' (विकरण) प्रत्यय करने के लिए ही किया है और 'अङ्' प्रत्यय 'पुष्यादि' से ही होनेवाला होने से 'पुष्यादि' में ही उसका पाठ किया है । बाद में आत्मनेपद में 'अङ्' करने के लिए 'शास्त्यसूवक्ति'-३/४/ ६० सूत्र में पाठ करना आवश्यक है । इस प्रकार 'पुष्यादि पाठ' ज्ञापक नहीं बन सकता है किन्तु 'दश' -(४/१/५२) निर्देश ही ज्ञापक बनता है, तो वह भी उचित ही है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी स्वीकार करते हैं ।

यह न्याय व्याडि के परिभाषासूचन और परिभाषापाठ, शाकटायन तथा जैनेन्द्रपरिभाषावृत्ति में प्राप्त है ।

॥९४॥ आत्मनेपदमनित्यम् ॥३७॥

आत्मनेपद की प्राप्ति हो, तथापि, क्वचित् शिष्टप्रयोगानुसार, नहीं होता है ।

शिष्ट पुरुषों के प्रयोगानुसार, आत्मनेपद की प्राप्ति हो, तथापि नहीं होता है । क्वचित् आत्मनेपद की प्राप्ति न हो, तथापि हो जाता है, वही अनित्यता है ।

उसमें व्याकरणशास्त्र से प्राप्त आत्मनेपद का अभाव इस प्रकार है । 'डुलभिंष् प्राप्तौ, क्लीबृङ् आधार्ष्ट्ये, क्लिशिंच् उपतापे, षेवृङ् सेवने, भाषि व्यक्तायां वाचि, तर्जिण् संतर्जने, भर्त्सिण् संतर्जने, शमिण् आलोपने, भलिण् आभण्डने, कुत्सिण् अवक्षेपे, वञ्चिण् प्रलम्भने, विदिण् चेतनाख्याननिवासेषु', ये सब धातु इङित् होने से आत्मनेपद की ही प्राप्ति है तथापि उसका अनुक्रम से निम्नोक्त प्रकार से प्रयोग होता है । '१. सम्यक् प्रणम्य न 'लभन्ति' कदाचनाऽपि । २. कुरूद्योतं 'क्लीबद्' दिनपतिसुधागौ तमसि मे । ३. परार्थे 'क्लिश्यतः' सतः । ४. स्वाधीने विभवेऽप्यहो नरपतिं 'सेवन्ति' किं मानिनः ५. मिथ्या न 'भाषामि' विशालनेत्रे ६. 'तर्जयति' ७. 'भर्त्सयति' ८. 'निशामयति' ९. 'निभालयति' १०. 'कुत्सयति' ११. 'वञ्चयति' १२. 'वेदयति' इत्यादि । यहाँ 'क्लीबद्' प्रयोग में 'क्लीबृङ् ' धातु तथा 'क्लीब' शब्द से 'कर्तुः क्विप्'.....३/४/२५ से होनेवाले ङित् 'क्विप्' प्रत्ययान्त नामधातु भी लिया जा सकता है ।

आत्मनेपद की प्राप्ति न हो तथापि होता है । उदा. 'षस्ज गतौ,' 'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु' [भगवद्गीता] 'सज्जमानमकार्येषु' । यह धातु इङित् नहीं होने पर भी आत्मनेपद होता है ।

'एजृङ्, भेजृङ्, भ्राजि दीप्तौ' इस प्रकार भ्राज् धातु का आत्मनेपदी धातु में पाठ किया है तथापि 'राजृग् टुभ्राजि दीप्तौ,' ऐसे पुनः पाठ किया वह इस न्याय का ज्ञापक है । इसका ज्ञापकत्व इस प्रकार है । 'भ्राजि' धातु का आत्मनेपदी धातु में दो बार पाठ करके 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' न्याय से, 'भ्राजि' धातु से कदापि परस्मैपद नहीं होगा, ऐसा सिद्ध किया है । 'भ्राजि' धातु से आत्मनेपद ही होगा, ऐसा ज्ञापित करने के लिए, ऐसा प्रयत्न किया क्योंकि 'भ्राजि' धातु के आत्मनेपद के व्यभिचार की शंका उत्पन्न हुई होगी और वह इस न्याय के बिना नहीं हो सकती है । यदि यह न्याय न होता तो 'भ्राजि' धातु का दो बार पाठ करने की कोई आवश्यकता ही न थी । अतः वह व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है । और यह न्याय होने के कारण ही, 'भ्राजि' धातु के आत्मनेपद के व्यभिचार की शंका हुई, उसे दूर करने के लिए, दो बार पाठ किया अर्थात् वह सार्थक भी है ।

यह न्याय अनित्य है क्योंकि 'इङितः कर्तरि' ३/३/२२ से होनेवाली आत्मनेपदविधि ही इसका क्षेत्र है । इसे छोड़कर 'क्रियाव्यतिहारेऽगतिहिंसा'-३/३/२३ इत्यादि सूत्र से होनेवाली आत्मनेपदविधि नित्य ही है अनित्य नहीं है, क्योंकि न्याय की अपेक्षा सूत्र बलवान् माने जाते हैं ।

तथा 'इङितः कर्तरि' ३/३/२२ सूत्र में लिङ्ग (चिह्न) द्वारा आत्मनेपद किया है । अतः वह लाक्षणिक है । जबकि अन्यसूत्र द्वारा उक्त आत्मनेपदविधि प्रतिपदोक्त है । अतः 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः'-न्याय से 'क्रियाव्यतिहारेऽगति-' ३/३/२३ इत्यादि सूत्रोक्त आत्मनेपदविधि में किसी भी प्रकार के व्यभिचार का संभव नहीं है ।

इस न्याय की क्या आवश्यकता है ? इसके बारे में विचार करने पर लगता है कि सिद्धहेम में परस्मैपद के लिए 'शेषात्परस्मै' ३/३/१०० सूत्र है, अर्थात् वही सामान्य विधान है । जबकि आत्मनेपद, उसी उसी लिङ्गविशेष निमित्तक है, अतः वह बलवान् बनता है और आत्मनेपद विधि

नित्य हो जाती है । जबकि साहित्य के क्षेत्र में शिष्टपुरुष द्वारा किये गये प्रयोग में आत्मनेपद की अनित्यता मालूम पडती है, अतः वही प्रयोग भी साधु और शास्त्रकार को संमत है, यही बताने के लिए यह न्याय है ।

पाणिनीय व्याकरण में 'चक्षिङ्' धातु को 'ङित्' करने से ही इस न्याय का ज्ञापन होता है, ऐसा प्राचीन वैयाकरण मानते है । जबकि नवीन वैयाकरण 'चक्षिङ्' धातु के ङित्करण का दूसरा प्रयोजन बताकर वह इस न्याय का ज्ञापक नहीं है, ऐसा दिखाते हैं, और जहाँ जहाँ आत्मनेपदी धातु से परस्मैपद या परस्मैपदी धातु से आत्मनेपद हुआ है वहाँ आर्षत्व अर्थात् आर्ष प्रयोग है, ऐसा समाधान देते हैं । यदि इस न्याय से ऐसे प्रयोगों को स्वीकृति दी जाय तो, वर्तमानकालीन, ऐसे प्रयोगों को भी साधुत्व प्राप्त हो जायेगा तो व्याकरणशास्त्र निर्दिष्ट आत्मनेपद-परस्मैपद की कोई व्यवस्था नहीं रह पाती । अतः इस न्याय के बारे में विशेष विचार करने पर लगता है कि जैसे, इस न्याय से पूर्व आये हुए 'उपसर्गोऽव्यवधायि' न्याय में बताया है, वैसे यहाँ भी, यह न्याय, व्याकरण की कोई विधि में उपकारक नहीं है, और व्याकरण के सूत्र या उसके शब्द या अन्य किसी बाबत का स्पष्टीकरण भी नहीं करता है, अतः शास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाह करने के लिए इस न्याय की कोई आवश्यकता नहीं है । जहाँ जहाँ ऐसे आत्मनेपद की अनित्यता के कविप्रयोग प्राप्त हो वहाँ पहले बताया उसी प्रकार 'साहित्य के क्षेत्र में कवि निरङ्कुश होते हैं,' ऐसा मानकर समाधान कर लेना ।

और 'भ्राज्' धातु का दो बार पाठ किया, वह इस न्याय का, जैसा चाहिए ऐसा बलवान् ज्ञापक नहीं है क्योंकि दोनों पाठों में भिन्न भिन्न अनुबंध हैं । अतः ऐसी कल्पना हो सकती है कि प्रथम 'भ्राज्' धातु से 'टु' अनुबन्ध निमित्तक कार्य न हो, इसके लिए केवल 'भ्राजि दीप्तौ' कहा और दूसरे 'भ्राज्' धातु से 'टु' अनुबन्धनिमित्तक कार्य होता है, उसका ज्ञापन करने के लिए 'टुभ्राजि दीप्तौ' कहा है । अतः इस न्याय का, 'भ्राज्' धातु के दो बार के पाठ से, ज्ञापन करना उचित नहीं लगता है अथवा इस न्याय का दृढ़तर ज्ञापक प्राप्त नहीं है ।

पाणिनीय परम्परा में यह न्याय 'अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्' स्वरूप में है और वह भी केवल पुरुषोत्तमदेवपरिभाषापाठ, नागेश के परिभाषेन्दुशेखर व शेषाद्रिनाथ की परिभाषावृत्ति में ही पाया जाता है ।

॥९५॥ क्विपि व्यञ्जनकार्यमनित्यम् ॥३८॥

'क्विप्' प्रत्ययान्त शब्द या धातु को, व्यञ्जननिमित्तक कार्य प्राप्त हो तो भी नहीं होता है । वही अनित्यता है ।

उसमें 'आख्यात' सम्बन्धित 'क्विप्' का उदाहरण इस प्रकार है । 'राजेवाचरति' में 'कर्तुः क्विप् गल्भक्लीबहोडात्तु ङित्' ३/४/२५ से 'क्विप्' होगा और 'राजानति' प्रयोग होगा । इस प्रयोग में 'क्विप्' सम्बन्धित 'व' कार के कारण 'नाम सिदय्व्यञ्जने'-१/१/२१ से 'राजन्' में पदत्व की प्राप्ति है, तथापि पदत्व नहीं होगा और 'नाम्नो नोऽनह्नः' २/१/९१ से 'न' का लोप नहीं होगा ।

कृत् 'क्विप्' का उदाहरण इस प्रकार है-'गीर्यते इति', 'क्रुत्सम्पदादिभ्यः-' ५/३/११४ से 'क्विप्' होगा और प्रथमा द्विवचन का 'औ' प्रत्यय होने पर 'गिरौ' इत्यादि रूप होंगे । यहाँ भी पूर्व की तरह क्विप् निमित्तक, पदत्व की प्राप्ति नहीं होगी और 'पदान्ते' २/१/६४ से 'गिरौ' में दीर्घ नहीं होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक 'क्वौ' ४/४/११९ सूत्र है । वह इस प्रकार है- 'मित्रं शास्ति मित्रशीः' इत्यादि प्रयोग में, 'क्विप्' को व्यञ्जनादि मानकर 'इसासः शासोऽङ्व्यञ्जने' ४/४/११८ से 'इस्' आदेश सिद्ध ही था, तथापि उसके लिए 'क्वौ' ४/४/११९ सूत्र किया क्योंकि यह न्याय होने से 'क्विप्' प्रत्यय परमें होने पर व्यञ्जननिमित्तक कार्य नहीं होगा, ऐसी आशंका से ही यही 'क्वौ' ४/४/११९ किया गया है ।

'क्विप्' के साथ साथ उपलक्षण से 'विच्' प्रत्यय पर में होने पर भी व्यंजननिमित्तककार्य नहीं होता है । उदा. 'मुख्यमाचष्टे'-'णिजि', 'मन्वन्-' ५/१/१४७ से 'विच्' होने पर 'मुख्य्, तं मुख्यम्' । यहाँ 'विच्' पर में होने पर व्यंजननिमित्तक-'य्वोः प्व्य्व्यञ्जने लुक्' ४/४/१२१ से 'य्' का लोप नहीं हुआ है । यहाँ ऐसा न कहना कि 'णिच्' का लोप होने के बाद, उसका स्थानिवद् भाव होने से, 'विच्' पर में होने पर 'य्' लोप की प्राप्ति ही नहीं है क्योंकि 'य् विधि' में स्थानिवद्भाव का 'न सन्धि ङी'......७/४/१११ से निषेध हुआ है ।

इस न्याय की अनित्यता बताना संभव नहीं है क्योंकि यदि इस न्याय की अनित्यता बताना हो तो, कहीं भी 'क्विप्' या 'विच्' प्रत्यय पर में आने पर, व्यंजननिमित्तक कार्य होता है, ऐसा बताना पडे, तो व्यंजनकार्य की अनित्यता की भी अनित्यता कही जा सकती है किन्तु यहाँ सिद्धहेम की परम्परा में 'क्विप्' प्रत्यय पर होने पर कहीं भी व्यंजनकार्य नहीं होता है और हुआ प्रतीत भी नहीं होता है । अतः इस न्याय की अनित्यता नहीं है ।

और ऐसा है तो इस न्याय का स्वरूप उचित नहीं है क्योंकि यदि 'क्विप्' प्रत्यय पर में होने पर व्यंजननिमित्तक कार्य न होता हो, तो 'क्विपि व्यंजनकार्य न स्यात्' कहना चाहिए, किन्तु इस बात का विरोध करते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि ऐसी शंका न करनी चाहिए क्योंकि यह न्यायसूत्र चिरन्तन है और इसका स्वरूप कोई भी व्यक्ति नहीं बदल सकता है और यह न्याय विविध व्याकरण में सामान्य है । अतः अन्य व्याकरण परम्परा में 'क्विपि व्यञ्जनकार्यमनित्यम्', ऐसे स्वरूप में भी न्याय है । कुछेक 'क्विप्' प्रत्यय पर में होने पर कुछेक कार्य को नित्य मानते हैं । उदा. जयकुमार 'पां पाने' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करके, उसका लोप होने के बाद भी 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४/३/९७ से व्यंजनादि प्रत्ययनिमित्तक ईत्व नित्य करते हैं और 'पीः' रूप सिद्ध करते हैं । उनकी अपेक्षा से इस न्याय में 'अनित्यम्' कहा है ।

सिद्धहेम की परम्परा में इस न्याय की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि अन्य परंपरा की प्रक्रिया से, बिल्कुल भिन्न प्रकार की प्रक्रिया यहाँ है । अतः इस न्याय के बिना भी कार्यसिद्धि हो सकती है, और 'क्विप्' व्यंजनादि होने पर भी उसका पूर्णतः लोप हो जाने के बाद सामान्यतया

व्यंजनादि प्रत्ययनिमित्तक कार्य नहीं होता है । अत एव 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४/३/९७ सूत्र में साक्षात् व्यंजन का ग्रहण करने के लिए 'व्यञ्जने' शब्द रखा है । वह सूचित करता है क्वचित् लुप्त व्यञ्जनादि प्रत्ययनिमित्तक कार्य भी होता है ।

'क्विप्' प्रत्यय होने पर व्यंजननिमित्तक कार्य की प्राप्ति हो तो ही इस न्याय की आवश्यकता है, अन्यथा यह अनावश्यक है । सामान्यतया सिद्धहेम की परंपरा में अनुबंध इत्यादि के लोप के लिए एक ही 'अप्रयोगीत्' १/१/३७ सूत्र है । इसके अनुसार जिसका कहीं भी प्रयोग न हुआ हो, उसे 'इत्' संज्ञा होती है और 'एति अपगच्छति इति इत्' स्वरूप में 'इत्' की व्याख्या करने पर जो 'अप्रयोगि' है, उसका लोप हो जाता है । यहाँ 'क्विप्' प्रत्यय के विषय में संपूर्ण प्रत्यय का ही लोप होता है, तो शायद 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणं कार्यम्' न्याय से क्विप् निमित्तककार्य की प्राप्ति हो सकती है किन्तु व्यञ्जननिमित्तक कार्य की प्राप्ति कैसे होती है ? इसके लिए 'क्विप्' प्रत्यय के स्वरूप का विचार करना होगा । उसके बारे में शब्दमहार्णवन्यास (बृहन्न्यास) में कहा है कि क्विप् प्रत्यय में 'क' कार और 'प' कार दो अनुबंध है, 'इ' उच्चारणार्थ है, अतः केवल 'व' कार ही प्रत्यय का अंश है, यदि यह 'व' कार न होता तो 'अप्रयोगि' शब्द का अभिधेय ही नहीं मिलता । अतः प्रत्ययत्व केवल 'व' में ही है और 'व' कार रखने का कारण बताते हुए वे कहते हैं कि महाभाष्य का सिद्धांत है कि 'न हि यणः(अन्तस्थाः) पदान्ताः सन्ति।' [अन्तस्था(यवरल) प्रायः कदापि पद के अन्त में नहीं होते हैं ।] अतः प्रत्यय सम्बन्धित कार्य करने के बाद उसकी निवृत्ति हो जायेगी । इस प्रकार क्विप् के 'व' में प्रत्ययत्व और कार्यार्थत्व है । अतः व्यंजननिमित्तक कार्य की प्राप्ति है । उसको इस न्याय से दूर की जाती है ।

इसी प्रकार से 'विच्' के 'व' में भी प्रत्ययत्व और कार्यार्थत्व है । अतः उसका यहाँ संग्रह किया है, किन्तु यहाँ 'विच्' का संग्रह करना उचित नहीं है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी का मत है । शायद यहाँ उसका संग्रह करने में कोई बाधा नहीं है किन्तु उसका जो फल बताया है, वह उचित नहीं है। श्रीहेमहंसगणि ने 'विच्' का उदाहरण इस प्रकार दिया है । 'मुख्यमाचष्टे इति णिजि' बाद में 'विच्' प्रत्यय होने पर 'मुख्य्'* होगा । और यहाँ इस न्याय के कारण 'य्वोः प्वय्व्यञ्जने लुक्' ४/४/१२१ से 'य्' का लोप नहीं हुआ है, किन्तु वह उचित नहीं है क्योंकि सिद्धहेमबृहन्न्यास में श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने बताये हुए महाभाष्य के सिद्धान्त 'न हि यणः पदान्ताः सन्ति' के खिलाफ यह उदाहरण है । अतः यकारान्त प्रयोग अनुचित है और वस्तुतः ऐसे प्रयोग अनभिधान ही होते हैं अर्थात् 'विच्' के ग्रहण का यहाँ कोई फल नहीं है ।

अन्य किसी भी व्याकरण में यह न्याय प्राप्त ही नहीं है, तो 'विच्' के ग्रहण की चर्चा तो होती ही कहाँ ?

★ यहाँ 'न्यायसंग्रह' की छपी हुई किताब में 'मुख्य्' के स्थान पर 'मुख्यः' शब्द प्राप्त है किन्तु वह सही नही है। यहाँ श्रीहेमहंसगणि की क्षति है ऐसा न मानना किन्तु मुद्रणदोष है, ऐसा मानना चाहिए ।

॥९६॥ स्थानिवद्भाव-पुंवद्भावैकशेष-द्वन्द्वैकत्व-दीर्घत्वान्यनित्यानि ॥३९॥

स्थानिवद्भाव, पुंवद्भाव, एकशेष, द्वन्द्वैकत्व और दीर्घत्व, ये पाँच कार्य अनित्य हैं ।

यहाँ 'द्वन्द्वैकत्व' अर्थात् 'समाहार द्वन्द्व' और 'दीर्घत्व' सामान्य से कहा है तथापि 'भ्वादेर्नामिनो'-२/१/६३ से होनेवाली दीर्घविधि यहाँ लेना । स्थानिवद्भाव इत्यादि पाँच कार्य अनित्य हैं अर्थात् यथाप्राप्त सर्वत्र होते ही हैं किन्तु शिष्ट प्रयोगानुसार क्वचित् नहीं होते हैं । स्थानिवद्भाव इत्यादि जहाँ होते हैं, वैसे उदाहरण सुलभ होने से कहे नहीं हैं । स्थानिवद्भावाभाव का उदाहरण इस प्रकार है ।

'स्वादु' शब्द से 'स्वाद्वकार्षीत्' अर्थ में णिच् होकर अद्यतनी में 'असिस्वदद्' प्रयोग होगा । यहाँ 'स्वादु' शब्द के उकार की 'णिच्' पर में होने से वृद्धि होने पर 'स्वादाव् + णिच्' होगा और 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से अन्त्यस्वरादि 'आव्' का लोप होगा । 'अ+स्वाद्+णिच्+ङ+दि', इसी स्थिति में णिच् निमित्तक 'आव्' लोप हुआ है, इसका स्थानिवद्भाव न होने पर 'स्वाद्' का 'आ' उपान्त्य बनेगा और उसका 'उपान्त्यस्यासमानलोपि'-४/२/३५ से ह्रस्व होगा ।

स्थानिवद्भाव के अनित्यत्व का ज्ञापक 'उपान्त्यस्यासमानलोपि'-४/२/३५ सूत्रगत 'असमानलोपि' शब्द है । वह इस प्रकार है । 'मालामाख्यत् अममालत्' इत्यादि प्रयोग में 'णिच्' के कारण अन्त्य 'आ' का लोप हुआ है और उसके उपान्त्य 'आ' का ह्रस्व करते समय स्थानिवद्भाव होगा, इस प्रकार 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से ह्रस्व होने की प्राप्ति ही नहीं है तो उसका निषेध करने के लिए सूत्र में 'असमानलोपि' कहने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् यही 'असमानलोपि' शब्द व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि स्थानिवद्भाव अनित्य होने से, जब स्थानिवद्भाव न हो तो 'अममालद्' में माला के अन्त्य आ का लोप होने के बाद, उपान्त्य आ का ह्रस्व हो ही जाता है, उसका निषेध करने के लिए 'उपान्त्यस्यासमानलोपि'-४/२/३५ सूत्र में 'असमानलोपि' कहना आवश्यक है ।

यहाँ किसी को शंका होती है कि 'असमानलोपि' कहने का कारण दूसरा भी है । वह इस प्रकार है-: 'राजानमाख्यद् अरराजत्' प्रयोग में 'णिच्' पर में होने पर 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से अन्त्यस्वरादि 'अन्' का लोप होता है । यही 'अन्' लोप स्वरव्यंजनसमुदाय का आदेश है, अतः उसमें स्वरादेशत्व नहीं है उसी कारण से 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' ७/४/११० से स्थानिवद्भाव की प्राप्ति नहीं होती है । अतः 'राज्' का आ उपान्त्य होगा और 'उपान्त्यस्यासमानलोपि'-४/२/३५ से ह्रस्व होने की आपत्ति आयेगी किन्तु यहाँ भी ह्रस्व निषेध हुआ प्रतीत होता है और उसके लिए ही 'उपान्त्यस्यासमानलोपि'-४/२/३५ में 'असमानलोपि' शब्द रखा है । यही शंका उचित है किन्तु 'अरराजद्' इत्यादि प्रयोग में 'अन्' लोप स्वरूप जो स्वरव्यंजनसमुदायलोप स्वरूप आदेश है, उसमें स्वर के प्राधान्य की विवक्षा करने पर उसमें स्वरादेशत्व का संभव है ही, और तो 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' ७/४/११० से स्थानिवद्भाव हो जाता है । इस प्रकार 'असमानलोपि' शब्द के ग्रहण के

बिना भी उपान्त्य 'आ' का ह्रस्व निषेध हो ही जाता है तथापि सूत्र में 'असमानलोपि' रखा, वह 'अन्' के स्थानिवद्भाव के अनित्यत्व के कारण रखा है । अतः जब स्थानिवद्भाव नहीं होगा तब वही 'राज्' के उपान्त्य 'आ' के ह्रस्व होने की संभावना पैदा होती है, उसका 'असमानलोपि' से निषेध हो जाता है ।

पुंवद्भाव की अनित्यता इस प्रकार है-'दक्षिणस्यां भवो दाक्षिणात्यः' यहाँ 'दक्षिणा' शब्द दिग्वाचि होने से स्त्रीलिङ्ग है । सप्तम्यन्त 'दक्षिणा' शब्द से 'भव' अर्थ में 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यण्' ६/३/१३ से 'त्यण्' प्रत्यय होगा । यहाँ 'सर्वादयोऽस्यादौ' ३/२/६१ से 'दक्षिणा' का पुंवद्भाव होने पर स्त्रीत्व निवृत्त होगा । अतः 'निमित्ताभावे-' न्याय से स्त्रीत्व निमित्तक 'आप्' की निवृत्ति होकर 'दाक्षिणत्यः' होने की प्राप्ति है तथापि पुंवद्भाव अनित्य होने से 'दाक्षिणत्यः' के स्थान में 'दाक्षिणात्यः' रूप होगा ।

पुंवद्भाव की अनित्यता का ज्ञापन 'कौण्डिन्यागस्त्ययोः कुण्डिनागस्ती च' ६/१/१२७ सूत्र के 'कौण्डिन्य' शब्द से होता है । यही 'कौण्डिन्य' शब्द का निर्देश पुंवद्भाव की अनित्यता के बिना किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता है । 'कुडुङ् दाहे' धातु से 'अजातेः शीले' ५/१/१५४ से 'णिन्' प्रत्यय होगा उसे स्त्रीलिङ्ग में 'ङी' प्रत्यय होने पर 'कुण्डिनी' शब्द होगा, बाद में वृद्धापत्य अर्थ में 'गर्गादेः'-६/१/४२ से 'यञ्' प्रत्यय करने पर, यदि 'जातिश्च णितद्धितयस्वरे' ३/२/५१ से पुंवद्भाव होता तो स्त्रीत्व-निवृत्ति के साथ तन्निमित्तक 'ङी' की भी निवृत्ति होती और 'कौण्डिन् + यञ्' होता, और 'नोऽपदस्य'-७/४/६१ से 'इन्' का लोप होता और 'कौण्ड्य' शब्द बनता किन्तु 'कौण्डिन्य' न होता, तथापि 'कौण्डिन्य' निर्देश किया है, वह पुंवद्भाव की अनित्यता बताता है । और पुंवद्भाव न होने पर 'कौण्डिनी + यञ्' में 'अवर्णेवर्णस्य' ७/४/६८ से 'ई' का लोप हुआ है, तथापि, वही 'ई' लोप को स्वरादेश मानकर उसका स्थानिवद्भाव करने पर 'नोऽपदस्य'-७/४/६१ से प्राप्त 'इन्' का लोप नहीं होगा और 'कौण्डिन्य' रूप सिद्ध होगा ।

'एकशेष' की अनित्यता इस प्रकार है । 'तदतदात्मकं तत्त्वमातिष्ठन्ते जैनाः ।' यहाँ 'त्यदादिः' ३/१/१२० से 'तद्' शब्द का 'एकशेष' होने की प्राप्ति है तथापि नहीं किया है । एकशेष की अनित्यता के ज्ञापक ऐसे प्रयोग ही हैं । 'तदतदात्मकं' पद की स्पष्टता करते हुए श्रीहेमहंसगणि इस न्याय के न्यास में कहते हैं कि 'त्यदादिः' ३/१/१२० सूत्र का अर्थ इस प्रकार है । जब 'त्यदादि' शब्दों का अन्य शब्दों के साथ द्वन्द्व समास होता है तब, 'त्यदादि' शब्द ही शेष रहता है और अन्य शब्दों का लोप होता है । उदाः 'स च चैत्रश्च तौ, यश्च चैत्रश्च यौ' । उसी प्रकार यहाँ भी 'तदतदात्मकं' में 'तच्च अतच्च' में 'तद्'-त्यदादि है और 'अतद्' अन्य शब्द है, अतः इन दोनों में से 'अतद्' का लोप होकर 'ते' होने की प्राप्ति है तथापि यहाँ 'तदते' किया है, बाद 'तदते आत्मा यस्य तद् तदतदात्मकं', इस प्रकार बहुव्रीहि समास किया है । यहाँ 'आतिष्ठन्ते' में 'प्रतिज्ञायाम्' ३/३/६५ से आत्मनेपद किया है । 'तद्' शब्द सर्वनाम होने से, उसके द्वारा 'नित्यत्वं, सामान्यात्मकत्वं, अभिलाप्यत्वं' इत्यादि गुण लिये जाते हैं अर्थात् जैन, प्रत्येक चीज में सत्त्व, नित्यत्व इत्यादि गुणधर्म में स्याद्वाद

या अनेकांतवाद मानते हैं । अर्थात् कोई भी चीज एकान्त से नित्य भी नहीं और अनित्य भी नहीं है किन्तु कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य या नित्यानित्य है । इस प्रकार पदार्थ के प्रत्येक गुण के लिए समझ लेना ।

द्वन्द्वैकत्व (समाहारद्वन्द्व) की अनित्यता इस प्रकार है । 'शङ्खश्च दुन्दुभिश्च वीणा च शङ्खदुन्दुभिवीणाः ।' यहाँ 'प्राणितूर्याङ्गाणाम्' ३/१/१३७ से प्राप्त समाहारद्वन्द्व नहीं हुआ है । द्वन्द्वैकत्व की अनित्यता का ज्ञापक 'प्राणितूर्याङ्गाणाम्' ३/१/१३७ सूत्रगत बहुवचन है । यद्यपि आचार्यश्री ने सर्वत्र एकवचन का ही प्रयोग किया है और जहाँ जहाँ बहुवचन का प्रयोग किया है वहाँ वहाँ किसी न किसी विशेष विधान का ज्ञापन करने के लिए वह है । यहाँ भी समाहारद्वन्द्व करके एकवचन का प्रयोग हो सकता है, तथापि बहुवचन का प्रयोग किया, उससे ज्ञापन होता है कि यहाँ कोई विशेष प्रयोजन है ही और समाहारद्वन्द्व की अनित्यता के ज्ञापन को छोड़कर अन्य कोई प्रयोजन नहीं है । अतः इसी 'प्राणितूर्याङ्गाणाम्' ३/१/१३७ सूत्रगत बहुवचन द्वन्द्वैकत्व की अनित्यता का ज्ञापक है । यदि यह न्यायांश न होता तो यहाँ बहुवचन का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता न थी ।

दीर्घविधि में अनित्यता इस प्रकार है । उदा. 'कुर्दि क्रीडायाम्' 'कुर्दते' में 'रम्यादिभ्यः कर्तरि' ५/३/१२६ से 'अन' प्रत्यय होने पर 'कुर्दनः' और 'गुर्व्वैं उद्यमे' से 'णिन् चावश्यकाधमर्ण्ये' ५/४/३६ से 'णिन्' प्रत्यय होकर, उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ङी' प्रत्यय होने पर 'गुर्विणी' इत्यादि प्रयोग में 'भ्वादेर्नामिनो'-२/१/६३ से दीर्घ नहीं हुआ है । 'भ्वादेर्नामिनो-' २/१/६३ से दीर्घत्त्व की सिद्धि होती है, तथापि 'स्फूर्ज्, ऊर्ज्, ऊर्णु' इत्यादि धातु में धातुपाठ में ही दीर्घपाठ किया है, वह दीर्घविधि की अनित्यता का ज्ञापक है । यदि 'हुर्छा, मुर्छा,' इत्यादि धातुओं की तरह ह्रस्व धातुपाठ किया होता तो चलता, किन्तु, तथापि दीर्घपाठ किया वह दीर्घत्व की अनित्यता के ज्ञापन के लिए ही है । यदि यह न्यायांश न होता तो आचार्यश्री कौन से अर्थ के ज्ञापन के लिए दीर्घपाठ करते ?

यह न्याय कुछेक विधि की अनित्यता बताता है । अतः स्वभाव से ही वह अनित्य होने से, उसकी अनित्यता का संभव ही नहीं है ।

स्थानिवद्भाव की अनित्यता सिद्धहेम बृहद्वृत्ति में 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ सूत्र की व्याख्या में बतायी गई है । इसके उदाहरण 'असिस्वदत्' और 'पर्यवीवसत्' की चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी शंका करते हैं की यहाँ 'णिच्' पर में होने पर 'नामिनोऽकलिहलेः' ४/३/५१ से वृद्धि होने से पूर्व ही 'उ' इत्यादि का लोप क्यों नहीं होगा ? किन्तु यही चर्चा पूर्व के प्रथम विभाग के ५७ न्याय में आये हुए 'बलवन्नित्यमनित्यात्' ॥४१॥ न्याय में आ गई है । अतः यहाँ इसकी पुनरुक्ति करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

पाणिनीय परम्परा में स्थानिवद्भाव की अनित्यता का कोई बलवान् ज्ञापक नहीं मिलता है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी बताते हैं और उसी कारण से 'असिस्वदद्' इत्यादि प्रयोग में उपान्त्य का ह्रस्व करने के लिए स्थानिवद्भाव न करना चाहिए और उसके लिए 'आतिदेशिकमनित्यम्' स्वरूप सर्वसामान्य न्याय का आश्रय करना चाहिए । तथापि सिद्धहेम की परम्परा में इस न्यायांश की प्रवृत्ति

स्वयं आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने बृहद्वृत्ति में की है और ज्ञापक भी बताया है । अतः उसका स्वीकार करना आवश्यक है ।

इस न्याय के पुंवद्भाव की अनित्यता स्वरूप अंश की और ज्ञापक की चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'कौण्डिन्यागस्त्ययोः कुण्डिनागस्ती च' ६/१/१२७ सूत्र की बृहद्वृत्ति में 'कौण्डिन्य' शब्द निपातन द्वारा सिद्ध किया है और उसके द्वारा पुंवद्भाव का अभाव होता है, किन्तु 'कौण्डिन्य' शब्द को पुंवद्भाव की अनित्यता के ज्ञापक के रूप में बताया नहीं है और 'दाक्षिणात्यः' शब्द की सिद्धि इस प्रकार बतायी है- यहाँ 'दक्षिणा' शब्द भिन्न स्वरूप से लिया गया है । उसे दिशावाचि शब्द नहीं किन्तु अव्यय के स्वरूप में लिया है । वह अव्यय इस प्रकार बनता है- 'दक्षिणस्यां दिशि वसति' अर्थ में दिशावाचि 'दक्षिणा' शब्द से 'वा दक्षिणात्प्रथमासप्तम्या आः ७/२/११९ से 'आ' प्रत्यय होकर अव्यय बनेगा और उससे 'तत्र भवे' अर्थ में 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यण्' ६/३/१३ से त्यण् प्रत्यय होगा । इस प्रकार पुंवद्भाव के अनित्यत्व के ज्ञापन का कोई फल नहीं है । तथापि लघुन्यासकार ने यही अर्थ ज्ञापित किया है, अत एव श्रीहेमहंसगणि ने भी वैसा किया हो, ऐसा लगता है ।

यद्यपि 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यण्' ६/३/१३ में अव्यय के साहचर्य से 'दक्षिणा' शब्द भी अव्यय मानना चाहिए, अन्यथा 'दक्षिणा' ऐसा निर्देश करना उचित नहीं है क्योंकि 'दक्षिणा' शब्द दिशावाचक हो तो, उसका सूत्र में भी पुंवद्भाव करके 'दक्षिणपश्चात्'- निर्देश करना होता और वही उचित था । यद्यपि बृहद्वृत्ति में यहाँ 'दक्षिणा' शब्द को दिशावाचक और अव्यय दोनों प्रकार के लेकर सिद्धि बतायी है । "दक्षिणा दिक् तस्यां भवो दाक्षिणात्यः, अथवा दक्षिणस्यां दिशि वसति- 'वा दक्षिणात्प्रथमासप्तम्या आः' ७/२/११९ इति आ प्रत्यये दक्षिणा तत्र भवो दाक्षिणात्यः ।" यहाँ पुंवद्भाव की चर्चा नहीं की है और यहाँ दक्षिणा शब्द को अव्यय के रूप में लेना, ऐसा अन्य के मतानुसार स्थापन किया है तथापि श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि शास्त्रकार को इसी न्यायांश की आवश्यकता महसूस नहीं होती है क्योंकि 'कौण्डिन्यागस्त्ययोः' -६/१/१२७ में 'कौण्डिन्य' शब्द को निपातन स्वरूप लिया है, अत एव वह पुंवद्भाव की अनित्यता का ज्ञापक नहीं बन सकता है, किन्तु बृहद्वृत्ति में श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने स्वयं 'कौण्डिन्य' शब्द को निपातन स्वरूप नहीं लिया है। वे स्वयं 'कौण्डिन्यागस्त्ययोः'- ६/१/१२७ की बृहद्वृत्ति में कहते हैं कि "कुण्डिन्या अपत्यं, गर्गादित्वाद् यञ् अत एव निर्देशात्पुंवद्भावाभावः" । अतः 'कौण्डिन्य' स्वरूप निर्देश ही पुंवद्भाव की अनित्यता का ज्ञापक बनता है ऐसा स्वीकार करना चाहिए । लघुन्यासकार ने भी यही कहा है।

'एकशेष' की अनित्यता के उदाहरण और ज्ञापक दोनों के लिए 'तदतदात्मकं तत्त्वमातिष्ठन्ते जैनाः' जैसे प्रयोगों को ही बताये हैं । वस्तुतः उदाहरण और ज्ञापक दोनों यही एक ही पंक्ति नहीं बन सकती है । वस्तुतः एकशेष में अनित्यता है ही नहीं । एकशेष समास में लुप्त हुए पद का अर्थ या भाव, विद्यमान पद द्वारा अभिव्यक्त होता है । यदि इस प्रकार लुप्त पद का अर्थ, विद्यमान पद द्वारा सूचित न होता हो तो, एकशेष नहीं करना चाहिए और होता भी नहीं है, क्योंकि कृत्, तद्धित

और समास, अभिधान लक्षणयुक्त होने चाहिए । उदा. 'स च चैत्रश्च तौ, यश्च मैत्रश्च यौ' प्रयोग में 'त्यदादिः' ३/१/१२० से एकशेष समास हुआ है और वही 'तौ' और 'यौ' में अनुक्रम से चैत्र और मैत्र स्वरूप अन्यपद का भाव द्विवचन द्वारा अभिव्यक्त हो सकता है । जबकि यहाँ 'तदतदात्मकं' में 'तद्' और 'अतद्' का (तच्च अतच्च) एकशेष समास करने पर 'ते' स्वरूप होगा । यही 'ते' में से 'अतद्' शब्द का भाव अभिव्यक्त नहीं हो सकता है, अतः यहाँ एकशेष करना उचित नहीं है और यही बात 'त्यदादिः' ३/१/१२० सूत्र का लघुन्यास देखने से स्पष्ट हो जाती है ।

समाहारद्वन्द्व (द्वन्द्वैकत्व) की अनित्यता के बारे में भी थोड़ा सा विचार करना आवश्यक है । श्रीलावण्यसूरिजी समाहारद्वन्द्व की अनित्यता का स्वीकार नहीं करते हैं । द्वन्द्वैकत्व की वस्तुस्थिति इस प्रकार है - जहाँ द्वन्द्वसमास गत अवयव सम्बन्धित संख्या की विवक्षा हो वहाँ द्विवचन, बहुवचन होता है किन्तु यदि समुदाय की विवक्षा हो तो समाहारद्वन्द्व होता है । इस परिस्थिति में जहाँ द्वन्द्वैकत्व हो, वहाँ निश्चय ही समुदाय की विवक्षा का आदर करना चाहिए । 'शङ्खदुन्दुभिवीणाः' प्रयोग में यद्यपि तूर्यांगत्व के कारण एकत्व की प्राप्ति है, तथापि 'दुन्दुभिश्च वीणा च' विग्रह करके 'दुन्दुभिवीणम्' स्वरूप समाहारद्वन्द्व करने के बाद 'शङ्खौ च (शङ्खश्च) दुन्दुभिवीणं च' विग्रह करने पर समाहार द्वन्द्व नहीं होता है किन्तु इतरेतरयोग ही होता है, और यही बात 'प्राणितूर्याङ्गाणाम्' ३/१/१३७ के लघुन्यास से स्पष्ट हो जाती है । उन्होंने बताया है कि यदि 'मृदङ्गाश्च शङ्खपटहं च' विग्रह किया जाय तो तूर्याङ्ग समुदाय के कारण समाहारद्वन्द्व नहीं होता है । उसी प्रकार से 'शङ्खदुन्दुभिवीणाः' में भी समाहारद्वन्द्व नहीं होता है और उसके लिए द्वन्द्वैकत्व के अनित्यत्व की कल्पना न करनी चाहिए ।

दूसरी बात यह कि 'प्राणितूर्याङ्गाणाम्' ३/१/१३७ के बहुवचन को, इसी द्वन्द्वैकत्व की अनित्यता के ज्ञापक के रूप में बताया है किन्तु वह उचित नहीं है क्योंकि बृहद्वृत्ति में उसे, इस न्यायांश के ज्ञापक के रूप में बताया नहीं है और वहाँ बहुवचन रखने का प्रयोजन दूसरा बताया है । शास्त्रकार इसी बहुवचन की सार्थकता और पृथग्योग का कारण बताते हुए कहते हैं कि प्राणि के अङ्ग और तूर्य के अङ्ग का जब द्वन्द्व समास होता है तब, प्राणि जातिवाचक नहीं होने से 'अप्राणिपश्वादेः' ३/१/१३६ से ही समाहारद्वन्द्व हो जाता था किन्तु वहाँ जाति की विवक्षा थी । यहाँ 'प्राणितूर्याङ्गाणाम्' में व्यक्ति की विवक्षा है तथा जाति की विवक्षा में भी प्राण्यङ्ग और अप्राण्यङ्ग इत्यादि का मिश्रण हो तो एकवचन न हो, इसके लिए पृथग्योग किया है । इसका ज्ञापन करने के लिए 'प्राणितूर्याङ्गाणाम्' ३/१/१३७ में बहुवचन रखा है । उसका उदाहरण बृहद्वृत्ति में 'पाणिपणवौ' तथा 'पाणिगृध्रौ' दिया है । अतः यही बहुवचन सार्थक होने से द्वन्द्वैकत्व की अनित्यता का ज्ञापक नहीं बन सकता है । इस प्रकार द्वन्द्वैकत्व की अनित्यता के उदाहरण और ज्ञापक सही नहीं है और अन्य उदाहरण व ज्ञापक मिलने की संभावना भी नहीं है, अतः द्वन्द्वैकत्व की अनित्यता न माननी चाहिए ।

श्रीलावण्यसूरिजी दीर्घविधि की अनित्यता का भी स्वीकार नहीं करते हैं । वे कहते हैं कि 'कुर्दनः' इत्यादि का अन्य व्याकरण में दीर्घपाठ प्राप्त होता है और 'स्फूर्ज्, ऊर्ज्, ऊर्णु' इत्यादि में

दीर्घपाठ किया, उससे दीर्घविधि की अनित्यता का ज्ञापन होता है, वह भी सही नहीं है क्योंकि पाणिनीय तंत्र में 'स्फुर्ज्' धातु का ह्रस्वपाठ किया है ।

और न्याय प्रत्येक व्याकरण के लिए सर्वसामान्य होते हैं, अतः यहाँ उसका आश्रय नहीं करना चाहिए ।

किन्तु इसका समाधान यह दिया जा सकता है कि पाणिनीय तंत्र में 'स्फुर्ज्' धातु को दीर्घविधि की अनित्यता के उदाहरण स्वरूप लें और 'कूर्दन' प्रयोगगत 'कूर्द्' धातु को दीर्घत्व की अनित्यता के ज्ञापक के स्वरूप में लें तो कोई दिक्कत नहीं है और इस प्रकार इसी न्यायांश की पाणिनीय परम्परा में भी प्रवृत्ति हुई है, ऐसा माना जा सकता है । तथापि परिभाषेन्दुशेखर इत्यादि में उसका परिभाषा के रूप में निर्देश नहीं किया गया है और वहाँ दीर्घ करने की प्रक्रिया भिन्न होने से इसी न्यायांश का स्वीकार नहीं किया है, ऐसा मानना ज्यादा उचित प्रतीत होता है ।

यह न्याय अन्य किसी भी व्याकरण परम्परा में प्राप्त नहीं है ।

॥ ९७॥ अनित्यो णिच्चुरादीनाम् ॥ ४०॥

चुरादि धातु से सामान्यतया सर्वत्र 'णिच्' होता है, तथापि शिष्ट प्रयोगानुसार कहीं कहीं 'णिच्' प्रत्यय नहीं होता है ।

उदा. 'चुरण् चोरति, चितुण् चिन्तति, छदण् छदनः', 'तुलण्' धातु से 'भिदादयः' ५/३/१०८ से 'अङ्' होने पर तुला इत्यादि रूप होते हैं ।

इस न्याय का ज्ञापक चुरादि गण के 'घुष्' धातु को 'ऋृदित्' किया है, वह है । यदि यह न्याय न होता तो 'चुरादिभ्यो णिच्' ३/४/१७ से 'णिच्' नित्य होता और तो अद्यतनी में 'णिश्रिद्रुस्रुकमः कर्तरि ङः' ३/४/५८ से 'ङ' ही होता, तो 'अजूघुषत्' प्रयोग नित्य होता, तो 'ऋृदित्करण' के फल-स्वरूप 'ऋृदिच्छ्वि-स्तम्भू-म्रुचु-म्लुचू-ग्रुचू-ग्लुचू-ग्लुञ्चू ज्रो वा' ३/४/६५ से 'अङ्' होने का अवकाश ही नहीं रह पाता । अतः यह ऋृदित्करण व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है । अतः इस न्याय से, जब 'घुष्' धातु से अद्यतनी में 'णिच्' नहीं होगा तब वह ऋृदित् होने से 'ऋृदिच्छ्वि-स्तम्भू-' ३/४/६५ से 'अङ्' होगा और 'अघुषत्' रूप भी होगा ।

यह न्याय अनित्य है । अतः 'युजादि' को छोड़कर अन्य धातु में ही, शिष्ट प्रयोगानुसार 'णिच्' की अनित्यता मानना किन्तु 'युजादि' धातु में 'युजादेर्नवा' ३/४/१८ से 'णिच्' का विकल्प नित्य ही है । तथा इस न्याय से प्रत्येक 'चुरादि' धातु से विकल्प से 'णिच्' नहीं होता है किन्तु कुछेक ही धातु से उसके अनुबन्ध के कारण विकल्प से 'णिच्' होता है । अतः 'युजादि' धातु में नित्य विकल्प करने के लिए 'युजादेर्नवा' ३/४/१८ सूत्र किया है ।

इस न्याय के ज्ञापकत्व के बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यहाँ

श्रीहेमहंसगणि ने 'घुष्' धातु के अनुबंध ॠको ज्ञापक माना है, वैसे चुरादि धातु के उसे छोड़कर अन्य अनुबन्ध भी ज्ञापक बन सकते हैं, यदि उसी अनुबंध का फल केवल 'णिच्' के अभाव में ही प्राप्त हो तो । उदा० 'चितुण्' धातु का उकार अनुबन्ध । इसी उकार अनुबंध का फल 'न' का आगम है और वही न का आगम 'चिन्तण्' पाठ करने से भी हो सकता है, किन्तु वैसा करने पर 'आशीः' में 'चिन्त्यात्' रूप के स्थान में 'नो व्यञ्जनस्यानुदितः ४/२/४५ से 'न' का लोप होकर 'चित्याद्' जैसा अनिष्ट रूप होता । और उदित् करने से 'उदितः स्वरान्नोऽन्तः' ४/४/९८ से न का आगम होगा और उसका 'नो व्यञ्जनस्या-' ४/२/४५ से लोप नहीं हो सकता है क्योंकि 'चितुण्' धातु उदित् है । यदि चुरादि से णिच् नित्य ही होता तो, यह 'उ' अनुबंध व्यर्थ होता, अतः 'उ' कार अनुबंध से भी इस न्याय का ज्ञापन होता है ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'णिश्रिद्रुस्रु....' ३/४/५८ से होनेवाले 'ङ' को विशेषविधि मानी है और 'ॠदिच्छ्व-स्तम्भू'..... ३/४/६५ से होनेवाले 'अङ्' को सामान्यविधि मानी है, ऐसा उनके शब्दों से प्रतीत होता है । इस न्याय के न्यास में श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यहाँ 'अङ्' सामान्यविधि है क्योंकि वह प्रत्येक ॠदित् धातु के लिए है । जबकि 'ङ' विशेषविधि है क्योंकि धातु ॠदित् होने पर भी वह जब ण्यन्त होगा तब ही उसकी प्रवृत्ति होती है । श्रीलावण्यसूरिजी इस बात का स्वीकार नहीं करते हैं । वे दोनों विधियों को विशेषविधि मानते हैं । अतः कोई किसीका बाध करने में समर्थ नहीं है । वे कहते हैं कि यहाँ ऐसी शंका न करनी चाहिए कि ॠदित् के सामर्थ्य से ही, णिजन्त 'घुष्' धातु को भी 'अङ्' ही होगा और 'ङ' नहीं होगा क्योंकि 'ङ' विशेषविधि है । अतः 'अङ्' 'ङ' का बाध करने में समर्थ नहीं है । 'ङ' और 'अङ्' दोनों विशेषविधि हैं क्योंकि ण्यन्त धातु से 'ङ' होता है, और ॠदित् धातु से 'अङ्' होता है । और ण्यन्त धातु से 'अङ्' नहीं होता है क्योंकि एक न्याय ऐसा है कि 'अवयवेऽचरितार्था अनुबन्धाः समुदायस्योपकारका भवन्ति' किन्तु इस न्याय का यहाँ विषय ही नहीं है । अतः यहाँ 'ॠ' अनुबंध अवयव में चरितार्थ होने से, ण्यन्त 'घुष्' धातु के लिए वह उपकारक नहीं बनता है । अतः ण्यन्त 'घुष्' धातु ॠदित् कहा ही नहीं जाता और तो 'अङ्' की किसी भी अवस्था में प्राप्ति ही नहीं है । यह न्याय ऐसा सूचित करता है कि एक के गुणधर्म/धर्म का दूसरे में आरोपण नहीं किया जा सकता है । यहाँ ॠदित्त्व 'घुष्' धातु का धर्म है किन्तु 'घोषयति' (ण्यन्त घुष् धातु) का धर्म नहीं है और ण्यन्त धातु को सब ने धात्वन्तर-शब्दान्तर के रूप में मान्यता प्रदान की है और सामान्यविधि तथा विशेषविधि स्वरूप, 'अङ्' और 'ङ' में बाध्यबाधकभाव नहीं है किन्तु इतना ही कहना चाहिए कि ण्यन्त घुष् धातु से 'अङ्' की प्राप्ति ही नहीं है ।

इस न्याय की अनित्यता का अस्वीकार करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इस न्याय के कारण 'युजार्देनवा' ३/४/१८ सूत्रगत 'णिच्' विकल्प के व्यर्थत्व की शंका न करनी चाहिए क्योंकि इसी सूत्र द्वारा युजादि धातु में प्रत्येक विभक्ति (काल) में 'णिच्' का विकल्प नित्य है, जबकि यह न्याय केवल शिष्ट प्रयोग में प्राप्त 'णिच्' के अभाव को स्वीकृति देता है । अतः

'युजादेर्नवा' ३/४/१८ सूत्र से इस न्याय की अनित्यता दिखायी नहीं पडती है और वस्तुतः इस न्याय का स्वरूप ही अनित्यत्व का कथन करनेवाला होने से उसका अनित्यत्व बताने का कोई फल नहीं है ।

यह न्याय शायद भोज व्याकरण में 'णिच्यनित्' स्वरूप में है, इसे छोड़कर अन्यत्र कहीं भी यह न्याय नहीं है ।

॥ ९८॥ णिलोपोऽप्यनित्यः ॥ ४१ ॥

'णि' का लोप भी अनित्य है ।

'णि' का लोप (व्याकरण में यथाप्राप्त) सर्वत्र होता है, तथापि क्वचित् णिलोप नहीं होता है । इस न्याय में 'अपि' शब्द पूर्व के 'अनित्यो णिच्चुरादीनाम्' ॥४०॥ न्याय के साथ इस न्याय का साम्य बताता है । जैसे पूर्व न्याय में 'चुरादि' धातु से 'णिच्' नित्य होने पर भी क्वचित् नहीं होता है, वैसे यहाँ 'णि' का लोप भी अनित्य है ।

उदा. 'मधवो युधि सुप्रकम्पया ।' यहाँ 'सु' और 'प्र' उपसर्गयुक्त, ण्यन्त 'कम्प्' धातु से 'खल्' प्रत्यय होने पर 'णिच्' लोप नहीं होगा, तब 'सुप्रकम्पि' में 'णि' सम्बन्धित 'इ' का गुण 'ए' होगा और उसका 'अय्' आदेश होने पर 'सुप्रकम्पय' शब्द होगा ।

इस न्याय का ज्ञापन 'भीषि भूषि चिन्ति पूजि कथि कुम्बि चर्चि स्पृहि तोलि दोलिभ्यः ५/३/१०९ का 'षितोऽङ्' ५/३/१०७ से शुरू 'अङ्' के अधिकार में पाठ किया, उससे होता है । वह इस प्रकार है-: 'णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देरनः' ५/३/१११ से णिगन्त धातु को उत्सर्ग स्वरूप 'अन' प्रत्यय होता है । उसका अपवाद 'भीषिभूषिचिन्तिपूजि'- ५/३/१०९ सूत्र है । यही सूत्र अङ् प्रत्यय करता है । यदि इसी सूत्र का पाठ, 'जागुरश्च' ५/३/१०४ से शुरु 'अ' प्रत्यय के अधिकार में किया होता तो भी, 'अ' प्रत्यय के कारण 'णिच्' लोप सिद्ध हो जाता था और 'णि' लोप करने के बाद 'णि' के गुण का कोई प्रश्न पैदा नहीं होता । यदि 'णि' लोप न होता तो, उसके 'इ' का गुण करने का प्रश्न पैदा होता और तो 'अ' के स्थान में 'अङ्' प्रत्यय करना पड़े, किन्तु यह न्याय न होता तो 'अङ्' या 'अ', दो में से कोई भी प्रत्यय होने पर 'णि' का लोप ही होता तो, 'अङ्' को ङित् किया, वह व्यर्थ हुआ और व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है । इस न्याय का ज्ञापन होने के बाद जब 'णि' का लोप नहीं होगा तब, यदि 'अ' प्रत्यय किया जायेगा तो 'चिन्ति' और 'पूजि' धातु के 'णि' का गुण होगा और 'चिन्तया' व 'पूजया' रूप होंगे, किन्तु वे इष्ट नहीं है, किन्तु 'चिन्तिया' और 'पूज्या' रूप ही इष्ट है । अतः 'अङ्' प्रत्यय करने से गुण नहीं होगा और 'चिन्तिया' में 'संयोगात्' २/१/५२ से 'इ' का इय् होगा और 'पूज्या' में 'योऽनेकस्वरस्य' २/१/५६ से 'इ' का य् होगा । इस प्रकार 'अङ्' के अधिकार में 'अ' का पाठ किया वह सार्थक होगा ।

इस न्याय का स्वरूप ही अनित्य है, अतः इसकी अनित्यता नहीं हो सकती । इस न्याय का आधार खोजने पर इसके लिए लघुन्यास में इस प्रकार का कथन मिलता है । 'अ प्रत्यय के अधिकार में इसी (भीषि भूषि-' ५/३/१०९) सूत्र का पाठ किया होता तो भी साध्यसिद्धि होनेवाली ही थी,

तथापि 'अङ्' प्रत्यय के अधिकार में पाठ किया, उससे ज्ञापित होता है कि 'णि' का लोप अनित्य है । अतः 'चिन्तिया, पूजिया, सुप्रकथिया' इत्यादि की सिद्धि होती है । श्रीहेमहंसगणि ने 'पूज्या' रूप दिया है । जबकि लघुन्यासकार ने 'पूजिया', सुप्रकथिया' रूप दिये हैं, उसका आधार क्या है वह स्पष्ट नहीं होता है । बृहद्वृत्ति में इसके बारे में कोई निर्देश नहीं है ।

इस न्याय के बारे में अपना निजी मत देते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यह न्याय अन्य किसी भी व्याकरण में प्राप्त नहीं है और इसकी कोई विशेष आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती है। इस न्याय के उदाहरण 'सुप्रकम्पया' की अन्य प्रकार से सिद्धि की गई है । 'सुप्रकम्पं याति' विग्रह करके 'बाहुलकात् विच्' प्रत्यय किया जाता है और श्रीहेमहंसगणि ने बताये हुए अन्य उदाहरण 'चिन्तिया, पूज्या' को वे इष्ट प्रयोग मानते नहीं हैं क्योंकि उसकी इष्टता के लिए कोई प्रमाण नहीं है । सिद्धहेमबृहद्वृत्तिमें 'भीषि-भूषि'-५/३/१०९ सूत्र की वृत्ति में कहा है कि "ये धातु ण्यन्त होने से 'णिवेत्त्यास'- ५/३/१११ से 'अन' होने की प्राप्ति थी, उसका बाध करने के लिए 'अङ्' प्रत्यय किया है ।" और स्पृहयति धातु में 'णि' का लोप होने के बाद उपान्त्य 'ऋ' का गुण होकर 'स्पर्हा' जैसा अनिष्ट रूप होने की आपत्ति आती होने से 'अङ्' को 'ङित्' किया है और ये सब धातु ण्यन्त होने से उन सब धातु से 'अङ्' प्रत्यय किया है और सूत्र में भी बहुवचन रखा है । अतः ऐसे अन्य प्रयोगों को भी उसमें सम्मिलित किये जाते हैं । अत एव 'अङ्' के अधिकार में किये गए इसी सूत्र के पाठ से इस न्याय का ज्ञापन नहीं हो सकता है । और ज्ञापक के अभाव में इस न्याय का स्वीकार नहीं करना चाहिए, ऐसी श्रीलावण्यसूरिजी की मान्यता है ।

यहाँ 'चिन्तिया, पूज्या, पूजिया, सुप्रकथिया' इत्यादि प्रयोग के इष्टत्व के बारे में चर्चा न करके, साहित्य में जहाँ जहाँ ऐसे प्रयोग प्राप्त हों वहाँ वहाँ आर्षत्व से समाधान कर लेना, अत एव इसके लिए ऐसे कोई न्याय की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती है, ऐसा अपना निजी मत है ।

यह न्याय अन्य किसी भी परंपरा में या परिभाषासंग्रह में उपलब्ध नहीं है ।

॥९१॥ णिच्संनियोगे एव चुरादीनामदन्तता ॥४२॥

'णिच्' के योग में ही 'चुरादि' धातुओं को अकारान्त माने जाते हैं ।

'चुरादि' धातुओं में कुछेक धातु के अकारान्त पाठ किया गया है और वे 'अङ्क' धातु से लेकर 'ब्लेष्क्' धातु पर्यन्त हैं ।[1] इससे अन्य धातु अकारान्त हैं ही नहीं । अतः 'अङ्क' इत्यादि धातुओं से णिच् हुआ हो और बाद में उसका लोप न हुआ हो तो ही उसे अकारान्त मानने चाहिए, अन्यथा

१. यहाँ श्रीहेमहंसगणि ने अङ्कण् से लेकर ब्लेष्कण् पर्यन्त धातुओं को अकारान्त माने हैं, किन्तु धातुपाठ में देखने पर १८४७ 'अङ्कण् लक्षणे' और १८४८ ब्लेष्कण् दर्शने है, अतः उनके कथनानुसार ये दो ही धातु अकारान्त हो सकते हैं, किन्तु यह सही नहीं है । यहाँ उनकी क्षति-स्खलना प्रतीत होती है । इन दो धातु कों छोडकर अन्य भी 'कथ, गण, रच, प्रथ, मद' इत्यादि धातु अकारान्त है । अतः सिर्फ 'अङ्कादीनाम्' कहना ही उचित प्रतीत होता है ।

नहीं ऐसा इस न्याय का अर्थ है । संक्षेप में जहाँ 'अङ्क' इत्यादि 'चुरादि' धातु से, किसी भी कारण से 'णिच्' हुआ न हो, या तो होने के बाद उसका लोप हुआ हो तो उन्हीं 'अङ्क' आदि धातुओं को अकारान्त नहीं मानने चाहिए ऐसा इस न्याय का तात्पर्य है ।

पूर्व न्याय 'अनित्यो णिच् चुरादीनाम्' ॥४०॥ से 'चुरादि' धातुओं से यथादर्शन 'णिच्' का अभाव कहा गया है । अतः 'अङ्क' इत्यादि धातु से जब 'णिच्' नहीं होगा या 'णिच्' का लोप होगा तब 'अदन्तत्वनिमित्तक' और अदन्तत्व के कारण प्राप्त अनेक स्वरनिमित्तक कार्य का निषेध करने के लिए, अङ्कादि स्वरूप चुरादि धातु को अकारान्त न मानना चाहिए, ऐसा कहा है ।

यहाँ श्रीहेमहंसगणि ने कहा है कि "प्राग् णिचः सर्वत्र यथादर्शनमनित्यत्वोक्तेर्णिजभावपक्षे अङ्कादीनामदन्तता निषेधार्थोऽयं न्यायः" । इन शब्दों का अर्थ ऐसा होता है कि 'अनित्यो णिच् चुरादीनाम् ॥४०॥ न्याय से या 'युजादेर्नवा' ३/४/१८ सूत्र से जहाँ 'णिच्' का प्रथम/पहले से अभाव हो वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति होती है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है । वह श्रीहेमहंसगणि द्वारा दिये गए उदाहरण और ज्ञापक से ही स्पष्ट हो जाता है । अतः श्रीहेमहंसगणि के उपर्युक्त विधान में थोड़ा सा परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत होती है । "प्राग् णिचः सर्वत्र यथादर्शनमनित्यत्वोक्ते र्णिजभावपक्षे 'तथा च अन्येन केनापि हेतुना णिलोपे सति' अङ्कादीनामदन्तता निषेधार्थोऽयं न्यायः।"

इस न्याय के उदाहरण 'जगणतुः' इत्यादि रूप में जब 'गण' धातु से परोक्षा में 'णिच्' नहीं होगा[१] तब यदि उसे अकारान्त माना जायेगा तो, वह अनेकस्वरविशिष्ट हो जायेगा, तो 'धातोरनेकस्वरादाम्'- ३/४/४६ से 'आम्' प्रत्यय होगा, किन्तु इस न्याय के कारण, वह अकारान्त नहीं माना जायेगा । अतः अनेकस्वरविशिष्ट भी नहीं होगा और 'आम्' भी न होकर 'जगणतुः' इत्यादि रूपों की सिद्धि हो सकेगी । 'कथ, रच, गण, प्रथ, स्पृह', इत्यादि धातुओं का अकारान्त पाठ करने का कारण इतना ही है कि जब इन धातुओं से 'णिच्' प्रत्यय होगा तब 'ञ्णिति' ४/३/५० से उपान्त्य 'अ' की वृद्धि या 'लघोरुपान्त्यस्य' ४/३/४ से उपान्त्य लघुनामी-स्वर का गुण होने की प्राप्ति है, उसे दूर करने के लिए 'अदन्त' पाठ किया है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'ई च गणः' ४/१/६७ सूत्रगत 'च' है । यहाँ 'ई वा गणः' स्वरूप सूत्ररचना की होती तो भी 'अजीगणत्' और 'अजगणत्' रूप सिद्ध हो सकते थे, तथापि 'ई च गणः' ४/१/६७ सूत्र बनाया, वह इस न्याय का ज्ञापक है । वह इस प्रकार-: 'गण' धातु से 'णिच्' और 'णिग्' दोनों प्रत्यय होने पर, 'अजीगणत्' और 'अजगणत्' ऐसे दो रूप आचार्यश्री को इष्ट हैं । यदि 'गण' धातु को सर्वथा अकारान्त माना जाय तो 'ई वा गणः' ऐसे सूत्र से भी दोनों रूप सिद्ध हो सकते हैं, वह कैसे ? प्रथम 'ई वा गणः' सूत्र के ईत्व पक्ष में 'अजीगणत्' होगा और जब ईत्व नहीं होगा, तब 'गण' धातु को अकारान्त मानने से वह समानलोपि होगा, अतः 'असमानलोपे

१. दूसरी एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि सिद्धहेम की परम्परा में शव्, श्य, श्नु, श्ना, श, उ' इत्यादि विकरण प्रत्यय, वर्तमाना, ह्यस्तनी, पंचमी (आज्ञार्थ), सप्तमी (विध्यर्थ) के प्रत्यय पर में होने पर ही होते हैं। जबकि चुरादि से होनेवाला णिच् प्रत्यय धातु के अर्थ में - स्वार्थ में होता है । अतः वह दशों काल में होता है । अतः उसे 'शव्' इत्यादि विकरण प्रत्यय जैसा न मानना चाहिए ।

सन्वद्'- ४/१/६३ से सन्वद्भाव नहीं होगा और उसका 'अ' का 'इ' और उसका 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः' ४/१/६४ से 'ई' (दीर्घ) नहीं होगा । परिणामतः 'अजगणत्' रूप भी सिद्ध होगा, तथापि 'ई च गणः' ४/१/६७ सूत्र में 'च' कार से 'अ' कार का अनुकर्षण किया, उससे ज्ञापित होता है कि 'गण' धातु से हुए 'णिच्' का लोप होगा[१] तब वह अकारान्त नहीं माना जायेगा, अतः समानलोपि भी नहीं होगा । अत एव 'ई वा गणः' सूत्र करने पर जब उससे 'अ' का 'ई' नहीं होगा तब भी 'असमानलोपे सन्वल्लघुनि ङे' ४/१/६३ से सन्वद्भाव होकर 'ओर्जान्तस्थापवर्गे'-४/१/६० से 'अ' का 'इ' होगा और 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः' ४/१/६४ से उसका दीर्घ होगा । इस प्रकार 'ई वा गणः' सूत्र से 'ई' नहीं होगा तब भी 'अजीगणत्' रूप ही सिद्ध होगा, किन्तु 'अजगणत्' रूप सिद्ध नहीं होगा । अतः 'अजगणत्' रूप सिद्ध करने के लिए 'ई वा गणः' के स्थान पर 'ई च गणः' ४/१/६७ सूत्र करना आवश्यक है ।

भावार्थ इस प्रकार है । अनकारान्त 'गण्' धातु से 'णिग्' पर में होगा तब प्रथम 'ई वा गणः' सूत्र करने पर उससे ईत्व के पक्ष में तो ईत्व होगा ही किन्तु ईत्व के अभाव पक्ष में भी, 'समानलोपि' नहीं होने से, सन्वद्भाव इत्यादि की सिद्धि होकर 'अजीगणत्' रूप ही होता है । इस प्रकार दोनों प्रकार से 'अजीगणत्' रूप ही होता है किन्तु 'अजगणत्' रूप किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता है । 'ई च'[२] कहकर 'च' कार से 'अ' कार का अनुकर्षण किया है । अतः वह सन्वद्भाव का बाध करके भी अकार करेगा और 'अजगणत्' रूप होगा । इस प्रकार 'णिच्' अनित्य होने से, 'णि' के अभाव पक्ष में इस न्याय से पैदा होनेवाले अनकारान्त णिगन्त 'गण्' धातु का 'अजगणत्' रूप सिद्ध नहीं हो सकता था । उसे सिद्ध करने के लिए 'ई च गणः' ४/१/६७ सूत्र में च कार से अ कार का अनुकर्षण, इस न्याय की शंका से ही किया गया है । अतः वह इस न्याय का ज्ञापक है, वह स्पष्ट ही है ।

यह न्याय अनित्य/असंपाती है । अतः 'प्रतण् गतौ वा' में 'वा' शब्द 'णिज्' और अनकारान्तत्व के विकल्प के लिए है, ऐसा धातुपारायण में कहा गया है । वह इस प्रकार है । यदि यह न्याय नित्य होता तो 'वा' शब्द 'णिच्' के विकल्प के लिए है इतना ही कहा होता तो भी चलता क्योंकि 'णिच्' के अभाव में इस न्याय से, अकारान्तत्व का अभाव स्वयं सिद्ध ही है । तथापि आचार्यश्री ने कहा कि 'अदन्तत्व' के विकल्प के लिए भी यही 'वा' शब्द है, वह यह न्याय अनित्य होने से ही कहा है ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय की आवश्यकता का मूल कारण बताते हुए कहते हैं कि पूर्व न्याय से 'चुरादि' धातु से 'णिच्' अनित्य माना गया है अतः जब 'गण' धातु से 'णिच्' नहीं होगा,

१. यहाँ श्रीहेमहंसगणि ने 'णिचोऽनित्यत्वादभवनपक्षे' कहा है, वह उचित नहीं है । यहाँ 'णिच्' या 'णिग्' का शुरु से अभाव नहीं है, किन्तु णिच् या णिग् होने के बाद उसका लोप होता है । यदि शुरु से ही णिच् का अभाव होता तो 'णिश्रिद्रुस्रुकमः.....' ३/४/५८ से 'ङ' प्रत्यय ही न होता । अतः यहाँ 'णिच्-णिग्' प्रत्यय करके उसका 'णेरनिटि' ४/३/८३ से लोप किया जाता है ।

२. यहाँ श्रीहेमहंसगणि ने 'ईच्च' कहा है किन्तु सूत्र में 'ई च' कहा होने से हमने भी 'ई च' ही लिखा है ।

तब परोक्षा में 'जगणतुः' रूप सिद्ध करने के लिए, इस न्याय की प्रवृत्ति आवश्यक है। यदि यह न्याय न होता तो, जब 'गण' धातु से परोक्षा में 'णिच्' नहीं होगा तब वह अकारान्त माना जायेगा और तो अनेकस्वरत्व के कारण परोक्षा प्रत्यय का 'आम्' आदेश होगा और 'गणामासतुः' ऐसा अनिष्ट रूप होगा किन्तु 'जगणतुः' रूप सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

'णिच्' प्रत्यय का अनित्यत्व सर्वत्र नहीं है, किन्तु जहाँ किसी धातु से ऐसा अनुबंध दिखायी दे, जिसका णिजन्त अवस्था में कोई प्रयोजन न हो, तो उसी अनुबंध के निर्देश से, उसी धातु से 'णिच्' प्रत्यय को अनित्य मानना या जिन 'चुरादि' धातुओं के, साहित्य में 'णिच्' रहित प्रयोग प्राप्त हो, वहाँ 'णिच्' को अनित्य मानना। इसके अलावा 'अजीगणत्, अजगणत्' जैसे प्रेरक प्रयोग, जहाँ 'णिच्' और 'णिग्' का लोप हुआ हो, वहाँ 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' न्याय से ण्यन्त 'गणि' धातु में से 'इ' लोप होने पर 'अ' पुनः आ जाता है, और उसका लोप हुआ मान लेने पर समानलोपित्व आ जाता है, और 'ई वा गणः' कहने से ही 'अजीगणत्' के साथ साथ 'अजगणत्' रूप भी सिद्ध हो जाता है, तथापि ऐसे प्रयोग में ण्यन्त 'गण' धातु से, 'णिच्' का लोप होने के बाद उसको अकारान्त नहीं माना है । अतः उसमें समानलोपित्व प्राप्त नहीं होनेसे 'ई' के विकल्प में, सन्वद्भाव होकर, 'अजीगणत्' रूप ही सिद्ध होगा । अतः सूत्र में 'ई वा गणः' के स्थान पर 'ई च गणः' ४/१/६७ कहकर 'चकार' से 'अ' कार का अनुकर्षण किया है ।

इस न्याय के ज्ञापक के रूप में 'ई च गणः' ४/१/६७ सूत्र के 'च' को बताया गया है। ज्ञापक हमेशां व्यर्थ होकर न्याय का ज्ञापन करता है । अतः 'च' को श्रीहेमहंसगणि ने व्यर्थ बताया है, तथापि किसी को शंका हो सकती है कि 'च' व्यर्थ नहीं किन्तु सार्थक है, क्योंकि 'ई वा गणः' कहने से मात्रागौरव हो जाता है और 'ई च गणः' ४/१/६७ कहने से मात्रा लाधव होता है । इसका समाधान देते हुए उन्होंने स्वयं इस न्याय के न्यास में कहा है कि आपकी शंका उचित है कि 'ई च गणः' कहने से मात्रालाघव होता है किन्तु प्रक्रियागौरव हो जाता है, वह इस प्रकार है -: पहले यहाँ च कार से पूर्वसूत्र में से अकार का अनुकर्षण होता है, बाद में ईकार और अकार का विधेय रूप में निर्देश होता है । जबकि 'ई वा गणः' कहने से प्रक्रियालाघव होता है । वह इस प्रकार है : यहाँ अकार का अनुकर्षण नहीं है । अतः विधेय रूप में केवल 'ई' ही है । अतः पक्ष में यथाप्राप्त 'ई' की ही अनुज्ञा होगी ।

और मात्रालाघव से भी प्रक्रियालाघव महत्त्वपूर्ण है, वह सबको मालूम ही है । अतः प्रक्रिया गौरव का आदर करके या चिन्ता किये बिना 'ई च गणः' ४/१/६७ कहा वह चकार की व्यर्थता प्रतिपादित करता है । अतः वह ज्ञापक है ।

'ई च गणः' ४/१/६७ सूत्र के लघुन्यास में ऊपर बताया उसी प्रकार से चकार को इस न्याय का ज्ञापक माना है किन्तु बृहद्वृत्ति के अनुसार वह सही प्रतीत नहीं होता है क्योंकि वहाँ शास्त्रकारने स्वयं कहा है कि 'गण' धातु अकारान्त होने से 'समानलोपि' है । अतः सन्वद्भाव या दीर्घविधि की प्राप्ति ही नहीं है । अतः इसी सूत्र से 'अजीगणत्' में 'ई' किया जाता है । अतः यह

विधिसूत्र है, अत: यदि यहाँ 'च' न रखा जाय तो ईत्वविधि नित्य हो जाय और 'अ' कार नहीं होगा। अत: 'च' कार से 'अ' भी होता है, इतना कहा जा सकता है; किन्तु जहाँ अदन्तत्वका अभाव है वहाँ ईत्व की प्रवृत्ति स्वत: होने से, वहाँ 'च' कार से 'अ' होता है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि अदन्तत्व के अभाव में दो प्रयोग होने का कोई दृढ़तर प्रमाण नहीं है तथा 'गण' धातु से 'णिच्' के अभाव में अद्यतनी प्रत्यय पर में होने पर 'अजगणत्' रूप की सिद्धि के लिए अकार का विधान चरितार्थ भी नहीं होता है । अत: उससे इस न्यायका ज्ञापन हुआ मान लेने पर भी स्वांश में चारितार्थ्य प्रतीत नहीं होता है । अत: लाघव करने के लिए ही चकार से अत्व का विधान किया गया है, ऐसा समझा जाता है ।

इन सब धातुओं को अकारान्त मानने का कारण केवल णिनिमित्तक कार्य का निवारण ही है । अत: जब 'णि' नहीं होगा तब ये धातु स्वत: अदन्तत्वरहित हो जायेंगे और इस प्रकार प्रत्येक प्रयोग की सिद्धि हो सकेगी ।

यह न्याय अन्य किसी भी परिभाषासंग्रह में प्राप्त नहीं है ।

॥१००॥ धातवोऽनेकार्थाः ॥४३॥

धातु के अनेक अर्थ होते हैं ।

इस न्याय से धातुपाठ में धातु के जो अर्थ बताये हैं उससे भिन्न अर्थ में भी उसी धातु का प्रयोग किया जा सकता है । धातुपाठ में धातु के बताये हुए अर्थ से भिन्न अर्थ में भी उसी धातु के प्रयोग साहित्य में पाये जाते हैं, तो वही प्रयोग उचित है या नहीं ? ऐसे संदेह का निवारण करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'विधत्' धातु 'विधान करना' अर्थ में है तथापि 'बींधना' अर्थ में भी उसका प्रयोग होता है। जैसे 'शब्दवेधी, वेधः ।' 'एधि' धातु 'वृद्धि' अर्थ में है तथापि 'दीप्ति' अर्थ में प्रयोग किया जाता है, जैसे 'पुरश्चक्रं तवैधते ।' 'प्राप्ति' अर्थ में भी प्रयुक्त है, जैसे 'औपवस्त्रफलमेधते ।' 'शुच्' धातु का अर्थ 'शोक' से भिन्न 'पवित्रता' भी होता है । उदा. 'शुचिः' । 'हृंग्' धातु हरण करना अर्थ में है तथापि करण अर्थ में प्रयुक्त होता है । उदा. सिद्धहेमबृहद्वृत्ति में 'क्रियाव्यतिहारेऽगति-३/३/२३ सूत्र की वृत्ति में 'क्रियाव्यतिहार' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'इतरचिकीर्षितायां क्रियायामितरेण हरणं करणं' । 'मननं मतम्' 'मत्' धातु मानना अर्थ में है तथापि क्वचित् साम्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । जैसे 'मतीकृता क्षेत्रभूः' । मतीकृता अर्थात् समीकृता (समतल की हुई जमीन) ।

इस न्याय का ज्ञापक 'तक्षः स्वार्थे वा' ३/४/७७ सूत्रगत 'स्वार्थे' शब्द है, अत: अन्य अर्थ में 'तक्ष्' धातु से 'श्नु' प्रत्यय नहीं होता है । उदा. संतक्षति वाग्भिः शिष्यम्' अर्थात् वह वाणी द्वारा शिष्य की भर्त्सना करता है अर्थात् शिष्य को धिक्कारता है । यदि यह न्याय न होता तो 'तक्ष्' धातु अन्य किसी भी अर्थ में प्रयुक्त होने की संभावना ही न थी । अत: 'स्वार्थे' शब्द व्यर्थ हुआ और वह व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है ।

यह न्याय अनित्य है, अतः उपसर्ग कदाचित् धातु के अर्थ का बाध करता है । उदा. 'तिष्ठति' का अर्थ 'वह खड़ा रहता है' किन्तु-'प्रतिष्ठते' का अर्थ 'वह प्रयाण करता है' होता है । वैसे 'वसति, प्रवसति', 'स्मरति, प्रस्मरति' यह बात तब ही सुसंगत होती है, जब 'स्था' इत्यादि धातुओं के धातुपाठ निर्दिष्ट अर्थ को निश्चित माना जाय, और वह इस न्याय की अनित्यता के बिना संभव नहीं है ।

यदि इस न्याय से धातुओं का अनेकार्थत्व निश्चित ही होता तो 'स्था' इत्यादि धातुओं के 'स्थिति' इत्यादि अर्थ की तरह 'गति' इत्यादि अर्थ का भी संभव होने से 'आचष्टे, आलोकते' इत्यादि प्रयोग में जैसे उपसर्ग को धातु के अर्थ का प्रत्यनुवर्तक या द्योतक माना है वैसे 'प्रतिष्ठते' इत्यादि में भी द्योतक मानना युक्तिसंगत है, किन्तु बाधक मानना उचित नहीं है, तथापि बाधक माना है, वह इस न्याय की अनित्यता के कारण ही ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक 'वियः प्रजने' ४/२/१३ सूत्र है । 'प्रवापयति' और 'प्रवाययति' रूपों 'वाति' और 'वेति' दोनों धातु से 'णि' होकर सिद्ध हो सकते हैं, तथापि 'वियः प्रजने' ४/२/१३ सूत्र किया, वह इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करता हैं । 'पुरो वातो गाः प्रवापयति' में 'वांक् गतिगन्धनयोः' धातु से 'णिग्' हुआ है और 'प्रवाययति' में 'वींक् प्रजनकान्त्यसनखादनेषु च' धातु से 'णिग्' हुआ है, तथापि 'वियः प्रजने' ४/२/१३ सूत्र करके 'वी' धातु के 'ई' का विकल्प से 'आ' किया वह, ऐसा सूचित करता है कि यह न्याय अनित्य होने से 'वांक्' धातु का प्रजन अर्थ में प्रयोग करना दुःशक्य है ।

इस न्याय के बारे में टिप्पण करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यह न्याय ज्ञापकसिद्ध नहीं है, अतः उसका ज्ञापक देना उचित नहीं है । इस न्याय का तात्पर्य/भावार्थ इतना ही है कि धातु के अर्थ जो धातुपाठ में बताये हैं, उन्हें छोड़कर अन्य अर्थ में भी वे प्रयुक्त होते हैं अर्थात् धातु में अन्य अर्थ का भी अभिधान करने की शक्ति है, और यह शक्तिग्रह ज्ञापन द्वारा नहीं हो सकता है, ऐसी उनकी मान्यता है । इसका कारण देते हुए वे शक्तिग्रह करानेवाले निमित्त इस प्रकार बताते हैं ।

१. व्याकरण, २. उपमान, ३. कोष, ४. आप्तवाक्य, ५. व्यवहार, ६. वाक्यांश (वाक्य का अन्य खण्ड) ७. विवृत्ति (टीका) टिप्पणी और ८. सिद्धपद का सांनिध्य

ऊपर बताये गये 'शक्तिग्राहक' में अनुमान स्वरूप निमित्त का कथन नहीं है । अतः धातु में अनेकार्थत्व स्वभावसिद्ध मानना चाहिए और यही अनेकार्थत्व किसी व्यक्ति द्वारा निश्चित नहीं किया गया है किन्तु स्वाभाविक ही है । अतः कुछेक धातुओं से अनेक अर्थ का बोध होता है और कुछेक धातुओं से अनेक अर्थ का बोध नहीं होता है, ऐसा निश्चायक कोई विनिगमक नहीं है ।

इस न्याय से, कुछेक स्थान पर धातु अनेक अर्थवाले होते हैं, ऐसा जो कथन किया गया वह सिर्फ अनुवाद ही है, स्वतंत्र विधान नहीं है । धातुपाठ में निर्दिष्ट अर्थ में ही शास्त्रव्यवहार होता है, तथापि जब भी अन्य विशेष अर्थ या कोई कार्य का व्यावर्तन करना हो तब, उसी अर्थविशेष का ग्रहण भी धातु के स्वभावसिद्ध अनेकार्थज्ञापकत्व को दृढ करता है । अत एव 'तक्षः स्वार्थे वा' ३/४/७७ इत्यादि सूत्र में 'स्वार्थे' शब्द व्यर्थ नहीं होगा । ऐसा स्वीकार करने पर 'वियः प्रजने' ४/२/१३ इत्यादि सूत्र का सामंजस्य भी स्वतःसिद्ध ही है । परिणामतः उपर्युक्त उदाहरण द्वारा न्याय

का अनित्यत्व नहीं बताना चाहिए ।

सब धातुओं का अनेकार्थत्व स्वीकार करके ही 'वाति' और 'विय' ('वा' और 'वींक्') धातु का अनुक्रम से 'प्रवापयति' और 'प्रवाययति' रूप सिद्ध किये गये हैं और उसके आधार पर ही उसकी व्यर्थता की शंका की जाती है किन्तु वस्तुतः ऊपर बताया उसी तरह अनेक अर्थ का अभिधान करना, धातु का स्वभाव है, ऐसा स्वीकार करने पर, सब धातु, सभी अर्थ के वाचक नहीं बनेंगे, परिणामतः प्रजनार्थक 'वि' धातु के ही दो रूप सिद्ध करने के लिए कोई उपाय तो करना ही होगा । अत एव 'वियः प्रजने' ४/२/१३ का सार्थक्य स्पष्ट ही है । 'धातु सामान्यतया अनेक अर्थ के वाचक हैं, न कि विशेष रूप से', ऐसे विधान/प्रतिपादन के साथ 'उपसर्ग धातु के अर्थ का बाध करता है' ऐसे विधान संगत होते हैं ।

जो अर्थ नियम से प्रतीत होता है, वही उसका अर्थ है, अतः जहाँ उपसर्ग के कारण दूसरे अर्थ की प्रतीति होगी, वहाँ वही उपसर्ग उसी धात्वर्थ का बाधक होगा ।

यद्यपि धातु के अनेकार्थत्व का स्वीकार सभी ने किया है, तथापि किसी ने इसे परिभाषा के स्वरूप में नहीं दिया है ।

॥१०१॥ गत्यर्था ज्ञानार्थाः ॥४४॥

'गति' अर्थयुक्त (गत्यर्थक) धातु, 'ज्ञान' अर्थयुक्त (ज्ञानार्थक) बनते हैं ।

धातु सम्बन्धित न्यायों का कथन चलता होने से, धातु विषयक इस न्याय की भी यहाँ चर्चा की गई है । 'धातवः' शब्द की पूर्व के न्यायसूत्र से यहाँ अनुवृत्ति ली गई है ।

उदा. 'शब्दोऽर्थं गमयति' अर्थात् 'शब्द अर्थ का ज्ञान कराता है' । संक्षेप में यहाँ 'गमयति' का अर्थ 'ज्ञापयति' हुआ है ।

इस न्याय का ज्ञापन 'णावज्ञाने गमुः' ४/४/२४ सूत्रगत 'अज्ञाने' शब्द से होता है । यदि गति अर्थवाले 'इण्' धातु का 'ज्ञान' अर्थ न होता तो 'निवृत्ति' अर्थ बताने के लिए 'इण्' धातु का 'अज्ञाने' विशेषण रखा वह व्यर्थ हो जाता है और व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है । इस न्याय का ज्ञापन होने के बाद 'प्रत्याययति' इत्यादि प्रयोग में 'इण्' का 'गमु' आदेश नहीं होगा और इस प्रकार वह स्वांश में चरितार्थ होगा ।

यह न्याय लक्ष्यानुसारी होने से, क्वचित् इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है अर्थात् यह न्याय अनित्य है और इसका ज्ञापन 'गतिबोधाहारार्थ-' २/२/५ सूत्रगत 'बोध' शब्द से होता है । यदि यह न्याय नित्य ही होता तो 'गति' शब्द से ही गत्यर्थक धातुओं के साथ साथ बोध (ज्ञान) अर्थवाले धातु का ग्रहण हो सकता है तथापि 'गति' के साथ साथ 'बोध' शब्द भी रखा है, वह इस न्याय की अनित्यता बताता है । अर्थात् सब गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक नहीं होते हैं ।

भाषा में 'गमयति, अवगच्छति, प्रत्यायति' इत्यादि प्रयोग ज्ञान के अर्थ में प्रवृत्त हैं, अतः इन सब प्रयोगों के मूल में स्थित 'गत्यर्थक' धातुओं का ज्ञान अर्थ होता है या नहीं ? ऐसा प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक है । इसके संदर्भ में गत्यर्थक धातु में से ज्ञान का अर्थ कैसे निकलता है,

उसकी प्रक्रिया श्रीलावण्यसूरिजी इस प्रकार बताते हैं ।

इस न्याय के बारे में विचार करने पर लगता है कि इस न्याय से गत्यर्थक धातुओं का ज्ञानार्थत्व, गत्यर्थत्व के अनुसार ही होता है या प्रथम गत्यर्थ की प्रतीति होती है, बाद में ज्ञानार्थ का ज्ञान होता है । और गत्यर्थक धातु का ज्ञानार्थत्व, उपसर्ग के कारण या प्रेरणार्थक प्रत्यय के कारण ही होता है तथा उपसर्ग का सामर्थ्य सर्व धातुओं के लिए अचिन्त्य है, ऐसा प्रत्येक वैयाकरण ने स्वीकार किया है । उदा० "उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते । प्रहाराहार-संहार-विहार -परिहारवत्॥" अतः 'गच्छति' में गति अर्थ का ही बोध होता है और उपसर्ग के कारण 'अवगच्छति' का अर्थ 'उसको बोध होता है' ऐसा होता है । अतः 'अवगच्छति' इत्यादि प्रयोग इस न्याय का विषय नहीं है । 'गमयति शब्दोऽर्थम्' वाक्य में प्रेरणार्थक प्रत्यय के कारण प्रतीत होता ज्ञानार्थत्व का बोध, गत्यर्थपूर्वक ही होता है और इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार होता है । 'अर्थो ज्ञानविषयतां गच्छति, तं शब्दः प्रेरयति ।' (अर्थ ज्ञानस्वरूप विषयता में जाता है और उसी अर्थ को शब्द प्रेरणा करता है ।) अर्थात् शब्द अर्थ का ज्ञापन कराता है । यहाँ 'ज्ञानविषयता' स्वरूप कर्म अतिप्रसिद्ध होने से, उसका प्रयोग नहीं होता है ।

पूर्व न्याय की तरह यह न्याय भी ज्ञापनलभ्य नहीं है किन्तु शब्दशक्ति स्वभावलब्ध ही है ।

इस प्रकार उपसर्ग के कारण और प्रेरणार्थक प्रत्यय के कारण जहाँ जहाँ 'इण्' धातु का ज्ञान अर्थ होता हो वहाँ वहाँ 'इण्' का 'गमु' आदेश न हो, इसके लिए 'णावज्ञाने गमुः' ४/४/ २४ में 'अज्ञाने' शब्द रखा है । अतः वह सार्थक ही है ।

सब गत्यर्थक धातु बोधार्थक नहीं होने के कारण 'गतिबोधाहारार्थ-२/२/५ सूत्र में 'गति' के साथ 'बोध' का भी ग्रहण किया है वह युक्तिसंगत ही है । यदि केवल 'गति' शब्द का ही ग्रहण किया होता तो 'बोधयति शिष्यं धर्मम्' में 'शिष्य' को कर्मत्व की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि 'बुध्' धातु का अर्थ 'गति' नहीं होता है । यदि केवल बोधार्थ का ही ग्रहण किया जाय तो 'गमयति चैत्रं ग्रामम्' में बोधार्थत्व का अभाव होने से वहाँ भी 'चैत्र' को कर्मत्व की प्राप्ति न होती । अतः 'बोध' या 'गति' दो में से किसी की भी व्यर्थता प्रतिपादन करना असंभव है । अतः इसके द्वारा इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करना संभव ही नहीं है ।

गत्यर्थक धातुओं के ज्ञानार्थत्व का अन्य प्रकार से ज्ञापन करना संभव होने पर भी गत्यर्थक और ज्ञानार्थक का भिन्न भिन्न धातु के स्वरूप में ग्रहण करना परम आवश्यक होने से यह न्याय ज्ञापकसिद्ध नहीं है अथवा शब्दशक्ति का अनुवादक ही यह न्याय है, ऐसा मानना उचित प्रतीत होता है । अतः अन्य किसी व्याकरण परंपरा में इस सिद्धांत का न्याय के स्वरूप में स्वीकार नहीं किया है ।

॥१०२॥ नाम्नां व्युत्पत्तिरव्यवस्थिता ॥४५॥

'नाम' की व्युत्पत्ति (प्रकृति और प्रत्यय का निश्चय) भिन्न भिन्न प्रकार से होती है ।

धातु, विभक्त्यन्त और वाक्य तीनों को छोड़कर, अर्थवान् शब्द को 'नाम' कहा जाता है। वही 'नाम' की अर्थानुसारी या अर्थ का बोध कराने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार से व्युत्पत्ति की जाती है और व्युत्पत्ति अर्थात् शब्द में प्रकृति और प्रत्यय ऐसे दो विभाग की कल्पना । अतः 'नाम' की व्युत्पत्ति विविध प्रकार से की जाती है, ऐसा इस न्याय का अर्थ है ।

उदा. 'वडवा,सृगाल, मयूर' इत्यादि शब्दों की 'पृषोदरादि' और उणादि, दोनों प्रकार से सिद्धि की गई दिखायी पड़ती है । वह इस प्रकार है । १. 'पृषोदरादि' से 'अश्वस्याम्बा वडवा, असृंगालेढि सृगालः, मह्यां रौति मयूरः' २. उणादि से 'वड' धातु आग्रहण अर्थ में है, उससे 'वडिवटि'- (उणा-५१५) सूत्र से 'अव' प्रत्यय करके 'वडवा','सृ' धातु से 'सर्त्तेर्गोन्तश्च (उणा-४७८) से कित् 'आल' प्रत्यय और 'ग' का आगम करके 'सृगालः' 'मीनाति' रूपवाले 'मी' धातु से 'मी-मसि' -(उणा-४२७) से 'उर ' प्रत्यय करके 'मयूरः' । 'सूर्य' शब्द भी दो प्रकार से निष्पन्न होता है । १. तद्धित प्रत्ययसे २. कृत्यप्रत्यय से । तद्धित में 'सूर' शब्द से 'मर्तादिभ्यो यः' ७/२/१५९ से स्वार्थिक 'य' प्रत्यय होने पर 'सूर्य' शब्द होगा और कृदन्त में 'कुप्यभिद्योध्य-सिद्ध्य-तिष्य-पुष्य-युग्याज्य-सूर्यं नाम्नि' ५/१/३९ से सृ धातु से 'क्यप्' प्रत्यय करके संज्ञा में निपातन किया गया है ।

इस प्रकार 'नाम' की व्युत्पत्ति विविध प्रकार से की गई होने से इस न्याय की सत्ता प्रतीत होती है । इस न्याय की प्रवृत्ति केवल रूढ शब्द (नाम) के लिए होती है किन्तु जो शब्द यौगिक है अर्थात् धातु से कृत्प्रत्यय और सामान्य नाम से तद्धित के अर्थवान् प्रत्यय होकर बने हैं उसकी और समास आदि की व्युत्पत्ति व्यवस्थित ही है । वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है । इतने क्षेत्र के लिए यह न्याय अनित्य है ऐसा श्रीहेमहंसगणि कहते हैं । जबकि श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि "एतच्च 'अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम' १/१/२७ इति सूत्रेण येषां रूढशब्दानां नामसंज्ञा क्रियते तद्विषये व्युत्पत्तेरव्यवस्थानं वेदितव्यम् ।" इस वाक्य का सामान्य अर्थ इस प्रकार हो सकता है । "जिस रूढ शब्द की 'अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम' १/१/२७ सूत्र से 'नाम' संज्ञा की जाती है, उसकी व्युत्पत्ति में अव्यवस्था रहती है ।" इस वाक्य का भावार्थ यह हो सकता है कि रूढ शब्द की 'नाम' संज्ञा दो सूत्र से होती हो, उसमें से एक सूत्र 'अधातुविभक्ति'-१/१/२७ हो तो उससे जिन रूढ शब्दों की 'नाम' संज्ञा होती हो उसकी ही व्युत्पत्ति अव्यवस्थित है किन्तु अन्य सूत्र से जिन रूढ शब्द की 'नाम' संज्ञा होती हो, उसकी व्युत्पत्ति व्यवस्थित ही है । या रूढ शब्द की 'नाम' संज्ञा 'अधातुविभक्ति'-१/१/२७ सूत्र से ही होती है और यौगिक शब्दों की 'नाम' संज्ञा अन्य सूत्र से होती है, ऐसा उनके विधान का अर्थ है और श्रीलावण्यसूरिजी को उपर्युक्त अन्तिम अर्थ अभिप्रेत है ऐसा लगता है, और पाणिनीय परम्परा में दोनों प्रकार के शब्दों को प्रातिपदिक (नाम) संज्ञा करने के लिए भिन्न भिन्न सूत्र हैं । १. रूढ शब्दों के लिए 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' (पा.सू. १/२/४५) और २. यौगिक शब्दों के लिए 'कृत्तद्धित-समासश्च'- (पा. १/२/४६)

जबकि सिद्धहेम की परम्परा में दोनों प्रकार के शब्द (रूढ और यौगिक) की यही एक ही 'अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम' १/१/२७ सूत्र से नाम संज्ञा होती है । अतः 'अधातुविभक्ति' - १/

१/२७ सूत्र का यहाँ निर्देश करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

इस न्याय के बारे में विशेष विचार करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यह न्याय भी स्वाभाविक ही है और सामान्यतया शब्दशास्त्र/व्याकरणशास्त्र में शब्दों को नित्य माने गये हैं, अर्थात् उसकी व्याकरण द्वारा निष्पत्ति नहीं हो सकती है । केवल शब्दों का अर्थबोध कराने के लिए शास्त्रकार /वैयाकरण शब्द में प्रकृति, प्रत्यय इत्यादि विभाग की कल्पना करते हैं, और यही कल्पना शब्द का जैसा अर्थ होता है वैसी ही की जाती है । अतः जब एक ही शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं, तब भिन्न भिन्न प्रकार से उसकी व्युत्पत्ति होती है । इसके बारे में भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में कहा है कि-

'उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा, ततः सत्यं समीहते ॥'

उपाय अर्थात् शब्द में प्रकृति-प्रत्यय विभाग की, और उसके स्वतंत्र अर्थ की कल्पना ही की जाती है । वस्तुतः ऐसा होता नहीं है, किन्तु अव्युत्पन्नमतिवाले (मंदबुद्धिवाले) बालजीवों को शब्द के अर्थ का सरलता से बोध कराने का यह प्रयत्न है । और यही बात अर्थान्तरन्यास अलंकार द्वारा समझायी जाती है । असत्य मार्ग द्वारा ही सत्य की प्राप्ति होती है । उदा. किसी मनुष्य को 'गवय' नामक प्राणि की आकृति छबी बताकर कहा जाय कि यह गवय है । वस्तुतः वही आकृति 'गवय' नहीं है, अतः वह असत्य है तथापि उसी आकृति देखने के बाद, जब वह 'गवय' देखेगा, तो उसे तुरत ही गवय की सच्ची/वास्तविक पहचान होगी ।

यहाँ एक बात खास ध्यान देने योग्य है कि श्रीलावण्यसूरिजी ने शब्द के नित्यत्व पक्ष का स्वीकार करके अन्य व्याकरण परम्परानुसारी यह विचार प्रदर्शित किया है । सिद्धहेम की परम्परा में जैन परम्परानुसार अनेकांतवाद होने से शब्दों को नित्यानित्य माने हैं अर्थात् शब्द कथंचित् नित्य हैं और कथंचित् अनित्य है । अतः जब अनित्यत्व पक्ष का आश्रय लिया जायेगा तब शब्द को व्युत्पन्न मानना चाहिए । वैसे प्रत्येक शब्द के लिए व्युत्पत्ति अनिवार्य मानी जाय तो, उन्हीं शब्दों के विभिन्न अर्थानुसार विभिन्न व्युत्पत्ति माननी चाहिए, और यही बात इस न्याय द्वारा बतायी गई है ।

इस प्रकार 'नाम' की व्युत्पत्ति सिर्फ सिद्धहेम की परम्परा में ही अव्यवस्थित है, ऐसा नहीं है । पाणिनीय परम्परा में भी 'वडवा' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बतायी गई है १. तद्धित से और २. कृदन्त से । तद्धित से इस प्रकार है :- 'बलमतिशायितमस्या' अर्थ में 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम् (पा. ५/१/१०९) सूत्र के वार्तिक 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' से 'व' प्रत्यय होता है और स्त्रीलिङ्ग में 'आप्' प्रत्यय पर में होने पर 'ब' का 'व' और 'ल' का 'ड' होगा क्योंकि 'ब' और 'व' तथा 'ड' और 'ल' एक ही या समान माने जाते हैं । कृदन्त में 'बलं वाति' अर्थ में 'आतोऽनुपसर्गे' (पा. ३/२/३) से क प्रत्यय होने पर अथवा 'बलं वजति' अर्थ में 'अन्येष्वपि दृश्यते' (पा. ३/२/१०१) सूत्र के वार्तिक 'अन्येभ्योऽपि' द्वारा 'ड' प्रत्यय होने पर, 'ल' का 'ड' और 'ब' का 'व' होकर 'वडवा' शब्द सिद्ध होगा ।

'सृगाल :- सृजति मायाम्' अर्थ में 'सृज्' धातु से 'कालन्' प्रत्यय होने पर 'न्यङ्क्वादि' गण से 'ज' का 'ग' आदेश होकर 'सृगालः' अथवा 'असृग् आलाति' अर्थ में 'क' प्रत्यय होने पर

'पृषोदरादित्वात्', 'अ' का लोप होकर 'सृगालः' अथवा 'शृङ्गं न लाति', विग्रह करके 'पृषोदरादित्वात्' सिद्धि होती है । इस प्रकार 'मयूर' इत्यादि शब्दों की भिन्न भिन्न प्रकार से व्युत्पत्ति होती है, और यह बात प्रत्येक वैयाकरण को स्वीकार्य/सम्मत है ।

वस्तुतः सभी नाम/प्रातिपदिक किसी न किसी पदार्थ अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म इत्यादि में किसी एक का वाच्चक होता ही है, और यह परम्परा से रूढ ही है, तथापि वैयाकरण उसकी समझ देने के लिए या उसी शब्द को साधुत्व प्राप्त कराने के लिए प्रकृति-प्रत्यय इत्यादि की कल्पना करके इसकी सिद्धि करते हैं । अतः भिन्न भिन्न वैयाकरण भिन्न भिन्न पद्धति से इन शब्दों की व्युत्पत्ति करते हैं, अतः वह अव्यवस्थित अर्थात् अनिश्चित होती है ।

॥१०३॥ उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि ॥४६॥

उण् इत्यादि प्रत्यय से सिद्ध नाम/शब्दों को अव्युत्पन्न (प्रकृति-प्रत्यय विभाग रहित) माने जाते हैं ।

यहाँ 'उणादि' शब्द से 'उणादि' प्रत्ययान्त का ग्रहण किया है । 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ७/४/११५ परिभाषा सूत्र से प्रकृति, जिसके आदि में है ऐसे उणादि प्रत्यय लेने चाहिए अथवा उणादि प्रत्यय अवयव है और उणादि प्रत्ययान्त शब्द अवयवी है । अवयव-अवयवी में अभेद उपचार करने पर भी 'उणादयः' शब्द से उणादि प्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होता है । वही 'उणादि' सूत्र 'कृवापाजि'- (उणा-१) से लेकर १००५ सूत्र तक उसका कथन किया गया है । इन सूत्रों द्वारा जिन शब्द की व्युत्पत्ति होती है और प्रकृति-प्रत्यय विभाग की जो कल्पना की जाती है, वही केवल वर्ण की आनुपूर्वी का ज्ञान कराने के लिए ही है, किन्तु 'कर्ता' इत्यादि क्रियावाचक शब्द की तरह अर्थानुसारी व्युत्पत्ति या प्रकृति-प्रत्यय इत्यादि की कल्पना नहीं है । अतः तत्त्वतः ये 'नाम' अव्युत्पन्न हैं क्योंकि ये शब्द रूढ कहे जाते होने से अन्वर्थक व्युत्पत्ति करना संभव नहीं है ।

उदा. 'पटिवीभ्याम्'- (उणा. ५७९) से 'वींक्' धातु से 'डिस्' प्रत्यय करने पर 'विसम्' शब्द होता है । यहाँ इस प्रकार 'विसम्' की व्युत्पत्ति करने पर भी, तत्त्वतः अव्युत्पन्न होने से 'स' में कृतत्व का अभाव होने से उसी 'स' का 'ष' नहीं होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक 'अतः कृ-कमि'- २/३/५ सूत्र में, कम् धातु का ग्रहण करने से उणादि सूत्र 'मावावद्यमि'- (उणा-५६४) से 'कम्' धातु से 'स' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुए 'कंस' शब्द का भी ग्रहण प्राप्त है, तथापि 'कंस' शब्द का पृथग्ग्रहण किया है, वह है । 'अतः कृ-कमि-२/३/५ सूत्र में 'कृ' और 'कम्' दोनों धातु का निर्देश किया है किन्तु प्रत्ययरहित सिर्फ 'कृ' और 'कम्' धातु का 'अस्' अन्तवाले 'नाम' के साथ समास होने की कोई संभावना नहीं है । अतः ये धातु कृदादि प्रत्ययान्त ही लिये जायेंगे, ऐसा कहा है । अतः 'अयस्कारः, अयस्कामः' इत्यादि में 'र' का 'स' होता है । यदि यह न्याय न होता तो 'कंस' शब्द भी कम् धातु से 'स' प्रत्यय होकर बना है, अतः 'कम्' के ग्रहण से उसका ग्रहण हो जाता है । अतः 'कंस' शब्द का पुनः ग्रहण किया,

वह व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है, और यह न्याय ज्ञापित हो जाने के बाद 'कंस' शब्द उणादि प्रत्ययान्त होने से, उसे अव्युत्पन्न मानकर, 'कम्' धातु से निष्पन्न न होने से, उसका पृथग्ग्रहण चरितार्थ होगा ।

यह न्याय अनित्य होने से, क्वचित् उणादि प्रत्ययान्त शब्दों को व्युत्पन्न भी माने जाते हैं । अतः 'वप्' धातु से उणादि के 'रुद्यर्त्ति-' (उणा-९९७) से उस् प्रत्यय होकर बने 'वपुस्' शब्द के 'वपुषा' इत्यादि रूपों में 'स' को कृत मानकर, उसका 'नाम्यन्तस्था'-२/३/१५ से 'ष' किया गया है ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक 'तृस्वसृ'-१/४/३८ सूत्र में उणादिप्रत्ययान्त 'नप्तृ' इत्यादि शब्दों के ग्रहण को नियमार्थ, श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने बताया है, वह है । श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने उणादि प्रत्ययान्त शब्दों में व्युत्पत्ति पक्ष और अव्युत्पत्तिपक्ष दोनों मान्य रखें हैं । अतः अव्युत्पत्तिपक्ष इसी न्याय को अनुकूल है, और वास्तव में अव्युत्पत्तिपक्षमूलक ही यह न्याय है । अतः जब/जहाँ व्युत्पत्ति पक्ष का आश्रय लिया जाता है तब/वहाँ इस न्याय को अनित्य मानना चाहिए । 'नप्तृ' इत्यादि के ग्रहण से फलित/सिद्ध होनेवाला नियम इस प्रकार है -: व्युत्पत्तिपक्ष में 'तृ' के ग्रहण से ही नप्तृ इत्यादि का ग्रहण सिद्ध हो जाता है तथापि उनका पुनः ग्रहण किया, उससे ज्ञापित होता है कि उणादि प्रत्ययान्त तृ अन्तवाले नाम में से केवल 'नप्तृ' इत्यादि के अन्त्य ऋकार का 'आर्' होता है किन्तु अन्य 'तृ' अन्तवाले नाम के अन्त्य 'ऋ' का 'आर्' नहीं होता है । अतः 'पितरौ, मातरौ' इत्यादि में 'आर्' नहीं होगा । यदि यह न्याय नित्य होता तो, उणादि 'नप्तृ' इत्यादि अव्युत्पन्न होने से 'तृ' के ग्रहण से, उसका ग्रहण होने की कोई संभावना ही पैदा नहीं होती है, तो नियमार्थत्व का कथन भी संगत नहीं होता है । अतः व्युत्पत्तिपक्ष में इस न्याय का आश्रय नहीं करना चाहिए, यही अनित्यता का तात्पर्य है ।

केवल उणादि प्रत्ययान्त नाम ही अव्युत्पन्न होते हैं, ऐसा नहीं है । क्वचित् निपातित 'नाम' में प्रकृति-प्रत्यय विभाग का स्वीकार नहीं किया जाता है । अतः उणादि के उपलक्षण से दूसरे भी 'नाम' अव्युत्पन्न माने जाते हैं । (उदा. षष्टि) अतः यहाँ 'सङ्ख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः' ६/४/१३० सूत्र में 'ष्टि' का वर्जन सार्थक होता है और ष्टि (ष्ट्यन्त) का वर्जन 'षष्टि' शब्द के लिए किया गया है। 'षष्टि' शब्द का 'षड् दशतो मानमस्याः' विग्रह करके, 'विंशत्यादयः' ६/४/१७३ सूत्र से ति प्रत्ययान्त निपातन किया है । इस प्रकार 'षष्टि'भी 'ति' प्रत्ययान्त होने से 'ति' के वर्जन से 'ष्टि' अन्तवाले 'षष्टि' का भी वर्जन सिद्ध ही था, तथापि उसका वर्जन किया, वह व्यर्थ होकर बताता है कि 'षष्टि' में अव्युत्पत्तिपक्ष का स्वीकार किया गया है ।

इस न्याय के 'उणादयः' और 'अव्युत्पन्नानि' शब्दगत परस्पर विरोधाभास के बारे में श्रीलावण्यसूरिजी हंसीयुक्त/विनोदयुक्त आशंका करते हैं । इस न्याय में एक ओर ऐसा कहते हैं कि 'उणादयः' शब्द से उणादि प्रत्ययान्त शब्द ग्रहण करने चाहिए अर्थात् उनमें प्रकृति-प्रत्यय विभाग

है । जबकि दूसरी ओर उसी नाम को अव्युत्पन्न अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय विभाग रहित मानने चाहिए। ये दोनों विधान परस्पर विरूद्ध हैं क्योंकि जो उणादि प्रत्ययान्त हैं, वे अव्युत्पन्न नहीं हैं क्योंकि उनमें प्रकृति-प्रत्यय विभाग है और जो अव्युत्पन्न हैं, वे उणादि प्रत्ययान्त नहीं हैं क्योंकि उसमें प्रकृति-प्रत्यय विभाग नहीं है । अतः यहाँ शंका पैदा होती है कि उणादि प्रत्ययान्त शब्द किस प्रकार अव्युत्पन्न माने जाते हैं ? उसी शंका का समाधान इस प्रकार है -: उणादि सूत्र से सिद्ध होनेवाले शब्द में प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना, शास्त्रकार आचार्यश्री ने केवल शिष्यों को शब्द और शब्द के वर्ण की आनुपूर्वी का ज्ञान कराने के लिए ही की है । वस्तुतः ये शब्द रूढ होने से उसमें प्रकृति-प्रत्यय विभाग है ही नहीं ।

'तृस्वसृ नप्तृ-' १/४/३८ सूत्र में 'नप्तृ' इत्यादि उणादिप्रत्ययान्त शब्दों को अव्युत्पन्न माना जाय तो क्या अर्थ होता है ? इसके बारे में श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने स्वयं बृहद्वृत्ति और उनके शब्दमहार्णव न्यास में बताया है कि तृ प्रत्यय अर्थवान् है, जबकि उणादि प्रत्ययान्त 'नप्तृ' इत्यादि में तृ अनर्थक है क्योंकि वे अव्युत्पन्न है । अतः 'तृ' के ग्रहण से नप्तृ इत्यादि का ग्रहण नहीं हो सकता है । उसी कारण से 'नप्तृ' इत्यादि का पृथगुपादान किया है । यही पृथगुपादान 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' न्याय का ज्ञापन करता है । इस प्रकार आचार्यश्री ने स्वयं उणादि प्रत्ययान्त शब्दों को व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न दोनों प्रकार के माने हैं । अतः यह न्याय लक्ष्यानुसारी है ।

श्री लावण्यसूरिजी कहते हैं कि महर्षि पाणिनि को अव्युत्पत्तिपक्ष ही अभिमत हो ऐसा प्रतीत होता है । इसके बारे में चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि 'आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम्' (पा. ७/१/२) सूत्र के महाभाष्य में इस प्रकार शंका की गई है । इस सूत्र से 'फ' इत्यादि वर्णों के 'आयन्' इत्यादि आदेश होते हैं, वैसे 'शङ्ख, षण्ढ' इत्यादि उणादि प्रत्ययान्त शब्दों के प्रत्यय स्वरूप 'ख-ढ' इत्यादि वर्ण हैं उनका भी इसी सूत्रनिर्दिष्ट आदेश होंगे, किन्तु 'प्रातिपदिकविज्ञानाच्च पाणिनेः सिद्धम्' वार्तिक कहता है कि उणादि प्रत्ययान्त शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानने से ख-ढ इत्यादि वर्णों के आयनेयीनीयियः (पा. ७/१/२) से सूत्रनिर्दिष्ट आदेश नहीं होगें ।

परिभाषेन्दुशेखर में नागेश ने कहा है कि महर्षि पाणिनि ने 'वपुषा, सर्पिषा, यजुषा' इत्यादि-गत शब्दों को छोड़कर अन्य उणादि प्रत्ययान्त शब्दों को अव्युत्पन्न माने हैं ।

इसके बारे में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं 'वपुषा, सर्पिषा' इत्यादिगत उणादि प्रत्ययान्त शब्द के उणादि प्रत्यय सम्बन्धित 'स' में कृतत्व लाकर 'षत्व' की प्राप्ति कराने के लिए उणादि में व्युत्पत्तिपक्ष माना गया है किन्तु यही षत्व 'उणादयो' ५/२/९३ सूत्र के 'बहुलम्' ग्रहण से सिद्ध हो सकता है । वह इस प्रकार :- 'बहूनि कार्याणि लाति बहुलम्' इस व्युत्पत्ति द्वारा अलाक्षणिक कार्य की भी सिद्धि होती है और इस प्रकार 'षत्व' के लिए 'स' में कृतत्व भी लाया जा सकता है । इस प्रकार उनको (पाणिनिको) अव्युत्पत्तिपक्ष स्वीकार्य है ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं)

सिद्धहेम के पश्चात्कालीन सभी परिभाषासंग्रहों में इसी न्याय का स्वीकार किया गया है।

॥१०४॥ शुद्धधातूनामकृत्रिमं रूपम् ॥४७॥

शुद्धधातुओं के स्वरूप अकृत्रिम माने जाते हैं ।

शुद्धधातु अर्थात् धातुपाठ में जिस वर्णानुपूर्वी से पाठ किया गया है, वही वर्णानुपूर्वीयुक्त धातु अकृत्रिम कहा जाता है अर्थात् वह 'कृत' माना जाता नहीं है क्योंकि उसका यही स्वरूप किसी भी शास्त्र या व्याकरण के सूत्र से निष्पन्न नहीं हो सकता है या होता है किन्तु उसी स्वरूप को स्वाभाविक ही माना जाता है । धातु ही शब्द के बीज/उद्भवस्थान स्वरूप होने से अपने 'अकृत्रिम' रूप को धारण करते हैं ।

विभक्ति इत्यादि प्रत्यय भी शास्त्र से निष्पन्न नहीं हैं और शास्त्रकार द्वारा उच्चरित होने से वे भी शुद्ध हैं, तो केवल शुद्ध धातु का रूप ही अकृत्रिम है, उसी भावार्थयुक्त यह न्याय अपर्याप्त है, ऐसी कोई शंका करे तो उसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि विभक्ति इत्यादि के प्रत्यय किसी निश्चित अर्थ में विहित होने से वे कृत्रिम माने जाते है ।

धातु का शुद्ध स्वरूप अकृत्रिम होने से जैसे 'वृक्षेषु' इत्यादि प्रयोग में 'सप्तम्यधिकरणे' २/२/९५ सूत्र से उच्चार करके, 'वृक्ष' शब्द से 'सुप्' प्रत्यय किया है, अतः वह 'कृत' होने से उसी 'स' का 'नाम्यन्तस्थाकवर्गात्....'२/३/१५ से ष होता है । वैसे 'मुसच्' धातु से उणादि का कित् 'अल्' प्रत्यय होने पर 'मुसल' शब्द बनेगा, उसमें 'स' कृत नहीं होने से उसका 'नाम्यन्तस्था....' २/३/१५ से 'ष' नहीं होगा । धातुपाठ भी एक प्रकार के सूत्र ही कहे जा सकते हैं । अतः उसमें कहे गये धातु भी 'कृत' कहे जा सकते हैं, उसका निषेध करने के लिए यह न्याय है । शुद्ध विशेषण के कारण विकारापन्न धातु स्वाभाविक नहीं माना जाता है । उदा. 'षन भक्तौ,' यहाँ 'षः सोऽष्ठ्यै-' २/३/९८ से 'ष' का 'स' होगा, तब यह 'स' कृत माना जायेगा । अतः 'सन्' स्वरूप धातु के 'स' का 'असीषणत्' इत्यादि में 'नाम्यन्तस्था'- २/३/१५ से 'ष' होगा ।

वस्तुतः 'कृत' किसे कहा जाता है ? इसके बारे में विचार करने पर लगता है कि सूत्र द्वारा विधान करके, जो किया जाता है वह 'कृत' कहा जाता है । शुद्ध धातु का उसी प्रकार से किसी भी सूत्र द्वारा विधान नहीं किया गया है । अतः शुद्ध धातु में कृतत्व की शंका ही नहीं है । अतः इस न्याय की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है और शुद्ध धातु का यही स्वरूप स्वाभाविक ही है और उसका ही यह न्याय अनुवाद है ।

यहाँ ऐसी शंका न करनी चाहिए कि इस प्रकार प्रत्येक धातु के अकृत्रिमत्व का स्वीकार करने पर 'षण (षन) भक्तौ' धातु का कृत सकार भी 'अकृत' माना जायेगा तो उसका 'षत्व' नहीं होगा । इसका कारण बताते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि धातु 'कृत' नहीं होने पर भी सकार तो कृत ही है । अतः षत्व की प्रवृत्ति में कोई बाधक नहीं है । यहाँ 'कृतत्व' दो प्रकार का माना जाता है । १. 'स' स्वयं कृत हो वह, और २. कृत में स्थित हो तो भी वह कृत ही माना जाता है । 'षन' (सन) धातु स्वयं अकृत है । अतः उसमें स्थित 'स' कृत में स्थित नहीं है क्योंकि धातु स्वयं अकृत्रिम है

किन्तु 'स' स्वयं अकृत्रिम नहीं है क्योंकि वही 'स' 'षः सोऽष्ट्यै'- २/३/९८ से हुआ है । अतः उसी 'स' का 'नाम्यन्तस्था'- २/३/१५ से 'ष' होने में कोई बाध नहीं आयेगा और 'मुसल' इत्यादि में स्वाभाविक (अकृत) 'स' होने से 'ष' नहीं होगा।

यह न्याय अन्य किसी परम्परा में नहीं है ।

॥१०५॥ क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति, शब्दत्वं च प्रतिपद्यन्ते ॥४८॥

'क्विप्' प्रत्ययान्त शब्द, (जो धातु से निष्पन्न हैं वह) अपने धातुत्व का त्याग नहीं करते हैं, और शब्दत्व (नामत्व) को ग्रहण करते हैं ।

यहाँ 'शब्दत्व' से 'नामत्व' लिया गया है और सामान्यतया 'धातुत्व' से रहित और 'अर्थवत्त्व' से युक्त शब्द 'नाम' कहा जाता है । यहाँ 'क्विप्' का सर्वापहार/पूर्णतः लोप होता है, अतः उपलक्षण से पूर्णतः लोप होनेवाले विच् का भी यहाँ ग्रहण करना है अर्थात् 'विच्' प्रत्ययान्त शब्द भी धातुत्व का त्याग करते नहीं हैं और नामत्व को प्राप्त करते हैं ।

'धातुत्व' शब्द द्वारा सामान्य कथन करने पर भी, 'नामत्व' से युक्त 'धातुत्व' होने से, वही 'धातुत्व' गौण कहा जाता है । अतः 'शब्दत्व' के उपचार से 'वृक्ष' इत्यादि शब्दों की तरह 'नामत्व' भी प्राप्त करते हैं । अतः उसी 'क्विबन्त' और 'विजन्त' नाम से धातुत्व निमित्तक और नामत्त्व निमित्तक कार्य हो सकते हैं । ये दोनों कार्य परस्पर विरुद्ध होने से, एक होने पर, दूसरे का अभाव प्राप्त था, वह दूर करने के लिए यह न्याय है ।

यही बात श्रीलावण्यसूरिजी दूसरी पद्धति से बताते हैं । वे कहते हैं कि 'निरुक्त' के अनुसार 'क्रियाप्रधानमाख्यातं, सत्त्वप्रधानानि नामानि ।' क्रियाप्रधान हो वह 'धातु (आख्यात)' कहा जाता है, और सत्त्वप्रधान हो वह 'नाम' कहा जाता है और इस न्याय के 'धातुत्वं नोज्झन्ति' अंश का अर्थ करते हुए कहते हैं कि क्विबन्त शब्द में धातुत्व अन्तभूर्त रहता है और वही शब्द होने से सत्त्वप्रधान है, अतः 'नामत्व' प्रकट रूप में रहता है । क्विबन्त सत्त्वप्रधान होने से उससे त्यादि प्रत्यय नहीं होते हैं किन्तु त्यादि प्रत्यय को छोड़कर अन्य धातुत्वनिमित्तक कार्य होते हैं ।

उदा० 'नियौ, लुवौ' इत्यादि में क्विबन्त 'नी' और 'लू' शब्द से 'नाम' होने से स्यादि प्रत्यय हुए हैं और धातुत्व होने से 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव्'- २/१/५० से धातुनिमित्तक 'इय्' और 'उव्' आदेश भी होते हैं ।

यहाँ एक शंका यह होती है कि 'नयनं, लवनं' इत्यादि प्रयोग में भी 'इय्, उव्' आदेश होने की प्राप्ति है तथापि वह क्यों न हुआ ? उसका समाधान देते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि 'इयुव्' विधान से, 'नामिनो गुणोऽक्ङिति' ४/३/१ विधान पर है, अतः गुण ही होगा, 'इयुव्' नहीं होगा । वैसे 'नियौ, लुवौ' में भी गुण होने की प्राप्ति है किन्तु 'क्विप्' का स्थानिद्भाव करने पर वह कित् होने से गुण नहीं होगा । इसके सम्बन्ध में सिद्धहेम बृहद्वृत्ति में बताये हुए अभिप्राय के साथ

श्रीहेमहंसगणि सम्मत हो, ऐसा नहीं लगता है। इसके बारे में वे कहते हैं कि "नामिनो गुणोऽक्ङिति ४/३/१ सूत्र की वृत्ति में बताया है कि 'क्विबन्त' शब्द में धातुत्व गौण स्वरूप में रहता होने से गुण नहीं होता है", किन्तु इसका भावार्थ/तात्पर्य/अभिप्राय क्या है, वह स्पष्ट रूप में समझ में नहीं आता है क्योंकि 'विच्' प्रत्ययान्त शब्द में धातुत्व गौण होने पर भी गुण हुआ, दिखायी देता है। उदा. 'हिनोति इति विच् हेः हयौ, हयः' इत्यादि में धातुत्व गौण होने पर भी गुण होता है और शब्दत्व/नामत्व होने से स्यादि प्रत्यय हुआ है।

श्रीहेमहंसगणि की यह बात उचित नहीं है।

वस्तुतः 'नामिनो गुणोऽक्ङिति' ४/३/१ से धातु के गुण का विधान किया गया है, और वह भी प्रत्यय पर में होने पर। यहाँ प्रत्यासत्ति से मुख्य धातुत्व लिया जाता है किन्तु 'नियौ, लुवौ' इत्यादि स्थान पर धातुत्व गौण होने से गुण नहीं होगा ऐसा कहना उचित है। 'नामिनो गुणो'- ४/३/१ सूत्र की बृहद्वृत्ति में 'नीभ्याम्, लूभ्याम्' स्थान पर धातु के गौणत्व का आश्रय करके गुण की निवृत्ति की गई है, अतः 'क्विप्' का स्थानिवद् भाव करके 'क्विप्' के कित्व से गुण नहीं होता है, ऐसे भावार्थयुक्त समाधान उचित नहीं है क्योंकि 'नामिनो'- ४/३/१ सूत्र में 'अक्ङिति' का अर्थ 'कित्, ङित् को छोड़कर अन्य प्रत्यय पर में हो तो,' ऐसा होने से, जिस प्रत्यय के कारण, धातु के स्वर का गुण होनेवाला है, वही प्रत्यय 'कित् ङित्' से भिन्न होना आवश्यक है, किन्तु 'नियौ' में 'नी' से पर आया हुआ 'औ' 'कित्, ङित्' नहीं है और 'क्विप्' के स्थानिवद्भाव से भी 'औ' में 'कित्त्व ङित्त्व' नहीं आता है क्योंकि वह उसका धर्म नहीं है। यदि यहाँ 'प्रसज्यप्रतिषेध' अर्थात् 'कित्, ङित्' से भिन्न अर्थ करने पर, 'क्विप्' के स्थानिवद्भाव से किसी प्रकार से गुण का वर्जन हो सकता है किन्तु यहाँ प्रसज्यप्रतिषेध नहीं लिया गया है क्योंकि 'पर्युदास' का स्वीकार करने में लाघव है। अतः 'नीभ्याम्' इत्यादि में धातु से क्विप् प्रत्यय होकर, 'नाम' संज्ञा होने के बाद ही 'भ्याम्' प्रत्यय आयेगा तब गुण का प्रश्न उपस्थित होता है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं। उसी समय 'नी' में धातुत्व गौण होने से गुण नहीं हो सकता है। जबकि 'हेः हयौ, हयः' में 'विच्' प्रत्यय होने पर, तुरत ही मुख्यधातुत्वनिमित्तक गुण हो ही जायेगा, बाद में उसे 'नाम' संज्ञा होगी अर्थात् गुणयुक्त ही 'नाम' होगा। जबकि 'नी' शब्द में 'क्विप्' कित् होने से ही मुख्यधातुत्वनिमित्तक गुण नहीं होगा।

अब 'नीभ्याम्' इत्यादि प्रयोग में, गुण के निषेध के लिए या तो 'क्विप्' का स्थानिद्भाव किया जाय या तो गौण धातुत्व माना जाय। यहाँ श्रीहेमचन्द्राचार्यजी (शास्त्रकार)ने गौणत्व से गुण का निषेध किया है, अतः स्थानिवद्भाव का विकल्प उचित नहीं है।

इस न्याय का ज्ञापक 'स्यादौ वः' २/१/५७ सूत्र है। वह इस प्रकार है। 'धातोरिवर्णोवर्ण'- २/१/५० से धातु सम्बन्धित 'इ वर्ण' और 'उ वर्ण' का 'इय्' और 'उव्' आदेश होता है, और इससे होनेवाले 'उव्' आदेश का बाध करने के लिए 'स्यादौ वः' २/१/५७ सूत्र बनाया है। इसी सूत्र से 'उ' का 'उव्' नहीं होगा किन्तु 'व' ही होगा और यही वत्व स्यादि प्रत्यय अनन्तर पर में होने पर होता

है । यदि मूल धातु के उ वर्ण का 'व' हो तो स्यादि प्रत्यय अनन्तर नहीं आ सकता है, किन्तु त्यादि ही आता है, किन्तु क्विबन्त धातु होने पर उसमें 'नामत्व' होने से अनन्तर पर में स्यादि प्रत्यय आता है । यदि यह न्याय न होता तो 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव्'-२/१/५० में 'धातोः' शब्द होने से नाम सम्बन्धित उवर्ण का अव्यवहित स्वरादि स्यादि प्रत्यय पर में होने पर 'उव्' होने की कोई संभावना ही नहीं है, तो उसका बाध करने के लिए 'स्यादौ वः' २/१/५७ सूत्र न करना चाहिए, तथापि किया है, उससे ज्ञापन होता है कि जब धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'नाम' बनेगा तब वह अपने धातुत्व का त्याग नहीं करता है और शब्दत्व को प्राप्त करता है । अतः 'स्वरादि स्यादि' प्रत्यय पर में होने पर 'धातोरिवर्णो'- २/१/५० से 'उव्' आदेश होगा, उसका बाध करने के लिए 'स्यादौ वः' २/१/५७ सूत्र करना जरूरी है । परिणामतः 'वस्विच्छति इति क्यनि, क्विपि,' उसके 'क्विप्' का लोप होने पर 'वसू' शब्द होगा । उससे स्वरादि स्यादि 'औ' इत्यादि प्रत्यय पर में होने पर 'स्यादौ वः' २/१/५७ से 'ऊ' का 'व्' होकर 'वस्वौ, वस्वः' इत्यादि रूप होंगे ।

श्रीहेमहंसगणि ने इस न्याय की अनित्यता बताते हुए कहा है कि जहाँ धातु से क्विप् कृत्प्रत्यय लगाकर 'नाम' बनाया जाता है वहाँ ही इस न्याय की प्रवृत्ति होती है किन्तु यदि 'नाम' से 'कर्तुः क्विप्'- ३/४/२५ से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'नाम धातु' बना हो वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः वहाँ त्यादि प्रत्यय ही होते हैं किन्तु स्यादि प्रत्यय नहीं होते हैं ।

किन्तु यही अनित्यता उचित प्रतीत नहीं होती है क्योंकि इस न्याय का स्वरूप ही ऐसा है कि जब 'नाम' से 'क्विप्' प्रत्यय होकर धातुत्व प्राप्त होता है तब इस न्याय की प्रवृत्ति का कोई अवकाश ही नहीं है । इस न्याय का विषय धातु के नामत्वप्रयोजक 'क्विप्' है किन्तु जो धातुत्वप्रयोजक 'क्विप्' है, वह इस न्याय के क्षेत्र से बाहर है । अतः 'राजानति' इत्यादि प्रयोग में नामत्वनिमित्तक कोई कार्य नहीं होता है और नामनिमित्तक स्यादि प्रत्यय भी नहीं होता है । और 'क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति' कहा, उससे ज्ञापित होता है कि जहाँ पहले धातुत्व था, किन्तु वर्तमान में क्विप् प्रत्यय आने से नामत्व की प्राप्ति के साथ, उसके धातुत्व के त्याग की संभावना है, उसको यह न्याय दूर करता है । अतः उसी शब्द से त्यादि प्रत्यय को छोड़कर धातुनिमित्तक कार्य और स्यादि प्रत्यय व अन्य सर्व नामनिमित्तक कार्य होते हैं । जबकि 'राजानति' में पहले 'नामत्व' था और 'क्विप्' प्रत्यय होने के बाद धातुत्व आया है । अतः 'राजानति' प्रयोग इस न्याय के क्षेत्र से बाहर है । उसी कारण से ही इस प्रयोग के लिए इस न्याय के अनित्यत्व की कल्पना न करनी चाहिए ।

क्विबन्त नाम में धातु का स्वरूप अविकृत रहता है । क्वचित् 'त्' इत्यादि का आगम होता है, किन्तु वे आगम होनेसे 'आगमा यद्गुणीभूता'- न्याय से उसको धातु का अवयव मान लेने पर, उसी क्विबन्त को धातु के रूप में ग्रहण किया जा सकता है और 'सत्त्वप्रधानवाचि' होने से 'नाम' संज्ञा होती है । अतः नामनिमित्तक स्यादि प्रत्यय होता है किन्तु धातुनिमित्तक त्यादि प्रत्यय नहीं होता है । यहाँ किसी को ऐसी शंका हो सकती है कि 'छिद्, भिद्' इत्यादि क्विबन्त को 'अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम' १/१/२७ से 'नाम' संज्ञा नहीं हो सकेगी क्योंकि उसमें धातु का

वर्जन किया गया है । उसका प्रत्युत्तर देते हुए शास्त्रकार ने बृहन्न्यास में कहा है कि 'अधातु' में 'पर्युदास नञ्' लेने से तत्सदृश का ग्रहण होगा और जहाँ पर्युदास नञ् हो, वहाँ विधि-निषेध में से विधि ही बलवान् होने से, उसका ही ग्रहण हो सकता है । अतः निषेध की प्रवृत्ति नहीं होगी और नाम संज्ञा निःसंकोच होगी ।

अन्य वैयाकरण, क्विबन्त में धातुत्व का ही स्वीकार करते हैं । अतः वहाँ धातुभिन्नत्व का संभव न होने से, कृदन्त को 'नाम' संज्ञा करने के लिए 'कृत्तद्धितसमासाश्च' स्वरूप स्वतंत्र सूत्र बनाया है । सिद्धहेम की परम्परा में क्विबन्त (कृदन्त) सत्त्ववाचि होने से धातुभिन्न है और अविकृत होने से तत्सदृश भी है, ऐसा स्वीकार किया गया है ।

॥१०६॥ उभयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशभाक् ॥४९॥

पूर्व और पर, दोनों स्थानि के स्थान पर हुए एक ही आदेश, दो में से किसी एक के स्थान पर हुआ माना जाता है ।

उदा. पुत्र, माता और पिता, दोनों का है तथापि एकसाथ किसी एक के पुत्र स्वरूप में व्यवहार किया जाता है । दोनों स्थानि सम्बन्धित कार्य की एकसाथ प्राप्ति हो तब दो में से किसी एक ही स्थानि के स्वरूप में उसका व्यपदेश हो सकता है ऐसा यह न्याय कहता है (अन्यतर का अर्थ करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं "अन्यतर अर्थात् एकस्मिन् काले कस्यचिदेकस्यैव व्यपदेशं लभते नोभयोः ।")

उदा. 'आङ्' से पर 'ईषि गत्यादौ' धातु हो तो, आ + ईष्यः= एष्यः, बाद में 'प्र' के योग में 'आङ्' और 'ई'-दोनों के स्थान में हुए 'ए' को जब 'आङ्' का आदेश माना जायेगा तब 'ओमाङि' १/२/१८ से 'प्र' के 'अ' का लोप होकर 'प्रेष्यः' होगा । जबकि धातु के आदेश के रूप में 'ए' को मानने पर 'उपसर्गस्यानिणेधेदोति' १/२/१९ से 'प्र' के 'अ' का लोप होने की प्राप्ति है किन्तु 'उपसर्गस्या-' १/२/१९ का बाध करके विशेषविधिस्वरूप 'प्रस्यैषैष्योढोढ्यूहे स्वरेण' १/२/१४ से ऐत्व होकर 'प्रैष्यः' रूप होगा ।

इस न्याय का ज्ञापन 'गडदबादेः'- २/१/७७ सूत्रगत 'प्रत्यये' शब्द से होता है । इसी सूत्र में प्रत्यय शब्द न रखा होता, तो भी 'प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव' न्याय से प्रत्यय का ही ग्रहण होनेवाला था, तथापि 'प्रत्यये' शब्द रखा, वह इस न्याय का इस प्रकार ज्ञापन करता है । 'धा' धातु से 'वस्' प्रत्यय होने पर धातु का द्वित्व होगा, बाद में पूर्व 'धा' में स्थित 'आ' का ह्रस्व होगा और 'द्वितीयतुर्ययोः पूर्वौ' ४/१/४२ से 'द' होने पर 'दधा + वस्' होगा, बाद में 'श्नश्चातः' ४/२/९६ से धातु के 'आ' का लोप होकर 'दध्वस्' होगा, फिर 'ध्' का 'अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने' १/३/३२ से द्वित्व करने पर 'दध्ध्वस्' होगा । अब यहाँ 'दध्ध्वस्' में स्थित 'ध्व' प्रकृति प्रत्यय दोनों के स्थान में हुआ है । अतः उसमें प्रत्ययत्व आयेगा, तो द्वित्वभूत 'ध्' में से प्रथम 'ध्' के कारण धातु में चतुर्थान्तत्व आयेगा, तो 'गडदबादेः'- २/१/७७ से आदि 'द' का 'ध' करना पडेगा, तो 'धद्ध्वः' ऐसा अनिष्ट रूप होगा, वह न हो, उसके लिए 'गडदबादेः'- २/१/७७ सूत्र में 'प्रत्यय' रखा है । उससे किसी भी न्याय की अपेक्षा रहित - जो स्वाभाविक प्रत्यय है, वैसा प्रत्यय पर में आया हो, तो ही

आदि में स्थित 'गडदब' को चतुर्थत्व की प्राप्ति होती है ।

यहाँ किसी को शंका हो सकती है कि 'दध् ध्वस्' में प्रथम 'ध्' का 'तृतीयस्तृतीयचतुर्थे'- १/३/४९ से द् होने के बाद 'दध्' चतुर्थान्त कैसे माना जायेगा ? अर्थात् चतुर्थान्त नहीं माना जायेगा और तो आदि 'द्' का 'ध्' कैसे होगा ? उसका उत्तर देते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि 'तृतीयस्तृतीयचतुर्थे'- १/३/४९ सूत्र में 'अनु' का अधिकार होने से, जब तक आदि 'द्' का 'ध्' नहीं होगा तब तक द्वित्वभूत 'ध्' में से प्रथम 'ध्' का 'द्' नहीं होगा ।

यदि यह न्याय न होता तो 'ध्व' को किसी भी प्रकार से प्रत्ययत्व की प्राप्ति ही नहीं थी, तो 'दद्ध्वः' इत्यादि प्रयोग में, वैसे 'ध्व' के कारण, आदि 'द' का चतुर्थत्व का प्रसंग ही पैदा नहीं होता था, तो यहाँ 'प्रत्यये' शब्द के प्रयोग से किसी भी न्याय की अपेक्षारहित ही प्रत्यय लेना, ऐसा ज्ञापन क्यों करें ? केवल इस न्याय के कारण ही 'दद्ध्वः इत्यादि प्रयोग में 'ध्व' में प्रत्ययत्व आता होने से, ऐसे प्रयोग में आदि 'द' का चतुर्थत्व होने का प्रसंग उपस्थित होता है, ऐसा जानकर, उसका निषेध करने के लिए 'गडदबादेः'- २/१/७७ सूत्र में 'प्रत्यये' का ग्रहण किया है और इस प्रकार प्रस्तुत ज्ञप्तिविधान सफल है ।

यह न्याय अनित्य है, अतः 'राजानमाख्यद् अरराजत्' प्रयोग में 'राजन्' के अन्त्यस्वरादि समुदाय रूप 'अन्' का लोप-स्वरव्यञ्जन-उभय के स्थान में हुआ है तथापि वह स्वर के आदेश रूप में ही उसका व्यपदेश किया है । किन्तु व्यञ्जन के आदेश के रूप में व्यपदेश नहीं किया है । यदि व्यञ्जन के आदेश के रूप में व्यपदेश किया होता तो 'राज् णि' धातु 'असमानलोपि' हो जाने से सन्वद्भाव इत्यादि होता तो 'अरीरजत्' जैसा अनिष्ट रूप होता, किन्तु अन्-लोप को व्यंजन का आदेश माना नहीं है ।

इस न्याय के उदाहरण के बारे में विचार करने पर लगता है कि श्रीहेमहंसगणि ने कहा कि 'प्रैष्यः' रूप होता है और 'प्रस्यैषैष्योढोढ्यूहे स्वरेण' १/२/१४ सूत्र, 'ओमाङि' १/२/१८ और 'उपसर्गस्या'- १/२/१९ का बाध करता है । वह उचित प्रतीत नहीं होता है । बृहद्वृत्ति में शास्त्रकार आचार्यश्री इसके बारे में कहते हैं कि 'प्रेषः' और 'प्रेष्यः' रूप कैसे होते हैं ? तो वे कहते हैं कि 'प्र' के बाद 'ईषः' या 'ईष्यः' आने पर 'प्रेषः' प्रेष्यः' रूप होते हैं, इसके अलावा 'आ + ईष्यः = एष्यः' रूप 'प्र' के बाद में आया हो तो भी 'ओमाङि' १/२/१८ से 'अ' वर्ण का लोप होकर 'प्रेष्यः' रूप ही होता है और 'यस्मिन् प्राप्ते यो विधिरारभ्यते........' न्याय से केवल 'उपसर्गस्यानिणे'- १/२/१९ का ही बाध होता है, किन्तु 'ओमाङि' १/२/१८ का बाध नहीं होता है । अतः 'प्रेष्यः' रूप ही होता है ।

इसी बात का संदर्भ देते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि जब 'आ + ईष्यः = एष्यः' होगा, तब, यदि उसे धातु का आदेश मानेंगे तो, 'उपसर्गस्या- १/२/१९ का, 'प्रस्यैषैष्योढोढ्यूहे'- १/२/१४ से बाध होता है, किन्तु 'ओमाङि' १/२/१८ का बाध नहीं होता है । अतः 'प्रेष्यः' रूप ही होगा, किन्तु 'प्रैष्यः' रूप नहीं होगा ।

किन्तु यह बात उचित नहीं है क्योंकि यदि 'एष्यः' में धातु का आदेश मानने पर बृहद्वृत्ति के कथनानुसार 'उपसर्गस्या'- १/२/१९ का 'प्रस्यैषैष्यो'- १/२/१४ से अवश्य बाध होता है और 'प्रैष्यः' रूप ही होता है, और उसी समय 'ओमाङि' १/२/१८ की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि 'ओमाङि' १/२/१८ सूत्र में आङ् के आदेश के स्वरूप में 'ए' लेना चाहिए, जबकि यहाँ धातु के आदेश के स्वरूप में व्यपदेश किया गया है । यदि 'आङ्' के आदेश के स्वरूप में 'एष्यः' के 'ए' का व्यपदेश करेंगे तो 'उपसर्गस्या'- १/२/१९ सूत्र की प्रवृत्ति का अवकाश ही नहीं है । अतः 'प्रस्यैषैष्यो'- १/२/१४ से, उसका बाध करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है और 'ओमाङि' १/२/१८ सूत्र की निःसंकोच प्रवृत्ति होकर 'प्रेष्यः' रूप सिद्ध हो सकता है, जो बृहद्वृत्ति के कथन से अनुकूल है ।

यद्यपि श्रीलावण्यसूरिजी ने इस न्याय की 'तरंग' नामक टीका में विशेष विवेचन करके, ऐसा प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया है कि 'प्रेष्यः' और 'प्रेषः' रूप ही उचित है, जबकि 'प्रैषः' और 'प्रैष्यः' रूप किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकते हैं अतः वे असाधु हैं । किन्तु यदि ये रूप असाधु ही होते तो, शास्त्रकार 'प्रस्यैषैस्यो'- १/२/१४ सूत्र की रचना ही न करते । इसी सूत्र की रचना ही, इन रूपों को साधु सिद्ध करती है और इसी 'न्यायसंग्रह' का अन्तिम न्याय भी इस बात को ही समर्थित करता है । वह न्याय कहता है कि 'शिष्टनाम-निष्पत्ति-प्रयोग-धातूनां सौत्रत्वाल्लक्ष्यानुरोधाद्वा सिद्धिः' ॥१४१॥ अर्थात् इन 'प्रैषः' और 'प्रैष्यः' रूपों की असाधुता को सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न न करना चाहिए, ऐसी हमारी/अपनी मान्यता है तथापि यदि श्रीलावण्यसूरिजी की बात का स्वीकार करना हो तो 'प्र + एष = प्रैषः' और 'प्र + एष्यः = प्रैष्यः' प्रयोगगत 'एषः' और 'एष्यः' को, 'आ + ईषः और 'आ + ईष्यः से निष्पन्न 'एषः' और 'एष्यः' से भिन्न मानना चाहिए, तो, इस चर्चा की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है । क्योंकि ऐसा स्वीकार करने से 'प्रस्यैषैष्यो'- १/२/१४ और 'ओमाङि' १/२/१८ का कार्यक्षेत्र भिन्न हो जाता है ।

इस न्याय के ज्ञापक सम्बन्धित उदाहरण 'दद्ध्वः' की भी चर्चा करनी चाहिए । इसके बारे में लघुन्यासकार 'गडदबादेः-' २/१/७७ के 'प्रत्यये' शब्द को लेकर कहते हैं कि 'प्रत्यये' कहने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि 'प्रत्ययाप्रत्यययोः'- न्याय से 'प्रत्यय' का ही ग्रहण होनेवाला है । इसका उत्तर देते हुए, वे कहते हैं कि आपकी बात सही है किन्तु 'दद्ध्वः दद्ध्वहे' इत्यादि प्रयोग में 'ध्व' प्रकृति और प्रत्यय दोनों के स्थान में हुआ है । अतः जब उसे प्रत्यय के रूप में मानेंगे तब आदि में स्थित 'द' का 'ध' हो जायेगा, जो इष्ट नहीं है, वह न हो, इसके लिए 'गडदबादेः'- २/१/७७ सूत्र में 'प्रत्यये' शब्द रखा है । इससे न्यायनिरपेक्ष प्रत्यय का ही यहाँ ग्रहण होगा । अतः 'उभयस्थाननिष्पन्नो'- न्याय की अपेक्षायुक्त अन्य 'ध्व' आदि का ग्रहण नहीं होता है । इस उल्लेख/विधान के आधार पर 'गडदबादेः'- २/१/७७ सूत्रगत 'प्रत्यये' शब्द को, इस न्याय का ज्ञापक माना गया हो, ऐसा लगता है ।

किन्तु इसके बारे में विशेष विचार करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इस प्रकार

'प्रत्यये' शब्द में, इस न्याय का ज्ञापकत्व बताना आवश्यक नहीं है । यह बात सिर्फ इतना ही सिद्ध करती है कि लोकसिद्ध इस न्याय का प्रयोजनवश होकर, व्याकरणशास्त्र में भी आश्रय किया जाता है ।

प्रस्तुत सूत्र में 'प्रत्यये' पद की व्यर्थता किस प्रकार है ? इसके बारे में वे दो विकल्प बताते हैं, बाद में दोनों में दोष बताकर 'प्रत्यये' शब्द का सार्थक्य प्रतिपादित करते हैं ।

दूसरी पद्धति से विचार किया जाय तो, वस्तुतः 'दद्ध्वः' के 'ध्व' में 'उभयस्थाननिष्पन्नत्व' आता ही नहीं है क्योंकि यही 'ध्व' प्रकृति और प्रत्यय दोनों के स्थान में या प्रकृति के अवयव और प्रत्यय के अवयव, दोनों के स्थान में हुआ आदेश नहीं है । यही 'ध्व' तो केवल धातु के धकार और 'वस्' प्रत्यय के आद्य 'व' के संयोग से ही बना है । अतः इस न्याय के ज्ञापक के उदाहरण में उसको बताना उचित नहीं लगता है । तो 'गडदबादेः'- २/१/७७ सूत्रगत 'प्रत्यये' शब्द का इस प्रयोग में सार्थक्य क्या है ? उसके उत्तर में कहते हैं कि इस 'ध्व' में 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति मल्लग्रामादिवत्' न्याय से 'ध्व' में प्रत्यय के भाग/खण्ड स्वरूप 'व' के प्राधान्य की विवक्षा करने पर, उसी 'ध्व' में प्रत्यय का व्यपदेश हो सकता है, और इस प्रकार उत्पन्न प्रत्ययत्व के कारण, आद्य 'गडदब' का चतुर्थ व्यंजन न हो, इसके लिए 'गडदबादेः'- २/१/७७ सूत्र में 'प्रत्यये' शब्द रखा है, वह सार्थक है ।

दूसरी यह बात विशेष रूप से बतानी आवश्यक है कि श्रीहेमहंसगणि और लघुन्यासकार ने इस रूप की सिद्धि के लिए 'प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव' न्याय की प्रवृत्ति की है, वह भी उचित नहीं है । यहाँ केवल 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' न्याय से ही यही शंका पैदा हो सकती है । वह इस प्रकार है - यहाँ 'गडदबादेः'- २/१/७७ सूत्र में 'ध्व' शब्द रखा है । यदि यही 'ध्व' प्रत्यय स्वरूप और प्रत्यय से भिन्न अन्य अर्थवान् 'ध्व', दोनों की प्राप्ति हो वहाँ ही इस 'प्रत्ययाप्रत्यययोः'- न्याय से व्यवस्था होगी । जबकि यहाँ प्रत्यय से भिन्न/अन्य 'ध्व', 'दद्ध्वः दद्ध्वहे' में अर्थवान् नहीं है । और ऐसा अर्थवान् अन्य 'ध्व' कहीं भी प्राप्त नहीं है, अतः 'प्रत्ययाप्रत्यययोः' न्याय से यहाँ व्यवस्था नहीं हो सकेगी ।

तो 'गडदबादेः'- २/१/७७ सूत्र में 'प्रत्यये' शब्द का ग्रहण क्यों किया ? उसका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि केवल 'अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य' न्याय के कारण ही 'प्रत्यये' शब्द रखा है क्योंकि 'दद्ध्वः' का 'ध्व' अनर्थक है ।

किन्तु यह बात भी उचित नहीं है, उसके दो कारण हैं १. 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' न्यायानुसार कोई भी पूर्ण शब्द या प्रत्यय ही अर्थवान् होता है, उसका एक खंड/अंश अर्थवान् नहीं होता है । यहाँ 'दद्ध्वः' में स्थित 'ध्व' प्रत्यय का एक अंश नहीं है, किन्तु 'वस्' प्रत्यय में धातु का 'ध्' सम्मिलित हुआ है और 'ध्व' स्वरूप बना है । इस प्रकार यहाँ 'ध्व' अर्थवान् नहीं है तथापि 'अर्थवद्ग्रहणे'- न्याय में उक्त 'अनर्थक' की व्याख्यानुसार भी नहीं है । अतः 'अर्थवद्ग्रहणे'- न्याय से यहाँ शंका पैदा नहीं हो सकती है । २. दूसरी बात यह कि 'गडदबादेः'- २/१/७७ सूत्रगत 'ध्व' प्रत्यय है ही नहीं । वह तो केवल प्रत्यय का एक अंश ही है । वस्तुतः 'ध्वम्, ध्वे' ही प्रत्यय है ।

अतः 'ध्व' स्वयं ही अनर्थक होने से यहाँ 'अर्थवद्ग्रहणे'- न्याय से शंका पैदा नहीं हो सकती है ।

संक्षेप में यहाँ 'ध्व' स्वरूप वर्णानुपूर्वीयुक्त वर्णसमूह ही लिया गया है । ऐसा वर्णसमूह 'दद्ध्वः' दद्ध्वहे' में भी है । अतः वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति न हो, इसके लिए ही सूत्र में 'प्रत्यये' शब्द रखा है । इस प्रकार वह 'प्रत्यये' शब्द सार्थक है । और केवल 'ध्व' का प्रत्ययत्व अप्रसिद्ध ही है । अतः 'प्रत्यये' शब्द रखने पर भी सूत्र का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता है, ऐसा यहाँ कहा जा सकता है, किन्तु 'प्रत्यये' पद का अर्थ लक्षणा से "प्रत्यय सम्बन्धित 'ध्व' शब्द पर में हो तो", ऐसा करने से कोई दोष पैदा नहीं होता है ।

इस प्रकार 'प्रत्यये' ग्रहण सार्थक ही है, किन्तु अन्य किसी भी प्रकार से व्यर्थ नहीं बन पाता है । अतः वह इस न्याय का ज्ञापक नहीं बन सकता है, ऐसी अपनी मान्यता है । विद्वज्जन इसका उचित-निर्णय करें, ऐसी विज्ञप्ति ।

इस न्याय की अनित्यता का श्रीलावण्यसूरिजी स्वीकार नहीं करते हैं । वे कहते हैं कि इस न्याय की अप्रवृत्ति लक्ष्यानुसार होती है, अतः जहाँ उसकी आवश्यकता नहीं है, वहाँ उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी और वस्तुतः 'नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः' न्याय से ही यहाँ 'अन्-लोप' को व्यंजन के आदेश के रूप में मानने के लिए इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः इसके लिए इस न्याय को अनित्य मानना उचित नहीं है ।

यह न्याय अन्य किसी परम्परा में नहीं है ।

॥१०७॥ अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायमपि विशिनष्टि चेत्तं समुदायं सोऽवयवो न व्यभिचरति ॥५०॥

अवयव में किया हुआ चिह्न समुदाय को भी विशेषित करता है । यदि वह अवयव, उसी समुदाय के साथ व्यभिचरित न हो अर्थात् वह अवयव, उसी समुदाय को छोड़कर अकेला न रहता हो ।

अप्राप्त कार्य की प्राप्ति के लिए यह न्याय है । उदा. 'कुस्मिण् कुस्मयने' । यह धातु चुरादि होने से 'चुरादिभ्यो णिच्' ३/४/१७ से 'णिच्' प्रत्यय होगा । अब 'कुस्मिण्' पाठ में धातु इदित् है, अतः आत्मनेपद करना है, किन्तु णिजन्त धातु में इदित्त्व नहीं है तथापि उसके अवयव स्वरूप 'कुस्म्' में इदित्त्व है और 'कुस्म्' अवयव णिजन्त धातु को छोड़कर नहीं रहता है, अतः यह इदित्त्व, णिजन्त कुस्म् धातु में है, ऐसा इस न्याय से माना जाता है और णिजन्त कुस्म् धातु से आत्मनेपद होता है । वैसे 'चित्रङ्' शब्द आश्चर्य अर्थ में 'ङित्' है । यह ङित्त्व, 'चित्रङ्' में ही है तथापि जब 'नमोऽवरिवश्चित्रङो'- ३/४/३७ से 'क्यन्' प्रत्यय होकर नामधातु बनेगा तब समुदाय स्वरूप 'चित्रीय' से, 'चित्रङ्' के ङित्त्व के आधार पर आत्मनेपद होगा ।

'महींङ् पूजायाम्' से 'कण्ड्वादि' होने से 'धातोः कण्ड्वादेर्यक्' ३/४/८ से 'यक्' प्रत्यय होने पर, 'महीयते' में भी , 'महींङ्' के ङित्व से आत्मनेपद होगा और ये सब धातु अपने समुदाय के साथ व्यभिचरित नहीं हैं अर्थात् समुदाय में ही रहते हैं और समुदाय को छोड़कर अकेले नहीं रहते हैं ।

'कुस्म्, चित्रङ्' और 'महीङ्' धातु से अनुक्रम से जब यथासंभव 'णिच्', 'क्यन्' और 'यक्' होने के बाद, प्रेरक प्रयोग में णिग् प्रत्यय होने पर, वे णिगन्त धातुओं को इदित्त्व या ङित्त्व विशेषित नहीं करेंगे क्योंकि णिगन्त को छोड़कर, इन धातुओं का प्रयोग होता है, अतः केवल आत्मनेपद ही नहीं होगा किन्तु परस्मैपद भी होगा क्योंकि 'णिग्' में ग कार उभयपद के लिए है । अतः 'कुस्मयति, चित्रीययति महीययति' इत्यादि में परस्मैपद हुआ है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'कुस्मिण्' इत्यादि इदित् या ङित् किये हैं वह है । यह न्याय न होता तो आत्मनेपद नहीं हो सकता और 'इ' तथा 'ङ्' अनुबन्ध निष्फल होने से न करने चाहिए, तथापि किये गये हैं, वह इस न्याय का ज्ञापन करता है ।

इस न्याय की अनित्यता प्रतीत नहीं होती है ।

पाणिनीय आदि अन्य व्याकरणों में आये हुए 'अवयवेऽचरितार्थानुबन्धाः समुदायेषु उपकारका भवन्ति' न्याय जैसा ही यह न्याय है और पूर्ण समुदाय के बजाय, उसी समुदाय के एक अवयव में किया गया अनुबंध या लिङ्ग ही इस न्याय का ज्ञापक है ।

शाकटायन, व्याडि के परिभाषासूचन में "समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दाः अवयवेष्वपि वर्तन्ते ॥८५॥" परिभाषा है किन्तु इसका अर्थ सिद्धहेम के इस न्याय से विरुद्ध है । "अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी" न्याय व्याडि के परिभाषापाठ और पुरुषोत्तमदेव की बृहत्परिभाषावृत्ति में है किन्तु इसका भी इस न्याय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।

॥ १०८॥ येन धातुना युक्ता प्रादयस्तं प्रत्येवोपसर्गसंज्ञा ॥ ५१॥

'प्र' आदि शब्द, जिस धातु के अर्थ में वृद्धि या परिवर्तन या अर्थ को मर्यादित करते हों या जिस धातु के अर्थ को विशेषित करते हों या अर्थ का द्योतन करते हों उसी धातु के प्रति, उन्हीं प्रादि को 'उपसर्ग' संज्ञा होती है ।

अन्य धातु प्रति उन्हीं 'प्रादि' को उपसर्ग संज्ञा नहीं होती है, अतः उन्हीं प्रादि को उपसर्गनिमित्तक कोई कार्य नहीं होता है ।

उदा. 'प्रगता ऋच्छका यस्मात् स प्रर्च्छको देशः' इत्यादि प्रयोग में 'प्र' 'गम्' धातु से सम्बन्धित होने से 'गम्' प्रति ही उसकी 'उपसर्ग' संज्ञा होगी किन्तु 'ऋच्छ' प्रति उपसर्गसंज्ञा नहीं होगी । अतः 'प्रर्च्छको देशः' में 'प्र' के 'अ' वर्ण का 'ऋत्यारुपसर्गस्य' १/२/९ से 'आर्' नहीं होगा । इसका तात्पर्य इस प्रकार है । 'ऋच्छक' शब्द में प्रकृति और प्रत्यय, दो खण्ड हैं । उसमें 'प्रगता ऋच्छका' वाक्य में 'गतार्थ' का अन्तर्भाव करके 'प्र' द्वारा 'णक' प्रत्यय के अर्थस्वरूप कर्ता को ही विशेषित किया जाता है किन्तु 'ऋच्छ' धातु का अर्थ किसी भी प्रकार से विशेषित नहीं होता है ।

अतः 'प्र' का 'ऋच्छ' धातु के साथ सम्बन्ध न होने से उसको, 'ऋच्छ' के प्रति उपसर्गत्व प्राप्त नहीं होगा । अतः 'आर्' नहीं होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक 'ऋत्यारुपसर्गस्य' १/२/९ सूत्रगत 'उपसर्ग' शब्द है । यदि यह न्याय न होता तो 'प्रार्च्छति' इत्यादि प्रयोग की तरह 'प्रर्च्छको देशः' इत्यादि में भी 'आर्' की प्राप्ति होती और यदि वह इष्ट होता तो लाघव के लिए 'प्रादेः' निर्देश किया जाता, जिससे उपसर्ग और उपसर्गसंज्ञारहित-चादिगणपठित- 'प्रादि' शब्दों के अवर्ण का ऋदादि धातु पर में आने पर 'आर्' सिद्ध हो जाता, ऐसा होने पर भी 'उपसर्गस्य' स्वरूप गुरुनिर्देश किया वह, इस न्याय से 'प्रर्च्छको देशः' इत्यादि प्रयोग में 'आर्' का निषेध करने के लिए ही है ।

यह न्याय नित्य नहीं है, क्यों कि अगला न्याय उसे अनित्य बनाता है ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय को लोकसिद्धन्याय मानते हैं । जिस धातु से युक्त 'प्रादि' हैं उसी धातु के प्रति ही उसको 'उपसर्ग' संज्ञा प्राप्त होती है, जैसे पिता-पुत्र का सम्बन्ध । पिता का उसके पुत्र के लिए ही पितृत्व सम्बन्ध होता है, और उसी पुत्र का अपने पिता के प्रति पुत्रत्व सम्बन्ध होता है ।

'प्र + ऋच्छक' स्थान में 'ऋत्यारुपसर्गस्य' १/२/९ सूत्र की प्राप्ति ही नहीं है क्योंकि प्रस्तुत सूत्र, उपसर्ग से पर आये हुए 'ऋ' का 'आर्' करता है । यहाँ उपसर्ग संज्ञा करनेवाला 'धातोः पूजार्थस्वति..... प्रादिरुपसर्गः प्राक् च' ३/१/१ सूत्र से 'प्र' को 'उपसर्ग 'संज्ञा नहीं होती है क्योंकि इसी सूत्र के अनुसार धातु से पूर्व आये हुए 'प्रादि' को ही उपसर्ग संज्ञा होती है । यहाँ 'ऋच्छकः' धातु नहीं है । प्रस्तुत शब्द 'ऋच्छ' धातु से निष्पन्न होने पर भी वह नाम के स्वरूप में प्रयुक्त है, अतः उसके धातुत्व का आश्रय लेकर 'प्र' को 'उपसर्ग' संज्ञा नहीं हो सकती है । परिणामतः उपर्युक्त सूत्रगत 'उपसर्गस्य' पद, 'प्र + ऋच्छकः' स्वरूप स्थान पर 'आर्' की व्यावृत्ति करने के लिए आवश्यक है । अतः वह व्यर्थ होकर ज्ञापक नहीं बन सकता है । तथा 'प्रादेः' के स्थान पर 'उपसर्गस्य' कहा होने से वह ज्ञापक बनता है, वही तर्क भी उचित नहीं है क्योंकि केवल 'प्रादि' उपसर्ग नहीं हैं, किन्तु धातु के पूर्व आये हुए 'प्रादि' ही उपसर्ग हैं, और संज्ञा करने के बाद सर्वत्र संज्ञा से ही व्यवहार होता है, न कि संज्ञी से । अतः सूत्र में 'प्रादेः' कहा होता तो लाघव होता, यही कल्पना भी अस्थानापन्न है । अतः 'उपसर्गादध्वनः' ७/३/७९ और 'उपसर्गात्' ७/३/१६२ सूत्र में 'अध्वन्' से पूर्व आये हुए और 'नासिका' से पूर्व आये हुए 'प्रादि' में उपसर्गत्व न होने पर भी 'उपसर्ग' संज्ञा से व्यवहार किया गया है ।

जैनेन्द्र व्याकरण में यह न्याय "यत्क्रियायुक्तस्तं प्रति गिति संज्ञको भवति" स्वरूप में है । दोनों का अर्थ समान ही है ।

॥ १०९॥ यत्रोपसर्गत्वं न सम्भवति तत्रोपसर्गशब्देन प्रादयो लक्ष्यन्ते, न तु सम्भवत्युपसर्गत्वे ॥ ५२॥

जहाँ उपसर्गत्व का संभव न हो वहाँ उपसर्ग शब्द से प्रादि का ग्रहण करना, किन्तु जहाँ उपसर्गत्व का संभव हो वहाँ प्रादि का ग्रहण न करना ।

पूर्व न्याय के अपवादस्वरूप यह न्याय है क्योंकि पूर्व न्याय में कहा है कि जहाँ 'प्र' आदि, जिस धातु के अर्थ को विशिष्ट करते हैं, उसी धातु के योग में ही उन्हीं 'प्रादि' को उपसर्ग संज्ञा होती है । अतः जो 'प्रादि' नाम के पूर्व में है, उसे उपसर्ग संज्ञा नहीं होती है । अतः उपसर्ग संज्ञानिमित्तक कोई भी कार्य वही 'प्रादि' या उससे पर आये हुए नाम/शब्द को नहीं होता है । तथापि यह न्याय कहता है कि शास्त्र में जहाँ 'प्रादि' में उपसर्गत्व का किसी भी प्रकार से संभव नहीं होता है तथापि वहाँ उपसर्ग शब्द का प्रयोग किया हो तो वहाँ उपसर्ग शब्द से 'प्रादि' का ग्रहण करना किन्तु जहाँ उपसर्ग संज्ञा की प्रवृत्ति की गई हो और वहाँ उपसर्गत्व का संभव हो तो, वहाँ उपसर्गत्वरहित 'प्रादि' को और उससे सम्बन्धित नाम को उपसर्गनिमित्तक कोई कार्य नहीं होता है ।

उदा. 'प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः' इत्यादि प्रयोग में 'प्र' में उपसर्गत्व नहीं होने पर भी 'उपसर्गादध्वनः' ७/३/७९ से 'अत्' समासान्त होगा क्योंकि 'अध्वन्' शब्द सम्बन्धित 'प्र' को कदापि, किसी भी प्रकार से उपसर्गत्व प्राप्त नहीं होता है । 'धातुमपसृत्य अर्थविशेषं सृजति इति उपसर्गः' व्युत्पत्ति स्वरूप व्याख्यानुसार 'प्राध्वः' सम्बन्धित 'प्र' में उपसर्गत्व प्राप्त नहीं है ।

इस न्याय का ज्ञापन 'उपसर्गादध्वनः' ७/३/७९ सूत्रगत 'उपसर्गाद्' शब्द से होता है क्योंकि 'प्रगतोऽध्वानं प्राध्वः' प्रयोग में 'प्र' का 'गत' शब्द (गम् धातु) के साथ सम्बन्ध है । अतः 'गम्' धातु के प्रति ही 'प्र' को उपसर्ग संज्ञा होती है किन्तु 'अध्वन्' शब्द के प्रति 'प्र' उपसर्ग बनता नहीं है तथापि सूत्र में 'उपसर्गाद्' कहा, वह इस न्याय का ज्ञापन करता है । सूत्रारम्भ के सामर्थ्य से ही अनुमित इस न्याय की अनित्यता प्रतीत नहीं होती है और ऐसे कोई लक्ष्य या प्रयोग भी दिखायी नहीं पड़ते कि जिसके लिए इस न्याय की अनित्यता की कल्पना करनी पड़े ।

यहाँ 'उपसर्गात्' ७/३/१६२ सूत्रगत 'उपसर्ग' शब्द को या पूर्ण सूत्र को भी ऊपर बताया उसी प्रकार से, इस न्याय का ज्ञापक माना जा सकता है क्योंकि 'प्र' के बाद आये हुए 'नासिका' शब्द का 'नस्' आदेश करना है, अतः वहाँ भी उपसर्गत्व नहीं है, तथापि 'उपसर्गात्' ७/३/१६२ कहा है, वह इस न्याय का ज्ञापक है या दोनों उदाहरण में एक को ज्ञापक माना जाय और अन्य को इस न्याय के फलस्वरूप उदाहरण भी माना जा सकता है । श्रीलावण्यसूरिजी ने 'उपसर्गात्' ७/३/१६२ सूत्र में इस न्याय का फल बताया है ।

यहाँ श्रीहेमहंसगणि ने 'उपसर्गात्' के स्थान पर 'प्रादेः' कहा होता तो भी चल सकता था और ऐसा करने पर मात्रा लाघव भी होता है, तथापि 'उपसर्गात्' कहा । अतः वह इस न्याय का ज्ञापक बनता है किन्तु यहाँ गौरव लाघव की चर्चा उचित नहीं है ऐसा कहना समुचित है क्योंकि शास्त्र में संज्ञी की संज्ञा का निर्देश करने के बाद हमेशां संज्ञा की ही प्रवृत्ति होती है किन्तु संज्ञी की प्रवृत्ति कदापि नहीं होती है । यही बात हमने पूर्व न्याय में कह दी है ।

अन्य वैयाकरणों ने ऐसे स्थान पर 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' न्याय से उपसर्गत्व रहित 'प्रादि' को भी उपसर्ग संज्ञा में सम्मिलित करके उपसर्गत्व अनिमित्तक कार्य की प्राप्ति करा देते हैं । पाणिनीय परम्परा में महाभाष्य में भी 'प्रादि' को क्रियायोग में 'उपसर्ग' संज्ञा होती है और वह 'गतिश्च' [पा.सू. १/४/५९] सूत्र से की गई है । वहाँ भी इस प्रकार शब्द के 'योग में 'प्रादि' को 'उपसर्ग' संज्ञा

नहीं होती है तथापि नाम (प्रातिपदिक) से पूर्व आये हुए 'उपसर्ग' ऐसा जहाँ कहा हो वहाँ 'उपसर्ग' शब्द से प्रादि का ग्रहण होता है ऐसा, उसके वार्त्तिक से ज्ञात होता है और 'उपसर्गादध्वनः' ७/३/७९ जैसी विधि को अनवकाश विधि बताकर, वचनप्रमाण से ही सिद्ध हुई मानी गई है, ऐसा भाष्यकार ने उन्हीं वार्तिकों की व्याख्या करते हुए कहा है ।

यह न्याय अन्य किसी भी परिभाषासंग्रह में नहीं हैं ।

॥ ११०॥ शीलादिप्रत्ययेषु[1] नासरूपोत्सर्गविधिः ॥ ५३॥

शीलादि प्रत्यय में असरूपोत्सर्गविधि नहीं होती है ।

'असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः' ५/१/१६ सूत्र से अपवाद के विषय में औत्सर्गिक प्रत्यय की प्रवृत्ति की विकल्प से अनुज्ञा दी गई है, यदि वह प्रत्यय अपवादस्वरूप प्रत्यय के साथ समान रूपवाला न हो तो । यह सूत्र शील, धर्म और साधु अर्थ में विहित प्रत्यय को लागु नहीं पड़ता है, ऐसा यह न्याय कहता है अर्थात् उपर्युक्त तीनों अर्थ में होनेवाले प्रत्यय के विषय में, अपवाद स्वरूप प्रत्यय के साथ समान रूपवाला न हो ऐसा औत्सर्गिक प्रत्यय भी 'असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः' ५/१/१६ सूत्र से नहीं होता है । उदा. 'अलङ्करिष्णुः कन्याम्' इत्यादि प्रयोग में 'भ्राज्यलङ्कृग निराकृग्भूसहिरुचिवृतिवृधिचरिप्रजनापत्रप इष्णु :' ५/२/२८ से 'इष्णु' प्रत्यय ही होगा किन्तु 'तृन् शीलधर्मसाधुषु' ५/२/२७ से होनेवाला तृन् प्रत्यय नहीं होगा । अतः 'अलङ्कर्ता कन्याम्' प्रयोग नहीं हो सकता है । यहाँ 'तृन् शीलधर्मसाधुषु' ५/२/२७ से होनेवाला तृन् प्रत्यय औत्सर्गिक है, जबकि 'भ्राज्यलङ्कृग्निराकृग्-' ५/२/२८ से होनेवाला 'इष्णु' प्रत्यय अपवाद है और उसके साथ औत्सर्गिक तृन् प्रत्यय का स्वरूप समान नहीं है । उसी कारण से 'असरूपोऽपवादे-' ५/१/१६ से विकल्प से तृन् प्रत्यय होने की प्राप्ति है किन्तु यह न्याय उसका निषेध करता है ।

'भूषाक्रोधार्थजुसृगृधिज्वलशुचश्चानः' ५/२/४२ सूत्र में 'च' से 'पद्' धातु का अनुकर्षण इस न्याय का ज्ञापक है । यह सूत्र 'पद्' धातु से 'अन' प्रत्यय करता है, किन्तु वही 'अन' प्रत्यय, 'पद्' धातु इदित् होने से 'इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात्' ५/२/४४ से होनेवाला ही है तथापि यहाँ 'च' से उसका अनुकर्षण किया, उससे ज्ञापित होता है कि शीलादिप्रत्यय में असरूपविधि नहीं होती है । वह इस प्रकार -: यहाँ 'लषपतपदः' ५/२/४१ से होनेवाले उकण् प्रत्यय से 'अन' का बाध होनेवाला है किन्तु 'असरूपोऽपवादे-' ५/१/१६ से उत्सर्ग 'अन' प्रत्यय की अनुज्ञा दी गई है, अतः 'इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात्' ५/२/४४ से 'अन' हो सकता है और उसके बाध का कोई संभव नहीं है तथापि 'च' से 'पद्' धातु का अनुकर्षण करके 'अन' प्रत्यय किया वह व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है ।

यह न्याय अनित्य है । अतः शीलादि अर्थ में 'शृकमगमहनवृषभूस्थ उकण्' ५/२/४० से 'उकण्' प्रत्यय होकर 'आगामुकः' होता है वैसे उसी अर्थ में उत्सर्ग 'तृन् शील-' ५/२/२७ से 'तृन्'

---

१. 'न्यायसंग्रह' के मूल पाठ में 'शीलादिप्रत्ययेषु' स्वरूप सामासिक पद है, जबकि श्रीलावण्यसूरिजी के 'न्याय-समुच्चय' में 'शीलादिषु प्रत्ययेषु' पाठ है ।

प्रत्यय भी होकर 'आगन्ता' रूप होगा ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापक 'न णिङ्‌यसूददीपदीक्षः' ५/२/४५ सूत्रगत 'दीप' धातु है । यदि यह न्याय नित्य ही होता तो, अपवादस्वरूप 'स्म्यजसहिंसदीपकम्पकमनमो रः' ५/२/७९ से होनेवाले 'र' के विधान से ही शीलादि अर्थ में 'इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात्' ५/२/४४ से होनेवाले औत्सर्गिक 'अन' प्रत्यय का बाध हो जाता है । अतः उसके लिए 'न णि ङ्‌यसू-' ५/२/४५ सूत्र में 'दीप' का ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं थी । यहाँ ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि 'असरूपोऽपवादे-' ५/१/१६ से औत्सर्गिक अन प्रत्यय होने की संभावना है, उसका निषेध करने के लिए 'न णिङ्‌यसू-' ५/२/४५ में दीप का ग्रहण किया है क्योंकि यही न्याय ही उसका (असरूपविधि का) निषेध करता है । अतः इस न्याय की अनित्यता के कारण ही 'शीलादि' प्रत्यय में क्वचित् असरूपविधि हो जाती है, अतः 'स्म्यजसहिंस-' ५/२/७९ से होनेवाले 'र' के विषय में औत्सर्गिक 'अन' प्रत्यय न हो, उसके लिए 'न णिङ्‌यसूद-' ५/२/४५ में 'दीप' का ग्रहण किया है ।

यह न्याय केवल शीलादि अर्थ में होनेवाले प्रत्यय में ही परस्पर असरूपविधि का निषेध नहीं करता है, किन्तु शीलादि अर्थ में हुए अपवादस्वरूप प्रत्यय का, अन्य सामान्य (शीलादि प्रत्यय से भिन्न) औत्सर्गिक प्रत्यय के साथ, उसकी असरूपविधि का निषेध करता है । उसका ज्ञापन करने के लिए श्रीहेमहंसगणि ने इस न्याय का दूसरा अर्थ इस प्रकार कहा है ।

जहाँ शीलादि प्रत्यय होता है, वहाँ सामान्यतया कर्ता इत्यादि अर्थ में होनेवाले औत्सर्गिक कृत्प्रत्यय, असरूपविधि से प्राप्त होने पर भी नहीं होते हैं । अतः 'अलङ्करिष्णुः' इत्यादि प्रयोग में शीलादि अर्थ में 'भ्राज्यलङ्कृग्'- ५/२/२८ से 'इष्णु' प्रत्यय के साथ सामान्यतया कर्ता अर्थ में 'णकतृचौ' ५/१/४८ से होनेवाला 'णक' प्रत्यय नहीं होगा । अतः शीलादि अर्थ में 'अलङ्कारकः' प्रयोग नहीं हो सकता है ।

इस अर्थ का ज्ञापन 'शीलादि' अर्थ में 'परिवादकः' रूप की सिद्धि करने के लिए 'वादेश्च णकः' ५/२/६७ से 'णकः' का विशेष विधान किया, उससे होता है । वह इस प्रकार है-: 'परिवादकः' में सामान्य अर्थ में विहित 'णकतृचौ' ५/१/४८ से 'णक' सिद्ध ही था । तथापि 'वादेश्च णकः' ५/२/६७ से शीलादि अर्थ में विशेष विधान किया । यदि शीलादि अर्थ में होनेवाले 'तृन्' आदि प्रत्यय के विषय में, सामान्य अर्थ में विहित 'णक' प्रत्यय (णकतृचौ ५/१/४८) 'असरूपोऽपवादे-' ५/१/१६ से होनेवाली असरूपविधि से होता तो, 'णक' प्रत्यय के लिए 'वादेश्च णकः' ५/२/६७ सूत्र क्यों किया जाय ? अर्थात् न किया जाय, तथापि सूत्ररचना की, उससे ज्ञात होता है कि 'णकतृचौ' ५/१/४८ से सामान्य कर्ता इत्यादि अर्थ में होनेवाले 'णक' प्रत्यय के साथ होनेवाली 'असरूपविधि' का भी यह न्याय निषेध करता है । अतः 'णकतृचौ' ५/१/४८ से 'परिवादकः' में शीलादि अर्थ में 'णक' प्रत्यय नहीं होगा । अतः उसका विशेष विधान करना आवश्यक है ।

किन्तु इस न्याय का यही अर्थ अनित्य होने से क्वचित् शीलादि अर्थ में, सामान्य अर्थ में विहित औत्सर्गिक कृत्प्रत्यय भी होता है । उदा. 'कामक्रोधौ मनुष्याणां खादितारौ वृकाविव' । यहाँ

'निन्दहिंसक्लिशखाद'- ५/२/६८ से शीलादि अर्थ में होनेवाले 'णक' प्रत्यय के विषय में सामान्य कर्ता अर्थ में होनेवाला 'तृच्' प्रत्यय 'णकतृचौ' ५/१/४८ से हुआ है । यहाँ किसी को आशंका हो सकती है कि यह 'तृच्' नहीं है किन्तु शीलादि अर्थ में होनेवाला 'तृन्' प्रत्यय है । इसका समाधान देते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यहाँ 'तृन्' नहीं है किन्तु 'तृच्' ही है क्योंकि यदि 'तृन्' होता तो 'तृन्नुदन्ताव्ययक्वस्वानातृश्-शतृङिणकच्-खलर्थस्य' २/२/९० से 'तृन्' के कर्म को षष्ठी का निषेध हुआ है अतः 'मनुष्याणां' में षष्ठी का प्रयोग न करना चाहिए, किन्तु यहाँ षष्ठी का प्रयोग है इससे सूचित होता है कि यहाँ 'तृच्' ही है, 'तृन्' नहीं है और यहाँ ऐसी भी शंका नहीं करनी चाहिए कि यहाँ शीलादि अर्थ ही नहीं है क्योंकि शीलादि अर्थ के अलावा मनुष्य को खाने के स्वभावयुक्त वरु की उपमा समुचित नहीं लगती है ।

इस न्याय के इसी दूसरे अर्थ को श्रीलावण्यसूरिजी लक्ष्यानुरोधि मानते हैं । अतः क्वचित् इसी अर्थ का आश्रय नहीं किया जाता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए किन्तु इस न्याय के इस अर्थ की अनित्यता बताने की आवश्यकता नहीं है, ऐसी उनकी मान्यता है ।

यद्यपि श्रीहेमहंसगणि ने बताये हुए 'च' ज्ञापक के बारे में विशेष रूप से विचार करने पर लगता है कि शास्त्रकार आचार्यश्री ने उसे ज्ञापक माना है किन्तु वह अन्य वैयाकरण की मान्यतानुसार हो, ऐसा लगता है । ज्ञापक हमेशां व्यर्थ होकर न्याय का ज्ञापन करता है, किन्तु यहाँ 'च' से 'पद्' धातु का अनुकर्षण किया है वह सहेतुक और सार्थक है । उनके अपने मतानुसार 'इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात्' ५/२/४४ से अकर्मक धातु से 'अन' प्रत्यय का विधान किया है । जबकि यहाँ 'भूषाक्रोधार्थ'- ५/२/४२ में 'च' से 'पद्' का अनुकर्षण सकर्मक 'पद्' धातु से 'अन' करने के लिए किया गया है । अतः वह ज्ञापक नहीं बन सकता है । किन्तु अन्य वैयाकरणों की मान्यता का उन्होंने स्वीकार किया है । अतः उनकी मान्यतानुसार 'इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात्' ५/२/४४ में सकर्मक धातु है । अतः यहाँ 'च' से 'पद्' के अनुकर्षण की आवश्यकता नहीं है, तथापि अनुकर्षण किया वह व्यर्थ होकर इस न्याय का ज्ञापन करता है और उसी ज्ञापन के साथ ही शास्त्रकार ने स्वयं इस न्याय की अनित्यता और उसके फलस्वरूप 'गन्ता, आगामुकः, भविता, भावुकः' इत्यादि प्रयोग भी बता दिये हैं ।

यद्यपि यहाँ इस न्याय का अर्थ इतना ही होता है कि अपवादस्वरूप शीलादि प्रत्यय के विषय में औत्सर्गिक शीलादि प्रत्यय नहीं होते हैं, तथापि 'यदि बाधक प्रमाण न हो तो वही प्रमाण सामान्य को भी सम्मिलित कर लेते हैं ।' उसी न्याय से सामान्यतया शीलादि अर्थ में असरूपविधि का निषेध ज्ञापित होता है । ऐसा स्वीकार न करने पर 'अलङ्करकः' इत्यादि प्रयोग का निषेध करना असंभव हो जाता है ।

यह न्याय व्याडि के परिभाषासूचन, परिभाषापाठ, शाकटायन, जैनेन्द्र और सिद्धहेम के पश्चात्कालीन सभी परिभाषासंग्रहों में है ।

॥ १११॥ त्यादिष्वन्योऽन्यं नासरूपविधिः ॥ ५४॥

'त्यादि' प्रत्यय में परस्पर असरूपविधि नहीं होती है ।

जहाँ उत्सर्ग-स्वरूप 'त्यादि' विभक्ति का विषय हो, वहाँ यदि अपवाद-स्वरूप त्यादि विभक्ति होनेवाली हो तो, उसी अपवाद-स्वरूप 'त्यादि' विभक्ति के स्थान में औत्सर्गिक 'त्यादि' विभक्ति विकल्प से नहीं होती है ।

'असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः' ५/१/१६ सूत्र से असरूपविधि की अनुज्ञा दी गई है और इसी सूत्र की प्रवृत्ति 'स्त्रियां क्तिः' ५/३/९१ सूत्र तक होती है । और वहाँ तक, कुछेक सूत्र में अपवाद स्वरूप त्यादि विभक्ति का विधान है, तो उसी विषय में यह असरूपविधि हो सके या नहीं? ऐसी आशंका का समाधान करने के लिए यह न्याय है । यह न्याय त्यादि सम्बन्धित असरूपविधि का निषेध करता है ।

उदा. 'स्मरसि चैत्रः ! कश्मीरेषु वत्स्यामः' इत्यादि प्रयोग में 'अयदि स्मृत्यर्थे भविष्यन्ती' ५/२/९ से 'भविष्यन्ती' होती है, वह अपवाद है, उसी विषय में 'अनद्यतने ह्यस्तनी' ५/२/७ से होनेवाली औत्सर्गिक त्यादि (ह्यस्तनी), 'असरूपोऽपवादे-' ५/१/१६ से प्राप्त है । तथापि नहीं होगी । इस न्याय में 'अन्योन्य' शब्द रखा है, अतः त्यादिविभक्ति में ही परस्पर असरूपविधि का निषेध होता है किन्तु उसी अर्थ में होनेवाले 'कृत्प्रत्यय' के साथ असरूपविधि का निषेध नहीं होता है । अतः उसी अर्थ में कृत्प्रत्यय होकर 'कृदन्त' भी बनते हैं । उदा. 'उपशुश्राव' इत्यादि में 'श्रुसदवस्भ्यः परोक्षा वा' ५/२/१ से परोक्षा विभक्ति होती है और उसी परोक्षा के विषय में उत्सर्ग-स्वरूप 'क्त' आदि प्रत्यय होकर 'उपश्रुतः, उपश्रुतवान्' इत्यादि प्रयोग होंगे ।

इस न्याय का ज्ञापक 'श्रुसदवस्भ्यः परोक्षा वा' ५/२/१ सूत्रगत 'वा' शब्द है । उसी 'वा' शब्द से विकल्प के पक्ष में जब परोक्षा नहीं होगी, तब यथायोग्य 'अद्यतनी' या 'ह्यस्तनी' के प्रत्यय करने के लिए है । यदि यह न्याय न होता तो 'असरूपोऽपवादे-' ५/१/१६ से यथायोग्य औत्सर्गिक अद्यतनी या ह्यस्तनी होनेवाली ही है, अतः उसके लिए सूत्र में 'वा' शब्द रखने की कोई आवश्यकता नहीं थी, तथापि 'वा' शब्द रखा, उससे ज्ञापन होता है कि इस न्याय से 'श्रुसदवस्भ्यः' ५/२/१ से होनेवाली अपवादस्वरूप परोक्षा से औत्सर्गिक अद्यतनी और ह्यस्तनी का अवश्य बाध होगा । अतः उसके विकल्प में यथायोग्य अद्यतनी या ह्यस्तनी करने के लिए 'श्रुसदवस्भ्यः परोक्षा वा' ५/२/१ सूत्र में 'वा' शब्द रखा है ।

यह न्याय अनित्य है । यह न्याय और उसके पूर्व का न्याय 'असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः' ५/१/१६ के अपवाद हैं ।

यहाँ किसी को शंका हो सकती है कि पूर्व न्याय में ही 'त्यादिषु च' शब्द रखकर, इस न्याय का कथन कर दिया होता तो इसके लिए पृथक् न्याय बनाने की आवश्यकता नहीं रह पाती । उसका प्रत्युत्तर इस प्रकार है -: पूर्व न्याय शीलादि अर्थ में होनेवाले अपवादरूप प्रत्यय के विषय में, शीलादि अर्थ में होनेवाले औत्सर्गिक 'तृन्' इत्यादि प्रत्यय और शीलादि अर्थ को छोड़कर, सामान्य कर्ता इत्यादि अर्थ में होनेवाले 'णक, तृच्' इत्यादि प्रत्यय के साथ, असरूपविधि का निषेध करता है, जबकि यह न्याय केवल 'त्यादि' विभक्ति के प्रत्यय में ही परस्पर अपवाद स्वरूप 'त्यादि' प्रत्यय के विषय में 'असरूपोऽपवादे'- ५/१/१६ से होनेवाले औत्सर्गिक त्यादि प्रत्यय का ही निषेध करता

है किन्तु उसी अर्थ में होनेवाले अन्य कृत्यप्रत्यय का निषेध नहीं करता है और उसके लिए ही इस न्याय में 'अन्योऽन्य' शब्द रखा है ।

यदि इस न्याय को पूर्वन्याय में सम्मिलित किया जाय तो न्याय का स्वरूप इस प्रकार का होगा - १ 'शीलादिषु प्रत्ययेषु त्यादिषु च नासरूपोत्सर्गविधिः' या २ 'शीलादिषु प्रत्ययेषु त्यादिषु चान्योऽन्यं नासरूपोत्सर्गविधिः' प्रथम स्वरूप मान्य करने पर अपवाद स्वरूप त्यादि विभक्ति द्वारा, उसी अर्थ में होनेवाले अन्य औत्सर्गिक कृत् प्रत्यय का भी निषेध हो जाता है, जो इष्ट नहीं है । द्वितीय स्वरूप मान्य करने पर अपवाद-स्वरूप शीलादि प्रत्यय द्वारा, शीलादि अर्थ में होनेवाले औत्सर्गिक 'तृन्' इत्यादि का ही बाध होगा, किन्तु सामान्य कर्ता इत्यादि अर्थ में होनेवाले 'णक, तृच्' इत्यादि का बाध नहीं होगा । अतः पूर्व न्याय 'अन्योऽन्य' शब्द से रहित ही चाहिए, जबकि इस न्याय में 'अन्योऽन्य' शब्द की विशेषतः आवश्यकता है । अतः दोनों न्यायों को पृथक् करना जरूरी है ।

इस न्याय का ज्ञापन होने के बाद, 'वाऽऽकाङ्क्षायाम्' ५/२/१०, 'ह-शश्वद् युगान्तःप्रच्छ्ये ह्यस्तनी च' ५/२/१३, 'वाऽद्यतनी पुरादौ' ५/२/१५ इत्यादि सूत्र में 'वा' शब्द सार्थक होगा अन्यथा 'असरूपोऽपवादे'- ५/१/१६ से ही औत्सर्गिक त्यादि प्रत्यय की प्रवृत्ति होनेवाली थी ही, तो यही 'वा' शब्द सर्वत्र व्यर्थ ही होता, अतः यही प्रत्येक 'वा' शब्द, इस न्याय का ज्ञापक बन सकता है ।

बृहद्वृत्ति में कहा है कि यही 'वा' शब्द का ग्रहण, विभक्ति में असरूपविधि का निषेध करने के लिए है । यद्यपि यहाँ सामान्य से 'विभक्तिषु' शब्द रखा है, किन्तु 'त्यादि' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, तथापि असरूपविधि का अधिकार 'स्त्रियां क्तिः' ५/३/९१ सूत्र तक ही है और वहाँ तक त्यादि का ही संभव है । अतः बृहद्वृत्ति के शब्द द्वारा इस न्याय के अस्तित्व का स्वीकार किया जाता है ।

यह न्याय अन्य किसी भी परम्परा में नहीं है क्योंकि वहाँ कृदन्त के साथ-बीच में शायद त्यादि प्रत्ययों का विधान ही नहीं किया गया है ।

॥ ११२॥ स्त्रीखलना अलो बाधकाः स्त्रियाः खलनौ ॥ ५५॥

स्त्री प्रत्यय, 'खल्' प्रत्यय और 'अनट्' प्रत्यय, उसी विषय में होनेवाले 'अल्' प्रत्यय के बाधक बनते हैं और 'खल्' और 'अनट्' प्रत्यय स्त्रीप्रत्यय के बाधक बनते हैं ।

'स्त्रियां क्तिः' ५/३/९१ सूत्र के अधिकार में आये हुए 'क्ति, क्यप्, श, य, अ, अङ्, अन, क्विप्, ञ, इञ्, अनि, णक' इत्यादि प्रत्यय स्त्रीप्रत्यय कहे जाते हैं । 'अन' से अनट् प्रत्यय लेना । 'असरूपोऽपवादे-' ५/१/१६ में कहे गये 'प्राक् क्तेः ' शब्द से 'स्त्रियां क्तिः' ५/३/९१ सूत्र से पूर्व आये हुए कृत्प्रत्ययों में 'असरूपविधि' की व्यवस्था की गई है । जबकि अगले/बाद के प्रत्ययों में 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ सूत्र से व्यवस्था करने के लिए यह न्याय है । (यहाँ इस न्याय से बाद में आये हुए 'स्त्री प्रत्यय, खल् प्रत्यय, अनट् प्रत्यय' और 'अल्' प्रत्यय में बाध्यबाधकभाव की व्यवस्था की गई है । यह न्याय स्पर्धामूलक ही है, अतः 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ सूत्र के प्रपंच रूप है । यहाँ 'पर' शब्द का पाठकृत परत्व और इष्टत्वरूप परत्व अर्थ किया गया है । अतः 'पर' शब्द में इष्ट हो ऐसे

पूर्व का भी समावेश होता है । कहाँ, कौन सी विधि इष्ट है, उसके लिए लक्ष्यानुसार, शास्त्रकार द्वारा की गई व्याख्या का ही स्वीकार करना आवश्यक है ।)

इस न्याय के फलस्वरूप 'चयनं चितिः' इत्यादि प्रयोगों में 'स्त्रियां क्तिः' ५/३/९१ से क्ति प्रत्यय और 'युवर्णवृदृवशरणगमृद्ग्रहः' ५/३/२८ से 'अल्' प्रत्यय होने की प्राप्ति है । यहाँ 'क्ति'- स्त्रीप्रत्यय पर है, अतः उससे 'अल्' का बाध होगा और 'चितिः' रूप होगा ।

'दुःखेन चीयते दुश्चयम्' इत्यादि प्रयोग में 'दुःस्वीषतः कृच्छ्राकृच्छ्रार्थात् खल्' ५/३/१३९ से 'खल्' प्रत्यय और 'युवर्णवृदृवशरण'- ५/३/२८ से 'अल्' प्रत्यय की प्राप्ति है । इन दोनों में 'खल्' प्रत्यय पर है, अतः 'खल्' होगा और 'दुश्चयम्' रूप सिद्ध होगा ।

'पलाशानि शात्यन्तेऽनेन इति पलाशशातनो दण्डः' इत्यादि प्रयोगों में 'करणाधारे' ५/३/१२९ से 'अनट्' और 'युवर्णवृदृ-' ५/३/२८ से 'अल्' होने की प्राप्ति है, किन्तु 'अनट्' पर होने से, वह 'अल्' का बाध करेगा और 'अनट्' होकर 'पलाशशातनो दण्डः' प्रयोग होगा ।

'दुःखेन भिद्यते दुर्भेदा भूः' प्रयोग में 'स्त्रियां क्तिः' ५/३/९१ से 'क्ति' और दुःस्वीषतः - ५/३/१३९ से 'खल्' होने की प्राप्ति है, उसमें 'खल्' पर होने से, 'खल्' प्रत्यय ही होगा । 'सक्तवो धीयन्तेऽस्याम् इति सक्तुधानी' इत्यादि में 'क्ति' और 'अनट्' की प्राप्ति है, उसमें 'अनट्' पर होने से वही होगा ।

वस्तुतः इस न्याय की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है क्योंकि उपर्युक्त सभी उदाहरणों में 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ से ही काम चल सकता है, और प्रत्येक स्थान में 'पर' सूत्र ही बलवान् है अर्थात् परत्वविशिष्ट व्यवस्था ही है तथापि कृत्प्रत्यय के विषय में 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ परिभाषा का नैयत्व नहीं है, अतः बाध्यबाधकभाव की व्यवस्था का सूचन करने के लिए इस न्याय का स्वीकार किया गया है ।

श्रीहेमहंसगणि इस न्याय की अनित्यता बताते हुए कहते हैं कि 'जयः' इत्यादि प्रयोगों में 'क्ति' और 'अल्' दोनों की प्राप्ति है और उसमें 'क्ति' का विधान पर है तथापि 'युवर्णवृदृवशरण'- ५/३/२८ से 'अल्' प्रत्यय होकर 'जयः' सिद्ध होगा और 'शिरसोऽर्दनं शिरोऽर्तिः' इत्यादि में 'क्ति' और 'अनट्' दो में से 'अनट्' पर होने पर भी वह नहीं होगा और 'क्ति' प्रत्यय ही होगा ।

आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने इस न्याय को अनित्य मानने के बजाय/खिलाफ लक्ष्यानुसारी माना है । अतः कहीं कदाचित् इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है और 'पर' शब्द का इष्ट अर्थ करके पूर्व स्थित 'अल्' और 'क्ति' प्रत्यय करके अनुक्रम से 'जयः' और 'शिरोऽर्तिः' रूप सिद्ध किये गये हैं ।

श्रीहेमहंसगणि 'ऐसी व्यवस्था करने का कोई प्रयत्न नहीं किया है' उसे इस न्याय का ज्ञापक मानते हैं ।

इस न्याय के बारे में विशेष विचार करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि न्याय प्रत्येक व्याकरण में समान होते हैं । अतः जिस व्याकरण में 'अल्' प्रत्यय से पूर्व 'स्त्री प्रत्यय' का विधान किया हो वहाँ 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ परिभाषा से व्यवस्था करना असंभव होने से, उसके लिए, इस न्याय का स्वीकार करना आवश्यक है और यही बात श्रीहेमहंसगणि की मान्यतानुसार है क्योंकि उन्होंने

इस न्याय को 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ परिभाषा का प्रपंच कहा है किन्तु वस्तुतः स्पर्द्धामूलक यही व्यवस्था, इस न्याय के बिना संभव ही नहीं है क्योंकि पर से नित्य, नित्य से अन्तरङ्ग, और अन्तरङ्ग से भी अपवाद बलवान् होता है । इसी परिस्थिति में सामान्य और विशेषभावमूलक, बाध्यबाधकभाव की आशंका पैदा होती है, उसे दूर करके परत्वविशिष्ट व्यवस्था का यहाँ आश्रय करना, ऐसा बताने के लिए इस न्याय की आवश्यकता है ही ।

यह न्याय इस प्रकार कहीं भी बताया नहीं है केवल श्रीमानशर्मकृत बृहत्परिभाषा-टिप्पणि में 'क्तल्युटतुमुन्खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति' न्याय पाया जाता है ।

॥११३॥ यावत्संभवस्तावद्विधिः ॥ ५६॥

जब तक किसी सूत्र या न्याय की प्रवृत्ति करने/होने का संभव हो तब तक (एक से अधिकबार) उसी सूत्र या न्याय की प्रवृत्ति करना चाहिए या हो सकती है ऐसा यह न्याय कहता है/बताता है ।

संभव की व्याख्या करते हुए कहा है कि जब तक किसी निमित्त या कारण से, सूत्र या न्याय की प्रवृत्ति का व्याघात न हो, तब तक उसी सूत्र या न्याय की प्रवृत्ति करना । अर्थात् किसी सूत्र या न्याय की प्रवृत्ति एक बार हो गई है ऐसा विचार करके पुनः उसकी प्रवृत्ति न हो, ऐसा विचार नहीं करना, किन्तु जब संभव का किसी भी निमित्त से व्याघात हो तब, उसी न्याय या सूत्र की प्रवृत्ति नहीं करना, ऐसा यह न्याय कहता है । सूत्र की प्रवृत्ति इस प्रकार है -:

उदा. 'त्वक्' यहाँ 'अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने' १/३/३२ से विरामनिमित्तक 'क्' का द्वित्व हो कर 'त्वक्क्' रूप होगा, बाद में पुनः उसी सूत्र से, पर में आये हुए एकव्यञ्जननिमित्त रूप 'क्' के कारण पूर्व 'क्' का द्वित्व होगा और 'त्वक्क्क्' स्वरूप तीन 'क्' से युक्त रूप होगा, उसी में बीच के 'क्' का 'धुटो धुटि स्वे वा' १/३/४८ से लोप होगा । बाद में पुनः आद्य 'क्' का द्वित्व प्राप्त होने पर भी नहीं होगा क्योंकि ऐसा करने पर द्वित्व, लुप् और द्वित्व-स्वरूप प्रक्रिया होती ही रहेगी और क्रिया के अनुपरम के कारण रूप परिनिष्ठित नहीं हो सकेगा । इस प्रकार क्रिया के अनुपरम स्वरूप व्याघात के कारण 'अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने' १/३/३२ सूत्र की प्रवृत्ति रुक जायेगी ।

और 'यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते' न्याय से निरर्थक विधि का प्रतिषेध हुआ होने से भी उपर्युक्त द्वित्व और लुप् विधि पुनः पुनः नहीं होगी ।

और 'चेतुमिच्छति चिकीषति' प्रयोग में, 'स्वरहनगमोः सनि धुटि' ४/१/१०४, 'द्विर्धातुः परोक्षा-'४/१/१ से पर होने से, द्वित्व होने के पूर्व ही दीर्घविधि हो जायेगी और बाद में द्वित्व होगा और 'चेः किर्वा' ४/१/३६ से दीर्घ 'ची' के स्थान में ह्रस्व 'कि' आदेश होगा । यही ह्रस्व 'कि' का पुनः 'स्वरहनगमोः सनि धुटि' ४/१/१०४ से दीर्घ होगा ।

संभव हो वहाँ, न्याय की पुनः प्रवृत्ति इस प्रकार होती है । उदा. 'प्रण्यवोचत्' प्रयोग में णत्व करने के लिए 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः 'न्याय की दो बार प्रवृत्ति होती है । यहाँ 'ब्रू' धातु का 'अस्तिब्रुवोर्भूवचावशिति' ४/४/१ सूत्र से 'वच्' आदेश होता है और बाद में अद्यतनी में

'श्वयत्यसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम्' ४/३/१०३ से 'वच्' का 'वोच्' आदेश होता है । अतः यहाँ 'प्रण्यवोचत्' में 'अकखाद्यषान्ते पाठे वा' २/३/८० से 'प्र' से पर आये हुए 'नि' का 'णि' करने के लिए प्रथम बार 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' न्याय की प्रवृत्ति करके 'वोच्' में 'वच्त्व' लाया जायेगा तथापि 'अकखाद्यषान्ते पाठे वा' २/३/८० की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि सूत्र में धातुपाठपठित धातु का ही ग्रहण है । अतः पुनः 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' न्याय की प्रवृत्ति करके ब्रूत्व का उसमें उपचार करके, 'अकखाद्यषान्ते'-२/३/८० से णत्व होगा ।

इस न्याय का ज्ञापक 'य्वृत् सकृत्' ४/१/१०२ सूत्र है, क्योंकि इसी सूत्र में 'य्वृत्' की प्रवृत्ति सिर्फ एक ही बार करने का विधान किया गया है । अतः जहाँ एक बार 'य्वृत्' हो गया हो वहाँ संभव होने पर भी पुनः किसी भी संयोग में 'य्वृत्' की प्रवृत्ति नहीं होती है । यदि यह न्याय न होता तो ऐसा कहने की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि एक बार किसी एक सूत्र या न्याय की प्रवृत्ति होने के बाद , पुनः उसकी प्रवृत्ति होनेवाली ही नहीं थी तथापि यही 'य्वृत् सकृत्' ४/१/१०२ सूत्र की रचना की गई , उससे ज्ञापन होता है कि 'य्वृत्' को छोड़कर अन्य सूत्र की, यदि संभावना हो तो पुनः पुनः प्रवृत्ति होती है । उदा. 'व्येंग् संवरणे' धातु में 'आत्सन्ध्यक्षरस्य' ४/२/१ से 'ए' का 'आँ' होने के बाद कर्म में 'क्य' प्रत्यय करने पर 'संवीयते' प्रयोग में 'व्या' के 'या' का 'यजादिवचेः किति' ४/१/७९ से य्वृत् होगा और 'वि' बनेगा, किन्तु बाद में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से 'वि' में 'यजादित्व' मानकर पुनः 'वि' का 'य्वृत्' होकर 'उ' नहीं होता है । उसके लिए 'य्वृत्सकृत्' ४/१/१०२ सूत्र बनाया है और इस न्याय का ज्ञापन होने के बाद 'य्वृत्सकृत्' ४/१/१०२ सार्थक भी होता है ।

यह न्याय संभावनामूलक होने से, जहाँ असंभव हो या व्याघात इत्यादि हो या निरर्थकविधि हो तो सूत्र या न्याय की पुनः प्रवृत्ति नहीं होती है ।

इस न्याय का स्वीकार स्वयं श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने भी किया है । उन्होंने 'य्वृत्सकृत्'४/१/१०२ की बृहद्वृत्ति में कहा है कि 'यावत्संभवस्तावद्विधिः' न्याय से, पुनः 'य्वृत्' की प्रवृत्ति होने की संभावना होने से, उसका निषेध करने के लिए यही सूत्र बनाया गया है ।

इस प्रकार शास्त्रकार ने यह न्याय सिद्ध ही हो, ऐसा व्यवहार करके इसी सूत्र की रचना की है , ऐसा लगता है, तथापि इस न्याय का अन्य कोई ज्ञापक प्राप्त न होने से इसी सूत्र को इसका ज्ञापक माना गया है ।

अन्य किसी की मान्यतानुसार 'एकस्यां व्यक्तावेकं लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' न्याय से 'त्वक् त्वक्क्क्' सिद्ध करने के लिए सिर्फ एक ही बार 'अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने ' १/३/३२ सूत्र की प्रवृत्ति होगी और 'त्वक्क्क्' (तीन क् से युक्त) रूप की सिद्धि नहीं होगी, किन्तु यहाँ प्रथम द्वित्व करते समय 'विराम' निमित्त है, और द्वितीय द्वित्व करते समय पर में आया हुआ 'एकव्यञ्जन' निमित्त है अतः उद्देश्य भिन्न न होने पर भी, उसके निमित्त भिन्न भिन्न होने से 'अदीर्घाद्'- १/३/३२ सूत्र की दो बार प्रवृत्ति हो सकेगी और बाद में पुनः तीसरी बार प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि दूसरी बार जो निमित्त है वही निमित्त तीसरी बार की प्रवृत्ति करते समय उपस्थित होगा ।

यह न्याय और 'यं विधिं प्रत्युपदेशो-' न्याय परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। तथापि इस न्याय से जहाँ संभव हो वहाँ अवश्य सूत्र या न्याय की पुनः प्रवृत्ति होती है किन्तु यदि उसका कोई फल न हो तो 'यं विधिं प्रत्युपदेशः-' न्याय से उसका बाध हो कर उसी सूत्र या न्याय की पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी।

यह न्याय कातंत्र की दुर्गसिंहकृतपरिभाषावृत्ति, भावमिश्रकृतपरिभाषावृत्ति, कातंत्र परिभाषापाठ, कालाप व भोजव्याकरण में भी प्राप्त है। जबकि पाणिनीय परम्परा में यह न्याय नहीं है।

॥ ११४ ॥ संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवत् ॥

संभव और व्यभिचार होने पर ही विशेषण अर्थवान् बनता है।

जहाँ विशेष्य में विवक्षित विशेषण का संभव न हो और संभवासंभवस्वरूप व्यभिचार भी न हो वहाँ विशेषण व्यर्थ होने से, उसका प्रयोग न करना चाहिए अर्थात् विशेषण विशेष्य में हो या न भी हो ऐसा जहाँ प्राप्त है, वहाँ ही विशेषण अर्थवान् कहा जाता है। 'यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते' न्याय का यह न्याय प्रपंच/विस्तार है क्योंकि इस न्याय से व्यर्थ विशेषण के उपन्यास/ प्रयोग का निषेध किया गया है। उदा. 'तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ' १/३/१४ सूत्र में 'पदान्त' विशेषण 'मु' का नहीं बनेगा क्योंकि 'पदान्त मु' का कहीं भी संभव नहीं है। अतः पूर्वसूत्र से अनुवृत्त 'पदान्त' विशेषण केवल 'म' का ही बनेगा क्योंकि 'त्वन्तरसि' इत्यादि प्रयोग में पदान्त 'म' का संभव है और रंरम्यते इत्यादि प्रयोग में असंभव भी है। अतः 'म' के पदान्तव में व्यभिचार है, उसी कारण से विशेषण सार्थक है। अत एव वहाँ 'पदान्त' विशेषण प्रयुक्त होगा।

इस न्याय का ज्ञापक 'तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ ' १/३/१४ सूत्रगत 'स्वौ' पद है। वह इस प्रकार-: 'स्वौ' में द्विवचन होने से अनुस्वार और अनुनासिक दोनों के साथ, उसका सम्बन्ध होगा किन्तु अनुस्वार, किसी भी व्यञ्जन का 'स्व' नहीं है। अतः 'स्व' अनुस्वार का विशेषण नहीं बनेगा। जबकि 'स्व' अनुनासिक का विशेषण बनेगा क्योंकि अनुनासिक 'स्व'भी है और 'अस्व' भी है इस प्रकार संभव और व्यभिचार दोनों होने से इस न्याय से 'स्व' अनुनासिक का विशेषण बनकर सार्थक होगा। यद्यपि द्विवचन से निर्देश किया गया होने से दोनों के साथ सम्बन्ध स्थापित होने की संभावना होने पर भी इस न्याय से स्वयमेव अनुनासिक का ही विशेषण बनेगा, ऐसा मानकर द्विवचन रखा है।

यह न्याय अनित्य होने से 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' इत्यादि प्रयोग में द्विवचन के प्रयोग की अन्यथा अनुपपत्ति होने से और 'ब्रह्म' में द्वित्व का व्यभिचार नहीं होने पर भी 'द्वे' विशेषण रखा है।

'यं विधिं प्रत्युपदेशो-' न्याय का यह प्रपंच है, ऐसे श्रीहेमहंसगणि के कथन के बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इन दोनों न्यायों में केवल व्यर्थत्व की ही समानता है। इसी सादृश्य के कारण इस न्याय को श्रीहेमहंसगणि ने 'यं विधिं प्रत्युपदेशो-' न्याय का प्रपंच कहा है, ऐसा लगता है। वस्तुतः 'यं विधिं-' न्याय का विषय विधि है जबकि इस न्याय का विषय वाक्यार्थ है अर्थात् दोनों के विषय क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं, अतः यह न्याय, उसका प्रपंच नहीं कहा जा सकता हैं। यद्यपि विशेषण की उपन्यास विधि को श्रीलावण्यसूरिजी विधि के रूप में स्वीकार करते है तथापि सिद्धांतानुसार अज्ञात का ज्ञापन करना ही विधि है। उसी दृष्टि से विशेषणत्व की विवक्षा में विधि

का अभाव ही है । अतः इस न्याय को केवल औचित्यमूलक ही मानना चाहिए ।

इस न्याय की लोकसिद्धता बताते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि लोक में भी संभव और व्यभिचार होने पर ही विशेषण का प्रयोग होता है । उदा. 'मनुष्य' को 'चतुष्पाद्' विशेषण नहीं दिया जाता है क्योंकि उसका कदापि संभव नहीं है और 'द्विपद्' विशेषण भी नहीं दिया जाता है क्योंकि उसका व्यभिचार कहीं भी पाया जाता नहीं है अर्थात् यही विशेषणत्व मनुष्य को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं होता है ।

इस न्याय के 'स्वौ' ज्ञापक के बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि ज्ञापक हमेशां अपनी सार्थकता बताता है । जबकि यह ज्ञापक अपनी सार्थकता नहीं बता सकता है । इस प्रकार इस न्याय का ज्ञापन होने के बाद 'स्वौ' विशेषण सार्थक नहीं होता है क्योंकि उसका अनुस्वार और अनुनासिक दोनों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है । अतः यह न्याय केवल लौकिक व्यवहार और औचित्य सिद्ध ही है, ऐसा मानकर केवल अनुनासिक के साथ ही 'स्व' का सम्बन्ध करना ।

इस न्याय की अनित्यता का अस्वीकार करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि कदाचित् केवल संभव होने पर भी विशेषण का प्रयोग होता है । उदा. 'आपो द्रव्यम्' । वस्तुतः यद्यपि यहाँ 'अप्' को ही विशेषण मानने पर व्यभिचार भी है ही, किन्तु यदि 'अप्' को विशेष्य मानने पर 'संभव' पद केवल 'संभवासंभव' की व्यावृत्ति करनेवाला ही मानना । अतः संभव का अभाव हो तो विशेषण सार्थक नहीं होता है, ऐसा अर्थ हो सकता है, और इस प्रकार सोचने पर 'द्वे ब्रह्मणी वेदित्व्ये' में 'विदि' क्रिया के कर्म दो हैं, इसका बोध कराने के लिए 'द्वे' विशेषण रखना उचित है और 'ब्रह्मणी' स्वरूप द्विवचनान्त प्रयोग करने से ही उसका अर्थ प्राप्त हो जाता है, ऐसा न मानना चाहिए । ऐसे स्थान पर उन्होनें 'ब्रह्मणी' इत्यादि में स्थित द्विवचन को 'द्वे' विशेषण के अर्थ का ही अनुवादक माना है ।

यह न्याय केवल विशेषण की सार्थकता बतानेवाला होने से व्याकरण के सूत्र की समझ या उसकी प्रवृत्ति की स्पष्टता करनेवाला न होने से अन्य किसी परम्परा में इसको स्थान नहीं दिया है ।

॥ ११५॥ सर्वं वाक्यं सावधारणम् ॥ ५८॥

सर्व वाक्यों को 'एवकार' से युक्त मानने चाहिए ।

इस न्याय से प्रत्येक वाक्य में 'एवकार' का प्रयोग न किया हो तथापि अवधारणार्थक - निश्चयात्मक 'एवकार' के अर्थ की प्राप्ति होती है । सामान्यतया जैन परम्परा में सर्वत्र 'स्याद्वाद' का ही आश्रय लिया जाता है । निश्चयात्मक भाषा का कहीं भी प्रयोग नहीं होता है और व्याकरण में भी लक्ष्यसिद्धि के लिए 'सिद्धिः स्याद्वादात्' १/१/२ सूत्र से 'स्याद्वाद' का स्वीकार किया गया है । अतः व्याकरण में प्रत्येक स्थान पर 'स्याद्वाद' से अनिश्चितता पैदा हो सकती है । उसी अनिश्चितता को दूर करने के लिए यह न्याय है । इस न्याय के कारण सर्वत्र 'स्याद्वाद' की प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः व्याकरण में सर्व वाक्यों का उच्चारण 'एवकार' युक्त ही मानना । उदा. 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ यहाँ दीर्घविधि होगी ही, ऐसा अर्थ करना और वैसा अर्थ करने से 'दण्डाग्रम्' इत्यादि प्रयोग में दीर्घविधि होगी ही ।

इस न्याय का ज्ञापक 'ऋलृति ह्रस्वो वा' १/२/२ इत्यादि सूत्रगत 'वा' शब्द है । यदि यह

न्याय न होता तो 'स्याद्वाद' के आश्रय से ही 'वा' शब्द बिना ही, केवल 'ह्रस्वः स्यात्' कहने से ही विकल्प से ह्रस्व हो जाता अर्थात् 'सिद्धिः स्याद्वादात्' १/१/२ सूत्र से ही विकल्प का कथन हो सकता है तथापि सूत्र में 'वा' शब्द रखा, वह इस न्याय के अस्तित्व का बोधक है और यह न्याय होने से 'ह्रस्वः स्यात्' कहने से केवल ह्रस्व ही होता, वह न हो इसके लिए 'वा' शब्द का प्रयोग करना आवश्यक है। 'विधिनिमन्त्रणामन्त्र-' ५/४/२८ से ' कामचार' मे भी सप्तमी (विध्यर्थ) होती है, वैसे यहाँ भी 'ह्रस्वः' कहने से ही 'ह्रस्वः स्यात्' च 'न स्यात्' अर्थ हो सकता है ।

उपलक्षण से क्वचित् (वाक्य के स्थान पर) पद मे भी 'एवकार' का प्रयोग समझ लेना चाहिए । उदा. 'लुगस्यादेत्यपदे' २/१/११३ सूत्रगत 'अपदे' के साथ 'एवकार' प्रयुक्त है, अर्थात् 'अपदे एव' अर्थ करने से 'दण्डाग्रम्' में 'वृत्त्यन्तोऽसषे' १/१/२५ से होनेवाले, वृत्ति के अन्तस्वरूप 'अग्र' को पदसंज्ञा नहीं होगी और उसका 'अ' अपदादि ही कहा जायेगा तथापि' लुगस्यादेत्यपदे' २/१/११३ से पूर्व 'अ' का लोप नहीं होगा क्योंकि समास अवस्था में 'अग्र' शब्द वृत्ति(समास) का अन्तिम खण्ड होने से 'वृत्त्यन्तोऽसषे' १/१/२५ से उसमें पदत्वका निषेध होने पर भी, समास से पूर्व वह पद था ही, अतः वही 'अ' अपदादि नहीं कहा जायेगा किन्तु पदादि भी कहा जायेगा और 'अपदादिस्थे एव' अर्थ करने से, उसमें यही 'अ' का समावेश नहीं होता है । जहाँ नित्य 'अपदादि' अकार और एकार हो, वहाँ ही, 'लुगस्यादेत्यपदे' २/१/११३ से पूर्व 'अ' का लोप होता है । उदा. 'पचन्ति' । यहाँ 'शव्' सम्बन्धि 'अ' का, 'अन्ति' का 'अ' पर में आने से लोप होता है । यही 'अन्ति' का 'अ' नित्य अपदादि ही है ।

इस न्याय के इसी पद सम्बन्धित अवधारणार्थ का ज्ञापन ऐसे एवकार रहित सूत्र ही हैं और वे इस न्याय के द्वारा स्वयमेव अवधारण अर्थ प्राप्त कर लेंगे, ऐसा विचार करके ही 'अनवधारणोक्ति' की गई है ।

इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' न्याय से होता है । यदि यह न्याय नित्य ही होता तो प्रत्येक वाक्य का सावधारणार्थक अर्थात् निश्चयात्मक ही अर्थ होता तो उसके लिए पुनः विधान करने की आवश्यकता नहीं थी । यहाँ 'व्याकरणशास्त्र में कुछेक विधियों का दो-दो बार विधान किया गया है । वह, सामान्य रूप से, उसी वाक्य का निश्चयात्मक अर्थ नहीं होने के कारण, किया गया है ।

आ. श्रीलावण्यसूरिजी ने पूर्व के न्याय में बताया है कि एक न्याय दूसरे न्याय का बाधक बनता नहीं है अर्थात् न्यायों में परस्पर बाध्यबाधकभाव नहीं होता है । जबकि यहाँ 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' और 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' न्याय में परस्पर बाध्यबाधकभाव का उन्होंने स्वीकार किया है । अतः उनकी मूल मान्यता के बारे में पुनः विचार करना चाहिए ।

श्रीहेमहंसगणि ने 'न्यायसंग्रह' में सर्वत्र न्यायों में परस्पर बाध्यबाधकभाव मानकर, न्यायों की अनित्यता बतायी है ।

व्याकरण के सूत्र के अर्थ को निश्चितता प्रदान करनेवाला यह न्याय है और यही निश्चितता स्वाभाविक होने से अन्य किसी भी परिभाषासंग्रह में यह न्याय प्राप्त नहीं है ।

॥ ११६॥ परार्थे प्रयुज्यमानः शब्दो वतमन्तरेणाऽपि वदर्थं गमयति ॥ ५९॥

अन्य अर्थ में प्रयुक्त शब्द, बिना 'वत्' ही 'वत्' के अर्थ (सादृश्य) को बताता है ।

'वत्' का अर्थ सादृश्य है । अन्यथा कोई भी शब्द अपने अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ में प्रयुक्त होने पर पारस्परिक विरोध पैदा होता है । यही विरोध दूर करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'वाऽन्यतः पुमांष्टादौ स्वरे' १/४/६२ सूत्रगत 'पुमान्' का अर्थ 'पुंवद्' होता है । यहाँ परार्थ नपुंसक है, उसके लिए 'पुंस्' शब्द प्रयुक्त है, अतः वही शब्द नपुंसक होने पर भी, उससे 'पुंवत्' कार्य होता है जैसे 'मृदवे कुलाय' । यहाँ 'मृदु' शब्द नपुंसक होने पर भी 'पुंवत्' होने से नपुंसकत्व के कारण होनेवाला 'न' का आगम 'अनाम्स्वरे'-१/४/६४ से नहीं होगा ।

'वाऽन्यतः'- १/४/६२ सूत्रगत पुमान् निर्देश ही इस न्याय का ज्ञापक है । यदि यह न्याय न होता तो 'पुंवद्' निर्देश ही किया होता ।

यह न्याय अनित्य होने से 'परतः स्त्री पुम्वत् स्त्र्येकार्थेऽनूङ्' ३/२/४९ में 'पुम्वद्' निर्देश किया है । यदि यह न्याय नित्य होता तो 'पुमान्' कहा होता तो भी चल सकता था ।

यह न्याय भी लोकसिद्ध ही है । उदा. 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि प्रयोगों में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द स्वार्थ में नहीं हो सकता है, अतः लक्षणा से 'अग्नि' के साथ सादृश्य बताता है और ऐसे स्थान पर शब्द के स्वाभाविक/मूल अर्थ का बाध होने से, लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो ही जाती है ।

यह न्याय कहता है कि जहाँ 'वत्' प्रत्यय का प्रयोग न हुआ हो, तथापि यदि 'वत्' का अर्थ गम्यमान हो तो, उसका स्वीकार करना चाहिए, और इस प्रकार 'वदर्थ' का समर्थन किया है, अन्य कुछ नवीन विधान यह न्याय नहीं करता है और जहाँ स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए 'वत्' प्रयुक्त हो,वहाँ वह व्यर्थ नहीं है, अतः उससे इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन नहीं होता है, और 'परतः स्त्री पुम्वत्'- ३/२/४९ सूत्रगत 'पुम्वत्' प्रयोग से कोई दोष पैदा नहीं होता है तथापि श्रीहेमहंसगणि ने ऐसे प्रयोगों के लिए इस न्याय की अनित्यता बतायी इसका तात्पर्य ऊपर बताया वही है । उनका आशय/उद्देश्य यही है कि जहाँ कहीं भी प्रयोजनवश या रूढि से लक्षणा का प्रयोग किया हो वहाँ इस न्याय की प्रवृत्ति करना किन्तु सर्वत्र वाच्यार्थ को छोड़कर लक्षणा का ही ग्रहण करना, ऐसा कोई नियम नहीं है । अतः 'वत्' का प्रयोग हो ही नहीं सकता ऐसा मानकर शास्त्रकार आचार्यश्री द्वारा प्रयुक्त 'वत्' की व्यर्थता बताकर, इस न्याय की अनित्यता का प्रतिपादन न करना चाहिए, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी मानते हैं ।

'वाऽन्यतः पुमांष्टादौ स्वरे' १/४/६२ सूत्र के बृहन्न्यास में, इस न्याय को सिद्ध ही माना गया है और इस प्रकार ही उसका ग्रहण किया गया है । इसके लिए सिद्धहेमबृहद्वृत्ति का शब्दमहार्णव न्यास देख लेना चाहिए । यह न्याय इसी स्वरूप में अन्य कहीं भी प्राप्त नहीं है ।

॥ ११७॥ द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः ॥६०॥

दो 'नञ्' प्रकृत अर्थ अर्थात् पूर्व के अर्थ को ही बताते हैं ।

'नञौ' पद द्वारा अर्थप्रधान निर्देश किया गया होने से दो निषेध लेना, अर्थात् जहाँ दो निषेध प्रयुक्त हो, वहाँ उन्हीं दो निषेध से पूर्व जो अर्थ हो, उसे प्रकृत अर्थ कहा जाता है और वही अर्थ ही दो 'नञ्'/निषेध से दृढ़ीभूत होता है ।

उदा. 'न नाम्येकस्वरात्'-३/२/९ सूत्रगत 'नञ्' विभक्ति के (प्रत्यय के) लुप् का निषेध करता है और उसी 'न' की अनुवृत्ति 'नेनुसिद्धस्थे' ३/२/२९ तक चली आती है । यहाँ पूर्व 'नञ्' और 'नेनुसिद्धस्थे'३/२/२९ का 'नञ्' -दोनों मिलकर विभक्ति के लुप् के निषेध का निषेध करता है, अर्थात् इसी सूत्र से विभक्ति के लुप् का ही विधान हुआ है ।

इस न्याय का ज्ञापक 'नेनुसिद्धस्थे' ३/२/२९ सूत्रगत 'न' है । यहाँ 'न नाम्येकस्वरात्'-३/२/९ से विभक्ति के लुप् के निषेध बतानेवाले 'नञ्' की अनुवृत्ति चली आती है तथापि लुब्विधि बताने के लिए पुनः 'नञ्' का ग्रहण किया है । यदि इस द्वितीय 'नञ्' से पूर्व 'नञ्' का अर्थ ही दृढ होता तो लुप्विधि सूचित करने के लिए पूर्व 'नञ्' की अनुवृत्ति होने पर भी लुब्विधि सूचित करने के लिए पुनः 'नञ्' का ग्रहण क्यों किया जाय ? अर्थात् न किया जाय, तथापि पुनः 'नञ्' ग्रहण किया है, वह इस न्याय के अस्तित्व को सूचित करता है ।

'नमो नमस्ते सततं नमो नमः' इत्यादि प्रयोगों में 'नमः' की द्विरुक्ति 'नमः' के स्वार्थ को दृढ बनाती है । यहाँ 'असकृत्संभ्रमे' ७/४/७२ से द्वित्व हुआ है, अतः उसी तरह यदि 'नञ्' का दो बार प्रयोग हुआ हो तो 'नञ्' के अर्थ को ही दृढ करता है या नहीं ? ऐसी आशंका दूर करने के लिए यह न्याय है ।

यहाँ 'द्वि' शब्द से समसंख्या में प्रयुक्त अर्थात् २-४-६-८-१० इत्यादि जुक्त संख्या में प्रयुक्त 'नञ्' लेना और वही प्रकृत विधि को ही बताता है ।

इस न्याय को श्रीहेमहंसगणि ने अनित्य बताया है । उसके फलस्वरूप यदि कोई व्यक्ति सम्भ्रम से दो बार 'नञ्' का प्रयोग करें तो, उसका अर्थ निषेध ही होता है किन्तु प्रकृत विधि नहीं होता है । उदा. यदि मनुष्य भोजन कर रहा हो, और यदि उसे अनीप्सित चीज परोसी जाय तो, वही मनुष्य तुरंत/सहसा 'न, न' कहता है, तब वह 'नञ्' के अपने अर्थ को ही दृढ करता है ।

आचार्य श्रीलावण्यसूरिजी ने इस न्याय को स्वभावसिद्ध बताया है । उन्होंने इस न्याय का कोई ज्ञापक बताया नहीं है और अनित्य भी नहीं बताया है, क्योंकि संभ्रम से किया गया निषेध दो, तीन या चार, बख्त का होने पर भी प्रकृत अर्थ को नहीं बताता है । वही व्यवहारसिद्ध ही है ।

इस न्याय की आवश्यकता के बारे में विचार करने पर लगता है कि पूर्व आये हुए न्याय 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' न्याय से, दूसरी बार कही गई पूर्व की बात, उसी बात को ही दृढ बनाती

है, वैसे यहाँ दूसरी बार का निषेध, पूर्व निषेध को दृढ नहीं करता है, ऐसा बताने के लिए यह न्याय जरूरी है ।

वस्तुतः यह न्याय, न्याय नहीं है किन्तु शब्दशक्ति के स्वभाव का परिचायक केवल वाक्य ही है । अतः अन्य वैयाकरणों ने इसके अनुकूल व्यवहार किया होने पर भी इसका न्याय के रूप में स्वीकार नहीं किया है । अतः इस व्याकरण के 'न्यायसंग्रह' में इसे सम्मिलित करना आवश्यक नहीं है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी का मानना है ।

॥ ११८ ॥ चकारो यस्मात्परस्तत्सजातीयमेव समुच्चिनोति ॥ ६१॥

'च' कार जिसके पर में आया हो, उसके सजातीय का ही वह समुच्चय करता है ।

'च' कार का किसी भी प्रकार के विशेषण से रहित केवल समुच्चय अर्थ ही होने से विजातीय का भी समुच्चय होने का प्रसंग उपस्थित होता है । उसका इस न्याय से निषेध किया गया है ।

'उपसर्ग' से पर आया हुआ 'चकार' पूर्व के सूत्र में से केवल उपसर्ग का ही समुच्चय या अनुकर्षण करता है । उदा. 'प्रतेश्च वधे' ४/४/९४ में स्थित 'चकार' से पूर्व के 'उपाद्भूषा'-४/४/९२ में स्थित 'उपात्'का ही समुच्चय/अनुकर्षण करता है ।

'प्रकृति' से पर आया हुआ 'चकार' 'प्रकृति' का समुच्चय करता है । उदा. 'एतदश्च व्यञ्जनेऽनग्नञ्समासे' १/३/४६ स्थित 'चकार', पूर्व के 'तदः सेः स्वरे'- १/३/४५ सूत्रस्थित प्रकृति-स्वरूप 'तदः' का समुच्चय करता है ।

प्रत्यय से पर आया हुआ 'चकार,' प्रत्यय का समुच्चय करता है । उदा. 'अर्डौ च' १/४/३९ स्थित 'चकार' पूर्व के 'तृ स्वसृ-नप्तृ'–१/४/३८ स्थित प्रत्यय के प्रकार स्वरूप 'घुटि' पद का समुच्चय करता है ।

आदेश से पर आया हुआ 'चकार' आदेश का ही समुच्चय करता है । उदा. 'आ च हौ'४/२/१०१ सूत्रगत 'आ' से पर आया हुआ 'चकार' पूर्व के 'इर्दरिद्रः' ४/२/९८ सूत्रगत 'इ' स्वरूप आदेश का ही समुच्चय करता है ।

आगम से पर आया हुआ 'चकार' आगम का समुच्चय करता है । उदा. 'अस् च लौल्ये' ४/३/११५ स्थित 'अस्' से पर आया हुआ 'चकार' पूर्व के 'वृषाश्वान्मैथुने'-४/३/११४ स्थित 'स्स' आगम का समुच्चय करता है ।

'अर्थ' से पर आया हुआ 'चकार' अर्थ का समुच्चय करता है । उदा. 'अतिरतिक्रमे च' ३/१/४५ सूत्रगत 'अतिक्रमे' से पर आया हुआ 'चकार' पूर्व के 'सुः पूजायाम्' ३/१/४४ स्थित 'पूजायाम्' अर्थ का समुच्चय करता है ।

वाक्यार्थ से आया हुआ 'चकार' वाक्यार्थ का समुच्चय करता है । उदा. 'तस्य व्याख्याने च ग्रन्थात्' ६/३/१४२ स्थित 'तस्य व्याख्याने' से पर आया हुआ 'चकार' पूर्व के 'भवे' ६/३/१२३ स्थित 'भवे' और उसके भी पूर्व के 'तत्र कृत-लब्ध-क्रीत'- ६/३/९४ स्थित 'तत्र', दोनों मिलकर बने हुए 'तत्र भवे' वाक्यार्थ का समुच्चय करता है ।

यहाँ अर्थ और वाक्यार्थ का भेद बताते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि अर्थ अर्थात् एक ही पद का अर्थ और वाक्यार्थ अर्थात् दो या दो से अधिक पदों के अर्थ का समूह/समुदाय ।

इस न्याय का ज्ञापन 'प्रतेश्च वधे' ४/४/९४ इत्यादि सूत्र में विजातीय पदों के समुच्चय की निवृत्ति के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है उससे होता है । वह इस प्रकार -'प्रतेश्च वधे' ४/४/९४ में 'च' का केवल समुच्चय अर्थ ही है । और 'किरो लवने '४/४/९३में समुच्चय दो प्रकार के हैं । एक सजातीय और दूसरा विजातीय । उसमें 'उप' उपसर्ग सजातीय है और वही इष्ट है, जब की विजातीय 'लवन'आदि इष्ट नहीं है । अतः विजातीय का व्यवच्छेद या निषेध करने के लिए कोई भी प्रयत्न अवश्य करना चाहिए किन्तु ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया, वह इस न्याय का ज्ञापक है ।

इस न्याय की अनित्यता प्रतीत नहीं होती है । 'समुच्चिनोति' शब्द से समुच्चयार्थक 'चकार' का ही इस प्रकार नियमन होता है । अनुकर्षणार्थक 'चकार' विजातीय का भी अनुकर्षण करता है और वैसा ही अगले 'चानुकृष्टं नानुवर्तते ॥१६२॥' न्याय में उदाहरण दिया गया है ।

इस न्याय के बारे में ज्यादा विचार करने पर, कुछ स्पष्टताएँ करनी आवश्यक लगती है । यहाँ श्रीहेमहंसगणि ने 'च' के मुख्य रूप से दो अर्थ या प्रकार बताये हैं : १.समुच्चय २. अनुकर्षण । जबकि आचार्य श्रीहेमचंद्रसूरिजी ने 'चार्थे द्वन्द्वः'-३/१/११७ सूत्र की बृहद्वृत्ति में, महाभाष्य के अनुसार 'च' के चार अर्थ बताये हैं : १. समुच्चय २. अन्वाचय ३. इतरेतर ४. समाहार । इसके बारे में वे कहते हैं कि 'तत्रैकमर्थं प्रति द्व्यादीनां क्रिया-कारक-द्रव्य -गुणानां तुल्यबलानामविरोधिनामनियत -क्रमयौगपद्यानामात्मरूपभेदेन चीयमानता समुच्चयः ।' और यही बात को समझाते हुए लघु न्यासकार कहते हैं कि एक ही कारक में अनेक क्रियाओं को, एक ही क्रिया में अनेक कारकों को, एक ही द्रव्य में अनेक कारकों को, एक ही कारक में अनेक द्रव्यों को और एक ही धर्मि में अनेक धर्मों और एक ही धर्म में अनेक धर्मिओं को रखना समुच्चय कहा जाता है ।

उपर्युक्त चार अर्थ में से एक भी अर्थ अनुकर्षणवाचि नहीं है । अतः अनुकर्षण को पाँचवाँ अर्थ मानना पड़ेगा । वस्तुतः शास्त्रकार को यदि यह पाँचवाँ अर्थ मान्य/स्वीकृत होता तो वह भी बताया होता, किन्तु शास्त्रकार ने वही अर्थ नहीं बताया है, अतः यही अनुकर्षण अर्थ का उपर्युक्त चार अर्थ में से ही एक अर्थ में समावेश करना चाहिए और शास्त्रकार ने समुच्चय अर्थवाचि 'चकार' का सूत्र में कहाँ कैसे प्रयोग होता है वह भी नहीं बताया है । अनुकर्षण का अर्थ है पूर्व के सूत्र में से किसी पद का 'चकार' से ग्रहण करना, वैसे समुच्चय का अर्थ भी, पूर्व के सूत्र में से किसी पद का 'चकार' से ग्रहण करना है ।

इसी अर्थ में अनुकर्षण और समुच्चय दोनों समान ही हैं । किन्तु कहाँ किस का अनुकर्षण/समुच्चय करना वह 'च' के अर्थ से स्पष्ट नहीं होता है । उसकी स्पष्टता करने के लिए यह न्याय है । जहाँ सजातीय और विजातीय दोंनों का अनुकर्षण प्राप्त हो वहाँ ही इस न्याय की प्रवृत्ति होती है, किन्तु जहाँ केवल विजातीय का ही अनुकर्षण उचित प्रतीत हो या अनुकर्षण होता हो वहाँ इस न्याय को अनित्य मानना चाहिए ऐसी हमारी/अपनी मान्यता है ।

लोक में भी सजातीय का सजातीय के साथ ही समुच्चय होता है । अतः यह बात लोकसिद्ध होने से ज्ञापक बताने की आवश्यकता नहीं है । आचार्यश्रीलावण्यसूरिजी , श्रीहेमहंसगणि के 'यत्नान्तराकरण' को ज्ञापक के रूप में मान्य नहीं करते हैं ।

यह न्याय लोकसिद्ध ही है और व्याकरण में इसके विरुद्ध नहीं होता है । अतः अन्य परिभाषा संग्रह में इसे संगृहीत नहीं किया है ।

॥११९ ॥ चानुकृष्टं नानुवर्तते ॥ ६२॥

'च' कार द्वारा अनुकृष्ट पद या वाक्य का अनुवर्तन नहीं होता है ।

'चकार' से अनुकृष्ट पद या वाक्य अगले सूत्र में नहीं जाता है अर्थात् अगले सूत्र में उसी पद या वाक्य की अनुवृत्ति नहीं होती है । 'अपेक्षातोऽधिकारः' न्याय से 'चकार' से अनुकृष्ट पद या वाक्य की भी अगले सूत्र में 'अनुवृत्ति' हो सकती थी, उसका निषेध करने के लिए यह न्याय है । इसमें 'पद' की अनुवृत्ति का उदाहरण इस प्रकार है । 'गडदबादेः'-२/१/७७ सूत्र में 'सुध्वोश्च' शब्दगत 'च' से पूर्वोक्त 'पदान्ते' २/१/६४ सूत्रगत 'पदान्ते' पद का अनुकर्षण होता है । यह 'पदान्ते' पद का बाद में आनेवाले 'धागस्तथोश्च' २/१/७८ सूत्र में अनुवर्तन नहीं होता है । वस्तुतः 'च' के बिना भी 'पदान्ते' की अनुवृत्ति हो सकती थी, तथापि अगले सूत्र में उसकी अनुवृत्ति को रोकने के लिए 'च' से अनुकर्षण किया गया है ।

वाक्य की अनुवृत्ति का उदाहरण इस प्रकार है -: 'सदोऽप्रतेः परोक्षायां त्वादेः' २/३/४४ सूत्रगत, 'परोक्षायां त्वादेः' वाक्य का 'स्वञ्जश्च' २/३/४५ सूत्रगत 'च' से अनुकर्षण होता है । उसी वाक्य की बाद में आनेवाले 'परिनिवेः सेवः' २/३/४६ सूत्र में अनुवृत्ति नहीं होती है । अतः 'स्वञ्ज' धातु का परोक्षा में द्वित्व होने के बाद पूर्व 'स' का 'ष' होता है किन्तु द्वितीय 'स' का 'ष' नहीं होता है । उदा. 'परिषस्वजे' जबकि 'सेव्' धातु का परोक्षा में द्वित्व होने के बाद दोनों 'स' का 'ष' होता है । उदा. परिषिषेवे ।

'चकार' से अनुकृष्ट हो इसकी अनुवृत्ति आगे नहीं जाती है, किन्तु 'च' से समुच्चित हो उसकी अनुवृत्ति यथेच्छ रूप से आगे जाती है । उदा. 'मो नो म्वोश्च' २/१/६७ सूत्र में 'म्वोश्च' का 'च' 'पदान्ते' का समुच्चय करता है, अतः 'पदान्ते' पद का 'स्रंसुध्वंसुक्वस्स-' २/१/६८ इत्यादि सूत्र में अनुवर्तन होता है ।

'स्वञ्जश्च' २/३/४५ सूत्र की वृत्ति गत 'च' कार सम्बन्धित टिप्पणी स्वरूप "चकारः परोक्षायां त्वादेः इत्यस्यानुकर्षणार्थस्ततश्च तस्य पुरोऽननुवृत्तिः सिद्धा ।" शब्द ही इस न्याय का ज्ञापक है ।

यह न्याय अनित्य होने से 'मारणतोषणनिशाने ज्ञश्च' ४/२/३० सूत्र के 'च' से 'णिचि च' का अनुकर्षण होता है, ऐसा कहने पर भी 'णिचि च' की अगले सूत्र में अनुवृत्ति होती है।

इस न्याय की जरूरत के बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि क्वचित् अधिकार की अपेक्षा की विवक्षा न की हो तो, इसके लिए चकार का उपयोग होता है । वही 'चकार' दो प्रकार के हैं । (१) 'विधेयघटितसूत्राव्यवहितसूत्रस्थः' और (२) तदितरसूत्रस्थः । इसमें द्वितीय प्रकार के 'चकार' के लिए यह न्याय है ।

यद्यपि लघुन्यासकार की व्याख्यानुसार 'चहणः शाठ्ये' ४/२/३१ सूत्र का अर्थ करने पर 'मारणतोषण'-४/२/३० सूत्र इस न्याय की अनित्यता का उदाहरण नहीं बनता है । वे 'चहणः शाठ्ये' ४/२/३१ सूत्र की टीका में बताते हैं कि-'धात्वाकर्षणे पूर्वेण सिद्धे फलाभावात् प्रकृतेरपि (परतः) स्थितः प्रत्ययमाकर्षति । स्वरूपाख्यानमिदं यावताधिकारायातमेव चकारेणानुमीयते । अन्यथा 'चानुकृष्टं नोत्तरत्रे' ति स्यात् ।" तथापि श्रीहेमहंसगणि के कथनानुसार अनित्यता का उदाहरण मानने में भी कोई बाध नहीं है क्योंकि ('णिचि च' के) अनुकर्षण के लिए ही यह 'चकार' है ऐसा श्रीहेमचन्द्रसूरिजी ने स्वयं बताया है । यह न्याय केवल कातंत्र की दुर्गसिंहकृत और भावमिश्र कृत दोनों परिभाषावृत्तियों और जैनेन्द्र में नहीं है ।

॥१२०॥ चानुकृष्टेन न यथासङ्ख्यम् ॥ ६३॥

'चकार' से अनुकृष्ट 'नाम' या 'प्रत्यय' के साथ 'यथासङ्ख्यम्' नहीं होता है ।

'चकार ' से अनुकृष्ट 'नाम' या 'प्रत्यय' 'यथासङ्ख्यम्' के लिए निकम्मा है । 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' न्याय का यह अपवाद है । उदा. 'वौ व्यञ्जनादेः सन् चाय्वः' ४/३/२५ सूत्र का अर्थ इस प्रकार है । 'वौ' अर्थात् 'उ' कार या 'इ' कार उपान्त्य में हो ऐसे व्यञ्जनादि धातु से पर आये 'सेट्' 'क्त्वा' और 'सन्' प्रत्यय दोनों विकल्प से 'किद्वद्' होते हैं । अतः 'मुदित्वा, मोदित्वा, मुमुदिषते, मुमोदिषते, लिखित्वा, लेखित्वा, लिलिखिषति, लिलेखिषति।' रूप होंगे । यहाँ 'क्त्वा, सन्' का 'वौ' के साथ संख्या और वचन से साम्य होने पर भी 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि 'क्त्वा' का 'च' से अनुकर्षण किया है ।

'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' न्याय होने पर भी 'वौ व्यञ्जनादेः-' ४/३/२५ सूत्र में अनिष्ट 'यथासङ्ख्यम्' की निवृत्ति के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया, वह इस न्याय का ज्ञापक है ।

यह न्याय अनित्य होने से 'शक्तार्हे कृत्याश्च' ५/४/३५ सूत्र में 'चकार' से अनुकृष्ट 'सप्तमी' और 'कृत्य' के 'शक्त' और 'अर्ह' अर्थों का 'यथासङ्ख्यम्' न हो इसलिए 'कृत्याः' में बहुवचन रखा है । यदि यह न्याय नित्य ही होता तो 'कृत्यश्च' रूप एकवचन करने पर भी 'कृत्यसप्तमी' के

साथ 'शक्तार्हे' का 'यथासङ्ख्यम्' होने की कोई संभावना नहीं थी किन्तु यह न्याय अनित्य है, अतः कदाचित् कोई ऐसी प्रवृत्ति करेगा, ऐसी आशंका से 'यथासङ्ख्यम्' की निवृत्ति करने के लिए बहुवचन रखा है । यहाँ ऐसी शंका नहीं करना कि 'कृत्य' प्रत्यय बहुत से होने के कारण बहुवचन रखा है । क्योंकि 'प्रैषानुज्ञाऽवसरे कृत्यपञ्चम्यौ' ५/४/२९ सूत्र में 'कृत्य' शब्द को एकवचन में ही रखा है और 'कृत्य' तथा 'पञ्चमी' का इतरेतर द्वन्द्व समास करके द्विवचन रखा है । अन्यथा 'कृत्यपञ्चम्यौ' के स्थान पर 'कृत्यपञ्चम्याः' किया होता ओर 'कृत्यत्व' जाति की विवक्षा से एकवचन ही रखना उपयुक्त है ।

इस न्याय के बारे में श्रीलावण्यसूरिजी इस प्रकार चर्चा करते हैं :- 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' न्याय से समान संख्यावाले उद्देशी के साथ समान संख्यावाले अनुदेशी का अनुक्रम से सम्बन्ध सूचित होता है । इसमें उद्देशी ओर अनुदेशी दो-दो प्रकार के होते हैं । कुछेक पूर्णतः सूत्र में बता दिये हों या उसकी संख्या का निर्देश किया गया हो और कुछेक का पूर्व सूत्र से 'चकार' द्वारा अनुकर्षण किया हो । पूर्व न्याय से दोनों में 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति होने की संभावना थी, किन्तु यह न्याय 'चकार' से अनुकृष्ट के साथ 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृति का निषेध करता है ।

लघुन्यासकार इस न्याय को थोड़ी सी भिन्न पद्धति से बताते हैं । वे कहते हैं कि 'राष्ट्रक्षत्रियात् सरूपाद् राजाऽपत्ये द्रिरञ्' ६/१/११४ सूत्र में 'अपत्य' शब्द का ग्रहण किया है, उसके द्वारा 'समुच्चीयमानेन न यथासङ्ख्यम्' न्याय का ज्ञापन होता है । वह इस प्रकार-'राष्ट्रक्षत्रियात्' -६/१/११४ सूत्र में 'राजाऽपत्ये' के स्थान पर 'राजनि च' कहा होता, तो भी 'यथासङ्ख्यम्' होता क्यों कि 'चकार' से 'अपत्य' अर्थ का 'समुच्चय' या 'अनुकर्षण' होने से 'राष्ट्रवाचि' शब्द से 'राजा' अर्थ में और 'क्षत्रियवाचि' शब्द से 'अपत्य' अर्थ में प्रत्यय करने के लिए 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति हो सकती थी तथापि 'यथासङ्ख्यम्' के लिए सूत्र में 'अपत्य' शब्द रखा, उससे सूचित होता है कि 'चकार' से समुच्चीयमान के साथ 'यथासङ्ख्यम्' की प्रवृत्ति आचार्यश्री को इष्ट नहीं है ।

और 'शक्तार्हे कृत्याश्च' ५/४/३५ सूत्र की वृत्ति के "बहुवचनमिहोत्तरत्र च यथासङ्ख्यं निवृत्त्यर्थम्" शब्द की व्याख्या करते हुए न्यासकार कहते हैं कि यदि 'राष्ट्रक्षत्रियात्-' ६/१/११४ सूत्रगत 'अपत्य' शब्द से 'समुच्चीयमानेन न यथासङ्ख्यम्' न्याय का ज्ञापन होने के बाद 'कृत्याश्च' का बहुवचन व्यर्थ होता है । वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि ज्ञापक से ज्ञापित विधि अनित्य होती है अर्थात् 'अपत्य' शब्द से ज्ञापित यह 'समुच्चीयमानेन न यथासङ्ख्यम्' न्याय भी अनित्य है ।

इस चर्चा का संक्षिप्त सार/तात्पर्य यह है कि न्यायसङ्ग्रहकार श्रीहेमहंसगणि द्वारा बताया हुआ 'यत्नान्तराकरणम्' ज्ञापक उचित नहीं है किन्तु 'राष्ट्र-क्षत्रियात्'- ६/१/११४ सूत्रगत 'अपत्य ग्रहण' ही ज्ञापक है ।

दूसरी एक बात विशेष रूप से दिखायी पडती है कि लघुन्यासकार के मत में अनुकर्षण और समुच्चय दोनों एक ही हैं और इस प्रकार का स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है ।

यह न्याय अन्य किसी भी परिभाषासंग्रह में नहीं है ।

॥१२१॥ व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिः ॥६४॥

'व्याख्या' से विशेष अर्थका बोध/ज्ञान होता है ।

सूत्र से व्याख्या का अभ्यर्हितत्व/महत्त्व ज्यादा है, उसका ज्ञापन करने के लिए यह न्याय है । उदा. 'करीषगन्धेरपत्यं वृद्धं स्त्री' अर्थ में 'ङसोऽपत्ये' ६/१/२८ से 'करीषगन्धि' शब्द से 'अण्' प्रत्यय होगा । वही 'अण्' का 'अनार्षे वृद्धे-' २/४/७८ से 'ष्य' आदेश होगा । बाद में 'अणञेयेकण नञ्स्नञ्टिताम्' २/४/२० से अणन्तलक्षण 'ङी' होने की प्राप्ति है किन्तु वह नहीं होता है क्यो कि इस सूत्र में 'अण्' का स्वरूप से ग्रहण किया है । जबकि यहाँ 'ष्य' रूप 'अण्' है अतः 'ङी' प्रत्यय नहीं होगा और यह बात 'अणञेयेकण्'- २/४/२० सूत्र की व्याख्या से प्राप्त होती है क्योंकि सूत्र में इस प्रकार का अर्थ करने के लिए कोई ज्ञापक नहीं है । इस प्रकार 'ङी' नहीं होने पर अकारान्त होने से स्त्रीलिङ्ग में 'आत्' २/४/१८ से 'आप्' प्रत्यय होगा और 'करीषगन्ध्या' प्रयोग ही होगा ।

'नेमार्द्ध-' १/४/१० सूत्र में 'तयट्' और 'अयट्' प्रत्ययों का 'नेम' आदि शब्दों के बीच निःशंक पाठ किया है वह इस न्याय का ज्ञापक है । 'तयट्' और 'अयट्' दोनों नाम नहीं हैं किन्तु प्रत्यय हैं और वही प्रत्ययान्त नाम यहाँ लिया जायेगा ऐसा इस न्याय से, इसी सूत्र की व्याख्या से स्पष्ट होगा, ऐसा मानकर निःसंकोच 'नाम' के बीच पाठ किया है ।

यह न्याय अनित्य है , अतः व्याख्या से ही अर्थ की नित्यता सिद्ध होने पर भी 'शरदः श्राद्धे कर्मणि' ६/३/८१ सूत्र में 'कर्मणि' शब्द रखा है । यदि यह न्याय नित्य होता तो 'सृजः श्राद्धे ञिक्यात्मने तथा' ३/४/८४ में जैसे 'श्राद्ध' का अर्थ 'श्रद्धावान्' लिया जाता है । जबकि 'श्राद्धमद्यभुक्तमिकेनौ' ७/१/१६९ में 'श्राद्ध' का अर्थ 'पितृदैवत्यकर्म' लिया जाता है । इसी प्रकार 'शरदः श्राद्धे कर्मणि' ६/३/८१ में 'श्राद्ध' शब्द का अर्थ 'पितृदैवत्यं कर्म' व्याख्या से प्राप्त हो सकता था तथापि यहाँ 'कर्मणि' शब्द का प्रयोग किया, वह इस न्याय की अनित्यता बताता है ।

इस न्याय के ज्ञापक 'नेमार्द्ध-' १/४/१० सूत्रगत 'तय' और 'अय' प्रत्यय ही लिये जायेंगे क्योंकि 'विशेषणमन्तः' ७/४/११३ या 'यत्र येन विना यदनुपपन्नं तत्र तेन तदाक्षिप्यते' न्याय से यहाँ 'तय' और 'अय' प्रत्ययान्त 'नाम' का ही ग्रहण होगा क्योंकि 'प्रत्ययाऽप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्' न्याय से 'तय' और 'अय' प्रत्यय ही लिए जायेंगे किन्तु 'साहचर्यात् सदृशस्यैव' न्याय से 'नाम' के बीच' 'तय' और 'अय' का पाठ किया होने से, उसे 'नाम' स्वरूप ही लेना पड़ेगा । अतः 'तय' और 'अय' प्रत्यय लेना कि नाम लेना, इसका कोई निर्णय नहीं हो सकेगा । अतः इस न्याय से सूत्र की व्याख्या/वृत्ति के आधार पर 'तय' और 'अय' को प्रत्यय मानकर तदन्त 'नाम' का यहाँ ग्रहण होगा ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने इस न्याय की चर्चा करते हुए बताया है कि 'तत्राऽसन्दिग्धानुष्ठान-सिद्ध्यर्थेऽत्र शास्त्रे तत्र तत्राचार्यैः सन्दिग्धोच्चारणं कृतं' अर्थात् 'इस शास्त्र में असन्दिग्धानुष्ठान की

सिद्धि के लिए आचार्यश्री ने वहाँ वहाँ सन्दिग्ध उच्चारण किया है ।' इस वाक्य का अर्थ विचित्र होता है। शास्त्रकार असन्दिग्धता की सिद्धि के लिए सन्दिग्ध उच्चारण करें, ऐसा नहीं माना जा सकता है । हाँ, इस न्याय की आवश्यकता के लिए ऐसा कहा जा सकता है कि जब व्याकरणशास्त्र की रचना हुई तब कुछेक बातें या कुछेक अर्थ लोक में बहुत प्रसिद्ध होंगे । अत: वे प्रसिद्ध अर्थ, व्याकरण के सूत्र में बताने की कोई आवश्यकता दिखायी नहीं पड़ी हो किन्तु कालक्रम से उन अर्थों की लोकप्रसिद्धि कम होने के कारण अर्थात् जिस अर्थ में वे व्याकरण के सूत्र में प्रयुक्त हों, उसी अर्थ के साथ साथ दूसरे अर्थ की भी उतनी ही प्रसिद्धि होने से स्वाभाविकतया व्याकरण के सूत्रगत अर्थ के लिए शंका उपस्थित होने पर उसको दूर करने के लिए, उसी समय से व्याकरण में इस न्याय का प्रवेश हुआ हो और बाद में वह सर्वसामान्य हो जाने से, पिछले वैयाकरणों ने सूत्र की संक्षिप्तता के लिए और अर्थ की स्पष्टता करने के लिए व्याख्या का ही आश्रय लिया हो । अत: शास्त्रकार के उच्चारण को सन्दिग्ध बताना उचित नहीं लगता है । हाँ, यही सन्दिग्धता वाचक या पाठक की अपेक्षा से है, जिसका निराकरण वृत्ति/व्याख्या से हो ही जाता है ।

इस न्याय के बारे में चर्चा करते हुए 'तरंग' में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि ग्रन्थकारों की शैली ही ऐसी होती है । ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में कहीं कहीं विशिष्ट ग्रन्थि या गुत्थी रखते हैं, जिसका निराकरण/उत्तर केवल गुरुपरम्परा से ही प्राप्त हो सकता है किन्तु अपनी बुद्धि से उसका सही अर्थ नहीं किया जा सकता है । शास्त्र में पाठक की स्वच्छन्द प्रवृत्ति रोकने के लिए ऐसी ग्रन्थि रखी जाती है । इसके दृष्टान्त के रूप में उन्होंने 'पण्डित हर्ष' के 'खण्डखाद्य' का निम्नोक्त श्लोक रखा है ।

"ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुः श्लथीकृतदृढग्रन्थिः करोत्वादरात्,
अद्वैतामृतसिन्धुसम्भवरसेष्वासञ्जनं सज्जनः ॥"

किन्तु यह बात उचित नहीं है । और यहाँ इस बात का कोई प्रयोजन भी नहीं है ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय की अनित्यता का स्वीकार नहीं करते हैं । इसके बारे में चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि सर्वत्र व्याख्यान का ही आलम्बन लेना शक्य है तथापि कदाचित् स्पष्टता के लिए सूत्र में ही यदि कोई विशेष शब्द रखा हो तो इसमें कोई दोष नहीं है और इसके लिए इस न्याय के अनित्यत्व की कल्पना करना जरूरी नहीं है । उदा. 'सृजः श्राद्धे ञिक्यात्मने तथा' ३/४/८४ में 'श्राद्ध' शब्द का 'श्रद्धावान्' अर्थ ग्रहण किया है, जबकि 'श्राद्धमद्यभुक्तमिकेनौ' ७/१/१६९ में 'श्राद्ध' शब्द का 'पितृदैवत्यं कर्म' अर्थ किया है । इन दोनों अर्थ व्याख्या से ही स्पष्ट होते हैं ऐसा श्रीहेमहंसगणि मानते हैं और उसी तरह 'शरदः श्राद्धे कर्मणि' ६/३/८१ में 'कर्मणि' शब्द बिना ही व्याख्या से स्पष्टता हो सकती है तथापि 'कर्मणि' शब्द रखा इसमें कोई दोष नहीं है । यहाँ 'श्राद्ध' शब्द का अर्थ 'पितृदैवत्यं कर्म' होता है, उसका अनायास ही बोध

हो इसलिए 'कर्मणि' शब्द रखा है ।

वस्तुतः 'सृजः श्राद्धे'-३/४/८४ में 'श्राद्ध' का 'श्रद्धावान्' अर्थ और 'श्राद्धमद्यभुक्तमिकेनौ' ७/१/१६९ में 'श्राद्ध' का 'पितृदैवत्यं कर्म' अर्थ व्याख्या से ही प्राप्त है ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि 'सृजः श्राद्धे-' ३/४/८४ में 'कर्तर्यनद्भ्यः शव्' ३/४/७१ से 'कर्तरि' शब्द की अनुवृत्ति चली आती है। अतः 'श्राद्ध' शब्द से 'श्रद्धावान्' का ही बोध हो सकता है। जबकि 'श्राद्धमद्यभुक्त'-७/१/१६९ में 'श्राद्धं' और 'भुक्तं' में नपुंसकलिंग होने से, 'भुजि' के साहचर्य से 'श्राद्ध' का 'पितृदैवत्यं कर्म' अर्थ मालूम हो जाता है, अतः उसी अर्थ के लिए केवल व्याख्या की ही अपेक्षा नहीं रहती है। उसी प्रकार यहाँ भी 'शरदः श्राद्धे कर्मणि' ६/३/८१ में 'श्राद्ध' का 'पितृदैवत्यं कर्म' अर्थ ही स्वभाव से लिया जा सकता है और उसका ही बोध कराने के लिए सूत्र में 'कर्मणि' शब्द रखा है किन्तु इस न्याय के अनित्यत्व का ज्ञापन करने के लिए नहीं ।

केवल कातंत्र की दुर्गसिंहकृत परिभाषावृत्ति और जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति में ही यह न्याय नहीं है, इसे छोड़कर सभी परिभाषाओं में यह न्याय स्वीकृत है ।

॥१२२॥ यत्राऽन्यत्क्रियापदं न श्रूयते, तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रयुज्यते ॥ ६५॥

जहाँ दूसरा कोई भी क्रियापद न दिखायी पड़ता हो वहाँ 'अस्ति' और 'भवन्ति' अर्थात् 'अस्' और 'भू' धातु के रूपों को क्रियापद के स्वरूप में मान लेना ।

'यत्र' अर्थात् वाक्य के अङ्ग-स्वरूप पद-समुदाय में, इस प्रकार विशेष्य अध्याहार समझ लेना और 'अस्ति' से 'भवति, विद्यति' आदि समानार्थक धातुओं के रूप लिये जा सकते हैं तथा 'भवन्ति'-'वर्तमाना' के प्रयोग से उपलक्षण द्वारा प्रकरणानुसार 'सप्तमी, पञ्चमी, ह्यस्तनी' आदि का भी प्रयोग होता है । आख्यातपदरहित होने से, वैसा पद-समुदाय वाक्य नहीं कहा जा सकता है। उसे वाक्य बनाने के लिए 'अस्ति' आदि आख्यात-पद का अवश्य प्रयोग करना पडता है । और 'सविशेषणमाख्यातं वाक्यम्' १/१/२६ सूत्र से आख्यात-पद को ही वाक्य संज्ञा की गई है, अतः आख्यातपद के बिना वाक्य नहीं होता है, अतः आख्यात-पदरहित वाक्य-स्वरूप पद-समुदाय में 'अस्ति' आदि आख्यात पद को अध्याहार समझ लेना । आगे कहे गए उदाहरण में साक्षात् क्रियापद का अभाव होने से, उसके वाक्यत्व की किसी को शंका हो सकती है, इसे दूर करने के लिए यह न्याय है ।

इसमें 'वर्तमाना' के 'भवन्ति' का प्रयोग इस प्रकार होता है । (१) 'जम्बुद्वीपस्तत्र सप्त वर्षाणि ।' यहाँ 'अस्ति' और 'सन्ति' अध्याहार है । (२) सप्तमी का प्रयोग :- 'शिर्घुट्' १/१/२८ 'औदन्ताः स्वराः' १/१/४ , यहाँ 'स्यात्' और 'स्युः' अध्याहार हैं । (३) 'पञ्चमी' और 'आशीः' 'देवो मुदे वो वृषभः परे च', यहाँ 'अस्तु', 'सन्तु' अथवा 'भूयाद्, भूयासुः' अध्याहार हैं । (४) ह्यस्तनी, अद्यतनी और परोक्षा-: 'अवन्त्यां विक्रम नृपस्तस्य द्वापञ्चाशद् वीराः ।' यहाँ 'आसीद्' और

'आसन्' या 'अभूत्' और 'अभूवन्' या 'बभूव ' और 'बभूवुः' का प्रयोग समझ लेना । (५) श्वस्तनी-: 'अतः परं श्वो भोजनम्' । यहाँ 'भविता' अध्याहार है । (६) भविष्यन्ती -: 'अद्य नश्चतुर्षु गव्यूतेषु भोजनम् । भाविन्यां तु पद्मनाभः सुरदेव इत्यादि ।' यहाँ 'भविष्यति' और 'भविष्यन्ति' अध्याहार है । क्रियातिपत्ति का प्रयोग प्रायः साक्षात् ही होता है क्योंकि क्रियातिपत्ति के प्रयोग विना, उसका अर्थ प्रतीत नहीं होता है ।

'तदस्य पण्यम्' ६/४/५४ इत्यादि सूत्र ही इस न्याय के ज्ञापक हैं । यहाँ 'अस्ति' क्रियापद है ही, अन्यथा अर्थसंगति नहीं होती है तथापि 'अस्ति' का साक्षात् प्रयोग नहीं किया है, वह इस न्याय के आशय से ही ।

यह न्याय अनित्य है, अतः कदाचित् 'अस्' और 'भू' से भिन्न धातुओं के रूपों का प्रयोग भी अध्याहार होता है । उदा. 'अर्हम्' १/१/१ यहाँ 'प्रणिदध्महे' अध्याहार है ।

इस न्याय का मूल 'अनुपपत्ति मूलक तर्क' ही है । वह इस प्रकार -: 'येन विना यदनुपपन्नं तेन तदाक्षिप्यते' न्याय से यहाँ 'आख्यात पद' के बिना अनुपपन्न वाक्यत्व, आख्यात पद का आक्षेप कराता है और सर्वत्र ही अन्य अर्थवाले धातुओं का सम्बन्ध नहीं हो सकता है, और 'सत्ता' अर्थवाले 'अस्', 'भू' इत्यादि की अपेक्षा सब कारक में रहती है, अतः इनका यहाँ प्रयोग होता है ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय की अनित्यता का स्वीकार नहीं करते हैं । वे कहते हैं कि यहाँ जैसे 'भवन्तीपरः' में स्थित 'भवन्ति' स्वरूप 'वर्तमाना' के प्रयोग द्वारा उपलक्षण से अन्य विभक्ति के रूपों का भी स्वीकार किया है वैसे 'अस्ति' के उपलक्षण से यथायोग्य अन्य धातु सम्बन्धित प्रयोगों का भी प्रयोग होता है, इस प्रकार अर्थ करने से 'अर्हम्' १/१/१ में प्रणिदध्महे की अध्याहारता सिद्ध हो जाती है, अतः इस न्याय को अनित्य नहीं मानना चाहिए ।

यह न्याय भी लोकसिद्ध होने से सभी व्याकरणों में उसकी प्रवृत्ति हुई है तथापि अन्य किसी भी परिभाषासंग्रह में इसे न्याय के रूप में नहीं बताया है ।

इस प्रकार श्रीहेमहंसगणि द्वारा समुच्चित पैंसठ न्यायों की वृत्ति-विवेचन पूर्ण हुआ ।

★★★

इति कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यैर्विरचित
श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनस्य पण्डित श्रीहेमहंसगणिभिः
स्वसमुच्चितानां पञ्चषष्टिमितन्यायानां
द्वितीयवक्षस्कारस्य
पण्डित श्रीहेमहंसगणिकृत स्वोपज्ञन्यायार्थमञ्जूषा
नाम बृहद्वृत्तेश्च स्वोपज्ञन्यासस्य च
तपागच्छाधिराज-शासनसम्राट्
आचार्य श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वराणां पट्टालङ्कार
आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरीश्वरैः
सन्दृब्धं न्यायार्थसिन्धुं च तरङ्गं च क्वचित् क्वचिदुपजीव्य
शासन सम्राट् आचार्य
श्रीविजयनेमि-विज्ञान- कस्तूर-यशोभद्र-शुभङ्करसूरिणां
पट्टधर आचार्य श्री विजयसूर्योदयसूरीश्वराणां
शिष्य
मुनि नन्दिघोषविजयकृत
सविवरणं हिन्दीभाषानुवादः
समाप्तिमगात् ॥

अथ

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनगत

पण्डित श्रीहेमहंसगणिभिः

समुच्चितानां पूर्वेभ्यो विलक्षणानामष्टादशानां

न्यायानां तृतीयो वक्षस्कारः ॥

अथ श्रीहेमहंसगणि ने स्वयं एकत्रित किये हुए कुछेक न्याय और न्यायसदृश विशेषवचन कि जो प्रायः व्यापकत्व और ज्ञापक इत्यादि से रहित हैं, इनका सविस्तार विवेचन किया जाता है।

॥१२३ ॥ यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेः प्रतिषेधः ॥१॥

जिस 'उपाधि' से विशिष्ट की 'विभाषा' की गई हो, उसी 'उपाधि' से विशिष्ट का ही 'प्रतिषेध' होता है ।

'इट्' के विषय में जिस 'उपाधि' से विशिष्ट की विभाषा की गई हो, उसका ही निषेध होता है। 'उपाधि' अर्थात् व्यवच्छेदक विशेषण ।

जिस विशेषण से विशिष्ट धातु या प्रत्यय सम्बन्धित 'इट्' की विभाषा अर्थात् विकल्पोक्ति की गई हो, उसी विशेषण से विशिष्ट का ही 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ से 'इट्' निषेध करना किन्तु, उसी विशेषण से रहित का 'इट्' निषेध नहीं मानना ।

इष्ट का नियमन करने के लिए यह न्याय है। उदा. 'गमहनविद्लृविशदृशो वा' ४/४/८३ से 'विद्लृंती लाभे' धातु से ही 'इट्' निषेध होगा क्योंकि वह 'वेट्' है। जबकि 'विदक् ज्ञाने' धातु से पर में आये हुए 'क्त, क्तवतु' की आदि में 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ से 'इट्' निषेध नहीं होता है किन्तु नित्य ही 'इट्' होता है। उदा. 'विदितः, विदितवान्'

यहाँ किसीको शंका हो सकती है कि 'गमहनविद्लृ-' ४/४/८३ में 'विद्लृ' सानुबंध का ग्रहण किया होने से 'विन्दति' का ग्रहण होता है क्योंकि वह 'वेट्' है। जबकि 'वेत्ति' रूपवाले 'विद्' धातु से पर में आये हुए 'क्त, क्तवतु' के आदि में 'इट्' निषेध नहीं होगा। अतः इस न्याय की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। यह बात सत्य है किन्तु 'नानुबन्धकृतानि असारूप्यं-' न्याय से अनुबन्ध से हुआ वैरूप्य मान्य नहीं है और 'हृषितः, हृषितवान्' अर्थात् तुष्टः, यहाँ 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ से 'इट्' निषेध नहीं होगा क्योंकि 'केशलोमविस्मय' इत्यादि अर्थवाला ही 'हृष्' धातु 'वेट्' है। 'तुष्ट्यर्थक हृष्' धातु 'सेट्' है।

'नवा भावारम्भे' ४/४/७२ सूत्र का 'आदितः' ४/४/७१ सूत्र से पृथक् योग किया है, वह इस न्याय का ज्ञापक है। वह इस प्रकार -: 'आदितो नवा भावारम्भे' स्वरूप एक ही सूत्र करने से

भी 'आदित्' धातुओं से 'भाव' और 'आरम्भ' अर्थ में हुए 'क्त, क्तवतु' प्रत्ययों से वेट्त्व के कारण और अन्य कर्ता, कर्म इत्यादि अर्थ में हुए 'क्त, क्तवतु' को 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ से 'इट्' निषेध होगा किन्तु एक योग करने से 'आदित्' धातु से पर में 'भाव' और 'आरम्भ' अर्थ में ही धातु 'वेट्' है। अतः इस न्याय से 'भाव' और 'आरम्भ' अर्थ में ही हुए 'क्त, क्तवतु' प्रत्यय के आदि में 'इट्' निषेध होगा किन्तु कर्ता, कर्म इत्यादि अर्थ में हुए 'क्त, क्तवतु' के आदि में 'इट्' निषेध नहीं होगा और साक्षात् विरोध उत्पन्न होगा। वह इस प्रकार-: 'आदितो नवा भावारम्भे' सूत्र करने से 'आदित्' धातुओं से ही पर 'भाव' और 'आरम्भ' अर्थ में हुए 'क्त, क्तवतु' की आदि में 'इट्-विकल्प' होगा। जबकि 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ से 'भाव' और 'आरम्भ' अर्थ में ही हुए' क्त, क्तवतु' के आदि में 'इट्' निषेध होता है और पृथग्योग करने से कर्ता, कर्म इत्यादि अर्थ में हुए 'क्त, क्तवतु' की आदि में 'इट्' का निषेध 'आदितः' ४/४/७१ से सिद्ध होगा। जबकि 'भाव' और 'आरम्भ' अर्थ में हुए 'क्त, क्तवतु' के आदि में 'इट्' का विकल्प 'नवा भावारम्भे' ४/४/७२ से होता है। इस प्रकार 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ सूत्र को आदित् धातु के विषय में अनवकाश बनाने से उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी और विरोध दूर हो जायेगा।

इस प्रकार इस न्याय से उत्पन्न विरोध को दूर करने के लिए पृथग्योग किया, वह इस न्याय का ज्ञापक है।

यह न्याय वस्तुतः न्याय नहीं है किन्तु केवल विशेषवचन ही है। सामान्यतया न्यायशास्त्र में सर्वत्र लागु होता है अर्थात् उसकी प्रवृत्ति व्यापक होती है। जबकि इस वचन की प्रवृत्ति केवल 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ सूत्र के लिए ही है और यही बात पाणिनीय परम्परा में 'यस्य विभाषा' (पा.सू.७/२/१५) सूत्र के महाभाष्य में भी प्राप्त है।

यह न्याय अन्य किसी भी परिभाषासंग्रह में संगृहीत नहीं है।

॥१२४॥ यस्य येनाभिसन्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन सः ॥२॥

जिसका, जिसके साथ सम्बन्ध हो, वह उससे दूर होने पर भी, वह सम्बन्ध मान्य ही है।

उदा. 'अश्वेन चैत्रः सञ्चरते।' इत्यादि प्रयोग में 'अश्वेन' और 'सञ्चरते' के बीच 'चैत्रः' का व्यवधान होने पर भी, तृतीयान्त 'अश्वेन' पद के साथ ही 'सञ्चरते' का योग माना जाता है, अतः वहाँ 'समस्तृतीयया' ३/३/३२ से आत्मनेपद होता है। सामान्यतया 'योग' शब्द का अर्थ, दो के बीच/आनन्तर्य ही प्रसिद्ध है। अतः यह न्याय बताया है।

यह न्याय केवल इतना ही सूचित करता है कि दो शब्दों के बीच किसी भी शब्द का व्यवधान होने पर वह, उसी शब्द के अर्थ द्वारा प्रयुक्त आनन्तर्य सम्बन्ध का नाश नहीं कर सकता है।

यह न्याय लोकसिद्ध ही है क्योंकि लोक में दो व्यक्ति का पिता-पुत्र, माता-पुत्री इत्यादि स्वरूप सम्बन्ध, वे लोग हजारों मील दूर होने पर भी निवृत्त नहीं होता है। इस प्रकार यहाँ भी दो शब्दों के बीच जो सम्बन्ध है वह किसी शब्द के व्यवधान के कारण दूर नहीं हो सकता है।

संक्षेप में दो शब्दों के सम्बन्ध की विवक्षा को स्वीकृति देनेवाला यह न्याय है ।

यह न्याय अन्य किसी भी परिभाषासंग्रह में नहीं है ।

॥ १२५ ॥ येन विना यन्न भवति तत्तस्यानिमित्तस्यापि निमित्तम् ॥ ३॥

जिसके बिना, जो कार्य होता ही नहीं है, वह उसी कार्य का निमित्त नहीं होने पर भी, उसका उसी कार्य के निमित्त के स्वरूप में व्यपदेश किया जाता है ।

जो, जिसके साथ सहचरित ही देखने को मिलता है, किन्तु अकेला देखने को नहीं मिलता है, वह उसी कार्य के लिए निर्निमित्त के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी, उसको निमित्त के रूप में माना जाता है । अतः कदाचित् उसके अभाव में 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' न्याय से नैमित्तिक रूप कार्य की भी निवृत्ति होती है ।

उदा. 'कृतण्' धातु का 'कीर्त्त्' आदेश 'णिच्' के साथ ही देखने को मिलता है । अतः 'कृत्' धातु का 'कृतः कीर्त्तिः' ४/४/१२२ से होनेवाला 'कीर्त्त्' आदेश निर्निमित्त होने पर भी, 'णिच्' का उसके निमित्त के रूप में व्यपदेश होता है । अतः 'कृतति' प्रयोग में 'अनित्यो णिच्चुरादीनाम्' न्याय से 'णिच्' अनित्य होने से 'णिच्' के अभाव में 'कीर्त्त्' आदेश भी नहीं होता है ।

यहाँ एक शंका और भी हो सकती है कि यदि 'कृतण्' का 'कीर्त्ति' आदेश किसी भी निमित्त बिना ही करना है, और होता हो तो धातुपाठ में ही 'कृतण्' के स्थान पर 'कीर्त्तण्' उपदेश अर्थात् पाठ करना चाहिए । इसके बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यदि ऐसा होता तो 'कृतण्' में ऋृकारोपदेश' अचीकृतद्' इत्यादि प्रयोग में 'ऋकार' के श्रवण के लिए है ऐसा जो बृहद्वृत्ति में बताया गया है, वह उचित नहीं है क्योंकि उन्होंने बताया है, उसी प्रकार से 'अचीकृतद्' इत्यादि में 'ऋकार' श्रवणमात्र ही इसका फल है । जबकि तुम्हारे (श्रीहेमहंसगणि के) वचन अनुसार 'कृतति' प्रयोग में 'ऋृकार श्रवण भी 'कृतण्' पाठ का ही एक अन्य फल है । अतः दोनों विधान में परस्पर स्पष्ट विरोध आता है ।

किन्तु यह बात उचित नहीं है । यहाँ शास्त्रकार/सूत्रकार का आशय इस प्रकार है । 'कृत ऋृकारोपदेशोऽचीकृतद् इत्यत्र ऋकारश्रवणार्थः' वृत्तिकार/शास्त्रकार का यह विधान समाधान ग्रन्थ-स्वरूप है । यहाँ 'कृतण्' पाठ क्यों किया है, इसकी चर्चा करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि 'कृतण्' के स्थान पर 'कीर्त्तण्' पाठ किया होता तो 'कीर्तयति' इत्यादि प्रयोग की सिद्धि बिना सूत्रारम्भ ही हो सकती है, तो 'कृतण्' पाठ करने की क्या जरूरत ? उसका समाधान देते हुए वे कहते हैं कि यदि 'कीर्त्तण्' किया हो तो केवल 'अचिकीर्तत्' एक ही रूप होगा और 'अचीकृतद्' रूप नहीं होगा । जबकि 'कृतण्' पाठ करने से 'अचीकृतद्' और 'अचिकीर्तत्' दोनों रूप सिद्ध हो सकते हैं।

यहाँ श्रीलावण्यसूरिजी पूर्वपक्ष स्थापन करते हुए कहते हैं कि कुछेक 'ऋकारश्रवणार्थः' पद का अर्थ 'ऋकारश्रवणमात्रफलम्' ऐसा करते हैं और दोनों के बीच विरोध बताते हैं, वह उचित नहीं

है और इस प्रकार का अर्थ करके ऐसी शंका उत्पन्न करना उचित भी नहीं है क्योंकि शास्त्रकार के विधान से 'कृतति' प्रयोगगत 'ऋकारश्रवण' का निषेध नहीं होता है ।

'कृतण्' पाठ करने से 'ऋदूवर्णस्य' ४/२/३७ सूत्र से उपान्त्य ऋकार और ऋकार का 'ङपरक णि' प्रत्यय पर में आने पर ह्रस्व 'ऋ' होता है और दीर्घ 'ॠ' कृतण् के सिवा कहीं भी उपलब्ध नहीं है । यही सूत्र 'कीर्त्त्' आदेश का बाध करता है । अत: जब इसी सूत्र से 'कृत्' आदेश विकल्प से होगा तब 'कीर्त्' आदेश नहीं होगा किन्तु 'कृत्' आदेश नहीं होगा तब 'कीर्त्त्' आदेश होगा ही, और 'अचिकीर्तत्'तथा 'अचीकृतद्' ऐसे दोनों रूप सिद्ध होंगे ।

यहाँ श्रीलावण्यसूरिजी पुन: पूर्वपक्ष स्थापन करते हुए कहते हैं कि यदि ऐसा हो तो 'कृतण्' के स्थान पर 'कृतण्' पाठ करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से 'कृतण्' पाठ के सामर्थ्य से ही 'अचीकृतत्' रूप सिद्ध हो सकता है और ऐसा करने पर 'ऋदूवर्णस्य'४/२/३७ सूत्र में 'वर्ण' पद का ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती है तथा 'कृत: कीर्त्ति:' ४/४/१२२ के स्थान पर 'कृत: कीर्त्ति:' सूत्र करने पर मात्रालाघव भी होता है । यह बात सत्य है किन्तु उपर बताया उसी तरह 'कृतण्' पाठ करने से 'कृतैत्' धातु का भी 'कीर्त्त्' आदेश होने की शंका उत्पन्न होती है तथा 'अनित्यो णिच् चुरादीनाम्' न्याय से 'णिच्' के अभाव में 'कीर्त्त्', आदेश नहीं होने पर 'कर्तति' स्वरूप अनिष्ट रूप होगा, जबकि 'कृतति' रूप ही इष्ट है । अत: 'कृतण्' पाठ ही उचित है और कृतति रूप की सिद्धि के लिए इस न्याय का आश्रय करना भी उचित है ।

यह न्याय अन्य परिभाषासंग्रह में नहीं है।

॥१२६॥ नामग्रहणे प्रायेणोपसर्गस्य न ग्रहणम् ॥४॥

'नाम' के ग्रहण से प्राय: 'उपसर्ग' का ग्रहण नहीं होता है ।

'उपसर्ग' भी एक प्रकार का 'नाम' ही कहा जाता है अत: उसकी प्राप्ति थी उसका निषेध करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'उपस्पृशति' प्रयोग में 'उप' उपसर्ग स्वरूप नाम के पर में 'स्पृश्'धातु होने पर भी 'स्पृशोऽनुदकात्' ५/१/१४९ सूत्र से 'क्विप्' नहीं होता है, अत: 'उपस्पृक्' प्रयोग साधु/उचित नहीं माना जाता है । यहाँ न्याय में 'प्रायेण' शब्द रखा है, वह ऐसा सूचित करता है कि क्वचित् 'नाम्' के ग्रहण से उपसर्ग का भी ग्रहण होता है । उदा. 'अर्द्धं भजति अर्द्धभाक्' प्रयोग में जैसे 'अर्द्ध' नाम से पर में आये हुए 'भज्' धातु से 'भजो विण्' ५/१/१४६ 'विण्' प्रत्यय हुआ है वैसे 'प्रभाक्' प्रयोग में भी 'प्र' उपसर्ग को 'नाम' मानकर 'भजो विण्' ५/१/१४६ से 'विण्' प्रत्यय होगा और 'प्रभाक्' रूप सिद्ध होगा ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने बताया है उसी प्रकार, यह न्याय कहीं भी न्याय के स्वरूप में उपलब्ध नहीं है । केवल संभावनामूलक ही यह न्याय है और इस न्याय की कोई आवश्यकता भी दिखायी नहीं पड़ती है । जिस उदाहरण के लिए श्रीहेमहंसगणि ने यह न्याय बताया है, उसकी सिद्धि अन्य प्रकार से भी हो सकती है और वह इस प्रकार है । 'स्पृशोऽनुदकात्' ५/१/१४९ सूत्र में 'अनुदकात्'

शब्द में 'पर्युदास नञ्' है और 'पर्युदासः सदृग्ग्राही' उक्ति के आधार पर यहाँ 'अनुदकात्' का अर्थ 'उदक' शब्द से भिन्न तथा 'उदक' सदृश अर्थात् 'द्रव्यवाची नाम' होता है, अतः उदक को छोड़कर अन्य द्रव्यवाची 'नाम' से पर आये हुए 'स्पृश्' धातु से इसी सूत्र द्वारा 'क्विप्' प्रत्यय होगा और बृहद्वृत्ति में भी ऐसा ही कहा है★ । अतः पर्युदास नञ् के बल पर, यह निवारण होता है अतः इस न्याय का यहाँ कोई उपयोग नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है । यदि शास्त्रकार आचार्यश्री को वह इष्ट होता तो अवश्य इस न्याय का उपयोग किया होता । अन्य उपाय होने से, यह नया न्याय नहीं बनाना चाहिए । कदाचित् अन्यत्र क्वचित् इस न्याय का उपयोग हो सकता है किन्तु प्रस्तुत उदाहरण में इस न्याय की प्रवृत्ति उचित नहीं लगती है । और अन्य प्रयोग में 'नाम' से उपसर्ग का ग्रहण होता ही है ।

यह न्याय अन्य किसी भी व्याकरण में नहीं है।

॥१२७॥ सामान्यातिदेशे विशेषस्य नातिदेशः ॥ ५॥

सामान्य का अतिदेश हुआ हो तो विशेष का अतिदेश नहीं होता है ।

अन्यत्र प्रसिद्ध अर्थ का अन्यत्र कथन करना अतिदेश कहा जाता है या किसी एक पदार्थ के धर्म या लक्षण का अन्य में आरोपण करना अतिदेश कहा जाता है । 'निर्विशेषं न सामान्यम्' वचनानुसार, वस्तुतः विशेष का सामान्य में समावेश हो जाता है । अतः ऐसा माना जाता है कि सामान्य का अतिदेश होता है तब विशेष का भी अतिदेश हो ही जाता है किन्तु ऐसा नहीं होता है । ऐसा बताने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'भूतवच्चाशंस्ये वा' ५/४/२ सूत्र में 'भूतवत्' स्वरूप सामान्य से अतिदेश करने से 'अनद्यतनत्व' या 'परोक्षत्व' विशिष्ट भूतकाल का अतिदेश नहीं होता है । अत एव 'उपाध्यायश्चेदागमत् एते तर्कमध्यगीष्महि' इत्यादि प्रयोग में दोनों स्थान पर 'भूतवच्चा' -५/४/२ सूत्र से भूतकाल मात्र लक्षणयुक्त अद्यतनी के प्रत्यय हुए हैं । किन्तु अनद्यतनत्व विशिष्ट 'ह्यस्तनी' या परोक्षत्व विशिष्ट 'परोक्षा' के प्रत्यय नहीं हुए हैं ।

यहाँ 'भूतत्व' सामान्य धर्म है, जबकि अनद्यतनत्वविशिष्ट भूतत्व और परोक्षत्वविशिष्ट भूतत्व, कहने पर 'अनद्यतनत्व' और 'परोक्षत्व', दोनों विशेषधर्म बनते हैं । सामान्य धर्म सदैव व्यापक होता है जबकि विशेषधर्म व्याप्य होता है ।

यह न्याय लोकव्यवहारसिद्ध है क्योंकि लोक में भी जब मनुष्य में 'पशुत्व' स्वरूप सामान्य का अतिदेश होता हैं तब वहाँ उसके 'गोत्व, शृङ्गीत्व' आदि स्वरूप विशेष धर्मका अतिदेश नहीं होता है ।

इस न्याय का दूसरा अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि सामान्य का अतिदेश होता है तब विशेष का अतिदेश नहीं होता है किन्तु विशेष (धर्म) का अतिदेश होता हे तब सामान्य (धर्म) का अतिदेश अवश्य होता है । उदा. ब्राह्मण के कठत्व आदि रूप विशेष धर्म का अन्य किसी पुरुष में अतिदेश किया जाता है तो उसके साथ साथ 'ब्राह्मणत्व' रूप सामान्य धर्म का अवश्य अतिदेश

★ 'अनुदक' इति पर्युदासाश्रयणादुदकसदृशमनुपसर्गं नाम गृह्यते, तेनेह न भवति उपस्पृशति ।

होता ही है ।

पाणिनीय व्याकरण में यह न्याय वार्त्तिक के स्वरूप में उपलब्ध है और वह 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (पा.सू.१/१/५६) के महाभाष्य में है ।

सिद्धहेम के 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४/३/९७ सूत्रगत 'अयपि' के अर्थवाची 'न ल्यपि' (पा.सू. ६/४/६९) सूत्र द्वारा पाणिनीय परम्परा में इस न्याय की अनित्यता बतायी है उसी प्रकार यहाँ भी अनित्यता बताई जा सकती है । वह इस प्रकार-: 'क्त्वा' प्रत्ययगत 'कित्त्व' स्वरूप विशेष धर्म का अतिदेश करने पर ही 'ईत्व' की प्राप्ति हो सकती है और 'कित्त्व' विशेष धर्म है । उसका इस न्याय से अतिदेश नहीं हो सकता है और वही अतिदेश न होने पर 'अयपि' से किया गया निषेध व्यर्थ होता है । वह व्यर्थ होकर इस न्याय की अनित्यता को सूचित करता है ।

श्रीलावण्यसूरिजी ने बताया है उसी प्रकार नवीन वैयाकरण 'क्त्वा' प्रत्यय के 'कित्त्व' को विशेष धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं । अतः उनके मतानुसार 'अयपि' निषेध द्वारा इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करना संभव नहीं है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'क्त्वा' प्रत्यय के 'कित्त्व' को सामान्य धर्म मानना या विशेष धर्म ? 'क्त्वा प्रत्यय के प्रत्ययत्व या कृत्प्रत्ययत्व को सामान्य धर्म माना जाय तो 'कित्त्व' विशेष धर्म हो जाता है क्योंकि सामान्य धर्म और विशेष धर्म परस्पर सापेक्ष हैं । और तो ऊपर बतायी पद्धति से इस न्याय की अनित्यता का ज्ञापन करना संभव है ।

यह न्याय सिद्धहेम के पूर्ववर्ती और सबसे प्राचीन व्याडि के परिभाषासूचन, व्याडिपरिभाषापाठ व शाकटायन में ही है । जबकि सिद्धहेम के पश्चात्कालीन सभी परिभाषासंग्रहों में यह न्याय विद्यमान है ।

॥१२८॥ सर्वत्रापि विशेषेण सामान्यं बाधते न तु सामान्येन विशेषः ॥६॥

सर्वत्र विशेष शास्त्र द्वारा सामान्य शास्त्र का बाध होता है किन्तु सामान्य शास्त्र द्वारा विशेष शास्त्र का बाध नहीं होता है ।

विशेषशास्त्र, सामान्यशास्त्र का व्याप्य है और सामान्यशास्त्र, विशेषशास्त्र का व्यापक है अर्थात् सामान्य और विशेष के बीच व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध है । तार्किक सामान्य और विशेष में परस्पर बाध्य-बाधक भाव नहीं मानते हैं । किन्तु व्याकरण में है, उसका सूचन इस न्याय से होता है । अतः व्याकरणशास्त्र में सर्वत्र विशेषशास्त्र, सामान्यशास्त्र का बाध करता है, किन्तु सामान्यशास्त्र विशेषशास्त्र का कदापि बाध नहीं करता है । लोक में भी विशेष का अभिधान किया हो तो, जहाँ विशेष हो वहाँ सामान्य होने पर भी उसका ग्रहण नहीं होता है क्योंकि वहाँ विशेष की मुख्यता होती है ।

यहाँ 'सर्वत्र' का अर्थ 'वर्तमान में प्राप्त अवस्था में और भविष्य में प्राप्त होने वाली अवस्था में भी' लिया गया है ।

यहाँ प्राप्त अवस्था का उदाहरण इस प्रकार है :- 'कस् अर्थः।' स्थिति में सि (स्) का 'सो

रुः' २/१/७२ से 'रु' होने के बाद 'रोर्यः' १/३/२६ सूत्र से 'रु' का 'य्' होने की प्राप्ति है किन्तु 'रोर्यः १/३/२६ सामान्यस्वरनिमित्तक है अतः उसका 'अतोऽति रोरुः'१/३/२० से बाध होगा, और उसकी ही प्रवृत्ति होगी क्योंकि 'अतोऽति रोरुः' १/३/२० केवल अकार परनिमित्तक होने से विशेष सूत्र है ।

प्राप्स्यद् अवस्था का उदाहरण इस प्रकार है -: 'सोऽहं तथापि तव-' (भक्तामरस्तोत्र श्लोक-५) इत्यादि प्रयोग में 'रोर्यः' १/३/२६, 'तदः सेः-' १/३/४५ और 'अतोऽति रोरुः' १/३/२० सूत्र की प्राप्ति का विचार करना है । 'रोर्यः' १/३/२६ सामान्य सूत्र है क्योंकि उसका विषय प्रत्येक 'रु' है । उसकी अपेक्षा से 'तदः सेः-' १/३/४५ सूत्र विशेष सूत्र है क्योंकि उसका विषय केवल 'सि' ही है । जबकि 'अतोऽति रोरुः' १/३/२० उपर्युक्त दोनों सूत्रों से भी विशेष सूत्र है क्योंकि उपर्युक्त दोनों सूत्र स्वरसामान्यनिमित्तक है । जबकि यह सूत्र केवल अकारनिमित्तक ही है । यहाँ 'तदः सेः' -१/३/४५ की प्राप्ति है, तब 'रोर्य :' १/३/२६ और 'अतोऽति रोरुः' १/३/२० सूत्र की प्राप्ति होने से पहले 'सो रुः' २/१/७२ सूत्र की प्रवृत्ति होती है अर्थात् इन दोनों सूत्र की प्राप्ति 'सो रुः' २/१/७२ सूत्र से अन्तरित है अतः प्राप्स्यद् अवस्था कही जाती है । यदि 'तदः सेः-' १/३/४५ से 'सि' का लुक् न किया जाय तो 'सो रुः' २/१/७२ सूत्र की प्रवृत्ति होने के बाद ही 'रोर्यः' १/३/२६ और 'अतोऽति रोरुः' १/३/२० सूत्र की प्रवृत्ति होती है ।

अतः 'तदः सेः ' १/३/४५ रूप विशेष सूत्र से 'रोर्यः' १/३/२६ रूप सामान्य सूत्र का बाध होगा और 'तदः सेः-' १/३/४५ की प्रवृत्ति होने पर 'सो रुः' २/१/७२ सूत्र का भी बाध होगा और 'सो रुः' २/१/७२ की प्रवृत्ति नहीं होगी तो 'रोर्यः' १/३/२६ सूत्र की भी प्रवृत्ति नहीं होगी ।

'अतोऽति रोरुः' १/३/२० की प्राप्ति होगी तब 'सो रुः' २/१/७२ सूत्र की प्रवृत्ति का बाध नहीं होगा क्योंकि इस न्याय से 'अतोऽति रोरुः' १/३/२० सूत्र से 'तदः सेः'- १/३/४५ का ही बाध होता है । अतः 'अतोऽति रोरुः' १/३/२० सूत्र बलिष्ठ होने से, 'सो रुः' २/१/७२ सूत्र की प्रवृत्तिपूर्वक ही उसकी प्रवृत्ति होगी और 'सोऽहम्' रूप की सिद्धि होगी ।

'न्यायसंग्रह' के यही प्राप्स्यद् अवस्था के उदाहरण का श्रीलावण्यसूरिजी ने खंडन किया है और श्रीहेमहंसगणि को भी यही उदाहरण मान्य नहीं है क्योंकि वे स्वयं कहते हैं कि इस उदाहरण में हमने इस न्याय का उपयोग किया है, वह, 'तदः सेः'-१/३/४५ सूत्र में लघुन्यासकार ने न्यास में इसी उदाहरण में इस न्याय का उपयोग बताया है, उसके अनुसार है । अन्यथा इस न्याय के बिना उपयोग ही, केवल 'पादार्था' पद द्वारा ही यहाँ 'सि' के लुक् का अभाव सिद्ध हो ही जाता है । वह इस प्रकार हैः- 'तदः सेः'-१/३/४५ से 'सि' का लोप तब ही होता है कि यदि उसी लोप से पादपूर्ति होती हो । यहाँ 'सि' का लोप करने पर 'साहं तथापि'- और न करने पर 'सोऽहं तथापि' दोनों पद्धतियों से पादपूर्ति होती है, अतः 'तदः से :-१/३/४५ से 'सि' लोप अनिवार्य नहीं है, तथापि लघुन्यासकार ने 'सि' लोप के निषेध करने के लिए इस उदाहरण में इस न्याय का उपयोग किया

है, वह उचित नहीं है । 'सि' लोप करने के बाद 'साहं' रूप होगा तब यहाँ स्त्रीलिंग या पुल्लिंग का संदेह होता है, वह दूसरा दूषण है, अत एव 'सि' का लोप न करना चाहिए ।

वस्तुतः यह न्याय 'तक्रकौण्डिन्य' न्याय का ही प्रपंच है । 'तक्रं देयमस्मै स तक्रदेयः, स चासौ कौण्डिन्यश्च तक्रकौण्डिन्यः' यहाँ 'मयूरव्यंसकादित्व' से 'देय' शब्द का लोप हुआ है । यह न्याय इस प्रकार है । जैसे 'द्विजेभ्यो दधि देयम्' (ब्राह्मण को दधि देना) कहकर 'कौण्डिन्याय तक्रं देयं' (कौण्डिन्य को छाश देना) कहा हो तो कौण्डिन्य को दधि देने का साक्षात् शब्द द्वारा निषेध नहीं है तथापि निषेध की प्रतीति होती है । इस प्रकार विशेष लक्षण स्वरूप विधि द्वारा पूर्वोक्त सामान्य लक्षण स्वरूप विधि का बाध, शब्द से कहा नहीं है, तथापि हो ही जाता है । उदा. 'व्यञ्जनादेरेकस्वराद् भृशाभीक्ष्ण्ये यङ् वा' ३/४/९ सूत्र से सामान्यतया 'भृशाभीक्ष्ण्य' अर्थ में 'यङ्' का विधान करके, पुनः 'गत्यर्थात्कुटिले' ३/४/११ से विशेष विधि कही है अतः गति अर्थवाचक धातु से भृशाभीक्ष्ण्य अर्थ में 'यङ्' का निषेध अनुक्त होने पर भी गम्यमान है । उसी प्रकार यहाँ भी विशेषविधि द्वारा सामान्यविधि का बाध होता है, इतना ही सूचित हुआ है ।

श्रीहेमहंसगणि की 'तार्किकाणां मते सामान्यविशेषयोर्बाध्यबाधकभावो नास्ति' उक्ति को अप्रासंगिकी बताते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि तर्क इत्यादि शास्त्र में प्रमाण-प्रमेय के बारे में विचार किया गया होने से, विधि-निषेध का अभाव होता है । जबकि यह बाध्य-बाधकभाव विधि-निषेध सम्बन्धित है अतः विधि-निषेध जिस में आता है वैसे धर्मशास्त्र- व्याकरणशास्त्र आदि में इस न्याय की प्रवृत्ति होती है । व्याकरण में सामान्यशास्त्र, विधिशास्त्रपरक माना जाता है/होता है और विशेषशास्त्र प्रायः निषेधपरक होता है ।

यह न्याय अनवकाशमूलक ही है और 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यैव बाधकः' न्याय में ही इस न्याय का समावेश हो जाता है, अतः इसको भिन्न न्याय के स्वरूप में नहीं मानना चाहिए । अपवाद के स्थान पर भी सामान्य-विशेषभाव प्रयुक्त ही बाध्य-बाधकभाव होता है ।

इस न्याय का कहीं कहीं 'उत्सर्गादपवादः' न्याय में समावेश किया है क्योंकि उत्सर्ग सामान्य विधि है और अपवाद विशेष विधि है ।

॥१२९॥ ङित्त्वेन कित्त्वं बाध्यते ॥७॥

'ङित्त्व' द्वारा 'कित्त्व' का बाध होता है ।

यह न्याय 'बलाबलोक्ति' न्याय है । इस प्रकार अगला न्याय भी 'बलाबलोक्ति' न्याय है ।

उदा. 'णूत् स्तवने' धातु 'कुटादि' है । 'नुवितः, प्रणुवितः ।' यहाँ 'उवर्णात्' ४/४/५८ से 'कित्' प्रत्यय के आदि में होनेवाले 'इट्' का निषेध नहीं हुआ है । यह 'णूत्' धातु 'कुटादि' होने से 'कुटादेर्ङिद्वदञ्णित्' ४/३/१७ से 'क्त' में 'ङित्त्व' आयेगा और वही 'ङित्त्व', 'कित्त्व' का बाध करेगा, अतः कित्प्रत्यय निमित्तक, इट् निषेध नहीं होगा । 'ङित्त्व' द्वारा ही 'कित्त्व' का बाध

होगा, ऐसा क्यों ? 'प्रकृत्य' यहाँ यप् पित् है किन्तु वह जिसके स्थान पर हुआ है वह क्त्वा, कित् है अर्थात् 'यप्' में कित्त्व भी आयेगा, इसका पित्त्व द्वारा बाध नहीं होगा, अतः 'कृ' के 'ऋ' का गुण नहीं होगा ।

'ङित्त्व' द्वारा ही 'कित्त्व' का बाध होता है, ऐसा क्यों ? 'ध्रुंत् गतिस्थैर्ययोः' धातु 'कुटादि' है । 'प्रध्रुत्य' में 'क्त्वा' प्रत्यय का 'यप्' आदेश हुआ है । यहाँ 'यप्' में 'क्त्वा' का 'कित्त्व' भी आया है और धातु 'कुटादि' होने से 'कुटादेर्ङिद्वदञ्णित्' ४/३/१७ से 'ङित्त्व' भी आयेगा। यही 'ङित्त्व' यप् के 'कित्त्व' का ही बाध करेगा, अतः गुण नहीं होगा किन्तु 'यप्'के 'पित्त्व' का बाध नहीं करेगा । अतः 'ह्रस्वस्य तः पित्कृति' ४/४/११३ से 'त्' का आगम होगा ही ।

यह न्याय अनित्य है, अतः क्वचित् 'ङित्त्व ' से 'कित्त्व' का बाध नहीं होता है, अतः 'प्रणूतवान्' प्रयोग भी होता है अर्थात् कित्त्वनिमित्तक, इट् निषेध हो ही जाता है ।

यहाँ 'ङित्त्वेन कित्त्वं' उपलक्षण है, अतः अन्यत्र भी धातु आदि की पूर्वावस्था के अनुबन्ध का उत्तरावस्था के अनुबन्ध द्वारा बाध होता है । वह धातु सम्बन्धित इस प्रकार है-'चक्षि' धातु के आदेश-स्वरूप 'क्शांग्' और 'ख्यांग्' के 'गित्त्व' द्वारा पूर्वावस्था के 'इदित्त्व' का बाध होता है । धातु का आदेश धातु जैसा ही माना जाता है, अतः 'क्शांग्' और 'ख्यांग्' में 'इदित्त्व' आता होने से नित्य आत्मनेपद होने की प्राप्ति है, तथापि 'गित्त्व' से 'इदित्त्व' का बाध हुआ है, अतः नित्य आत्मनेपद की निवृत्ति होकर, धातु उभयपदी हो जायेगा, और 'आचख्यौ आचख्ये' इत्यादि रूप होंगे ।

प्रत्यय सम्बन्धित इस प्रकार है-उदा. 'युतात्' । यहाँ 'तुव्' प्रत्यय 'वित्' है । जब इसका आदेश 'तातङ्', 'ङित्' है । वही 'ङित्त्व' से 'वित्त्व' का बाध होगा । अतः 'उत औविति व्यञ्जने ऽद्वेः' ४/३/५९ से 'औ' नहीं होगा । क्वचित् बाध नहीं होता है । उदा. 'प्रकृत्य', यहाँ 'यप्' के पित्त्व द्वारा, 'क्त्वा' के कित्त्व का बाध नहीं होता है, अतः गुण नहीं हुआ है । यदि बाध होता तो गुण हो ही जाता ।

जब एक ही प्रत्यय में 'कित्त्व' और 'ङित्त्व' स्वरूप दो धर्म प्राप्त हों और दोनों सम्बन्धित परस्पर विरुद्ध कार्य की प्राप्ति हो तो ङित्त्वनिमितक कार्य किया जाय या कित्त्वनिमित्तक कार्य किया जाय ? ऐसा संदेह होता है । उसी संदेह को दूर करने के लिए यह न्याय है अर्थात् जहाँ 'कित्त्व' पूर्वव्यवस्थित हो या स्वाभाविक हो और 'ङित्त्व' बाद में किसी भी सूत्र द्वारा आया हो, वहाँ ङित्त्वनिमित्तक ही कार्य होता है । 'ङित्त्व' और 'कित्त्व' में अपने में बाध्यबाधकभाव नहीं है, किन्तु उनके कार्य में परस्पर बाध्यबाधकभाव है अतः ङित्त्वनिमित्तक कार्य से कित्त्वनिमित्तककार्य का बाध होता है, ऐसा समझना ।

'यप्' के 'पित्त्व' के बारे में चर्चा करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'यप्' के 'पित्त्व' का 'ङित्त्व' से बाध होता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि 'ङित्त्व' की अपेक्षासे 'पित्त्व' स्वाभाविक

है और 'ङित्त्व', 'क्त्वा' प्रत्यय में ही धातु के कुटादित्व के कारण आता है किन्तु 'यप्' में नहीं आता है क्योंकि यप्, क्त्वा प्रत्यय का आदेश होने से इसमें प्रत्ययत्व नहीं है किन्तु प्रत्यय के स्थान में हुआ है अतः इसमें प्रत्ययत्व आ सकता है, अतः साक्षात् प्रत्ययत्वयुक्त 'क्त्वा' प्रत्यय में ही 'ङित्त्व' की प्रवृत्ति करनी चाहिए और 'यप्' में आया हुआ 'ङित्त्व' स्थानिधर्म स्वरूप है, जबकि पित्त्व 'यप्' का अपना धर्म है। अतः 'यप्' पर में आने पर पित्त्वनिमित्तक कार्य होता ही है।

श्रीलावण्यसूरिजी की यही बात उचित है। 'ङित्त्व' द्वारा 'कित्त्व' का बाध होता है, ऐसा न्याय में बताया है किन्तु 'ङित्त्व' द्वारा 'पित्त्व' का बाध नहीं होता है ऐसा कहकर 'प्रध्रुत्य' में पित्त्वनिमित्तक 'त्' का आगम हुआ है। श्रीहेमहंसगणि ने दिये हुए उदाहरण में 'पित्त्व' द्वारा 'कित्त्व' का बाध नहीं होता है ऐसा बताया है। क्त्वा प्रत्यय का 'कित्त्व' 'यप्' में स्थानिधर्म के रूप में आता ही है तथापि 'यप्' के पित्त्व से कित्त्व का बाध होकर गुण की प्रवृत्ति नहीं होती है।

ऊपर बताया उसी प्रकार पूर्वावस्था के अनुबन्धकत्व को स्थानिधर्म और उत्तरावस्था के अनुबन्धकत्व को स्वाभाविक धर्म मानने पर और उसी प्रकार से स्वाभाविक अनुबन्धकत्वनिमित्तक कार्य की ही प्राप्ति होती है ऐसा स्वीकार करने पर उपलक्षण से पूर्वावस्था के अनुबन्धकत्व का उत्तरावस्था के अनुबन्धकत्व द्वारा बाध होता है, ऐसे न्याय का स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती है। इस प्रकार 'चक्ष्' के स्थान पर हुए 'ख्यांग्-क्शांग्' के अपने गित्त्वनिमित्तक कार्य होगा ही। तथा 'युतात्'आदि में भी अपने ङित्त्वनिमित्तक गुणाभाव होगा किन्तु 'तुव्' में स्थित वित्त्वनिमित्तक गुण नहीं होगा। किन्तु यह बात एक ही कार्य की प्राप्ति और निषेध की है किन्तु जब पूर्वावस्था के अनुबन्धनिमित्तककार्य और उत्तरावस्था के अनुबन्धनिमित्तककार्य भिन्न भिन्न विषयक हों तो, उसी अनुबन्ध में परस्पर बाध्यबाधकभाव नहीं रहता है उदा. 'प्रकृत्य' में क्त्वा के 'कित्त्व' से गुण नहीं होता है और 'यप्' के 'पित्त्व' से 'त्' का आगम भी होगा।

पाणिनीय वैयाकरण तथा अन्य वैयाकरण, इस न्याय का स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु जहाँ पूर्वस्थित 'कित्त्व' का, ङित्त्व से बाध इष्ट है, वहाँ वे 'येन नाऽप्राप्ते-' न्याय से काम चलाते है। इस प्रकार 'नुवितः' इत्यादि प्रयोग में अवश्यप्राप्त 'कित्त्व' का, कुटादित्व के कारण प्रयुक्त 'ङित्त्व' से बाध होता है।

भाष्यकार ने 'कित्त्व' का 'ङित्त्व'से बाध करना उचित नहीं माना है। भाष्यकार की चर्चा का सार इस प्रकार है -: यद्यपि 'कित्' और 'ङित्' दोनों प्रत्यय पर में आने पर गुणनिषेध होता है। इस दृष्टि से 'कित्त्व' और 'ङित्त्व' दोनों का कार्य समान ही है। वह किसी भी एक अनुबन्ध से सिद्ध हो सकता है। तथापि 'कित्' प्रत्यय पर में आने पर 'उवर्णात्' ४/४/५८ से 'इट्' निषेध होता है, वह 'ङित्' प्रत्यय पर में आने पर नहीं होता है, अतः दोनों का भिन्न-भिन्न कथन करना जरूरी है इस प्रकार दोनों अनुबन्धों का भिन्न भिन्न फल बताया, अतः किसी को शंका हो सकती है कि क्वचित् ङित्त्व से कित्त्व का बाध होता है अतः इट्निषेध नहीं होता है, इस प्रकार 'नुवित्वा,

धुवित्वा' आदि रूप सिद्ध होते है। इसी शंका का उत्तर देते हुए भाष्यकार ने कहा है कि 'कुटादित्व' के कारण प्रयुक्त आतिदेशिक 'ङित्त्व' द्वारा, औपदेशिक अर्थात् स्वाभाविक 'कित्त्व' की निवृत्ति संभव ही नहीं है । और 'क्त्वा' प्रत्यय में 'कित्त्व' रहता ही है अतः 'नूत्वा' धूत्वा' इत्यादि रूप भी इष्ट हैं । यहाँ 'ङित्त्व' द्वारा 'कित्त्व' का बाध इष्ट नहीं है, किन्तु 'येन नाऽप्राप्ते-' न्यायमूलक ही बाध इष्ट है और जहाँ जहाँ 'ङित्त्व' हो वहाँ वहाँ सर्वत्र 'कित्त्व' की प्राप्ति नहीं होती है । उदा. 'नुवितुम्' । यहाँ 'तुम्' में 'कित्त्व' है ही नहीं । इस प्रकार पाणिनीय वैयाकरण ने इस न्याय का स्वीकार नहीं किया है ऐसा प्रतीत होता है ।

अन्य किसी भी परिभाषासंग्रह में भी इस न्याय को स्थान नहीं दिया गया है ।

॥१३०॥ परादन्तरङ्गं बलीय : ॥८॥

पर कार्य से अन्तरङ्ग कार्य बलवान् होता है ।

उदा. 'स्योमा' यहाँ 'सीव्यति' 'सिव्' धातु से 'मन-वन्-' ५/१/१४७ से 'मन्' प्रत्यय होने पर 'अनुनासिके च च्छ्वः शूट्' ४/१/१०८ सूत्र, 'य्वोः प्व्य्व्यञ्जने लुक्' ४/४/१२१ सूत्र से होनेवाले 'व' लोप का अपवाद है,अतः और ' लघोरुपान्त्यस्य' ४/३/४ सूत्र से होनेवाले गुण की अपेक्षा से 'ऊट्' नित्य है, अतः 'व' लोप और गुण का बाध कर के 'ऊट्' प्रथम होगा । अतः 'सि+ऊ+मन्' होगा । इस परिस्थिति में उपान्त्य' 'इ' का गुण और 'य' दोनों होने की प्राप्ति है किन्तु गुण प्रत्ययनिमित्तक या बाह्यनिमित्तक है अतः वह बहिरङ्ग है, उसकी अपेक्षा से यत्वविधि अन्तरङ्ग है । अब गुण, 'य' आदेश की अपेक्षा से पर होने पर भी, इस न्याय से प्रथम 'इ' का 'य' होगा अतः 'स्य् + ऊ + मन्' होगा । बाद में 'ऊट्' का 'नामिनो गुणोऽक्ङिति' ४/३/१ से गुण होगा और 'स्योमन्' शब्द की सिद्धि होकर प्रथमा विभक्ति एकवचन में 'स्योमा' रूप होगा ।

इस न्याय के बारे में चर्चा करते हुए श्रीहेमहंसगणि ने कहा है कि यद्यपि 'परान्नित्यम्', 'नित्यादन्तरङ्गम्', इन दोनों न्यायों से ही इस न्याय का अर्थ प्राप्त ही है क्योंकि 'पर' कार्य से 'नित्य' कार्य बलवान् है और नित्य कार्य से अन्तरङ्ग कार्य बलवान् है , ऐसा कहने से ही पर कार्य से अन्तरङ्ग कार्य बलवान् है, ऐसा सिद्ध हो ही जाता है तथापि, 'परान्नित्यम्' और 'नित्यादन्तरङ्गम्' न्याय की तरह बृहद्वृत्ति और बृहन्न्यास आदि में 'परादन्तरङ्गम्' न्याय का भी भिन्न भिन्न उदाहरणों में अवतार किया गया दिखायी पडता है, अतः यह न्याय बताया गया है ।

शब्दमहार्णव (बृहन्) न्यास में 'लोकात्'१/१/३ सूत्र में 'स्योन' शब्द की सिद्धि करने में इस न्याय का उपयोग बताया है ।

'परान्नित्यम्' और 'नित्यादन्तरङ्गम्' से ही पर कार्य से नित्य कार्य के बलवत्त्व का बोध हो जाता है, अतः अन्य किसी भी परम्परा में इस न्याय को बताया नहीं है ।

॥१३१॥ प्रत्ययलोपेऽपि प्रत्ययलक्षणं कार्यं विज्ञायते ॥९॥

'प्रत्यय' का लोप होने पर भी, उसी प्रत्ययनिमित्तक कार्य होता है ।

'लुक्' और 'लुप्' दोनों का वाचक 'लोप' शब्द है, तथापि 'लुक्' में स्थानिवद्भाव से कार्य सिद्ध हो जाता है । अतः 'लुप्' में इस न्याय का अधिकार आता है अर्थात् यहाँ 'लोप' शब्द से 'लुप्' का ग्रहण करना ।

प्रत्यय का 'लुप्' होने पर, 'लुप्यय्वृल्लेनत्' ७/४/११२ सूत्र से 'य्वृत्' लत्व' और 'एनत्' आदेश के वर्जन से ऐसा कहा है कि 'य्वृत्' लत्व' और 'एनत्' से भिन्न 'लुप्तप्रत्ययनिमित्तक' कोई भी कार्य नहीं होता है, तथापि 'लुप्तप्रत्ययान्तनिर्दिष्ट' अन्य कार्य की अनुमति प्राप्त करने के लिए यह न्याय है ।

उदा. 'मासेन पूर्वाय मासपूर्वाय' । यहाँ 'मासेन पूर्वाय' में 'तृतीयान्तात् पूर्वावरं योगे' १/४/१३ सूत्र से सर्वादित्व का निषेध हुआ है। अब 'मासपूर्वाय' समास में 'मास' शब्द से तृतीया विभक्ति का 'ऐकार्थ्ये' ३/२/८ से लोप हुआ है, तथापि तृतीयान्त के कारण होनेवाले 'सर्वादित्व' का निषेध यहाँ भी होगा ।

तथा 'पापचीति' । यहाँ 'लुबन्तरङ्गेभ्यः' न्याय से प्रथम ही 'यङ्' प्रत्यय का लोप होने पर भी इस न्याय से यङन्तलक्षण द्वित्व 'सन्यङश्च' ४/१/३ सूत्र से होगा ।

'सिज्विदोऽभुवः' ४/२/९२ सूत्रगत 'भू' के वर्जन द्वारा इस न्याय का ज्ञापन हुआ है । यहाँ 'अभूवन्' में 'अन्' के 'पुस्' आदेश का निषेध करने के लिए 'भू' का वर्जन किया है । वस्तुतः 'अन्' के 'पुस्' आदेश की प्राप्ति ही यहाँ नहीं है क्योंकि 'भू' धातु से पर आये हुए 'सिच्' का 'पिबैतिदाभूस्थः सिचो लुप्-' ४/३/६६ सूत्र से लोप होता है, अतः 'सिजन्त भू' मिलनेवाला नहीं और 'सिज्विदोऽभुवः' ४/२/९२ में 'सिजन्त' का ग्रहण किया है,तथापि 'भू' धातु का वर्जन किया है इससे सूचित होता है कि 'लुप्तसिजन्त' को भी इस न्याय से 'सिजन्तलक्षण' कार्य होगा ।'

यह न्याय अनित्य है, अत एव 'यौधेय' शब्द का 'अञ्' के लोपविधायक 'द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः' ६/१/१२३ सूत्रगत 'भर्गादि' गण में पाठ किया है । इस प्रयोग की साधनिका इस प्रकार है । 'युधा' नामक किसी स्त्री के संतान अर्थ में 'युधा' शब्द से, (युधाया अपत्यानि) 'द्विस्वरादनद्याः' ६/१/७१ से 'एयण्' प्रत्यय होकर 'यौधेयाः' होगा । 'ते शस्त्रजीविसङ्घाः स्त्रीत्वविशिष्टाः' अर्थयुक्त 'यौधेय' आदि शब्द से 'यौधेयादेः'- ७/३/६५ से द्रिसंज्ञक 'अञ्' प्रत्यय होगा, बाद में स्त्रीत्वविशिष्ट की विवक्षा में 'अणञेयेकण्- २/४/२० सूत्र से ङी प्रत्यय होकर 'यौधेयी' शब्द होगा । इसका प्रथमा विभक्ति बहुवचन में 'यौधेय्यः' रूप होगा । यहाँ 'अञन्त यौधेय' शब्द के 'अञ्' का 'द्रेरञणो-' ६/१/१२३ से लोप होनेकी प्राप्ति है और 'अञ्' का लोप करने पर 'निमित्ताभावे-' न्याय से अञ्निमित्तक' उ' की वृद्धि की निवृत्ति होने पर 'युधेय्यः' रूप होगा, किन्तु यह बात सही प्रतीत नहीं होती है क्योंकि 'यौधेय' में उ की वृद्धि

'एयण्' निमित्तक है, किन्तु अञ्निमित्तक नहीं है, अतः एयण् की निवृत्ति होने पर ही 'उ' की वृद्धि की निवृत्ति होती है, अतः यहाँ "लोपाभावात्तु 'यौधेय्यः' इत्येव स्थितम्" कहना उचित प्रतीत नहीं होता है। बाद में 'यौधेयीनां सङ्घो यौधेयम्' यहाँ 'अञन्तलक्षण अण्', 'सङ्घघोषाङ्कलक्षणेऽञ्यञिञः' ६/१/१७२ सूत्र से करना है। इसलिए 'भर्गादि' गण में 'यौधेय' शब्द का पाठ किया है। अतः 'यौधेय' शब्दस्थ 'शस्त्रजीविसंघ' अर्थवाले 'अञ्' का लोप नहीं होता है।

यदि यह न्याय नित्य होता तो, 'अञ्' लोप होने पर भी 'सङ्घघोषाङ्क'-६/३/१७२ से अञन्तलक्षण 'अण्' होता ही, तो इसके लिए 'यौधेय' शब्दका 'भर्गादि' गण में पाठ करने की कोई आवश्यकता नहीं थी, तथापि 'भर्गादि' गणमें पाठ किया, वह इस न्याय की अनित्यता को सूचित करता है। अतः 'अञ्' का लोप होने से, कदाचित् 'अण्' नहीं होगा ऐसी आशंका से ही 'भर्गादि' गण में 'यौधेय' शब्द का पाठ किया है।

यदि 'यौधेय' शब्द का 'भर्गादि' गण में पाठ न किया होता तो, क्या होता ? इसके बारे में इस न्याय के न्यास में श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यदि 'भर्गादि' गण में पाठ न किया होता तो 'द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः ६/१/१२३ से 'अञ्' का लोप होता और 'सङ्घघोषाङ्क'- ६/३/१७२ से 'अण्' न होकर 'गोत्राददण्ड-' ६/३/१६९ से 'अकञ्' प्रत्यय होता। जैसे 'पाञ्चालस्य राज्ञोऽपत्यानि,' अर्थ में 'राष्ट्रक्षत्रियात्'- ६/१/११४ से द्रिसंज्ञक 'अञ्' प्रत्यय होकर 'बहुष्वस्त्रियाम्' ६/१/१२४ से 'अञ्' प्रत्यय का लोप होने पर 'पञ्चालाः' होगा। बाद में 'पञ्चालानां सङ्घः' अर्थ में,यह न्याय अनित्य होने से 'अञ्' के अभाव में 'सङ्घ घोषाङ्क- '६/३/१७२ की प्राप्ति नहीं होगी और 'गोत्राददण्ड' ६/३/१६९ से 'अकञ् होने पर 'पाञ्चालकम्' होगा। उसी प्रकार यहाँ 'यौधेयी' शब्द से भी 'अकञ्' होगा किन्तु आचार्यश्री को वह इष्ट नहीं है, अतः भर्गादिगण में 'यौधेय' शब्द का पाठ करके इस न्याय की अनित्यता बतायी है।

यह न्याय कातंत्र की दोनों परिभाषावृत्तियों, कातंत्रपरिभाषापाठ, कालाप व जैनेन्द्र में प्राप्त है, अन्यत्र नहीं।

॥ १३२ ॥ विधिनियमयोर्विधिरेव ज्यायान् ॥ १०॥

'विधि' और 'नियम' में से विधि ही श्रेष्ठ है।

सूत्र की व्याख्या के दो प्रकार हैं। (१) विधिरूप व्याख्या (२) नियमरूप व्याख्या (१) विधि अर्थात् जहाँ पूर्णरूप से प्राप्ति न हो, वहाँ प्राप्ति करना (२) नियम अर्थात् पाक्षिक या विकल्प से प्राप्ति हो वहाँ नित्य प्राप्ति कराना या अन्य सामान्य सूत्र से होनेवाले विधिप्रदेश में से, कुछ मर्यादित प्रदेश में, उसकी प्राप्ति का पुनः कथन करके, उसी मर्यादित प्रदेश को छोड़कर अन्य शेष प्रदेश में उसी कार्य की अप्राप्ति कराना 'नियम' कहा जाता है।

उदा. 'दण्डिन्' शब्द में 'नि दीर्घः' १/४/८५ से होनेवाली दीर्घविधि का ही 'इन्हन्पूषार्यम्णः शिस्योः' १/४/८७ से पुनः कथन करके नियमन किया है। यहाँ 'नि दीर्घ :' १/४/८५ का विशाल

प्रदेश है । इस सूत्र का कार्यप्रदेश 'शेषघुट्परकनकार' है, उसमें से केवल 'इन्' अन्तवाले, 'हन्, पूषन्' और 'अर्यमन्' शब्द का शेषघुट् प्रत्यय स्वरूप प्रत्यय लेकर, उसमें से केवल 'शि' और 'सि' प्रत्यय के लिए ही 'इन्हन्पूषार्यम्णः' १/४/८७ से विधान करके, उससे भिन्न शेषघुट् प्रत्यय पर में आने पर 'नि दीर्घः'-१/४/८५ से होनेवाली दीर्घविधि का परोक्ष रूप में निषेध किया गया है।

'नियम' में सूत्र में नहीं कहे गए, अन्य नियत कार्यप्रदेश की निवृत्ति की कल्पना रूप गौरव है।

अन्यशास्त्र में कोई भी व्याख्या के लिए नियम नहीं है । उसी शास्त्र में सब अपनी अपनी बुद्धि अनुसार व्याख्या कर सकते हैं, अतः वहाँ व्याख्या नियत नहीं है । उसी शास्त्र में विधिपरक भी अर्थ हो सकता है और नियमपरक अर्थ भी हो सकता है । इसमें कोई बन्धन नहीं है । जबकि व्याकरण में व्याख्या की ऐसी अनियमितता नहीं है । वह यह न्याय कहता है ।

जहाँ सूत्र का विधिपरक और नियमपरक ऐसे दोनों अर्थों का संभव हो वहाँ विधिपरक अर्थ ही श्रेष्ठ है ।

उदा. 'प्रत्यभ्यतेः क्षिपः' ३/३/१०२ । इसी सूत्र में 'क्षिप्'धातु कौनसा लेना ? इसका निर्णय करने के लिए इस न्याय का आश्रय लेना है । 'क्षिप्' धातु दो प्रकार का है । (१) क्षिपींत् प्रेरणे, तुदादि गण (२) क्षिपंच् प्रेरणे, दिवादिगण । इन दोनों धातु में से तुदादि गण का क्षिपींत् धातु लेने से विधिपरक अर्थ होगा क्योंकि यह धातु उभयपदी है । अतः सूत्र का विधिपरक अर्थ इस प्रकार होगा-: 'प्रति, अभि' और 'अति' उपसर्ग से पर आये हुए 'क्षिपींत्' धातु को परस्मैपद होता है । जबकि दिवादिगण का 'क्षिपंच्' धातु लेने से नियमपरक अर्थ करना होगा क्योंकि यह धातु परस्मैपदी ही है, अतः सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगाः- 'प्रति, अभि' और 'अति' उपसर्ग से पर आये हुए 'क्षिपंच्' धातु से परस्मैपद होता है, किन्तु अन्य उपसर्ग से पर आये हुए या उपसर्ग रहित 'क्षिपंच्' धातु से परस्मैपद नहीं होता है । किन्तु यही अर्थ इष्ट नहीं है, अतः विधिपरक अर्थ ही करना चाहिए ।

यह न्याय व्याडिपरिभाषापाठ, कातंत्रपरिभाषापाठ, कालापपरिभाषापाठ, पुरुषोत्तम-परिभाषापाठ, सीरदेव, नीलकंठ, हरिभास्कर व नागेश की वृत्तियों में भी है ।

॥१३३॥ अनन्तरस्यैव विधिर्निषेधो वा ॥ ११॥

'अनन्तर' सूत्र सम्बन्धित ही 'विधि' या 'निषेध' होता है ।

इसमें निषेध इस प्रकार है- 'नाम्नो नोऽनह्नः' २/१/९१ सूत्र से नाम सम्बन्धित पदान्त 'न' का लोप होता है । उसका ही, बाद में आये हुए 'नामन्त्र्ये' २/१/९२ सूत्र से निषेध होता है किन्तु व्यवहित 'रात्सः' २/१/९० सूत्र से विहित सकार-लुक् का निषेध नहीं होता है।

विधि इस प्रकार है- 'नाम्नो नोऽनह्नः' २/१/९१ से हुए 'न लोप' का 'नामन्त्र्ये' २/१/९२ से निषेध होता है । उसी निषेध का पुनः विकल्प से विधान होता है 'क्लीबे वा' २/१/९३ सूत्र से।

अर्थात् इसी सूत्र से हुआ विकल्पोक्ति रूपविधान अनन्तर पूर्वोक्त निषेध का ही विकल्प से विधान होता है ।

यद्यपि शब्द शक्ति से यही विधि - निषेध इत्यादि अनन्तर सूत्र सम्बन्धित ही होता है अत: 'विचित्रा शब्दशक्तय:' न्याय का ही अनुवाद यह न्याय है ।

इस न्याय की आवश्यकता बताते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'नामन्त्र्ये' २/१/९२ आदि सूत्र में निषेध किया है किन्तु निषेध्य नहीं कहा है, अत: वहाँ स्वाभाविक ही प्रश्न होता है कि यह निषेध पूर्वोक्त सभी विधि का है या किसी एक का ? यदि किसी एक का हो तो वह किस विधि का निषेध करता है, वही नियत नहीं था । उसका निर्णय करने के लिए यह न्याय है । इस प्रकार विधि में भी जहाँ विधि का विधान किया हो और विधेय न बताया हो, तो उसका निर्णय भी इसी न्याय से होता है ।

प्रत्यासत्तिमूलक यह न्याय है । निषेधशास्त्र को सदैव किसी निषेध्यशास्त्र की आकांक्षा रहती है, तो वही निषेध्य कौन होता है ? उसका उत्तर यह न्याय देता है । निषेधशास्त्र के अव्यवहित पूर्व में जो होता है वही नजदीक होने से निषेध्य बनता है । व्यवहित हो वह निषेध्य नहीं बन सकता है क्योंकि अव्यवहित का निषेध करने के बाद व्यवहित का निषेध करने का सामर्थ्य इसमें नहीं रहता है ।

अब प्रथम निषेध्य हो, बाद में निषेध आया हो, उसके बाद में पुन: विधि आये, तो वही विधि पूर्वोक्त निषेध का प्रतिविधान करता है अर्थात् अनन्तर पूर्वोक्त निषेध की पूर्व में आये हुए विधि का ही विधान करता है, ऐसा समझना चाहिए ।

यह न्याय जैनेन्द्र परिभाषा को छोड़कर सभी परिभाषासंग्रह में है ।

॥१३४॥ पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः ॥१२॥

बारिश की तरह लक्षण/सूत्र की प्रवृत्ति होती है ।

'पर्जन्य' अर्थात बारिश और लक्षण अर्थात सूत्र । जैसे बारिश रिक्त तालाब या पूर्ण तालाब बिना देखे ही, सर्वत्र बरसता है वैसे व्याकरण के सूत्र स्वविषय को प्राप्त करके सर्वत्र प्रवृत्त होता है, इसका कुछ भी फल न मिलता हो तो भी ।

यदि सूत्र की प्रवृत्ति न हो तो, वही सूत्र अनर्थक माना जाय, अत: जहाँ प्राप्ति हो वहाँ, सर्वत्र सूत्र की प्रवृत्ति करनी चाहिए ऐसा यह न्याय कहता है ।

उदा. 'गोपायति, पापच्यते, चिकीर्षते, पुत्रीयति' इत्यादि प्रयोग में 'आय, यङ्, सन्, क्यन्' आदि अकारान्त होने से तदन्त धातु अकारान्त ही माना जाता है, अत: 'शव्' की आकांक्षा न होने पर भी 'कर्तर्यनद्भ्य: शव्' ३/४/७१ से 'शव्' होगा ही । उसी प्रकार 'दधि अत्र' प्रयोग में 'ह्रस्वोऽपदे वा' १/२/२२ से ह्रस्व का भी पुन: ह्रस्व होगा । यहाँ किसीको शंका हो सकती है कि 'दधि अत्र' प्रयोग में ह्रस्व करने का फलाभाव कहाँ है ? क्योंकि ह्रस्वविधान के सामर्थ्य से ही यहाँ

'यत्व' आदि सन्धिकार्य नहीं होता है, अत: 'यत्व' आदि कार्य का अभाव ही ह्रस्व करने का फल है, ऐसा सूत्र की वृत्ति में स्वयं शास्त्रकार आचार्यश्री ने बताया है । यही बात सत्य है किन्तु यही फल कालान्तर भावि है । तत्कालीन/समकालीन फलस्वरूप कोई भी फल नहीं है । अत एव 'पर्जन्यवत्' उपमान सार्थक ही है क्योंकि पूर्ण सरोवर/तालाब में बारिश गिरने का तत्कालीन कोई फल नहीं होता है किन्तु कालान्तर में औषधी (धान्यादि) की निष्पत्ति और रसाधिक्य आदि रूप फल तो होता ही है ।

यह न्याय अनित्य है, अत: 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ सूत्रमें 'समान' शब्द का व्याप्ति की सिद्धि के लिए बहुवचन में प्रयोग किया है । वह इस प्रकार -: 'क्लृ + ऋषभः, होतृ+लृकारः' इत्यादि प्रयोग में 'लृ' और 'ऋ' का 'ऋलृति ह्रस्वो वा' १/२/२ से ह्रस्व होने की प्राप्ति है किन्तु 'ॠस्तयोः' १/२/५ सूत्र पर होने से ह्रस्व का बाध होकर, उसी सूत्र से ॠ ही होगा किन्तु शास्त्रकार को यहाँ ह्रस्व भी इष्ट है, अत: "जितने 'समान' है, उन सब का, इसके बाद में 'ऋ' या 'लृ' आया हो तो ह्रस्व हो ही जाता है ।" ऐसी व्याप्ति की सिद्धि के लिए 'समानानां'-१/२/१ सूत्र में बहुवचन रखा है ।

यदि यह न्याय नित्य होता तो, 'ॠत्व' की तरह ह्रस्व भी होता ही, तो इसके लिए शास्त्रकार बहुवचन का प्रयोग क्यों करे ? अर्थात् न करें तथापि बहुवचन का प्रयोग किया वह इस न्याय की अनित्यता के कारण से 'ह्रस्वत्व' निर्बल बनता है और उसका, परत्व से बलवान हुए 'ॠस्तयोः' १/२/५ सूत्र की प्रवृत्ति से बाध होगा, ऐसी संभावना के कारण बहुवचन का प्रयोग किया है ।

श्रीलावण्यसूरिजी इस न्याय की अनित्यता का स्वीकार नहीं करते हैं । उनके मत से 'समानानां' में बहुवचन 'स्पर्द्धे' ७/४/११९ परिभाषा का बाध करने के लिए है । इसके बारे में उन्होने 'समानानां तेन दीर्घः' १/२/१ सूत्र के 'न्यासानुसन्धान' में विशेष चर्चा की है, किन्तु यही उनका अपना अभिप्राय/मन्तव्य है और इसी सूत्र का 'शब्दमहार्णवन्यास' उपलब्ध नहीं है अत: शास्त्रकार का अपना अभिप्राय क्या है इसका बोध/ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है । अत: श्रीलावण्यसूरिजी के इसी मन्तव्य की यहाँ चर्चा करना अस्थानापन्न है ।

इस न्याय का तात्पर्य बताते हुए वे कहते हैं कि बिना किसी प्रयोजन हेतु कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती है । (न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य कस्यचित् प्रवृत्तिः)न्याय से शास्त्र की प्रवृत्ति कभी भी निरर्थक नहीं होती है । तो प्रयोजनरहित शास्त्रप्रवृत्ति का स्वीकार कैसे किया जाय ? यहाँ प्रयोजन का अभाव तत्कालीन रूपभेदस्वरूप समझना चाहिए । उससे भिन्न परम्परित प्रयोजन तो सर्वत्र होता ही है, अत: किसी भी सूत्र की प्रवृत्ति से तत्कालीन फल न मिलता हो, तथापि उसी सूत्र की प्रवृत्ति करनी चाहिए, ऐसा यह न्याय कहता है ।

'इको झल्' (पा.सू. १/२/९) सूत्र के महाभाष्य में भी यह न्याय कहा है किन्तु उसकी पद्धति थोडी सी भिन्न है । वह इस प्रकार है -: 'दीर्घ' का भी 'दीर्घ' करने का क्या फल ? तो गुण न हो वह । गुणाभाव कालान्तर भावि फल है । दीर्घ में तत्कालीन कोई अन्तर नहीं पड़ता है ।

यह न्याय केवल चान्द्र, कातंत्र की दोनो परिभाषावृत्तियाँ, कातंत्र परिभाषापाठ, कालाप परिभाषापाठ व जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति में नहीं है ।

॥ १३५ ॥ न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या ॥ १३ ॥

केवल प्रकृति का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

प्रकृति, नाम स्वरूप और धातु स्वरूप, दो प्रकार की होती है, किन्तु धातु में प्रत्ययान्तत्व के विवाद का अभाव होने से केवलत्व की शंका ही नहीं है । जबकि 'नाम' में आगे कहा जायेगा, वैसे प्रत्यय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विवाद होने से केवलत्व की शंका होती है, अतः यहाँ केवल 'नाम' रूप प्रकृति का ग्रहण करना चाहिए ।

उदा. 'कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम् ।' यहाँ यद्यपि साक्षात् 'कट' स्वरूप द्रव्य का ही क्रिया में उपयोग किया है, अतः 'कट' को ही क्रिया के साथ अनन्तर सम्बन्ध है, अतः इसमें कर्मत्व आता है किन्तु 'भीष्म, उदार, दर्शनीय' में सीधा किसी भी प्रकार से कर्मत्व आता नहीं है । 'भीष्म' आदि शब्द जब तक विभक्तिरहित होंगे तब तक उनका प्रयोग नहीं होगा और (कट के साथ) समान विभक्तियुक्त नहीं होंगे, तब तक सामानाधिकरण्यप्रयुक्त विशेषणत्व, उनमें नहीं आयेगा । अतः राजा के मित्र स्वयं निर्धन होने पर भी राजा के धन से ही वे भी धन के भोक्ता बनते हैं, वैसे 'भीष्म' आदि शब्द कर्म न होने पर भी कट के कर्मत्व से ही उनमें द्वितीया विभक्ति सिद्ध होती है ।

यहाँ यह शंका होती है कि विभक्ति रहित 'भीष्म' इत्यादि शब्दप्रयोग के अयोग्य/अनुचित होने से, इसी युक्ति से केवलत्व का व्यवच्छेद करने के लिए सामान्य विभक्ति स्वरूप प्रथमा विभक्ति ही करना उचित है, किन्तु कर्मशक्ति इत्यादि की द्योतक द्वितीया आदि नहीं । यह शंका दूर करने के लिए इस न्याय की दूसरी व्याख्या बताते हैं वह इस प्रकार है । यहाँ 'केवला' शब्द का क्या अर्थ है ? यहाँ 'केवला' अर्थात् क्रियारहित प्रकृति का प्रयोग नहीं करना किन्तु 'प्रयुज्यमान' या 'गम्यमान' ऐसी क्रिया सहित ही प्रकृति का प्रयोग करना । अतः यहाँ जैसे 'कट' का 'करोति' के साथ सम्बन्ध है, वैसे 'भीष्म' इत्यादि के साथ भी सम्बन्ध है । जैसे जो भी 'कट' बनाता है, वह उसमें स्थित 'भीष्म' इत्यादि गुण को भी बनाता है । अतः यहाँ 'करोति' से जो व्याप्ति योग्य है, वही सर्व द्रव्य, गुण, कर्म में भिन्न भिन्न कर्मत्व होने से, उन सब से द्वितीया विभक्ति होती है और बाद में 'एक वाक्य' के कारण विशेषण-विशेष्य रूप सम्बन्ध होता है ।

विशेषण को विशेष्य के समान ही विभक्ति करने के लिए यह न्याय है ।

यहाँ 'प्रकृति' शब्द से केवल 'नाम' स्वरूप प्रकृति ही ग्रहण करना, इस बात के साथ श्रीलावण्यसूरिजी संमत नहीं हैं । वे कहते हैं कि जैसे केवल 'नामार्थ' की विवक्षा में 'नाम' से प्रथमा विभक्ति होती है, वैसे धात्वर्थ की विवक्षा में 'घञ्' आदि या 'भाव' में 'त्यादि' प्रत्यय होते हैं, अतः धात्वर्थ की विवक्षा में प्रत्ययान्त धातु का प्रयोग करना या प्रत्ययरहित धातु का प्रयोग करना ? इसका विवाद है ही, अतः 'प्रकृति' शब्द से धातु रूप प्रकृति भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए ।

'कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम्' उदाहरण में 'सामानाधिकरण्य' के लिए द्वितीया विभक्ति होगी, ऐसा श्रीहेमहंसगणि कहते हैं इसमें श्रीलावण्यसूरिजी सम्मत नहीं हैं । वे कहते है कि 'सामानाधिकरण्य' द्वितीया की उत्पत्ति का कारण बनता है किन्तु विभक्ति की उत्पत्ति का कारण नहीं बनता है और विभक्त्युत्पत्ति में यही न्याय ही कारणस्वरूप है और प्रथमा विभक्ति की उत्पत्ति द्वारा भी इस न्याय के उदाहरण की सिद्धि हो सकती है, अतः द्वितीयोत्पत्ति की चर्चा उपयुक्त नहीं है । और दूसरा दृष्टान्त जो बताया कि राजा के मित्र निर्धन होने पर भी, राजा के धन से धनवान् माने जाते हैं और वही धन का उपयोग भी कर सकते हैं, वही दृष्टांत भी द्वितीयोत्पत्ति के कारण को बताता है, अतः इस न्याय में वह उपयुक्त नहीं है ।

यद्यपि इस न्याय से प्रथमा विभक्ति ही आ सकती है, ऐसा श्रीहेमहंसगणि स्वयं प्रतिपादन करके, इस न्याय की अन्य व्याख्या करते हैं कि 'क्रियारहिता प्रकृतिर्न प्रयोज्या' किन्तु श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यह व्याख्या शास्त्र के अधिकार में नहीं आ सकती है क्योंकि केवल पद-संस्कार ही व्याकरण के अधिकार में है । यहाँ 'प्रकृति' और 'प्रत्यय' दोनों साथ में ही रहते हैं । प्रकृति क्रियारहित हो तो वाक्य की सिद्धि नहीं हो सकती है । यह बात उपयुक्त है, किन्तु क्रियाराहित्य हो वहाँ पदत्व होता नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है । इसी कारण से द्रव्य, गुण, कर्म आदि में भिन्न भिन्न कर्मत्व आता है और द्वितीया विभक्ति होती है, ऐसा कहना, इस न्याय के अनुसार उपयुक्त/उचित नहीं है ।

इस न्याय का अर्थ केवल इतना ही है कि अकेली प्रकृति का प्रयोग कदापि नहीं होता है।

इस न्याय से दो प्रकार का नियम होता है । (१) केवल प्रकृति का प्रयोग कदापि नहीं होता है, वैसे (२) केवल 'प्रत्यय' का भी प्रयोग कदापि नहीं होता है । और 'नाम' मात्र की विवक्षा में प्रत्येक 'नाम' से प्रथमा विभक्ति होती है और केवल धात्वर्थ की विवक्षा में (प्रथम)[१] तृतीय पुरुष होता है ।

'कटं कुरु भीष्ममुदारं दर्शनीयम्' में ' अनिभिहिते' (पा.सू.२/३/१) सूत्र में कर्मत्व की प्राप्ति बताकर द्वितीया सिद्ध नहीं की है किन्तु 'कर्मत्व' के साथ 'सामानाधिकरण्य' पूर्वक द्वितीया की है और इस प्रकार इस उदाहरण में इस न्याय के प्रयोग का अभाव दिखायी पडता है तथापि शास्त्रकार आचार्यश्री ने 'कर्मणि' २/२/४० सूत्र की बृहद्वृत्ति में 'कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम्' उदाहरण की समझ देते हुए इस न्याय का उल्लेख किया है । अत एव श्रीहेमहंसगणि ने इसी प्रयोग को इस न्याय के उदाहरण स्वरूप दिया है, ऐसा लगता है ।

'अपदं न प्रयुञ्जीत' के अर्थ के अनुवाद स्वरूप ही यह न्याय है । यह न्याय भी अन्य किसी परिभाषासंग्रह में नहीं है ।

१. 'तिव् तस् अन्ति' को पाणिनीय परम्परा में प्रथम पुरुष कहते हैं, जबकि गुजराती व्याकरण अनुसार तृतीय पुरुष कहते हैं। यद्यपि सिद्धहेम में अन्यदर्थ में ही ये प्रत्यय बताये गये हैं ।

॥१३६॥ क्विबर्थं प्रकृतिरेवाह ॥१४॥

'प्रकृति' स्वयं 'क्विप्' के अर्थ को कहती है ।

उदा. 'त्वां मां च आचक्षाणे' अर्थ में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' से 'णिच्' और 'क्विप्' प्रत्यय होकर, उन दोनों का लोप होने पर और 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ७/४/४३ से 'अद्' का भी लोप हुआ है, अतः 'युष्म्' और 'अस्म्' ऐसे मकारान्त शब्द से 'ङि' प्रत्यय होगा, तब 'टाङ्योसि-' २/१/७ से 'म्' का 'य्' होने की प्राप्ति है, उसका बाध करके 'त्व-म' आदेश पर होने से 'त्व-म' आदेश करके उसी 'त्व-म' के अन्त्य 'अ' का 'य' आदेश होने की प्राप्ति है, तथापि 'सकृद्गते स्पर्द्धे'- ' न्याय से 'यत्व' का एक बार बाध हो जाने से, उसकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी और 'त्व-म' आदेश 'णिच्' क्विबन्त' होने से उसमें सर्वादित्व नहीं है, अतः 'ङि' का 'स्मिन्' आदेश न होकर 'त्वे-मे' रूप सिद्ध होंगे । ये रूप बिना प्रस्तुत न्याय ही सिद्ध होते हैं ।

जब इस न्याय का उपयोग करेंगे तब 'त्व-म' के सर्वादित्व के कारण 'स्मिन्' आदेश होने पर 'त्वस्मिन्-मस्मिन्' रूप भी होंगे, वह इस प्रकार-: इस न्याय का भावार्थ यह है कि 'क्विबन्त युष्मद्- अस्मद्' के अर्थ को 'क्विप्रहित युष्मद्-अस्मद्' स्वरूप प्रकृति ही कह सकती है क्योंकि बिना प्रकृति क्विप् नहीं होता है । अंकुशरहित हाथी की तरह, अंकुशयुक्त हाथी भी हाथी ही कहलाता है क्योंकि बिना हाथी अंकुश का संभव ही नहीं है । उसी प्रकार केवल 'युष्मद्- अस्मद्' की तरह 'णिच् क्विबन्त युष्मद्- अस्मद्' शब्द भी वैसे माने जाते हैं, किन्तु भिन्न नहीं माने जाते हैं, इस प्रकार 'णिच् क्विबन्त युष्मद्-अस्मद्' में भी 'सर्वादित्व' माना जा सकता है ।

यहाँ ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि 'णिच् क्विबन्त युष्मद्-अस्मद्' और केवल 'युस्मद्- अस्मद्', दोनों में शब्दभेद और अर्थभेद होने से ऐसी विवक्षा करना उचित नहीं है क्योंकि 'सिद्धिः स्याद्वादात्' १/१/२ सूत्र से अभिन्न पदार्थों के लिए भेदविवक्षा और भिन्न पदार्थों में अभेदविवक्षा करने की अनुमति दी गई है । उदा. 'पीयमानं मधु मदयति' प्रयोग में 'मधु' में अभेद होने पर भी, उसमें भेद विवक्षा करके, 'कर्मत्व' और 'कर्तृत्व' लाया जा सकता है । उसी प्रकार से यहाँ भी भेद होने पर भी अभेद की विवक्षा है । अतः केवल 'युष्मद्-अस्मद्' की तरह 'णिच्क्विबन्त युष्मद्- अस्मद्' में सर्वादित्व की विवक्षा करके 'त्व-म' आदेश से पर आये हुए 'ङि' प्रत्यय का 'स्मिन्' आदेश करके 'त्वस्मिन्-मस्मिन्' रूप सिद्ध हो सकते हैं ।

इस प्रकार 'णिच् क्विबन्त युष्मद्-अस्मद्' में और केवल 'युष्मद्-अस्मद्' शब्द में शब्दभेद तथा अर्थभेद के कारण अप्राप्त 'सर्वादित्व' की प्राप्ति कराने के लिए यह न्याय है, ऐसी श्रीहेमहंसगणि की मान्यता है ।

इस न्याय का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है । सामान्यतया 'प्रकृति' और 'प्रत्यय' दोनों साथ में मिलकर अर्थ कहते हैं । यही व्यवस्था जहाँ प्रकृति और प्रत्यय दोनों श्रूयमाण हो वहाँ जानना, किन्तु जहाँ 'प्रत्यय' का लोप हुआ हो वहाँ, उसकी मूल प्रकृति ही प्रत्यय का अर्थ भी कह देती

है, और जहाँ प्रकृति का ही लोप हो जाता है वहाँ केवल प्रत्यय ही प्रकृति का भी अर्थ कह देता है। उदा. 'क्विप्' प्रत्यय कहीं भी श्रूयमाण नहीं है अतः वही 'क्विप्' प्रत्यय जिससे हुआ हो वही मूल प्रकृति ही 'क्विप्' के अर्थ को भी कहती है, ऐसा यह न्याय कहता है। जैसे 'छिद्, भिद्' इत्यादि। इनमें मूल प्रकृति ही 'क्विप्' का अर्थ कहती है। जबकि 'अस्य अपत्यं इः' प्रयोग में 'अ' प्रकृति है और 'इ' प्रत्यय है। यहाँ 'अ' स्वरूप प्रकृति का लोप होने से अकेला 'इ' प्रत्यय ही प्रकृति के अर्थ को भी कह सकता है।

इस न्याय के न्यास में श्रीहेमहंसगणि 'त्वस्मिन्' और 'मस्मिन्' प्रयोग के बारे में चर्चा करते हुए कहते हैं कि व्याकरण शिष्ट प्रयोग की सिद्धि के लिए ही है और शिष्ट प्रयोग- 'त्वस्मिन्-मस्मिन्' स्वरूप ही दिखायी पडते हैं। और 'स्मिन्' आदेश, बिना 'सर्वादित्व' नहीं हो सकता है। यहीं 'सर्वादित्व', केवल 'युष्मद्-अस्मद्' और 'णिच् क्विबन्त युष्मद्- अस्मद्' में अभेद- विवक्षा द्वारा ही प्राप्त होता है, और इस प्रकार पूर्वाचार्यों ने बताया ही है। अतः 'गजगुड' के दृष्टान्त द्वारा हमने भी उसका समर्थन किया है।

'त्वस्मिन्-मस्मिन्' रूप ही इस न्याय के उदाहरण हैं। जबकि 'त्वे-मे' इस न्याय की अनित्यता के उदाहरण हैं। सामान्यतया न्याय की वृत्ति में प्रथम न्याय का उदाहरण, बाद में उसका ज्ञापक, उसके बाद उसी न्याय की अनित्यता का उदाहरण और उसका ज्ञापक बताया जाता है। किन्तु यहाँ प्रथम इस न्याय की अनित्यता का उदाहरण देकर, बाद में न्याय का उदाहरण दिया है, उससे सूचित होता है कि शास्त्र की गति विचित्र होती है। इसी कारण से इस न्याय के उदाहरण के क्रम में विसंगतता नहीं माननी चाहिए।

सिद्धहेम के 'मोर्वा' २/१/९ सूत्र की बृहद्वृत्ति में इस न्याय का उल्लेख प्राप्त है। वह इस प्रकार है -: "अथ 'क्विबर्थं प्रकृतिरेवाह' इति सर्वादिसम्बन्धित्वं तदा भवत्येव स्मिन्नादेशः।"

यद्यपि आचार्यश्री ने इसी सूत्र की वृत्ति में 'युवां युष्मान् आवाम् अस्मान् वा आचष्टे' विग्रह करके 'णिच्' और 'क्विप्' प्रत्यय करके, इसका लोप होकर 'युष्म्-अस्म्' शब्द होगा, तब 'टा, ङि' और 'ओस्' प्रत्यय पर में आने पर, 'त्व-म' आदेश से 'म्' का 'य्' करने की विधि नित्य होने से प्रथम 'टाड्योसि यः' २/१/७ से यत्व विधि करके 'युष्या-अस्या, युष्यि, अस्यि' तथा 'युष्योः, अस्योः' रूप सिद्ध किये हैं। यदि 'युष्म्-अस्म्' को अन्य शब्द मान लें तो 'यत्वविधि' और 'त्व-म' आदेश में, 'त्व-म' आदेश पर होने से, उसे बलवान् मानकर, 'युष्म्-अस्म्' का 'त्व-म' आदेश करने के बाद 'टाङ्योसि यः २/१/७ से 'त्व-म' के अन्त्य 'अ' का 'य' होने पर 'त्व्या, म्या, त्व्यि, म्यि' और 'युव्योः, आव्योः' रूप होंगे। किन्तु 'त्व-म' आदेश होने के बाद 'सकृद्गते स्पर्द्धे-' न्याय से 'यत्व विधि' का नित्य बाध मानने पर, यत्व के अभाव में 'त्वेन, मेन, त्वे, मे' रूप भी हो सकते हैं, क्योंकि यहाँ 'त्व-म' को सर्वादि नहीं मानने से 'ङि' का 'स्मिन्' आदेश नहीं होता है।

इस प्रकार सिद्धहेम बृहद्वृत्ति में (१) 'युष्यि, अस्यि (२) त्व्यि, म्यि (३) त्वे, मे' तथा (४) 'त्वस्मिन्-मस्मिन्' चार प्रकार के रूपों का संग्रह किया गया है।

इन रूपों के बारे में टिप्पणी करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि इन रूपों में से केवल प्रथम रूप ही शास्त्रकार आचार्यश्री को सम्मत है, जबकि शेष तीनों रूप शास्त्रकार को सम्मत नहीं हैं क्योंकि प्रथम उदाहरण देते समय 'यदि' अर्थवाले 'अथ' शब्द का शास्त्रकार ने प्रयोग नहीं किया है। जबकि शेष उदाहरण की सिद्धि करते समय 'अनभिमतत्व' का सूचक 'यदि' अर्थवाले 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है, अतः वही उदाहरण शास्त्रकार को सम्मत नहीं है ऐसा मानना पडता है। यही अनभिप्रेत तीन उदाहरण में से अन्तिम 'त्वस्मिन्-मस्मिन्' प्रयोग को वे नितान्त अनिष्ट प्रयोग मानते हैं, जिनका श्रीहेमहंसगणि ने इष्ट प्रयोग के रूप में स्वीकार किया है। इसके बारे में उनका तर्क इस प्रकार है। 'आचक्षाण' अर्थवाले 'णि' अन्तयुक्त 'युष्मद्-अस्मद्' शब्द से 'क्विप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुए 'युष्म्-अस्म्' में सर्वादित्व नहीं आता है क्योंकि वह गौण है और संज्ञोपसर्जनीभूत/गौण में सर्वादित्व मानना अनिष्ट है। दूसरा यह कि - 'सर्वादेः स्मैस्मातौ' १/४/७ सूत्र की बृहद्वृत्ति में कहा है कि "द्वि-युष्मद्-भवत्वस्मदां स्मादयो न संभवन्तीति सर्वविभक्त्यादयः प्रयोजनम्" अतः इस विधान के आधार पर 'त्वस्मिन्-मस्मिन्' प्रयोग में 'ङि' का 'स्मिन्' आदेश करना अनुचित है।

किन्तु इन प्रयोगों के बारे में ज्यादा विचार करने पर लगता है कि उपर्युक्त चारों प्रयोगों में से प्रथम प्रयोग 'युष्यि, अस्यि' व्याकरण से सिद्ध हो सकता है, और वह व्याकरण सम्मत ही है। जबकि शेष तीन प्रकार के प्रयोग लोकव्यवहार में या साहित्य में प्रयुक्त होने चाहिए। अतः उनका शिष्टप्रयोग के रूप में स्वीकार करके उसकी सिद्धि करके व्याकरण में उसका संग्रह किया गया है। यदि इन तीनों प्रकार के प्रयोगों को शास्त्रकार ने अनिष्ट मानें होते, तो उसका निषेध ही किया गया होता या उसका संग्रह ही न किया होता। तथापि सिद्धहेम बृहद्वृत्ति में उसका उल्लेख हुआ है इससे सूचित होता है कि ये प्रयोग शास्त्रकार को सर्वथा असम्मत नहीं हैं / सर्वथा अनिष्ट नहीं हैं अर्थात् कुछेक अंश में वे सम्मत हैं। अन्ततोगत्वा, लोकव्यवहार में प्रयुक्त सब प्रकार के शब्द प्रयोग का संग्रह करना ही व्याकरण का लक्ष्य/ध्येय है। (प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानम्) इस प्रकार यहाँ लोकप्रयुक्त 'त्वस्मिन्-मस्मिन्' प्रयोग को इष्ट मानकर, इनकी सिद्धि की गई है, अतः व्याकरणशास्त्र की अपेक्षा से ये प्रयोग अनिष्ट होने पर भी शिष्ट प्रयोगानुसार, उनको इष्ट मानने चाहिए।

यह न्याय भी अन्यत्र कहीं नहीं है।

॥१३७॥ द्वन्द्वात्परः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ॥१५॥

'द्वन्द्व' समास के अन्त में आये हुए शब्द का, पूर्व के प्रत्येक शब्द के साथ सम्बन्ध होता है।

'शब्द' शब्द यहाँ अध्याहार है।

उदा. 'एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः' १/१/५ सूत्र में 'एकद्वित्रिमात्रा' शब्द में अन्त में आये हुए 'मात्रा' शब्द, पूर्व के 'एक, द्वि' और 'त्रि' के साथ जोड़कर अर्थ होता है। 'एकद्वित्रि' में द्वन्द्व समास है।

अन्यथा इष्ट/अनिष्ट अर्थ की प्रतीति न हो , इसके लिए यह न्याय है ।

इस न्याय के 'परः' शब्द को उपलक्षण के स्वरूप में लेने पर, द्वन्द्वसमास की पूर्व में आये हुए शब्द का भी द्वन्द्वसमासगत प्रत्येक शब्द के साथ सम्बन्ध होता है । उदा. 'द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः ६/१/१२३ सूत्रगत 'अप्राच्यभर्गादेः' में आये हुए अ (नञ्) का 'प्राच्य' और 'भर्गादि' दोनों के साथ सम्बन्ध है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं ।

इसके समर्थन में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि अन्य वैयाकरणों ने 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस प्रकार की व्युत्पत्ति की है । उसके एक ही अंश का कथन इस न्याय में किया गया है । जिसमें पूर्वोक्त शब्द का द्वन्द्व समासगत प्रत्येक शब्द के साथ सम्बन्ध होता है, ऐसे प्रयोग भी व्याकरण में प्राप्त हैं, अतः इस प्रकार से इस न्याय की व्याख्या करना उचित है ।

इस न्याय का उपयोग प्रत्येक वैयाकरण ने किया है, तथापि न्याय/परिभाषा के स्वरूप में किसी भी परिभाषासंग्रहकार ने इसका उल्लेख नहीं किया है ।

॥१३८॥ विचित्रा शब्दशक्तयः ॥१६॥

शब्द की शक्ति विचित्र होती है ।

शब्द की शक्ति विचित्र होती है, अतः लिंग, संख्या इत्यादि में विचित्रताएँ दिखायी पडती हैं, यही बताने के लिए यह न्याय है । उसमें लिंग की विचित्रता इस प्रकार है । उदा. 'प्रशस्तं पचति' अर्थ में 'त्यादेश्च प्रशस्ते रूपप्' ७/३/१० सूत्र से स्वार्थ में 'रूपप्' प्रत्यय होगा, तब 'पचतिरूपम्' इत्यादि में 'पदं वाक्यमव्ययं चेत्यसङ्ख्यं च' (लिङ्गा पं ४-२) इत्यादि लिङ्गानुशासन के पाठ से लिङ्ग रहित 'त्याद्यन्त पद' को भी नपुंसकलिङ्ग होता है । 'कुत्सिता स्वा ज्ञातिः' अर्थ में स्वार्थिक 'क' प्रत्यय होने पर 'स्वज्ञाजभस्त्राधातुत्ययकात्' २/४/१०८ से 'आप्' प्रत्यय होगा और 'अ' का 'इ' होकर स्विका' शब्द बनेगा । यहाँ 'कामलकुद्दालावयवस्याः' (लिङ्गा पु.१४/१) पाठ से ज्ञाति अर्थवाले पुल्लिङ्ग 'स्व' शब्द को भी, जब कुत्सित अर्थ की विवक्षा होगी तब वाक्य अवस्था में 'कप्' प्रत्यय होने के बाद स्त्रीलिङ्ग माना जाता है ।

और 'ह्रस्वा कुटी' प्रयोग में 'कुटीशुण्डाद्रः' ७/३/४७ से 'कुटी' शब्द से स्वार्थ में 'र' प्रत्यय होगा तब 'कुटीरः' और 'कुटीरम्' होगा । यहाँ 'कुटी' शब्द लिङ्गानुशासन के 'लालसोरभसो वर्तिवितस्तिकुट्यस्त्रुटिः (लिङ्गा पुं. स्त्री ९/२) वचन से पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग होने पर भी, स्वार्थिक 'र' प्रत्ययान्त 'कुटीर' शब्द पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में माना जाता है ।

और 'वनं वनिका' । यहाँ 'वन' शब्द 'नान्त' होने से 'नलस्तुक्तसंयुक्तः' (लिङ्गा न.१/१) पाठानुसार नपुंसकलिङ्ग होने पर भी स्वार्थ में 'कप्' प्रत्यय होने पर, वह स्त्रीलिङ्ग हो जायेगा ।

शब्दशास्त्र में लिङ्ग बताने की दो पद्धतियाँ हैं । (१) अन्य विशेषण स्वरूप पद की अपेक्षा से शब्द का लिङ्ग प्रतीत होता है । उदा. 'इयं गौः, अयं गौः' । यहाँ 'गौ' शब्द का अर्थ दोनों लिङ्ग

में (गाय, बैल) होता है, अतः बिना 'अयं, इयम्' विशेषण, स्त्रीत्व या पुंस्त्व की प्रतीति नहीं होती है ।

(२) अन्य विशेषण स्वरूप पद की अपेक्षा बिना ही शब्द के लिङ्ग का ज्ञान हो सकता है । वह तीन प्रकार से है- (१) नाम मात्र से/केवल नाम से (२) आदेश से (३) प्रत्यय से (१) इसमें केवल नाम से इस प्रकार है । उदा. 'माता-पिता' । यहाँ केवल नाम से स्त्रीत्व और पुंस्त्व का बोध हो सकता है । (२) आदेश से इस प्रकार है -'तिस्रः' यहाँ बिना स्त्रीत्व 'त्रि' का 'तिसृ' आदेश नहीं हो सकता है, अतः 'तिसृ' आदेश से स्त्रीत्व का बोध हो सकता है । उसी तरह 'क्रोष्टा' । यहाँ पुंस्त्व द्वारा उत्पन्न 'क्रुश्' सम्बन्धित 'तुन्' के 'तृच्' आदेश से पुंस्त्व का बोध होता है । (३) प्रत्यय से इस प्रकार है -: 'राज्ञी' यहाँ स्त्रीत्व के कारण उत्पन्न 'ङी' प्रत्यय से स्त्रीत्व का बोध होता है । 'गोचर' इत्यादि में पुल्लिङ्ग नामत्व के कारण 'पुंनाम्नि घः' ५/३/१३० सूत्र के बाद आये हुए 'गोचरसंचर'- ५/३/१३१ सूत्र से उत्पन्न 'घ' प्रत्यय से पुंस्त्व का बोध होता है ।

संख्या का वैचित्र्य इस प्रकार है - उदा. 'अं अः ≍ क)(प शषसाः शिट्' १/१/१६, यहाँ संज्ञी बहुवचन में होने पर भी संज्ञा एकवचन में ही है और 'दाराः सुमनसः, अप्सरसः' इत्यादि प्रयोग में अर्थ एकवचन में होने पर भी, उसका बहुवचन में प्रयोग होता है ।

शब्दशक्ति के कारण एक ही पदार्थ के लिए प्रयुक्त भिन्न-भिन्न शब्द को भिन्न-भिन्न लिङ्ग होते हैं । उदा. 'सर्वं वस्तु, सर्वः पदार्थः, सर्वा व्यक्तिः' या 'दार, कलत्र, पत्नी' तीनों शब्द पत्नीवाचक होने पर भी, तीनों के लिङ्ग भिन्न भिन्न हैं । 'दार' शब्द पुल्लिङ्ग में, 'कलत्र' नपुंसकलिङ्ग में और 'पत्नी' शब्द स्त्रीलिङ्ग में है अर्थात् लिङ्ग पदार्थ के आधार पर नहीं रखा जाता है किन्तु शब्द के आधार पर रखा जाता हैं ।

कुछेक शब्द एकत्व अर्थ में होने पर भी बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं । उदा. 'दार, अप्सरस् सुमनस्' । इन शब्दों से सदैव बहुवचन ही होता है । जबकि कुछेक शब्द बहुत्वविशिष्ट होने पर भी एकवचन में भी उनका प्रयोग होता है । उदा. 'वनम्, समूहः, अक्षतम्, विंशतिः ।'

क्वचित्, कुछ अर्थ बिना शब्दप्रयोग प्रतीत नहीं होता है । उदा. 'हस्तेनातिक्रामति' अर्थ में 'हस्त' शब्द से 'णिज् बहुलं नाम्नः'-३/४/४२ से 'णिच्' होने पर 'अतिहस्तयति' प्रयोग होगा । यहाँ 'अतिक्रम' अर्थ बिना 'अति' के प्रयोग प्रतीत नहीं होता है, अतः 'हस्तयति' के स्थान पर 'अतिहस्तयति' प्रयोग करना पड़ेगा । जबकि 'श्वेताश्वेनातिक्रामति' अर्थ में 'श्वेताश्व' शब्द से णिच् होने पर 'श्वेताश्वाऽश्वतरगालोडिताऽऽह्वरकस्याश्वतरेतक लुक्' ३/४/४५ से 'अश्व' शब्द का लोप होने पर 'श्वेतयति' प्रयोग होगा । इस प्रयोग में 'अति' के प्रयोग बिना ही 'अतिक्रम' अर्थ का बोध होता है ।

और 'खणम्' प्रत्यय जैसे 'आभीक्ष्ण्य' अर्थ में होता है, वैसे 'णम्' प्रत्यय भी 'आभीक्ष्ण्य' अर्थ में होता है, तथापि जहाँ 'खणम्' प्रत्यय होता है वहाँ 'आभीक्ष्ण्य' बताने के लिए द्वित्व होता है । उदा. 'भोजं भोजं याति', किन्तु 'णम्' प्रत्ययान्त शब्द का 'आभीक्ष्ण्य' बताने के लिए द्वित्व नहीं होता है। उदा. 'गेहमनुप्रवेशमास्ते' । यहाँ 'गेहमनुप्रविश्यानुप्रविश्यास्ते' अर्थ में 'विश-पत-पद-

स्कन्दो वीप्साऽऽभीक्ष्ण्ये' ५/४/८१ से 'णम्' प्रत्यय हुआ है ।

ये सब प्रयोग शब्द की विभिन्न विचित्र शक्तिओं का द्योतन करते हैं । पाणिनीय व्याकरण में 'स्त्रियां' (पा.सू. ४/१/३) सूत्र के महाभाष्य में, इसके बारे में विचार किया गया है । किन्तु परिभाषा न्याय के स्वरूप में इसे अन्य किसीने नहीं बताया है ।

॥१३९॥ किं हि वचनान्न भवति ॥१७॥

'वचन्' से क्या सिद्ध नहीं होता है ? अर्थात् सर्व सिद्ध हो सकता है ।

'वचन्' अर्थात् इष्ट अर्थ को बतानेवाला शब्दप्रयोग । यही शब्दप्रयोगस्वरूप 'वचन' से क्या सिद्ध नहीं होता है ? अर्थात् सब कुछ सिद्ध हो सकता है । इष्ट अर्थ का ज्ञान होने पर शिष्टप्रयोगनुसार, कुछेक विधियाँ अप्राप्त होने पर भी होती है जबकि कुछेक विधियाँ प्राप्त होने पर भी नहीं होती है। इष्टार्थ के बोध का अभाव हो तो, कुछेक विधियाँ प्राप्त होने पर भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है ।

'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ के अपवाद स्वरूप यह न्याय है । उसमें अप्राप्त की प्रवृत्ति इस प्रकार है । उदा. 'सूर्यमपि न पश्यन्ति इति असूर्यंपश्या राजदाराः' । यहाँ 'असूर्योग्राद्दृशः' ५/१/१२६ से 'खश्' प्रत्यय होता है और 'वत्सेभ्यो न हितो अवत्सीयो गोधुक्' में 'तस्मै हिते' ७/१/३५ से 'ईय' प्रत्यय होता है । इन दोनों प्रयोग में 'नञ्' का अनुक्रम से 'दृश्' और 'हित' के साथ सम्बन्ध है किन्तु 'सूर्य' और 'वत्स' के साथ सम्बन्ध नहीं है, अतः 'असूर्यंपश्या' में 'असूर्यं' और 'अवत्सीयो' में 'अवत्स' समास नहीं हो सकता है क्योंकि सामर्थ्य का अभाव है, तथापि शास्त्रकार के 'असूर्योग्राद् दृशः ५/१/१२६ स्वरूप वचन से तथा 'अवत्सीयो गोधुक्' उदाहरण से 'समर्थः पदविधिः' ७/४/१२२ से समास का अभाव सिद्ध होने पर भी, उसका बाध करके, इस न्याय से सामर्थ्य का अभाव होने पर भी समास किया गया है ।

प्राप्त की अप्रवृत्ति इस प्रकार है । उदा. नहाहोर्धतौ' २/१/८५ यहाँ धातु से 'इ, कि' या 'श्तिव्' किया नहीं है ।

इष्टार्थ का प्रत्यय अर्थात् अभिधा न होती हो तो प्राप्तकार्य की भी अप्रवृत्ति होती है । वह इस प्रकार-: 'सङ्घस्य भद्रं भूयात्' । यहाँ 'सङ्घभद्रं' समास (षष्ठी तत्पुरुष) नहीं होगा क्योंकि 'सङ्घभद्रं भूयात्' कहने से, 'सङ्घस्य भद्रं भूयात्' अर्थ की प्रतीति नहीं होती है किन्तु सङ्घभद्र नामक या 'सङ्घ' के सम्बन्धी स्वरूप, कुछ भद्र, किसीका हो ऐसी प्रतीति होती है ।

यह न्याय इष्टार्थप्रत्यायनमूलक है । 'अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः' न्याय का ही अनुवाद है । 'अभिधान' अर्थात् इष्टार्थ प्रत्यायन, वही अभिधान लक्षण (चिह्न) युक्त, 'कृत्, तद्धित' और 'समास' है । अतः जहाँ वही प्रत्यय या समास करने से इष्टार्थ का अभिधान न होता हो तो वही प्रत्यय या समास की वहाँ प्राप्ति होने पर भी, होता नहीं है । इस न्याय का अन्य/दूसरा अर्थ बताते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि 'वचनाद्' अर्थात् सूत्रोक्त विधान के सामार्थ्य से अप्राप्त की

भी प्रवृत्ति होती है । उदा. 'श्रेष्ठः श्रेयान्' प्रयोग में 'प्रशस्य' शब्द का 'इष्ठ' और 'ईयसु' प्रत्यय पर में आने परे 'श्र' आदेश करने का विधान 'गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू' ७/३/९ से किया गया है । 'इष्ठ' और 'ईयसु' प्रत्यय 'पटु, मृदु, गुरु, लघु' इत्यादि शब्द जैसे 'गुणाङ्ग' शब्द से गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू ७/३/९ से होता है । जबकि 'प्रशस्य' शब्द गुणप्रवृत्तिनिमित्तक नहीं है । किन्तु प्रशंसा रूप क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तक है, अतः 'प्रशस्य' शब्द से 'इष्ठ, ईयसु' प्रत्यय होने की प्राप्ति नहीं है, तथापि 'प्रशस्यस्य श्रः' ७/४/३४ विधान के सामर्थ्य से यहाँ 'इष्ठ, ईयसु' प्रत्यय होंगे ।

इसी व्याख्या से केवल अप्राप्त कार्य की प्राप्ति ही होती है ।

इसके सिवाय 'विचित्रा सूत्राणां कृतिः ॥१॥ मात्रालाघवमप्युत्सवाय मन्यन्ते वैयाकरणाः ॥२॥ ते वै विधयः सुसङ्गृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च ॥३॥' इत्यादि न्याय स्वरूप विशेषवचन व्याकरणशास्त्र में उपलब्ध है, किन्तु वे सब केवल व्याकरण के सूत्र की रचना में ही उपयोगी है और अन्य न्याय स्वरूप वचन भी केवल सूत्र के अर्थ की व्यवस्था में ही उपयोगी है किन्तु प्रस्तुत प्रयोगसिद्धि में उपयोगी नहीं है, अतः उनकी यहाँ उपेक्षा की गई है ।

अन्य व्याकरण ग्रन्थ में 'यथोद्देशं निर्देशः' इत्यादि बहुत से न्याय है किन्तु प्रस्तुत व्याकरण में कहीं भी साक्षात् उल्लेख नहीं किया होने से, उनकी यहाँ उपेक्षा की गई है ।

यह न्याय, वचन के और अभिधान के अद्‌भूत सामर्थ्य का बोधक है । इस न्याय का प्रयोजन केवल इतना ही है कि व्याकरणशास्त्र से शब्द बनाये नहीं जाते हैं किन्तु अखंड शब्द के, प्रकृति और प्रत्यय स्वरूप दो भागों की कल्पना करके अल्पप्रयत्न द्वारा, शब्द के अर्थ की अभिधा बतायी जाती है । अतः किसी शब्द का, कोई अर्थ व्याकरणशास्त्र से प्रतिपादित न हो सकता हो तथापि लोक में यदि ऐसे अर्थ की प्रसिद्धि हो तो, उसका स्वीकार करना चाहिए । तथा कोई शब्द व्याकरणशास्त्र से लभ्य अर्थ में, व्यवहार में प्रयुक्त न हो तो, वहाँ व्याकरणशास्त्र के बारे में शङ्का न करनी चाहिए किन्तु परम्परा से, उसी शब्द का वैसा अर्थ प्राप्त हो या शिष्टपुरुष द्वारा, उसी अर्थ में प्रयुक्त हो तो, व्याकरणशास्त्र से लभ्य अर्थ से भिन्न अर्थ में भी उसी शब्द की प्रवृत्ति का स्वीकार करना उचित है ।

इस प्रकार के न्यायों को अन्य वैयाकरणों ने न्याय/परिभाषा की कक्षा में नहीं रखे है, तथापि लक्ष्यसिद्धि में उपकारक होने से श्रीहेमहंसगणि ने, इनका संग्रह किया है ।

इसके सिवाय 'विचित्रा सूत्राणां कृतिः' । इत्यादि न्यायों के उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं । 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव्'- २/१/५० सूत्र मे 'इवर्णोवर्ण' के स्थान पर 'युवर्ण- वृद्'- ५/३/२८ में प्रयुक्त 'युवर्ण' की तरह यहाँ भी 'युवर्ण' शब्द रखा जा सकता है और वैसा करने में लाघव भी है, तथापि अचार्यश्री ने 'इवर्णोवर्ण' शब्द रखा है, वह 'विचित्रा सूत्राणां कृतिः' न्याय बताने के लिए ही है ।

मात्रालाघव अर्थात् सूक्ष्म लाघव भी, वैयाकरण के लिए अतिआनंद का विषय बन जाता

है । यही लाघव दो प्रकार के हैं । (१) शब्दगत लाघव (२) प्रक्रियागत लाघव । उसमें शब्द लाघव इस प्रकार है - "आपो ङितां यै यास् यास् याम्' १/४/१७ सूत्र में चार 'ङित्' प्रत्यय (ङे, ङसि ङस् और ङि) के साथ 'यै यास् यास् याम्' का 'यथासङ्ख्यम्' करने के लिए 'याम्' से 'जस्' प्रत्यय लाकर, उसका सौत्रत्वात् लोप किया गया है ।

प्रक्रियालाघव इस प्रकार है-: 'भीलुक' की सिद्धि के लिए 'भियो रुरुकलुकम्' ५/२/७६ सूत्र में 'लुक' प्रत्यय का 'रुक' से भिन्न विधान किया है, वह प्रक्रिया लाघव के लिए है । अन्यथा 'रुक' प्रत्यय करके, 'भीरुक' सिद्ध करके, 'ऋफिडादीनाम्'- २/३/१०४ में बहुवचन होने से आकृतिगण है, अतः उसके द्वारा या 'ऋफिडादि' शब्दों में 'भीरुक' का पाठ करने से ही लत्व हो सकता है, किन्तु वैसा करने से प्रक्रिया गौरव हो जाता हैं, अतः 'रुक' और 'लुक' दो प्रत्यय का विधान किया है ।

'ते वै विधयः सुसङ्गृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च'। इस न्याय का अर्थ यह है कि शास्त्र में दो प्रकार के वचन मिलते हैं । (१) कुछेक संक्षिप्त हैं (१) जबकि कुछेक विस्तृत हैं । (१) जो सूक्ष्मबुद्धिमान् हैं, उनके लिए संक्षिप्त वचन हैं । (२) जबकि जो स्थूलबुद्धिवाले हैं उनके लिए ही प्रपंच अर्थात् विस्तृत वचन है और शास्त्र सदैव परोपकार के लिए ही लिखा जाता है और उसी शास्त्र का अध्ययन करनार भी दो प्रकार के होते हैं, अतः उपर्युक्त दोनों प्रकार के वचन शास्त्रों में हैं ।

'स्तम्बेरमः' इत्यादि प्रयोग में 'तत्पुरुषे कृति' ३/२/२० स्वरूप लक्षण सूत्र से अकारान्त और व्यञ्जनान्त से पर आयी हुयी सप्तमी का कृदन्त उत्तरपद पर में होने पर लोप नहीं होता है और यही अर्थ उससे अगले सूत्र में प्रपंचित किया गया है । जैसे 'शयवासि वासेष्वकालात्' ३/२/२५, 'वर्षक्षर-वराप्सरःशरोरोमनसो जे' ३/२/२६ सूत्र से पूर्वोक्त विषय में सप्तमी का विकल्प से 'अलुक्' होता है। उदा. 'बिलेशयः, विलशयः, वर्षेजः, वर्षजः' इत्यादि । जबकि 'द्युप्रावृट्वर्षाशरत् कालात्' ३/२/२७ सूत्र से पूर्वोक्त विषय में सप्तमी का नित्य अलुप् होता है । उदा. दिविजः । बाद में अगले 'नेन् सिद्धस्थे' ३/२/२९ सूत्र में सप्तमी के अलुप् का निषेध होता है अर्थात् लुप् होता ही है ऐसा कहा है । उदा. 'स्थण्डिलशायी,' इन सब प्रयोग की सिद्धि 'तत्पुरुषे कृति' ३/२/२० सूत्र में 'अद्व्यञ्जनात् सप्तम्या बहुलम्' ३/२/१८ सूत्र से चली आती 'बहुलम्' पद की अनुवृत्ति से हो सकती है, तथापि ये सूत्र बनाये, वह 'तत्पुरुषे कृति' ३/२/२० का ही विस्तार किया है, वैसा यह न्याय कहता है ।

यह न्याय अन्य किसी परिभाषासंग्रह में प्राप्त नहीं है ।

॥ १४० ॥ न्यायाः स्थविरयष्टिप्रायाः ॥ १८ ॥

'न्याय' वृद्ध की लकडी जैसे हैं ।

जैसे वृद्ध पुरुष गमन आदि क्रिया के समय, उसी क्रिया की सिद्धि के लिए लकडी-दंड

का आलम्बन लेता है, किन्तु जब गमन आदि कार्य नहीं होता है, तब दंड-लकडी का आलम्बन लेता नहीं है, उसी प्रकार से ये न्याय भी शिष्ट प्रयोग की अन्यथा अनुपपत्ति होती हो तो, उसकी निवृत्ति के लिए ही है । अन्यथा न्यायों का उपयोग नहीं होता है ।

इस न्याय की आवश्यकता बताते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि एक प्रयोग की सिद्धि में एक ही न्याय का एकबार आश्रय किया जाता है, और उसका ही बाद में तुरंत अन्य सूत्र के उपयोग करते समय आश्रय नहीं किया जाता है । दोनों परस्पर विरोधी है । ऐसी शंका की निवृत्ति के लिए यह न्याय है । उदा. 'रायमतिक्रान्तानां कुलानाम् अतिरीणाम्'। 'अतिरि' शब्द में 'रै' का 'क्लीबे' २/४/९७ से 'हृस्व' अर्थात् 'रि' हुआ है । बाद में यहाँ 'अतिरि आम्' में 'हृस्वापश्च' १/४/३२ से 'आम्' का 'नाम्' आदेश होने के बाद, 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से प्राप्त 'आ रायो व्यञ्जने' २/१/५ सूत्र से होनेवाले 'आत्व' का 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' न्याय से निषेध होने से नहीं होगा क्योंकि वैसा करने से हृस्व का विघात होता है । अब, 'अतिरीणाम्' करते समय 'दीर्घो नाम्यतिसृचतसृष्रः' १/४/४७ से 'रि' के 'इ' का दीर्घ 'ई' करते समय 'सन्निपातलक्षणो'-न्याय का आश्रय करेंगे तो दीर्घविधि नहीं हो सकेगी क्योंकि 'नाम्' आदेश करनेवाले 'हृस्वत्व' का ही 'नाम्' आदेश नाश करता है, तथापि यहाँ इस न्याय के आधार पर, वही 'सन्निपातलक्षणो-' न्याय का आश्रय नहीं करना, अतः 'अतिरीणाम्' प्रयोग सिद्ध हो सकेगा ।

उसी तरह 'वत्तस्याम्' १/१/३४ सूत्र में 'वत्' और 'तस्' प्रत्यय तद्धित सम्बन्धित ही होने से उसके साहचर्य से 'आम्' प्रत्यय भी तद्धित सम्बन्धित ही लेने का सिद्ध हो सकता है तथापि 'साहचर्यात्' न्याय का आश्रय नहीं करने से 'परोक्षा' के स्थान पर हुए 'आम्' का भी ग्रहण हो जाता है, किन्तु उसी तरह षष्ठी बहुवचन के 'आम्' का ग्रहण नहीं होता है क्योंकि उसी समय 'साहचर्यात्' न्याय का आश्रय किया जाता है ।

ऐसे प्रयोग की सिद्धि करते समय, एक ही न्याय का आश्रय और अनाश्रय देखने को मिलता है और उसके परिणाम स्वरूप होनेवाली प्रयोगसिद्धि इस न्याय का ज्ञापक है ।

इसी 'न्यायसङ्ग्रह' में दिये गये न्याय में से किसी भी न्याय के अनाश्रय के लिए कोई भी ज्ञापक अवश्य होना चाहिए, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी मानते हैं । जैसे 'अतिरीणाम्' में, 'आ रायो व्यञ्जने' २/१/५ से 'आ' न करने के लिए 'सन्निपातलक्षणो-' न्याय का आश्रय किया गया है । दीर्घविधि में इसी न्याय के अनाश्रय करने के लिए कौनसा ज्ञापक है? इसके लिए वे कहते हैं कि दीर्घ विधायक 'दीर्घो नाम्यतिसृचतसृष्रः १/४/४७ में 'तिसृ' और 'चतसृ' का वर्जन ही 'सन्निपात लक्षणो-' न्याय के अनाश्रयण का ज्ञापक है क्योंकि 'सन्निपातलक्षणो-' न्याय से 'तिसृ-चतसृ' के दीर्घ की निवृत्ति हो सकती थी, तथापि उसका वर्जन किया, वह, 'सन्निपातलक्षणो-' न्याय के अनाश्रयण का ज्ञापन करता है ।

उसी प्रकार 'वत्तस्याम्' १/१/३४ सूत्र के बृहन्न्यास में अविभक्तित्व स्वरूप साहचर्य का आश्रय करके, परोक्षा के स्थान पर हुए 'आम्' का ग्रहण किया है और षष्ठी-बहुवचन के 'आम्'

की निवृत्ति की है । उसके अलावा षष्ठी बहुवचन के 'आम्' की निवृत्ति के लिए दूसरा उपाय बताया है । वह इस प्रकार है -: 'आम्' की व्याख्या इस प्रकार करना कि जो 'आम्' 'आम्' ही रहता है, वैसे 'आम्' अन्तवाले शब्द की 'अव्यय' संज्ञा होती है । इस प्रकार अर्थ करने से षष्ठी बहुवचन 'आम्' का 'नाम्' आदेश हो सकता है । उदा. 'मतीनाम्, मनसाम्' । इस प्रकार प्रायः सर्वत्र न्यायों के आश्रय और अनाश्रय के लिए ज्ञापक बताया जा सकता है ।

तथापि क्वचित्/ कदाचित् न्यायों की प्रवृत्ति नहीं होती है, यही अर्थमूलक ही यह न्याय है और उसके लिए ही यह न्याय बताया है, ऐसा मानना चाहिए ।

पाणिनीय क्वचित्/ कदाचित न्यायों की प्रवृत्ति नहीं होती है, वही अर्थमूलक ही यह न्याय है और उसके लिए ही यह न्याय बताया है, ऐसा मानना-चाहिए ।

पाणिनीय परम्परा में 'यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्' न्याय है ।

*****

इति कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यैर्विरचित
श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनस्य पण्डित श्रीहेमहंसगणिभिः
स्वसमुच्चितानां पूर्वेभ्यो विलक्षणानां प्रायः
ज्ञापकादिरहितानामष्टादशमितन्यायानां
तृतीय-वक्षस्कारस्य
पण्डित श्रीहेमहंसगणिकृत-स्वोपज्ञन्यायार्थमञ्जूषा
नाम बृहद्वृत्तेश्च स्वोपज्ञन्यासस्य च
तपागच्छाधिराज - शासनसम्राट्
आचार्य श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वराणां पट्टालङ्कार-
आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरीश्वरैः
सन्दृब्धं न्यायार्थसिन्धुं च तरङ्गं च क्वचित् क्वचिदुपजीव्य
शासनसम्राट् आचार्य
श्रीविजयनेमि-विज्ञान-कस्तूर-यशोभद्र-शुभङ्करसूरिणां
पट्टधर आचार्य श्रीविजयसूर्योदयसूरीश्वराणां
शिष्य
मुनि नन्दिघोषविजयकृत-
सविवरणं हिन्दीभाषानुवादः
समाप्तिमगात् ॥

अथ

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित

श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनगत

पण्डित श्रीहेमहंसगणिभिः संगृहीत 'न्यायसङ्ग्रहे'

एक एव न्यायस्वरूपोऽन्तिमश्चतुर्थो

वक्षस्कारः ॥

अब श्रीहेमहंसगणि ने पूर्व बताये हुए अठारह न्यायों के सदृश ही एक न्याय, विस्तृत रूप से बताना उचित होने से पृथक् कहा जाता है ।

॥१४१॥ शिष्टनामनिष्पत्तिप्रयोगधातूनां सौत्रत्वाल्लक्ष्यानुरोधाद् वा सिद्धिः॥

शेष बचे हुए नाम, निष्पत्ति, प्रयोग और धातुओं की सौत्रत्व से या लक्ष्यानुरोध से सिद्धि होती है ।

शिष्ट अर्थात् शेष बचे हुए, जिसकी व्याकरण से व्याख्या नहीं की गई हैं ऐसे नाम, निष्पत्ति अर्थात् व्युत्पत्ति, प्रयोग और धातुओं की (उन सबकी) सिद्धि सौत्रत्व से अर्थात् व्याकरण इत्यादि के सूत्र में निर्दिष्ट होने से, या लक्ष्यानुरोध से अर्थात् लक्ष्य-महाकविओं के प्रयोग-अनुसार ज्ञातव्य है । यहाँ 'सिद्धिः' शब्द अन्तिम मङ्गल है ।

उसमें 'नाम' की सिद्धि इस प्रकार है । चतुर्थी, षष्ठी इत्यादि । यहाँ 'चतुर्णां पूरणी, षण्णां पूरणी' वाक्य में 'चतुरः' ७/१/१६३ और 'षट् कति कतिपयात् थट्' ७/१/१६२ से 'थट्' प्रत्यय होने पर, 'नामसिदय्व्यञ्जने' १/१/२१ से पद संज्ञा होने पर 'चतुस्थी, षट्ठी' होने की प्राप्ति है किन्तु 'चतुर्थी' २/२/५३ और 'अज्ञाने ज्ञः षष्ठी' २/२/८० में सौत्रनिर्देश किया गया होने से 'चतुस्थी, षट्ठी' रूप नहीं होंगे ।

लक्ष्यानुरोधाद् अर्थात् लक्ष्य अनुसार १. भिस्सटा, कच्छाटिका, ग्रामटिका' इत्यादि में 'ट' का आगम होता है ।

न्या. सि. (न्यायार्थ सिन्धु) : इस न्याय की आवश्यकता बताते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि शास्त्रकार आचार्यश्री ने यथासंभव अर्थात् संभवतः जितनी संभावनाएँ हुयी उतनी लक्ष्यस्वरूप नाम इत्यादि अपने व्याकरण में सम्मिलित की हैं, तथापि नाम इत्यादि अनंत होने से, उन सबको व्याकरणशास्त्र में सम्मिलित करना प्रायः असंभव है, अतः शेष बचे हुए नाम, निष्पत्ति, प्रयोग, धातु इत्यादि, जो साक्षात् सूत्र में नहीं बताये हैं, उनका संग्रह करने के लिए यह न्याय है ।

शब्दानुशासन की मर्यादा बताते हुए भाष्यकार ने भी कहा है कि 'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं शब्दपारायणं जगौ तथापि नान्तं जगाम ।[1]

१. पतंजलिकृत महाभाष्य-पस्पशाह्निक ।

ग्रंथ की आदि में, मध्य में और अन्त में मंगल करना, वह शिष्टपुरुषों का आचार है ।[१] महाभाष्य में भी कहा है कि 'मङ्गलादीनि, मङ्गलमध्यानि, मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते ।[२]

स्वो. न्या.-: 'अभि' पूर्वक 'प्सांक्' धातु से 'अभिप्सायते' अर्थ में 'उपसर्गादातः' ५/३/११० से 'अङ्' होने पर 'इडेत्पुसि चातो लुक्-' ४/३/९४ से 'आ' का लोप होगा, बाद में 'पृषोदरादित्व' के कारण 'अभि' के 'अ' का लोप, 'प्सा' धातु के 'प्' का 'स्' होगा और स्त्रीलिङ्ग में 'आप्' प्रत्यय से पूर्व 'ट' का आगम होगा । इस प्रकार 'भिस्सटा' शब्द बनता है ।

'कच्छाटिका' और 'ग्रामटिका' शब्दों में 'कच्छा' और 'ग्राम शब्दों से 'कुत्सित' और 'अल्प' इत्यादि अर्थ में 'कप्' प्रत्यय होकर, स्त्रीलिंग का 'आप्' प्रत्यय होगा तब 'कप्' प्रत्यय से पूर्व 'ट' का आगम होगा, बाद में 'अस्यायत्-तत्-क्षिपकादीनाम्' २/४/१११ से 'ट' के 'अ' का 'इ' होने पर 'कच्छाटिका 'और 'ग्रामटिका'[३] शब्द होंगे ।

न्या. सिन्धु -: लिंगानुशासन में आचार्यश्री ने 'भिस्सटा' का अर्थ 'कुत्सिता भिस्सा' किया है । अमरकोश (पं. १८०४) में भी 'भिस्सटा दग्धिका' कहा है, जबकि टीकाकार ने 'भिस्सां टीकते' कहकर 'भिस्सा' पूर्वक 'टीक्' धातु से शब्दसिद्धि की है ।

'अभिधानचिन्तामणि' कोश में 'कच्छा' के लिए कहा है कि

"नौकाङ्गे परिधाने च पश्चादञ्चलपल्लवे ।"
कच्छा तु चीरिकायां तु वाराह्यां च निगद्यते ॥'

ऊपर बताया उसी प्रकार से हैमकोश के अनुसार 'कच्छा' का अर्थ पहनने योग्य वस्त्र का अन्तिम भाग-अञ्चल अर्थात् पालव करने पर, उससे कुत्सित अर्थ में 'क' प्रत्यय होगा और 'कच्छाटिका' शब्द सिद्ध होगा । लिंगानुशासन की टीका में भी आचार्यश्री ने कहा है कि 'अञ्चलपल्लवे चार्थप्राधान्यात् कच्छाटिका इत्यपि यद् गौडः कच्छा-कच्छाटिका समे' अर्थात् 'गौड' शब्दकोश में कच्छा और कच्छाटिका शब्दों को समानार्थी मानें गये हैं ।

२. कान्दविक, काम्बविक और वैणविक इत्यादि में 'ऋवर्णोवर्ण-दोसिसुसशश्वदकस्मात्त इकस्येतो लुक्' ७/४/७१ से प्राप्त 'इकण्' के 'इ' का लोप नहीं होता है ।

निष्पत्ति की सिद्धि इस प्रकार है । : 'अं अः अनुस्वारविसर्गौ' १/१/९ और 'आपो ङितां यै यास् यास् याम्' १/४/१७ सूत्र स्थित 'अं अः' तथा 'यै यास् यास् याम्' पदों में अनुक्रम से 'औ' और 'जस्' प्रत्यय का लोप सौत्रत्व से सिद्ध होता है ।

लक्ष्यानुरोध से निष्पत्ति की सिद्धि प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि उसका संभव ही नहीं है।

इस प्रकार आगे भी सौत्रत्व और लक्ष्यानुरोध, उन दोनों में से किसी एक से ही सिद्धि बतायी गई हो, वहाँ दूसरे के लिए असंभव स्वरूप कारण जान लेना ।

स्वो.न्या. :- 'कन्दुः पण्यमस्य' अर्थ में 'कन्दु' शब्द से 'तदस्य पण्यम्' ६/४/५४ से इकण् प्रत्यय होने पर 'अस्वयंभुवोऽव्' ७/४/७० से 'उ' का अव्' आदेश होने पर 'कान्दविक' शब्द होता है । वैसे 'कम्बु' शब्द' से 'कम्बुघटनं शिल्पमस्य' अर्थ में और 'वेणु' शब्द से 'वेणुवादनं शिल्पमस्य' अर्थ में 'शिल्पम्' ६/४/५७ से 'इकण्' होकर 'अव्' आदेश होने पर 'काम्बविकः' और 'वैणविकः' शब्द होते हैं ।

१. आचारांग चूर्णि २. महाभाष्य ३. 'ग्रामटिका' शब्द से गुजराती भाषा में 'गामडिया' शब्द आया है, शायद ।

न्या. सिः 'कान्दविक 'शब्द की सिद्धि अन्य वैयाकरण इस प्रकार करते है -: 'कन्दु' अर्थात् 'मद्यनिर्माणोपयोगिपात्र' (अमरकोश पं. १७६७) जो 'कराही' से प्रसिद्ध है 'तत्र संस्कृतं भक्ष्यं' अर्थ में 'कान्दवं' शब्द होगा । उससे 'पण्य' अर्थ में 'इकण्' प्रत्यय होने पर 'कान्दविक' होगा । अमरकोश में भी 'आपूपिकः कान्दविको भक्ष्यकार इमे त्रिषु' शब्द (पं.१७६२) दिया है ।

'कम्बु' और 'वेणु' शब्द से विकार अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर 'काम्बवं' और 'वैणवं' सिद्ध करके, बाद में शिल्प अर्थ में 'इकण्' होने पर 'काम्बविक' और 'वैणविक' शब्द सिद्ध हो सकते हैं ।

इसके बारे में टिप्पणि करते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि अपने मतानुसार 'इकण्' के 'इ' लोप का अभाव करने के लिए लक्ष्यानुरोधत्व का आश्रय किया है । जबकि श्रीहेमहंसगणि के मतानुसार दो प्रत्ययों के विधानस्वरूप प्रक्रियागौरव दूर करने के लिए और 'इ' लोप का अभाव करने के लिए लक्ष्यानुरोधत्व का आश्रय किया है ।

न्या. तरंग -: इस न्याय का महत्त्व बताते हुए श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि यह न्याय केवल 'न्यायसङ्ग्रह' के शेष अंश का ही पूरक नहीं है किन्तु संपूर्ण शब्दशास्त्र के शेष अंश का पूरक है।

शब्दशास्त्र के विषय में महाभाष्यकार इत्यादि ने भी कहा है कि 'प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानम्' (भाषा में प्रयुक्त शब्दों की ही यहाँ व्याख्या की गई है ।)

न्या.त. :- सूत्रकार आचार्यश्री का 'कलिकालसर्वज्ञ' विशेषण होने से, प्रायः प्रयुक्त सभी प्रकार के प्रयोग की सिद्धि हो गई है, तथापि अपनी दृष्टि से वस्तुतः स्वयं छद्मस्थ होने से, भविष्य में, किसी विषय में अपने द्वारा अप्रयुक्त शब्दों के प्रयोग देखनेवाले, अपने शिष्य इत्यादि को उसी प्रयोग के साधुत्व के बारे में आशंका हो तो, उसी आशंका दूर करने के लिए इस न्याय का आश्रय किया गया है ।

प्रयोगों की सिद्धि इस प्रकार है : 'रण' इत्यादि धातु केवल सामान्य शब्दवाचक (आवाज़वाचक) है तथापि 'नूपुर' इत्यादि के शब्द को 'रणितं', 'रतकूजित' शब्द को 'मणितं', दुःख में किये जाते आर्तनाद को, 'कणितं', वीणा इत्यादि के शब्द को 'क्वणितं,' पक्षी इत्यादि के शब्द को 'कूजितं' हाथी की आवाज़ को 'बृंहितं', घोडा की आवाज़ को 'हेषितं' (हेषारव), सामान्य पशुओं के शब्द को 'वासितं', मेघ (बादल) इत्यादि के शब्द को 'गर्जितं'[१] सिंह इत्यादि के शब्द को 'गुञ्जितं' कहा जाता है और उसकी सिद्धि लक्ष्यानुसार होती है ।

धातुओं की सिद्धि इस प्रकार होती है । जैसे सौत्र धातुओं में 'कण्डू' इत्यादि प्रतीत ही है और उसके अर्थ और उदाहरण इत्यादि 'धातोः कण्ड्वादेर्यक्' ३/४/८ सूत्र की बृहद्वृत्ति और बृहन्न्यास से ज्ञातव्य है ।

शेष सौत्र धातुओं से 'कविकल्पद्रुम, उणादिगणवृत्ति, निघंटुवृत्ति, धातुपारायण' इत्यादि ग्रंथ में सूत्र से और अर्थ से, वर्ण के अनुक्रम से पृथक् पृथक् कहे गये धातुओ के 'क, च, ट, त, प' इत्यादि अनुबंध से 'अदादि'- इत्यादि गणनिर्दिष्ट कार्य होते हैं, धातु 'इदित्' या 'ङित्' हो तो आत्मनेपद, 'ईदित्' या 'गित्' हो तो उभयपद होता है और 'इ, ङ्, ई' या 'ग्' चार में से एक भी अनुबन्ध न होने पर उसी धातु से 'शेषात्परस्मै' ३/३/१०० से परस्मैपदी मान लें ।

(न्या. सि.) १. क्वचित् सिंह की आवाज़ को 'गर्जितं' और भौंरे की आवाज़ को 'गुञ्जितं' कही जाती है ।

अब केवल दिग्दर्शन के लिए ही कुछेक अनुबंध के फल बताये जा रहे हैं । वह इस प्रकार है-'स्तम्भू स्तम्भे', स्तम्भ अर्थात् क्रियानिरोध (स्थिर होना), 'स्तभ्नाति, स्तभ्नोति' प्रयोग में 'स्तम्भू-स्तुम्भू-स्कम्भू-स्कुम्भूस्कोः श्ना च ' ३/४/७८ से 'श्ना' और 'श्नु' प्रत्यय होते हैं, तब 'नो व्यञ्जनस्यानुदितः' ४/२/४५ से 'न' का लोप होता है । कर्मणि प्रयोग में 'क्य' प्रत्यय पर में होने पर 'स्तभ्यते' होता है । 'ऊदित्' होने से 'ऊदितो वा' ४/४/४२ से 'क्त्वा' प्रत्यय पर में होने पर 'वेट्' होता है, अतः जब 'इट्' नहीं होगा तब 'स्तब्ध्वा' होगा और 'इट्' होने पर, 'सेट् क्त्वा' होने से 'क्त्वा' ४/३/२९ सूत्र से 'क्त्वा' में 'कित्त्व' का अभाव होने पर 'न' का लोप नहीं होता है, अतः 'स्तम्भित्वा' रूप होगा और 'वेट्' होने से 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ से 'क्त, क्तवतु' के आदि में 'इट्' न होने से 'स्तब्धः स्तब्धवान्' रूप होंगे । अद्यतनी में 'ऋदिच्छ्वि-' ३/४/६५ से विकल्प से 'अङ्' होने पर 'अस्तम्भत्, अस्तम्भीत्' रूप होते हैं ।

उणादि में 'अग' और 'पुल' से पर आये हुए 'स्तम्भ' धातु से 'अगपुलाभ्यां-' (उणा-३६३) से डित् 'य' प्रत्यय होने पर 'अगस्त्यः'और 'पुलस्त्यः' शब्द बनते हैं । 'स्तभ्नाति' अर्थ में 'जजल तितिल' (उणा-१८) से 'तिन्तिभः' निपातन होता है, और उससे 'तस्याऽपत्यं वृद्धं' अर्थ में 'गर्गादि' होने से 'यञ्' प्रत्यय होने पर 'तैन्तिभ्यः' शब्द होता है ।

यहाँ वर्ण के अनुक्रम से सिद्धि बताने की प्रतिज्ञा की गई है तथापि 'स्तम्भू' इत्यादि सौत्र धातु हैं, ऐसी वृद्धो की उक्ति (प्राचीन परम्परा) होने से प्रथम 'स्तम्भू' का कथन किया है । ऐसे वृद्धों की उक्ति अनुसार 'क्लवि' इत्यादि 'लौकिक' होने से और 'चुलुम्प' इत्यादि धातु वाक्यकरणीय' होने से क्रम में प्रथम लिए गये हैं ॥१॥

आकारान्त धातु : 'तन्द्रा आलस्ये' धातु का 'तन्द्राति' रूप होता है । 'शीङ्श्रद्धानिद्रातन्द्रा दयिपतिगृहिस्पृहेरालुः' ५/२/३७ से 'तन्द्रा' धातु से 'आलु' प्रत्यय होने पर 'तन्द्रालु' शब्द होता है ॥२॥

चार धातु इकारान्त है । १. 'कि ज्ञाने, कयति' । 'कि' धातु से 'उणादि' के 'जनिपणि'-(उणा-१४०) से 'ट' प्रत्यय होने पर दीर्घ होकर 'कीटः' शब्द बनता है । 'किशृ' -(उणा- ४३५) से 'कर' प्रत्यय होने पर 'केकरो वक्रदृक्', 'तिनिश्'-(उणा-५३७) से 'किश' प्रत्यय होने पर 'कीशः' अर्थात् 'मर्कटः' शब्द बनता है ॥३॥

२. पति पतने धातु के 'अपतायीत्, पतयति' इत्यादि रूप होते हैं । 'शीङ्श्रद्धा-' ५/२/३७ से 'आलु' प्रत्यय होने पर 'पतयालुः' शब्द होता है और 'चुरादि' के अकारान्त 'पतण्' धातु से भी 'पतयालुः' शब्द होता है । ॥४॥

३. 'गृहि ग्रहणे' धातु के 'गृहयति, अगृहायीत्' इत्यादि रूप होते हैं, जबकि 'गृहणि ग्रहणे' धातु (चुरादि) के 'गृहयते,[१] अजगृहत' इत्यादि रूप होते हैं । इन दोनों धातुओं से 'शीङ्श्रद्धानिद्रा'

१. न्यायसंग्रह में श्रीहेमहंसगणि ने चुरादि के अकारान्त गृह धातु का वर्तमानकाल में 'गृहयते' रूप दिया है, जबकि श्री लावण्यसूरिजी ने गृह्यते दिया है, जो मुद्रणदोष होने का संभव है ।

५/२/३७ से आलु प्रत्यय होने पर 'गृहयालुः' शब्द सिद्ध होता है ॥ ५॥

स्वो.न्या. -: अब सौत्रादि धातु से निष्पन्न हुए 'नाम' में से कुछेक के व्युत्पत्ति स्वरूप अर्थसूचक विग्रह वाक्य, दिग्दर्शन करने के लिए बताये जाते हैं । उसी तरह जिन अर्थसूचक शब्द/नाम के विग्रहवाक्य न बताये हों वे बना लेने । उदा. 'अगमर्थाद् विन्ध्यं स्तभ्नाति इति अगस्त्यः । 'अगं' अर्थात् 'विन्ध्य' को स्तम्भित करनेवाले, 'अगस्त्यः' ।

'तन्द्राणशीलः' अथवा 'तन्द्राणधर्मा' अथवा 'साधु तन्द्राति' अर्थ में 'तन्द्रालुः' शब्द होता है । ऐसे 'पतयालुः गृहयालुः' शब्दों के विग्रहवाक्य बना लेना ।

'कयति जानाति शिक्षितः सन् नृत्याद्यमिति कीशः ।'

न्या. सि. : 'पुलं स्तभ्नाति इति पुलस्त्यः ।'

'चिरिट् हिंसायाम्' धातु के 'चिरिणोति' इत्यादि रूप होते हैं और 'उणादि' के 'चिरेरिटोभूव' (उणा-१४९) सूत्र से 'इट' प्रत्यय होने पर, अन्त्य 'इ' का 'भ' आदेश होता है और 'जातेरयान्त' २/४/५४ से 'ङी' प्रत्यय होने पर 'चिर्भिटी' शब्द बनता है और 'टिण्टश्चर् च वा' (उणा- १५०) से 'टित् इण्ट' प्रत्यय होने पर 'चिरि' धातु का 'चर्' आदेश विकल्प से होने पर 'चरिण्टी' और 'चिरिण्टी शब्द होते हैं और उसका अर्थ वधूटी (वधू)[1] होता है ॥६॥

उकारान्त दो धातु हैं । १. 'जुं वेगे' का 'जवति' रूप होता है और अनुस्वार की 'इत्' संज्ञा होने से अद्यतनी में 'इट्' नहीं होगा और 'अजौषीत् रूप होगा । जबकि 'जुंङ् गतौ' धातु के 'जवते, अजोष्ट' इत्यादि रूप होते हैं । 'जवः जवनः' इत्यादि शब्द की सिद्धि, यद्यपि निघण्टुवृत्ति इत्यादि में सौत्र 'जु' धातु से प्रत्यय करके बतायी है, तथापि जुंङ् गतौ [2] धातु से भी इसकी सिद्धि होती है ॥ ७ ॥

२. 'क्रुङ् गतौ' धातु के 'क्रवते' (कर्तरि) 'क्रूयते' (कर्मणि) और 'क्रव्यम्' (कृदन्त) इत्यादि रूप होते हैं ॥ ८॥

दीर्घ ऊकारान्त 'भूङ् प्राप्तौ' धातु से 'भूङः प्राप्तौ णिङ्' ३/४/१९ से 'भावयते' और 'भवते' रूप होते हैं ॥ ९ ॥

ककारान्त छः धातु हैं । १. 'तर्क विचारे' धातु का 'तर्कति' रूप होता है । अकार श्रुतिसुख या उच्चारण के लिए है । (इस प्रकार आगे भी अकारान्त धातु को अकारान्त नहीं मानने चाहिए) ॥ १०॥

२. 'कक्क, कर्क हासे,' धातु का 'कक्कति' रूप और 'कक्कितः' शब्द सिद्ध होता है । 'क्तेटो गुरोर्व्यञ्जनात्' ५/३/१०६ सूत्र से 'अ' प्रत्यय होने पर 'कक्का' और 'अच्' प्रत्यय होने पर 'कक्कः'

---

१. समाः स्नुषाजनीवध्व श्चिरिण्टी तु सुवासिनी (अमरकोश, पं. १०९१)

२. न्या. सि.-पाणिनीय व्याकरण में इस धातु का पाठ नहीं किया गया है । केवल उसे सौत्र धातु के रूप में माना गया है । अतः उनकी मान्यतानुसार यहाँ इस धातु को बताया है । 'जुचङ्क्रम्य-' (पा.३/२/५०) सूत्र में भट्टोजी दीक्षित ने कहा है कि 'जुं इति सौत्रो धातुर्गतौ वेगे च'

शब्द सिद्ध होते हैं ॥११॥

'कर्क ' धातु का 'कर्कति' रूप होता है और उससे उणादि के 'दिव्यवि-' (उणा-१४२) से 'अट' प्रत्यय होने पर 'कर्कटः' शब्द होता है, उससे 'जातेरयान्त' - २/४/५४ से 'ङी' प्रत्यय होने पर 'कर्कटी' और उणादि के 'कर्के'-(उणा-८१३) सूत्र से 'आरु' प्रत्यय होने पर 'कर्कारुः' शब्द होता है । ॥१२॥

स्वो.न्या : 'चिरिणोति हन्ति पित्तं' (पित्त को जो दूर करता है) ' चिर्भिटी' (ककडी/ खुरबुजा)

न्या. सि. :- 'तर्क्यन्ते प्रमितिविषयीक्रियन्ते पदार्था अनेन इति तर्क :' । 'तर्क' अर्थात् जिस से पदार्थों को प्रमिति-प्रमाण का विषय बनाया जाय अर्थात् पदार्थ की सिद्धि की जाय ।

३. 'सिक सेचने' धातु का 'सेकति' रूप होता है और उणादि के 'पृषिरञ्जि'- (उणा-२०८) सूत्र से कित् 'अत्' प्रत्यय होने पर 'सिकता' शब्द होता है ॥१३॥

४. 'मर्क संप्रच्छने' धातु का 'मर्कति' रूप होता है । उणादि के 'दिव्यवि' -(उणा-१४२) से 'अट' प्रत्यय होने पर 'मर्कटः' और 'कैरव'-(उणा-५११) सूत्र से 'अव' प्रत्यय होकर निपातन होने से 'र्मार्कवः' शब्द होता है और उसका अर्थ 'केशरञ्जनः' होता है ।[1]

न्या.सि :- 'कर्कट' अर्थात् कपिल/भूखरा रंग और 'कुलीर' का अर्थ केकडा (कर्क) होता है । कर्कटी अर्थात् ककडी और 'कर्कारुः' अर्थात छोटा खरबुजा होता है ।

५.'चक्कि भ्रमणे' धातु का 'चङ्कते' रूप होता है । उणादि के 'वाश्यसि' - (उणा- ४२३) सूत्र से 'उर' प्रत्यय होने पर 'चङ्कुरः ' शब्द होता है और उसका अर्थ 'रथ' होता है । ॥ १५ ।

६. 'मकि गतौ' धातु का 'मकते' रूप होता है । उणादि के 'ककिमकि'-(उणा-२४५) से 'अन्द' प्रत्यय होने पर 'मकन्द' शब्द होता है, वह एक राजा का नाम है और उससे 'माकन्दी पूः' (नगरी का नाम) बनता है । ॥१६॥

खान्त धातु 'रिखि' और 'लिखि' समानार्थक है । 'रेखति चित्रकृत्' । अर्थात् चित्रकार रेखांकन करता है । 'भिदादयः' ५/३/१०८ से 'अङ्' प्रत्यय होने पर, निपातन से 'रेखा' शब्द बनता है । ॥१७॥

गकारान्त धातु-: 'कगे मिथः संप्रहारे' धातु से 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' वचन अनुसार 'चुरादिभ्यो णिच् ' ३/४/१७ से स्वार्थ में 'णिच्' होगा बाद में 'ख्णम्' प्रत्यय होने पर 'कग्' का 'अ' कगेवनूजनैजृष् क्नस् रञ्जः' ४/२/२५ से विकल्प से दीर्घ होने पर 'कागंकागं, कगंकगं' शब्द सिद्ध होंगे और उसका अर्थ 'पुनः पुनः बार बार प्रहार करके' होता है ।

यह धातु मौन अर्थ में है, ऐसा कुछेक कहते हैं, अतः 'कगति' का अर्थ 'वह नहीं बोलता है । (वह मौन धारण करता है ।)' होता है ।

१. मार्कव आर्थात् माका/भृङ्गराज को गुजराती भाषा में 'भांगरो' कहा जाता है वह संस्कृत के भृङ्गराजः शब्द से आया है । मराठी भाषा मे उसे माका कहा जाता है, वह संस्कृत के 'मार्कवः' शब्द से आया है । इसका इस्तेमाल महेंदी की तरह बाल को रंगने के लिए किया जाता है । 'मार्कवो भृङ्गराजः स्यात्' (अमरकोश पं. ९५१)

जबकि अन्य कुछेक के मतानुसार 'कग्' धातु सर्वक्रियार्थक है ,[१] अतः 'कगति' का अर्थ-वह जाता है, वह खाता है, वह सोता है' इत्यादि होता है । यह धातु 'एदित्' होने से 'न श्विजागृशसक्षण हृम्येदितः' ४/३/४९ से वृद्धि का निषेध होता है, अतः 'व्यञ्जनादेर्वोपान्त्यस्यातः' ४/३/४७ से प्राप्त वृद्धि नहीं होगी और अद्यतनी में 'अकगीत्' रूप होगा ॥ १८ ॥

घ अन्तवाला 'अर्घ मूल्ये' धातु है, वह 'मूल्य करना' अर्थ में है । 'महार्घः' अर्थात् महामूल्यवान् । 'कलां नार्घन्ति षोडशीम्'[२] (वे सोलहवीं कला का मूल्य नहीं करते हैं ।) ॥१९॥

च अन्तवाला 'मर्चण् शब्दे' धातु शब्द/आवाज़ करना अर्थ में है । मर्चयति । 'णिच्' अनित्य होने से 'णिच्' के अभाव में उणादि के 'भीण् शलि'-(उणा-२१) सूत्र से 'क' प्रत्यय होने पर 'चजः कगम्' २/१/८६ से 'च' का क होने से मर्क्कः शब्द होगा, उसका अर्थ देवदारु[३] होता है ॥२०॥

ज अन्तवाले तीन धातु हैं । १. 'मञ्ज् सौन्दर्ये च' । 'च' शब्द से आवाज़ करना अर्थ ज्ञातव्य है । अतः 'मञ्ज्' धातु का अर्थ सौन्दर्य (सुन्दर होना) और आवाज़ करना होता है । 'मञ्जति' । उणादि के 'षष्ठैधिठादयः-' (उणा-१६६) सूत्र से 'ठ' प्रत्यय होने पर, निपातन से 'मञ्जिष्ठा' शब्द बनेगा । 'ऋच्छिचटि'-(उणा-३९७)से 'अर' प्रत्यय होकर उसे स्त्रीलिंग का 'ङी' प्रत्यय होने पर ' मञ्जरी' शब्द बनेगा और कृशॄपॄ-(उणा - ४१८) सूत्र से 'ईर' प्रत्यय होने पर 'मञ्जीर' शब्द होगा । 'कुमुल'-(उणा-४८७) से 'उल' प्रत्यय होने पर 'मञ्जुल' शब्द होगा । खलिफलि-' (उणा- ५६०) से 'ऊष' प्रत्यय होने पर 'मञ्जुषा' शब्द होगा तथा 'भृमृ'- (उणा-७१६) से बहुवचन के कारण 'उ' प्रत्यय[४] होने पर मञ्जु शब्द होगा ॥२१॥

२. 'पञ्ज् रोधे' धातु, रोध करना/रोकना अर्थ में है । 'नाम्नि पुंसि च' ५/३/१२१ से 'णक' प्रत्यय होने पर 'पञ्जिका' शब्द होगा । उणादि के 'ऋच्छिचटि' - (३९७) से 'अर' प्रत्यय होकर 'पञ्जर' शब्द होगा । ॥२२॥

३. 'कञ्ज शब्दे' धातु, आवाज़ करना अर्थ में है । 'कञ्जति' । उणादि के 'अग्यङ्गि -' (उणा. ४०५) सूत्र से 'आर' प्रत्यय होने पर 'कञ्जार' शब्द कोष्टजाति अर्थ में होता है ॥२३॥

ट अन्तवाले तीन धातु हैं । १. 'रण्ट प्राणहरणे' धातु 'मार देना' अर्थ में है । 'रण्टति' । उणादि में 'कु' पूर्वक के 'रण्ट' धातु से 'को रुरण्टि'- (उणा-२८) से 'अक' प्रत्यय होने पर

न्या.सिः- १. यही मत पाणिनीय परम्परा का है और उसका निर्देश 'सिद्धान्त कौमुदी' में श्री भट्टोजी दीक्षित ने किया है ।

२. यही श्लोक पुष्पदंत के महिम्नस्तोत्र में इस प्रकार है ।
"दीक्षा दानं तपस्तीर्थं ज्ञानं यागादिकाः क्रियाः ।
महिम्नस्तवपाठस्य कलां नार्घन्ति षोडशीम् ॥"

३. 'मर्क्क' शब्द के अन्य अर्थ - वायु, दानव, मन, पन्नग (साँप) और विघ्न करनेवाला होते हैं ।

४. भृमृ' (उणा-७१६) सूत्र में 'मञ्ज्' धातु नहीं है तथापि सूत्र में बहुवचन होने से अन्य धातुओ का संग्रह सूचित होता है । यहाँ भी इसी सूत्र से 'उ' प्रत्यय होगा ।

'कुरण्टको वृक्षजातिः' (एक प्रकार का वृक्ष) शब्द होता है ॥२४॥

२.'घटु शब्दे' शब्द करना धातु उदित् होने से 'उदितः स्वरान्नोऽन्तः' ४/४/९८ से 'न' का आगम होने पर 'घण्टति' होता है ॥२५॥

स्वो.न्या-'पञ्ज्यते रुध्यते विच्छिद्यमानोऽर्थोऽनया इति पञ्जिका' ऐसा विग्रहवाक्य होगा । 'कौ पृथिव्यां (रण्टति)[1] हरति विरहिणां प्राणान् इति कुरण्टकः' । विरहीजन के प्राणहरण कर ले वह कुरण्टक ।

न्या. सि. 'मञ्जरी' अर्थात् आम्रवृक्षका मुकुर, 'मञ्जीर' अर्थात् नुपूर और 'मञ्जुल अर्थात् मनोज्ञ/सुन्दर । 'पञ्जर' अर्थात् तोता इत्यादि पक्षियों का पिंजरा । 'कञ्जार' अर्थात् कुसूल (कोठार, धान्य रखने की ऊँची कोठी) और 'यूप' अर्थात् यज्ञ का स्तंभ और व्यञ्जन अर्थ होता है, ऐसा श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं ।

'घटु' धातु से 'अच्' प्रत्यय होने पर 'घण्ट' शब्द होता है, उससे स्त्रीलिंग में 'आप्' प्रत्यय होने पर 'घण्टा' शब्द बनता है ।

३. 'मट ह्रासे' अर्थात् क्षीण होना, 'मटति'। उणादि के 'कृपृ-(उणा-५८९) से 'अह ' प्रत्यय होने पर 'मटहः' लघुबाहु या लघुबाहुक ॥२६॥

ठ अन्तवाला 'कुठ छेदने' धातु छेदना अर्थ में है । 'कोठति' । 'नाम्युपान्त्य'-५/१/५४ से 'क' प्रत्यय होने पर 'कुठः' वृक्षः शब्द बनता है । उणादि के 'तुषिकुठि' - (उणा-४०८) सूत्र से कित् 'आर' प्रत्यय होने पर 'कुठारः' अर्थात् परशु शब्द होता है । ॥२७॥

ड अन्तवाले चार धातु हैं । १. 'क्रुड शब्दे', आवाज़ करना । 'क्रोडति', 'लिहादिभ्यः' ५/१/५० से 'अच्' प्रत्यय होने पर 'क्रोडः' शब्द बनता है ॥ २८॥

२. 'उड सङ्घाते' समूह, एकत्र करना अर्थ में है । 'ओडति' । उणादि के 'उडेः'-(उणादि-३११) से कित् 'उप' प्रत्यय होने पर 'उडुपः' (चंद्र) शब्द होगा ॥ २९॥

३. 'वड आग्रहणे', ग्रहण करना अर्थ में है । 'वडति' । उणादि के 'कृशृपृ-(उणा-३२९) से 'अभ' प्रत्यय होकर गौरादित्व के कारण 'ङी' प्रत्यय होने पर 'वडभी' शब्द बनता है । और 'ऋफिडादीनां डश्च लः' २/३/१०४ से 'ड' का 'ल' होने पर 'वलभी' शब्द होता है । 'वडिवटि'-(उणा- ५१५) से 'अव' प्रत्यय होने पर 'वडवा' शब्द होता है ॥३०॥

४. 'णडण् भ्रंशे,' भ्रंश अर्थ में है । यही धातु णोपदेश है । यहाँ णडि, णटि, णुदि, णाधि,' यही चार धातु नकारादि होने पर भी णोपदेश है । उसमें 'पाठे धात्वादेः'-२/३/९७ से 'ण' का 'न' होता है, बाद में उसी 'न' का 'अदुरुपसर्गान्तरो ण हिनुमीनानेः' २/३/७७ से ण होगा, वह णोपदेश का फल है । उदा. 'नाडयति, प्रणाडयति' । 'घञ्' प्रत्यय होकर 'ड' का 'ल' होने पर 'प्रणाल'[2] शब्द होता है । 'णिच्' अनित्य होने से 'णिच्' के अभाव में 'अच् प्रत्यय होने पर 'नड' शब्द घास की जातिविशेष अर्थ में होता है । उणादि के 'नडेः'-(उणा-७१२) से णित् 'ई' प्रत्यय होने पर 'नाडी' शब्द-अर्धमुहूर्त अर्थात् एक घड़ी/२४ मिनिट अर्थ में होता है । उससे स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होने पर 'नाडिका' शब्द होता है ।

१. स्वो. न्यास में 'रटति' छपा है, जबकि मूलन्यायबृहद्वृत्ति में 'रण्टति' है और वही प्रयोग सही है ।

२. प्रणाल शब्द से गुजराती में 'परनाल' शब्द आया है ।

स्वो. न्या. 'वडति गृह्णाति छर्दीषि इति वडभी' (घास फूस की छोटी सी झोंपडी को जो ग्रहण करे वह) और 'वडति गृह्णाति गर्भं इति वडवा ।' (गर्भ को जो ग्रहण करे वह वडवा) । 'प्रणालयति भ्रश्यति अम्भः अनेन इति प्रणालः ।' जिसके द्वारा पानी (एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाय) स्थानभ्रष्ट हो वह प्रणाल ।

न्या. सि. : 'क्रोड' शब्द पुंल्लिंग में हो तो सुअर अर्थ । 'क्रोडा'- स्त्रीलिंग में हो तो गोद अर्थ और क्रोडम्, नपुंसकलिंग हो तो सीना/वक्षःस्थल अर्थ होता है । गौड शब्दकोश में कहा है 'स्त्री नपुंसकयोः क्रोडावक्षसि यत् किरौ पुमान् ।' 'उडुपः' अर्थात् छोटी नौका । 'वलभी' अर्थात् छत में ड़ेर या गाटर के साथ जुडी हुई लकड़ियाँ जिस पर छप्पर बनाया जाता है ।

'वडिश् बडिश्' अर्थात् मछलियों को पकड़ने की कँटिया या विष/गरल । 'नाडी' शब्द का दूसरा अर्थ- लम्बी पोली नली होता है ।

'नडण् अवस्यन्दने' धातु के स्थान पर 'णडण्' होना चाहिए, ऐसा नंदी नामक वैयाकरण कहते हैं, ऐसा 'धातुपारायण' में बताया है । वह यद्यपि दूसरे द्वारा पठित धातुपाठ के अनुसार है, ऐसा कहा है तथापि उणादि वृत्ति में 'णडि' धातु को सौत्र धातु के रूप में बताया है । अतः यहाँ उसे सौत्र धातु के रूप में बताया है । 'अवस्यन्दन' का अर्थ 'धातुपारायण' में 'भ्रंश' किया है । ॥३१॥

ण अन्तवाले दो धातु हैं १. 'घण् हिंसायाम्' हिंसा करना, 'द्रुन् दारूणि घणाति' । 'लिहादिभ्यः' ५/१/५० से 'अच्' होने पर 'द्रुघणो घनः' शब्द होता है । ॥३२॥

२. 'किणत् शब्दगत्योः' शब्द और गति अर्थ में है । 'किणति' । 'नाम्नि पुंसि च ' ५/३/ १२१ से 'णक' प्रत्यय होने पर 'केणिका पटकुटी ।[१] उणादि के 'निघृषी'-(उणा-५११) से कित् 'व' प्रत्यय होने पर 'किण्वं' शब्द पाप अर्थ में बनता है ॥३३॥

त अन्तवाले चार धातु हैं । १. 'कुत गुम्फप्रीत्योः' गूँथना और खुश करना अर्थ में है । 'कोतति' । उणादि के 'भुजि कुति-' (उणा-३०५) से कित् 'अप' प्रत्यय होने पर 'कुतपः' शब्द कम्बल या श्राद्धकाल अर्थ में होता है ।[२] ॥३४॥

२. 'पुत गतौ' गति अर्थ में है । 'पोतति' । उणादि के 'कृतिपुति'- (उणा -७६) से कित् 'तिक' प्रत्यय होने पर 'पुत्तिका' शब्द मधुमक्खी अर्थ में होता है । ॥३५॥

स्वो. न्या. 'किणन्ति गच्छन्ति जना अत्र इति केणिका' । जहाँ लोग जाते हैं । वह केणिका - तंबु कहा जाता है । 'कुत्यते-गुम्फ्यते छागरोमभिः इति कुतपः कम्बलः' । भेड-बकरा आदि के बाल/ रोम से जो बनाया जाय वह कम्बल । 'कोतन्ति प्रीयन्ते पितरोऽस्मिन्निति कुतपः श्राद्धकालः' । जिस काल में पितृओं/पूर्वजों को खुश/संतुष्ट किये जाते हैं वह कुतपः श्राद्धकाल कहा जाता है। 'पोतति[३] उद्यच्छन्ति मधुने इति पुत्तिका' । मधु के लिए जो उड़ती है वह पुत्तिका अर्थात् मधुमक्खी ।

१. केणिका अर्थात् छोटा तंबु (कपडे का)

२. कुतप शब्द का अर्थ भानजा भी होता है । (अभिधानचिन्तामणि श्लोक ५४३)

३. यहाँ 'उद्यच्छन्ति' प्रयोग के स्थान पर 'उद्गच्छन्ति' प्रयोग होना चाहिए क्योंकि पुत धातु गति अर्थ में है ।

न्या.सि. -: किण्व का दूसरा अर्थ सुराबीज अर्थात् जिस में से मद्य बनता है वैसा बीज/धान्य ।

'लत आदाने' ग्रहण करना, 'लतति' । 'आङ्' पूर्वक 'लत' धातु से उणादि के 'कृतिपुति'-(उणा-७६) से कित् 'तिक' प्रत्यय होने पर 'आलत्तिका' शब्द गायन का प्रारम्भ अर्थ में होता है ॥३६॥

'सात-सुखने', सुखी होना, 'सातति' । णिग् अन्तवाले 'सात' धातु से 'साहिसाति वेद्युदेजि धारिपारिचेतेरनुपसर्गात्'-५/१/५९ से 'श' प्रत्यय होने पर 'सातयः' शब्द सुख करनेवाला अर्थ में होता है ॥३७॥

थ अन्तवाला 'कथ वाक्यप्रबन्धे' धातु वाक्यरचना करना अर्थ में है । 'णिग्' प्रत्यय होने पर या 'बहुलम्' से 'णिच्' विकल्प से होने पर अद्यतनी में 'अचीकथत्' रूप होता है । उदा. 'भूरिदाक्षिण्यसंपन्न यत्त्वं सान्त्वमचीकथः'(महाभारत). जबकि चुरादि 'कथण्' धातु अकारान्त होने से 'अचकथत्' रूप होता है ॥३८॥

द अन्तवाले चार धातु हैं । १. 'उद आघाते' आघात लगना, 'ओदति' । उणादि के 'कुटिकुलि'-(उणा-१२३) से कित् 'इञ्च' प्रत्यय होने पर 'उदिञ्च' शब्द वाद्य-विशेष अर्थ में होता है ॥३९॥

'क्षद हिंसासंवरणयोः' धातु हिंसा करना और ढाँकना अर्थ में है । 'क्षदति' । उणादि के 'त्रट्'-(उणा-४४६) सूत्र से 'त्रट्' प्रत्यय होने पर 'क्षत्रम्' और उससे 'तस्यापत्यं' अर्थ में 'क्षत्रादियः' ६/१/९३ से 'इय' प्रत्यय होने पर 'क्षत्रियः'[१] शब्द होगा और 'त्वष्टृक्षत्तृ'-(उणा - ८६५) से 'तृ' प्रत्यय होने पर 'क्षत्ता' दौवारिक अर्थात् द्वारपाल अर्थ में होता है ॥४०॥

स्वो. न्या. : 'आ आदौ लभ्यते आदीयते गृह्यते इति यावद् नानार्थिभिः इति आलत्तिका ।' गीत गाने की इच्छावाले प्रारंभ में जिसको ग्रहण करते हैं, वह 'आलत्तिका' अर्थात् (संगीतशास्त्र में) आलाप कहा जाता है । 'सातयति, सुखं करोति इति सातयः' जो सुखी करें वह 'सातयः' । 'उद्यते, आहन्यते तूर्यमनेन इति 'उदिञ्चः' । जिसके द्वारा वाद्य/वाजित्र को बजाया जाय वह उदिञ्चः। 'क्षदति हन्ति शत्रुं इति क्षत्रम्' शत्रु को हननेवाला क्षत्रम् 'क्षदति संवृणोति द्वारं इति क्षत्ता', द्वार को बंद करें वह क्षत्ता ।

न्या. सि. : उपसर्ग रहित 'लत' धातु से 'तिक' प्रत्यय होने पर 'लत्तिका' शब्द वाद्य-विशेष अर्थ में होता है । यदि वह 'गो' शब्दपूर्वक हो तो 'गोलत्तिका' का अर्थ गृहगोधा अर्थात् छिपकली होता है और 'अवलत्तिका' का अर्थ गोधा-घो होता है ।

क्षत्ता शब्द के अन्य अर्थ 'नियुक्तः, अविनीतः, मुसलः, पारशवः, रुद्रः' और 'सारथिः' होता है ।

'सुन्द हिंसासौन्दर्ययोः' (हिंसा करना और सुंदर होना) 'सुन्दति' । 'अच्' प्रत्यय होने पर 'सुन्द' और 'उपसुन्द' । उसी नाम से दो दैत्य/दानव थे, जो परस्पर युद्ध में मारे गये थे[२] उणादि के 'ऋच्छिचटि-' (उणा-३९७) से 'अर' प्रत्यय होने पर 'सुन्दर' शब्द बनता है ॥४१॥

'कदि वैक्लव्यछेदनयोः' विकलता और छेदना अर्थ में है । 'कदते' । 'अनट्' प्रत्यय होने

१. क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः, क्षत्रस्य शब्दः भुवनेषु रूढः ॥ (रघुवंश, सर्ग-२)

२. शब्द के अनित्यत्व के बारे में नैयायिक 'सुन्दोपसुन्द' न्याय की प्रवृत्ति करते हैं ।

पर 'कदनम्' शब्द होगा । उणादि के 'पिचण्डैरण्ड'-(उणा-१७६) से 'अण्ड' प्रत्यय होकर निपातन होने पर 'धनुष्' अर्थ में 'कोदण्ड' शब्द बनता है । 'कदेः' -(उणा-३२२) से णित् 'अम्ब' प्रत्यय होने पर 'कादम्ब' शब्द कलहंस अर्थ में होता है । जबकि 'कदम्ब' शब्दवृक्ष की जाति अर्थ में है । 'द्वारशृङ्गार'- (उणा-४११) से 'आर' प्रत्यय होने पर निपातन से 'केदारः' शब्द बनता है । 'मृदिकन्दि'- (उणा-४६५) से 'अल' प्रत्यय होकर 'गौरादिभ्यो' - २/४/२० से ङी प्रत्यय होने पर 'कदली' शब्द होगा । ४२॥

ध अन्तवाला ' मिधृग् मेधाहिंसासंगमेषु' धातु मेधा, हिं[illegible]र संगम[1] अर्थ में है । 'क्य' प्रत्यय होने पर कर्मणि में 'मिध्यते' । जबकि 'मेधते' इत्यादि प्रयोग 'मेधृग् सङ्गमे च' धातु के होते हैं । 'वौ व्यञ्जनादेः' - ४/३/२५ से 'क्त्वा' प्रत्यय विकल्प से कित् होने पर 'मिधित्वा, मेधित्वा' रूप होते हैं । भिदादयः' ५/३/१०८ से 'अङ्' प्रत्यय होने पर निपातन से 'मेध' शब्द बनता है ॥४३॥

स्वो. न्या. -: 'मेधा' शब्द यद्यपि 'मेधृग्' धातु से भी सिद्ध हो सकता है, किन्तु आचार्यश्री हेमचंद्रसूरिजीने 'मिधृग्' धातु से सिद्ध किया है, अतः हमने (श्रीहेमहंसगणि ने) भी वैसा किया है ।

न्या. सि-: यद्यपि उपर बताये हुए 'मृदिकन्दि'-(उणा-४६५) सूत्र में 'कद' धातु का पाठ नहीं है और वृत्ति में भी 'कदली' उदाहरण नहीं दिया है, तथापि

"संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद् विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥"

इसी प्राचीन उक्ति के आधार पर यहाँ 'कद्' धातु से भी 'अल' प्रत्यय होता है, अतः आचार्यश्री ने स्वयं 'स्वोपज्ञाभिधानचिन्तामणि वृत्ति' में कहा है कि 'कद्' धातु सौत्र है और 'कद्यते इति कदली ' शब्द में 'मृदिकन्दि'- (उणा-४६५) सूत्र से 'अल' प्रत्यय होता है ।

न अन्तवाला 'धनक् धान्ये' धातु 'धान्य से उपलक्षित क्रिया' अर्थ में है जैसे 'णील वर्णे' धातु का 'वर्ण से उपलक्षित क्रिया' ऐसा अर्थ धातुपारायण में बताया है । अन्यथा 'धन' और 'नील' में क्रियार्थत्व का अभाव होने से धातुत्व की संभावना नहीं है । यही धातु ह्वादि (जुहोत्यादि) होने से 'शित्' प्रत्यय पर में आने पर 'हवः शिति' ४/१/१२ से द्वित्व होने से ' दधन्ति' । उणादि के 'भृमृ'-(उणा-७१६) से 'उ' प्रत्यय होने पर 'धनुः' शब्द 'अस्त्र' अर्थ में होता है । 'कृषिचमि'- (उणा-८२९) से 'ऊ' प्रत्यय होने पर 'धनूः' शब्द 'धान्यराशि' अर्थ में होता है । ॥४४॥

प अन्तवाले चार धातु हैं । १ 'रिप कुत्सायाम्' निन्द्य अर्थ में है । 'रेपति' । उणादि के 'अस्' (उणा-९५२) से 'अस्' प्रत्यय होने पर 'रेपः' शब्द पाप अर्थ में होता है । ॥४५॥

२. 'कप कम्पने, कपति', उणादि के 'ऋकृ-' (उणा-४७५) से 'आल' प्रत्यय होने पर 'कपालम्' । 'कटिपटि- ' (उणा-४९३) से 'ओल' प्रत्यय होने पर 'कपोलः' शब्द बनता है । ॥४६॥

३. 'क्षुप ह्रासे । क्षोपति ।' 'नाम्युपान्त्य' - ५/१/५४ से 'क' प्रत्यय होकर 'क्षुपो

---

१. धातुपाठ में 'संगम' अर्थ दिया नहीं है । धातुपाठ में ९०१, ९०२ दोनों धातु थ अन्तवाले हैं ।

ह्रस्वशाखस्तरुः' (छोटी शाखावाला वृक्ष) शब्द होगा । ॥४७॥

४. 'टुप संरम्भे, टोपति' । 'आङ्' उपसर्ग के साथ 'टुप' धातु से 'अनट्' प्रत्यय होने पर 'आटोपनम्' । 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'आटोपः' शब्द होता है । ॥४८॥

ब अन्तवाला 'बिम्ब दीप्तौ,' सुहाना, 'बिम्बति' । ॥४९॥

भ अन्तवाले पाँच धातु हैं । 'रिभि, स्तुम्भू, स्कम्भू स्तम्भे ।' ये तीन धातु स्थिर/स्तंभित करना अर्थ में हैं । 'विरेभते स्म', 'क्षुब्ध-विरिब्ध-स्वान्त-ध्वान्त-लग्न-म्लिष्ट-फाण्ट-बाढ-परिवृढं मन्थ स्वर मनस्तमः सक्ताऽस्पष्टानायासभृशप्रभौ' ४/४/७० से निपातन होने पर 'इट्' का अभाव और 'विरिब्धः' शब्द 'स्वर' अर्थ में होता है । अन्य अर्थ में 'विरिभित' शब्द होता है । ॥५०॥

स्वो. न्या. -: 'धनु' शब्द का जब अस्त्र अर्थ होता है तब 'धातूनामनेकार्थत्वम्' न्याय से 'धन्' धातु का 'शब्द' अर्थ करने पर 'दधन्ति इति धनुः' ऐसा वाक्य होगा और धान्य अर्थ करने पर 'दधनति तिष्ठन्ति धान्यानि अत्र इति धनुः' ऐसा वाक्य होगा । यहाँ धान्य विषयक स्थिति इत्यादि क्रिया ज्ञातव्य है । 'क्षोपन्ति ह्रस्वीभवन्ति शाखादयोऽत्र इति क्षुपः' जिसकी शाखा इत्यादि छोटी छोटी हो वह 'क्षुपः' ।

न्या. सि. -: 'धनुः' शब्दका दूसरा अर्थ 'दानमान' बताया है और 'धनूः' शब्द के अन्य अर्थ में 'ज्या' (धनुष्य की डोर) और 'वरारोहा' (उत्तम स्त्री) भी होता है । 'कपाल' का अर्थ घट का एक भाग (अर्ध घट) और खोपड़ी होता है ।

'स्तुम्भू' धातु से 'स्तम्भूस्तुम्भू-' ३/४/७८ से 'श्ना' और 'श्नु' प्रत्यय होता है, अतः 'स्तुभ्नाति, स्तुभ्नोति' रूप होते हैं । कर्मणि प्रयोग में 'न' का लोप होने पर 'स्तुभ्यते, 'ऊदित्' होने से 'क्त्वा' प्रत्यय होगा तब वह 'वेट्' होगा, अतः 'स्तुब्ध्वा, स्तुम्भित्वा' और 'वेट्' होने के कारण 'क्त, क्तवतु' प्रत्यय पर में आने पर 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ से 'इट्' का अभाव होकर 'स्तुब्धः, स्तुब्धवान्' शब्द होंगे ॥५१॥

'स्कम्भू' धातु से पूर्व की तरह 'श्ना' और 'श्नु' प्रत्यय होता है । 'विष्कभ्नाति' प्रयोग में 'स्कभ्नः' २/३/५५ सूत्र से 'वि' से पर आये हुए 'स' का 'ष' होगा । जब 'श्नु' प्रत्यय होगा तब 'ष' नहीं होता है और 'विस्कभ्नोति' होता है । कर्मणि प्रयोग में 'क्य' प्रत्यय होकर 'विष्कभ्यते' होता है । 'ऊदित्' होने से 'क्त्वा' प्रत्यय पर में आने पर 'वेट्' होगा । अतः 'स्कब्ध्वा' और 'स्कम्भित्वा' रूप होंगे । वेट् होने से 'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्यय के आदि में 'इट्' नहीं होगा । अतः 'स्कब्धः, स्कब्धवान्' रूप होंगे ॥५२॥

'स्कुम्भू विस्तारणे च' यह धातु विस्तारण और 'च' से स्तंभित करना अर्थ में है । पूर्व की तरह 'श्ना' और 'श्नु' प्रत्यय होता है, अतः 'स्कुभ्नाति, स्कुभ्नोति' रूप होते हैं । 'क्य' प्रत्यय होने पर कर्मणि में 'स्कुभ्यते' होता है । 'ऊदित्' होने से 'वेट्' होगा, अतः 'स्कुब्ध्वा, स्कुम्भित्वा, स्कुब्धः, स्कुब्धवान्' इत्यादि रूप होते हैं । उणादि के 'जम्बीर- (उणा- ४२२) सूत्र से 'ईर' प्रत्यय होने पर निपातन से 'कुम्भीर' शब्द होता है । 'कः' अर्थात् वायु, 'क' से युक्त यही स्कुम्भू धातु से 'ककुप्-त्रिष्टुप्'-(उणा- ९३२) से 'क्विप्' प्रत्यय होकर, निपातन से 'ककुप्' शब्द 'दिशा' अर्थ में होता

है। लक्ष्य इस प्रकार है ।

"मुसलक्षेपहुङ्कारस्तोमैः कलमखण्डिनि !
कुचविष्कम्भमुत्तभ्नन् निःस्कुभ्नातीव ते स्मरः ॥१॥"

(हे शालिधान छड़नेवाली स्त्री ! मुसल की गिरावट से पेदा होनेवाली हुङ्कार और विश्राम से मानों कि कामदेव तेरे स्तनप्रदेश को उन्नत करता हुआ निरंतर विस्तृत् कर रहा है ।) स्तोम अर्थात् विश्राम, विष्कम्भ अर्थात् पृथुत्व, उत्तभ्नन् अर्थात् उन्नत करता हुआ, निष्कुभ्नाति अर्थात् निरंतर विस्तृत कर रहा है ।

स्वो. न्या. -: 'स्कुभ्नाति, स्तभ्नाति जले गजादीनपि इति कुम्भीरः' । पानी में हाथी आदि को भी स्तंभित कर दे वह कुम्भीर अर्थात् मगरमच्छ । 'कं वायुं स्कुभ्नाति विस्तारयति इति ककुप्' वायु को विस्तृत करे वह दिशा ।

न्या. सि. :- 'स्कभ्नः' २/३/५५ सूत्र में 'स्कभ्नः' रूपसे 'श्ना' प्रत्ययान्त का अनुकरण होने से 'वि' से पर आये हुए 'श्नु' प्रत्ययान्त 'स्कम्भ्' धातु के 'स' का 'ष' नहीं होता है। 'कु' से युक्त 'स्कुम्भू' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होने पर 'कुकुप्' शब्द[1] उष्णिक्छन्द अर्थ में होता है ।

'दभ वञ्चने', छलना, ठगना । 'दभति'। 'आसुयुवपि रपि लपि त्रपि डिपि दभि चम्यानमः' ५/१/२० सूत्र से 'घ्यण्' प्रत्यय होने पर 'दाभ्यो वञ्चनीयः' । 'बहुलम्' से स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय होने पर 'दाभयति' रूप होता है । ५४॥

म अन्तवाले दो धातु हैं । १ 'डिम, हिंसायाम् डेमति'। 'नाम्युगान्त्य'- ५/१/५४ से 'क' प्रत्यय होने पर 'डिमः' शब्द प्रबन्धविशेष अर्थ में होता है ।[2] उणादि के 'डिमेः' - (उणा- ३५६) सूत्र से कित् 'डिम' प्रत्यय होकर 'डिण्डिमः' शब्द होता है । ॥५५॥

'धम शब्दे' परोक्षा में 'दधाम' इत्यादि रूप होते हैं । 'धमति' इत्यादि रूप 'ध्मा' धातु के भी होते हैं। उणादि के 'ग्वसिरसि'-(उणा-२६९) से 'अन' प्रत्यय होने पर 'धमनः' शब्द घास की एक विशेषजाति के अर्थ में होता है। 'भिल्लाच्छभल्ल-' (उणा-४६४) से निपातन होने पर 'धम्मिलः' और 'सदिवृत्यमि'- (उणा-६८०) सूत्र से 'अनि' प्रत्यय होने पर 'धमनिः' शब्द 'शिरा' अर्थ में होता है ॥ ५६॥

य अन्तवाला 'पीय पाने' पीना । 'पीयति' । उणादि के 'खलिफलि-' (उणा-५६०) से 'ऊष' प्रत्यय होकर 'पीयूषम्' । 'लाक्षाद्राक्षा'-(उणा - ५९७) सूत्रगत 'आदि' शब्द से 'अक्ष' प्रत्यय होकर निपातन से 'पीयूक्षा' शब्द द्राक्ष की एक जाति के अर्थ में होता है ॥५७॥

'उर गतौ, ओरति' । उणादि के 'उरेः' (उणा-५३१) से कित् 'अश' प्रत्यय होने पर 'उरशः'

१. उणादि सूत्रवृत्ति में 'ककुप्' दिशा अर्थ में बताया है और 'कुकुप्' शब्द उष्णिक्- छन्द अर्थ में निपातन है किन्तु सूत्र में केवल 'ककुप्' शब्द है 'कुकुप्' नहीं है ।

२. नाटक के दश भेद (दशरूपक-धनञ्जयकृत) इस प्रकार हैं । १. नाटकमथ २ प्रकरण - ३ भाण- ४ व्यायोग- ५ समवकार- ६-७-८ डिमेहामृगाङ्क- ९ वीथि १० प्रहसनमिव रूपकानि दश ।

शब्द किसी ऋषि के नाम के रूप में बनता है ।

स्वो. न्या. -: 'धमति शब्दायते वायुना अन्तः शुषिरत्वाद् इति धमनः' । भीतर से खोखला/पोला होने से पवन से जो आवाज़ पैदा करे वह 'धमनः', तृणजाति ।

न्या. सि. -: 'धम्मिलः' अर्थात् केशपाशः ।

'कबरी केशवेशोऽथ धम्मिलः संयताः कचाः' । (अमरकोश - पं. १६९७) । पीयूष अर्थात् अमृत, घी या प्रत्यग्रप्रसवक्षीरविकार अर्थात् गाय या भैंस को प्रसव होने के बाद सात दिन तक का दूध ।

तुर त्वरणे, त्वरा करना, तोरति । 'आङ्' सहित 'तुर' धातु से 'नाम्युपान्त्य-' ५/१/५४ से क प्रत्यय होने पर रोगी अर्थ में 'आतुरः' शब्द होता है । अकेले 'तुर' शब्द का अर्थ शीघ्रगामी होता है । 'तुरो गच्छति' में 'गम्' धातु से 'नाम्नो गमः' - ५/१/१३१ से ड प्रत्यय होने पर 'तुरगः' शब्द होता है । उणादि के 'तृकृ'- (उणा -१८७) सूत्र से उपलक्षण से इसी तुर धातु से भी अण प्रत्यय होने पर 'तोरणम्' और 'नाम्युपान्त्य'- (उणा ६०९) से कित् 'इ' प्रत्यय होकर 'तुरि' शब्द बुनकर के एक साधन के अर्थ में होता है ।[१] ॥५९॥

तन्द्रि सादमोहयोः, साद अर्थात् खिन्न, मोह अर्थात् मूढ़ता । तन्द्रते, ततन्द्रे, तन्द्रितः । तन्द्रा अर्थात् आलस । यहाँ 'क्तेटो गुरोः'- ५/३/१०६ से अ प्रत्यय होता है । उणादि के 'तृस्तृ'-(उणा-७११) सूत्र से ई प्रत्यय होने पर तन्द्रीः अर्थात् समोहनिद्रा ॥६०॥

ल अन्तवाले छः धातु हैं । १. चुल परिवेष्टने, चोलति । 'नाम्युपान्त्य-' ५/१/५१ से क प्रत्यय होने पर 'निचुलः' शब्द होता है, अच् प्रत्यय होने पर 'चोलः' शब्द बनता है ॥६१॥

२. उल दाहे, जलाना । ओलति । उणादि के 'निष्कतुरुष्क' (उणा-२६) से क प्रत्यय होने पर निपातन से 'उल्का' शब्द बनता है । 'शंबूक-' (उणा-६१) सूत्र से ऊक प्रत्यय होकर निपातन से 'उलूकः' शब्द बनता है । 'विष्टपोलप-' (उणा-३०७) से अप प्रत्यय होकर निपातन से उलपः शब्द घास की एक जाति अर्थ में होता है । उसी प्रकार 'उलेः'-(उणा - ८२८) सूत्र से कित् अक्षु प्रत्यय होने पर 'उलक्षुः' शब्द भी घास की एक जाति अर्थ में होता है ॥६२॥

स्वो. न्या. -: 'तोरन्ति उत्सुकीभवन्ति अस्मिन् आगता गृहादि प्रवेशार्थे इति तोरणम् । आये हुए अतिथि इत्यादि को घर में प्रवेश करने के लिए जिससे उत्सुक हो जाते है वह 'तोरण' ।

'ओलति दह्यतेऽनेनाश्रितं गृहादिकमिति उलूकः' आश्रित गृह इत्यादि को जला दें वह उलूकः' ।

न्या.सि. -: शम्बूक-शाम्बूक-वृधूक-(उणा-६१) सूत्र की बृहद्वृत्ति में 'अलेरुच्चोपान्त्यस्य'- कहकर अल् धातु से उसकी सिद्धि की है जबकि 'निष्क-तुरुष्क- (उणा-२६) सूत्र की बृहद्वृत्ति में उलूक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए 'ज्वलेरुलादेशश्च, उलेः सौत्रस्य वा' कहा है, अतः ज्वल धातु और सौत्र उल धातु से भी 'उलूक' शब्द की सिद्धि हो सकती है ।

'लुल कम्पने, लोलति, लुलितम्' । उणादि के 'कुलिलुलि-' (उणा-३७२) सूत्र से कित् 'आय' प्रत्यय होने पर 'लुलायः' शब्द होता है । ॥६३॥

१. 'तुरि' शब्द कोश में 'तुरी' के रूपमें है ।

'सल्ल गतौ, सल्लति' । उणादि के 'दृकृ-' (उणा-२७) सूत्र से 'अक' प्रत्यय होकर, गौरादित्व से स्त्रीलिङ्ग में 'ङी' प्रत्यय होने पर 'सल्लकी' शब्द होगा ॥६४॥

'हल्ल घूर्णने, हल्लति' । उणादि के 'दृकृ'- (उणा-२७) से 'अक' प्रत्यय होने पर 'हल्लकं' शब्द लालकमल अर्थ में होता है ॥६५॥

'भिलण् भेदे, भेलयति' । 'णिच्' अनित्य होने से 'णिच्' के अभाव में 'अच्' प्रत्यय होने पर 'भेलः' शब्द 'तरण्ड' छोटी-सी नौका अर्थ में होता है । 'डलयोरैक्ये' ड और ल को समान मानने पर 'भेडः' शब्द बकरा अर्थ में होता है । उणादि के 'विलिभिलि'- (उणा-३४०) सूत्र से कित् 'म' प्रत्यय होने पर भिल्मं शब्द भास्वर (सकेद या देदीप्यमान) अर्थ में होता है । ॥६६॥

व अन्तवाले दो धातु हैं । १. 'धन्व तव गतौ', 'धन्वति' । उणादि के 'उक्षितक्षि'-(उणा-१००) सूत्र से 'अन्' प्रत्यय होने पर 'धन्वन् (धन्वा)' शब्द 'मरुः' अर्थ में होता है । ॥६७॥

२. 'तव, तवति' । उणादि के 'तवेर्वा' (उणा-५५०) सूत्र से विकल्प से 'णित्' होनेवाला 'इष' प्रत्यय होने पर 'ताविष' और 'तविष' शब्द स्वर्ग अर्थ में होंगे ॥६८॥

स्वो. न्या. -: 'लोलति पङ्के इति लुलायः' अर्थात् 'महिषः' भैंस। । 'तव्यते गम्यते पुण्यवद्भिः इति तविषः' (पुण्यवान् जहाँ जाय वह, स्वर्ग, तविषः)

न्या. सि-: 'उलप' शब्द के दूसरे अर्थ पंकज अर्थात् कमल, पानी और किसी ऋषि का नाम होता है । श्रीलावण्यसूरिजी ने 'हल्लकी' शब्द दिया है और उसके बारे में बताया हैं कि 'दृकृ-'(उणा-२७) सूत्र में हल्लि धातु का पाठ किया नहीं है, तथापि बहुवचन निर्देश से ' हल्लि' धातु का ग्रहण होता है । 'धन्वन्' शब्द का अर्थ 'मरुभूमि' और 'धनुष्य' होता है ।

'ताविष' शब्द का दूसरा अर्थ 'तेज, बल' होता है । श्रीलावण्यसूरिजी 'इष' प्रत्यय 'टित्' होने से ताविष और तविष शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङी' प्रत्यय करके 'ताविषी' और 'तविषी' शब्द वात्या (महावायु) और देवकन्या अर्थ में सिद्ध करते हैं । बृहद्वृत्ति में ऐसा बताया है ।

श अन्तवाले तीन धातु हैं । 'पशी स्पशी बाधन ग्रथनयोश्च', बाधन अर्थात् प्रतीघात-प्रतिघोष करना । 'च' से गति अर्थ लेना । 'पशति, पशते' । गति अर्थवाले 'पश' धातु से 'गत्यर्थात् कुटिले' ३/४/११ सूत्र से 'यङ्' प्रत्यय होने पर 'जपजभ'-४/१/५२ से 'मु' आगम होगा और 'पम्पश्यते' रूप सिद्ध होगा और 'यङ्' का लोप होगा तब 'पम्पशीति, पम्पष्टि' रूप होंगे ॥६९॥

'स्पशी-स्पशते, स्पशति' । ङ परक 'णि' प्रत्यय होने पर सन्वद्भाव के अपवाद में 'मृदृत्वर प्रथम्रदस्तृस्पशेरः' ४/१/६५ सूत्र से पूर्व का 'अ' होने पर 'अपस्पशत्' रूप सिद्ध होता है । 'णि' प्रत्ययान्त 'स्पश्' धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर 'णौ दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्तम्' ४/४/७४ सूत्र से 'णि' का लोप और ह्रस्व दोनों का एकसाथ विकल्प से निपातन होने पर 'स्पष्टं' और 'स्पाशितम्' रूप होते हैं । 'अच्' प्रत्यय होने पर 'स्पशः' शब्द चर अर्थात् जासूस अर्थ में होता है । 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'स्पाश' शब्द बन्धन अर्थ में होता है । लक्ष्य इस प्रकार है-''सेयमुभयतः स्पाशा रज्जुः'' । उणादि के 'स्पशिभ्रस्जेः'-(उणा-७३१) सूत्र से कित् 'उ' प्रत्यय होकर 'स' का लोप होने पर 'पशुः' शब्द बनता है । ॥७०॥

'ऋशत्, गतिस्तुत्योः, ऋशति' । उणादि के 'ऋृशिजिनि'-(उणा-३६१) सूत्र से कित् 'य' प्रत्यय होने पर 'ऋश्यः' शब्द होगा ॥७१॥

ष अन्तवाले दो धातु है । 'भिष भये' । 'भेषति रोगोऽस्मादिति' अर्थ में उणादि के 'भिषेः'-(उण-१३१) सूत्र से 'अज' प्रत्यय होने पर विकल्प से 'भिष' और 'भिष्ण' आदेश होकर वैद्य अर्थ में 'भिषजः, भिष्णजः' शब्द होते हैं । 'भिष' और 'भिष्ण' आदेश नहीं होंगे तब औषध अर्थ में 'भेषजः' शब्द होता है । 'ऋधिप्रथि'-(उणा-८७४) सूत्र से कित् 'अज्' प्रत्यय होने पर 'भिषक्' शब्द होता है । 'सम्प्रदानाच्चान्यत्रोणादयः' ५/१/१५ सूत्र से 'अपादान' अर्थ में उणादि का निषेध किया है, तथापि, उपर्युक्त शब्द 'भीमादि' (भीम इत्यादि) शब्द के गणपाठ में होने से 'भीमादयोऽपादाने' ५/१/१४ सूत्र से 'अपादान' अर्थ में 'अज' और 'अज्' प्रत्ययान्त निपातन होता है ॥७२॥

'युषी सेवने' 'योषति, योषते' । 'उणादि के 'हृसृ'-(उणा-८८७) सूत्र से 'इत्' प्रत्यय होने पर 'योषित्' शब्द होता है । 'युष्यसि'-(उणा-८९९) सूत्र से कित् 'मद्' प्रत्यय होकर 'युष्मद्' शब्द होता है ॥७३॥ धिष च[१]

स अन्तवाले तीन धातु हैं । १. 'लुस हिंसायाम्, लोसति' । उणादि के 'ऋषि वृषि-' (उणा - ३३१) से कित् 'अभ' प्रत्यय होकर 'लुसभ' शब्द बाल हाथी अर्थ में होता है ॥७८॥

२. 'पसी गतिबन्धननिवासेषु । पसते, पसति ' गति अर्थवाले 'पस्' धातु से कुटिल गति अर्थ में 'यङ्' प्रत्यय होगा तब 'जपजभ'-४/१/५२ सूत्र में दन्त्य सकारान्त 'पस्' धातु भी इष्ट होने से 'मु' का आगम होकर 'पम्पस्यते' और यङ् का लोप होगा तब 'पम्पसीति' और 'पम्पस्ति' रूप होंगे । बन्धन अर्थवाले 'पस्' धातु से बहुलता से स्वार्थ में 'णिच्' होने पर 'पासयति' रूप होता है । उदा. 'पासयति पाशैरश्वम्' । (वह रज्जु से घोड़े को बाँधताँ है ।) निवास अर्थवाले 'पस्' धातु से उणादि के 'मृशी'-(उणा-३६०) सूत्र से तकारादि 'य' (त्य) प्रत्यय होकर 'पस्त्यं' शब्द गृह अर्थ में होता है ।

'भसक् भर्त्सनदीप्त्योः' । यह धातु ह्वादि (जुहोत्यादि) है, अतः 'हवः शिति' ४/१/१२ से द्वित्व होने पर 'बभस्ति' । 'क्त' प्रत्यय होने पर 'भसितम्' । उणादि के 'हुयामा'-(उणा-४५१) सूत्र से 'त्र' प्रत्यय होने पर 'भस्त्रा' और 'मन्' (उणा-९११) से 'मन्' प्रत्यय होकर 'भस्मन्' शब्द होगा । ॥ ७६॥

ह अन्तवाले दो धातु हैं । १. 'लुहं हिंसामोहयोः । लोहति' । अनुस्वार की 'इत्' संज्ञा हुई है, अतः 'एकस्वरादनुस्वारेतः' ४/४/५६ से 'इट्' का अभाव होगा । अतः 'लोढा, लोढुम्' शब्द होंगे और 'अच्' प्रत्यय होने पर 'लोहम्' होगा । उणादि के 'मृदि कन्दि'-(उणा-४६५) से 'अल' प्रत्यय होकर 'लोहलः' शब्द अस्फुटवाक् अस्पष्टवाणी अर्थ में होगा ॥७७॥

न्या. सि.-: 'पशु' शब्द का अर्थ तिर्यंच या मंत्र द्वारा वध्य हो ऐसा मनुष्य अर्थात् मानव-बलि होता है । न्या. सि. में "सेयमुभयतः पाशा रजुः" पाठ है । 'ऋश्यति गच्छति वाताभिमुखमिति' या 'ऋश्यते स्तूयते वा व्याधैरिति ऋश्यः' अर्थात् मृग की एक प्रकार की जाति । भिषक् अर्थात् वैद्य ।

---

१. यहाँ ष अन्तवाले दो ही धातु हैं, ऐसा पहले कहा है, अतः तीसरा 'धिष' धातु होने की संभावना नहीं है ।

'रिहं हिंसाकत्थनादौ' 'कत्थन' अर्थात् श्लाघा-प्रशंसा । 'रेहति' । अनुस्वार की इत् संज्ञा हुई है, अतः 'रेढा, रेढुम्' शब्द होंगे । 'रिह्यते' अर्थ में क्त प्रत्यय होकर स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होने पर 'रीढकः' शब्द 'पृष्ठवंश/मेरुरज्जु/रीढ की हड्डी अर्थ में होता है । 'अनट्' प्रत्यय होने पर 'रेहणम्' भिदादि होने से 'अङ्' प्रत्यय होकर निपातन से 'रीढा' शब्द अवज्ञा/ अपमान अर्थ में होता है । ॥७८॥

क्ष अन्तवाले दो धातु हैं । इन दोनों धातुओं को ष अन्तवाले धातु के साथ कहने चाहिए क्योंकि उसके अन्त में मूर्धन्य ष है, किन्तु वैचित्र्य बताने के लिए ही सभी वर्णों के अन्त में उसे बताया है । उसी प्रकार आगे भी परपठित धातुओं में जहाँ क्ष अन्तवाले धातुओं का सभी वर्ण के बाद पाठ किया हो, वहाँ भी यही कारण मान लेना ।

'चुक्षि शौचे, चुक्षति' । 'क्त' प्रत्यय होने पर 'चुक्षितः' । 'क्तेटो गुरोः-' ५/३/१०६ से 'अ' प्रत्यय होकर 'चुक्षा' शब्द बनता है । 'चुक्षा शीलमस्य' अर्थ मं 'अङ् स्थाच्छत्रादेः'-६/४/६० से 'अञ्' प्रत्यय होकर 'चौक्षः' होता है और 'तस्य भावः कर्म वा' अर्थ में 'पतिराजान्त'-७/१/६० से 'ट्यण्' प्रत्यय होने पर 'चौक्ष्यम्' होगा । ॥७९॥

'चिक्षि विद्योपादने । चिक्षते । चिक्षितः ।' 'क्तेटो गुरोः'-५/३/१०६ से 'अ' प्रत्यय होने पर 'चिक्षा' शब्द होगा ।

ऊपर बताये हुए और 'आदि' शब्द से दूसरे भी धातुओं की सौत्रत्व से या लक्ष्यानुरोध से सिद्धि होती है ।

अब जो धातु कहे जायेंगे उसमें 'क्लवि, चुलुम्पि, कुचि, उद्धुषि, उळकसि, 'ॠशति' इत्यादि पाँच' धातुओं और 'स्तनादि षट्क' अर्थात् स्तन इत्यादि छ धातुओं कुल मिलाकर सोलह धातुओं को छोड़कर 'गहयति' पर्यन्त प्रायः सब धातु चुरादि गण के ही है । वस्तुतः चुरादि धातु अपरिमित संख्या में हैं, अतः उसका कोई निश्चित परिमाण नहीं है, अतः केवल लक्ष्यानुरोध से उसका अनुसरण करना, अत एव चन्द्रगोमिन् नामक वैयाकरण ने चुरादि गण अपरिमित होने से परमार्थ से लक्ष्यानुसार अनुसरण होता है, ऐसा मानकर केवल दो तीन ही चुरादि धातुओं का पाठ किया है किन्तु ज्यादा

स्वो.न्या.-: 'पसन्ति निवसन्ति अत्र इति पस्त्यम् ।' जहाँ निवास किया जाय वह 'पस्त्यम्' अर्थात् गृहम् । 'भसितं दीप्तं तदिति' (भूतकाल में जो दीप्तिमान् था) वह 'भस्म' । यद्यपि उणादि प्रत्यय सामान्यतया वर्तमानकाल अर्थ में ही होते हैं, तथापि यहाँ 'बहुलम्' से भूतकाल अर्थ में हुआ है ।

न्या. सि. सिद्धहेम बृहद्वृत्ति में 'योषति-गच्छति पुरुषमिति योषित्' ऐसा विग्रह बताया होने से 'युषी' धातु का गति अर्थ भी आचार्यश्री को मान्य हो ऐसा लगता है । 'लुसभ' शब्द का अर्थ बृहद्वृत्ति में हिंसक प्राणी, मदोन्मत्त हाथी और वन बताया है । यहाँ सिद्धहेम बृहद्वृत्ति में 'भसि जुहोत्यादौ स्मरन्ति' कहा है और पाणिनीय परंपरा में भी 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' धातु का जुहोत्यादि गण में पाठ किया है ।

'लोहल' शब्द के बारे में श्रीलावण्यसूरिजी कहते हैं कि 'मुरलोरल'-(उणा-४७४) सूत्र में 'लोहल' शब्द नहीं है तथापि 'आदि' शब्द से, उसी सूत्र से 'लोहल' शब्द का निपातन होता है । इसी सूत्र में 'काहल' शब्द का अव्यक्तवाक् अर्थ में निपातन होता है किन्तु उसी शब्द का दूसरा अर्थ वाद्यविशेष अर्थ होता है ।

धातुओं को धातुपाठ में नहीं बताये हैं ।

उसमें प्रथम 'क्लवि' धातु को छोड़कर अन्य लौकिक धातु अकारान्त हैं । 'क्लवि वैक्लव्यं' । 'विक्लवते' । [१] 'अच्' प्रत्यय होने 'विक्लवः' । लक्ष्य इस प्रकार है-: मिलन्त्याशासु जीमूता विक्लवन्ते दिवि ग्रहाः [ ] (दिशाओं में बादल प्राप्त होते हैं, अतः आकाश में ग्रह छाया/प्रभाव रहित होते हैं) 'विक्लवन्ते' का अर्थ 'विच्छायीभवन्ति' (छायारहित होता है) ऐसा होता है ॥१॥

'वीजण् व्यजने', कर्तरि ह्यस्तनी-'अवीजयत्' । ''राजहंसैरवीज्यन्त'' कर्मणि ह्यस्तनी । यह धातु अकारान्त होने से ङपरक 'णि' प्रत्यय होने पर 'अतः' ४/३/८२ से 'अ' का लोप होने से धातु समानलोपि माना जाता है । अतः 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से उपान्त्य का ह्रस्व नहीं होता है और 'अविवीजत्' रूप होता है । 'वि' उपसर्ग से युक्त 'ईज्' धातु से 'णि' प्रत्यय होने पर 'व्यैजयत्' रूप कर्तरि ह्यस्तनी तथा 'व्यैजयन्त' (कर्मणि ह्यस्तनी) 'व्यैजिजद्' (प्रेरक कर्तरि ह्यस्तनी) इत्यादि रूप होते हैं ॥२॥

'हीलण् निन्दायाम्' । हीलयति । 'ङपरक 'णि' होने पर, पूर्व की तरह उपान्त्य ह्रस्व का अभाव होता है, अतः 'अजिहीलत्' होता है । 'क्त' प्रत्यय होने पर 'हीलितः' । 'णिच्' अनित्य है , अतः उसके अभाव में 'क्तेटो गुरोः'-५/३/१०६ से 'अ' प्रत्यय होकर 'हीला' । 'णिवेत्त्यास'-५/३/१११ से 'अन' प्रत्यय होकर 'हीलना' । ॥३॥

'अन्दोलण्, हिन्दोलण् , प्रेङ्खोलण् दोलने ।' दोलन अर्थात् उत्क्षेप (हींचना) 'अन्दोलयति' । ङपरक 'णि' होने पर 'स्वरादेर्द्वितीयः' ४/१/४ से द्वितीय अंश का द्वित्व होगा उसमें 'न बदनं-' ४/१/५ से 'न' के द्वित्व का निषेध होगा और धातु अकारान्त होने से उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से उपान्त्य का ह्रस्व नहीं होगा, अतः 'आन्दुदोलत्' रूप होगा । ॥४॥

'हिन्दोलण्' धातु के वर्तमानकाल में 'हिन्दोलयति' और अद्यतनी में 'अजिहिन्दोलत्' रूप होगा । ॥५॥

'प्रेङ्खोलण्' धातु के भी 'प्रेङ्खोलयति' और ङपरक 'णि' होने पर 'अपिप्रेङ्खोलत्' रूप होता है ॥६॥

'रूषण् रुक्षणव्याप्त्योः' । 'रूषयति' । उदा. 'अटन् रुषयति भुवम् ।' (घुमता हुआ वह पृथ्वी पर व्याप्त हो जाता है, 'फैलता है) । पृषोदरादि होने से 'आटरूषकः' शब्द का निपातन होता है । ङपरक 'णि' होने पर ह्रस्व के अभाव में 'अरुरूषत्' रूप होता है ।

लक्ष्य इस प्रकार है-: 'करीव सोऽन्तर्गिरि रेणुरूषितः ।[१] [ ]

(पर्वत के अन्दर रेणु से आच्छादित हस्ति जैसा वह) इत्यादि ॥७॥

न्या.सि. १. श्रीलावण्यसूरिजी ने 'रेणुरूषितः' प्रयोग का उदाहरण इस प्रकार दिया है ।
परिभ्रमन् लोहितचन्दनोचितः, पदातिरन्तर्गिरिरेणुरूषितः ।
महारथः सत्यधनस्य मानसं, दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः ॥ (किरात. स. ३) इति भारविः।

[1]वाक्यकरणीय धातु इस प्रकार है-: 'चुलुम्प छेदने' । 'चुलुम्पति' । उणादि के 'कञ्चु - कांशुक '-(उणा-५७) सूत्र से कित् 'उक' प्रत्यय होकर निपातन होने पर 'चुलुकः' शब्द होगा[2] 'किञ्चिच्चुलुम्पति,' 'कीचक'-(उणा-३३) से 'अक' प्रत्यय होकर निपातन होने पर 'किञ्चुलकः' शब्द कृमि की एक जाति अर्थ में होता है । लक्ष्य इस प्रकार है ।

'निपानं दोलयन्नेष प्रेङ्खोलयति मे मनः । पवनो वीजयन्नाशा, ममाशामुच्चुलुम्पति ॥१॥

(जलाशय को तरंगित करता हुआ यह पवन मेरे मन को चक्कर चक्कर भमाता है । आशा-दिशाओं को आवाज़ से भरनेवाला (यह) पवन मेरी आशा को निर्मूल कर रहा है ।)

'कूच उद्भेदने' । 'कूचति' । 'नाम्नि पुंसि च' ५/३/१२१ सूत्र से 'णक' प्रत्यय होने पर 'कूचिका' शब्द 'चित्रकरलेखनी'/ पींछी अर्थ में और कूञ्चिका अर्थात् चाबी अर्थ में होता है । ॥२॥

[3]'धटण् बन्धने,' 'निर्धाटयति' । 'णक' प्रत्यय होने पर 'धाटकः' । 'णिच्' अनित्य होने से उसके अभाव में 'अच्' प्रत्यय होकर 'धटः' शब्द तुला/ तराजू अर्थ में होता है ॥३॥

[4]'उल्लुडण् उट्टीकने'। यह धातु अकारान्त है । उदा. 'माघ' काव्य में 'तावत् खरः प्रखरमुल्लुडयाञ्चकार (तब तक गर्दभ उत्कृष्टतया लोटता रहा) यहाँ 'अ' का लुक् हुआ है, उसका स्थानिवद्भाव होने पर उपान्त्य उ का गुण नहीं होता है । ॥४॥

'अवधीरण् अवज्ञायाम्' । अनादर करना, "तन्न धर्ममवधीरय धीर !" (हे धीर ! तूं धर्मका अनादर मत कर ।) अद्यतनी में 'ङ' प्रत्यय होने पर 'आववधीरत्' रूप होगा ॥५॥

'उद्धुषत्, उल्लकसत् उच्छ्वसने' । इसमें प्रथम धातु कुटादि गण में है । 'उद्धुषति, उल्लसति अङ्गमनेन' । 'उद्धुषणं , उल्लकसनं च रोमाञ्चः' । रोमांच होना । 'उद्धुष्' धातु कुटादि होने से 'अनट्' प्रत्यय 'ङित्' होता है, अतः 'उ' का गुण नहीं होता है ॥ ६/७॥

यहाँ कुछेक लौकिक धातु, वाक्यकरणीय धातुओं में पाये जाते हैं और ग्रन्थभेद से उनमें बताये हुए कुछेक लौकिक धातुओ में भी पाये जाते हैं, अतः ये लौकिक धातु हैं और ये

न्या. सि. १. क्रियावाचित्वे सति पाठाऽपठितत्वे सति, सूत्रागृहीतत्वे सति शिष्टप्रयोगप्रयोज्यविषयत्वं वाक्यकरणीयत्वम् । (धातुपाठ- पृ.३००)

२. चुलुकः अर्थात् अंजलि/करकोश ।

३. श्रीलावण्यसूरिजी ने 'धटण्' के स्थान पर 'घटण्'धातु दिया है और रूप भी उसीके अनुसार दिये हैं ।

४. संपूर्ण श्लोक इस प्रकार है ।

अग्रे क्रमेलकसमागमभीतभीतस्तावत् खरः प्रखरमुल्लुलयाञ्चकार ।

यावच्चलासनविलोलनितम्बबिम्ब-विस्त्रस्तवस्त्रमवरोधवधूः पपात ॥ (शिशुपालवध, माघ)

ड और ल को एक ही मान कर श्रीलावण्यसूरिजी ने 'उल्लुलयति' और श्लोक में 'उल्लुलयाञ्चकार' प्रयोग दिये हैं ।

वाक्यकरणीय धातु हैं, ऐसा दृढ विवेक अन्वर्थक ऐसी इस संज्ञा और विशेष सम्प्रदायविद् से ज्ञातव्य है ।

अब सौत्र, लौकिक और वाक्यकरणीय धातुओं को छोड़कर, जो अकारान्त धातु धातु-पारायण में बताये हैं, उसका कथन करते हैं ।

१. 'खचण् बन्धने', "तडित् खचयतीवाशा" (मानो कि दिशाओं को बिजली बाँध रही है ।) (वर्षावर्णने, वाल्मीकिः) "आसने रत्नखचिते" (रत्न से जडित आसन पर) । यह धातु अकारान्त होने से 'अतः' ४/३/८२ से 'अ' का लोप होता है, उसका स्थानिवद्भाव होने पर 'अ' उपान्त्य नहीं माना जाता है, अतः उसकी वृद्धि नहीं होती है। अद्यतनी में 'ङ' पर में होने पर 'अचखचत्' यहाँ धातु अकारान्त होने से और 'अतः' ४/३/८२ से 'अ' का लोप होने से, वह समानलोपि हो जाता है , अतः पूर्व का सन्वद्भाव और दीर्घ नहीं होता है ॥ १॥

'ओजण् बलतेजसोः, ओजयति' । 'सन्' प्रत्यय होने पर 'स्वरादेः'-४/१/४ से 'जि' का द्वित्व होकर 'ओजिजयिषति' । 'ङ' प्रत्यय होने पर अद्यतनी में 'औजिजत्' रूप होता है ।

'शंका':- लोप हुए 'अ' का स्थानिवद्भाव होने पर 'ज' का द्वित्व प्राप्त है तो 'जि' का द्वित्व क्यों किया ? 'समाधान':-'अतः' ४/३/८२ सूत्र की वृत्ति में बताया है कि 'णि' के विषय में 'अ' का लुक् होता है, उसका आश्रय करने पर 'अ' का लुक् णि के विषय में किया गया है, किन्तु णि निमित्तक नहीं किया है, अतः परनिमित्त का अभाव है । जबकि 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ'-७/४/११० सूत्र से परनिमित्तक स्वरादेश का ही स्थानिवद्भााव होता है, अत एव यहाँ 'अ' का स्थानिवद्भाव नहीं होता है और 'जि' का ही द्वित्व होता है ।

'मा भवानोजिजत्' यहाँ धातु अकारान्त होने से वह समानलोपि होता है, अतः द्वित्व होने से पहले प्राप्त 'उपान्त्यस्या'- ४/२/३५ से ह्रस्व नहीं होता है । 'अच्' प्रत्यय होने पर 'ओजम्' अर्थात् एक, तीन, पाँच इत्यादि विषम संख्याएँ । उणादि के 'अस्' (उणा-९५२) से 'अस्' प्रत्यय होने पर 'ओजः' शब्द होता है । ॥२॥

'स्फुटण् प्राकट्ये'। 'स्फुटयति' । लुक् हुए 'अ' का स्थानिवद्भाव होने पर गुण नहीं होता है । ॥३॥

'तुच्छण् आच्छादने' । 'तुच्छयति' ॥४॥

'स्कन्धण् समाहारे' । 'स्कन्धयति' । 'स्फुटं करोति', 'स्फुटयति अर्थम् ।' इस प्रकार 'स्फुट' इत्यादि 'नाम' से णिज् प्रत्यय होकर 'स्फुटयति, तुच्छयति, स्कन्धयति' इत्यादि रूप की सिद्धि हो सकती है तथापि 'स्फुटण्' इत्यादि का अकारान्त धातु में पाठ किया, वह इष्ट अर्थ का प्रत्यय (ज्ञान) होने के बाद बिना 'णिज्' ही प्रयोग करने के लिए है । उदा. 'पांसुर्दिशां मुखमतुच्छयदुत्थितोऽद्रेः'।

'अतुच्छयद्'[१] प्रयोग में धातु अकारान्त होने से अनेकस्वरनिमित्तक कार्य भी होते हैं और 'णिच्' अनित्य होने से 'णिच्' के अभाव में भी वह अनेकस्वरयुक्त माना जाता है, अतः 'व्यञ्जनादेरेकस्वराद्'-३/४/९ से यङ् नहीं होता है ।

'शंका' : यह कैसे ? क्योंकि 'णिच् सन्नियोगे एव चुरादीनामदन्तता' ऐसा न्याय है । 'समाधान'-: आप की बात सच है किन्तु 'न्यायाः स्थविरयष्टिप्रायाः' न्याय से 'णिच् संनियोगे एव' न्याय की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है और धातु अनेकस्वरयुक्त होने से 'धातोरनेकस्वराद्'-३/४/४६ से परोक्षा में 'आम्' प्रत्यय होने पर 'स्फुटाञ्चकार' इत्यादि रूप भी होते हैं । शीलादि अर्थ में 'निन्दहिंस'-५/२/६८ से णक प्रत्यय होकर 'स्फुटकः' इत्यादि शब्द भी होते हैं ।

अन्य वैयाकरणों के मतानुसार ऐसे धातुओं में 'अ लुक्' का बाध करके उपान्त्य न हो ऐसे अन्त्य 'अ' की , उत्पलमतीय वैयाकरण 'ञ्णिति' सूत्र से वृद्धि करके 'अर्तिरीव्ली'-४/२/२१ से 'पु' का आगम होने पर 'स्फुटापयति, तुच्छापयति, स्कन्धापयति' इत्यादि रूप भी होते हैं । ॥५॥

'ऊषण् छेदने, ऊषयति' । 'सन्' प्रत्यय होने पर 'स्वरादेः'-४/१/४ से 'षि' का द्वित्व होगा और 'उषिषयिषति' रूप होगा । अद्यतनी में 'ङ' होने पर 'औषिषत्' होगा । यहाँ भी पूर्व की तरह विषयव्याख्या का आश्रय करने से लुक् हुए 'अ' का स्थानिवद्भाव नहीं होगा । 'मा भवानूषिषत्' यहाँ भी धातु अकारान्त होने से 'समानलोपि' होने से, द्वित्व होने से पहले, उपान्त्य का ह्रस्व नहीं होता है ॥६॥

'वसण् निवासे, वसयति' । धातु अकारान्त होने से वृद्धि नहीं होगी और 'अववसत्' रूप होगा । यहाँ भी दीर्घविधि और सन्वद्भाव नहीं होगा ॥७॥

'ऋशु, पिशु, कुसु, दसु, त्रसु,' धातु अनुक्त अर्थवाले हैं अर्थात् इन धातुओं का अर्थ नहीं बताया गया है । उदित् होने से 'न' का आगम होगा, अतः 'ऋंशति ॥१॥ पिंशति, पिंश्यते ॥२॥ कुंसति ॥३॥ दंसति ॥४॥ त्रंसति ॥ ५॥ रूप होंगे । इन धातुओं और ऐसे अन्य धातुओं के अर्थ का निर्णय लक्ष्यानुसार करना चाहिए ।

तात्पर्य/भावार्थ इस प्रकार है । 'प्रकाश करना' प्रकाशित होना अर्थ में ये पाँच धातु चुरादि गण में हैं क्यों कि लोकृ तर्के...... दंडक में इन सबका पाठ किया गया है । 'ये धातु अन्य अर्थ में भी हैं ।' ऐसा 'धातुपारायण' में बताया है, तथापि अन्य किसी भी अर्थ में कहीं भी प्रयुक्त नहीं पाये गए हैं, अत एव यहाँ इन सब को अनुक्त अर्थवाले बताये हैं ।

१ श्रीलावण्यसूरिजी 'पांसुर्दिशा मुखमतुच्छयदुत्थितोऽद्रेः' (शिशुपालवध) उदाहरणगत 'अतुच्छयद्' के स्थान पर 'अतुत्थयद्' रूप मानते हैं और उसके समर्थन में मुद्रित किताब के पाठ को बताते हैं । वस्तुतः प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में 'च्छ' और 'त्थ' दोनों समान रूप से [ ] लिखे जाते थे, अतः उसे 'च्छ' पढ़ना या 'त्थ' पढ़ना, वह प्रकरण अनुसार वाचक/ पढ़नेवाले स्वयं पढ़ लेते थे । अतः मुद्रितपुस्तक में ऐसा भूल होने की पूरी संभावना है । इससे अतिरिक्त इसके समर्थन में वे पाणिनीय परम्परा के चुरादि गण के 'तुत्थ आवरणे' धातुपाठ बताते हैं । तथापि अन्त में इसके बारे में वे कहते हैं कि लक्षणैकचक्षुष्क, हम इसका निर्णय नहीं कर सकते हैं । केवल लक्ष्यैकचक्षुष्क, ऐसे वैयाकरण ही इसका निषेध करने में समर्थ हैं ।

अब जो धातु हैमधातुपाठ में बताये हैं किन्तु अन्य वैयाकरणों ने उन्हीं धातुओं को अन्य रूप से/प्रकार से बताये हो वे धातुओं और हैमधातुपाठ में न बताये हों और अन्य वैयाकरणोंनें बताये हों ऐसे अतिरिक्त धातुओं को यहाँ परपठित धातु कहें हैं । उसमें शुरू के तीस धातु अकारान्त हैं ।

'खेडण् भक्षणे, खेडयति' । अद्यतनी में 'ङ' प्रत्यय होने पर धातु अकारान्त होने से 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से ह्रस्व नहीं होगा, अतः 'अचिखेडत्' रूप होगा ॥१॥

'पणण् विक्रये' । ण्यन्त होने से 'युवर्णवृदृवशरणगमृद्ग्रहः' ५/३/२८ से 'अल्' प्रत्यय होने पर, धातु अकारान्त होने से 'णि' पर में होने पर वृद्धि के अभाव में 'विपणः' शब्द विक्रय अर्थ में होता है । व्यवहार और स्तुति अर्थवाले 'पणि' धातु से 'अल्' नहीं होगा किन्तु 'घञ्' होगा और 'विपाण' शब्द होगा ॥२॥

'वित्तण् दाने । वित्तयति, वित्तितः वित्तयित्वा' । अकारान्त विधान के सामर्थ्य से 'अ' लुक् के अभाव में, उपान्त्य नहीं है, ऐसे अन्त्य 'अ' की 'अतो ञ्णिति'[१] सूत्र से वृद्धि होगी और 'पु' का आगम होने पर 'वित्तापयति' रूप होगा ॥३॥

'कर्त्त कर्त्र कत्थण् शैथिल्ये' । 'कर्त्तापयति, कर्त्तयति' रूप होते हैं, जबकि 'अचकर्त्तत्'[२] इत्यादि रूप 'कृतैत्, कृतैप् वेष्टने,' इन दोनों धातुओं से भी स्वार्थ में 'णि' प्रत्यय करने पर होते हैं ॥४॥

'कर्त्रण्' धातु के 'कर्त्रयति, कर्त्रापयति, कर्त्रितम्' इत्यादि रूप होते हैं ॥५॥

'कत्थण्' धातु का 'कत्थापयति' । जबकि 'कत्थयति' रूप 'कत्थि श्लाघायाम्' धातु से स्वार्थ में 'णि' प्रत्यय करने पर होता है । ॥६॥

'श्लथण् शरण् दौर्बल्ये' 'श्लथयति' । अद्यतनी में 'ङ' प्रत्यय होकर 'अशश्लथत्' रूप होता है । यह धातु भी अकारान्त होने से वृद्धि और सन्वद्भाव नहीं होता है ॥७॥

'शरण्-शरयति' । यहाँ भी धातु अकारान्त होने से वृद्धि नहीं होती है और 'ङ' प्रत्यय होने पर सन्वद्भाव भी नहीं होता है । अतः 'अशशरत्' रूप होता है । ॥८॥

स्वो. न्या. 'पिंशति, पिंश्यते' । यहाँ 'पिंशत् अवयवे' धातु के, 'श' विकरण प्रत्यय होने पर, मुचादि गण में होने से, न का आगम होकर 'पिंशति' इत्यादि रूप होते हैं । किन्तु कर्मणि प्रयोग में क्य प्रत्यय होने पर 'नो व्यञ्जनस्या-' ४/२/४५ से 'न' का लोप होने पर 'पिश्यते' रूप होता है, जबकि यही पिशु धातु का 'पिंश्यते' रूप होता है क्योंकि वह उदित् होने से 'न' का लोप नहीं होता है, इसी बात को बताने के लिए वृत्ति में दो रूप दिये हैं ।

न्या.सि. -: 'ऋशु' धातु के स्थान पर श्रीलावण्यसूरिजी ने 'कुशु' धातु का स्वीकार किया है । इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि 'धातुपारायण' में 'कुशु' पाठ दिया है ।

---

१. यहाँ श्रीलावण्यसूरिजी ने 'अचो ञ्णिति' (पा.सू.७/२/११५) सूत्र देकर 'वित्तापयति इति केचित्' कहा है ।
२. यहाँ श्रीलावण्यसूरिजी ने 'कर्त्तयति' और 'अचकर्त्तत्' रूपों को 'कृतैत् छेदने' तथा 'कृतैप् वेष्टने' धातु के मानें हैं ।

'छदण्-संवरणे'। 'छदयति' अकारान्त होने से वृद्धि नहीं होती है ।

'शंका'-: 'छद्' धातु घटादि होने से ही 'णि' पर में आने पर 'घटादेः'-४/२/२४ से ह्रस्व होकर 'छदयति' रूप सिद्ध हो ही जाता है, तो उसका अकारान्त धातुओ में पाठ करने का क्या प्रयोजन? क्या फल ? समाधान :-आपकी यह शंका उचित है क्योंकि घटादि गण में आये हुए 'छद्' धातु से जब प्रेरक अर्थ की विवक्षा कि जाती है तब 'णि' प्रत्यय होता है । जबकि यही 'छदण्' धातु चुरादि होने से स्वार्थ में भी णि (णिच्) प्रत्यय होता है

'शंका' :-यही निर्देश 'बहुलम्' प्रकारक है, अतः उसी प्रकार से/युक्ति से सभी धातु से स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय करने की अनुज्ञा दी गयी है । समाधान-: 'ऊर्जन' अर्थ में ही 'छद्' धातु घटादित्व प्राप्त करता है । जबकि यहाँ अकारान्त धातुओं में 'छद्' धातु का पाठ करने से 'संवरण' इत्यादि अन्य अर्थ में भी उसका 'छदयति' रूप सिद्ध होता है । अकारान्त न हो ऐसे 'छद्' धातु का ऊर्जन अर्थ हो तो 'छदयति' रूप होता है किन्तु अन्य अर्थवाले 'छद्' धातु का तो 'छादयति' रूप ही सिद्ध हो सकता है और अकारान्त 'छद्' धातु का ङपरक 'णि' प्रत्यय पर में होने पर वह 'समानलोपि' होने से सन्वद्भाव का अभाव होकर 'अचच्छदत्' रूप सिद्ध होता है, जबकि अनकारान्त 'छद्' धातु 'समानलोपि' न होने से, सन्वद्भाव होकर 'अचिच्छदत्' रूप होता है ॥९॥

स्वो. न्या.-: अब जिन धातुओं का आचार्यश्री ने पाठ किया है, उन धातुओं का अन्य वैयाकरणों ने अन्य प्रकार से पाठ किया हो या अन्य वैयाकरणों ने अतिरिक्त धातु जो बताये हैं अर्थात् आचार्यश्री ने स्वयं जिनका पाठ नहीं किया है, उन्हीं धातुओं के बारे में बताया जाता है । उदा. 'खेडण्', आचार्यश्री ने स्वयं 'खेटण् भक्षणे' पाठ किया है, उसके स्थान पर देवनन्दी ने 'खेडण् भक्षणे' पाठ किया है ।

'पणण् विक्रये'-इस धातु को कुछेक वैयाकरण अतिरिक्त मानते हैं ।

'वित्तण् दाने'-'व्ययण् वित्तमुत्सर्गे' अर्थ में 'वित्त' धातु है, ऐसा कुछेक मानते हैं । जबकि 'कविकल्पद्रुम' इत्यादि ग्रंथ में इस धातु का दान अर्थ बताया गया है । अतः यहाँ भी दान अर्थ बताया है ।

'कर्त्रण् शैथिल्ये' धातु को दूसरे वैयाकरण 'कर्तण्' कहते हैं, जबकि चन्द्र 'कर्त्रण्' पाठ करते हैं और देवनन्दी उसके स्थान पर 'कत्थण्' पाठ करते हैं ।

'लभण् प्रेरणे', अकारान्त होने से वृद्धि नहीं होती है अतः 'लभयति' रूप होगा । 'क्त' प्रत्यय होने पर 'लभितम्' । 'णिवेत्ति-' ५/३/१११ से 'अन' प्रत्यय होकर 'विलभना' शब्द होता है ॥१०॥

'श्रपण् पाके' अकारान्त होने से वृद्धि के अभाव में 'श्रपयति' रूप होता है । 'समानलोपि' होने से सन्वद्भाव के अभाव में अद्यतनी में 'अशश्रपत्' । 'क्त' प्रत्यय होकर निपातन से 'शृतं, हविः' या क्षीरं अर्थ में होगा ॥११॥

'खोदण् क्षेपे, खोदयति'। 'ङ' प्रत्यय होने पर ह्रस्व के अभाव में अद्यतनी में 'अचखोदत्' रूप होता है ॥१२॥

'स्तन, ध्वन, स्वन, स्यम शब्दे'। ये धातु अनेकस्वरयुक्त होने से 'भृश' और आभीक्ष्ण्य अर्थ में भी इन धातुओं से 'यङ्' नहीं होता है। परोक्षा में 'आम्' प्रत्यय होने पर 'स्तनाञ्चकार, ध्वनाञ्चकार, स्वनाञ्चकार, स्यमाञ्चकार' इत्यादि रूप होते हैं। शीलादि अर्थ में 'निन्दहिंस'-५/२/६८ सूत्र से 'णक' प्रत्यय होकर 'स्वनक, स्यमकः' इत्यादि शब्द होते हैं। जबकि 'स्तनकः, ध्वनकः' शब्द और 'स्तनयति, अतस्तनत्, ध्वनयति, अदध्वनद्' इत्यादि रूप, इन्हीं दो धातुओं की तरह चुरादि अकारान्त 'स्तनण् गर्जे, ध्वनण् शब्दे' धातु से भी होते हैं। 'स्वन' धातु अवतंसन-बाँधना, गूँथना अर्थ में ही घटादित्व प्राप्त करता है, अतः अकारान्त धातुओं में उसका पाठ करने से, अन्य अर्थवाले 'स्वन' धातु से भी 'स्वनयति' रूप सिद्ध होता है और अकारान्त होने से, समानलोपित्व के कारण सन्वद्भाव नहीं होता है, अतः अद्यतनी में 'असस्वनत्' रूप होता है और 'स्यम्' धातु का 'असस्यमत्' रूप होता है। जबकि अनकारान्त ये दो धातु 'समानलोपि' न होने से सन्वद्भाव होकर 'असिस्वनत्' और 'असिस्यमत्' रूप होते हैं। 'स्यमयति' इत्यादि में तो अकारान्त न होने पर भी उसके स्वर का 'अमोऽकम्यमिचमः ४/२/२६ से ह्रस्व होता ही है। ॥ १३-१४-१५-१६ ॥

'षम, ष्टम वैक्लव्ये'। ये दो धातु षोपदेश हैं। इसी ग्रन्थ अर्थात् सिद्धहेम में 'षम १, ष्टम २, षेकृ ३, ष्वर्ति ४, षाधि ५, षन्ति ६, षुन्भि ७, षुरि ८, षिलि ९, षान्त्वि १०, ष्णुसि ११, ष्णासि १२, ष्टृहि १३, ष्टृंहि १४, ष्टृक्षि १५, ये पन्द्रह धातु सकारादि होने पर भी धातुपाठ में उनका षोपदेश निर्देश किया है। और 'षः सोऽष्ट्यैष्ठिव-२/३/९८ से उनके 'ष' का 'स' होता है। इस प्रकार यही 'स' कृत माना जाता है, अतः 'नाम्यन्तस्था'-२/३/१५ से 'ष' होता है और यही षोपदेश का फल है। उदा. सन्परक 'णि' प्रत्यय पर में होने पर 'सिषमयिषति' और 'तिष्टमयिषति' इत्यादि रूप में 'स' का 'ष' होता है। ङ परक 'णि' पर में होने पर, अकारान्त होने से, सन्वद्भाव के अभाव में 'अससमत्, अतस्तमत्' रूप होते हैं। ये धातु अनेक स्वरयुक्त होने से 'यङ्' नहीं होता है। परोक्षा में 'आम्' होने पर 'समाञ्चकार, स्तमाञ्चकार' इत्यादि रूप होते हैं। शीलादि अर्थ में 'निन्दहिंस'-५/२/६८ सूत्र से 'णक' प्रत्यय होने पर 'समकः, स्तमकः' शब्द होते हैं। ॥१७-१८॥

स्वो.न्या. :-'श्रथण् दौर्बल्ये' धातु में ही ऋफिडादित्व से लत्व को नहीं माननेवाले, कुछेक श्लथण् स्वरूप पृथक् धातु ही मानते हैं। 'शारण् दौर्बल्ये' धातु का 'शरण्' स्वरूप पाठ नन्दी अर्थात् देवनन्दी करते हैं। 'छदण्' धातु कुछेक की मान्यतानुसार अकारान्त है। 'लाभण् प्रेरणे' धातु के स्थान पर 'लभण्' पाठ 'सभ्याः' करते हैं। 'श्रपण्' धातु को कुछेक अतिरिक्त धातु मानते हैं।

'खोटण् क्षेपे' धातु को ही अन्य वैयाकरण दकारान्त मानते हैं।

न्या.सि. 'खोदण्' के स्थान पर श्रीलावण्यसूरिजी ने 'खादण्' पाठ दिया है और उदाहरण भी उसके दिये हैं। जबकि 'न्यायसंग्रह' की नयी मुद्रित प्रति में 'खोदण्' है और पुरानी मुद्रित प्रति में 'खादण्' पाठ है, जो अशुद्ध है।

'ललण् ईप्सायाम्, ललयति ।' अद्यतनी में 'ङ' प्रत्यय होने पर 'अललल्त्' । जबकि 'ललिण् ईप्सायाम्' धातु अकारान्त नहीं है और आत्मनेपदी होने से 'लालयते, अलीललत' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१९॥

'मलण् धारणे' । वृद्धि न होने से 'मलयति' । परि उपसर्ग के साथ इस धातु से 'युवर्ण'-५/३/२८ से 'अल्' प्रत्यय होकर 'परिमलः' शब्द होता है ॥२०॥

स्वो. न्या. : 'स्तन, ध्वन, स्वन, स्यम, षम, ष्टम' ये छः धातु भ्वादि गण में व्यञ्जनान्त बताये है वे छः धातु यहाँ अकारान्त हैं, ऐसा 'सभ्य' कहते हैं । 'मलि धारणे' धातु को कुछेक वैयाकरण चुरादि गण में अकारान्त मानते हैं ।

[1]'वल्पुल, वल्पूल, पल्पुल, पप्पूल, वत्पूलण् लवनपवनयोः' । इन पाँच धातुओं में बीच में औष्ठ्य व्यञ्जन 'प' आया हुआ है । 'वल्पुलयति, वल्पूलयति, पल्पुलयति, पप्पूलयति, वत्पूलयति क्षेत्रं सबुसधान्यं वा ।' (वह क्षेत्र को पवित्र करता है या वह घास सहित धान्य लुनता है ।) यथासंभव सन्वद्भाव और ह्रस्व न होने से 'अववल्पुलत्, अववल्पूलत्, अपपल्पुलत्, अपपल्पूलत् अववत्पूलत्' इत्यादि रूप होते हैं । ॥२१-२२-२३-२४-२५॥

'कुमालण् क्रीडायाम् । कुमालयति'। 'ङ' होने पर ह्रस्व न होकर 'अचुकुमालत्' । 'सु' से युक्त इस धातु से 'अच्' प्रत्यय होने पर 'सुकुमाल' शब्द होता है । ॥२६॥

'पशण् अनुपसर्गो वा' । इस धातु का अर्थ बताया गया नहीं है, किन्तु कुछेक वैयाकरण उसे 'गत्यर्थक' मानते हैं । यह विकल्प से अकारान्त माना गया है, अतः जब उसे अकारान्त मानेंगे तब वृद्धि नहीं होगी और सन्वद्भाव भी नहीं होगा अतः 'पशयति, अपपशत्' इत्यादि रूप होंगे और जब अकारान्त नहीं मानेंगे तब वृद्धि और सन्वद्भाव होगा, अतः 'पाशयति, अपीपशत्' इत्यादि रूप होते हैं । यह धातु उपसर्गरहित ही होना चाहिए । यदि उपसर्ग सहित हो तो 'पशी' स्वरूप उभयपदी धातु मानकर 'प्रपशते, प्रपशति' रूप होते हैं । ॥२७॥

'शशण् कान्तौ' । अकारान्त होने से वृद्धि नहीं होगी, अतः 'शशयति' रूप होगा । 'अनट्' होने पर 'शशनम्' । ण्यन्त होने से 'युवर्ण'-५/३/२८ से 'अल्' प्रत्यय होकर 'शशः' शब्द होगा ॥२८॥

'अन्सण् विभाजने' । 'व्यंसयति' । 'मयूरव्यंसक', समास में निपातन है । 'सन्' प्रत्यय होने पर 'स्वरादेः'-४/१/४ से 'सि' का द्वित्व होने पर 'व्यंसिसयिषति' रूप होता है । 'शिड्हेऽनुस्वारः' १/३/४० सूत्र में 'अनु' का अधिकार होने से द्वित्व करते समय 'न' ही माना जाता है, अतः 'न बदनं'-४/१/५ से 'न' का द्वित्व नहीं होता है । उसी तरह ङ होने पर 'व्यांसिसत्' रूप होगा ।

यदि अनुस्वार पहले ही हो जाता तो अनुस्वार सहित 'सि' का 'स्वरादेः'-४/१/४ से द्वित्व

न्या. सि-: र, ल में अभेद मानकर 'अच्' प्रत्यय होने पर 'सुकुमार' शब्द होता है । 'व्यंसक' अर्थात् धूर्त्त ।

१. यहाँ उपर बताये गये धातुओं में 'वल्पुल, वल्पूल, पल्पूल, पप्पूल, वत्पूल,' धातु हैं । ये सब धातु अन्य वैयाकरणों की मान्यतानुसार हैं । जबकि आचार्यश्री के अपने धातुपाठ में 'पल्पूलण्' पाठ है । द्रष्टव्य धातु नं. १९१६ ।

होगा, बाद में 'अघोषे शिटः' ४/१/४५ से पूर्व के अनुस्वार का लोप होने पर 'व्यसिंसयिषति' और 'व्यासिंसत्' ऐसे अनिष्ट रूप होते । इस धातु के अकारान्तत्व के सामर्थ्य से अंत्य 'अ' का लोप नहीं होगा तब वृद्धि होकर 'पु' का आगम होने पर 'व्यंसापयति' इत्यादि रूप होते हैं । ॥२९॥

'गहण् गहने । गहयति, गहापयति' इत्यादि रूप होते हैं ॥३०॥

दो धातु आकारान्त हैं । १. 'गाक् जन्मस्तुत्योः' । यह धातु ह्वादि अर्थात् जुहोत्यादि है । अतः 'हवः शिति' ४/१/१२ से द्वित्व होने पर 'जगाति' रूप होता है ॥ ३१ ॥

२. 'माङ्च् माने । मायते' । यहाँ दिवादि का 'श्य' प्रत्यय शित् होने से 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४/३/९७ से ईत्व नहीं होता है क्योंकि इसी सूत्र में 'अशिति' कहा है । 'नेङ्र्मादा'-२/३/७९ से उपसर्गस्वरूप 'नि' का 'णि' होने पर 'प्रणिमायते' रूप होगा । ॥३२॥

चार धातु इकारान्त है । २. 'किक् ज्ञाने' । यह धातु ह्वादि (जुहोत्यादि) है, अतः 'हवः शिति' ४/१/१२ से द्वित्व होने पर 'चिकेति' रूप होगा ॥३३॥

२. क्षी जिरिट् हिंसायाम् । उदा. 'पद्मानि नो चेत् किमयं क्षिणोति' ।[१] क्षिणूयी हिंसायाम्, धातु में गुण होने से 'क्षेणोति' इत्यादि रूप होते हैं । ॥३४॥

३. जिरिट् का 'जिरिणोति' रूप होता है । ॥३५॥

४. 'चिगण् चये'[२] । यह धातु चुरादि भी है और घटादि भी है, अतः 'णिच्' होने पर 'चि' का 'चै' होकर 'चायि' होगा और घटादि होने से 'घटादेर्हूस्वो-४/२/२४ से ह्रस्व होने पर 'चययति' रूप होगा । अन्य वैयाकरण 'चिस्फुरोर्नवा' ४/२/१२ से इस धातु के स्वर का आत्व करते नहीं हैं । 'ञि' या 'णम् परक णि' प्रत्यय होने पर विकल्प से दीर्घ होकर 'अचायि, अचयि, चायंचायं, चयंचयं' रूप होते हैं । 'णिच्' अनित्य होने से उसके अभाव में 'चयति चयते' रूप भी होते हैं । जबकि चुरादि और घटादि दोनों प्रकार के 'चि' धातु को छोडकर 'चिंगट् चयने' धातु के 'चिनुते, चिनोति' इत्यादि रूप होते हैं । णि प्रत्यय होने पर 'चिस्फुरोर्नवा' ४/२/१२ से 'आ' विकल्प से होगा । अतः जब 'आ' होगा तब 'चापयति' होगा और 'आ' नहीं होगा तब 'चाययति' होगा । 'ञि' या 'णम् परक णि' होने पर 'अचापि, चापंचापं, अचायि, चायंचायं' रूप होंगे ॥३६॥

नव धातु दीर्घ ईकारान्त हैं । 'दीधीकि दीप्तिदेवनयोः' । 'दीधीते' । 'क्ति' प्रत्यय होने पर निपातन से 'दिधीतिः' शब्द होता है । ॥३७॥

न्या. सि. १. इस उदाहरण के स्थान पर श्रीलावण्यसूरि निम्नोक्त दो उदाहरण देते हैं ।
यदि नाम जिगीषयापि ते निपतेयुर्वचनेषु वादिनः ।
चिरसंगतमप्यसंशयं क्षिणुयुर्मानमनर्थसंचयम् ॥ [सिद्धसेनीय चतुर्थ द्वात्रिंशिका श्लोक-१४]
और 'शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं, न तद्यशः शास्त्रभृतां क्षिणोति । [रघुवंश. द्वि. स.] इति कालिदासः ।

२. पाणिनीय परम्परा में 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' में चुरादि गण के घटादि-'चिगण्' धातु के स्वर का विकल्प से 'आ' करते हैं अतः 'चपयति' और 'चययति' रूप भी होते हैं ।

स्वो. न्या.-: 'पल्पूलण् लवनपवनयोः' (धातु नं. १९१६) के स्थान पर कुछेक 'वल्पुल' पाठ करते हैं, अन्य 'वल्पूल' पाठ करते हैं तो कुछेक 'पल्पुल' तो अन्य कोईक 'पप्पूल' पाठ करते हैं, कुछेक 'वत्पुल' पाठ करते हैं । 'कुमारण् क्रीडायाम्' धातु को ही कुछेक लकारान्त मानते हैं । 'पषण् अनुपसर्गो' धातु, जो चुरादि गण में अकारान्त हैं, वही धातु यहाँ अन्य के मतानुसार तालव्य शकारान्त और अकारान्त बताया है । 'शशण्' धातु अतिरिक्त धातु है और वह 'सूर्यप्रज्ञप्ति' आगम की टीका में पाया जाता है । 'अंशण् समाघाते' धातु को ही चन्द्र वैयाकरण दन्त्य सकारान्त कहते हैं और धातुपारायण में 'समाघात' का अर्थ 'विभाजन' बताया है, अतः यहाँ सीधे ही 'विभाजन' अर्थ दे दिया है ।

'ई, वेवीकि प्रजनकान्त्यसनखादनगतिषु' । 'प्रजन' अर्थात् प्रथमगर्भग्रहण, असन अर्थात् फेंकना (क्षेप) अथवा अशन अर्थात् खाना या तृप्त होना । 'ईते गौः' [गाय प्रथम गर्भग्रहण करती है ।] ॥३८॥ वैसे 'वेवीते' इत्यादि रूप भी होते हैं । ॥३९॥

'क्षींषश् हिंसायाम्', 'क्षीणाति, क्षीतः, क्षीतवान्, क्षीतिः' । 'षित्' होने से 'षितोऽङ् ५/३/१०७ से 'अङ्' प्रत्यय होकर 'क्षिया' शब्द होता हैं । यह शब्द 'क्षिषश् हिंसायाम्' धातु से भी सिद्ध हो सकता है । ॥४०॥

'व्रींश् वरणे, भ्रींश् भरणे' । ये दो धातु प्वादि हैं, अतः 'प्वादेर्ह्रस्वः' ४/२/१०५ से ह्रस्व होने पर 'व्रिणाति, भ्रिणाति' रूप होते हैं । अप्वादि के रूप में इन दो धातु से 'व्रीणाति, भ्रीणाति' रूप भी होते हैं । ॥४१-४२॥

'ल्पींश् श्लेषणे' । इस धातु में ओष्ठ्य व्यंजन उपान्त्य में आया है, और वह 'प्वादि' तथा 'ल्वादि' दोनों में गिना जाता है । 'प्वादि' मानने पर ह्रस्व होकर 'ल्पिनाति' रूप होता है । 'ल्वादि' मानने पर 'ॠल्वादेरेषां तो नोऽप्रः' ४/२/६८ से 'क्त, क्तवतु' और 'क्ति' के 'त' का 'न' होने पर 'ल्पीनः ल्पीनवान्, ल्पीनिः' शब्द बनते हैं । अनुस्वार की इत् संज्ञा हुई होने से 'ल्पेता, ल्पेतुम्' शब्द होते हैं । ॥४३॥

'ल्वींश् गतौ' । यह धातु प्वादि या ल्वादि नहीं है, अतः ह्रस्व न होने से 'ल्वीनाति' रूप होता है । 'क्त, क्तवतु, क्ति' के 'त' का 'न' नहीं होता है, अतः 'ल्वीतः, ल्वीतवान् ल्वीतिः' शब्द होते हैं । प्वादि और ल्वादि के बीच इस धातुका पाठ किया है, अतः क्वचित् 'ल्वीनः, ल्वीनवान्, ल्वीनिः' भी होते हैं । ॥४४॥

'ज्रीण् वयोहानौ' । यह धातु युजादि है, अतः 'युजादेर्नवा' ३/४/१८ से विकल्प से णिच् होने पर 'ज्रायति, ज्रयति' रूप होते हैं । जॄण् धातु के 'जारयति, जरति' रूप होते हैं । ॥४५॥

स्वो. न्या.-: कुछेक 'गहण्' धातु को अतिरिक्त धातु मानते हैं । 'गाक्' धातु और 'माङ्' धातु को भी कुछेक अतिरिक्त धातु मानते हैं, वैसे स्वादि गण में 'जिरिट्', चुरादि में घटादि गण में 'चिलं' तथा 'दीधी, ई' और 'वेवी' धातु को भी कुछेक वैयाकरण अतिरिक्त मानते हैं ।

दो धातु उकारान्त हैं । 'खुंङ् गतौ, खवते' । परोक्षा में 'चुखुवे' । अनुस्वार इत् होने से 'खोता, खोतुम्' रूप होते हैं । ॥ ४६॥

स्वो. न्या.-: 'व्रींश्' और 'भ्रींश्' दोनों धातु को आचार्यश्रीहेमचंद्रसूरिजी ने 'क्र्यादि' में 'अप्वादि' माने हैं । जबकि यहाँ दूसरों की मान्यतानुसार 'प्वादि' कहे हैं । अन्य वैयाकरणों ने 'ल्पींश्' धातु को 'प्वादि-ल्वादि बाह्य' और अतिरिक्त कहा है । जबकि आचार्यश्री ने 'ल्वी' धातु को 'प्वादि' बताया है । 'ज्रीण' धातु-युजादि गण के 'जृण् वयोहानौ' के स्थान पर नन्दी (देवनन्दी) नामक वैयाकरण ने बताया है । 'उङ् कुङ्' इत्यादि धातु जैसे गत्यर्थक हैं, वैसे 'खुंङ्' धातु को भी कुछेक गत्यर्थक कहते हैं ।

न्या. सि-: श्रीलावण्यसूरिजी ने 'ल्पींश्' के स्थान पर 'प्लींश्' पाठ किया है, किन्तु उदाहरण में 'ल्पींश्' पाठ को अनुसरे हैं । न्यास में और न्या. तरंग में भी 'ल्पींश्' पाठ ही है, अतः उसका यहाँ स्वीकार किया है ।

'धुंग्ट् कम्पने, धुनुते' । उदा. ''पद्मान्तराणि च दुनोति धुनोति पक्षौ'' अनुस्वार इत् होने से, 'धोता, धोतुम्' । उदा. 'आराधयन्ति विधिवद् विधुतान्यकृत्याः' । [कल्याणमन्दिर स्तोत्र श्लोक-३४] 'धूग्ट् कम्पने' धातु के 'धूनोति' इत्यादि रूप होते हैं । 'धूगौदितः' ४/४/३८ से यह धातु 'वेट्' होने से 'धोता, धविता' दो रूप होते हैं । 'क्त' प्रत्यय होने पर 'विधूतः' शब्द होता है । ॥४७॥

तीन धातु दीर्घ अकारान्त हैं । 'गूं गूत् च पुरीषोत्सर्गे' । यहाँ दूसरे धातु के अन्त में 'च' अनुबंध रखा है, तथापि प्रथम धातु भ्वादि गण का लेना और वह अनुस्वारेत् है । जबकि दूसरा धातु तुदादि है । यही बात बताने के लिए 'च' का प्रयोग किया है, अत एव अन्यत्र कहीं भी 'च' कार का प्रयोग नहीं किया है । अतः जहाँ अनेक धातुओं के अन्त में 'क' इत्यादि गणसूचक अनुबंध रखे हों वहाँ उन सब धातुओं को 'अदादि' इत्यादि गण के मान लेना ।

'गूं, गवति' । अनुस्वार 'इत्' होने से 'इट्' न होकर 'न्यगौषीत्' इत्यादि रूप होंगे । 'गूत्वा' में क्त्वा प्रत्यय है । 'गुंङ् शब्दे' धातु के 'गवते' इत्यादि रूप होते हैं । इस धातु का अद्यतनी में 'धुड् ह्रस्वाल्लुगनिटः'-४/३/७० से 'सिच्' का लोप होने पर 'न्यगुत' रूप होता है और 'क्त्वा' प्रत्यय होने पर 'गुत्वा' शब्द होता है । जबकि 'गोता, गोतुम्, गोतव्यम्' इत्यादि शब्द 'गूं' और 'गुंङ्' दोनों धातु से होते हैं । ॥ ४८॥

'गूत्', यह धातु कुटादि है, अतः 'कुटादेः'-४/३/१७ से 'सिच्' ङित् होगा, अतः 'सिचि परस्मै समानस्याङिति' ४/३/४४ से 'उ' की वृद्धि नहीं होगी और 'सिच्' के आदि में 'स्ताद्यशितो'-४/४/३२ से 'इट्' होगा और 'सः सिजस्तेर्दिस्योः' ४/३/६५ से 'दि' प्रत्यय के आदि में 'ईत्' होगा, बाद में 'इट ईति' ४/३/७१ से 'सिच्' का लोप होकर, 'धातोरिवर्णो'-२/१/५० से 'ऊ' का 'उव्' आदेश होने पर 'न्यगुवीत्' रूप होगा । 'तृच्' इत्यादि प्रत्यय होने पर 'ङित्त्व' के कारण गुण नहीं होगा, अतः 'गुविता, गुवितुम्, गुवितव्यम्' इत्यादि शब्द होंगे । कित् 'क्त्वा' प्रत्यय होने पर 'उवर्णात्' ४/४/५८ से 'इट्' का निषेध होने पर 'गूत्वा' शब्द होता है ।

'गुंत् पुरीषोत्सर्गे' धातु 'कुटादि' है और अनुस्वार की 'इत्' संज्ञा हुई है, अतः 'इट्' नहीं होगा और 'न्यगुषीत्' इत्यादि रूप होते हैं । 'गुता, गुतुम्, गुतव्यम्, गुत्वा' इत्यादि शब्द भी होते हैं । ॥४९॥

'दूट् हिंसायाम्' धातु का 'दूनोति' रूप होता है । जबकि 'टुदुंट् उपतापे' धातु का 'दुनोति' रूप होता है । ॥ ५०॥

स्वो. न्या.-: 'धुंगूट्' स्वादि गण में अतिरिक्त कहा है । 'गुंङ् शब्दे' धातु को ही कुछेक दीर्घान्त परस्मैपद में, पुरीषोत्सर्ग अर्थ में कहते हैं । कुटादि गण के 'गुंत्' धातु को ही कुछेक दीर्घान्त व सेट् कहते हैं । दूट् धातु को कुछेक स्वादि गण में अतिरिक्त मानते हैं ।

ॠदन्त आठ धातु हैं । 'जृं अभिभवे' । 'यमी जरति कर्माणि' । (संयमी कर्मों का पराभव करता है ।) अनुस्वार की 'इत्' संज्ञा हुई है, अतः 'जर्ता, जर्तुम्' शब्द होते हैं । शीलादि अर्थ में 'वयः शक्तिशीले' ५/२/२४ से 'शान' प्रत्यय होने पर 'जरमाणः' शब्द किसी व्यक्तिविशेष की संज्ञा में होता है । उससे 'तस्यापत्यं वृद्धं' अर्थ में 'गर्गादेः'-६/१/४२ से 'यञ्' प्रत्यय करने पर 'जारमाण्यः' शब्द बनता है । ॥ ५१॥

'घक् क्षरणदीप्त्योः, सृक् गतौ, ह्वक् बलात्कारे' । ये तीनों धातु ह्वादि (जुहोत्यादि) हैं, अतः 'ह्वः शिति' ४/१/१२ से द्वित्व होने पर 'जघर्त्ति' ॥ ५२॥ 'ससर्त्ति' ॥ ५३॥ और 'जहर्त्ति' रूप होते हैं । ॥ ५४॥

'स्पृंट् पालनप्रीत्योः' । इस धातु में अन्त्य स्वर 'ॠ' से पूर्व ओष्ठ्य व्यंजन आया हुआ है । 'स्पृणोति, पस्पार' इत्यादि रूप होते हैं । अनुस्वार की इत् संज्ञा हुई होने से 'स्पर्त्ता, स्पर्त्तुम्' शब्द होते हैं । ॥५५॥

'ॠट् कृग्श्, हिंसायाम्' । 'ॠणोति'। 'ॠणूयी गतौ' धातु में स्वर का गुण होने पर 'अर्णुते, अर्णोति' इत्यादि रूप होते हैं । ॥५६॥

'कृग्श्' । यह धातु ल्वादि है, अतः 'ॠल्वादेः'-४/२/६८ से 'क्त' इत्यादि के 'त' का 'न' होने पर 'कृणः, कृणवान्, कृणिः' शब्द होते हैं । जबकि 'कृग्श्' धातु के 'कीर्णः, कीर्णवान्, कीर्णिः' शब्द होते हैं, किन्तु 'कृग्श् और 'कृग्श्' दोनों धातु के 'कृणाति' इत्यादि रूप ही होते हैं ॥ ५७॥

'वृग्श् वरणे' । यह धातु भी ल्वादि है, अतः 'ॠल्वादेः' ४/२/६८ से 'क्त' इत्यादि के 'त' का 'न' करने पर 'वृणः, वृणवान्, वृणिः' शब्द होते हैं । जबकि 'वृग्श्' धातु के 'ॠ' का 'ओष्ठ्यादुर्' ४/४/११७ से 'उर्' करने पर ['भ्वादेर्नामिनो'-२/१/६३ से उ, दीर्घ करने पर] 'वूर्णः वूर्णवान्, वूर्णिः' शब्द होते हैं । जबकि 'वृणाति' इत्यादि रूप दोनों धातु 'वृग्श' और 'वृग्श्' से होते हैं । ॥५८॥

दीर्घ ॠकारान्त तीन धातु हैं । चॄ भक्षणगत्योः । 'चीर्णा' शब्द 'क्त' प्रत्यय होने पर बनता है । 'अचारि गवा', यहाँ अद्यतनी कर्मणि प्रयोग है । 'आचीर्णं तपः' इस धातु के 'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्ययान्त का ही प्रयोग पाया जाता है । अन्य प्रत्ययान्त प्रयोग नहीं पाया जाता है । ॥५९॥

स्वो. न्या.-: 'ज्रि अभिभवे' धातु को ही कुछेक 'जॄं' स्वरूप ॠकारान्त कहते हैं । 'घृ, सृ, हृ' को कुछेक अतिरिक्त मानते हैं । 'स्पृंट् पालने' धातु 'स्मृंट् पालने' धातु में ही 'म' का 'प' करने से होता है, ऐसा किसीका कहना है । 'ॠट्' धातु को स्वादि गण में अतिरिक्त कहते हैं और 'कृग्श्' धातु, 'कृग्श्'

धातु को ह्रस्वान्त करने से ही होता है, ऐसा कुछेक कहते हैं । 'रदादमूर्च्छमदः'-४/२/६९ सूत्र की वृत्ति में 'चॄ' धातु को 'चरति' के समानार्थक बताया है, अतः यहाँ 'भक्षण' और 'गति' अर्थ बताया है । 'क्तक्तवतु' प्रत्ययान्त के विषय में 'चीर्णम्' स्वरूप 'क्त' प्रत्ययान्त का उदाहरण बताया है ।

न्या. सि. : श्रीलावण्यसूरिजी ने 'कृंग्श्' पाठ किया है ।

'पृक पालनपूरणयोः' । यह धातु ह्वादि (जुहोत्यादि) है । अतः वर्तमाना अन्यदर्थक द्विवचन का 'तस्' प्रत्यय होने पर 'हवः शिति' ४/१/१२ से द्वित्व होगा, पूर्व 'पृ' के 'ॠ' का 'पृभृमाहाङामिः' ४/१/५८ से 'इ' होने पर और द्वितीय 'पॄ' के 'ॠ' का 'ओष्ठ्यादुर्' ४/४/११७ से 'उर्' होकर उस के 'उ' का 'भ्वादेर्नामिनो'-२/१/६३ से दीर्घ होने पर 'पिपूर्तः' रूप होगा । 'अन्ति' प्रत्यय होने पर 'पिपुरति' रूप होता है । सप्तमी (विध्यर्थ) का 'यात्' प्रत्यय होने पर 'पिपूर्यात्' रूप होता है, जबकि 'पिपर्त्ति' रूप 'पृक्' के साथ साथ 'पृंक्' धातु का भी होता है । ॥६०॥

'दृङ् च भये,' इस धातु का कर्तरि प्रयोग 'दीर्यते' होता है । कर्मकर्तरि, भावेप्रयोग और कर्मणि प्रयोग में भी 'दीर्यते' रूप होता है और 'दॄ भये' धातु का भी ऐसा रूप होता है । ॥६१॥

ओ अन्तवाला 'ज्योङ् उपनयन-नियम-व्रतादेशेषु' धातु है । उपनयनमौञ्जीबन्ध, यज्ञोपवीत देना । नियम अर्थात् संयम । व्रतादेश अर्थात् संस्कारादेश । 'क्त' प्रत्यय होने पर 'जीतः', यहाँ 'ज्याव्यधः क्ङिति' ४/१/८१ से य्वृत् होगा । अन्य वैयाकरण 'व्यञ्जनान्तस्यातोऽख्याध्यः' ४/२/७१ से प्राप्त 'त' का 'न' नहीं इच्छते हैं, और इट् भी नहीं होता है क्योंकि आगमशास्त्र अनित्य है । ॥६२॥

क अन्तवाले पाँच धातु हैं । 'दकु कृच्छ्रजीवने' । 'आङ्' से युक्त इस धातु से 'हि' प्रत्यय होने पर, धातु उदित् होने से 'न' का आगम होगा और [हि का लोप होने पर] 'आदङ्क' रूप होगा और 'आदङ्क' ऐसा त्याद्यन्तप्रतिरूपक अव्यय भी है । ॥ ६३ ॥

'तिकृङ्, टिकृङ्, षेकृङ् गतौ' । 'ङ' परक 'णि' होने पर, धातु 'ऋदित्' होने से 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से ह्रस्व नहीं होगा, अतः 'अतितेकत्' रूप होगा ॥ ६४ ॥

'टिकृङ्' का 'अटिटेकत्' रूप होगा । ऋदित् न हो ऐसे 'तिकि, टिकि' धातु के अनुक्रम से 'अतीतिकत्, अटीटिकत्' रूप होते हैं । जबकि 'तेकते, टेकते' इत्यादि रूप 'ऋदित्' और 'अनृदित्' दोनों प्रकार के धातु से समान ही होते हैं । ॥ ६५॥

स्वो. न्या.-: सिद्धहेम के 'पृंक्' धातु को कुछेक दीर्घ ॠकारान्त और सेट् मानते हैं । 'दॄ भये' धातु को ही कुछेक दिवादि मानते हैं । 'दीक्षि मौण्ड्येज्योपनयनादौ' ऐसे प्राचीन/बृहत्/पाठ का कुछेक दो भाग करते हैं और एक उकार अतिरिक्त कहते हैं । उनकी मान्यतानुसार 'दीक्षि मौण्डये' ऐसा एक धातु और 'ज्यो उपनयनादौ ऐसा दूसरा धातु है । 'ज्योङ्' में ङ् आत्मनेपद बताने के लिए है । सिद्धहेम के 'तकु कृच्छ्रजीवने' धातु के स्थान पर अन्य 'दकु' धातु कहते हैं । सिद्धहेम में जो 'तिकीटिकी गत्यर्थौ' भ्वादि आत्मनेपदी बताये हैं, उसे ही कुछेक 'ऋदित्' कहते हैं ।

'षेकृङ्' का 'असिषेकत्' रूप होता है । 'षेक्' धातु षोपदेश है, अतः 'षः सो'-२/३/९८

से 'ष' का 'स' हुआ होने से वह कृत कहा जाता है । अतः 'नाम्यन्तस्था'-२/३/१५ से 'स' का 'ष' होगा । ऐसे सन् परक णि होने पर 'सिषेकयिषति' में भी 'स' का 'ष' होगा । प्रेरक न हो ऐसे अर्थात् केवल 'सेक्' धातु से 'सन्' होने पर, 'ष' होने की प्राप्ति है किन्तु 'णिस्तोरेवास्वदस्विदसहः षणि' २/३/३७ से नियम होने से 'सिसेकिषते' में 'स' का 'ष' नहीं होगा ।

यदि धातु षोपदेश न हो तो, 'स' अकृत होने से षत्व की प्राप्ति का ही अभाव होने से 'असिसेकत्, सिसेकयिषति' रूप ही होता है । 'सेकते' इत्यादि रूप षोपदेश और अषोपदेश, दोनों प्रकार के धातु से समान ही होते हैं । ॥६६॥

'चिक्कण् व्यथने' । 'चिक्कयति'। उणादि का 'अण' प्रत्यय होने पर 'चिक्कणः' शब्द होता है और 'अस' प्रत्यय होने पर 'चिक्कसः' शब्द 'यवक्षोदः' (जव का आटा) अर्थ में होता है । ॥६७॥

ख अन्तवाले तीन धातु हैं । 'चखु गतौ' धातु उदित् होने से 'न' का आगम होने पर 'चङ्खति' । 'कित्' प्रत्यय होने पर 'न' लोप नहीं होगा, अतः 'चङ्ख्यते, चङ्खितः' । 'चङ्खा' शब्द में 'क्तेटो गुरोः'-५/३/१०६ से 'अ' होता है । ॥६८॥

'खक्ख हसने' । 'खक्खति, खक्खितः' । 'खक्खा' शब्द में भी 'क्तेटो गुरोः'-५/३/१०६ से 'अ' प्रत्यय होता है । ॥६९॥

'लिखत् अक्षरविन्यासे' । यह धातु कुटादि है, अतः 'तृज्' इत्यादि प्रत्यय होने पर 'ङित्त्व' के कारण गुण नहीं होगा । अतः 'लिखिता, लिखितुम्, लिखनीयम्' होगा । जबकि कुटादि से भिन्न 'लिख' धातु के 'लेखिता, लेखितुम्, लेखनीयम्' इत्यादि शब्द होते हैं । 'लिखति' इत्यादि रूप दोनों प्रकार के धातु से समान ही होते हैं ।

कुछेक वैयाकरण 'कड, स्फर, स्फल' धातुओं को भी 'कुटादि' मानते हैं, अतः उनके उपान्त्य 'अ' की वृद्धि नहीं होती है । उदा. 'कडकः, स्फरकः, स्फलकः' इत्यादि । ये धातु यहाँ नहीं बताये गये हैं, क्योंकि 'अच्' प्रत्यय होने पर 'कड' इत्यादि शब्द होते हैं, उनसे स्वार्थ में 'क' प्रत्यय करके 'कडकः' इत्यादि शब्दों की सिद्धि हो सकती है । ॥७०॥

घ अन्तवाले पांच धातु हैं । 'घग्घ हसने', घग्घति, घग्घितः' । 'घग्घा' शब्द में 'क्तेटो गुरोः'-५/३/१०६ से 'अ' प्रत्यय होता है । ॥ ७१॥

'दघ, सघ, तिघ, चषघट् हिंसायाम्' । 'दघ्नोति' । 'घञ्' होने पर 'दाघः, निदाघः' शब्द होते हैं । ॥७२॥

स्वो. न्या.-: 'सेकृङ्' धातु को ही कुछेक षोपदेश मानते हैं । सिद्धहेम के 'चुक्कण् व्यथने' के स्थान पर कौशिक नामक वैयाकरण 'चिक्कण्' पाठ देते हैं । 'चख गतौ' धातु को ही कुछेक उदित् कहते हैं । 'कक्ख हसने' धातु को ही कुछेक 'खक्ख' मानते हैं । 'लिखत्' धातु को कुछेक 'कुटादि' मानते हैं । 'गग्ध हसने' धातु को ही कुछेक 'घग्घ' के रूप में मानते हैं । जबकि 'षघट्' धातु को कुछेक अषोपदेश मानते हैं ।

'सघट्'-सन् परक 'णि' होने पर, यह धातु षोपदेश न होने से, 'स' अकृत है, अतः 'सिसाघयिषति' में 'ष' नहीं होगा। ऐसे ङपरक 'णि' होने पर 'असीसघत्' इत्यादि रूप होते हैं। यदि धातु षोपदेश होता तो 'सिषाघयिषति, असीषघत्' इत्यादि रूप होते। जबकि 'सघ्नोति' इत्यादि रूप दोनों प्रकार के (षोपदेश और अषोपदेश) धातु से समान ही होते हैं। ॥७३॥

'तिघट्' धातु के 'तिघ्नोति, तितेघ' इत्यादि रूप होते हैं। ॥७४॥

'चषघट्' धातु के 'चषघ्नोति', परोक्षा में 'आम्' होने पर 'चषघाञ्चकार' रूप होता है। ॥७५॥

आठ धातु च अन्तवाले हैं। 'मुचि कल्कने,' कल्कन अर्थात् दंभ, शाठ्यं, क्वथन अर्थात् उबालना। 'मोचते'। ॥७६॥

'अचूग् अचुग् गतौ'। वर्तमाना-'अचते, अचति'। परोक्षा-'आचे, आच' रूप होते हैं। 'अचिता, अचितुम्'। ऊदित् होने से 'क्त्वा' प्रत्यय के आदि में विकल्प से 'इट्' होकर 'अक्त्वा, अचित्वा' रूप होंगे। जबकि 'अञ्चू गतौ' धातु 'ऊदित्' होने से 'वेट्' होगा, अतः 'अङ्क्त्वा, अञ्चित्वा' ऐसे दो प्रकार के शब्द होते हैं। ॥ ७७॥

'अचुग्' धातु उदित् होने से 'न' का आगम होने पर 'अञ्चति, अञ्चते' रूप होते हैं। कर्मणि का 'क्य' होने पर 'न-लोप' न होने पर 'अञ्च्यते' रूप होता है। 'क्त' के आदि में 'इट्' होने पर 'उदञ्चितः'। उदा. 'कुर्वन्नुदञ्चिते नेत्रे'। जबकि 'अञ्चूग्' धातु 'ऊदित्' होने से 'क्त-क्तवतु' होने पर वेट् होगा, अतः 'वेटोऽपतः' ४/४/६२ से 'इट्' निषेध होने पर 'अञ्चोऽनर्चायाम्' ४/२/४६ से 'न' का लोप होने पर 'उदक्तः' शब्द होता है। ॥७८॥

'टुयाचृग् याञ्चायाम्'। यह धातु ट्वित् होने से 'ट्वितोऽथुः ५/३/८३ से 'अथु' प्रत्यय होने पर 'याचथुः' शब्द होता है। धातु ऋदित् होने से ङपरक 'णि' होने पर उपान्त्यस्वर ह्रस्व न होने पर 'अययाचत्' रूप होगा। जबकि 'याचते' इत्यादि रूप 'टुयाचृग्' और 'डुयाचृग्'[१] दोनों धातु से सिद्ध होते हैं। ॥७९॥

'विचृंकी पृथग्भावे'। यह धातु ह्वादि (जुहोत्यादि) है। अतः हवः शिति ४/१/१२ से द्वित्व होकर, वर्तमाना अन्यदर्थक बहुवचन का 'अन्ति' प्रत्यय होने पर 'वेविचति' रूप होता है। अन्य वैयाकरण की मान्यतानुसार 'इष्टिवशात्' अर्थात् अन्य को इष्ट होने से 'निजां शित्येत्' ४/१/५७ से पूर्व का 'ए' होता है। जबकि 'वेवेक्ति' इत्यादि रूप 'विजृंकी' और 'विचृंकी', दोनों धातु के होते हैं। 'णिग्' होने पर 'वेचयति' रूप होता है। धातु ऋदित् होने से 'अङ्' प्रत्यय होकर 'अविचत्' इत्यादि रूप होते हैं। 'विवेचन, विवेकः' इत्यादि शब्द 'विचृंपी पृथग्भावे' धातु से भी होते हैं। ॥८०॥

स्वो. न्या.-: चंद्र नामक वैयाकरण 'मचि कल्कने' धातु के स्थान पर 'मुचि' धातु कहते हैं। 'अञ्चु गतौ' धातु के स्थान पर कोई 'अचूग् गतौ' कहते हैं, तो अन्य 'अचुग्' कहते हैं। ड्वित् 'डुयाचृग् याञ्चायाम्' के स्थान पर कुछेक ट्वित् 'टुयाचृग्' धातु कहते हैं। 'विजृंकी पृथग्भावे' धातु को ही कुछेक (सभ्य) चकारान्त मानते हैं।

न्या. सि.-१. यहाँ 'न्यायसंग्रह' की मुद्रित प्रति में 'टुयाचृग्' पाठ दिया है किन्तु वह उचित नहीं है। श्रीलावण्यसूरिजी ने 'डुयाचृग्' पाठ दिया है और इस न्याय के न्यास में भी 'डुयाचृग्' पाठ दिया है, जो पूर्वोक्त 'टुयाचृग्' से भिन्न होने से सही है।

'चर्चत् परिभाषणे, चर्चति'। 'नाम्नि पुंसि च' ५/३/१२१ से 'णक' प्रत्यय होकर ['आप्' होने पर] 'चर्चिका' शब्द होता है। 'शतृ' प्रत्यय होने पर 'चर्चती चर्चन्ती स्त्री कुले वा'। यहाँ 'अवर्णादश्नोऽन्तो वाऽतुरीङ्योः' २/१/११५ से विकल्प से 'अत्' का 'अन्त्' आदेश होता है। ॥८१॥

स्वो. न्या.-: 'झर्चत् परिभाषणे' धातु के स्थान पर कुछेक 'चर्चत्' पाठ करते हैं।

'खचश् भूतप्रादुर्भावे'। 'भूतप्रादुर्भाव' अर्थात् अतिक्रान्त की पुनः उत्पत्ति। 'तवर्गस्य'-१/३/६० से 'श्ना' प्रत्यय के 'न' का 'ञ' होने पर 'खच्ञाति' रूप होता है। पंचमी (आज्ञार्थ) युष्मदर्थक एकवचन का 'हि' प्रत्यय होने पर 'श्ना' सहित 'हि'' का 'आन' आदेश होकर 'खचान' रूप होता है, [सेट् होने से] 'खचिता, खचितुम्' इत्यादि शब्द होते हैं। ॥ ८२॥

'गुर्चण् निकेतने'। 'भ्वादेर्नामिनो'-२/१/६३ से 'उ' दीर्घ होकर 'गूर्चयति' होता है। ॥ ८३॥

छ अन्तवाला 'पिच्छत् बाधने' धातु है। 'पिच्छति, पिपिच्छ, पिच्छिता, पिच्छितुम्' इत्यादि प्रयोग होते हैं। 'शतृ' प्रत्यय होने पर 'पिच्छन्ती, पिच्छती स्त्री कुले वा' होता है। 'अच्' प्रत्यय होने पर 'पिच्छा आचामः' शब्द होता है। ॥८४॥

ज अन्तवाले सात धातु हैं। 'लुजु हिंसाबलदाननिकेतनेषु'। यह धातु 'उदित्' होने से 'लुञ्जति' रूप होता है। 'क्य' होने पर 'न' का लोप न होकर 'लुञ्ज्यते' रूप होता है। ॥८५॥

'ध्रिज गतौ, ध्रेजति'। 'यङ्' होने पर 'देध्रिज्यते'। 'यङ् लोप' होने पर 'देध्रिजीति, देध्रेक्ति' रूप होता है। 'धृज्' धातु के 'धर्जति, दरीधृज्यते' इत्यादि रूप होते हैं। ॥ ८६॥

'रिजि गतिस्थानार्जनोर्जनेषु'। 'ऊर्जनं' अर्थात् प्राणनम्। 'इट्' आगम होने से वह 'इट्' अनित्य है, अतः उसके अभाव में 'उद्रिक्तः' शब्द होता है। ॥८७॥

'ओनजैङ् व्रीडे, नजते'। 'ओदित्' होने से 'क्त' के 'त' का 'न' होगा और ऐदित् होने से 'डीयश्व्यैदितः-४/४/६१ से 'क्तक्तवतु' के आदि में 'इट्' का निषेध होने से 'नग्नः'। स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होकर स्त्रीलिङ्ग में 'आप्' प्रत्यय होने पर 'नग्निकाऽरजाः स्त्री'। 'प्रानजिष्ट' यह धातु णोपदेश नहीं है, अतः 'अदुरुपसर्गान्त'-२/३/७७ से 'ण' नहीं होगा। ॥८८॥

'मृजैकि संपर्चने, मृक्ते'। यह धातु 'ऐदित्' होने से 'डीयश्व्यैदितः'-४/४/६१ से 'क्त, क्तवतु' के आदि में 'इट्' का निषेध होने पर 'मृक्तः, मृक्तवान्' शब्द होते हैं ॥८९॥

'वृजैप् वर्जने'। 'रुधां स्वराच्छ्नो नलुक् च' ३/४/८२ मे 'श्न' प्रत्यय होने पर 'अन्ति' (वर्तमाना, अन्यदर्थक बहुवचन) प्रत्यय होकर 'वृञ्जन्ति'। परोक्षा में 'ववर्ज' रूप होगा। 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'ज' का 'ग' होकर 'वर्गः' शब्द होता है। 'वृणक्ति' इत्यादि रूप तो, 'वृचैप् छरणे' धातु

से भी होते हैं । ॥९०॥

स्वो. न्या.-: 'खवश्' [हेठश्वत्] धातु को ही यहाँ चकारान्त माना है और 'हेठश्' धातु 'भूतप्रादुर्भाव' अर्थ में होने से, यह धातु भी उसी अर्थ में है । 'गुर्चण्' धातु को भी कुछेक अतिरिक्त मानते हैं । द्रमिल नामक वैयाकरण के मत से 'मिच्छत् उत्क्लेशे' धातु के 'म' का 'प' करने से 'पिच्छत्' धातु होता है । 'धातुपारायण' में 'उत्क्लेश' का अर्थ बाधा/पीडा दिया है ।

'तजु पिजुण् हिंसाबलदाननिकेतनेषु' धातुओं की तरह 'लुजु' धातु है, ऐसा कुछेक कहते हैं ।

'धृज गतौ' धातु को ही कुछेक 'ध्रिज' ऐसा उपान्त्य रिवाला मानते हैं ।

कुछेक ऐसा कहते हैं कि 'उद्रिक्तः' इत्यादि शब्दों की सिद्धि के लिए 'ऋजि गतिस्थानार्जनोर्जनेषु' धातु को 'रिजि' स्वरूप व्यंजनादि किया है । जबकि आचार्यश्री ने तो 'रिचृंपी विरेचने' धातु से ही 'उद्रिक्तः' इत्यादि शब्दों की सिद्धि की है ।

'ओलजैङ् व्रीडे' धातु को ही चंद्र नामक वैयाकरण नकारादि मानते हैं ।

कौशिक नामक वैयाकरण 'पृचैङ् सम्पर्चने' धातु को ही 'मृजैकि' स्वरूप में मानते हैं ।

वृचैप् वरणे' धातु को ही कोईक जकारान्त मानते हैं और उसका 'वर्जन' अर्थ करते हैं ।

'मर्जण् शब्दे, मर्जयति' । 'क्त' प्रत्यय होने पर 'मार्जिता रसाला' (श्रीखंड)[१] ॥९१॥

ट अन्तवाले तेरह धातु हैं । 'शौटृ गर्वे, शौटति' । परोक्षा में 'शुशौट' । ऋदित् होने से [प्रेरक अद्यतनी में] ङपरक 'णि' होने पर 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से ह्रस्व नहीं होगा, अतः 'अशुशौटत्' रूप होगा ॥९२॥

'यौटृ सम्बन्धे', सम्बन्ध अर्थात् श्लेषः । 'यौटति, युयौट' । 'ऋदित्' होने से प्रेरक अद्यतनी में 'अयुयौटत्' रूप होगा । 'णक' प्रत्यय होने पर 'यौटकं युग्मम् यौटितः' । ॥९३॥

'मट्टृ, म्रेट्टृ, म्लेट्टृ, लौट्टृ उन्मादे' । 'मेटति, म्रेटति, म्लेटति, लौटति' रूप होते हैं । ये सब धातु 'ऋदित्' होने से प्रेरक अद्यतनी में 'अमिमेटत्' ॥९४॥ 'अमिम्रेटत्' ॥९५॥ 'अमिम्लेटत्' ॥९६॥ 'अलुलौटत्' ॥९७॥ रूप होते हैं ।

'स्फटु विशरणे' यह धातु उदित् होने से 'न' का आगम होने पर 'स्फण्टति वस्त्रम्' । कर्मणि का कित् प्रत्यय होने पर 'न' का लोप नहीं होगा, अतः 'स्फण्ट्यते' । परोक्षा में 'पस्फण्ट' प्रेरक में 'णिग्' या स्वार्थ में 'णिच्' होने पर 'स्फण्टयति' । ॥९८॥

'मुटु प्रमर्दने', धातु 'उदित्' होने से 'न' का आगम होने पर 'मुण्टति' रूप होता है । 'अच्' होने पर 'मुण्टः' शब्द होता है । उदा. "ते हुन्ति कुण्टमुण्टा"[२] ॥९९॥

---

१. अभिधान चिन्तामणि-श्लोक नं. ४०३ ।

२. 'हुन्ति' शब्द से लगता है कि यही पंक्ति संभवतः प्राकृत काव्य की है ।

'नट नृत्तौ', यह धातु णोपदेश नहीं है अतः ['अदुरुपसर्गान्त'-२/३/७७से] णत्व नहीं होगा अतः 'प्रनटति'। 'णि' होने पर 'प्रनाटयति'। यह धातु 'नृति' अर्थ में ही घटादि माना गया है* अतः यहाँ उसका स्वर ह्रस्व नहीं होता है। णोपदेश धातु के 'प्रणटति, प्रणाटयति' इत्यादि प्रयोग में णत्व होता है। ॥१००॥

'णटि नतौ च', 'च कार' से नृति अर्थ भी लेना। 'पाठे धात्वादेः'-२/३/९७ से 'ण' का 'न' होने पर 'नटते'। यह धातु णोपदेश होने से 'अदुरुपसर्गान्त'-२/३/७७ से ण होने पर 'प्रणटते' प्रयोग होता है। परोक्षा में 'नेटे, नेटाते, नेटिरे' रूप होते हैं। ॥१०१॥

स्वो. न्या.-: 'मार्जण् शब्दे' धातु की तरह 'मर्जण्' धातु भी कुछेक कहते हैं।' 'शौड़ गर्वे' इत्यादि छः धातु, जो भ्वादि गण में डकारान्त हैं, वे सब अन्य वैयाकरण के मत से टकारान्त हैं। 'स्फट विशरणे' और 'मुट प्रमर्दने' धातु दूसरे के मत से उदित् हैं।

'णट नृत्तौ' धातु को ही कुछेक णोपदेश नहीं मानते हैं। 'धातुपारायण' में कहा है कि नन्दी के मत से भ्वादि गण का 'नटि' धातु आत्मनेपदी है और भ्वादि गण में 'नटि' धातु दो हैं , कैसे? एक घटादि गण पठित नति अर्थात् नमन अर्थवाला और दूसरा अघटादि-नृत्य अर्थवाला है, अतः दोनों धातु से आत्मनेपद होता हैं, ऐसा बताने के लिए यहाँ 'णटि नतौ च' कहा है।

'अट्टि, अट्ति हिंसाऽतिक्रमयोः'। 'अतिक्रम' अर्थात् उल्लङ्घन। 'सन्' प्रत्यय होने पर उसके आदि में 'इट्' होगा और 'ट्टि' का द्वित्व होकर 'व्यञ्जनस्यानादेः'-४/१/४४ से 'ट' का लोप होकर 'अतिट्टिषते' रूप होता है। 'द्' उपान्त्य में है ऐसे 'अद्ट' धातु से 'सन्' प्रत्यय होने पर उसके आदि में 'इट्' होकर, 'न बदनं'-४/१/५ से 'द' के द्वित्व का निषेध होने पर और 'स्वरादे' :-४/१/४ से द्वितीय अंश 'टि' का द्वित्व होगा और 'तवर्गस्य'-१/३/६० से 'द' का 'ड' करके 'अघोषे प्रथमोऽशिटः'-१/३/५० से 'ड' का 'ट' करके 'अट्टिटिषते' रूप होता है। 'अट्टते' इत्यादि रूप दोनों प्रकार के धातु से होते हैं। इस प्रकार ही 'अट्ति' धातु के रूप भी ज्ञातव्य हैं। ॥१०२॥

'अट्ति' धातु से 'सन्' प्रत्यय के आदि में 'इट्' होने पर 'ट्ति' का द्वित्व होगा और 'व्यञ्जनस्यानादेः'-४/१/४४ से 'त' का लोप होने पर 'अटिट्टिषते' रूप होता है। 'क्विप्' प्रत्यय होने पर 'पदस्य' २/१/८९ से संयोगान्त का लोप होने पर 'अट्' रूप होता है। जबकि 'अद्ट' धातु का क्विप् होने पर 'अत्' रूप होता है।

यहाँ 'अट्त्' धातु 'त' अन्तवाला है तथापि 'अट्टि' धातु के साथ समानार्थक होने से 'ट' अन्तवाले धातु के साथ पाठ किया है। इस प्रकार ही आगे भी जहाँ पाठ में व्यतिक्रम पाया जाता हो, वहाँ यही कारण समझ लेना। ॥१०३॥

'मिटुण् स्नेहने'। 'स्नेहन' अर्थात् स्नेह का योग। यह धातु 'उदित्' है, अतः 'न' का आगम होने पर 'मिण्टयति' रूप होता है। ॥१०४॥

★ न्या. सि.- 'नट नृतौ' धातु 'नृति' अर्थ में ही दिया है, अतः यहाँ 'नृतावेवास्य घटादित्वादत्र न ह्रस्वः' के स्थान पर 'नतावेवास्य' होना चाहिए। श्रीलावण्यसूरिजी ने 'नतावेवास्य' पाठ दिया है।

'सुट्टण् अनादरे,' षोपदेश धातु न होने से अद्यतनी में ङपरक 'णि' होने पर षत्व नहीं होगा और 'असुसुट्टत्' रूप होगा । इस प्रकार ही 'सन्' होने पर 'सुसुट्टयिषति' रूप होगा । जबकि षोपदेश धातु के 'असुषुट्टत्, सुषुट्टयिषति' इत्यादि रूप होते हैं । 'सुट्टयति' इत्यादि रूप दोनों प्रकार के धातु से होते हैं । ॥१०५॥

'शटि शलिण् श्लाघायाम्' । 'शाटयते' । अच् होने पर 'शाटः' और 'णिवेत्त्यास'-५/३/१११ से 'अन' प्रत्यय होने पर 'शाटना' शब्द होगा । ॥१०६॥

'शालिण्' का 'शालयते' रूप होता है ॥१०७॥

ठ अन्तवाले दो धातु हैं । 'रुठि प्रतीघाते', यह धातु द्युतादि है । 'रोठते, रुरुठे' इत्यादि रूप होते हैं । अद्यतनी में 'द्युद्भ्यः'-३/३/४४ से विकल्प से आत्मनेपद होगा और बाद में 'शेषात्'-३/३/१०० से परस्मैपद भी होगा, अतः परस्मैपद में 'लृदिद्द्युतादि'-३/४/६४ से 'अङ्' होने पर 'अरुठत्' होगा । जबकि आत्मनेपद में 'अङ्' न होकर [सिच् होगा] 'अरोठिष्ट' रूप होगा । ॥१०८॥

स्वो. न्या.-: 'अर्द्टि हिंसातिक्रमयोः' धातु जिसके उपान्त्य में 'द्' है, उसी धातु को 'त्' उपान्त्य और टकारान्त स्वरूप कुछेक मानते हैं । 'मिदुण् स्नेहने' धातु को ही कुछेक टकारान्त मानते हैं । 'षुट्टण् अल्पीभावे' धातु को ही कुछ लोग 'अनादर' अर्थ में अषोपदशे मानते हैं । 'शठिण् श्लाघायाम्' धातु को ही नन्दी वैयाकरण 'शट्' के रूप में मानते हैं, जबकि कौशिक नामक वैयाकरण 'शल्' धातु के रूप में मानते हैं । द्युतादि गण के 'रुटि' प्रतीघाते धातु को ही अन्य वैयाकरण ठकारान्त मानते हैं ।

'वुठुण् हिंसायाम्', यह धातु 'उदित्' होने से 'न' का आगम होने पर 'वुण्ठयति' रूप होता है । ॥१०९॥

न्या. सि. श्रीलावण्यसूरिजी 'वुठुण् हिंसायाम्' के स्थान पर 'चुठुण् हिंसायाम्' पाठ देते हैं ।

ड अन्तवाले दश धातु हैं । 'चुडु अल्पीभावे', 'उदित्' है, अतः 'न' का आगम होकर 'चुण्डयति, चुचुण्ड' इत्यादि रूप होते हैं । 'अच्' होने पर 'चुण्डः' शब्द होता है । ॥११०॥

'पिड संघातशब्दयोः' । 'अच्' होने पर 'पेडा' शब्द वस्त्रादिभाजनविशेष अर्थ में होता है । ॥१११॥

'कड्ड कार्कश्ये' । 'क्विप्' होने पर 'पदस्य' २/१/८९ से संयोगान्त का लोप होने पर 'विरामे वा' १/३/५१ से 'ड्' का 'ट्' विकल्प से होकर 'कट्, कड्' रूप होंगे । जबकि 'कद्ड्' धातु के 'कद्, कत्' रूप होते हैं और 'कड्डति' इत्यादि रूप दोनों धातु के समान ही होते हैं । ॥११२॥

'अड्ड अभियोगे', 'क्विप्' होने पर पूर्व की तरह 'अड्, अट्' शब्द होते हैं । 'सन्' प्रत्यय होने पर, उसके आदि में 'इट्' होगा, बाद में 'ड्डि' का द्वित्व होने पर 'अडिड्डिषति' रूप होगा । जबकि 'अद्ड्' धातु से 'क्विप्' होने पर 'अद्, अत्' रूप होंगे और 'सन्' होने पर 'न बदनं'-४/१/५ से 'द' के द्वित्व का निषेध होने से 'डि' का ही द्वित्व होगा और 'अड्डिडिषति' रूप होगा । 'अड्डति' इत्यादि रूप दोनों प्रकार के धातु से समान ही होते हैं । ॥११३॥

'चुड्ड हावकरणे'। 'हाव' अर्थात् भाव का सूचन। 'क्विप्' होने पर पूर्व की तरह 'चुड्, चुट्'। जबकि 'चुदड्' धातु से 'क्विप्' होने पर 'चुद्, चुत्' शब्द होते हैं। 'चुड्डति' इत्यादि रूप दोनों धातु के समान ही होते हैं। ॥११४॥

'तुड्ड तोडने'। 'तोडन' अर्थात् दारण (चोरना/फाडना)। उदा. 'कविरहस्य' में "तुड्डत्यंहः सकलमचिरात्तोडयत्यश्रियं" [वह सकल पाप का नाश करता है और जल्दी से अकल्याण का भी नाश करता है।] ॥११५॥

स्वो. न्या.-: 'वुधुण् हिंसायाम्' धातु को ही कुछेक ठकारान्त मानते हैं। 'चुटु अल्पीभावे' धातु को ही कुछेक डकारान्त मानते हैं। 'पेडा' शब्द की सिद्धि के लिए कुछेक 'पिट शब्दे' धातु को ही डकारान्त मानते हैं। जबकि आचार्यश्री ने 'पेलृ गतौ' धातु से 'अच्' प्रत्यय करके 'पेला' शब्द सिद्ध किया है और 'ड' तथा 'ल' का ऐक्य प्रसिद्ध ही है। 'कदड् कार्कश्ये' इत्यादि तीन धातु जो 'द' उपान्त्यवाले हैं, उसे ही कुछेक 'ड्' उपान्त्यवाला मानते हैं। 'तुड्' धातु को ही कोई-कोई संयुक्त 'ड्ड' अन्तवाला मानते हैं।

'ञिक्ष्विडा अव्यक्ते शब्दे'। 'क्ष्वेडति, अक्ष्वेडीत्'। 'ञीत्' होने से 'ज्ञानेच्छार्चार्थञीच्छील्यादिभ्यः क्तः' ५/२/९२ से वर्तमानकाल अर्थ में 'क्त' प्रत्यय होने पर 'क्ष्विड्ढः'। यहाँ यह धातु आदित् होने से 'आदितः' ४/४/७१ से 'इट्' का निषेध होगा। 'अच्' प्रत्यय होने पर 'क्ष्वेडः' शब्द विष अर्थ में होगा। 'गेहे एव क्ष्वेडति' अर्थ में 'ग्रहादिभ्यो णिन्' ५/१/५३ से 'णिन्' प्रत्यय होगा और 'पात्रेसमितेत्यादयः ३/१/९१ से सप्तमी तत्पुरूष समास होगा और उससे ही सप्तमी का अलुक् होगा, अतः 'गेहेक्ष्वेडी' शब्द होगा। 'भिदादि' होने से 'अङ्' होकर 'क्ष्वेडा' शब्द सिंहनाद अर्थ में होता है। ॥११६॥

'ञिक्ष्विडाङ् मोचनस्नेहनयोः'। 'क्ष्वेडते'। यह धातु द्युतादि है, अतः अद्यतनी में 'द्युद्भ्यः'-३/३/४४ से विकल्प से आत्मनेपद होता है, अतः जब आत्मनेपद नहीं होगा तब 'शेषात्'-३/३/१०० से परस्मैपद होगा, तब यह धातु द्युतादि होने से [लृदित् द्युतादिपुष्यादेः-३/४/६४ से] 'अङ्' होने पर 'अक्ष्विडत्' रूप होता है और आत्मनेपद होगा तब 'अङ्' न होकर, 'सिच्' होगा और 'अक्ष्वेडिष्ट' रूप होगा। शीलादि अर्थ में 'इङितो'-५/२/४४ से 'अन' प्रत्यय होने पर 'प्रक्ष्वेडनः' शब्द सर्वलोहमय बाण अर्थ में होता है। ॥११७॥

'अडट् व्यापतौ', 'अड्णोति' इत्यादि रूप होते हैं। ॥११८॥

स्वो. न्या.-: 'णद ञिक्ष्विदा अव्यक्ते शब्दे' धातु परस्मैपदी है। 'ञिक्ष्विदाङ् मोचनस्नेहनयोः' धातु जो द्युतादि गण में है, वह आत्मनेपदी है, उन्हीं दोनों धातुओं को यहाँ ड अन्तवाले बताये हैं। यहाँ पूर्वपक्ष स्वरूप शंका करते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि यहाँ लाघव के लिए द्युतादि गण के डकारान्त क्ष्विडि धातु को 'गित्' करने से ही उभयपद की प्राप्ति हो सकती है, तो 'ञिक्ष्विडाग्' पाठ क्यों न किया ? और यहाँ ऐसा भी न कहना चाहिए कि ङित् क्ष्विड धातु ओर अङित् 'क्ष्विड' धातु में अर्थभेद है, अतः ऊपर बताया उसी प्रकार से पाठ करना संभव नहीं है क्योंकि धातुओं का अनेकार्थत्व प्रतीत ही है, अतः यहाँ अर्थ भेद अविरोधी है।

इसी शंका का प्रत्युत्तर देते हुए श्रीहेमहंसगणि कहते हैं कि आप की बात सत्य है कि द्युतादि गण के 'ञिक्ष्विड्' धातु को उभयपदी करने से एक ही पाठ से 'प्रक्ष्वेडन' को छोड़कर सभी प्रयोगों की सिद्धि होती है किन्तु 'प्रक्ष्वेडन' शब्द की सिद्धि के लिए 'क्ष्विड्' धातु को 'ङित्' करना आवश्यक है क्योंकि बिना 'ङित्त्व', 'अन' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती है, अतः 'ङित्' पाठ करने के बाद 'क्ष्वेडति' इत्यादि की सिद्धि के लिए अङित् 'क्ष्विड' धातु का पाठ भी पाया जाता है, अतः यहाँ न्याय में दोनों प्रकार के धातुओं का भिन्न भिन्न पाठ किया है ।

'ओलडु, लदुण् उत्क्षेपे,' यह धातु 'उदित्' होने से 'न' का आगम होने पर 'लण्डयति' रूप होता है । 'क्त' और 'क्तवतु' होने पर 'सेट्क्तयोः' ४/३/८४ से 'णि' का लोप होगा और यह धातु 'ओदित्' होने से 'इट्' का व्यवधान होने पर भी 'सूयत्याद्योदितः' ४/२/७० से 'क्त' और 'क्तवतु' के 'त' का 'न' होकर 'लण्डिनः, लण्डिनवान्' शब्द होते हैं । 'णिवेत्त्यास'-५/३/१११ से 'अन' प्रत्यय होने पर 'लण्डना' शब्द होता है । 'णिच्' अनित्य होने से 'णिच्' के अभाव में 'लण्डति' रूप होता है । 'णिच्' और 'इट्' दोनों अनित्य होने से उन दोनों के अभाव में धातु 'ओदित्' होने से 'क्त' और 'क्तवतु' के 'त' का 'न' करने पर और 'तवर्गस्य'-१/३/६० से 'न' का 'ण' होकर 'लण्ड्णः लण्ड्णवान्' शब्द होते हैं । यदि 'ओ' को अनुबन्ध न माना जाय किन्तु धातु का एक अंश ही माना जाय तो 'ओलण्डयति, ओलण्डति, ओलण्डितः, ओलण्डितवान्, ओलण्डना' इत्यादि शब्द होते हैं । ॥११९॥

'लदुण्' धातु 'उदित्' होने से 'अवलन्दयति' रूप होता है । ॥१२०॥

'त्रुडिण् छेदने' 'उत्त्रोडयते तृणम्' ॥१२१॥

ण अन्तवाले चार धातु हैं । 'फण गतौ', यह धातु 'घटादि' न होने से 'णि' होने पर 'फाणयति गां' होता है । गति अर्थ में होने पर भी अघटादि होने से 'घटादेः'-४/२/२४ से ह्रस्व नहीं होता है । 'धातु अनेक अर्थवाले होते हैं' न्याय से निःस्नेहन अर्थ में भी यह धातु है । उदा. 'फाणयति घटम्' अर्थात् [वह घडा को स्नेह (स्निग्धता) रहित करता है ।] फाण्यते द्रवत्वाद् इति फाणितं खण्डश्चोतः [मसका (दही) के जल स्वरूप अंश को सुखा दिया ।]

घटादि 'फण' धातु के 'घटादेर्ह्रस्वः'-४/२/२४ से ह्रस्व होने पर 'फणयति, फण्यते, फणितं' इत्यादि रूप होते हैं । जबकि 'फणति' इत्यादि दोनों प्रकार के 'फण्' धातु से सिद्ध होते हैं । ॥१२२॥

'अणिच् प्राणने', प्राणनं अर्थात् जीवनम् । 'अण्यते, आणे' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१२३॥

'घृणू घणूयी दीप्तौ', 'तिक्कृतौ नाम्नि' ५/१/७१ से 'तिक्' प्रत्यय होगा, बाद में 'अहन्पञ्चमस्य क्वि क्ङिति'-४/१/१०७ से स्वर दीर्घ होने की प्राप्ति है किन्तु 'न तिकि दीर्घश्च' ४/२/५९ से निषेध होने से दीर्घ नहीं होगा और इसी सूत्र से ही 'यमि रमि नमि गमि हनि मनि वनति तनादेर्धुटि क्ङिति' ४/२/५५ से प्राप्त 'ण' का लोप भी नहीं होगा और 'तवर्गस्य'-१/३/६० से 'त' का 'ट' होने पर 'घृण्टिः' शब्द होता है ।

न अन्तवाले 'घृन्' धातु से 'तिक्' प्रत्यय होने पर 'न तिकि'-४/२/५९ से दीर्घ और 'न लुक्'

का निषेध होने पर, 'म्नां धुड्वर्गे'-१/३/३९ से 'ण' के अपवाद में 'न' का 'न' ही रहेगा और 'घृन्तिः' शब्द होगा ।

और यह धातु 'ऊदित्' होने से 'क्त्वा' प्रत्यय के आदि में विकल्प से 'इट्' होगा और 'सेट् क्त्वा' प्रत्यय के 'कित्त्व' का 'क्त्वा' ४/३/२९ सूत्र से निषेध होने पर 'घर्णित्वा' प्रयोग होगा । जब 'इट्' नहीं होगा तब 'यमिरमिनमि'-४/२/५५ से अंत्य व्यंजन का लोप होने पर 'घृत्वा' शब्द होगा ।

स्वो. न्या. -: 'अड्ट्' धातु अतिरिक्त/ज्यादा है । 'ओलड्डुण्' धातु के 'ओ' कार को कुछेक वैयाकरण धातु के अंश के स्वरूप में नहीं मानते । चांद्र परम्परा में 'ओलुडुण्' की तरह 'लदुण्' धातु भी है । 'त्रुटिण् छेदने' धातु को अन्य कुछेक वैयाकरण डकारान्त मानते हैं । 'फण' धातु सिद्धहेम में घटादि गण में है, जबकि अन्य वैयाकरण की मान्यतानुसार वह अघटादि है । 'अनिच्' प्राणने धातु को ही अन्य वैयाकरण णकारान्त मानते हैं ।

यह धातु 'वेट्' है, अत एव 'इट्' नहीं होगा, अतः 'घृतः, घृतवान्' तथा 'क्ति' प्रत्यय होने पर 'यमिरमिनमि'-४/२/५५ से अंत्य 'ण' का लोप होकर 'घृतिः' शब्द होता है ।

'तिव्' इत्यादि प्रत्यय होने पर 'घर्णोति, घर्णुते' इत्यादि रूप नकारान्त और णकारान्त (दोनों प्रकार के) धातु से समान ही होते हैं । ॥१२४॥

'घणूयी' धातु के 'घणुते, घणोति, जघाण, जघणे' रूप होते हैं । यह धातु 'ऊदित्' होने से 'क्त्वा' प्रत्यय के आदि में विकल्प से 'इट्' होगा । जब 'इट्' होगा तब 'घणित्वा' होगा और 'इट्' नहीं होगा तब 'यमि रमि नमि-' ४/२/५५ से 'ण' का लोप होने पर 'घत्वा' और 'वेट्' होने से ही 'क्त' और 'क्तवतु' के आदि में 'इट्' न होने पर 'घतः, घतवान्,' रूप होंगे । ॥१२५॥

त अन्तवाले छः धातु हैं । 'इतु बन्धने,' 'उदित्' होने से 'न' का आगम होने पर 'इन्तति' रूप होगा । जबकि कर्मणि प्रयोग में 'क्य' प्रत्यय होने पर 'न-लोप' का अभाव होने से 'इन्त्यते' रूप होता है । 'गुरुनाम्यादे'-३/४/४८ सूत्र से परोक्षा में 'आम्' होने पर 'इन्ताञ्चकार' रूप होता है । ॥१२६॥

'ज्युति भासने' । उणादि का 'इस्' प्रत्यय होने पर 'ज्योतिः' शब्द होता है । ॥१२७॥

'कितक् ज्ञाने' यह धातु ह्वादि (जुहोत्यादि) है, अतः 'हवः शिति' ४/१/१२ से द्वित्व होकर 'चिकेत्ति' रूप होता है । 'न न चिकेत्ति' अर्थ में 'नखादित्व' से निपातन होने पर 'नाचिकेतः' शब्द किसी मनुष्य के नाम के स्वरूप में सिद्ध होता है । जबकि 'केतति, केतनं' इत्यादि भ्वादि गण के 'कित निवासे' धातु से सिद्ध होते हैं । ॥१२८॥

स्वो. न्या.-: तनादि गण में जो 'घृणूयी दीप्तौ' धातु है, वह वस्तुतः नकारान्त ही है किन्तु 'रषृवर्णान्नो'-२/३/६३ से 'न' का 'ण' करके णकारान्त पाठ किया है, उसे कोई-कोई/कुछेक वैयाकरण स्वाभाविक णकारान्त मानते हैं ।

'घृन्ति' रूप की सिद्धि में 'ण' के अपवाद में 'म्नां धुड्वर्गे'-१/३/३९ से 'न' का 'न' ही रहता

है। उसका अर्थ यह है कि 'म्नां धुङ्वर्गे'-१/३/३९ सूत्र में 'म्नां' स्वरूप बहुवचन व्याप्ति के लिए है, अतः जितने भी 'म' या 'न' हो, उनके स्थान पर, उनके बाद आये हुए व्यंजन के वर्ग का ही अंत्य व्यंजन अर्थात् अनुनासिक ही रखा जाता है किन्तु अन्य कोई वर्ण नहीं रखा जाता है। अतः यहाँ पूर्वस्थित 'ऋ' कार के कारण प्राप्त 'न' का 'ण' नहीं होता है किन्तु उसी णत्व का बाध करने के लिए 'न' का भी पुनः 'न' किया जाता है।

शिव नामक वैयाकरण 'घृणूयी दीप्तौ' धातु को ही उपान्त्य अकारवाला और णकारान्त मानते हैं।

'पतिंच् ऐश्वर्ये, पत्यते, अधिपतिः, अपत्त[1], पत्स्यते।' धातुपारायण ग्रंथ में, यह धातु अनुस्वार की इत् संज्ञावाला होने पर भी, उसके 'अपतिष्ट, पतिष्यते' स्वरूप 'इट्' सहित उदाहरण दिये हैं, वह आगमशास्त्र की अनित्यता के कारण हो ऐसा लगता है।[2]

'वावृतूचि वरणे,' उदा. भट्टिकाव्य में 'ततो वावृत्यमाना सा'।[3] यह धातु 'ऊदित्' है, अतः 'क्त्वा' होने पर 'वेट्' माना जाता है, अतः 'वावृत्त्वा' और 'वावर्त्तित्वा' रूप होते हैं। वेट् होने से ही 'क्त' और 'क्तवतु' के आदि में 'इट्' नहीं होता है, अतः 'वावृत्तः, वावृत्तवान्' प्रयोग होते हैं। निघण्टु कोश में कहा है "वृत्ते तु वृत्तवावृत्तौ" ॥१३०॥

'ष्वर्त्तण् गतौ' यह धातु षोपदेश होने से 'सन्' होने पर [नाम्यन्तस्था-२/३/१५] से 'स' का 'ष' होकर 'सिष्वर्त्तयिषति' रूप होगा। जबकि अषोपदेश 'स्वर्त्तण्' धातु का 'सिस्वर्त्तयिषति' रूप होता है। 'स्वर्त्तयति' इत्यादि रूप दोनों धातु से समान ही होते हैं। ॥१३१॥

थ अन्तवाले दो धातु हैं। 'पर्थ, पार्थण्, प्रक्षेपणे'। ङपरक 'णि' होने पर 'अपपर्थत्' रूप होता है। जबकि 'पृथण् प्रक्षेपणे' धातु से 'णिच्' होने पर 'लघोरुपान्त्यस्य' ४/३/४ से गुण होने पर 'अपपर्थत्' रूप होता है किन्तु 'ऋदृवर्णस्य' ४/२/३७ से 'ऋ' कार का भी 'ऋ' कार करने पर उसका 'अपीपृथद्' रूप भी होता है। जबकि 'पर्थ' धातु का दूसरा रूप नहीं होता है, इतना विशेष है। शेष 'पर्थयति' इत्यादि रूप दोनों धातु के समान ही होते हैं।

न्या. सि.-: श्रीलावण्यसूरिजी 'वावृतु विवरणे' धातुपाठ देते हैं।

१. 'अपत्त' प्रयोग श्रीलावण्यसूरिजी ने दिया है। जबकि 'न्यायसंग्रह' में 'अपत्त' प्रयोग दिया है। 'श्वयत्यसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम्' ४/३/१०३ सूत्र, अङ् होने पर ही 'पप्त' आदेश करता है। आत्मनेपद में 'अङ्' नहीं होता है, अतः 'अपप्त' प्रयोग सच्चा नहीं है। यहाँ मुद्रणदोष होने का संभव है।

२. 'अपतिष्ट, पतिष्यते' इत्यादि में हुए 'इट्' के बारे में श्रीलावण्यसूरिजी आगमशास्त्र की अनित्यता का स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि आगमशास्त्र की अनित्यता 'इट्' के अभाव में हेतु बनती है किन्तु 'इट्' करने का कारण नहीं होती है। इस धातु का सेट्त्व परमतानुसारी है, और उसी वजह से धातुपारायण में ये उदाहरण दिये हैं क्योंकि उन्होंने बतायी हुई अनिट्कारिका में इस धातु का निर्देश नहीं किया गया है।

३. पूर्ण पंक्ति इस प्रकार है। "ततो वावृत्यमाना सा, रामशालां न्यविक्षत।"
शूर्पणखा के वर्णन का यह प्रसंग है और वावृत्यमाना का अर्थ 'वरयन्ती' होता है।

स्वो. न्या.-: 'अतु बन्धने' धातु के स्थान पर कुछेक वैयाकरण 'इतु' धातु मानते हैं । 'ज्योतिः' शब्द की सिद्धि के लिए कौशिक नामक वैयाकरण 'जुतृङ् भासने' धातु के स्थान पर 'ज्युति' धातु कहते हैं । जबकि आचार्यश्री 'द्युति दीप्तौ' धातु से, 'द्युतेरादेश्च जः' (उणा. ९९१) से 'इस्' प्रत्यय करके और आदि 'द' का 'ज' करके 'ज्योतिः' शब्द की सिद्धि करते हैं । 'कितक्' धातु ह्वादि गण में अतिरिक्त है । 'तपिंच् ऐश्वर्ये' धातु में 'प' और 'त' का व्यत्यय होकर यह धातु बना है ऐसा द्रमिल कहते हैं ।

'पार्थण्' धातु का 'पार्थयति' और अद्यतनी में ङपरक 'णि' होने पर 'अपपार्थत्' रूप होता है । ॥१३३॥

द अन्तवाले आठ धातु हैं । 'पद स्थैर्ये' का 'पदति' रूप होता है ॥१३४॥

'कदिष्, क्रदिष्, क्लदिष् वैक्लव्ये' धातु के अनुक्रम से 'कदते, क्रदते, क्लदते' रूप होते हैं । ये तीनों धातु 'षित्' होने से [षितोऽङ् ५/३/१०७ से] 'अङ्' होने पर अनुक्रम से 'कदा' ॥१३५॥ 'क्रदा' ॥१३६॥ 'क्लदा' ॥१३७॥ रूप होते हैं ।

'मन्दि जाड्ये, मन्दते' । 'क्य' होने पर 'न लोप' होकर 'मद्यते' रूप होता है । ॥ १३८॥

'खुर्दि गुधि क्रीडायाम्', 'भ्वादेर्नामिनो'-२/१/६३ से दीर्घ होने पर 'खूर्दते' और परोक्षा में 'चुखूर्दे' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१३९॥

'गुधि' धातु के 'गोधते, जुगुधे' इत्यादि रूप होते हैं । 'वौ व्यञ्जना'-४/३/२५ से 'क्त्वा' और 'सन्' प्रत्यय विकल्प से 'कित्' होने पर 'गुधित्वा, गोधित्वा' और 'जुगुधिषते, जुगोधिषते' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१४०॥

'ऊवेदृग्, ऊबुन्धृग् आलोचने' । 'वेदते, वेदति' । यह धातु 'ऊदित्' होने से 'क्त्वा' होने पर 'वेट्' होगा, अतः 'वेत्त्वा, वेदित्वा' रूप होंगे और 'वेट्' होने से 'क्त, क्तवतु' के आदि में 'इट्' न होकर 'वेन्नः, वेन्नवान्' प्रयोग होंगे । वेन्ना, [बेन्ना] नदी का नाम है । 'ऋदित्' होने से विकल्प से 'अङ्' होकर 'अवेदत्' और 'अवेदीत्' इत्यादि रूप परस्मैपद में होते हैं । आत्मनेपद में 'अङ्' न होकर 'सिच्' होने पर 'अवेदिष्ट' रूप होता है । ॥१४१॥

'ऊबुन्धृग्' धातु के 'बुन्धते, बुन्धति । बुबुन्धे, बुबुन्ध । बुन्धिता बुन्धितुम्' प्रयोग होते हैं । 'ऊदित्' होने से 'क्त्वा' की आदि में विकल्प से 'इट्' होगा और 'न' का लोप होगा, अतः 'बुद्ध्वा, बुधित्वा' प्रयोग होंगे । ऋदित् होने से अद्यतनी में परस्मैपद में 'ऋदिच्छ्वि-३/४/६५ से विकल्प से 'अङ्' होने पर 'अबुधत, अबुन्धीत्' रूप होंगे । आत्मनेपद में 'अङ्' न होकर 'सिच्' होगा, अतः 'अबुन्धिष्ट' रूप होगा । ॥१४२॥

स्वो. न्या.-: कुछेक वैयाकरण 'वृतूचि वरणे' धातु के स्थान पर 'वावृतूचि वरणे' धातु मानते हैं। नन्दी वैयाकरण 'स्वर्त्तण्' धातु को षोपदेश मानते हैं । 'पृथण् क्षेपे' धातु के स्थान पर कुछेक वैयाकरण 'पर्थण्' धातु मानते हैं, तो कुछेक 'पार्थण्' धातु मानते हैं । कंठ नामक वैयाकरण 'बद स्थैर्ये ' धातु को

पकारादि मानते हैं । 'कदुङ् क्रदुङ् क्लदुङ् वैक्लव्ये', ये तीनों धातु नन्दी वैयाकरण की मान्यतानुसार अनुदित् और षित् हैं । 'मदुङ् स्तुतिमोदादौ' धातु के स्थान पर चंद्र, 'मन्दि जाड्ये' धातु कहते हैं ।

'णुदींत् प्रेरणे', यह धातु 'ईदित्' होने से फलवत्कर्ता में आत्मनेपद होता है, अतः 'नुदते, नुनुदे' इत्यादि रूप होते हैं । जबकि 'णुदंत्' धातु के 'नुदति, नुनोद' रूप ही होते हैं । यह धातु णोपदेश होने से 'प्रणुदति' इत्यादि रूप दोनों प्रकार के धातु से होते हैं । ॥१४३॥

ध अन्तवाले चार धातु हैं । 'वध हिंसायाम्, वधति' । लक्ष्य इस प्रकार है-:

"यत्र सालप्रतीकाशः कर्णोऽवध्यत संयुगे ।
तथा भक्षकश्चेन्नास्ति, वधकोऽपि न विद्यते ॥१॥"

[जहाँ युद्ध में सालवृक्ष जैसा लम्बा कर्ण मारा गया और यदि भक्षक नहीं होता है तो मारनेवाला भी नहीं होता है ।]

'वधकः' शब्द में 'ञ्णित्' कृत्प्रत्यय, 'णक' होने पर और 'अवधि' प्रयोग में 'ञिच्' होने पर 'न जनवधः' ४/३/५४ से वृद्धि का निषेध होता है, उसे छोड़कर अन्यत्र वृद्धि होती ही है । उदा. 'ववाध'[१] ॥१४४॥

'णाधृङ् याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु' । यह धातु णोपदेश होने से [अदुरुपसर्गान्त- २/३/७७ सूत्र से] णत्व होगा और 'प्रणाधते' इत्यादि रूप होंगे । अणोपदेश धातु का 'प्रनाधते' इत्यादि रूप होते हैं । ऋदित् होने से ङ परक 'णि' होने पर [उपान्त्यस्या-४/२/३५ सूत्र से] ह्रस्व नहीं होगा, अतः 'अननाधत्' इत्यादि रूप दोनों प्रकार के धातु से समान ही होते हैं ॥१४५॥

'साधंच्, षाधंट् संसिद्धौ' । 'साध्यति अन्नम्' (वह अन्न पकाता है ।) ॥१४६॥

'षाधंट्', यह धातु षोपदेश होने से 'सन्' होने पर [नाम्यन्तस्था-२/३/१५ से] षत्व होने पर 'सिषात्सति' रूप होगा । यहाँ धातु में अनुस्वार की 'इत्' संज्ञा हुई होने से 'सन्' के आदि में 'इट्' नहीं होता है । सन् परक 'णि' होने पर 'सिषाधयिषति' रूप होता है और ङ परक 'णि' होने पर 'असीषधत्' रूप होता है । अषोपदेश धातु के 'सिसात्सति, सिसाधयिषति, असीसधत्' रूप होते हैं । उसे छोड़कर 'षाधंट्' के 'साध्नोति' इत्यादि रूप होते हैं । अनुस्वार की 'इत्' संज्ञा हुई होने से 'इट्' नहीं होता है, अतः 'साद्धा, साद्धुम्' इत्यादि प्रयोग दोनों प्रकार के धातु से होते हैं । ॥१४७॥

स्वो. न्या.-: 'गुदि, गुदि क्रीडायाम्' धातु के स्थान पर कोई-कोई 'खुर्दि, गुधि क्रीडायाम्' कहते हैं । 'ऊबुंदृग् निशामने' धातु के स्थान पर कोई-कोई 'ऊवेदृग्' कहते हैं तो कोईक 'ऊबुन्धृग्' कहते हैं, तो धातुपारायण में 'निशामन' का अर्थ 'आलोचन' किया है अतः यहाँ सीधे ही स्पष्ट रूप से 'आलोचन' अर्थ दे दिया है । णुदंत् प्रेरणे धातु को कोई-कोई 'ईदित्' मानते हैं । 'वध' धातु को कुछेक अन्य अतिरिक्त/ज्यादा मानते हैं ।

न्या. सि.-: १. 'ववाध' के लिए श्रीलावण्यसूरिजी इस प्रकार उदाहरण देते हैं-:
"नूनं न सत्त्वेष्वधिको बबाध, तस्मिन् वने गोप्तरि गाहमाने ।
किन्तु यह उदाहरण उचित नहीं है क्योंकि मूल धातु 'वध' है और यहाँ प्रयुक्त उदाहरण 'बाध' धातु का है ।

न्या. सि.-: श्रीलावण्यसूरिजी ने यह श्लोक इस प्रकार दिया है-:

यत्र सालप्रतीकाशः कर्णोऽवध्यत संयुगे । तथा

नास्ति चेद् भक्षको यत्र, वधकोऽपि न विद्यते ।

अर्थात् ये दोनों उदाहरण पृथक् पृथक् ही हैं ।

'गृध वञ्चने', यह धातु 'णिच्' अन्त स्वरूप में भी इष्ट है, अतः 'प्रलम्भे गृधिवञ्चेः' ३/३/८९ से आत्मनेपद होने पर 'गर्द्धयते बटुम्' प्रयोग होता है, जबकि आचार्यश्री के मत से णिगन्त 'गृध्' से ही 'प्रलम्भे गृधि'-३/३/८९ से आत्मनेपद होता है । ॥१४८॥

न अन्तवाले दो धातु हैं । 'मन स्तम्भे', 'ममान' इत्यादि रूप होते हैं । जबकि 'मनति' इत्यादि रूप 'म्नां अभ्यासे' धातु से भी होते हैं । ॥१४९॥

'जनक् जनने' यह धातु ह्वादि (जुहोत्यादि) है, अतः 'शित्' प्रत्यय होने पर द्वित्व होकर 'जजन्ति' इत्यादि रूप होते हैं । 'जजान गर्भं मघवा' उदाहरण में 'णिग्' का अर्थ अन्तर्भूत होने से, उसका अर्थ 'इन्द्रोऽजीजनद्' होता है । परोक्षा में 'जज्ञतुः' । उदा. 'जज्ञुः पादाम्बुरुहि तव विभो' [हे विभो ! आपके चरण कमल में पैदा हुए ।] 'जनैच् प्रादुर्भावे' धातु के तो 'जायते, जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१५०॥

स्वो. न्या.-: 'नाधृङ् नाथृङ्' की तरह इस धातु को भी कुछेक णोपदेश धातु मानते हैं और 'नाथृङ्' धातु 'याञ्चा, उपताप' इत्यादि चार अर्थ में होने से, यह 'णाधृङ्' धातु भी उसी अर्थ में कहा है । कुछेक वैयाकरण 'साध्' धातु से 'श्य' प्रत्यय इच्छते हैं, अतः यहाँ दिवादि के रूप में पाठ किया है । 'साधंट् संसिद्धौ' धातु को कुछेक षोपदेश मानते हैं । 'गृधूच् अभिकाङ्क्षायाम्' धातु, जो दिवादि गण में है, उसे ही कुछेक चुरादि गण में वञ्चन अर्थ में कहते हैं । 'मनिण् स्तम्भे' धातु का 'मानयते' रूप होता है । चांद्र व्याकरण अनुसार 'मनति' रूप होता है, ऐसा 'धातुपारायण' में कहा है, उसकी सिद्धि के लिए 'मन स्तम्भे' पाठ किया है और उदाहरण भी 'मनति' दिया है किन्तु 'मनति' इत्यादि रूप 'म्नां अभ्यासे' धातु के भी होते हैं, अतः 'ममान' ऐसा विशिष्ट रूप दिया है। 'जनक् जनने' धातु ह्वादि में अतिरिक्त बताया है ।

ग्यारह धातु प अन्तवाले हैं और तीन धातु फ अन्तवाले हैं । प अन्तवाले धातु में प्रथम दो धातु घटादि हैं । 'क्षप प्रेरणे', 'णि' होने पर 'घटादेः' -४/२/२४ से ह्रस्व होने पर 'क्षपयति' रूप होता है । 'उपक्षपयति प्रावृट्' का अर्थ 'प्रावृट् आसन्नीभवति' होता है । 'ञि', और 'णम् परक णि' होने पर विकल्प से दीर्घ होने पर 'अक्षापि, अक्षपि, क्षापंक्षापं, क्षपंक्षपं' प्रयोग होता है । जबकि 'क्षपण् प्रेरणे' धातु घटादि न होने से और अकारान्त होने से उपान्त्य 'अ' की वृद्धि न होने से 'क्षपयति' इत्यादि रूप समान ही होते हैं किन्तु 'ञि' या 'णम् परक णि' होने पर 'घटादेः-' ४/२/२४ से प्राप्त दीर्घ न होने से केवल 'अक्षपि, क्षपंक्षपं' रूप ही होता है । 'अक्षापि' और 'क्षापंक्षापं' रूप नहीं होते हैं, इतनी विशेषता है । ॥१५१॥

'त्रप लज्जायाम्', यह धातु घटादि होने से 'णि' होने पर ह्रस्व होता है, अतः 'त्रपयति' रूप होता है । 'ञि' परक या 'णम् परक णि' होने पर 'अत्रपि, अत्रापि, त्रपंत्रपं, त्रापंत्रापं' प्रयोग होते हैं । 'त्रपौषि लज्जायाम्' धातु अघटादि है, अतः 'णि' होने पर उपान्त्य 'अ' की वृद्धि होने पर 'त्रापयति' इत्यादि और 'ञि' या 'णम् परक णि' होने पर 'अत्रापि, त्रापंत्रापं' प्रयोग ही होते हैं किन्तु 'अत्रपि, त्रपंत्रपं ' प्रयोग नहीं होते हैं, इतना विशेष है । ॥१५२॥

'सप समवाये' षोपदेश न होने से 'सन् परक णि' होने पर षत्व न होने से 'सिसापयिषति' रूप ही होता है । 'ङ परक णि' होने पर 'असीसपत्' रूप होता है, जबकि षोपदेश धातु के 'सिषापयिषति, असीषपत्' इत्यादि रूप होतें हैं । ॥१५३॥

'ह्रेपृङ् गतौ, ह्रेपते' । अद्यतनी में ङ परक 'णि' होने पर 'ऋदित्' होने से 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से ह्रस्व न होने पर 'अजिह्रेपत्' रूप होता है । ॥१५४॥

'तुप, तुन्प, तुफ्, तुन्फ्, रिन्फ हिंसायाम्' । 'तुपति' इत्यादि रूप होते हैं । 'तुपती, तुपन्ती स्त्री कुले वा' । यहाँ 'अवर्णादश्नो'-२/१/११५ से 'अत्' का 'अन्त्' आदेश होगा । जबकि भ्वादि गण के 'तुप्' धातु का 'तोपति' इत्यादि रूप होता है और 'ङ' तथा 'ङी' होने पर 'शतृ' के 'अत्' का 'श्यशवः' २/१/११६ से नित्य 'अन्त्' आदेश होने पर 'तुपन्ती', ऐसा एक ही रूप होता है । इस प्रकार आगे भी विचार कर लेना । ॥१५५॥

'तुन्प्' इस धातु के 'तुम्पति गौः' । 'प्रस्तुम्पति' इत्यादि प्रयोग होते हैं । 'श' होने पर 'नो व्यञ्जनस्या'-४/२/४५ से प्राप्त 'न' का लोप अन्य वैयाकरण इच्छते नहीं है, अतः 'तुम्पती, तुम्पन्ती स्त्री कुले वा' प्रयोग होता है । भ्वादिगण के 'तुम्प' धातु का 'तुम्पन्ती' एक ही रूप होता है । ॥१५६॥

'तुफ' धातु के 'तुफति' । 'तुफती, तुफन्ती स्त्री कुले वा' प्रयोग होते हैं । जबकि भ्वादि गण के 'तुफ' धातु के 'तोफति' और 'शतृ' होने पर 'तुफन्ती', ऐसा एक ही रूप होता है । ॥१५७॥

'तुन्फ' धातु का 'तुम्फति' रूप होता है । कुछेक यहाँ 'श' होने पर 'न' का लोप इच्छते नहीं है, अतः 'तुम्फती, तुम्फन्ती स्त्री कुले वा' प्रयोग होता है । भ्वादि गण के तुम्फ धातु का 'तुम्फन्ती' ऐसा एक ही रूप होता है ॥१५८॥

'रिन्फत्' धातु का 'रिम्फति' इत्यादि रूप होते हैं । 'श' होने पर 'न' का लोप नहीं होता है । परोक्षा में 'णव्' होने पर 'रिरिम्फ' इत्यादि रूप होता है । ॥१५९॥

'तृप, तृन्पत् तृप्तौ' । 'तृपति' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१६०॥

स्वो. न्या.-: आचार्यश्री ने 'क्षपि, त्रपि' अर्थात् 'क्षप् लाभण् प्रेरणे' और 'त्रपौषि लज्जायाम्' दो धातु को अघटादि माने हैं । 'षप् समवाये' धातु को अन्य वैयाकरण 'अषोपदेश' कहते हैं । 'मेपृङ् रेपृङ्' धातु गत्यर्थक है, वैसे 'ह्रेपृङ्' धातु को भी कौशिक नामक वैयाकरण गत्यर्थक मानते हैं । 'तुप, तुम्प तुफ, तुम्फ' धातु जो हिंसा अर्थ में भ्वादि गण में हैं, वे तुदादि गण में भी हैं, ऐसा अन्य वैयाकरण मानते हैं ।

'तृन्पत्-तृम्पति' । 'श' होने पर 'न' लोप नहीं होता है-'तृम्पति, तृम्पन्ती' ॥१६१॥

'स्तुप, स्तूपण् समुच्छ्राये' । 'स्तोपयति' । यह धातु षोपदेश नहीं है, अतः सन्नन्त प्रयोग में 'ष' नहीं होगा और 'तुस्तोपयिषति' रूप होगा । अद्यतनी में 'अतुस्तुपत्' रूप होता है, किन्तु षोपदेश 'ष्टुपण्' धातु के 'स्तुपयति, तुष्टुपयिषति, अतुष्टुपत्' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१६२॥

'स्तूपण्', यह धातु षोपदेश नहीं है, अतः सन् होने पर 'तुस्तूपयिषति' रूप होगा और अद्यतनी में 'ङ' होने पर 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से ह्रस्व होने पर 'अतुस्तुपत्' रूप होगा । जबकि 'स्तूपयति' इत्यादि रूप 'ष्टूपण्' धातु के भी होते हैं । ॥१६३॥

'तुपुण् अर्दने' । यह धातु 'उदित्' होने से 'न' का आगम होने पर 'तुम्पयति' इत्यादि रूप होते हैं । कर्मणि का 'क्य' प्रत्यय(कित्) होने पर 'न' लोप नहीं होगा और 'तुम्प्यते' इत्यादि रूप होते हैं । जबकि भ्वादि गण के 'तुम्प' धातु के 'न' का 'नो व्यञ्जनस्या'-४/२/४५ से लोप होकर 'तुप्यते' रूप होता है । ॥१६४॥

ब अन्तवाले तेरह धातु हैं । 'घर्ब, कन्ब, खन्ब, गन्ब, चन्ब, तन्ब, नन्ब, पन्ब, बन्ब, शन्ब, षन्ब गतौ । 'घर्बति, घर्बितः' । यह धातु क्त होने पर सेट् होने से 'क्तेटो गुरोः'-५/३/१०६ सूत्र से 'अ' प्रत्यय होने पर 'घर्बा' प्रयोग होता है । ऐसा आगे भी ज्ञातव्य है । ॥१६५॥

'कन्ब' धातु का 'कम्बति' रूप होता है । कित् प्रत्यय होने से 'न' का लोप होने पर कर्मणि प्रयोग में 'कब्यते' रूप होता है । 'कम्बितः, कम्बा' इत्यादि प्रयोग होते हैं । ॥१६६॥

'खन्ब' धातु के 'खम्बति, खब्यते, खम्बितः, खम्बा' इत्यादि प्रयोग होते हैं । ॥१६७॥

'गन्ब' धातु के 'गम्बति, गब्यते, गम्बितः, गम्बा' इत्यादि प्रयोग होते हैं । ॥१६८॥

'चन्ब' धातु के 'चम्बति, चब्यते, चम्बितः, चम्बा' इत्यादि प्रयोग होते हैं । ॥१६९॥

'तन्ब' धातु के 'तम्बति, तब्यते, तम्बितः, तम्बा' इत्यादि प्रयोग होते हैं । ॥१७०॥

'नन्ब' धातु णोपदेश नहीं है अतः 'प्रनम्बति' इत्यादि में 'न' का 'ण' नहीं होता है और 'नब्यते, नम्बितः, नम्बा' इत्यादि प्रयोग होते हैं । ॥१७१॥

'पन्ब' धातु के 'पम्बति, पब्यते, पम्बितः, पम्बा' इत्यादि प्रयोग होते हैं । ॥१७२॥

'बन्ब' धातु के 'बम्बति, बब्यते, बम्बितः, बम्बा' इत्यादि प्रयोग होते हैं । ॥१७३॥

'शन्ब' धातु के 'शम्बति, शब्यते, शम्बितः, शम्बा' इत्यादि प्रयोग होते हैं । 'णिग्' होने पर या चुरादि आकृति गण होने से 'णिच्' होने पर 'शम्बयति' रूप होता है । ॥१७४॥

स्वो. न्या.-: फ अन्तवाले तृफ और तृम्फत् धातु को अन्य वैयाकरण प अन्तवाले मानते हैं। 'ष्टूपण् समुच्छ्राये' धातु को ही कुछेक 'स्तुपण्' के रूप में मानते हैं, तो अन्य उसी धातु को ही अषोपदेश 'स्तूपण्' के रूप में मानते हैं। 'तुबुण् अर्दने' धातु जैसा ही 'तुपुण्' धातु है। जैसे 'अर्ब, कर्ब' इत्यादि धातु जैसे गत्यर्थक हैं, वैसे धर्ब धातु भी गत्यर्थक है, ऐसा कुछेक मानते हैं। कौशिक परम्परा में 'कर्ब, खर्ब' इत्यादि के रेफ के स्थान में न कार माना गया है।

'षम्ब' धातु के 'ष' का 'षः सो-'२/३/९८ से 'स' होने पर 'सम्बति, सब्यते, सम्बितः, सम्बा' इत्यादि रूप होते हैं । 'सन्' परक 'णि' होने पर, यह धातु षोपदेश होने से 'ष' होने पर 'सिषम्बयिषति' रूप होता है । ॥१७५॥

'सांबण् सम्बन्धे'। 'साम्बयति' । षोपदेश न होने से षत्व नहीं होगा, अतः 'सन्' होने पर 'सिसाम्बयिषति' रूप होगा । 'णिच्' अनित्य होने से, 'णिच्' के अभाव में 'सिसाम्बिषति' रूप होता है । 'अल्' होने पर 'साम्बः' शब्द होता है । ॥१७६॥

'कुटुंबिण् धारणे' धातु के 'कुटुम्बयते' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१७७॥

भ अन्तवाले आठ धातु हैं । 'सुंभ, नभि हिंसायाम्' । यह धातु षोपदेश नहीं है, अतः सन् परक 'णिग्' होने पर षत्व नहीं होगा और 'सुसुम्भयिषति' रूप होगा और प्रेरक अद्यतनी में 'ङ' होने पर 'असुसुम्भत्' रूप होगा । ॥१७८॥

'नभि' धातु द्युतादि है, अतः परस्मैपद में 'अङ्' होने पर 'प्रानभत्' रूप होगा और आत्मनेपद में 'अङ्' न होकर सिच् होगा और 'प्रानभिष्ट' रूप होगा क्योंकि 'द्युद्भ्यः'-३/३/४४ से विकल्प से आत्मनेपद होता है । यह धातु णोपदेश नहीं है, अतः यहाँ 'न' का 'ण' नहीं होता है । किन्तु यह धातु णोपदेश होता तो 'प्राणभत्, प्राणभिष्ट' इत्यादि प्रयोग होते हैं । ॥१७९॥

'षुंभ भाषणे च' । यहाँ 'च' से हिंसा अर्थ लेना । 'षः सो'-२/३/९८ से 'ष' का 'स' होने पर 'सुम्भति' इत्यादि रूप होते हैं । ङ परक 'णि' होने पर, षोपदेश धातु होने से 'ष' होने पर 'असुषुम्भत्' ओर सन् परक 'णि' होने पर 'सुषुम्भयिषति' रूप होता है । जबकि केवल 'षुभ्' धातु से 'सन्' होने पर षत्व होने की प्राप्ति है किन्तु 'णिस्तोरेव'-२/३/३७ सूत्र से निश्चित ही षत्व का अभाव होने पर 'सुसुम्भिषति' रूप होता है । 'कु' से युक्त षुंभ् धातु से 'अच्' होने पर 'कुसुम्भः' शब्द होता है । लक्ष्य इस प्रकार है-: "सावष्टम्भनिशुम्भसुम्भना" । ॥१८०॥

'ष्टभुङ् स्तम्भे' । यह धातु 'ट' परक 'ष' आदिवाला है । आचार्यश्री ने जिसका पाठ किया है, वह धातु प्रयोग में 'ष्टुंग्क्' की तरह 'त' परक 'स' आदिवाला है । षोपदेश करने के लिए ही 'ष्टभुङ्' ऐसा पाठ किया है, अतः 'षः सो'-२/३/९८ से 'ष' का 'स' होता है किन्तु इस धातु के 'ष' का 'स' अन्य आचार्य इच्छते नहीं हैं और यह धातु उदित् होने से 'न' का आगम होने पर 'ष्टम्भते' रूप होता है । 'कित्' प्रत्यय होने पर 'न' का लोप नहीं होता है, अतः 'ष्टम्भ्यते' रूप होता है । 'यङ्' होने पर 'टाष्टम्भ्यते' और 'यङ् लुप्' होने पर 'टाष्टम्ब्धि' रूप होता है । सन् प्रत्यय होने पर 'टिष्टम्भिषते' रूप, सन् परक 'णि' होने पर 'टिष्टम्भयिषति', अद्यतनी में ङ परक 'णि' होने पर 'अटिष्टम्भित्' रूप होते हैं ।

आचार्यश्री ने बताये हुए 'ष्टभुङ्' धातु के 'ष' का 'स' होने पर 'निमित्ताभावे-' न्याय से 'ट' का 'त' होने पर 'स्तम्भते, स्तम्भ्यते, तास्तम्भ्यते, तास्तम्ब्धि' इत्यादि रूप होते हैं और षत्व की प्राप्ति होने पर भी, 'सन्' होने पर 'णिस्तोरेव'-२/३/३७ से निश्चय ही षत्व न होने से 'तिस्तम्भिषते'

रूप होता है । जबकि णिगन्त धातु से षत्व के निषेध का अभाव होने से षत्व होगा, अतः 'तिष्टम्भयिषति' तथा ङपरक 'णि' होने पर 'अतिष्टम्भद्' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१८१॥

स्वो. न्या-: 'संबण् सम्बन्धे' धातु को कुछेक 'सांबण्' कहते हैं । चान्द्र परम्परा में 'तन्त्रिण् कुटुम्बधारणे' धातु के स्थान पर 'कुटुम्बिण्' धातु कहा है । कुछेक वैयाकरण 'शुंभ भाषणे' धातु के स्थान पर 'सुंभ' पाठ करते हैं । द्युतादि गण के 'णभि हिंसायाम्' धातु को कुछेक अणोपदेश, 'नभि' धातु के रूप में मानते हैं । पूर्वोक्त 'सुंभ' धातुको ही गुप्त नामक वैयाकरण षोपदेश मानते हैं ।

'डभु, डिभुण् संघाते' । यह धातु 'उदित्' होने से 'न' का आगम होने पर 'डम्भयति' रूप होता है । 'णिच्' अनित्य है, अतः उसके अभाव में भी उदित् होने से कित् प्रत्यय होने पर 'न-लोप' का अभाव होने से 'डम्भ्यते' रूप होगा । इस प्रकार 'डिभु' इत्यादि तीनों धातु के बारे में ज्ञातव्य है । ॥१८२॥

'डिभुण्-डिम्भयति, डिम्भ्यते' । 'अच्' प्रत्यय होने पर 'डिम्भः' शब्द होता है । ॥१८३॥

'दभु, दिभुण्, वञ्चने' । यह धातु उदित् होने से 'न' का आगम होने पर 'दम्भयति, दम्भ्यते' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१८४॥

'दिभुण्' यह धातु भी उदित् होने से 'न' का आगम होने पर 'दिम्भयति, दिम्भयते' इत्यादि रुप होते हैं ॥ १८५ ॥

म अन्तवाले दो धातु हैं । 'छद्म गतौ' । यहाँ भ्रामक/दंभी गति अर्थ लेना 'छद्मति', अद्यतनी में 'सिच्' होने पर 'अच्छद्मीत्', परोक्षा में 'णव्' होने पर 'चच्छद्म' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१८६॥

'सामण् सान्त्वने' । 'ङ' होकर अद्यतनी में 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से ह्रस्व होने पर 'असीसमत्' इत्यादि रूप होते हैं । जबकि चुरादि के अकारान्त 'सामण्' धातु का 'अससामत्' रूप होता है । ॥१८७॥

र अन्तवाले तीन धातु हैं । 'तुरक् त्वरणे,' यह धातु ह्वादि (जुहोत्यादि) है, अतः 'हवः शिति' ४/१/१२ से द्वित्व होकर 'तुतोर्त्ति' इत्यादि रूप होते हैं । ॥१८८॥

'षुरत् ऐश्वर्यदीप्त्योः' यह धातु षोपदेश होने से 'ष' होता है, अतः परोक्षा में 'सुषोर', प्रेरक अद्यतनी में 'असूषुरत्', प्रेरक इच्छादर्शक-सन् परक 'णि' होने पर 'सुषोरयिषति' इत्यादि रूप होते हैं । अषोपदेश धातु के 'सुसोर, असूसुरत, सुसोरयिषति' रूप होते हैं । 'सुरति' इत्यादि रूप दोनों धातु के समान ही होते हैं । ॥१८९॥

स्वो. न्या.-: 'डपु' और 'डिपुण्' धातुओं को अन्य वैयाकरण भकारान्त मानते हैं । 'दभ, दभु, दिभु' धातुओं को कुछेक चुरादि मानते है, ऐसा धातुपरायण में बताया है । यद्यपि वहाँ इन धातुओं का कोई विशेष अर्थ बताया नहीं है, तथापि 'आसुयुवपि'-५/१/२० सूत्र की वृत्ति में 'दभ्' धातु का वञ्चन अर्थ बताया है, अतः उसके सहचरित 'दभु' और 'दिभु' धातु का भी वही अर्थ होना चाहिए, ऐसा विचार करके हमने भी वही अर्थ बताया है । 'दभि' सौत्रधातुओं में बताया है अतः यहाँ उसका निर्देश नहीं किया गया है । 'त्सर छद्मगतौ' धातुपाठ में 'छद्म' भी धातु है, ऐसा कौशिक मानते हैं ।

'गुद्रुण् अनृतभाषणे', यह धातु उदित् होने से 'न' का आगम होकर 'गुन्द्रयति' इत्यादि रूप होते हैं । 'अच्' होने पर उत्तममुस्ता[१] अर्थ में 'गुन्द्रा' शब्द होता है । ॥१९०॥

ल अन्तवाले ग्यारह धातु हैं । इनमें से पहले दो घटादि हैं । १. 'स्खल चलने,' २. 'दल विशरणे' । 'णि' होने पर 'घटादेः'-४/२/२४ से ह्रस्व होने पर 'स्खलयति, दलयति' इत्यादि रूप होते हैं । 'ञि' या 'णम्' परक 'णि' होने पर विकल्प से दीर्घ होता है । अतः 'अस्खालि, अस्खलि, स्खालंस्खालं, स्खलंस्खलं । अदालि अदलि, दालंदालं, दलंदलं' शब्द होते हैं । घटादि न हो ऐसे 'स्खल' और 'दल' धातु के 'णि' होने पर 'स्खालयति, दालयति' तथा 'ञि' या 'णम्' परक 'णि' होने पर 'अस्खालि, स्खालंस्खालं, अदालि, दालंदालं' रूप होते हैं । 'स्खलति, दलति' इत्यादि दोनों प्रकार के धातु से समान ही होते हैं । ॥१९१-१९२॥

'स्थल स्थाने', यह धातु षोपदेश नहीं है, अतः सन् परक 'णि' होने पर 'तिस्थालयिषति' तथा प्रेरक अद्यतनी में ङपरक 'णि' होकर 'अतिस्थलत्' इत्यादि रूप होते हैं । षोपदेश धातु के 'तिष्ठालयिषति, अतिष्ठलत्' इत्यादि रूप होते हैं । 'स्थलति' इत्यादि दोनों प्रकार के धातु से समान ही होते हैं । ॥१९३॥

'बलि परिभाषणहिंसादानेषु', यह धातु औष्ठ्यादि है । 'बलते' । यह धातु वकारादि (दंत्योष्ठ्यादि) न होने से परोक्षा में एकार का निषेध 'न शस-दद-वादिगुणिनः-४/१/३० से नहीं होगा, अतः 'अनादेशादेरेकव्यञ्जनमध्येऽतः' ४/१/२४ से एत्व होने पर, द्वित्व नहीं होकर 'बेले, बेलाते, बेलिरे' इत्यादि रूप होंगे । ॥१९४॥

'षिलत् उञ्छे' ।[२] यह धातु षोपदेश है । अतः परोक्षा में 'सिषेल', प्रेरक अद्यतनी में 'असीषिलत्', प्रेरक सन्नन्त में 'सिषेलयिषति' इत्यादि रूप होते हैं । अषोपदेश धातु के 'सिसेल, असीसिलत्, सिसेलयिषति' इत्यादि रूप होते हैं । 'सिलति' इत्यादि दोनों प्रकार के धातु से होते हैं। ॥१९५॥

'पुलत् महत्त्वे, पुलति' । भ्वादि गण के 'पुल्' धातु का 'पोलति' रूप होता है । ॥१९६॥

'बल वलण् प्राणने' । प्रथम धातु ओष्ठ्यादि हैं । दूसरा दन्त्योष्ठ्यादि है, दोनों घटादि हैं । अतः 'घटादेः' ४/२/२४ से ह्रस्व होने पर 'बलयति, वलयति' रूप होते हैं । 'ञि' या 'णम् परक णि' होने पर विकल्प से दीर्घ होकर 'अबालि, अबलि, बालंबालं, बलंबलं, अवालि, अवलि, वालंवालं, वलंवलं' रूप होते हैं । ॥१९७-१९८॥

'मुलण् रोहणे, मोलयति' । 'णिच्' अनित्य होने से 'नाम्युपान्त्य'-५/१/५४ से 'क' प्रत्यय होने पर 'मुलः' शब्द होता है । ॥१९९॥

'पालण् रक्षणे' । 'पालयति' इति 'पाली', 'णि' अन्तवाले 'पाल्' धातु से उणादि का

१. मोथ नामक वनस्पति है । 'स्याद् भद्रमुस्तको गुन्द्रा' [अमरकोश-वनौषधिवर्ग. श्लो. २६०]

२. 'उञ्छ' अर्थात् 'कणश आदानम्', एक एक कण करके बीनना ।

'स्वरेभ्य इर्' (इः) (उणा-६०६) से 'इ' प्रत्यय होगा, बाद में 'ङी' होने पर 'पाली' शब्द बनता हैं । ॥२००॥

स्वो. न्या.-: यही सामण् धातु अकारान्त है, उसे चंद्र नामक वैयाकरण व्यंजनान्त मानते हैं । 'तुरक' धातु को कुछेक अतिरिक्त मानते हैं । 'सुरत् ऐश्वर्ये' धातु को अन्य कोई षोपदेश मानते हैं । 'कद्रुण् अनृतभाषणे' धातु को अन्य वैयाकरण गकारादि मानते हैं । आचार्यश्री की अपनी मान्यतानुसार 'स्खल चलने, दल विशरणे' दोनों धातु घटादि नहीं हैं । 'ष्ठल स्थाने' दूसरों की मान्यतानुसार अषोपदेश हैं ।

'गलिण् स्रावणे, गालयते, उद्गालयते' । 'णि' अन्तवाले 'गल्' धातु से उणादि का 'स्वरेभ्य इर्'(इः) (उणा-६०६) से 'इ' प्रत्यय होने पर 'गालिः', उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ङी' करने पर 'गाली' शब्द बनता है । ॥२०१॥

व अन्तवाले तीन धातु हैं । १. 'क्षीवृ निरसने, क्षीवति' । 'क्त' प्रत्यय होने पर 'क्षीवितः' होता है क्योंकि 'क्त' प्रत्यय के साथ 'क्षीवृङ्' धातु का ही 'अनुपसर्गाः क्षीवोल्लाघकृशपरिकृशफुल्लोत्फुल्लसंफुल्लाः' ४/२/८० से 'क्षीव' निपातन होता है और वही इष्ट है । ॥२०२॥

'चीवी आदानसंवरणयोः' । प्रेरक अद्यतनी में ङपरक 'णि' होने पर 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से ह्रस्व होकर 'अचीचिवत्' रूप होता है । जबकि 'चीवृग्' धातु 'ऋदित्' होने से प्रेरक अद्यतनी में ङपरक 'णि' होने पर उपान्त्य का ह्रस्व नहीं होगा और 'अचिचीवद्' रूप होगा । 'चीवते' इत्यादि रूप दोनों प्रकार के धातु से होते हैं । ॥२०३॥

'षान्त्वण् सामप्रयोगे' । यही धातु षोपदेश होने से 'स' का 'ष' होने पर 'सिषान्त्वयिषति' प्रयोग, सन् परक 'णि' होने से होता है । जबकि असोपदेश धातु का 'सिसान्त्वयिषति' प्रयोग होता है । 'सान्त्वयति' इत्यादि प्रयोग दोनों धातु के होते हैं । ॥२०४॥

श अन्तवाले चार धातु हैं । १. 'रश शब्दे' । 'रशति' । उणादि का अन प्रत्यय होकर 'रशना' शब्द मेखला अर्थात् डोर अर्थ में होगा । 'मि' प्रत्यय होने पर 'रश्मिः' तथा णित् 'इ' प्रत्यय होकर 'राशिः' शब्द बनता है । ॥२०५॥

२. 'वाशृङ् च शब्दे', ङपरक 'णि' प्रत्यय होने पर प्रेरक अद्यतनी में, धातु 'ऋदित्' होने से 'उपान्त्यस्या'-४/२/३५ से ह्रस्व नहीं होगा और 'अववाशत्' रूप होगा । जबकि 'वाशिच्' धातु का स्वर ङपरक 'णि' होने पर ह्रस्व होकर 'अवीवशत्' रूप होगा और 'वाश्यते' इत्यादि रूप दोनों प्रकार के धातु से सिद्ध होते हैं । ॥२०६॥

३. 'लशण् लषण् शिल्पयोगे' । 'लाशयति, लाषयति वा दारु' अर्थात् रंदा इत्यादि से लकडी को पतली करता है । ॥२०७॥

स्वो. न्या.-: 'भलि परिभाषणहिंसादानेषु,' धातु के स्थान पर कोई-कोई ओष्ठ्यादि 'बलि' धातु कहते हैं । यहाँ परोक्षा में 'एत्व' का निषेध दंत्योष्ठ्यादि अर्थात् वकारादि धातु का ही बताया है । 'सिलत उञ्छे' धातु को कोई-कोई षोपदेश मानते हैं । 'पुल महत्त्वे', जैसे भ्वादि है वैसे चुरादि में घटादि है,

ऐसा कोई-कोई मानते हैं । 'मूलण् रोहणे' धातु के स्थान पर नन्दी वैयाकरण 'मुलण्' पाठ मानते हैं । 'पलण् रक्षणे' धातु के स्थान पर चंद्र वैयाकरण 'पालण्' पाठ मानते हैं । यद्यपि 'पल' और 'पाल' दोनों धातु के रूप समान ही होते हैं, तथापि धातुपारायण में चंद्र वैयाकरण के मतानुसार 'पालण्' पाठ बताया है । अत: यहाँ भी हमने ऐसा ही कहा है । 'गलिण्' और 'क्षीवृ' धातु को कोई-कोई अतिरिक्त मानते हैं ।

४. 'दाशिण् दाने, दाशयते' । ङपरक 'णि' पर में होने पर अद्यतनी में 'अदीदशत' रूप होता है, जबकि 'दाशृग् दाने' धातु 'ऋदित्' होने से ङपरक 'णि' पर में होने पर उपान्त्य का ह्रस्व नहीं होता है, अत: 'अददाशत' इत्यादि रूप होते हैं । ।।२०८।।

स्वो. न्या.-: 'चीवृग् झषीवत्' धातु को कोई-कोई ऋ दित् नहीं मानते हैं, उसका केवल उभयपदित्व बताने के लए 'चीवी' पाठ किया है और 'झषी' धातु आदान तथा संवरण अर्थ में होने से, वही अर्थ हमने चीवी धातु का बताया है । 'सान्त्वण् सामप्रयोगे' धातु को कोइक षोपदेश मानते हैं । रश धातु को कोई-कोई अतिरिक्त धातु मानते हैं । वाशिच् धातु को कुछेक ऋ दित् मानते हैं । लसण् धातुको कौशिक वैयाकरण शकारान्त मानते हैं, तो अन्य वैयाकरण मूर्धन्य षकारान्त मानते हैं । दाशिण् धातु को कुछेक अतिरिक्त धातु कहते हैं ।

ष अन्तवाले आठ धातु हैं । 'खष हिंसायाम्' । 'खषति, चखाष' इत्यादि रूप होते हैं । ।।२०९।।

'सूष, शूष प्रसवे', अषोपदेश धातु होने से 'ष' नहीं होगा, अत: 'सुसूष' रूप होता है । षोपदेश धातु के 'स' का 'ष' होने पर 'सुषूष' इत्यादि रूप होते हैं । 'सूषति' इत्यादि रूप दोनों धातुओं के समान ही होते हैं । ।।२१०।।

'शूष-शूषति' । 'अच्' होने पर 'शूषा' शब्द सब्जी की एक जाति अर्थ में होता है । ।।२११।।

'घषुङ् करणे' । यही धातु 'उदित्' होने से 'न' का आगम होगा और उसका 'शिड्हेऽनुस्वारः' १/३/४० से अनुस्वार होने पर 'घंषते, जघंषे, घंषिता' इत्यादि प्रयोग होते हैं । जबकि 'घसुङ् करणे' धातु के 'घंसते, जघंसे, घंसिता' इत्यादि रूप होते हैं । ।।२१२।।

'धिषक् शब्दे', यह धातु ह्वादि है, अत: 'हवः शिति' ४/१/१२ से द्वित्व होने पर 'दिधेष्टि' इत्यादि रूप होते हैं । ।।२१३।।

'मुषच् खण्डने । मुष्यति ।' यह धातु पुष्यादि है, अत: अद्यतनी में 'अङ्' होने पर 'अमुषत्' इत्यादि रूप होते हैं । ।।२१४।।

'धूष, धूसण् कान्तीकरणे' धातु के 'धूषयति' इत्यादि रूप होते हैं । ।।२१५।।

'धूसण' धातु के 'धूसयति' इत्यादि रूप होंगे । ।।२१६।।

'धृषिण् सामर्थ्यवारणे' । इस धातु का 'धर्षयते' रूप होगा । उदा. 'धर्षयतेऽरीन्' । ।।२१७।।

छः धातु स अन्तवाले हैं । 'जर्त्स परिभाषणहिंसातर्जनेषु' । 'जर्त्सति । जर्त्सन्ती स्त्री कुले वा' । यहाँ 'श्यशवः' २/१/११६ से 'शतृ (अत्)' का 'अन्त्' आदेश नित्य होता है । धातुपारायण ग्रंथ

में 'जर्त्सति' धातु के तुदादित्व की शंका दूर करने के लिए और वह भ्वादि धातु है ऐसा बताने के लए 'जर्त्सन्ती' प्रयोग दिया है, अतः हमने भी वही प्रयोग बताया है क्योंकि धातु तुदादि होने पर ही 'अवर्णादश्नोऽन्तो'-२/१/११५ से 'शतृ'(अत्) का 'अन्त्' आदेश विकल्प से होता है और 'जर्त्सती, जर्त्सन्ती' ऐसे दो रूप हो सकते हैं । ॥२१८॥

स्वो. न्या.-: 'कष, शिष' इत्यादि धातु की तरह 'खष' भी हिंसार्थक है ऐसा कण्ठ नामक वैयाकरण कहते हैं। 'षूष प्रसवे' धातु को कोई-कोई अषोपदेश मानते हैं। तो अन्य चारक इत्यादि तालव्य शकारादि मानते हैं। चंद्र वैयाकरण 'घसुङ् करणे' धातु को मूर्धन्य षकारान्त मानते हैं। अन्य वैयाकरणों ने 'धिषक्' धातु को जुहोत्यादि में अतिरिक्त/ज्यादा बताया है। पुष्यादि गण के 'मुसच्' धातु को अन्य लोग षकारान्त मानते हैं। 'धूशण् कान्तीकरणे' धातु को ही कोई-षकारान्त मानते हैं तो अन्य कोई दंत्य सकारान्त मानते हैं। 'वृषिण् शक्तिबन्धे' धातु को ही सामर्थ्यवारण अर्थ में 'धृषिण्' के रूप में अन्य वैयाकरण मानते हैं। 'जर्त्स' धातु को दूसरे लोग अतिरिक्त/ज्यादा कहते हैं।

'ष्णुसच् अदने', 'षः सो'-२/३/९८ से 'ष' का 'स' होने पर 'स्नुस्यति' रूप होता है। यह धातु षोपदेश होने से परोक्षा में 'सुष्णोस' रूप होगा । ङ परक 'णि' पर में होने पर 'असुष्णुसत्' रूप तथा सन् परक 'णि' होने पर 'सुष्णोसयिष्यति' रूप होता है। अकेले 'ष्णुस्' धातु से 'सन्' होने पर षत्व होने की प्राप्ति है किन्तु 'णिस्तोरेव'-२/३/३७ से निश्चित ही षत्व नहीं होगा, अतः 'सुस्नुसिषति' तथा 'सुस्नोसिषति' रूप होंगे क्योंकि 'वौ व्यञ्जनादेः'-४/३/२५ से सेट् 'सन्' विकल्प से किद्वद् होता है। ऐसे सेट् 'क्त्वा' भी विकल्प से किद्वद् होने पर 'स्नुसित्वा, स्नोसित्वा' रूप होंगे । ॥२१९॥

'ष्णसूच् निरसने', यह धातु घटादि है। 'षः सो'-२/३/९८ से 'ष' का 'स' होगा और घटादि होने से 'णि' होने पर ह्रस्व होकर 'स्नसयति' रूप होगा । 'ञि' परक या 'णम् परक णि' होने पर विकल्प से दीर्घ होने से 'अस्नासि, अस्नसि, स्नासंस्नासं, स्नसंस्नसं' रूप होते हैं। यह धातु षोपदेश होने से 'सन्' परक 'णि' होने पर 'सिष्णसयिषति' रूप होता है। घटादि 'ष्णस्' धातु को छोड़कर-अन्य 'ष्णस्' धातु के-'स्नासयति, अस्नासि, स्नासंस्नासं, सिष्णासयिषति' इत्यादि रूप होते हैं। 'स्नस्यति' इत्यादि रूप दोनों धातु के समान ही होते हैं । ॥२२०॥

'दासट् हिंसायाम्' धातु के 'दास्नोति' इत्यादि रूप होते हैं । ॥२२१॥

'उध्रसूश् उञ्छे', उध्रस्नाति'। 'हि' (आज्ञार्थ-युष्मदर्थ एकवचन) होने पर 'श्ना' सहित 'हि' का 'आन' आदेश होने पर 'उध्रसान' रूप होता है। यह धातु अनेक स्वरयुक्त होने से परोक्षा में 'आम्' होकर 'उध्रसाञ्चकार', 'सन्' होने पर 'उदिध्रसिषति' और धातु 'ऊदित्' होने से 'क्त्वा' होने पर विकल्प से 'इट्' होने पर उध्रस्त्वा, उध्रसित्वा,' रूप होते हैं।

'उद्' उपसर्ग से युक्त 'ध्रस्नाति' धातु के 'उद्ध्रस्नाति, उद्ध्रसान, उद्ध्रास, उद्दिध्रसिषति, उद्ध्रस्य' इत्यादि प्रयोग होते हैं । ॥२२२॥

'उध्रसण् उत्क्षेपे' । 'उध्रासयति', अद्यतनी में 'ङ' होने पर 'औदिध्रसत्' रूप होता है । 'उद्' उपसर्ग से युक्त 'ध्रासि' धातु के 'उद्ध्रासयति, उददिध्रसत्' इत्यादि रूप होते हैं । ॥२२३॥

ह अन्तवाले पाँच धातु हैं । 'गृहौङ् ग्रहणे' । यह धातु औदित् है, अतः 'वेट्' है । अतः 'गर्ढा, गर्हिता' प्रयोग होंगे । 'वेट्' होने से 'क्त, क्तवतु' और 'क्ति' के आदि में 'इट्' नहीं होगा, अतः 'गृढ, गृढवान्, गृढिः' रूप होंगे । 'नाम्युपान्त्य'-५/१/५४ से 'क' होने पर 'गृहम्, गृहाः' प्रयोग होता है । ॥२२४॥

स्वो. न्या.-: 'ष्णुसच्' धातु को द्रमिल अतिरिक्त धातु कहते हैं । 'ष्णसुच्' धातु को कुछेक घयादि कहते है तो कुछेक अघयादि कहते हैं । 'दासट्' धातु अन्य व्याकरण में अतिरिक्त/ज्यादा है । 'ध्रसूश् उञ्छे' और 'ध्रसण् उत्क्षेपे' धातुओं को कुछेक उकारादि मानतें हैं । 'ग्लहौङ् ग्रहणे' धातु के स्थान पर कुछेक 'गृहौङ्' धातु मानते हैं ।

'स्त्रंहूङ् विश्वासे' । यह धातु द्युतादि और दंत्यादि है । परोक्षा में 'सस्त्रंहे' प्रयोग होता है । 'द्युद्भ्योऽद्यतन्याम्' ३/३/४४ से विकल्प से आत्मनेपद होने पर 'अस्त्रंहिष्ट' रूप होगा और परस्मैपद होगा तब 'अङ्' होकर 'अस्त्रहत्' होगा । यह धातु ऊदित् होने से 'क्त्वा' प्रत्यय की आदि में विकल्प से 'इट्' होगा । जब 'इट्' होगा तब सेट् क्त्वा, 'क्त्वा' ४/३/२९ से कित् नहीं होगा, अतः 'नो व्यञ्जनस्या'-४/२/४५ से न का लोप नहीं होने से 'स्त्रंहित्वा' प्रयोग होगा । 'इट्' नहीं होगा तब 'ह' का 'ढ' इत्यादि प्रक्रिया होकर, 'ढस्तड्ढे' १/३/४२ से पूर्व 'ढ' का लोप होगा और पूर्व 'अ' दीर्घ होने से 'स्त्राढ्वा' प्रयोग होगा । ॥२२५॥

'ष्टृहौ, ष्टृन्हौत् उद्यमे' । यह धातु षोपदेश होने से 'सन्' परक 'णि' होने से, 'षः सो-'२/३/९८ से कृत 'स' का 'ष' होकर 'तिष्टर्हयिषति' रूप होता है । ॥२२६॥

'ष्टृन्हौत्'-पूर्व की तरह 'ष' होने पर 'तिष्टृंहयिषति' रूप होता है । अषोपदेश 'स्तृह'-और 'स्तृंह्' धातु के अनुक्रम से 'तिस्तर्हयिषति' और 'तिस्तृंहयिषति इत्यादि प्रयोग ही होते हैं । ॥२२७॥

'दहुण् रक्षणे' । 'दंहयति' । 'णिच्' अनित्य होने से, उसके अभाव में, धातु उदित् होने से कर्मणि का 'क्य' प्रत्यय होने पर 'न' लोप नहीं होगा और 'दंह्यते' प्रयोग होगा । ॥२२८॥

क्ष अन्तवाले चार धातु हैं । 'ष्टृक्ष गतौ' । सन् परक 'णि' होने पर 'तिष्टृक्षयिषति' प्रयोग होता है, क्योंकि धातु षोपदेश है । जबकि अषोपदेश धातु का 'तिस्तृक्षयिषति' प्रयोग होता है । ॥२२९॥

'जक्षुङ् गतिदानयोः' । यह धातु घटादि है और उदित् है, अतः 'न' का आगम होने पर 'जङ्क्षते' रूप तथा कर्मणि में 'क्य' होने पर 'न' लोप नहीं होगा, अतः 'जङ्क्ष्यते' रूप होगा । परोक्षा में 'जजङ्क्ष', श्वस्तनी में 'जङ्क्षिता, और 'क्त' प्रत्यय होने पर 'जङ्क्षितः' प्रयोग होता है । 'क्तेटो गुरोः'-५/३/१०६ से 'अ' प्रत्यय होने पर 'जङ्क्षा' प्रयोग होगा । 'णि' होने पर 'जङ्क्षयति' और 'ञि' या 'णम् परक णि' होने पर 'घटादेः'-४/२/२४ से विकल्प से दीर्घ होकर 'अजाङ्क्षि,

• अजङ्क्षि, जाङ्क्षंजाङ्क्षं, जङ्क्षंजङ्क्षं' प्रयोग होते हैं । ॥२३०॥

'भक्षी अदने', धातु के 'भक्षते, भक्षति, बभक्षे, बभक्ष, भक्षितुम्, भक्षितम्' इत्यादि प्रयोग होते हैं । ॥२३१॥

'ऋक्षट् उपशमने,' धातु के 'ऋक्ष्णोति' तथा 'अच्' प्रत्यय होने पर नक्षत्र अर्थ में 'ऋक्षं' शब्द होता है । ॥२३२॥

जिन धातुओं को भ्वादि इत्यादि गण में बताये हों, तथापि चुरादि का 'णिच्' प्रत्यय करने के लिए, दूसरा अर्थ बताने के लिए, आत्मनेपद या परस्मैपद करने के लिए, या 'इट्' करने के लिए, उसे विशेषित करके अन्य वैयाकरणों ने पृथक् बताये हैं, उन्हीं धातुओं को प्राय: यहाँ बताये गये नहीं हैं, ऊपर जो कुछ बताया है, वह केवल दिग्दर्शन के लिए ही है । इसी युक्ति द्वारा चुरादि का 'णिच्' सब धातु से (बहुल-प्रकार से) होता है । और धातुओं का अनेकार्थत्व, आत्मनेपद तथा इट् की अनित्यता सब को विदित ही है ।

स्वो.न्या-: कौशिक नामक वैयाकरण द्युतादि गण के 'स्रंभूङ्' धातु को हकारान्त मानते हैं। 'स्तृहौ, स्तृंहौत् हिंसायाम्' धातु को कुछेक षोपदेश मानते हैं। 'दहुण्' धातु को कोई-कोई अतिरिक्त मानते हैं । चंद्र नामक वैयाकरण 'स्तृक्ष गतौ' धातु को षोपदेश मानते हैं । कौशिक नामक वैयाकरण घटादि गण के 'क्षजुङ् गतिदानयो:' धातु में 'क्ष' और 'ज' का व्यत्यय करके 'जक्षुङ्' पाठ करते हैं।

अन्य किसी वैयाकरण 'भ्लक्षी भक्षणे' धातु के स्थान पर 'भक्षी' पाठ करते हैं। दूसरे वैयाकरणने 'ऋक्षट्' धातु को स्वादि गण में अतिरिक्त बताया है ।

इस प्रकार अन्य वैयाकरणों ने बताये हुए धातुओं में से, जिन धातुओं के प्रतियोगी धातुएँ सिद्धहेम में हैं, वे धातु तथा अन्य वैयाकरणों ने बताये हुए अतिरिक्त धातुयें यहाँ बताये गये हैं ।

चुरादि धातु से स्वार्थ में होनेवाले 'णिच्' प्रत्यय के लिए ही अन्य वैयाकरणों ने मूळ धातु से अलग बताये हैं । उदा. 'धृंग् धारणे' धातु की तरह 'धृण् धारणे' धातु का अन्य वैयाकरणों ने पाठ किया है, अत: 'धारि' धातु के योग में 'मैत्राय शतं धारयति' प्रयोग में 'रु चिक्लृप्यर्थधारिभि: प्रेयविकारोत्तमर्णेषु' २/२/५५ सूत्र से 'उत्तमर्ण' अर्थात् 'करज लेनेवाला हो ऐसे व्यक्तिवाचक' शब्द से चतुर्थी विभक्ति सिद्ध होती है । जबकि आचार्यश्री के मत से कर्मकर्तरि प्रयोग में 'ध्रियते शतं कर्तृ तत् ध्रियमाणं कश्चित् प्रयुङ्क्ते' ऐसा विग्रह करके बहुल प्रकार से 'णिच्' प्रत्यय होने पर या स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय होने पर 'धारि' धातु बनेगा और उसके योग में चतुर्थी सिद्ध होती है ।

जो धातुओं अन्य अर्थ में, अन्य वैयाकरण द्वारा प्रयुक्त है, वे भी यहाँ बतायें हैं । उदा. 'लुठु आलस्ये च', ऐसा पाठ सिद्धहेम में है, तथापि गति अर्थ बताने के लिए 'लुठु गतौ' का पाठ पुन: किया है । अन्य वैयाकरण द्वारा प्रयुक्त आत्मनेपद बताने के लिए भी यहाँ पुन: पाठ किया गया है । उदा. 'कृत् विक्षेपे' धातु का 'धातूनामनेकार्थत्वम्' न्याय से 'विज्ञान' अर्थ होता है। बहुलाधिकार से या 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' वचनानुसार 'णिच्' प्रत्यय होकर 'कारयति' सिद्ध होता है तथापि 'कारयते' ऐसा आत्मनेपदी रूप सिद्ध

करने के लिए 'कृणि विज्ञाने' पाठ चन्द्र नामक वैयाकरण ने किया है, उसका संग्रह भी यहाँ किया गया है।

कुछेक आगमिक अर्थात् जैन धर्मग्रंथ-आगम में प्रयुक्त हो, ऐसे धातु भी पाये जाते हैं। उदा. -:

१. 'दट्ट आच्छादने, दटिता पट्टशाला' ॥१॥

२. 'विकुर्व विक्रियायाम्', 'भ्वादेर्नामिनो-' २/१/६३ से होनेवाली दीर्घविधि अनित्य होने से, उसके अभाव में यहाँ 'विकुर्वति, विकुर्वितम्, विकुर्वित्वा' इत्यादि प्रयोग होते हैं। ॥२॥

३. 'कुर्व करणे', पूर्वोक्त धातु की तरह दीर्घ न होने पर 'कुर्वति' प्रयोग होता है। यही धातु 'वि' उपसर्ग से युक्त होने पर 'क्त्वा' प्रत्यय होने पर ('क्त्वा' का यप् आदेश होकर) 'विकुर्व्य' प्रयोग होगा ॥३॥

४. 'उषण् निवासे'। यही धातु अकारान्त है। 'णिवेत्त्यास-' ५/३/१११ से 'परि'-उपसर्ग से युक्त इस धातु से 'अन' प्रत्यय होने पर 'पर्युषणा' शब्द होता है। ॥४॥

५. 'युहं उद्धरणे'। 'निर्' उपसर्गे से युक्त 'युह' धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर 'निर्यूढम्' प्रयोग होता है। ॥५॥

स्वो. न्या. -: अन्य वैयाकरण द्वारा प्रयुक्त परस्मैपद के लिए भी यहाँ पृथक् पाठ किया है। उदा. 'षचि सेचने' धातु का 'धातूनामनेकार्थत्वम्' न्याय से समवाय अर्थ होता है और 'सचते' रूप होता है तथापि 'सचति' स्वरूप परस्मैपद करने के लिए चन्द्र वैयाकरणकृत 'सच समवाये' पाठ का यहाँ निर्देश किया गया है।

'इट्' आगम के उदाहरण इस प्रकार ज्ञातव्य है -: जैसे 'उषू-दाहे' धातु आचार्यश्री के मत से 'ऊदित्' होने से 'क्त्वा' प्रत्यय पर में होने पर वह 'वेट्' होगा और 'उष्ट्वा' तथा 'उषित्वा' रूप होंगे तथा 'वेट्' होने से 'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्यय की आदि में 'इट्' नहीं होगा, अतः 'उष्टः, उष्टवान्' प्रयोग होंगे। जबकि अन्य वैयाकरण उसे 'ऊदित्' मानतें नहीं है, अतः 'उष दाहे' पाठ किया है, अतः उनके मत से 'क्त्वा' प्रत्यय की आदि में नित्य 'इट्' होगा और 'उषित्वा' रूप होगा। वेट्त्व का अभाव होने से 'क्त, क्तवतु' की आदि में नित्य 'इट्' होने से 'उषितः, उषितवान्' रूप ही होंगे। उसी प्रकार 'यमूं उपरमे' धातु को आचार्यश्री ऊदित् मानते हैं, अतः 'क्त्वा' प्रत्यय की आदि में विकल्प से 'इट्' होने पर 'यन्त्वा, यमित्वा' ऐसे दो रूप होंगे। जबकि अन्य वैयाकरण 'यम्' धातु को 'ऊदित्' नहीं मानतें हैं, अतः वे 'यमं उपरमे' पाठ करते हैं। उनके मत से अनुस्वार की इत् संज्ञा होने से 'यन्त्वा' एक ही रूप होगा।

'भक्षण् अदने' धातु से 'णिच्' अनित्य होने से 'भक्षति' रूप हो सकता है किन्तु 'भक्षते' स्वरूप आत्मनेपद की विशेष सिद्धि करने के लिए 'भक्षी अदने' स्वरूप अन्य वैयाकरणकृत पाठ भी यहाँ बताया है। *अतः यहाँ श्रीहेमहंसगणि ने न्यायार्थमञ्जूषा बृहद्वृत्ति में 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया है।*

अन्त में श्रीहेमहंसगणि ने इस न्याय में दिये हुए धातुओं का, २१ श्लोक में संग्रह किया

है । उसमें श्लोक क्र. ९ के बाद, उपजाति छंद कैसे बनता है उसकी समझ/स्पष्टता दी है । वह इस प्रकार है । -

पूर्वार्द्ध में अर्थात् दो चरण में भ गण और म गण है, वह विक्रांता छंद है । तृतीय चरण में त गण और य गण है, वह तनुमध्या छंद है और चौथे चरण में सगण, भगण और गुरु अक्षर होता है, वह वितान छंद है । तीनों मिलकर इसी श्लोक में उपजाति छंद बना है । उपर्युक्त तीनों छंद का संकर/समूह यही उपजाति छंद होता है, ऐसा प्राचीन महापुरुषों का कथन हैं, ऐसी बात 'छन्दोनुशासन' में बतायी गई है ।

बीसवें श्लोक में सावित्री छंद है, उसके प्रत्येक चरण में दो बार म गण आता है ।

इस प्रकार प्रथम विभाग/वक्षस्कार के प्रारम्भ से लेकर गिनती करने पर, यही १४१ वें न्याय की बृहद्वृत्ति पूर्ण हुई ।

प्रशस्ति काव्य अर्थात् श्लोक में धातुओं का संग्रह (संसंग्रह) किया गया है । 'संसंगृहीता' शब्द में 'प्रोपोत्संपादपूरणे' ७/४/७८ से सं उपसर्गका द्वित्व हुआ है । उदा.

प्रप्रशान्तकषायाग्ने-रूपोपप्लववर्जितम् ।[१]

उदुज्ज्वलं तपो यस्य, संसंश्रयत तं जिनम् ॥ इत्यादि में प्र, उप, उत् और सं का द्वित्व सिद्ध है ।

(उपप्लव से रहित, जिसका कषाय स्वरूप अग्नि शांत हुआ है, जिसका उज्जवल तप है, वही जिनेश्वर प्रभु का आप सब आश्रय करें ।)

स्वो. न्या. :- श्रीहेमहंसगणि ने इन संग्रह श्लोक में छन्द के अनुरोध से/कारण कहीं कहीं र के संयोग का अल्पप्रयत्नोच्चार्यत्व किया है । उदा. श्लोक क्रमाङ्क उन्नीस में 'ध्र' संयोग का अल्पप्रयत्नोच्चार्यत्व 'उत्' उपसर्ग से युक्त ध्रस् धातु की शंका को दूर करने के लिए है अर्थात् यही अल्पप्रयत्नोच्चार्यत्व से ज्ञापित किया है कि यहाँ उद् उपसर्ग से युक्त ध्रस् धातु नहीं है किन्तु स्वाभाविक उध्रस् धातु है ।

न्या. त. -: आ. श्रीलावण्यसूरिजी 'न्यायार्थ तरंग' वृत्ति के अन्त में इस न्याय और संपूर्ण 'न्यायसंग्रह' का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि इसी 'न्यायसंग्रह' में प्रायः 'श्री सिद्धहेमशब्दानुशासन' में बताये गये सभी न्यायों का संग्रह किया गया है, तथापि उन सब से अतिरिक्त 'अनेकान्ता अनुबन्धाः, एकान्ता अनुबन्धाः, यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्, कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' इत्यादि तथा 'सकृद्गते स्पर्द्धे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' न्याय के अपवाद स्वरूप 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानम्' इत्यादि न्यायों की प्रवृत्ति आचार्यश्री ने बृहन्न्यास इत्यादि में की है और इस न्यायों की प्रवृत्ति महाभाष्य में पतंजलि ने बतायी है, किन्तु लक्ष्यानुसार व्यवस्था करने के लिए ही इन्हीं न्यायों का आश्रय किया होने से, यही अन्तिम न्याय में ही उन सब का समावेश हो जाता है, अतः इनके बारे में ज्यादा विवेचन/विश्लेषण नहीं किया है । 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्' न्याय की व्याख्या/वृत्ति में श्रीनागेश ने ऐसे न्यायों के लक्ष्यानुसारित्व का स्वीकार किया ही है ।

*****

१. श्रीहेमहंसगणि ने इसी श्लोक से न्यायसंग्रह की समाप्ति का सूचक मंगल किया है और न्यायार्थमञ्जूषा बृहद्वृत्ति के अन्त में अन्तिम मंगल सूचक 'सिद्ध' शब्द रखा है ।

इति कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यैर्विरचित-
श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनस्य पण्डित श्रीहेमहंसगणिभिः सङ्गृहीत
'न्यायसङ्ग्रहे' पूर्वदर्शिताष्टादशकसजातीयस्य-
अतिविस्तृततया विवेचितस्यैकस्यैव न्यायस्वरूपस्य
चतुर्थ-वक्षस्कारस्य
पण्डित श्रीहेमहंसगणि कृत-स्वोपज्ञ-न्यायार्थमञ्जूषानाम-
बृहद्वृत्तेश्च स्वोपज्ञन्यासस्य च
तपागच्छाधिराज-शासनसम्राट्
आचार्य श्रीविजयनेमिसूरीश्वराणां पट्टालङ्कार-
आचार्य श्रीविजयलावण्यसूरीश्वरैः
सन्दृब्धं न्यायार्थसिन्धुं तरङ्गं च क्वचित् क्वचिदुपजीव्य
शासनसम्राट् आचार्य
श्रीविजयनेमि-विज्ञान-कस्तूर-यशोभद्र-शुभङ्करसूरिणां
पट्टधर आचार्य श्रीविजयसूर्योदयसूरीश्वराणां
शिष्य
मुनि नन्दिघोषविजयकृतः
सविवरणं हिन्दीभाषानुवादः समाप्तः ।
तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं न्यायसङ्ग्रहः ।
इति शम्

卐

परिशिष्ट - १
न्यायसंग्रहस्थन्यायानामकाराद्यनुक्रमेण सूचीपत्रम् ।